मेरी कहानी

•

लेखक
पण्डित जवाहरलाल नेहरू

हिन्दी-सम्पादक
श्री हरिभाऊ उपाध्याय

सस्ता साहित्य मण्डल
नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

सातवां संस्करण : १९४८
मूल्य
दस रुपए

मुद्रक
अमरचन्द्र
राजहंस प्रेस, दिल्ली

कमला को

जिसकी अब याद ही रह गई

संपादकीय

[प्रथम संस्करण से]

आज, जब कि पूर्व-प्रकाशित सूचना के अनुसार इस पुस्तक को पाठकों के हाथों में पहुँचे एक महीना हो जाना चाहिए था, मैं अपना यह प्रारम्भिक निवेदन लिखने बैठा हूँ। समझ में नहीं आता, इस देरी के लिए किस प्रकार क्षमा माँगूँ? एक तो वैसे ही स्वास्थ्य कुछ बहुत नहीं अच्छा रहता, फिर दूसरी और ज़िम्मेदारियों का बोझ भी सिर पर था, जो इस अधमरे शरीर को थका देने के लिए काफी था। ऐसी दशा में श्री जवाहरलालजी की कहानी' के अनुवाद और सम्पादक के काम की ज़िम्मेदारी मेरे लिए दुःसाहस की बात थी। लेकिन पागल भावुकता का क्या इलाज? बापूजी—महात्माजी—की 'आत्मा-कथा' के अनुवाद का जब सुअवसर मिला तो उसको मैंने अपना अहोभाग्य समझा। अब अपने मान्य राष्ट्रपति की जीवन-कथा के अनुवाद का सुसंयोग आने पर इस गौरव से अपने को वञ्चित रखने की कल्पना ही कैसे हो सकती थी? इसलिए जब 'सस्ता साहित्य मण्डल' ने कांग्रेस-इतिहास के दोनों संस्करणों के अनुवाद और सम्पादन के बाद ही यह ज़िम्मेदारी भी उठाने के लिए मुझसे कहा तो मैंने फ़ौरन उसे स्वीकार कर लिया और इस ख़याल से कि काम जल्दी और समय पर ख़त्म हो जाय, अनुवाद में शक्ति से अधिक मेहनत करने लगा। नतीजा यह हुआ कि आगे चलकर शरीर ने जवाब दे दिया और गाड़ी अधबीच में ही रुक गई। लेकिन काम को जल्दी ख़त्म करने और पुस्तक जल्दी प्रकाशित करने की चिन्ता होना स्वाभाविक ही था। और स्वास्थ्य इतना अधिक गिर गया था, कि मैं डर गया। लेकिन मेरे मित्र प्रो० गोकुललालजी असावा तथा भाई शंकरलालजी वर्मा (मन्त्री, प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी, अजमेर) ने तुरन्त ही मुझे इस चिन्ता-भार से बचा लिया। प्रो० गोकुललालजी तो 'कांग्रेस-इतिहास' की तरह शुरू से ही इस काम में भी मेरी मदद कर रहे थे। इस बार भाई शंकरलालजी भी मेरी मदद पर आ गये। यह इन दोनों के सहयोग और सहयता का ही परिणाम है कि पुस्तक का काम जल्दी पूरा हो गया। इसके लिए मैं इनका बहुत आभारी हूँ।

अनुवाद के सिलसिले में मुझे भाई श्रीकृष्णदत्तजी पालीवाल, एम० एल० ए०(केन्द्रीय) भाई गोपीकृष्णजी विजयवर्गीय (प्रधान मन्त्री, इन्दौर राज्य-प्रजामण्डल) और श्री चन्द्रगुप्तजी वार्ष्णेय (अजमेर) से भी सहायता मिली है, और कुछ उद्धरणों का अंग्रेज़ी भाषान्तर स्वयं मूल लेखक तथा पूज्य डॉ० हरि राम-

चन्द्रजी दिवेकर (ग्वालियर) ने किया है। इसके लिए मैं इन सबका अत्यन्त आभारी हूँ।

भाई श्री वियोगी हरिजी ने कविता-क्षेत्र से अलग हट जाने पर भी मेरे अनुरोध पर इस पुस्तक की कविता के हिन्दी-अनुवादों का संशोधन करने की कृपा की है। श्री मुकुटबिहारी वर्मा ने इस काम को अपना ही काम समझकर प्रूफ़-संशोधन और कहीं-कहीं भाषा सम्बन्धी संशोधन आदि में शुरू से ही सहायता दी है। अतः इन दोनों का भी मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

अनुवाद की भाषा में प्रचलित हिन्दी, उर्दू और अंग्रेज़ी शब्दों का खुलकर प्रयोग हुआ है। और अनुवाद का पहला फ़र्मा खुद जवाहरलालजी ने देख लिया था और उसकी भाषा को उन्होंने पसन्द किया था। उससे मुझे काफ़ी उत्साह मिला था। अगर सारी पुस्तक पंडितजी को पसन्द आ गई तो मुझे बड़ा सन्तोष मिलेगा; क्योंकि मैं वर्तमान भारत की बहुतेरी आवश्यकताओं को पंडितजी की राय में बोलता हुआ पाता हूँ।

गांधी-आश्रम, हटुंडी (अजमेर)
गांधी-जयन्ती, १९३६

—हरिभाऊ उपाध्याय

सातवां संस्करण : दो शब्द

'मेरी कहानी' का सातवाँ संस्करण पाठकों के सम्मुख उपस्थित करने में हमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है, विशेषकर इसलिए कि इस संस्करण का प्रकाशन स्वतंत्र भारत में हो रहा है और पुस्तक के प्रणेता आज हिन्द-सरकार के प्रमुख हैं।

एक वर्ष के भीतर भारत का नक्शा बदल गया है; पर इस किताब का मूल्य ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। नेहरूजी की कहानी हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई का एक ख़ास हिस्सा है और इससे लोगों को हमेशा प्रेरणा मिलती रही है और आगे भी मिलती रहेगी।

काग़ज़ की समस्या आज भी विकट बनी हुई है, बल्कि पहले से और भी भयंकर होगई है। काग़ज़ का दाम बेहद बढ़ गया है, उस पर भी वह मिलता नहीं। और छपाई की दर का तो कहना ही क्या! इन कठिनाइयों के बावजूद भी पुस्तक की अत्यधिक माँग होने के कारण हम यह संस्करण निकालने में सफल हो सके इसका हमें हर्ष है।

काग़ज़ और छपाई तथा जिल्द बंदी के बढ़े-चढ़े भाव का असर पुस्तक की कीमत पर पड़ना ही था। काग़ज़ की सुविधा के कारण पुस्तक का आकार भी बदलना पड़ा है। इसका भी मूल्य पर असर पड़ा है। आशा है, पाठकों को यह संस्करण रुचिकर प्रतीत होगा। और पूर्व संस्करणों के समान इसे भी अपना लेंगे।

—मंत्री

प्रस्तावना

यह सारी किताब, सिर्फ़ एकाध आख़िरी बात और चन्द मामूली रद्दोबदल के अलावा, जून १९३४ से फ़रवरी १९३५ के बीच, जेल में ही लिखी गई है। इसके लिखने का ख़ास मक़सद यह था कि मैं किसी निश्चित काम में लग जाऊँ, जो कि जेल-जीवन की तनहाई के पहाड़-से दिन काटने के लिए बहुत ज़रूरी होता है। साथ ही मैं पिछले दिनों की हिन्दुस्तान की उन घटनाओं का ऊहापोह भी कर लेना चाहता था, जिनसे मेरा ताल्लुक़ रहा है ताकि उनके बारे में मैं स्पष्टता के साथ सोच सकूँ। आत्म-जिज्ञासा के भाव से मैंने इसे शुरू किया और, बहुत हद तक, यही क्रम बराबर जारी रक्खा है। पढ़नेवालों का ख़याल रखकर ही मैंने सब-कुछ लिखा हो, सो बात नहीं है; लेकिन अगर पढ़नेवालों का ध्यान आया भी, तो पहले अपने ही देश के लोगों का आया है। विदेशी पाठकों का ख़याल करके लिखता तो शायद मैंने इससे जुदे रूप में इसे लिखा होता, या दूसरी ही बातों पर ज़्यादा ज़ोर दिया होता। उस हालत में, जिन कुछ बातों को इसमें मैंने योंही टाल दिया है, उनपर ज़ोर देता, और दूसरी जिन बातों को कुछ विस्तार से लिखा है उन्हें महज़ सरसरी तौर पर लिखता। मुमकिन है कि बाहरवालों की उनमें से ज़्यादातर बातों से दिलचस्पी न हो, जिन्हें मैंने तफ़सील में लिखा है, और वे उनके लिए अनावश्यक या इतनी खुली हुई बातें हों जिनके लिए बहसमुबाहसे की कोई गुंजाइश नहीं है; लेकिन मैं समझता हूँ कि आज के हिन्दुस्तान में उनका कुछ-न-कुछ महत्त्व ज़रूर है। इसी तरह हमारे देश के राजनैतिक मामलों और व्यक्तियों के बारे में बराबर जो कुछ लिखा गया है वह भी सम्भवतः बाहरवालों के लिए दिलचस्पी का विषय न हो।

मुझे उम्मीद है कि पाठक, इसे पढ़ते हुए, इस बात का ख़याल रक्खेंगे कि यह किताब ऐसे समय में लिखी गई है जो मेरी ज़िन्दगी का ख़ास तौर पर कष्टपूर्ण समय था। इसमें यह असर साफ़ तौर पर झलकता है। अगर इसकी बजाय और किसी मामूली वक़्त में यह लिखी गई होती तो यह कुछ और ही तरह लिखी जाती और कहीं-कहीं शायद ज़्यादा संयत होती। मगर मैंने यही मुनासिब समझा कि यह जैसी है वैसी ही इसे रहने दूँ, क्योंकि दूसरों को शायद वही रूप ज़्यादा पसन्द हो, जिससे उन भावों का ठीक-ठीक परिचय मिलता हो जो इस किताब को लिखते वक़्त मेरे दिमाग़ में उठते थे। इसमें जहाँतक मुमकिन हो सकता था, मैंने अपना मानसिक विकास अंकित करने का प्रयत्न किया है, हिन्दुस्तान के आधुनिक इतिहास का विवेचन नहीं। यह बात, कि यह किताब ऊपर से देखने पर उक्त विवेचन-सी मालूम होती है, पाठक को

गुमराह कर सकती है, और इसलिए वह इसे उससे कहीं अधिक महत्त्व दे सकता है, जितने की कि यह मुस्तहक़ है। इसलिए मैं यह चेतावनी देना चाहता हूँ कि यह विवरण एकदम एकांगी —इकतर्फ़ा— है, और निश्चित रूप से व्यक्तिगत है। अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं की बिलकुल उपेक्षा कर दी गई है, और कई प्रतिभाशाली व्यक्तियों का, जिनका कि घटनाओं के निर्माण में हाथ रहा है, उल्लेख तक नहीं हो पाया है। किन्हीं बीती हुई घटनाओं के असली विवेचन में ऐसा करना असम्य होता, किन्तु एक व्यक्तिगत विवरण इसके लिए क्षमापात्र हो सकता है। जो लोग हमारे निकट भूत की घटनाओं का ठीक-ठीक अध्ययन करना चाहते हैं, उन्हें इसके लिए किन्हीं दूसरे साधनों का सहारा लेना होगा। लेकिन यह हो सकता है कि यह विवरण और ऐसी दूसरी कथाएँ उन्हें छूटी हुई कड़ियों को जोड़ने और कठोर तथ्य का अध्ययन करने में सहायक हो सकें।

मैंने अपने कुछ साथियों की, जिनके साथ मुझे बरसों काम करने का सौभाग्य रहा है, और जिनके प्रति मेरे हृदय में सबसे अधिक आदर और प्रेम है, खुली चर्चा की है; साथ ही समुदायों और व्यक्तियों की भी शायद और भी कड़ी आलोचना की है। मेरी यह आलोचना उनमें के अधिकतर के प्रति मेरे आदर को घटा नहीं सकती। लेकिन मुझे ऐसा लगा, कि जो लोग सार्वजनिक कामों में पड़ते हैं, उन्हें आपस में एक-दूसरे और जनता के साथ, जिसकी कि वे सेवा करना चाहते हैं, स्पष्टवादिता से काम लेना चाहिए। दिखावटी शिष्टाचार और असमंजस और कभी-कभी परेशानी में डालने वाले प्रश्नों को टाल देने से न तो हम एक-दूसरे को अच्छी तरह समझ सकते हैं, और न अपने सामने की समस्याओं का मर्म ही जान सकते हैं। आपस के मतभेदों और उन सब बातों के प्रति, जिनमें मतैक्य है, आदर और वस्तुस्थिति का, चाहे वह कितनी ही कठोर क्यों न हो, मुक़ाबला ही हमारे वास्तविक सहयोग का आधार होना चाहिये। लेकिन मेरा विश्वास है कि मैंने जो कुछ भी लिखा है, उसमें किसी व्यक्ति के साथ किसी प्रकार के द्वेष या दुर्भाव का लेशमात्र भी नहीं है।

सरसरी तौर पर या अप्रत्यक्ष रूप से चर्चा करने के सिवा, मैंने भारत की मौजूदा समस्याओं के विवेचन को जान-बूझकर टाला है। जेल में मैं न तो इस स्थिति में था कि इनकी अच्छी तरह विवेचना कर सकूँ, न मैं अपने मन में यही निश्चय कर सकता था कि क्या किया जाना चाहिए। जेल से छूटने के बाद भी मैंने इस सम्बन्ध में कुछ बढ़ाना ठीक नहीं समझा। मैं जो कुछ लिख चुका था, उसके यह अनुकूल नहीं जान पड़ा। इस तरह यह 'मेरी कहानी' एक व्यक्तिगत, और ऐसे अतीत के, जो वर्त्तमान के नज़दीक किन्तु जो उसके सम्पर्क से सतर्कतापूर्वक दूर है, अपूर्ण विवरण का रेखा-चित्र मात्र रह गयी है।

बेडनवीलर,
२ जनवरी, १९३६

— जवाहरलाल नेहरू

विषय सूची

क—२६ जनवरी १९३०, पूर्ण स्वाधीनता दिवस का प्रतिज्ञा-पत्र।

ख—यरवडा सेण्ट्रल जेल, पूना से १५ अगस्त, १९३० को कांग्रेस-नेताओं द्वारा सर तेजबहादुर सप्रू और श्री मुकुन्दराव जयकर को लिखा गया सुलह की शर्तों वाला पत्र।

ग—२६ जनवरी १९३१ को पढ़ा गया पुण्य-स्मरण का प्रस्ताव।

पंडित मोतीलाल नेहरू

१

कश्मीरी घराना

"अपने बारे में खुद लिखना मुश्किल भी है और दिलचस्प भी, क्योंकि अपनी बुराई या निन्दा लिखना खुद हमें बुरा मालूम होता है, और अगर अपनी तारीफ़ करें तो पाठकों को उसे सुनना नागवार मालूम होता है।"

—अब्राहम काउली

माँ-बाप धनी-मानी और बेटा इकलौता हो, तो अक्सर वह बिगड़ जाता है—फिर, हिन्दुस्तान में तो और भी ज्यादा; और जब लड़का ऐसा हो जो ११ साल की उम्र तक अपने माँ-बाप का इकलौता रहा हो, तो फिर दुलार की खराबी से उसके बचने की आशा और भी कम रह जाती है। मेरी दो बहनें उम्र में मुझसे बहुत ही छोटी हैं और हम हरेक के बीच काफ़ी साल का फ़र्क़ है। इस तरह अपने बचपन में मैं बहुत-कुछ अकेला ही रहा। मुझे कोई हमउम्र साथी न मिला—यहाँ तक कि मुझे स्कूल का भी कोई साथी नसीब न हुआ; क्योंकि मैं किसी किंडर-गार्टन या बच्चों के मदरसे में पढ़ने नहीं भेजा गया। मेरी पढ़ाई की ज़िम्मेदारी घरू मास्टरों या अध्यापिकाओं पर थी।

मगर हमारे घर में किसी तरह का अकेलापन न था। हमारा परिवार बहुत बड़ा था, जिसमें चचेरे भाई वग़ैरा और दूसरे पास के रिश्तेदार बहुत थे, जैसा कि हिन्दू परिवारों में आमतौर पर हुआ करता है। मगर मुश्किल यह थी कि मेरे तमाम चचेरे भाई उम्र में मुझसे बहुत बड़े थे और वे सब हाई स्कूल या कॉलेज में पढ़ते थे। उनकी नज़र में मैं उनके कामों या खेलों में शरीक होने लायक़ नहीं था। इस तरह इतने बड़े परिवार में मैं और भी अकेला लगता था और ज़्यादातर अपने ही ख्यालों और खेलों में मुझे अकेले अपना वक्त काटना पड़ता था।

हम लोग कश्मीरी हैं। २०० बरस से ज़्यादा हुए होंगे, १८वीं सदी के शुरू में हमारे पुरखे यश और धन कमाने के इरादे से कश्मीर की सुन्दर तराइयों से नीचे के उपजाऊ मैदानों में आये। वे मुग़ल-साम्राज्य के पतन के दिन थे। औरंगज़ेब मर चुका था और फ़र्रुख़सियर बादशाह था। हमारे जो पुरखा सबसे पहले आये, उनका नाम था राजकौल। कश्मीर के संस्कृत और फ़ारसी के विद्वानों में उनका बड़ा नाम था। फ़र्रुख़सियर जब कश्मीर गया, तो उसकी

नज़र उन पर पड़ी और शायद उसी के कहने से उनका परिवार दिल्ली आया, जो कि उस समय मुग़लों की राजधानी थी। यह सन् १७१६ के आसपास की बात है। राजकौल को एक मकान और कुछ जागीर दी गयी। मकान नहर के किनारे था, इसीसे उनका नाम नेहरू पड़ गया। कौल जो उनका कौटुम्बिक नाम था बदलकर कौल-नेहरू हो गया और, आगे चलकर, कौल तो ग़ायब हो गया और हम महज़ नेहरू रह गये।

उसके बाद ऐसा डाँवाडोल ज़माना आया कि हमारे कुटुम्ब के वैभव का अंत हो गया और वह जागीर भी तहस-नहस हो गयी। मेरे परदादा लक्ष्मीनारायण नेहरू, दिल्ली के बादशाह के नाममात्र के दरबार में कम्पनी सरकार के पहले वकील हुए। मेरे दादा, गंगाधर नेहरू,१८५७ के गदर के कुछ पहले तक दिल्ली के कोतवाल थे। १८६१ में ३४ साल की भरी जवानी में ही वह मर गये।

१८५७ के गदर की वजह से हमारे परिवार का सब सिलसिला टूट गया। हमारे खानदान के तमाम काग़ज़ पत्र और दस्तावेज़ तहस-नहस हो गये। इस तरह अपना सब-कुछ खो चुकने पर हमारा परिवार दिल्ली छोड़नेवाले और कई लोगों के साथ वहाँ से चल पड़ा और आगरे जाकर बस गया। उस समय मेरे पिताजी का जन्म नहीं हुआ था। लेकिन मेरे दो चाचा जवान थे और कुछ अंग्रेज़ी जानते थे। इस अंग्रेज़ी जानने की बदौलत मेरे छोटे चाचा और परिवार के कुछ दूसरे लोग एक बुरी और अचानक मौत से बच गये। हमारे परिवार के कुछ लोगों के साथ वह दिल्ली से कहीं जा रहे थे। उनके साथ उनकी एक छोटी बहन भी थी, जिसका रूप-रंग गोरा और बहुत अच्छा था, जैसा कि अक्सर कश्मीरी बच्चों का हुआ करता है। इत्तिफ़ाक़ से कुछ अंग्रेज़ सिपाही उन्हें रास्ते में मिले। उन्हें शक हुआ कि, हो-न-हो, यह लड़की किसी अंग्रेज़ की है और ये लोग इसे भगाये लिये जा रहे हैं। उन दिनों सरसरी तौर पर मुक़द्दमा करके सज़ा ठोंक देना एक मामूली बात थी, इसलिए मेरे चाचा तथा परिवार के दूसरे लोग किसी नज़दीकी पेड़ पर ज़रूर फाँसी पर लटका दिये गये होते। मगर ख़ुश-क़िस्मती से मेरे चाचा के अंग्रेज़ी-ज्ञान ने मदद की, जिससे इस फ़ैसले में कुछ देरी हुई। इतने ही में उधर से एक शख़्स गुज़रा, जो मेरे चाचा वग़ैरा को जानता था। उसने उनकी और दूसरों की जान बचायी।

कुछ बरसों तक वे लोग आगरा रहे और वहीं ६ मई १८६१ को पिताजी का जन्म हुआ[1]। मगर वह पैदा हुए थे मेरे दादा के मरने के तीन महीने बाद। मेरे दादा की एक छोटी तस्वीर हमारे यहाँ है जिसमें वह मुग़लों का दरबारी लिबास पहने और हाथ में एक टेढ़ी तलवार लिये हुए हैं। उसमें वह एक मुग़ल

---

[1] एक अजीब और मज़ेदार दैवयोग है कि कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी उसी दिन, उसी महीने और उसी साल पैदा हुए थे।
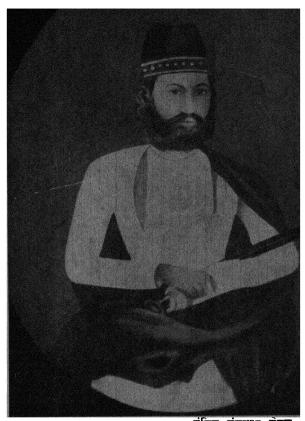
पंडित गंगाधर नेहरू

सरदार-जैसे लगते हैं, हालाँकि सूरत-शकल उनकी कश्मीरियों की-सी ही थी।

तब हमारे परिवार के भरण-पोषण की ज़िम्मेदारी मेरे दो चाचाओं पर आ पड़ी, जो कि उम्र में मेरे पिता से काफ़ी बड़े थे। बड़े चाचा बंसीधर नेहरू, थोड़े ही दिन बाद ब्रिटेश सरकार के न्याय-विभाग में नौकर होगये। जगह-जगह उनका तबादला होता रहा, जिससे वह परिवार के और लोगों से बहुत-कुछ जुदा पड़ गये। छोटे चाचा नन्दलाल नेहरू, राजपूताना की एक छोटी रियासत, खेतड़ी, के दीवान हुए और वहाँ दस बरस तक रहे। बाद में उन्होंने क़ानून का अध्ययन किया और आगरे में वकालत शुरू की। मेरे पिता भी उन्हींके साथ रहे और उन्हींकी छत्रछाया में उनका लालन-पालन हुआ। दोनों का आपस में बड़ा प्रेम था और उसमें बंधु-प्रेम, पितृ-प्रेम और वात्सल्य का अनोखा मिश्रण था। मेरे पिता सबसे छोटे होने के कारण स्वभावतः मेरी दादी के बहुत लाड़ले थे। वह बूढ़ी थीं और बड़ी दबंग भी। किसीकी ताब नहीं थी कि उनकी बात को टाले। उनको मरे अब पचास वर्ष हो गये होंगे, मगर बूढ़ी कश्मीरी स्त्रियाँ अब भी उनको याद करती हैं और कहती हैं कि वह बड़ी ज़ोरदार औरत थीं। अगर किसीने उनकी मर्ज़ी के खिलाफ़ कोई काम किया तो बस मौत ही समझिए।

मेरे चाचा नये हाईकोर्ट में जाया करते थे और जब वह हाईकोर्ट इलाहाबाद चला गया तो हमारे परिवार के लोग भी वहीं जा बसे। तब से इलाहाबाद ही हमारा घर बन गया है और वहीं, बहुत साल बाद, मेरा जन्म हुआ। चाचाजी की वकालत धीरे-धीरे बढ़ती गयी और वह इलाहाबाद-हाईकोर्ट के बड़े वकीलों में गिने जाने लगे। इस बीच मेरे पिताजी कानपुर के स्कूल और इलाहाबाद के कॉलेज में शिक्षा पाते रहे। शुरू शुरू में उन्होंने महज़ फ़ारसी और अरबी की तालीम पायी थी। उनकी अंग्रेज़ी शिक्षा बारह-तेरह वर्ष की उम्र के बाद शुरू हुई। मगर उस उम्र में भी वह फ़ारसी के अच्छे जानकार समझे जाते थे और अरबी में भी कुछ दखल रखते थे। इसी कारण उनसे उम्र में बहुत बड़े लोग भी उनके साथ इज़्ज़त से पेश आते थे। छोटी उम्र में इतनी लियाक़त हो जाने पर भी स्कूल और कॉलेज में वह ज़्यादातर हँसी-खेल और धींगामुश्ती के लिए मशहूर थे। उन्हें संजीदा विद्यार्थी किसी तरह नहीं कह सकते थे। पढ़ने-लिखने की बनिस्बत खेल-कूद और शरारत का शौक़ बहुत था। कॉलेज में सरकश लड़कों के अगुआ समझे जाते थे। उनका झुकाव पश्चिमी लिबास की तरफ़ हो गया था, और सो भी उस वक़्त जब कि हिन्दुस्तान में कलकत्ता और बम्बई-जैसे बड़े शहरों को छोड़कर कहीं इसका चलन नहीं हुआ था। वह तेज़-मिज़ाज और अक्खड़ थे, तो भी उनके अंग्रेज़ प्रोफ़ेसर उनको बहुत चाहते थे और अक्सर मुश्किलों से बचा लिया करते थे। वह उनकी स्पिरिट को पसन्द करते थे। उनकी बुद्धि तेज़ थी और कभी-कभी एकाएक ज़ोर लगाकर वह क्लास में भी अपना काम ठीक चला लेते थे। अर्से बाद अक्सर वह अपने एक प्रोफ़ेसर का ज़िक्र प्रेम-भरे शब्दों

में किया करते थे। वह थे मि० हैरिसन, जो म्योर सेण्ट्रल कॉलेज, इलाहाबाद के प्रिंसिपल थे। उनकी एक चिट्ठी भी उन्होंने बड़े जतन से सँभालकर रखी थी। यह उन दिनों की है, जब कि वह कॉलेज में पढ़ते थे।

कॉलेज की परीक्षाओं में वह पास होते चले गये। मगर कोई खास नामवरी उन्होंने हासिल नहीं की। आखिर को बी० ए० के इम्तिहान में बैठे। मगर उसके लिए उन्होंने कुछ मेहनत या तैयारी नहीं की थी और जो पहला पर्चा किया, तो उससे उन्हें बिलकुल सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने सोचा, जब पहला ही पर्चा बिगड़ गया है तो अब पास होने की क्या उम्मीद? उन्होंने बाक़ी पर्चे किये ही नहीं और जाकर ताजमहल की सैर करने लगे। (उन दिनों विश्वविद्यालय की परीक्षाएं आगरा में हुआ करती थीं) मगर बाद को उनके प्रोफ़ेसर ने उन्हें बुलाया और बहुत बिगड़े। उनका कहना था कि पहला पर्चा तुमने ठीक-ठीक किया है और बड़ी बेवक़ूफ़ी की जो आगे के पर्चे नहीं किये। ख़ैर, इस तरह पिताजी की कॉलेज-शिक्षा हमेशा के लिए खतम हो गयी और बी० ए० पास करना आखिर रह ही गया।

अब उन्हें काम-धन्धा जमाने की फ़िक्र हुई। सहज ही उनकी निगाह वकालत की ओर गयी, क्योंकि उस समय वही एक पेशा ऐसा था जिसमें बुद्धिमान और होशियार आदमियों के लिए काम की गुंजाइश थी और जिसकी चल जाती उसके पौ-बारह होते थे। अपने भाई की मिसाल उनके सामने थी ही। बस हाईकोर्ट-वकालत के इम्तिहान में बैठे और उनका नम्बर सबसे पहला रहा। उन्हें एक स्वर्ण-पदक भी मिला। क़ानून का विषय उन्हें दिल से पसन्द था और उसमें सफलता पाने का उन्होंने निश्चय कर लिया था।

उन्होंने कानपुर की ज़िला-अदालतों में वकालत शुरू की, और चूंकि वह सफलता पाने के लिए बहुत लालायित थे, इसलिए जी-तोड़ मेहनत की। फिर क्या था, उनकी वकालत अच्छी चमक उठी। मगर हाँ, हँसी-खेल और मौज-मज़ा उनका उसी तरह जारी रहा और अब तक भी उनका कुछ वक़्त उसमें चला जाता था। उन्हें कुश्ती और दंगल का खास शौक़ था। उन दिनों कानपुर कुश्तियों और दंगलों के लिए मशहूर था।

तीन साल तक कानपुर में उम्मीदवार के तौर पर काम करने के बाद पिताजी इलाहाबाद आये और हाईकोर्ट में काम करने लगे। इधर चाचा पण्डित नन्दलाल एकाएक गुज़र गये। इससे पिताजी को ज़बरदस्त धक्का लगा। वह उनके लिए भाई ही नहीं, पिता के समान थे, और उन दोनों में बड़ा प्रेम था। उनके गुज़र जाने से परिवार का मुखिया, जिसपर सारी आमदनी का दारोमदार था, उठ गया। परिवार की और पिताजी की यह बहुत बड़ी हानि थी। अब इतने बड़े कुनबे के भरण-पोषण का प्रायः सारा भार उनके तरुण कन्धों पर आ पड़ा।

वह अपने पेशे में जुट पड़े। सफलता पर तो तुले हुए थे ही। इसलिए कई महीनों तक दूसरी सब बातों से जी हटाकर इसीमें लगे रहे। चाचाजी के क़रीब-

क़रीब सब मुक़दमे उन्हें मिल गये और उनमें अच्छी कामयाबी भी मिली। इससे अपने पेशे में भी उन्हें बहुत जल्दी कामयाबी मिलती चली गयी। मुक़दमे धड़ाधड़ आने लगे और रुपया खूब मिलने लगा। छोटी उम्र में ही उन्होंने वकालती पेशे में नामवरी हासिल कर ली; परन्तु उसकी क़ीमत उन्हें यह देनी पड़ी कि वकालत-देवी के ही मानों वह अधीन हो गये। उनके पास न सार्वजनिक और न घरू कामों के लिए वक़्त रहता था—यहाँ तक कि छुट्टियों के दिन भी वह वकालत के काम में ही लगाते थे। कांग्रेस उन दिनों मध्यम श्रेणी के अंग्रेज़ी पढ़े लोगों का ध्यान अपनी तरफ़ खींचने लगी थी। वह उसकी शुरू की कुछ बैठकों में गये भी थे और जहाँ तक विचारों से सम्बन्ध है वह कांग्रेसवादी रहे भी, पर उसके कामों में कोई ख़ास दिलचस्पी नहीं लेते थे। अपने पेशे में ही इतने डूबे रहते थे कि उसके लिए उन्हें वक़्त नहीं था। हाँ, एक बात और थी। इसके सिवा, उन्हें यह निश्चय न था कि राजनैतिक और सार्वजनिक कार्यों का क्षेत्र उनके लिए उपयुक्त होगा या नहीं। उस समय तक इन विषयों पर उन्होंने न तो ज़्यादा ध्यान ही दिया था, न कुछ उन्हें इसकी अधिक जानकारी ही थी। वह ऐसे किसी आन्दोलन और संगठन में शामिल होना नहीं चाहते थे, जिसमें उन्हें किसी दूसरे के इशारे पर नाचना पड़ता हो। यों बचपन और जवानी के शुरू की तेज़ी देखने में कम हो गयी थी; पर दरअसल उसने नया रूप ले लिया था। वकालत की ओर उसे लगा देने से उन्हें कामयाबी मिली, जिससे उनका गर्व और अपने पर भरोसा रखने का भाव बढ़ गया। पर फिर भी विचित्रता यह थी कि एक ओर वह लड़ाई लड़ना, दिक़्क़तों का मुकाबला करना पसन्द करते थे और दूसरी ओर उन दिनों राजनैतिक क्षेत्र से अपने को बचाये रखते थे। फिर उन दिनों तो कांग्रेस में लड़ाई का मौक़ा भी बहुत कम था। बात दर-असल यह थी कि उस क्षेत्र से उनका परिचय नहीं था और उनका दिमाग़ अपने पेशे की बातों में और उसके लिए कड़ी मेहनत करने में लगा रहता था। उन्होंने सफलता की सीढ़ी पर अपना पैर मज़बूती से जमा लिया था और एक-एक क़दम ऊपर चढ़ते जाते थे और यह किसीकी मेहरबानी से नहीं, और न किसी की खिद-मत करके ही, बल्कि खुद अपने दृढ़ संकल्प और बुद्धि के बल पर।

साधारण अर्थ में वह ज़रूर ही राष्ट्रवादी थे। मगर वह अंग्रेज़ों और उनके तौर-तरीक़े के क़द्रदाँ भी थे। उनका यह खयाल बन गया था कि हमारे देशवासी ही नीचे गिर गये हैं और वे जिस हालत में हैं, बहुत कुछ उसीके लायक़ भी हैं। जो राजनैतिक लोग बातें-ही-बातें किया करते हैं, करते-धरते कुछ नहीं, उनसे वह मन-ही-मन कुछ नफ़रत-सी करते थे, हालाँकि वह यह नहीं जानते थे कि इससे ज़्यादा और वे कर ही क्या सकते थे? हाँ, एक और खयाल भी उनके दिमाग़ में था, जो कि उनकी कामयाबी के नशे से पैदा हुआ था। वह यह कि जो राजनीति में पड़े हैं, उनमें ज़्यादातर—सब नहीं—वे लोग

हैं, जो अपने जीवन में नाकामयाब हो चुके हैं।

पिताजी की आमदनी दिन-दिन बढ़ती जाती थी, जिससे हमारे रहन-सहन में बहुत परिवर्तन हो गया था। आमदनी बढ़ी नहीं कि ख़र्च भी उसके साथ बढ़ा नहीं। रुपया जमा करना पिताजी को ऐसा मालूम पड़ता था मानों जब और जितना चाहें रुपया कमाने की अपनी शक्ति पर तोहमत लगाना है। खिलाड़ी की स्पिरिट और हर तरह से बढ़ी-चढ़ी रहन-सहन के शौक़ीन तो वह थे ही, जो कुछ कमाते थे, सब ख़र्च कर देते थे। नतीजा यह हुआ कि हमारा रहन-सहन धीरे-धीरे पश्चिमी साँचे में ढलता गया।

मेरे बचपन[1] में हमारे घर का यह हाल था।

२

बचपन

मेरा बचपन इस तरह बड़ों की छत्रछाया में बीता और उसमें कोई महत्त्व की घटना नहीं हुई। मैं अपने चचेरे भाइयों की बातें सुनता, मगर हमेशा सबकी सब मेरी समझ में आजाती हों सो बात नहीं। अक्सर ये बातें अंग्रेज़ और यूरेशियन लोगों के ऐंठू स्वभाव और हिन्दुस्तानियों के साथ अपमानजनक व्यवहारों के बारे में हुआ करती थीं और इस बात पर भी चर्चा हुआ करती थी कि प्रत्येक हिन्दुस्तानी का फ़र्ज़ होना चाहिए कि वह इस हालत का मुक़ाबला करे और इसे हरगिज़ बरदाश्त न करे। हाकिमों और लोगों में टक्करें होती रहती थीं और उनके समाचार आयेदिन सुनायी पड़ते थे। उसपर भी ख़ूब चर्चा होती थी। यह एक आम बात थी कि जब कोई अंग्रेज़ किसी हिन्दुस्तानी का क़त्ल कर देता, तो अंग्रेज़ों के जूरी उसको बरी कर देते। यह बात सबको खटकती थी। रेलगाड़ियों में यूरोपियनों के लिए डिब्बे रिज़र्व रहते थे और गाड़ी में चाहे कितनी ही भीड़ हो—और ज़बरदस्त भीड़ रहा हो करती थी—कोई हिन्दुस्तानी उनमें सफ़र नहीं कर सकता था, भले ही वे ख़ाली पड़े रहें। जो डिब्बे रिज़र्व नहीं होते थे, उनपर भी अंग्रेज़ लोग अपना क़ब्ज़ा जमा लेते थे और किसी हिन्दुस्तानी को घुसने नहीं देते थे। सार्वजनिक बग़ीचों और दूसरी जगहों में भी बेंचें और कुर्सियाँ रिज़र्व रखी जाती थीं। विदेशी हाकिमों के इस बर्ताव को देखकर मुझे बड़ा रंज होता और जब कभी कोई हिन्दुस्तानी उलटकर वार कर देता, तो मुझे बड़ी ख़ुशी होती। कभी-कभी मेरे चचेरे भाइयों में से कोई या उनके कोई दोस्त

---

[1] १४ नवम्बर १८८९ मार्गशीर्ष बदी सप्तमी, संवत् १९४६ को इलाहाबाद में मेरा जन्म हुआ था।

खुद भी ऐसे झगड़ों में उलझ जाते, तब हम लोगों में बड़ा जोश फैल जाता। हमारे परिवार में मेरे चचेरे भाई बड़े दबंग थे। उन्हें अक्सर अंग्रेज़ों से और ज़्यादातर यूरेशियनों से झगड़ा मोल लेने का बड़ा शौक़ था। यूरेशियन तो अपने को शासकों की जाति का बताने के लिए अंग्रेज़ अफ़सरों और व्यापारियों से भी ज़्यादा बुरी तरह पेश आते थे। ऐसे झगड़े खासकर रेल के सफ़र में हुआ करते थे।

हालाँकि देश में विदेशी शासकों का रहना और उनका रंग-ढंग मुझे नागवार मालूम होने लगा था, तो भी, जहाँ तक मुझे याद है, किसी अंग्रेज़ के लिए मेरे दिल में बुरा भाव न था। मेरी अध्यापिकाएं अंग्रेज़ थीं और कभी-कभी मैं देखता था कि कुछ अंग्रेज़ भी पिताजी से मिलने के लिए आया करते थे। बल्कि यों कहना चाहिए कि अपने दिल में तो मैं अंग्रेज़ों की इज़्ज़त ही करता था।

शाम को रोज़ कई मित्र पिताजी से मिलने आया करते थे। पिताजी आराम से पड़ जाते और उनके बीच दिन भर की थकान मिटाते। उनकी ज़बरदस्त हँसी से सारा घर भर जाता था। इलाहाबाद में उनकी हँसी एक मशहूर बात हो गयी थी। कभी-कभी मैं परदे की ओट से उनकी और उनके दोस्तों की ओर झाँकता और यह जानने की कोशिश करता कि ये बड़े लोग इकट्ठे होकर आपस में क्या-क्या बातें किया करते हैं? मगर जब कभी ऐसा करते हुए मैं पकड़ा जाता, तो खींचकर बाहर लाया जाता और सहमा हुआ कुछ देर तक पिताजी की गोदी में बैठाया जाता। एक बार मैंने उन्हें 'क्लेरेट' या कोई दूसरी लाल शराब पीते हुए देखा। 'व्हिस्की' को मैं जानता था। अक्सर पिताजी को और उनके मित्रों को पीते देखा था। मगर इस नयी लाल चीज़ को देखकर मैं सहम गया और माँ के पास दौड़ा गया और कहा, "माँ, माँ, देखो तो, पिताजी खून पी रहे हैं!'

मैं पिताजी की बहुत इज़्ज़त करता था। मैं उन्हें बल, साहस और होशियारी की मूर्त्ति समझता था और दूसरों के मुक़ाबले इन बातों में बहुत ही ऊँचा और बढ़ा-चढ़ा पाता था। मैं अपने दिल में मनसूबे बाँधा करता था कि बड़ा होने पर पिताजी की तरह होऊँगा। पर जहाँ मैं उनकी इज़्ज़त करता था और उन्हें बहुत ही चाहता था, वहाँ मैं उनसे डरता भी बहुत था। नौकर चाकरों पर और दूसरों पर बिगड़ते हुए मैंने उन्हें देखा था। उस समय वह बड़े भयंकर मालूम होते थे और मैं मारे डर के काँपने लगता था। नौकरों के साथ उनका जो यह बर्ताव होता था, उससे मेरे मन में उनपर कभी-कभी गुस्सा आ जाया करता। उनका स्वभाव दरअसल भयंकर था, और उनकी उम्र के ढलते दिनों में भी उनका-सा गुस्सा मुझे किसी दूसरे में देखने को नहीं मिला। लेकिन खुशकिस्मती से उनमें हँसी-मज़ाक़ का माद्दा भी बड़े ज़ोर का था और वह इरादे के बड़े पक्के थे। इससे आम तौर पर अपने-आपको ज़ब्त रख सकते थे। ज्यों-ज्यों उनकी उम्र बढ़ती गयी उनकी संयम-शक्ति भी बढ़ती गयी; और फिर शायद ही कभी

वह ऐसा भीषण स्वरूप धारण करते थे।

उनकी तेज़-मिज़ाजी की एक घटना मुझे याद है, क्योंकि बचपन ही में मैं उसका शिकार हो गया था। कोई ५–६ वर्ष की मेरी उम्र रही होगी। एक रोज़ मैंने पिताजी की मेज़ पर दो फ़ाउण्टेन-पेन पड़े देखे। मेरा जी ललचाया। मैंने दिल में कहा—पिताजी एक साथ दो पेनों का क्या करेंगे? एक मैंने अपनी जेब में डाल लिया। बाद में बड़े ज़ोरों की तलाश हुई कि पेन कहाँ चला गया? तब तो मैं घबराया। मगर मैंने बताया नहीं। पेन मिल गया और मैं गुनहगार क़रार दिया गया। पिताजी बहुत नाराज़ हुए और मेरी खूब मरम्मत की। मैं दर्द व अपमान से अपना-सा मुँह लिये माँ की गोद में दौड़ा गया और कई दिन तक मेरे दर्द करते हुए छोटे-से बदन पर क्रीम और मरहम लगाये गये।

लेकिन मुझे याद नहीं पड़ता कि इस सज़ा के कारण पिताजी को मैंने कोसा हो। मैं समझता हूँ, मेरे दिल ने यही कहा होगा कि सज़ा तो मुझे वाजिब ही मिली है, मगर थी ज़रूरत से ज़्यादा। लेकिन पिताजी के लिए मेरे दिल में वैसी ही इज़्ज़त और मुहब्बत बनी रही। हाँ, अब एक डर और उसमें शामिल हो गया था। मगर माँ के बारे में ऐसा न था। उससे मैं बिलकुल नहीं डरता था, क्योंकि मैं जानता था कि वह मेरे सब किये-धरे को माफ़ कर देगी और उसके इस ज़्यादा और बेहद प्रेम के कारण मैं उस पर थोड़ा-बहुत हावी होने की भी कोशिश करता था। पिताजी की बनिस्बत मैं माँ को ज़्यादा पहचान सका था और वह मुझे पिताजी से अपने ज़्यादा नज़दीक मालूम होती थी। मैं जितने भरोसे के साथ माताजी से अपनी बात कह सकता था, उतने भरोसे के साथ पिताजी से कहने का स्वप्न में भी खयाल नहीं कर सकता था। वह सुडौल, क़द में छोटी और नाटी थी और मैं जल्द ही क़रीब-क़रीब उसके बराबर ऊँचा हो गया था और अपने को उसके बराबर समझने लगा था। वह बहुत सुन्दर थी। उसका सुन्दर चेहरा और छोटे-छोटे खूबसूरत हाथ-पाँव मुझे बहुत भाते थे। मेरी माँ के पूर्वज कोई दो पुश्त पहले ही कश्मीर से नीचे मैदान में आये थे।

एक और शख़्स थे, जिनपर लड़कपन में मैं भरोसा करता था। वह थे पिताजी के मुंशी मुबारक अली। वह बदायूँ के रहने वाले थे और उनके घर के लोग खुशहाल थे। मगर १८५७ के ग़दर ने उनके कुनबे को बरबाद कर दिया और अंग्रेजी फ़ौज ने उसको एक हद तक जड़-मूल से उखाड़ फेंका था। इस मुसीबत ने उन्हें हरेक के प्रति, और खासकर बच्चों के प्रति, बहुत नम्र और सहनशील बना दिया था, और मेरे लिये तो वह, जब कभी मैं किसी बात से दुःखी होता या तकलीफ़ महसूस करता तो सांत्वना के निश्चित आधार थे। उनके बढ़िया सफ़ेद दाढ़ी थी और मेरी नौजवान आँखों को वह बहुत पुराने और प्राचीन जानकारी के खज़ाने मालूम होते थे। मैं उनके पास लेटे-लेटे घंटों अलिफ़लैला की और दूसरी क़िस्से-कहानियां या १८५७ या १८५८ की ग़दर की बातें सुना

करता। बहुत दिन बाद, मेरे बड़े होने पर, मुंशीजी मर गये। उनकी प्यारी सुखद स्मृति अब भी मेरे मन में बसी हुई है।

हिन्दू पुराणों और रामायण-महाभारत की कथाएं भी मैं सुना करता था। मेरी मां और चाचियां सुनाया करती थीं। मेरी एक चाची, पण्डित नन्दलालजी की विधवा पत्नी, पुराने हिन्दू-ग्रन्थों की बहुत जानकारी रखती थीं। उनके पास इन कहानियों का तो मानो खज़ाना ही भरा था। इस कारण हिन्दू पौराणिक कथाओं और गाथाओं की मुझे काफ़ी जानकारी हो गई थी।

धर्म के मामले में मेरे खयालात बहुत धुंधले थे। मुझे वह स्त्रियों से संबंध रखने वाला विषय मालूम होता था। पिताजी और बड़े चचेरे भाई धर्म की बात को हंसी में उड़ा दिया करते थे और इसको कोई महत्त्व नहीं देते थे। हाँ, हमारे घर की औरतें अलबत्ता पूजा-पाठ और व्रत-त्यौहार किया करती थीं। हालाँकि मैं इस मामले में घर के बड़े-बूढ़े आदमियों की देखादेखी उनकी अवहेलना किया करता था, फिर भी कहना होगा कि मुझे उनमें एक लुत्फ़ आता था। कभी-कभी मैं अपनी मां या चाची के साथ गंगा नहाने जाया करता, और कभी इलाहाबाद या काशी या दूसरी जगह के मन्दिरों में भी या किसी नामी और बड़े साधु-संन्यासी के दर्शन के लिये भी जाया करता। मगर इन सबका बहुत कम असर मेरे दिल पर हुआ।

फिर त्यौहार के दिन आते थे—होली, जबकि सारे शहर में रंगरेलियों की धूम मच जाती थी और हम लोग एक दूसरे पर रंग की पिचकारियां चलाते थे; दिवाली रोशनी का त्यौहार होता, जबकि सब घरों पर धीमी रोशनीवाले मिट्टी के हज़ारों दिये जलाये जाते; जन्माष्टमी, जिसमें जेल में जन्मे श्रीकृष्ण की आधी रात की वर्षगांठ मनाई जाती (लेकिन उस समय तक जागते रहना हमारे लिये बड़ा मुश्किल होता था); दशहरा और रामलीला, जिसमें स्वाँग और जुलूसों के द्वारा रामचन्द्र और लंका-विजय की पुरानी कहानी की नक़ल की जाती थी और जिन्हें देखने के लिए लोगों की बड़ी भारी भीड़ इकट्ठी होती थी। सब बच्चे मुहर्रम का जुलूस भी देखने जाते थे, जिसमें रेशमी अलम होते थे और सुदूर अरब में हसन और हुसैन के साथ हुई घटनाओं की यादगार में शोकपूर्ण मर्सिये गाये जाते थे। दोनों ईद पर मुंशीजी बढ़िया कपड़े पहन कर बड़ी मसजिद में नमाज़ के लिये जाते और मैं उनके घर जाकर मीठी सेवैयां और दूसरी बढ़िया चीजें खाया करता। इनके सिवा रक्षाबन्धन, भैया-दूज वगैरह छोटे त्यौहार भी हम लोग मनाते थे।

कश्मीरियों के कुछ खास त्यौहार भी होते हैं, जिन्हें उत्तर में बहुतेरे दूसरे हिन्दू नहीं मनाते। इनमें सबसे बड़ा नौरोज़ याने वर्ष-प्रतिपदा का त्यौहार है। इस दिन हम लोग नये कपड़े पहनकर बन-ठनकर निकलते और घर के बड़े लड़के-लड़कियों को हाथ-खर्च के तौर पर कुछ पैसे मिला करते थे।

मगर इन तमाम उत्सवों में मुझे एक सालाना जलसे में ज़्यादा दिलचस्पी रहती, जिसका खास मुझी से ताल्लुक़ था—याने मेरी वर्षगांठ का उत्सव। इस दिन मैं बड़े उत्साह और रंग में रहता था। सुबह ही एक बड़ी तराजू में मैं गेहूं और दूसरी चीज़ों के थैलों से तोला जाता और फिर वे चीज़ें ग़रीबों को बांट दी जातीं और बाद को नये-नये कपड़ों से सजा-धजा कर मुझे भेंट और तोहफे नज़र किये जाते। फिर शाम को दावत दी जाती। उस दिन का मानो मैं राजा ही हो जाता, मगर मुझे इस बात का बड़ा दुःख होता था कि वर्ष-गांठ साल में एक बार ही क्यों आती है? और मैंने इस बात का आंदोलन-सा खड़ा करने की कोशिश की कि वर्ष-गांठ के मौक़े बरस में एक बार ही क्यों और अधिक क्यों आया करें? उस वक़्त मुझे क्या पता था कि एक समय ऐसा भी आयेगा जब ये वर्ष-गांठें हमको अपने बुढ़ापे के आने की दुःखदायी याद दिलाया करेंगी।

कभी-कभी हम सब घर के लोग अपने किसी भाई या किसी रिश्तेदार या किसी दोस्त की बरात में भी जाया करते। सफ़र में बड़ी धूम रहती। शादी के उत्सवों में हम बच्चों की तमाम पाबन्दियां ढीली हो जाती थीं और हम आज़ादी से आ-जा सकते थे। शादीखाने में कई कुटुम्बों के लोग आकर रहते थे और उनमें बहुतेरे लड़के और लड़कियां भी होती थीं। ऐसे मौकों पर मुझे अकेलेपन की शिकायत नहीं रहती थी और जी भरकर खेलने-कूदने और शरारत करने का मौका मिल जाता था। हां, कभी-कभी बड़े-बूढ़ों की डांट-फटकार भी ज़रूर पड़ जाती थी।

हिन्दुस्तान में क्या ग़रीब और क्या अमीर सब जिस तरह शादियों में धूम-धाम और फ़िज़ूल-खर्ची करते हैं उनकी हरतरह बुराई ही की जाती है और वह ठीक भी है। फ़िज़ूल-खर्ची के अलावा इसमें बड़े भद्दे ढंग के प्रदर्शन भी होते हैं, जिनमें न कोई सुन्दरता होती है, न कला (कहना नहीं होगा कि इसमें अपवाद भी होते हैं)। इन सबके असली गुनहगार हैं मध्यम वर्ग के लोग। ग़रीब भी क़र्ज़ लेकर फ़िज़ूल-खर्ची करते हैं। मगर यह कहना बिलकुल बेमानी है कि उनको दरिद्रता उनकी इन सामाजिक कुप्रथाओं के कारण है। अक्सर यह भुला दिया जाता है कि ग़रीब लोगों की ज़िन्दगी बड़ी उदास, नीरस और एक ढर्रे की होती है। जब कभी कोई शादी का जलसा होता है, तो उसमें उन्हें अच्छा खाने-पीने और गाने-बजाने का कुछ मौका मिल जाता है, जोकि उनको मेहनत-मशक़्क़त के रेगिस्तान में झरने के समान होता है। रोज़मर्रा के जी उबा देने वाले काम-काज और जीवन-क्रम से हटकर कुछ आराम और आनन्द की छटा दीख जाती है, और जिनको हंसने-खेलने के इतने कम मौके मिलते हैं उनको कौन ऐसा निष्ठुर बेपीर होगा जो इतना भी आनन्द, आराम और तसल्ली न मिलने देना चाहेगा? हाँ, फ़िज़ूल-खर्ची को आप शौक़ से बन्द कर दीजिए और उनको शाहखर्ची भी—कैसे बड़े और बेमानी लफ़्ज़ हैं ये जो उस थोड़े-से प्रदर्शन के लिए इस्तेमाल किये जाते हैं, जिसे

ग़रीब लोग अपनी ग़रीबी में भी दिखाते हैं—कम कर दीजिए, लेकिन मेहरबानी करके उनके जीवन को ज़्यादा उदास और हंसी-खुशी से खाली मत बनाइए।

यही बात मध्यम श्रेणी के लोगों के लिए भी है। फ़िज़ूल-खर्ची को छोड़ दें तो ये शादियाँ एक तरह के सामाजिक सम्मेलन ही हैं, जहां कि दूर के रिश्तेदार और पुराने साथी व दोस्त बहुत दिनों के बाद मिल जाते हैं। हमारा देश बड़ा लम्बा-चौड़ा है। यहाँ अपने संगी-साथियों व दोस्तों से मिलना आसान नहीं है। सबका साथ और एक जगह मिलना तो और भी मुश्किल है। इसीलिए यहां शादी के जलसों को लोग इतना चाहते हैं। एक और चीज़ इसके मुक़ाबले की है और कुछ बातों में तो, और सामाजिक सम्मेलन की दृष्टि से भी, वह उससे आगे निकल गई है। वह है राजनैतिक सम्मेलन, अर्थात् प्रांतीय परिषदें, या कांग्रेस की बैठकें।

और लोगों की बनिस्बत, खासकर उत्तर भारत में, कश्मीरियों को एक खास सुभीता है। उनमें परदे का रिवाज कभी नहीं रहा है। मैदान में आने पर वहां के रिवाज के मुताबिक़, दूसरों से और ग़ैर-कश्मीरियों से जहाँ तक ताल्लुक़ है, उन्होंने उस रिवाज को एक हद तक अपना लिया है। उत्तर में जहां कि कश्मीरी अधिक बसते हैं, उन दिनों यह सामाजिक उच्चता का एक चिह्न समझा जाता रहा था। मगर अपने आपस में उन्होंने स्त्री और पुरुष के सामाजिक जीवन को वैसा ही आज़ाद रखा है। कोई भी कश्मीरी किसी भी कश्मीरी के घर में आज़ादी ले आ-जा सकता है। कश्मीरियों की दावतों और उत्सवों में स्त्री-पुरुष आपस में एक-दूसरे के साथ मिलते-जुलते और बैठते हैं। हाँ, अक्सर स्त्रियां अपना एक झुण्ड बनाकर बैठती हैं, लड़के-लड़कियाँ बहुत-कुछ बराबर की हैसियत से मिलते-जुलते हैं। लेकिन यह तो कहना ही पड़ेगा कि आधुनिक पश्चिम की तरह की आज़ादी उन्हें नहीं थी।

इस तरह मेरा बचपन गुज़रा। कभी-कभी जैसा कि बड़े कुटुम्बों में हुआ ही करता है, हमारे कुटुम्ब में भी झगड़े हो जाया करते थे। जब वे बढ़ जाते तो पिताजी के कानों तक पहुंचते। तब वह नाराज़ होते और कहते कि ये सब औरतों की बेवकूफ़ी के नतीजे हैं। मैं यह तो नहीं समझ पाता था कि दर-असल क्या घटना हुई है, मगर मैं इतना ज़रूर समझता था कि कोई बुरी बात हुई है; क्योंकि लोग एक दूसरे से रुष्ट होकर बोलते थे या दूर-दूर रहने की कोशिश करते थे। ऐसी हालत में मैं बड़ा दुःखी हो जाता। पिताजी जब कभी बीच में पड़ते, तो हम लोगों के देवता कूच कर जाते थे।

उन दिनों की एक छोटी-सी घटना मुझे अभी तक याद है। ६-७ वर्ष का रहा होऊँगा। मैं रोज़ घुड़-सवारी के लिए जाया करता था। मेरे साथ घुड़-सेना का एक सवार रहता था। एक रोज़ शाम को मैं घोड़े से गिर पड़ा और मेरा टट्टू—जो अरबी नस्ल का एक अच्छा जानवर था—खाली घर लौट

आया। पिताजी टेनिस खेल रहे थे। काफ़ी घबराहट और हलचल मच गयी और वहाँ जितने लोग थे सब-के-सब जो भी सवारी मिली उसे लेकर, मेरी तलाश में दौड़ पड़े। पिताजी उन सबके अगुवा बने हुए थे। वह रास्ते में मुझे मिले, और मेरा इस तरह स्वागत किया मानो मैंने कोई बड़ी बहादुरी का काम किया हो।

३

थियोसॉफ़ी

जबकि मैं दस साल का था, हम लोग एक नये और काफ़ी बड़े मकान में आ गये, जिसका नाम पिताजी ने 'आनन्द-भवन' रखा था। इस मकान में एक बड़ा बाग़ और तैरने का बड़ा-सा हौज़ था और वहाँ ज्यों-ज्यों नयी-नयी चीजें दिखायी पड़तीं त्यों त्यों मेरी तबीयत लहरा उठती। इमारत में नये-नये हिस्से जोड़े जा रहे थे और बहुत-सा खुदाई और चुनाई का काम हो रहा था। वहाँ मज़दूरों को काम करते हुए देखना मुझे अच्छा लगता था।

मैं कह चुका हूँ कि मकान में तैरने के लिए एक बड़ा हौज़ था। मैं तैरना जान गया और पानी के भीतर मुझे ज़रा भी डर नहीं मालूम होता था। गर्मी के दिनों में कई बार मौक़ा-बे-मौक़ा मैं उसमें नहाया करता। शाम को पिताजी के कई दोस्त तैरने आया करते थे। वह एक नयी चीज़ थी। वहाँ तथा मकान में बिजली की जो बत्तियाँ लगायी गयी थीं वे इलाहाबाद में उन दिनों नयी बातें थीं। इन नहानेवालों के झुण्ड में मुझे बड़ा आनन्द आता था और उनमें जो तैरना नहीं जानते थे उनमें से किसीको आगे धक्का देकर या पीछे खींचकर डराने में बड़ा ही लुत्फ़ आता था। मुझे डाक्टर तेजबहादुर सप्रू का क़िस्सा याद आता है, जबकि उन्होंने इलाहाबाद-हाईकोर्ट में नयी-नयी वकालात शुरू की थी। वह तैरना नहीं जानते थे और न जानना ही चाहते थे। वह पन्द्रह इञ्च पानी में पहली सीढ़ी पर ही बैठ जाते थे और क़सम खाने को एक सीढ़ी भी नीचे नहीं उतरते थे, और अगर कोई उन्हें आगे खींचने की कोशिश करता तो ज़ोर से चिल्ला उठते थे। मेरे पिताजी खुद भी तैराक नहीं थे, मगर वह किसी तरह हाथ पैर फटफटा-कर और जी कड़ा करके हौज़ के आर-पार चले जाते थे।

उन दिनों बोअर-युद्ध हो रहा था। उसमें मेरी दिलचस्पी होने लगी। बोअरों की तरफ़ मेरी हमदर्दी थी। इस लड़ाई की खबरों को पढ़ने के लिए मैं अखबार पढ़ने लगा।

इसी समय एक घरेलू बात में मेरा चित्त रम गया। वह थी मेरी एक छोटी बहन का जन्म। मेरे दिल में एक अर्से से एक रंज छिपा रहता था और वह यह कि मेरे कोई भाई या बहन नहीं है जब कि और कइयों के हैं। जब मुझे यह मालूम

हुआ कि मेरे भाई या बहन होनेवाली है, तो मेरी खुशी का पार न रहा। पिताजी उन दिनों यूरप में थे। मुझे याद है कि उस वक़्त बरामदे में बैठा-बैठा कितनी उत्सुकता से इस बात की राह देख रहा था। इतने में एक डॉक्टर ने आकर मुझे बहन होने की खबर दी और कहा—शायद मज़ाक़ में—कि तुमको खुश होना चाहिए कि भाई नहीं हुआ, जो तुम्हारी जायदाद में हिस्सा बँटा लेता। यह बात मुझे बहुत चुभी और मुझे ग़ुस्सा भी आ गया—इस खयाल पर कि कोई मुझे ऐसा कमीना खयाल रखनेवाला समझे।

पिताजी की यूरप-यात्रा ने कश्मीरी ब्राह्मणों में अन्दर-ही-अन्दर एक तूफ़ान खड़ा कर दिया। यूरप से लौटने पर उन्होंने किसी क़िस्म का प्रायश्चित्त करने से इन्कार कर दिया। कुछ साल पहले एक दूसरे कश्मीरी पण्डित बिशननारायण दर, जो बाद में कांग्रेस के सभापति हुए थे, इंग्लैण्ड गये थे और वहाँ से बैरिस्टर होकर आये थे। लौटने पर बेचारों ने प्रायश्चित्त भी कर लिया तो भी पुराने खयाल के लोगों ने उनको जाति से बाहर कर दिया और उनसे किसी क़िस्म का ताल्लुक़ नहीं रखा। इससे बिरादरी में क़रीब-क़रीब बराबर के दो टुकड़े हो गये थे। बाद को कई कश्मीरी युवक बिलायत पढ़ने गये और लौटकर सुधारकदल में मिल गये—लेकिन उन सबको प्रायश्चित्त करना पड़ता था। यह प्रायश्चित्त-विधि क्या, एक तमाशा होता था, जिसमें किसी तरह की धार्मिकता नहीं थी। उसके माने सिर्फ़ रस्म अदा करना या एक गिरोह की बात को मान लेना होता था। और दिल्लगी यह कि एक दफ़ा प्रायश्चित्त कर लेने के बाद ये सब लोग हर तरह के नवीन सुधारों के कामों में शरीक होते थे—यहाँ तक कि अब्राह्मण और अहिन्दू के यहाँ भी आते-जाते और खाना खाते थे।

पिताजी एक क़दम और आगे बढ़े और उन्होंने किसी रस्म या नाममात्र के लिए भी किसी प्रकार का प्रायश्चित्त करने से इन्कार कर दिया। इससे बड़ा तहलका मच गया, खासकर पिताजी की तेज़ी और अक्खड़पन के कारण। आखिरकार कितने ही कश्मीरी पिताजी के साथ हो गये और एक तीसरा दल बन गया। थोड़े ही साल के अन्दर जैसे-जैसे खयालात बदलते गये और पुरानी पाबन्दियाँ हटती गयीं, ये सब दल एक में मिल गये। कई कश्मीरी लड़के और लड़कियाँ इंग्लैण्ड और अमेरिका पढ़ने गये और उनके लौटने पर प्रायश्चित्त का कोई सवाल पैदा नहीं हुआ। खान-पान का परहेज़ क़रीब-क़रीब सब उठ गया। मुट्ठीभर पुराने लोगों को, खासकर बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों को छोड़कर, ग़ैर-कश्मीरियों, मुसलमानों तथा ग़ैर-हिन्दुस्तानियों के साथ बैठकर खाना खाना एक मामूली बात हो गयी। दूसरी जातिवालों के साथ स्त्रियों का परदा उठ गया और उनके मिलने-जुलने की रुकावट भी हट गयी। १९३० के राजनैतिक आन्दोलन ने इसको एक ज़ोर का आखिरी धक्का दिया। दूसरी बिरादरीवालों के साथ शादी-ब्याह करने का रिवाज अभी बहुत बढ़ा नहीं है—हालाँकि दिन-दिन बढ़ती पर

है। मेरी दोनों बहनों[1] ने ग़ैर-कश्मीरियों के साथ शादी की और हमारे कुटुम्ब का एक युवक हाल ही में एक हँगेरियन लड़की ब्याह लाया है। अन्तर्जातीय विवाह पर एतराज धार्मिक दृष्टि से नहीं, बल्कि ज़्यादातर वंश-वृद्धि की दृष्टि से किया जाता है। कश्मीरियों में यह अभिलाषा पायी जाती है कि वे अपनी जाति की एकता को और आर्यत्व के संस्कारों को क़ायम रखें। उन्हें डर है कि यदि वे हिन्दुस्तानी और ग़ैर-हिन्दुस्तानी समाज के समुद्र में कूदेंगे, तो इन दोनों बातों को खो देंगे। इस विशाल देश में हम कश्मीरियों की संख्या सागर में बूँद के बराबर है।

सबसे पहले कश्मीरी ब्राह्मण, जिन्होंने आधुनिक समय में, कोई सौ बरस पहले, पश्चिमी देशों की यात्रा की थी, मिर्ज़ा मोहनलाल 'कश्मीरी' (वह अपने को ऐसा ही कहा करते थे) थे। वह बड़े खूबसूरत और बुद्धिमान् थे। दिल्ली के मिशन कॉलेज में पढ़ते थे। एक ब्रिटिश मिशन काबुल गया तो उसके साथ फ़ारसी के दुभाषिया बनकर वह वहाँ गये। बाद को तमाम मध्य एशिया और ईरान की उन्होंने सैर की और जहाँ कहीं गये उन्होंने अपनी एक-एक शादी की, मगर आम तौर पर ऊँचे दर्जे के लोगों के यहाँ। वह मुसलमान हो गये थे और ईरान में शाही घराने की एक लड़की से भी शादी कर ली थी, इसीलिए उनको मिर्ज़ा की उपाधि मिली थी। वह यूरप भी गये थे और तत्कालीन युवती महारानी विक्टोरिया से भी मिले थे। उन्होंने अपनी यात्रा के बड़े रोचक वर्णन और सुन्दर संस्मरण लिखे हैं।

जब मैं कुल ग्यारह वर्ष का था तो मेरे लिए एक नये शिक्षक आये, जिनका नाम था एफ़० टी० ब्रुक्स। वह मेरे साथ ही रहते थे। उनके पिता आयरिश थे और मां फ़रांसीसी या बेलजियन थीं। वह एक पक्के थियोसॉफ़िस्ट थे और मिसेज़ बेसेण्ट की सिफ़ारिश से आये थे। कोई तीन साल तक वह मेरे साथ रहे। कई बातों में मुझपर उनका गहरा असर पड़ा। उस समय मेरे एक और शिक्षक थे—एक बूढ़े पण्डितजी जो मुझे हिन्दी और संस्कृत पढ़ाने के लिए रखे गये थे। कई वर्षों की मेहनत के बाद भी पण्डितजी मुझे बहुत कम पढ़ा पाये थे—इतना थोड़ा कि मैं अपने नाम-मात्र के संस्कृत-ज्ञान की तुलना अपने लैटिन-ज्ञान के साथ ही कर सकता हूँ, जोकि मैंने हैरो में पढ़ी थी। क़ुसूर तो इसमें मेरा ही था। भाषाएँ पढ़ने में मेरी गति अच्छी नहीं थी और व्याकरण में तो मेरी रुचि बिलकुल ही नहीं थी।

एफ़० टी० ब्रुक्स की सोहबत से मुझे किताबें पढ़ने का चाव लगा, और मैंने कई अंग्रेज़ी किताबें पढ़ डालीं—अलबत्ता बिना किसी उद्देश्य के। बच्चों और

---

[1] पं० जवाहरलाल नेहरू की पुत्री इन्दिरा ने भी एक ग़ैर-कश्मीरी से शादी की है। —अनु०

लड़कों-सम्बन्धी अच्छा साहित्य मैंने देख लिया था। लुई केरोल[1] और किप्लिंग[2] की पुस्तकें मुझे बहुत पसन्द थीं। डॉन क्विक्जोट[3] नामक पुस्तक में गुस्ताव दोरे के चित्र मुझे बहुत लुभावने मालूम हुए और फ़िज़ॉफ़ नान्सन[4] की 'फारदेस्ट नॉर्थ' ने तो मेरे लिए अद्भुतता और साहस की एक नयी दुनिया का दरवाज़ा खोल दिया। स्कॉट,[5] डिकेन्स,[6] और थैकरे[7] के कई उपन्यास मुझे याद हैं। एच० जी० वेल्स[8] की साहस-कथाएं, मार्क ट्वेन[9] की विनोद-कथाएं और शार्लाक होम्स[10] की जासूसी-कहानियां भी पढ़ी हैं। 'प्रिज़नर्स ऑफ़ ज़ेन्दा'[11] ने मेरे दिमाग़ में घर ही कर लिया था। और के० जेरोम की 'थ्री मेन इन ए बोट'[12] से बढ़कर हास्य-रस की पुस्तक मैंने नहीं पढ़ी। दूसरी किताबें भी मुझे याद हैं। ये हैं डू मॉरियर[13] की 'ट्रिलबी' और 'पीटर इबटसन'। काव्य-साहित्य के प्रति भी मेरी रुची बढ़ी थी, जोकि कई परिवर्तनों के हो चुकने के बाद अब भी मुझमें कुछ हद तक क़ायम है।

ब्रुक्स ने विज्ञान के रहस्यों से भी मेरा परिचय कराया। हमने एक विज्ञान की प्रयोगशाला खड़ी कर ली थी और मैं घण्टों प्रारम्भिक वस्तु-विज्ञान और

---

[1] अतिशय कल्पनोत्तेजक बाल-साहित्य-लेखक। [2] हिन्दुस्तान में पैदा हुआ, भारतीय जीवन के विषय में अनेक काल्पनिक कथाएं लिखनेवाला एक साम्राज्य-भक्त अंग्रेज़ लेखक। इंग्लैण्ड और साम्राज्य-विषयक इसकी अन्धभक्ति तो पाठक को खटकती है, लेकिन लेखनशैली पर वह मुग्ध हो जाता है।

[3] यह एक स्पेनिश उपन्यास है जिसमें थोड़ी शक्ति पर हवाई क़िले बाँधनेवाले पात्र का अनुपम चित्र खींचा गया है। [4] पैरी के उत्तरी ध्रुव तक पहुँचने के पहले उत्तर में बड़ी दूर-दूर तक जानवाला नार्विजियन यात्री। इस पुस्तक में इसने अपनी यात्रा का वर्णन किया है। वह नार्वे में अध्यापक था। इसने पीड़ितों के लिए बहुत काम किया और जब रूस में भयानक अकाल पड़ा था तब इसने बड़ी सेवा की थी। इसे शान्ति-स्थापना के लिए नोबल प्राइज़ मिला है। थोड़े ही दिन पहले इसकी मृत्यु हुई है।

[5,6,7] प्रसिद्ध अंग्रेज उपन्यासकार। [8] प्रसिद्ध आधुनिक विज्ञान-कथा-लेखक और सुधारक। [9] अमेरिकन हास्य-रस-लेखक। [10] कॉनन डायल नामक अंग्रेज लेखक का प्रसिद्ध जासूसी पत्र। [11] एण्टनी होप का प्रसिद्ध उपन्यास [12] काल्पनिक यात्रा-वर्णन-विषयक पुस्तक, जिसे पढ़ कर हंसते-हंसते लोट-पोट हो जाते हैं। इस अंग्रेज लेखक का सारा साहित्य इसी प्रकार का है। [13] पिछली सदी के एक अंग्रेज लेखक, जिसके पिता फ्रांसीसी और माता अंग्रेज थीं। इसकी पुस्तकें बालकों की कल्पना को उत्तेजित करती हैं। 'पीटर इबटसन' में अपने बच्चे का सुन्दर वर्णन है और बड़ी आकर्षक भाषा में उपन्यास के पात्रों के मुख से जीवन का मर्म समझाया गया है। —अनु०

रसायन-शास्त्र के प्रयोग किया करता था, जो बड़े दिलचस्प मालूम होते थे।

पुस्तकें पढ़ने के अलावा ब्रुक्स साहब ने एक और बात का असर मुझपर डाला, जो कुछ समय तक बड़े ज़ोर के साथ रहा। वह थी थियोसॉफी। हर हफ़्ते उनके कमरे में थियोसॉफिस्टों की सभा हुआ करती। मैं भी उसमें जाया करता और धीरे-धीरे थियोसॉफी की भाषा और विचार-शैली मुझे हृदयंगम होने लगी। वहाँ आध्यात्मिक विषयों पर तथा 'अवतार', 'काम-शरीर' और दूसरे 'अलौकिक शरीरों' और दिव्य-पुरुषों के आसपास दिखाई देनेवाले 'तेजोवलय' तथा 'कर्म-तत्त्व', इन विषयों पर चर्चा होती और मैडम ब्लेवेट्स्की तथा दूसरे थियोसॉफिस्टों से लेकर हिन्दू धर्म-ग्रन्थों, बुद्ध-धर्मके 'धम्मपद', पायथोगोरस,[१] तयाना के अपोलोनियस[२] और कई दार्शनिकों और ऋषियों के ग्रन्थों का ज़िक्र आया करता था। वह सब कुछ मेरी समझ में तो नहीं आता था, परन्तु वह मुझे बहुत रहस्यपूर्ण और लुभावना मालूम होता था, और मैं मानने लगा था कि सारे विश्व के रहस्यों की कुंजी यही है। यहीं से ज़िन्दगी में सबसे पहले मैं अपनी तरफ़ से धर्म और परलोक के बारे में गम्भीरता से सोचने लगा था। हिन्दूधर्म, ख़ासकर, मेरी नज़र में ऊंचा उठ गया था; उसके क्रिया-काण्ड और व्रत-उत्सव नहीं—बल्कि उसके महान् ग्रन्थ उपनिषद् और भगवद्गीता। मैं उन्हें समझ तो नहीं पाता था, परन्तु वे मुझे बहुत विलक्षण ज़रूर मालूम होते थे। मुझे 'काम-शरीरों' के सपने आते और मैं बड़ी दूर तक आकाश में उड़ता जाता। बिना किसी विमान के यों ही ऊँचे आकाश में उड़ते जाने के सपने मुझे जीवन में अक्सर आया करते हैं। कभी-कभी तो वे बहुत सच्चे और साफ़ मालूम होते हैं और नीचे का सारा विशाल विश्व-पटल एक चित्रपट-सा दिखाई पड़ता है। मैं नहीं जानता कि फ्रॉयड[३] तथा दूसरे आधुनिक स्वप्न-शास्त्री इन सपनों के क्या अर्थ लगाते होंगे।

उन दिनों मिसेज़ बेसेण्ट इलाहाबाद आई हुई थीं, और उन्होंने थियोसॉफी सम्बन्धी कई विषयों पर भाषण दिये थे। उनके सुन्दर भाषण से मेरा दिल हिल उठा था और मैं चकाचौंध होकर घर आता और अपने आपको भूल जाता था, जैसे कि किसी सपने में हूँ। मैं उस समय तेरह साल का था, तो भी मैंने थियोसॉफिकल सोसायटी का मेम्बर बनना तय कर लिया। जब मैं पिताजी से

---

[१] ईसापूर्व छटी सदी में यह यूनानी तत्त्ववेत्ता हुआ था। इसे सांख्यवादी कह सकते हैं। यह पुनर्जन्म और कर्म के सिद्धांत को मानता था, इसकी दृष्टि में पशुओं के आत्मा थी और इसलिए यह तथा इसके अनुयायी मांसाहार से नफ़रत करते थे। [२] एक यूनानी तत्त्ववेत्ता जो ईसा के पहले हो गया है। कहते हैं यह हिन्दुस्तान आया था। यह वेदान्ती था। [३] इस युग का प्रसिद्ध जर्मन मानसशास्त्रवेत्ता। —अनु०

इजाज़त लेने गया तो उन्होंने उसे हँस कर उड़ा दिया। वह इस मामले को इधर या उधर कोई महत्त्व देना नहीं चाहते थे। उनकी इस उदासीनता पर मुझे दुःख हुआ। यों तो वह मेरी निगाह में बहुत बातों में बड़े थे। फिर भी मुझे लगा कि उनमें आध्यात्मिकता की कमी है। यों सच पूछिए तो वह बहुत पुराने थियोसॉफ़िस्ट थे। वह तबसे थियोसॉफ़िकल सोसायटी में शरीक हुए जब मैडम ब्लेवेट्स्की हिन्दुस्तान में थीं। धार्मिक विश्वास से नहीं, बल्कि कुतूहल के कारण ही शायद वह मेम्बर बने थे। मगर शीघ्र ही वह उसमें से हट गये। हाँ, उनके कुछ मित्र, जो उनके साथ सोसायटी में शरीक हुए थे, क़ायम रहे और सोसायटी के उच्च आध्यात्मिक पदों पर ऊंचे चढ़ते गये।

इस तरह मैं तेरह वर्ष की उम्र में थियोसॉफ़िकल सोसायटी का मेम्बर बना, और मिसेज़ बेसेण्ट ने मुझे प्रारम्भिक दीक्षा दी, जिसमें कुछ उपदेश दिया, और कुछ गूढ़ चिह्नों से परिचित कराया, जो कि शायद फ्री मेसनरी ढंग के थे। उस समय मैं हर्ष से पुलकित हो उठा था। मैं थियोसॉफ़िकल कन्वेन्शन में बनारस गया था और कर्नल अलकॉट को देखा था, जिनकी दाढ़ी बड़ी भव्य थी।

तीस बरस पहले अपने बचपन में कोई कैसा लगता होगा, और क्या अनुभव करता होगा, इसका ख़याल करना बहुत मुश्किल है। मगर मुझे यह अच्छी तरह ख़याल पड़ता है कि अपने थियोसॉफी के इन दिनों में मेरा चेहरा गम्भीर, नीरस और उदास दिखाई पड़ता था, जो कि कभी-कभी पवित्रता का सूचक होता है, और जैसा कि थियोसॉफ़िस्ट स्त्री-पुरुषों का अक्सर दिखाई पड़ता है। मैं अपने मन में समझता था कि मैं औरों से ऊँची सतह पर हूँ, और अवश्य ही मेरा रंग-ढंग ऐसा था कि जिससे मुझे अपने हम-उम्र लड़के या लड़की अपनी संगत के लायक़ न समझते होंगे।

ब्रुक्स साहब के मुझसे अलहदा होते ही थियोसॉफी से भी मेरा सम्पर्क छूट गया, और बहुत थोड़े ही अरसे में थियोसॉफ़ी मेरी जिन्दगीसे बिलकुल हट गयी। इसकी कुछ वजह तो यह थी कि मैं इंग्लैण्ड पढ़ने चला गया था। मगर इसमें कोई शक नहीं कि ब्रुक्स साहब की संगति का मुझ पर गहरा असरा हुआ है और मैं उनका और थियोसॉफी का बहुत ऋणी हूँ। लेकिन मुझे कहते दुःख होता है कि थियोसॉफ़िस्ट तबसे मेरी निगाह में कुछ नीचे उतर गये हैं। वे खतरे की बनिस्बत आराम ज़्यादा पसन्द करते हैं। इसलिये ऊँचे एवं बढ़े-चढ़े होने के बजाय मामूली आदमी-से दिखाई देते हैं। शहीदों के रास्ते जाने की बनिस्बत फूलों पर चलना पसन्द करते हैं। लेकिन हाँ, मिसेज़ बेसेण्ट के लिए मेरे दिल में बहुत आदर रहा है।

जिस दूसरी मार्के की घटना ने मेरे जीवन पर उस समय असर डाला, वह थी रूस-जापान की लड़ाई। जापानियों की विजय से मेरा दिल उत्साह से उछ-

लने लगता और रोज़ मैं अख़बारों में ताज़ी ख़बरें पढ़ने को उतावला रहता। मैंने जापान-सम्बन्धी कई किताबें मँगायीं और उनमें से थोड़ी-बहुत पढ़ीं भी। जापान के इतिहास में तो मानो मैं अपने को गँवा बैठा था। पुराने जापान के सरदारों की कहानियाँ चाव से पढ़ता और 'लाफ़्केडियो हर्न'[1] का गद्य मुझे रुचिकर लगता था।

मेरा दिल राष्ट्रीय भावों से भरा रहता था। मैं यूरप के पंजे से एशिया और हिन्दुस्तान को आज़ाद करने के भावों में डूबा रहता था। मैं बहादुरी के बड़े-बड़े मनसूबे बाँधा करता था कि कैसे हाथ में तलवार लेकर मैं हिन्दुस्तान को आज़ाद करने के लिए लड़ूँगा।

मैं चौदह साल का था। हमारे घर में रद्दोबदल हो रहे थे। मेरे बड़े चचेरे भाई अपने-अपने काम-धन्धों में लग गये थे और अलहदा रहने लगे थे। मेरे मन में नये-नये विचार और गोलमोल कल्पनाएं मँडराया करती थीं, और स्त्री जाति में मेरी कुछ दिलचस्पी बढ़ने लगी थी, लेकिन अब भी मैं लड़कियों की बनिस्बत लड़कों के साथ मिलना ज़्यादा पसन्द करता था, और लड़कियों के साथ मिलना-जुलना अपनी शान के ख़िलाफ़ समझता था। लेकिन कभी-कभी कश्मीरी दावतों में—जहाँ सुन्दर लड़कियों का अभाव नहीं रहता था—या दूसरी जगह उनपर कहीं निगाह पड़ गयी या बदन छू गया तो मेरे रोंगटे खड़े हो जाते थे।

मई १९०५ में, जब मैं पन्द्रह साल का था, हम इंग्लैण्ड रवाना हुए। पिताजी, माँ, मेरी छोटी बहन और मैं, चारों साथ गये थे।

४

हॅरो और केम्ब्रिज

मई के अख़ीर में हम लोग लन्दन पहुँचे। डोवर से ट्रेन में जाते हुए, रास्ते में, सुशीमा में जापानी जल-सेना की भारी विजय का समाचार पढ़ा। मेरी ख़ुशी का ठिकाना न रहा। दूसरे ही दिन डर्बी की घुड़दौड़ थी। हम लोग उसे देखने गये। मुझे याद है कि लन्दन में आने के कुछ दिनों बाद ही डाक्टर अन्सारी से मेरी भेंट हुई। उन दिनों वह एक चुस्त और होशियार नौजवान थे। उन्होंने वहाँ के विद्यालयों में भारी सफलता प्राप्त की थी। उन दिनों वह लन्दन के अस्पताल में हाउस-सर्जन थे।

हॅरो में दाख़िल होने की दृष्टि से मेरी उम्र कुछ बड़ी थी, क्योंकि मैं उन

---

[1]जापानी लेखक जिसने जापान-जीवन के अनुपम चित्र चित्रित किये हैं।
—अनु०

दिनों पन्द्रह बरस का था। इसलिए यह मेरी खुशक़िस्मती ही थी कि मुझे वहाँ जगह मिल गयी। मेरे परिवार के लोग पहले तो यूरप के दूसरे देशों की यात्रा को चले गये और फिर वहाँ से कुछ महिनों बाद हिन्दुस्तान लौट गये।

इससे पहले मैं अजनबी आदमियों में बिलकुल अकेला कभी नहीं रहा था। इसलिए मुझे बड़ा ही सूना-सूना-सा मालूम पड़ता और घर की याद सताती थी। लेकिन यह हालत ज़्यादा दिनों तक नहीं रही। कुछ हद तक मैं स्कूल की ज़िन्दगी में हिल-मिल गया और काम तथा खेलकूद में लगा रहने लगा, लेकिन मेरा पूरा मेल कभी नहीं बैठा। हमेशा मेरे दिल में यह खयाल बना रहता कि मैं इन लोगों में से नहीं हूँ और दूसरे लोग भी मेरी बाबत यही खयाल करते होंगे। कुछ हद तक मैं सबसे अलग-अकेला ही रहा। लेकिन कुल मिलाकर मैं खेलों में पूरा-पूरा हिस्सा लेता था। खेलों में मैं चमका-चमकाया तो कभी नहीं, लेकिन मेरा विश्वास है कि लोग यह मानते थे कि मैं खेल से पीछे हटनेवाला भी न था।

शुरू में तो मुझे नीचे के दर्जे में भर्ती किया गया, क्योंकि मुझे लैटिन कम आती थी, लेकिन फ़ौरन ही मुझे तरक़्क़ी मिल गयी। सम्भवतः कई बातों में, और खासकर आम बातों की जानकारी में, मैं अपनी उम्र के लोगों से आगे था। इसमें शक नहीं कि मेरी दिलचस्पी के विषय बहुतेरे थे और मैं अपने ज़्यादातर सहपाठियों से ज़्यादा किताबें और अखबार पढ़ता था। मुझे याद है कि मैंने पिताजी को लिखा था कि अंग्रेज़ लड़के बड़े मट्ठर होते हैं; क्योंकि वे खेलों के सिवा और किसी विषय पर बात ही नहीं कर सकते। लेकिन मुझे इसमें अपवाद भी मिले थे, खास तौर पर ऊपर के दर्जों में।

इंग्लैण्ड के आम चुनाव में मुझे बहुत दिलचस्पी थी। जहाँ तक मुझे याद है, यह चुनाव १९०५ के अखीर में हुआ और उसमें लिबरलों की बड़ी भारी जीत हुई थी। १९०६ के शुरू में हमारे दर्जे के मास्टर ने हमसे सरकार की बाबत कई सवाल पूछे, और मुझे यह देखकर बड़ा अचरज हुआ कि उस दर्जे में मैं ही एक ऐसा लड़का था जो उस विषय पर बहुत-सी बातें बता सका—यहाँ तक कि कैम्पबैल-बैनरमैन के मंत्रि-मण्डल के सदस्यों की क़रीब-क़रीब पूरी फ़ेहरिस्त मैंने बता दी।

राजनीति के अलावा जिस दूसरे विषय में मुझे बहुत दिलचस्पी थी वह था हवाई जहाज़ों की शुरुआत। वह ज़माना राइट ब्रदर्स और सेन्तोस दुमो का था (इनके बाद ही फ़ौरन फ़ारमन लैथम और ब्लीरियो आये)। जोश में आकर मैंने हॅरो से पिताजी को लिखा था कि मैं हर हफ़्ते के अखीर में हवाई जहाज़ द्वारा उड़कर आपसे हिन्दुस्तान में मिल सकूँगा।

इन दिनों हॅरो में चार या पाँच हिन्दुस्तानी लड़के थे। दूसरी जगह रहने-वालों से मिलने का तो मुझे बहुत ही कम मौक़ा मिलता था, लेकिन हमारे अपने ही घर में—हेडमास्टर के यहाँ—महाराजा बड़ौदा के एक पुत्र हमारे साथ थे। वह मुझसे बहुत आगे थे और क्रिकेट के अच्छे खिलाड़ी होने की वजह से लोकप्रिय

थे। मेरे जाने के बाद फ़ौरन ही वह वहाँ से चले गये। बाद में महाराजा कपूरथला के बड़े लड़के परमजीतसिंह आये, जो आजकल टीका साहब हैं। वहाँ उनका मेल बिलकुल नहीं मिला। वह दुखी रहते थे और दूसरे लड़कों से मिलते-जुलते नहीं थे। लड़के अक्सर उनका तथा उनके तौर-तरीक़ों का मज़ाक़ उड़ाते थे। इससे वह बहुत चिढ़ते थे और कभी-कभी उनको धमकी देते कि जब कभी तुम कपूरथला आओगे तब तुम्हें देख लूँगा। यह कहना बेकार है कि इस घुड़की का कोई अच्छा असर नहीं होता था। इससे पहले वह कुछ समय तक फ्रांस में रह चुके थे और फ्रांसीसी भाषा में धारा-प्रवाह बोल सकते थे। लेकिन ताज्जुब की बात तो यह थी कि अंग्रेज़ी स्कूलों में विदेशी भाषाओं के सिखाने के तरीक़े कुछ ऐसे थे कि फ्रान्सीसी भाषा के दर्जे में उनका यह ज्ञान उनके कुछ काम नहीं आता था।

एक दिन एक अजीब घटना हुई। आधी रात को हाउस-मास्टर साहब एकाएक हमारे कमरों में घुस-घुसकर तलाशी लेने लगे। बाद को हमें मालूम हुआ कि परमजीतसिंह की सोने की मूँठ की ख़ूबसूरत छड़ी खो गयी है। तलाशी में वह नहीं मिली। इसके दो या तीन दिन बाद लार्ड्स-मैदान में ईटन और हॅरो का मैच हुआ और उसके बाद फ़ौरन ही वह छड़ी उनके मकान में रखी मिली। ज़ाहिर है कि किसी साहब ने मैच में उससे काम लिया और उसके बाद उसे लौटा दिया।

हमारे छात्रावास तथा दूसरे छात्रावासों में थोड़े-से यहूदी भी थे। यों वे मज़े में काफ़ी मिल-जुलकर रहते थे, लेकिन तह में उनके खिलाफ़ यह ख़याल ज़रूर काम करता था कि ये लोग 'बदमाश यहूदी' हैं; और कुछ दिन बाद ही लगभग अनजान में, मैं भी यही सोचने लगा कि इनसे नफ़रत करना ठीक ही है। लेकिन दरअसल मेरे दिल में यहूदियों के खिलाफ़ कभी कोई भाव न था और अपने जीवन में आगे जाकर तो यहूदियों में मुझे कई अच्छे दोस्त मिले।

धीरे-धीरे मैं हॅरो का आदी हो गया और मुझे वहां अच्छा लगने लगा। लेकिन न जाने कैसे मैं यह महसूस करने लगा कि अब यहाँ मेरा काम नहीं चल सकता। विश्वविद्यालय मुझे अपनी तरफ़ खींच रहा था। १९०६ और १९०७ भर हिन्दुस्तान से जो ख़बरें आती थीं उनसे मैं बहुत बेचैन रहता था। अंग्रेज़ी अख़बारों में बहुत ही कम ख़बरें मिलती थीं, लेकिन जितनी मिलती थीं उनसे ही यह मालूम हो जाता था कि देश में, बंगाल, पंजाब और महाराष्ट्र में, बड़ी-बड़ी बातें हो रही हैं। लाला लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह को देश-निकाला दिया गया था। बंगाल में हाहाकार-सा मचा हुआ मालूम पड़ता था। पूना से तिलक का नाम बिजली की तरह चमकता था और स्वदेशी तथा बहिष्कार की आवाज़ गूँज रही थी। इन बातों का मुझपर भारी असर पड़ा। लेकिन हॅरो में एक भी शख़्स ऐसा न था जिससे मैं इस विषय की बातें कर सकता।

छुट्टियों में मैं अपने कुछ चचेरे भाइयों तथा दूसरे हिन्दुस्तानी दोस्तों से मिला और मुझे अपने जी को हल्का करने का मौक़ा मिला।

स्कूल में अच्छा काम करने के लिए मुझे जी० एम० ट्रैवेलियन की गैरीबाल्डी-सम्बन्धी एक पुस्तक इनाम में मिली थी। इस पुस्तक में मेरा मन ऐसा लगा कि मैंने फ़ौरन ही इस माला की बाक़ी दो किताबें भी ख़रीद लीं और उनमें गैरीबाल्डी की पूरी कहानी बड़े ध्यान के साथ पढ़ी। हिन्दुस्तान में भी इसी तरह की घटनाओं की कल्पना मेरे मन में उठने लगी। मैं आज़ादी की बहादुराना लड़ाई के सपने देखने लगा और मेरे मन में इटली और हिन्दुस्तान अजीब तरह से मिल-जुल गये। इन ख़यालों के लिए हैरो कुछ छोटी और तंग जगह मालूम होने लगी, और मैं विश्वविद्यालय के ज्यादा बड़े क्षेत्र में जाने की इच्छा करने लगा। इसीलिए मैंने पिताजी को इस बात के लिए राज़ी कर लिया और मैं हैरो में सिर्फ़ दो बरस रहकर वहाँ से चला गया। यह दो बरस का समय वहाँ के निश्चित साधारण समय से बहुत कम था।

यद्यपि मैं हैरो से खुद अपनी मरज़ी से जाना चाहता था, फिर भी मुझे यह अच्छी तरह याद है कि जब विदा होने का समय आया तब मुझे बड़ा दुःख हुआ और मेरी आँखों में आँसू आ गये। मुझे यह जगह अच्छी लगने लगी थी। वहाँ से सदा के लिए अलग होने से मेरे जीवन का एक अध्याय समाप्त होगया। परन्तु फिर भी मुझे कभी-कभी यह ख़याल आ जाता है कि हैरो छोड़ने पर मेरे मन में असली दुःख कितना था! क्या कुछ हद तक यह बात न थी कि मैं इसलिए दुःखी था कि हैरो की परम्परा और उसके गीत की ध्वनि के अनुसार मुझे दुःखी होना चाहिए था? मैं भी इन परम्पराओं के प्रभाव से अपने को बचा नहीं सकता था, क्योंकि वहाँ के वातावरण में घुल-मिल जाने के ख़याल से मैंने उस प्रथा का विरोध कभी नहीं किया था।

१६०७ के अक्तूबर के शुरू में केम्ब्रिज के ट्रिनिटी कॉलेज में पहुँच गया। उस वक़्त मेरी उम्र सत्रह या अठारह बरस के लगभग थी। मुझे इस बात से बेहद खुशी हुई कि अब मैं अण्डर-ग्रेजुएट हूँ, स्कूल के मुक़ाबले यहाँ मुझे जो चाहूँ सो करने की काफ़ी आज़ादी मिलेगी। मैं लड़कपन के बन्धन से मुक्त हो गया था और यह महसूस करने लगा कि आख़िर मैं भी अब बड़ा होने का दावा कर सकता हूँ। मैं ऐंठ के साथ केम्ब्रिज के विशाल भवनों और उसकी तंग गलियों में चक्कर काटा करता और यदि कोई जान-पहचानवाला मिल जाता तो बहुत खुश होता।

केम्ब्रिज में तीन साल रहा। ये तीनों साल शान्तिपूर्वक बीते, इनमें किसी प्रकार के विघ्न नहीं पड़े। तीनों साल धीरे-धीरे, धीमी-धीमी बहनेवाली कैम नदी की तरह बीते। ये साल बड़े आनन्द के थे। इनमें बहुत-से मित्र मिले, कुछ काम किया, कुछ खेले और मानसिक क्षितिज धीरे-धीरे बढ़ता रहा। मैंने

प्राकृतिक विज्ञान का कोर्स लिया था। मेरे विषय थे रसायन-शास्त्र, भूगर्भ-शास्त्र और वनस्पति-शास्त्र। परन्तु मेरी दिलचस्पी इन्हीं विषयों तक सीमित न थी। केम्ब्रिज में या छुट्टियों में लन्दन में अथवा दूसरी जगहों में मुझे जो लोग मिले, उनमें से बहुत-से विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों के बारे में, साहित्य और इतिहास के बारे में, राजनीति और अर्थशास्त्र के बारे में बातचीत करते थे। पहले-पहल तो ये बढ़ी-चढ़ी बातें मुझे बड़ी मुश्किल मालूम हुईं, परन्तु जब मैंने कुछ किताबें पढ़ीं तब सब बातें समझने लगा, जिससे मैं कम-से-कम अन्त तक बात करते हुए भी इन साधारण विषयों में से किसी के बारे में अपना घोर अज्ञान ज़ाहिर नहीं होने देता था। हम लोग नीत्शे[1] और बर्नार्ड शॉ[2] की भूमिकाओं तथा लॉज़ डिकिन्सन[3] की नयी-से-नयी पुस्तकों के बारे में बहस किया करते थे। उन दिनों केम्ब्रिज में नीत्शे की धूम थी। हम लोग अपने को बड़ा अक्लमन्द समझते थे और स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध तथा सदाचार आदि विषयों पर बड़े अधिकारी-रूप से, शान के साथ बातें करते थे और बातचीत के सिलसिले में ब्लॉक, हैवलॉक एलिस, एबिंग और वीनिंगर के नाम लेते जाते थे। हम लोग यह महसूस करते थे कि इन विषयों के सिद्धान्तों के बारे में हम जितना जानते हैं, विशेषज्ञों को छोड़कर और किसीको उससे ज्यादा जानने की ज़रूरत नहीं है।

वास्तव में हम बातें ज़रूर बढ़-बढ़कर करते थे, लेकिन स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध के बारे में हम में से ज्यादातर डरपोक थे और कम-से-कम मैं तो ज़रूर डरपोक था। मेरा इस विषय का ज्ञान केम्ब्रिज छोड़ने के बाद भी, बहुत बरसों तक केवल सिद्धान्त तक ही सीमित रहा। ऐसा क्यों हुआ यह कहना कुछ कठिन है। हममें से अधिकांश का स्त्रियों की ओर ज़ोर का आकर्षण था, और मुझे इस बात में सन्देह है कि हममें से कोई उनके सहवास में किसी प्रकार का पाप समझता था। यह निश्चित है कि मैं उसमें कोई पाप नहीं समझता था, मेरे मन में कोई धार्मिक रुकावट नहीं थी। हम लोग आपस में कहा करते थे—स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों का न सदाचार से सम्बन्ध है, न दुराचार से। वह तो इन आचारों से परे है। यह सब होने पर भी एक प्रकार की झिझक तथा इस सम्बन्ध में आमतौर पर जिन तरीक़ों से काम लिया जाता था उनके प्रति मेरी अरुचि ने मुझे इससे बचा रखा। उन दिनों मैं निश्चित रूप से एक संकोची लड़का था, शायद यह इसलिए हो कि मैं बचपन में अकेला रहा था।

उन दिनों जीवन के प्रति मेरा सामान्य दृष्टिकोण एक अस्पष्ट प्रकार के भोग-वाद का था, जो कुछ अंश तक युवावस्था में स्वाभाविक था और कुछ अंश

---

[1]आधुनिक जर्मन तत्ववेत्ता—प्रचलित नीति और धर्म-मान्यताओं का विरोधी। [2]आधुनिक प्रसिद्ध अंग्रेज नाटयकार। [3]केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के एक प्रसिद्ध अध्यापक। —अनु०

तक ऑस्कर वाइल्ड[1] और वाल्टर पेटर[2] के प्रभाव के कारण था। आनन्द के अनुभव और आराम की ज़िन्दगी बिताने की इच्छा को भोगवाद जैसा बड़ा नाम देना है तो आसान और तबियत को खुश करनेवाली बात; लेकिन मेरे मामले में इसके अलावा कुछ और बात भी थी; क्योंकि मेरा खासतौर पर आराम की ज़िन्दगी की तरफ़ रुझान न था। मेरी प्रकृति धार्मिक नहीं थी और धर्म के दमनकारी बन्धनों को मैं पसन्द भी नहीं करता था। इसलिए मेरे लिए यह स्वाभाविक था कि मैं किसी दूसरे जीवन-मार्ग की खोज करता। उन दिनों मैं सतह पर ही रहना पसन्द करता था, किसी मामले की गहराई तक नहीं जाता था, इसलिए जीवन का सौन्दर्यमय पहलू मुझे अपील करता था। मैं चाहता था कि मैं सुचारु रीति से जीवन-यापन करूं। गँवारू ढंग से उसका उपभोग मैं नहीं करना चाहता था, लेकिन मेरा रुझान जीवन का सर्वोत्तम उपभोग करने और उसका पूरा तथा विविध आनन्द लेने की ओर था। मैं जीवन का उपभोग करता था और इस बात से इन्कार करता था कि मैं उसमें पाप की कोई बात क्यों समझूँ? साथ ही खतरे और साहस के काम भी मुझे अपनी ओर आकर्षित करते थे। पिताजी की तरह मैं भी हर वक्त कुछ हद तक जुआरी था। पहले रुपये का जुआरी, और फिर बड़ी-बड़ी बाज़ियों का—जीवन के बड़े-बड़े आदर्शों का। १९०७ तथा १९०८ में हिन्दुस्तान की राजनीति में उथल-पुथल मची हुई थी और मैं उसमें वीरता के साथ भाग लेना चाहता था। ऐसी दशा में मैं आराम की ज़िन्दगी तो बसर कर ही नहीं सकता था। ये सब बातें मिलकर, और कभी-कभी परस्पर-विरोधी इच्छाएँ, मेरे मन में अजीब खिचड़ी पकातीं, भँवर-सा पैदा कर देतीं। उन दिनों ये सब बातें अस्पष्ट तथा गोल-मोल थीं। परन्तु इससे उन दिनों मैं परेशान न था, क्योंकि इनका फ़ैसला करने का समय तो अभी बहुत दूर था। तब तक जीवन—शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार का—आनन्दमय था। हमेशा नित-नये क्षितिज दिखाई पड़ते थे। इतने काम करने थे, इतनी चीज़ें देखनी थीं, इतने नये क्षेत्रों की खोज करनी थी! जाड़े की लम्बी रातों में हम लोग अँगीठी के सहारे बैठ जाते और धीरे-धीरे इतमीनान के साथ आपस में बातें तथा विचार-विनिमय करते; उस समय तक, जब तक अँगीठी की आग बुझकर हमें जाड़े से कँपाकर बिछौने पर न भेज देती थी। कभी-कभी वाद-विवाद में हमारी आवाज़ मामूली न रह कर तेज़ होजाती और हम लोग बहस की गरमा-गरमी से जोश में आ जाते थे। लेकिन यह सब कहने भर को था। उन दिनों हम लोग गम्भीरता के स्वाँग भरकर जीवन की समस्याओं के साथ खेलते थे; क्योंकि उस वक्त तक वे हमारे लिए वास्तविक समस्याएं न हो पायी थीं और हम लोग संसार के झमेलों के चक्कर में नहीं फँस पाये थे। वे दिन महायुद्ध से

---

[1] [2] नीति-मुक्त कला के हामी आधुनिक अंग्रेज लेखक। —अनु०

पहले के, बीसवीं शताब्दी के शुरू के थे। कुछ ही दिनों में हमारा वह संसार मिटने को था और उसकी जगह दुनिया के युवकों के लिए मृत्यु और विनाश एवं पीड़ा तथा हृदय-वेदना से भरा हुआ दूसरा संसार आनेवाला था। लेकिन हम भविष्य का परदा तोड़कर आनेवाले ज़माने को नहीं देख सकते थे। हमें तो ऐसा लगता था कि हम किसी अचूक प्रगतिशील परिस्थिति से घिरे हुए हैं और जिनके पास इस परिस्थिति के लिए साधन थे उनके लिए तो वह सुखदायिनी थी।

मैंने भोगवाद तथा वैसी ही दूसरी और उन अनेक भावनाओं की चर्चा की है, जिन्होंने उन दिनों मुझ पर अपना असर डाला। लेकिन यह सोचना ग़लत होगा कि मैंने उन दिनों इन विषयों पर भलीभाँति साफ़-साफ़ विचार कर लिया था, या मैंने उनकी बाबत स्पष्टतया निश्चित विचार करने की कोशिश करने की ज़रूरत भी समझी थी। वे तो कुछ अस्पष्ट लहरें भर थीं, जो मेरे मन में उठा करती थीं और जिन्होंने इसी दौरान में अपना थोड़ा या बहुत प्रभाव मेरे ऊपर अंकित कर दिया। इन बातों के ध्यान के बारे में मैं उन दिनों ऐसा परेशान नहीं होता था। उन दिनों तो मेरी ज़िन्दगी काम और विनोद से भरी हुई थी। सिर्फ़ एक चीज़ ऐसी ज़रूरी थी जिससे मैं कभी-कभी विचलित हो जाता था। वह थी हिन्दुस्तान की राजनैतिक कशमकश। केम्ब्रिज में जिन किताबों ने मेरे ऊपर राजनैतिक प्रभाव डाला उनमें मैरीडिथ टाउनसेण्ड की 'एशिया और यूरप' मुख्य है।

१६०७ से कई साल तक हिन्दुस्तान बेचैनी और कष्टों से मानो उबलता रहा। १८५७ के ग़दर के बाद पहली मर्तबा हिन्दुस्तान फिर लड़ने पर आमादा हुआ था। वह विदेशी शासन के सामने चुपचाप सिर झुकाने को तैयार न था। तिलक की हलचलों और उनके कारावास की तथा अरविन्द घोष की ख़बरों से और बंगाल की जनता जिस ढंग से स्वदेशी और बहिष्कार की प्रतिज्ञाएं ले रही थी, उनसे इंग्लैण्ड में रहनेवाले तमाम हिन्दुस्तानियों में खलबली मच जाती थी। हम सब लोग बिना किसी अपवाद के तिलक-दल या गरम-दल के थे। हिन्दुस्तान में यह नया दल उन दिनों इन्हीं नामों से पुकारा जाता था।

केम्ब्रिज में जो हिन्दुस्तानी रहते थे उनकी एक 'मजलिस' थी। इसमें हम लोग अक्सर राजनैतिक मामलों पर बहस करते थे, लेकिन ये बहसें कुछ हद तक बेमानी थीं। पार्लामेन्ट की अथवा यूनिवर्सिटी-यूनियन की बहस की शैली तथा अदाओं की नकल करने की जितनी कोशिश की जाती थी उतनी विषय को समझने की नहीं। मैं अक्सर मजलिस में जाया करता था, लेकिन तीन साल में मैं वहां शायद ही बोला होऊँ। मैं अपनी झिझक और हिचकिचाहट दूर नहीं कर सका। कॉलेज में 'मैगपी और स्टम्प' नाम की जो वाद-विवाद-सभा थी, उसमें भी मुझे इसी कठिनाई का सामना करना पड़ा। इस सभा में यह नियम था कि अगर कोई मेम्बर पूरी मियाद तक न बोले तो उसे जुर्माना देना पड़ेगा और मुझे अक्सर

जुर्माना देना पड़ता था।

मुझे याद है कि एडविन मॉण्टेगु, जो बाद में भारत-मन्त्री हो गये थे, अक्सर इस सभा में आया करते थे। वह ट्रिनिटी कालेज के पुराने विद्यार्थी थे और उन दिनों केम्ब्रिज की ओर से पार्लामेण्ट के मेम्बर थे। पहले-पहल श्रद्धा की अर्वाचीन परिभाषा मैंने उन्हीं से सुनी : जिस बात के बारे में तुम्हारी बुद्धि यह कहे कि वह सच नहीं हो सकती, उसमें विश्वास करना ही सच्ची श्रद्धा है; क्योंकि तुम्हारी तर्क-शक्ति ने भी उसे पसन्द कर लिया तो फिर अन्ध-श्रद्धा का सवाल ही नहीं रहता। विश्वविद्यालय में विज्ञानों के अध्ययन का मुझपर बहुत प्रभाव पड़ा और विज्ञान उन दिनों जिस तरह अपने सिद्धान्तों और निश्चयों को ध्रुव-सत्य समझता था वैसा ही मैं समझने लगा था, क्योंकि उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के शुरू का विज्ञान अपनी ओर संसार की बाबत बड़ा निश्चयात्मक था। आजकल का विज्ञान वैसा नहीं है।

मजलिस में और निजी बातचीत में हिन्दुस्तान की राजनीति पर चर्चा करते हुए हिन्दुस्तानी विद्यार्थी बड़ी गरम तथा उग्र भाषा काम में लाते थे, यहाँ तक कि बंगाल में जो हिंसाकारी कार्य शुरू होने लगे थे उनकी भी तारीफ़ करते थे। लेकिन बाद में मैंने देखा कि यही लोग कुछ तो इंडियन सिविल सर्विस के मेम्बर हुए, कुछ हाईकोर्ट के जज हुए, कुछ बड़े धीर-गम्भीर बैरिस्टर आदि बन गये। इन आराम-घर के आग-बबूलों में से बिरलों ने ही पीछे जाकर हिन्दुस्तान के राजनैतिक आन्दोलनों में कारगर हिस्सा लिया होगा।

हिन्दुस्तान के उन दिनों के कुछ नामी राजनीतिज्ञों ने केम्ब्रिज में हम लोगों को भेंट देने की कृपा की थी। हम उनकी इज़्ज़त तो करते थे, लेकिन हम उनसे इस तरह पेश आते थे मानो हम उनसे बड़े हैं। हम लोग महसूस करते थे कि हमारी संस्कृति उनसे कहीं बढ़ी-चढ़ी थी और दृष्टि व्यापक थी। जो लोग हमारे यहाँ आये उनमें विपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपतराय और गोपालकृष्ण गोखले भी थे। विपिनचन्द्र पाल से हम अपनी एक बैठक में मिले। वहाँ हम सिर्फ़ एक दर्जन के क़रीब थे। लेकिन उन्होंने तो ऐसी गर्जना की कि मानो वह दस हज़ार की सभा में भाषण दे रहे हों। उनकी आवाज़ इतनी बुलन्द थी कि मैं उनकी बात को बहुत ही कम समझ सका। लालाजी ने हमसे अधिक विवेक-पूर्ण ढंग से बातचीत की और उनकी बातों का मुझपर बहुत असर पड़ा। मैंने पिताजी को लिखा था कि विपिनचन्द्र पाल के मुक़ाबले मुझे लालाजी का भाषण बहुत अच्छा लगा। इससे वह बड़े खुश हुए; क्योंकि उन दिनों उन्हें बंगाल के आग-बबूला राजनीतिज्ञ अच्छे नहीं लगते थे। गोखले ने केम्ब्रिज में एक सार्वजनिक सभा में भाषण दिया। उस भाषण की मुझे सिर्फ़ यही ख़ास बात याद है कि भाषण के बाद अब्दुलमजीद ख्वाजा ने एक सवाल पूछा था। हॉल में खड़े होकर उन्होंने जो सवाल पूछना शुरू किया तो पूछते ही चले गये,

यहाँ तक कि हममें से बहुतों को यही याद नहीं रहा कि सवाल शुरू किस तरह हुआ था और वह किस सम्बन्ध में था ?

हिन्दुस्तानियों में हरदयाल का बड़ा नाम था। लेकिन वह मेरे केम्ब्रिज में पहुँचने से कुछ पहले आक्सफ़ोर्ड में थे। अपने हॅरो के दिनों में मैं उनसे लन्दन में एक या दो बार मिला था।

केम्ब्रिज में मेरे समकालीनों में से कई ऐसे निकले जिन्होंने आगे जाकर हिन्दुस्तान की कांग्रेस की राजनीति में प्रमुख भाग लिया। जे० एम० सेन गुप्त मेरे केम्ब्रिज पहुँचने के कुछ दिन बाद ही वहाँ से चले गये। सैफ़ुद्दीन किचलू, सैयद महमूद और तसद्दुक़ अहमद शेरवानी कम-बढ़ मेरे समकालीन थे। एस० एम० सुलेमान भी, जो इलाहाबाद-हाईकोर्ट के चीफ़ जस्टिस थे, मेरे समय में केम्ब्रिज में थे। मेरे दूसरे समकालीनों में से कोई मिनिस्टर बना और कोई इंडियन सिविल सर्विस का सदस्य।

लन्दन में हम श्यामजी कृष्ण वर्मा और उनके इंडिया-हाउस की बाबत भी सुना करते थे, लेकिन मुझे न तो वह कभी मिले और न मैं कभी उस हाउस में गया ही। कभी-कभी हमें उनका 'इंडियन सोशलॉजिस्ट' नाम का अख़बार देखने को मिल जाता था। बहुत दिनों बाद, सन् १९२६ में, श्यामजी मुझे जिनेवा में मिले थे। उनकी जेबें 'इंडियन सोशलॉजिस्ट' की पुरानी कापियों से भरी पड़ी थीं और वह प्राय. हरेक हिन्दुस्तानी को, जो उनके पास जाता था, ब्रिटिश-सरकार का भेजा हुआ भेदिया समझते थे।

लन्दन में इंडिया-ऑफिस ने विद्यार्थियों के लिए एक केन्द्र खोला था। इसकी बाबत तमाम हिन्दुस्तानी यही समझते थे कि यह हिन्दुस्तानी विद्यार्थियों के भेद जानने का एक जाल है और इसमें बहुत-कुछ सचाई भी थी। फिर भी यह बहुत-से हिन्दुस्तानियों को, चाहे मन से हो या बेमन, बरदाश्त करना पड़ता था, क्योंकि उसकी सिफ़ारिश के बिना किसी विश्वविद्यालय में दाख़िल होना ग़ैरमुमकिन हो गया था।

हिन्दुस्तान की राजनैतिक स्थिति ने पिताजी को अधिक सक्रिय राजनीति की ओर खींच लिया था और मुझे इस बात से खुशी हुई थी, हालाँकि मैं उनकी राजनीति से सहमत नहीं था। यह स्वाभाविक ही था कि वह माडरेटों में शामिल हुए, क्योंकि उनमें से बहुतों को वह जानते थे और उनमें बहुत से वकालत में उनके साथी थे। उन्होंने अपने सूबे की एक कान्फ्रेंस का सभापतित्व भी किया था और बंगाल तथा महाराष्ट्र के गरम दलवालों की तीव्र आलोचना की थी। संयुक्त-प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष भी बन गये थे। १९०७ में जिस समय सूरत में कांग्रेस में गोलमाल होकर वह भंग हुई और अन्त में सोलहों आना माडरेटों की हो गई, उस समय वह वहाँ उपस्थित थे।

सूरत के कुछ ही दिनों बाद एच० डबल्यू० नेविन्सन कुछ समय तक

इलाहाबाद में पिताजी के अतिथि बनकर रहे। उन्होंने हिन्दुस्तान पर जो किताब लिखी उसमें पिताजी की बाबत लिखा : "वह मेहमानों की ख़ातिर-तवाज़ो को छोड़कर और सब बातों में माडरेट हैं।" उनका यह अन्दाज़ क़तई ग़लत था; क्योंकि पिताजी अपनी नीति को छोड़कर और किसी बात में कभी माडरेट नहीं रहे और उनकी प्रकृति ने धीरे-धीरे उनको उस बची-खुची नरमी से भी अलग भगा दिया। प्रचण्ड भावों, प्रबल विचारों, घोर अभिमान और महती इच्छा-शक्ति से सम्पन्न वह माडरेटों की जाति से बहुत ही दूर थे। फिर भी १९०७ और १९०८ में और कुछ साल बाद तक वह बेशक माडरेटों में भी माडरेट थे, और गरमदल के सख्त खिलाफ़ थे, हालाँकि मेरा खयाल है कि वह तिलक की तारीफ़ करते थे।

ऐसा क्यों था? क़ानून और विधि-विधान ही उनके बुनियादी पाये थे। अतः उनके लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह राजनीति को वकील और विधान-वादी की दृष्टि से देखते। उनकी स्पष्ट विचारशीलता ने उन्हें यह दिखाया कि कड़े और गरम शब्दों से तब तक कुछ होता जाता नहीं, जब तक कि इन शब्दों के मुताबिक़ काम न हो और उन्हें किसी कारगर काम की कोई सम्भावना नज़दीक दिखायी नहीं देती थी। उनको यह मालूम नहीं होता था कि स्वदेशी और बहिष्कार के आन्दोलन हमें बहुत दूर तक ले जा सकेंगे। इसके अलावा उन आन्दोलनों के पीछे वह धार्मिक राष्ट्रीयता थी जो उनकी प्रकृति के प्रतिकूल थी। वह प्राचीन भारत के पुनरुद्धार की आशा नहीं लगाते थे। ऐसी बातों को न तो वह कुछ समझते ही थे, न इनसे उन्हें कोई हमदर्दी ही थी। इसके अलावा बहुत-से पुराने सामाजिक रीति-रिवाजों को, जात-पाँत वग़ैरा को क़तई नापसन्द करते थे। और उन्हें उन्नति-विरोधी समझते थे। उनकी दृष्टि पश्चिम की ओर थी और पाश्चात्य ढंग की उन्नति की ओर उनका बहुत अधिक आकर्षण था। वह समझते थे कि ऐसी उन्नति हमारे देश में इंग्लैण्ड के संसर्ग से ही आ सकती है। १९०७ में हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता का जो पुनरुत्थान हुआ वह सामाजिक दृष्टि से पीछे घसीटनेवाला था। हिन्दुस्तान की नयी राष्ट्रीयता, पूर्व के दूसरे देशों की तरह अवश्य ही धार्मिकता को लिए हुए थी। इस दृष्टि से माडरेटों का सामाजिक दृष्टिकोण अधिक उन्नतिशील था, परन्तु वे तो चोटी के सिर्फ़ मुट्ठीभर मनुष्य थे जिनका साधारण जनता से कोई सम्बन्ध न था। वे समस्याओं पर अर्थशास्त्र की दृष्टि से अधिक विचार नहीं करते थे, महज़ उस ऊपरी मध्यम वर्ग के लोगों के दृष्टिकोण से विचार करते थे जिसके वे प्रतिनिधि थे और जो अपने विकास के लिए जगह चाहता था। वे जाति के बन्धनों को ढीला करने और उन्नति को रोकनेवाले पुराने सामाजिक रिवाजों को दूर करने के लिए छोटे-मोटे सामाजिक सुधारों की पैरवी करते थे।

माडरेटों के साथ अपना भाग्य नत्थी कर पिताजी ने आक्रामक ढंग इख़्तियार

किया। बंगाल और पूना के कुछ नेताओं को छोड़कर अधिकांश गरमदलवाले नौजवान थे और पिताजी को इस बात से बहुत चिढ़ थी कि ये कल के छोकरे अपने मनमाफ़िक़ काम करने की हिम्मत करते हैं। विरोध से वह अधीर हो जाते थे, विरोध को सहन नहीं कर सकते थे। जिन लोगों को वह बेवक़ूफ़ समझते थे उनको तो फूटी आँख भी नहीं देख सकते थे, और इसलिए वह जब कभी मौक़ा मिलता उनपर टूट पड़ते थे। मेरा ख़याल है कि केम्ब्रिज छोड़ने के बाद मैंने उनका एक लेख पढ़ा था, जो मुझे बहुत बुरा मालूम हुआ था और मैंने उन्हें एक धृष्टतापूर्ण पत्र लिखा, जिसमें मैंने यह भी झलकाया कि इसमें शक नहीं कि आपकी राजनैतिक कार्रवाइयों से ब्रिटिश सरकार बहुत खुश हुई होगी। यह एक ऐसी बात थी जिसे सुनकर वह आपे से बाहर हो सकते थे और वह सचमुच बहुत नाराज़ हुए भी। उन्होंने क़रीब-क़रीब यहाँ तक सोच लिया था, कि मुझे फ़ौरन इंग्लैण्ड से वापस बुला लें।

जब मैं केम्ब्रिज में था तभी यह सवाल उठ खड़ा हुआ था कि मुझे कौन-सा 'कैरियर' चुनना चाहिए? कुछ समय के लिए इंडियन सिविल सर्विस की बात भी सोची गयी। उन दिनों उसमें एक ख़ास आकर्षण था। परन्तु चूँकि न तो पिताजी ही उसके लिए बहुत उत्सुक थे, न मैं ही, अतः वह विचार छोड़ दिया गया। शायद इसका मुख्य कारण यह था कि उसके लिए अभी मेरी उम्र कम थी और अगर मैं उस इम्तिहान में बैठना भी चाहता तो मुझे अपनी डिग्री लेने के बाद भी तीन-चार साल और वहाँ ठहरना पड़ता। मैंने केम्ब्रिज में जब अपनी डिग्री ली तब मैं बीस वर्ष का था और उन दिनों इंडियन सिविल सर्विस के लिए उम्र की मियाद बाईस वर्ष से लेकर चौबीस वर्ष तक थी। इम्तिहान में कामयाब होने पर इंग्लैण्ड में एक साल और बिताना पड़ता है। मेरे परिवार के लोग मेरे इंग्लैण्ड में इतने दिनों तक रहने के कारण ऊब गये थे और चाहते थे कि मैं जल्दी से घर लौट आऊँ। पिताजी पर एक बात का और भी असर पड़ा और वह यह था कि अगर मैं आई० सी० एस० हो जाता तो मुझे घर से दूर-दूर जगहों में रहना पड़ता। पिताजी और माँ दोनों ही यह चाहते थे कि इतने दिनों तक अलग रहने के बाद मैं उनके पास ही रहूँ। बस, पासा पुश्तैनी पेशे के यानी वकालत के पक्ष में पड़ा और मैं इनर टैम्पिल में भरती हो गया।

यह अजीब बात है कि राजनीति में गरमदल की ओर झुकाव बढ़ते जाने पर भी आई० सी० एस० में शामिल होने को और इस तरह हिन्दुस्तान में ब्रिटिश-शासन की मशीन का एक पुरज़ा बनने के ख़याल को मैंने ऐसा बुरा नहीं समझा। आगे के सालों में इस तरह का ख़याल मुझे बहुत त्याज्य मालूम होता।

१९१० में अपनी डिग्री लेने के बाद मैं केम्ब्रिज से चला आया। ट्राइपस के इम्तिहान में मुझे मामूली सफलता मिली—दूसरे दर्जे में सम्मान के साथ पास हुआ। अगले दो साल मैं लन्दन के इधर-उधर घूमता रहा। मेरी क़ानून

की पढ़ाई में बहुत समय नहीं लगता था और बैरिस्टरी के एक के बाद दूसरे इम्तिहान में मैं पास होता रहा। हाँ, उसमें मुझे न तो सम्मान मिला, न अपमान। बाक़ी वक्त मैंने यों ही बिताया। कुछ आम किताबें पढ़ीं, फ़ेबियन[1] और समाजवादी[2] विचारों की ओर एक अस्पष्ट आकर्षण हुआ और उन दिनों के राजनैतिक आन्दोलन में भी दिलचस्पी ली। आयर्लैण्ड और स्त्रियों के मताधिकार के आन्दोलनों में मेरी ख़ास दिलचस्पी थी। मुझे यह भी याद है कि १९१० की गरमी में जब मैं आयर्लैंड गया तो सिन फ़िन-आन्दोलन की शुरुआत ने मुझे अपनी तरफ़ खींचा था।

इन्हीं दिनों मुझे हॅरो के पुराने दोस्तों के साथ रहने का मौक़ा मिला और उसके साथ मेरी आदतें कुछ ख़र्चीली हो गयी थीं। पिताजी मुझे ख़र्च के लिए काफ़ी रुपया भेजते थे। लेकिन मैं उससे भी ज़्यादा ख़र्च कर डालता था। इसलिए उन्हें मेरे बारे में बड़ी चिन्ता हो चली थी उन्हें अन्देशा हो गया था कि कहीं मैं बुरी संगत में तो नहीं पड़ गया हूँ। परन्तु असल में ऐसी कोई बात मैं नहीं कर रहा था। मैं तो सिर्फ़, उन ख़ुशहाल परन्तु कमअक़्ल अंग्रेज़ों की देखादेखी भर कर रहा था जो बड़े ठाट-बाट से रहा करते थे। यह कहना बेकार है कि इस उद्देशहीन आराम-तलबी की ज़िन्दगी से मेरी किसी तरह की कोई तरक़्क़ी नहीं हुई। मेरे पहले के हौसले ठंडे पड़ने लगे और ख़ाली एक चीज़ थी जो बढ़ रही थी—मेरा घमण्ड।

छुट्टियों में मैंने कभी-कभी यूरप के भिन्न-भिन्न देशों की भी सैर की। १९०९ की गरमी में जब काउण्ट ज़ैपलिन अपने नये हवाई जहाज़ में कॉन्स्टन्स झील पर फ़्रीडरिशशैफ़िन से उड़कर बर्लिन आये तब मैं और पिताजी दोनों वहीं थे। मेरा ख़याल है कि वह उसकी सबसे पहली लम्बी उड़ान थी। इसलिए उस अवसर पर बड़ी ख़ुशियाँ मनायी गयीं और ख़ुद क़ैसर ने उसका स्वागत किया। बर्लिन के टेम्पिलोफ़ फ़ील्ड में जो भीड़ इकट्ठी हुई थी वह दस लाख से लेकर बीस लाख तक कूती गयी थी। ज़ैपलिन ने ठीक समय पर आकर बड़े ढंग से ऊपर-

---

[1] [2] १८८४ में स्थापित समाजवादी सिद्धान्त रखनेवालों की संस्था और उसके सदस्य। ये क्रान्ति के द्वारा सुधार नहीं चाहते; पर आशा रखते हैं कि लेखों और प्रचार के द्वारा औद्योगिक स्थिति में सुधार हो जायगा। समाजवादी इससे आगे गये। उन्होंने अपना ध्येय बनाया—ज़मीन और सम्पत्ति का मालिक समाज है, समाज की ही सत्ता उसपर होनी चाहिए—इस सिद्धान्त के आधार पर क्रान्ति करना। इस कारण फ़ैबियन महज़ 'म्यूनिसिपल समाजवादी' कहलाने लगे। —अनु०

ऊपर हमारी परिक्रमा की। ऐडलों होटल ने उस दिन अपने सब निवासियों को काउण्ट ज़ेपलिन का एक-एक सुन्दर चित्र भेंट किया था। वह चित्र अब तक मेरे पास है।

कोई दो महीने बाद हमने पैरिस में वह हवाई जहाज़ देखा जो उस शहर पर पहले-पहल उड़ा और जिसने एफ़िल टावर के चक्कर पहले-पहल लगाये। मेरा ख्याल है कि उड़ाके का नाम कोंत द लाबेर था। अठारह बरस बाद, जब लिंडबर्ग अटलांटिक के उस पार से दमकते हुए तीर की तरह उड़कर पैरिस आया था तब भी मैं वहाँ था।

१६१० में केम्ब्रिज से अपनी डिग्री लेने के बाद फ़ौरन ही जब मैं सैर-सपाटे के लिए नार्वे गया था तब मैं बाल-बाल बच गया। हम लोग पहाड़ी प्रदेश में पैदल घूम रहे थे बुरी तरह थके हुए, एक छोटे-से होटल में अपने मुक़ाम पर पहुँचे और गरमी के कारण नहाने की इच्छा प्रकट की। वहाँ ऐसी बात पहले किसीने न सुनी थी। होटल में नहाने के लिए कोई इन्तज़ाम न था। लेकिन हमको यह बता दिया गया कि हम लोग पास की एक नदी में नहा सकते हैं। अतः मेज़ के या मुँह पोंछने के छोटे-छोटे तौलियों से, जो होटलवालों ने हमें उदारतापूर्वक दिये थे, सुसज्जित होकर हममें से दो, एक मैं और एक नौजवान अंग्रेज़, पड़ोस के हिम-सरोवर से निकलती और दहाड़ती हुई तूफ़ानी धारा में जा पहुँचे। मैं पानी में घुस गया। वह गहरा तो न था, लेकिन ठंडा इतना था कि हाथ-पाँव जमे जाते थे और उसकी ज़मीन बड़ी रपटीली थी। मैं रपटकर गिर गया। बरफ़ की तरह ठंडे पानी से मेरे हाथ-पैर निर्जीव हो गये। मेरा शरीर और सारे अवयव सुन्न पड़ गये और पैर जम न सके। तूफ़ानी धारा मुझे तेज़ी से बहाये ले जा रही थी, परन्तु मेरे अंग्रेज़ साथी ने किसी तरह बाहर निकलकर मेरे साथ भागना शुरू किया और अन्त में मेरा पैर पकड़ने में कामयाब होकर उसने मुझे बाहर खींच लिया। इसके बाद हमें मालूम हुआ कि हम कितने बड़े ख़तरे में थे; क्योंकि हमसे दो-तीन-सौ गज़ की दूरी पर यह पहाड़ी धारा एक विशाल चट्टान के नीचे गिरती थी और वह जल-प्रपात उस जगह की एक दर्शनीय चीज़ थी।

१६१२ की गर्मी में मैंने बैरिस्टरी पास कर ली और उसी शरद् ऋतु में मैं, कोई सात साल से ज़्यादा इंग्लैण्ड में रहने के बाद, आख़िर को हिन्दुस्तान लौट आया। इस बीच छुट्टी के दिनों में दो बार मैं घर गया था। परन्तु अब मैं हमेशा के लिए लौटा और मुझे लगा कि जब मैं बम्बई में उतरा तो अपने पास कुछ न होते हुए भी अपने बड़प्पन का अभिमान लेकर उतरा था।

५

लौटने पर

देश का राजनैतिक वातावरण

१६१२ के अखीर में राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान बहुत फीका मालूम होता था। तिलक जेल में थे, गरमदलवाले कुचल दिये गये थे। किसी प्रभावशाली नेता के न होने से वे चुपचाप पड़े हुए थे। बंग-भंग दूर होने पर बंगाल में शान्ति हो गयी थी और सरकार को कौंसिलों की मिण्टो-मॉर्ले योजना के अनुसार माडरेटों को अपनी ओर करने में कामयाबी मिल गयी थी। प्रवासी भारतवासियों की समस्या में खासतौर पर दक्षिण अफ्रीका में रहनेवाले भारतीयों की दशा के बारे में, कुछ दिलचस्पी ज़रूर ली जाती थी। कांग्रेस माडरेटों के हाथ में थी। साल में एक बार उसका जलसा होता था और वह कुछ ढीले-ढाले प्रस्ताव पास कर देती थी। उसकी तरफ़ लोगों का ध्यान बहुत ही कम जाता था।

१६१२ की बड़े दिनों की छुट्टियों में मैं डेलीगेट की हैसियत से बाँकीपुर की कांग्रेस में शामिल हुआ। बहुत हद तक वह अंग्रेज़ी जाननेवाले उच्च श्रेणी के लोगों का उत्सव था, जहाँ सुबह पहनने के कोट और सुन्दर इस्त्री किये हुए पतलून बहुत दिखायी देते थे। वस्तुतः वह एक सामाजिक उत्सव था, जिसमें किसी प्रकार की राजनैतिक गरमागरमी न थी। गोखले, जो हाल ही में अफ्रीका से लौटकर आये थे, उसमें उपस्थित थे। उस अधिवेशन के प्रमुख व्यक्ति वही थे। उनकी तेजस्विता, उनकी सच्चाई और उनकी शक्ति से वहाँ आये उन थोड़े से व्यक्तियों में वही एक ऐसे मालूम होते थे जो राजनीति और सार्वजनिक मामलों पर संजीदगी से विचार करते थे और उनके सम्बन्ध में गहराई से सोचते थे। मुझपर उनका अच्छा प्रभाव पड़ा।

जब गोखले बाँकीपुर से लौट रहे थे तब एक ख़ास घटना हो गयी। वह उन दिनों पब्लिक सर्विस कमीशन के सदस्य थे। उस हैसियत से उन्हें अपने लिए एक फ़र्स्ट क्लास का डब्बा रिज़र्व कराने का हक़ था। उनकी तबीयत ठीक न थी और लोगों की भीड़ से तथा बेमेल साथियों से उनके आराम में खलल पड़ता था। इसलिए वह चाहते थे कि उन्हें एकान्त में चुपचाप पड़ा रहने दिया जाय और कांग्रेस के अधिवेशन के बाद वह चाहते थे कि सफ़र में उन्हें शान्ति मिले। उन्हें उनका डब्बा मिल गया, लेकिन बाक़ी गाड़ी कलकत्ता लौटनेवाले प्रतिनिधियों से ठसाठस भरी हुई थी। कुछ समय के बाद, भूपेन्द्रनाथ वसु, जो बाद में जाकर इंडिया कौंसिल के मेम्बर हुए, गोखले के पास गये और यों ही उनसे पूछने लगे कि क्या मैं आपके डब्बे में सफ़र कर सकता हूँ? यह सुनकर पहले तो गोखले कुछ चौंके, क्योंकि वसु महाशय बड़े बातूनी थे, लेकिन फिर स्वभाव-वश वह

राजी हो गये। चन्द मिनट बाद श्री वसु फिर गोखले के पास आये और उनसे कहने लगे कि अगर मेरे एक और दोस्त आपके साथ इसी डब्बे में चले चलें तो आपको तकलीफ़ तो न होगी। गोखले ने फिर चुपचाप 'हाँ' कर दिया। ट्रेन छूटने से कुछ समय पहले वसु साहब ने फिर उसी ढंग से कहा कि मुझे और मेरे साथी को ऊपर की बर्थों पर सोने में बहुत तकलीफ़ होगी, इसलिए अगर आपको तकलीफ़ न हो तो आप ऊपर की बर्थ पर सो जायँ। मेरा खयाल है कि अन्त में यही हुआ। बेचारे गोखले को ऊपरी बर्थ पर चढ़कर जैसे-तैसे रात बितानी पड़ी!

मैं हाईकोर्ट में वकालत करने लगा। कुछ हद तक मुझे अपने काम में दिलचस्पी आने लगी। यूरप से लौटने के बाद शुरू-शुरू के महीने बड़े आनन्द के थे। मुझे घर आने और वहाँ आकर पुरानी मेल-मुलाक़ातें क़ायम कर लेने से खुशी हुई। परन्तु धीरे-धीरे, अपनी तरह के अधिकांश लोगों के साथ जिस तरह की ज़िन्दगी बितानी पड़ती थी, उसकी सब ताज़गी ग़ायब होने लगी और मैं यह महसूस करने लगा कि मैं बेकार और उद्देश्यहीन जीवन की नीरस ख़ानापूरी में ही फँस रहा हूँ। मैं समझता हूँ कि मेरी दोग़ली, कम-से-कम खिचड़ी, शिक्षा इस बात के लिए जिम्मेदार थी कि मेरे मन में अपनी परिस्थितियों से असन्तोष था। इंग्लैण्ड की अपनी सात बरस की ज़िन्दगी में मेरी जो आदतें और जो भावनाएं बन गयी थीं वे जिन चीज़ों को मैं यहाँ देखता था उनसे मेल नहीं खाती थीं। तक़दीर से मेरे घर का वायुमण्डल बहुत अनुकूल था और उससे कुछ शान्ति भी मिलती थी। परन्तु उतना काफ़ी न था। उसके बाद तो वही बार-लाइब्रेरी, वही क्लब और दोनों में साथी, जो उन्हीं पुराने विषयों पर, आमतौर पर क़ानूनी पेशे-सम्बन्धी बातों पर ही बार-बार बातें करते थे। निस्सन्देह यह वायुमण्डल ऐसा न था जिससे बुद्धि को कुछ गति या स्फूर्ति मिले, और मेरे मन में जीवन के बिलकुल नीरसपन का भाव घर करने लगा। कहने योग्य विनोद या प्रमोद की बातें भी न थीं।

ई० एम० फ़ॉर्स्टर ने हाल ही में लॉज़ डिकिंसन की जो जीवनी लिखी है, उसमें उन्होंने लिखा है कि डिकिंसन ने एक बार हिन्दुस्तान के बारे में कहा था: "ये दोनों जातियाँ (यूरोपियन और हिन्दुस्तानी) एक दूसरे से मिल क्यों नहीं सकतीं? महज़ इसलिए कि हिन्दुस्तानियों से अंग्रेज़ ऊब जाते हैं, यही सीधा-सादा कठोर सत्य है।" यह सम्भव है कि बहुत से अंग्रेज़ यही महसूस करते हों और इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है। दूसरी पुस्तक में फ़ॉर्स्टर ने कहा है कि हिन्दुस्तान में हरेक अंग्रेज़ यही महसूस करता है और उसीके मुताबिक बर्ताव करता है कि वह विजित देश पर क़ब्ज़ा बनाये रखनेवाली सेना का एक सदस्य है और ऐसी हालत में दोनों जातियों में परस्पर सहज और संकोचहीन सम्बन्ध स्थापित होना असम्भव है। हिन्दुस्तानी और अंग्रेज़ दोनों ही एक-दूसरे के सामने बनते हैं और स्वभावतः दोनों एक-दूसरे के सामने असुविधा अनुभव

करते हैं। दोनों एक-दूसरे से ऊबे रहते हैं और जब दोनों ही एक-दूसरे से अलग होते हैं तो उन्हें खुशी होती है और वे आज़ादी के साथ साँस लेते तथा फिर से स्वाभाविक रूप से चलने-फिरने लगते हैं।

आमतौर पर अंग्रेज़ एक ही क़िस्म के हिन्दुस्तानियों से मिलते हैं—उन लोगों से जिनका हाकिमों की दुनिया से ताल्लुक रहता है। वास्तव में भले और बढ़िया लोगों तक उनकी पहुँच ही नहीं होती और अगर ऐसा कोई शख़्स उन्हें मिल भी जाय, तो वे उसे जी खोलकर बात करने को तैयार नहीं कर पाते। हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन ने, सामाजिक मामलों में भी, हाकिमों की श्रेणी को ही महत्त्व देकर आगे बढ़ाया है। इसमें हिन्दुस्तानी और अंग्रेज़ दोनों ही तरह के हाकिम आ जाते हैं। इस वर्ग के लोग खासतौर पर मट्ठर और तंग ख़याल के होते हैं। एक सुयोग्य अंग्रेज़ नौजवान भी हिन्दुस्तान में आने पर शीघ्र ही एक प्रकार की मानसिक और सांस्कृतिक तन्द्रा में ग्रस्त हो जाता है तथा समस्त सजीव विचारों और आन्दोलनों से अलग हो जाता है। दफ़्तर में दिनभर मिसलों में—जो हमेशा चक्कर लगाती रहती हैं और कभी ख़तम नहीं होतीं—सर खपाकर ये हाकिम थोड़ा-सा व्यायाम करते हैं। फिर वहाँ से अपने समाज के लोगों से मिलने-जुलने को क्लब में चले जाते हैं, वहाँ व्हिस्की पीकर 'पंच' तथा इंग्लैण्ड से आये हुए सचित्र साप्ताहिक पत्र पढ़ते हैं—किताब तो वे शायद ही पढ़ते हों। पढ़ते भी होंगे तो अपनी किसी पुरानी मनचाही किताब को ही। इसपर भी अपने इस धीमे मानसिक ह्रास के लिए वे हिन्दुस्तान पर दोष मढ़ते हैं, यहां की आब हवा को कोसते हैं और आमतौर पर आन्दोलन करनेवालों को बददुआ देते हैं कि वे उनकी दिक़्क़त बढ़ाते हैं। लेकिन यह महसूस नहीं कर पाते कि उनके मानसिक और सांस्कृतिक क्षय का कारण वह मज़बूत नौकरशाही तथा स्वेच्छाचारी शासन-प्रणाली है जो हिन्दुस्तान में प्रचलित है और वे ख़ुद जिसके एक छोटे-से पुर्ज़े हैं।

जब छुट्टियों और फ़र्लों के बाद भी अंग्रेज़ हाकिमों की यह हालत है तब जो हिन्दुस्तानी अफ़सर उनके साथ या उनके मातहत काम करते हैं वे उनसे बेहतर कैसे हो सकते हैं, क्योंकि वे अंग्रेज़ी नमूनों की नक़ल करने की कोशिश करते हैं। साम्राज्य की राजधानी नयी दिल्ली में ऊँचे हिन्दुस्तानी और अंग्रेज़ हाकिमों के पास बैठकर, तरक़्क़ियों, छुट्टी के क़ायदों, तबादलों और नौकरों की रिश्वतख़ोरी तथा बेईमानियों वग़ैरा के कभी ख़त्म न होने वाले क़िस्सों को सुनने से ज़्यादा जी घबड़ानेवाली बात शायद ही कोई हो।

शायद कुछ हद तक कलकत्ता, बम्बई जैसे शहरों को छोड़कर बाक़ी सब जगहों में इस हाकिमाना वातावरण ने हिन्दुस्तान की मध्यम श्रेणी के लगभग तमाम लोगों की ज़िन्दगी, ख़ासतौर पर अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों के जीवन पर, चढ़ाई करके उसे अपने रंग में रंग दिया। पेशेवर लोग—जैसे वकील, डॉक्टर तथा

दूसरे लोग—भी उसके शिकार हो गये, और अर्ध-सरकारी विश्वविद्यालयों के शिक्षाभवन भी उससे न बच सके। ये सब लोग अपनी एक अलग दुनिया में रहते हैं जिसका सर्व-साधारण से तथा मध्यम श्रेणी के नीचे के लोगों से कोई सम्बन्ध नहीं है। उन दिनों राजनीति इसी ऊपर की तह के लोगों तक सीमित थी। बंगाल में १९०६ से राष्ट्रीय आन्दोलन ने ज़रा इस वस्तुस्थिति को झकझोरकर बंगाल के मध्यम श्रेणी के निचले लोगों में, और कुछ हद तक जनता में भी, नयी जान डाल दी। आगे चलकर गांधीजी के नेतृत्व में यह सिलसिला और तेज़ी से बढ़ने को था। परन्तु राष्ट्रीय संग्राम जीवनप्रद होने पर भी वह एक संकीर्ण सिद्धान्त होता है, और वह अपने में इतनी अधिक शक्ति तथा इतना अधिक ध्यान लगवा लेता है कि दूसरे कामों के लिए कुछ नहीं बचता।

इसलिए इंग्लैण्ड से लौटने के बाद उन शुरू के सालों में, मैं जीवन से असन्तोष अनुभव करने लगा। अपने वकालत के पेशे में मुझे पूरा उत्साह नहीं था। राजनीति के मानी मेरे मन में यह थे कि विदेशी शासन के ख़िलाफ़ उग्र राष्ट्रीय आन्दोलन हो। लेकिन उस समय की राजनीति में इसके लिए कोई गुञ्जाइश नहीं थी। मैं कांग्रेस में शरीक हो गया और उसकी बैठकों में जाता रहता, फिजी में हिन्दुस्तानी मज़दूरों के लिए शर्तबन्दी कुली-प्रथा के ख़िलाफ़ या दक्षिण अफ्रीका में प्रवासी भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार किये जाने के ख़िलाफ़ यानी ऐसे ख़ास मौक़ों पर जब कभी कोई आन्दोलन उठ खड़ा होता, तो मैं अपनी पूरी ताक़त से उसमें जुट कर ख़ूब मेहनत करता। लेकिन ये काम तो सिर्फ़ कुछ समय के लिए ही होते थे।

शिकार जैसे दूसरे कामों में मैंने अपना जी बहलाना चाहा, लेकिन उसकी तरफ़ मेरा ख़ास लगाव या झुकाव न था। बाहर जाना और जंगल में घूमना तो मुझे अच्छा लगता था, लेकिन इस बात की ओर मैं कम ध्यान देता कि कोई जानवर मारूँ। सच तो यह है कि मैं जानवरों को मारने के लिए कभी मशहूर नहीं हुआ, हालाँकि एक दिन कश्मीर में थोड़े-बहुत इत्तिफ़ाक़ से ही एक रीछ के मारने में मुझे कामयाबी मिल गयी थी। शिकार के लिए मेरे मन में जो थोड़ा-बहुत उत्साह था, वह भी एक छोटे-से बारहसिंगे के साथ जो घटना हुई उससे ठंडा पड़ गया। यह छोटा-सा निर्दोष अहिंसक पशु चोट से मरकर मेरे पैरों पर गिर पड़ा और अपनी आँसूभरी बड़ी-बड़ी आँखों से मेरी तरफ़ देखने लगा। तब से उन आँखों की मुझे अक्सर याद आ जाती है।

उन शुरू के सालों में श्री गोखले की भारत-सेवक समिति की ओर भी मेरा आकर्षण हुआ था। मैंने उसमें शामिल होने की बात तो कभी नहीं सोची। कुछ तो इसलिए कि उनकी राजनीति मेरे लिए बहुत ही नरम थी, और कुछ इसलिए कि उन दिनों अपना पेशा छोड़ने का मेरा कोई इरादा न था। परन्तु समिति के मेम्बरों के लिए मेरे दिल में बड़ी इज़्ज़त थी, क्योंकि उन्होंने निर्वाह-मात्र पर अपने को स्वदेश की सेवा में लगा दिया था। मैंने दिल में कहा कि

कम-से-कम यह एक समिति ऐसी है, जिसके लोग एकाग्र-चित्त होकर लगातार काम करते हैं, फिर चाहे वह काम सोलहों आने ठीक दिशा में भले ही न हो।

विश्व-व्यापी महायुद्ध शुरू हुआ और उसमें हमारा ध्यान लग गया, हालाँकि वह हमसे बहुत दूर हो रहा था। शुरू में उसका हमारे जीवन पर ऐसा ज़्यादा प्रभाव नहीं पड़ा और हिन्दुस्तान ने तो उसकी वीभत्सता के पूरे स्वरूप का अनुभव भी नहीं किया। राजनीति के बरसाती नाले बहते और लोप हो जाते थे। 'ब्रिटिश डिफ़ेन्स आफ़ रिएल्म एक्ट' की तरह जो 'भारत रक्षा क़ानून' बना था, देश को वह ज़ोर से जकड़े हुए था। लड़ाई के दूसरे साल से ही षड्यंत्रों और गोलियों से उड़ाये जाने की ख़बरें आने लगीं। उधर पंजाब में रंगरूटों की जबरन् भरती की ख़बरें सुनायी देती थीं।

यद्यपि लोग ज़ोर-ज़ोर से राजभक्ति का राग अलापते थे, तो भी अंग्रेज़ों के साथ उनकी बहुत ही कम हमदर्दी थी। जर्मनी की जीत की ख़बरें सुनकर क्या माडरेट और क्या गरमदलवाले दोनों को ही खुशी होती थी। यह नहीं कि किसी को जर्मनी से कोई प्रेम था, बल्कि यह इच्छा थी कि हमारे इन प्रभुओं का ग़रूर उतर जाय। कमज़ोर और असहाय मनुष्यों के मन में अपने से ज़बरदस्त के दूसरे से पीटे जाने की ख़बर सुनकर जैसी ख़ुशी होती है, वैसा ही यह भाव था। मैं समझता हूँ कि हममें से अधिकांश इस लड़ाई के बारे में मिले-जुले भाव रखते थे। जितने राष्ट्र लड़ रहे थे, उनमें मेरी हमदर्दी सबसे ज़्यादा फ्रान्सीसियों के साथ थी। मित्र राष्ट्रों की ओर से, बेहयाई के साथ जो लगातार प्रचार किया गया, उसका कुछ असर ज़रूर पड़ा, यद्यपि हम लोग उसकी सब बातें सही न मानने की काफ़ी कोशिश करते थे।

धीरे-धीरे राजनैतिक जीवन फिर बढ़ने लगा। लोकमान्य तिलक जेल से बाहर आ गये, और उन्होंने तथा मिसेज़ बेसेण्ट ने होमरूल लीगें क़ायम कीं। मैं दोनों लीगों में शामिल हुआ, लेकिन काम मैंने ख़ासतौर पर मिसेज़ बेसेण्ट की लीग के लिए ही किया। हिन्दुस्तान के राजनैतिक मंच पर मिसेज़ बेसेण्ट दिनों-दिन अधिक भाग लेने लगीं। कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में कुछ अधिक जोश भर गया और मुस्लिम लीग कांग्रेस के साथ-साथ चलने लगी। वायु-मण्डल में बिजली-सी दौड़ गयी, और हम-जैसे अधिकांश नवयुवकों के दिल फड़कने लगे। निकट भविष्य में हम बड़ी-बड़ी बातें होने की उम्मीदें करने लगे। मिसेज़ बेसेण्ट की नजरबन्दी से पढ़े-लिखे लोगों में बहुत उत्तेजना बढ़ी और उसने देश भर में होमरूल आन्दोलन में जान डाल दी। होमरूल लीगों में न सिर्फ वे पुराने गरमदलवाले ही शामिल हुए जो १९०७ से कांग्रेस से अलग हो गये थे, बल्कि मध्यम श्रेणी के लोगों में से नये कार्यकर्त्ता भी आये। लेकिन आम जनता को इन लोगों ने छुआ तक नहीं। परन्तु कई माडरेट लीडर आगे भी बढ़े। उनमें से कुछ तो बाद को पीछे हट गये, कुछ जहाँ पहुँच चुके थे, वहींके वहीं डटे रहे। मुझे याद है कि 'यूरोपियन

डिफेंस फ़ोर्स' के ढंग पर सरकार हिन्दुस्तान में मध्यमवर्ग के लोगों में से जिस नये 'इंडिन डिफेंस फ़ोर्स' का संगठन कर रही थी, उसके बारे में बड़ी चर्चा होती थी। कई मामलों में इस हिन्दुस्तानी डिफेंस फ़ोर्स के साथ वह व्यवहार नहीं किया जाता था, जो यूरोपियन डिफेंस फ़ोर्स के साथ किया जाता था, और हममें से बहुतों को यह महसूस हुआ कि जब तक यह सब अपमानजनक भेद-भाव न मिटा दिया जाय, तब तक हमें इस फ़ोर्स से सहयोग न करना चाहिए। लेकिन बहुत बहस के बाद, आख़िर हम लोगों ने संयुक्त प्रान्त में सहयोग करना ही तय किया, क्योंकि यह सोचा गया कि इन हालतों में भी हमारे नौजवानों के लिए यह अच्छा है कि वे फ़ौज़ी शिक्षा ग्रहण करें। मैंने इस फोर्स में दाख़िल होने के लिए अपनी अर्ज़ी भेज दी, और उस तजवीज़ को बढ़ाने के लिए हम लोगों ने इलाहाबाद में एक कमेटी भी बना ली। इसी समय मिसेज़ बेसेण्ट की नज़रबन्दी हुई, और उस क्षण के जोशमें मैंने कमेटी के मेम्बरों को, जिनमें पिताजी, डाक्टर तेजबहादुर सप्रू, श्री सी० वाई० चिन्तामणि तथा दूसरे माडरेट लीडर शामिल थे, इस बात के लिए राज़ी कर लिया कि वे अपनी मीटिंग रद्द कर दें, और सरकार की नज़रबन्दीवाली हरकत के विरोध-स्वरूप डिफेंस फ़ोर्स के सिलसिले के दूसरे सब काम भी बन्द कर दें। तुरन्त ही इस मतलब का एक आम नोटिस निकाल दिया गया। मेरा ख़याल है कि लड़ाई के दिनों में ऐसा आक्रामक कार्य करने के लिए इनमें से कुछ लोग पीछे बहुत पछताये।

मिसेज़ बेसेन्ट की नज़रबन्दी का नतीजा यह हुआ कि पिताजी तथा दूसरे माडरेट लीडर होम-रूल लीग में शामिल हो गये। कुछ महीने बाद ज्यादातर माडरेट नेताओं ने लीग से इस्तीफ़ा दे दिया। पिताजी उसके मेम्बर बने रहे और उसकी इलाहाबाद शाखा के सभापति भी बन गये।

धीरे-धीरे पिताजी कट्टर माडरेटों की स्थिति से अलग हटते जा रहे थे। उनकी प्रकृति तो जो सत्ता हमारी उपेक्षा करती थी और हमारे साथ घृणा का बर्ताव करती थी, उससे ज्यादा दबने और उसीसे अपील करने के खिलाफ़ बग़ावत करती थी और पुराने नरमदल के नेता उन्हें आकर्षित नहीं करते थे। उनकी भाषा और उनके ढंग उन्हें बहुत खटकते थे। मिसेज़ बेसेण्ट की नज़रबन्दी की घटना का उनके ऊपर काफ़ी असर पड़ा, लेकिन आगे क़दम रखने से पहले वह अब भी हिचकिचाते थे। अक्सर वह उन दिनों यह कहा करते थे कि माडरेटों के तरीकों से कुछ नहीं हो सकता लेकिन साथ ही जब तक हिन्दू-मुस्लिम सवाल का हल नहीं मिलता, तब तक दूसरा कोई भी कारगर काम नहीं किया जा सकता। वह वादा करते थे कि अगर इसका हल मिल जाय, तो मैं आपमें से तेज-से तेज के साथ क़दम मिलाकर चलने को तैयार हूँ। हमारे ही घर में अखिलभारतीय कांग्रेस कमिटी की मीटिंग में वह संयुक्त कांग्रेस-लीग-योजना बनी जिसे १९१६ ईसवी में कांग्रेस ने लखनऊ में मंजूर किया। इस बात से पिताजी बड़े खुश हुए, क्योंकि इससे सम्मिलित प्रयास का रास्ता खुल गया। उस समय वह माडरेट दल के अपने पुराने

साथियों से बिगाड़ करके भी हमारे साथ चलने को तैयार थे। भारत-मंत्री की हैसियत से एडविन मांटेग्यू ने हिन्दुस्तान में जो दौरा किया तब तक, और दौरे के दरमियान, माडरेट और पिताजी साथ-साथ रहे। लेकिन मांटेग्यू-चैम्सफ़ोर्ड रिपोर्ट[1] के प्रकाशन के बाद तुरन्त ही मत-भेद शुरू हो गया। १९१८ में लखनऊ में एक विशेष प्रान्तीय कान्फ्रेंस हुई। पिताजी इसके सभापति थे। इसीमें वह सदा के लिए माडरेटों से अलग हो गये। माडरेटों को डर था कि यह कान्फ्रेंस मांटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड प्रस्तावों के ख़िलाफ़ कड़ा रुख़ अख़्तियार करेगी। इसलिए उन्होंने उसका बायकाट कर दिया। इसके बाद इन प्रस्तावों पर विचार करने के लिए कांग्रेस का जो विशेष अधिवेशन हुआ उसका भी उन्होंने बायकाट किया। तब से अब तक वे कांग्रेस के बाहर ही हैं।

माडरेटों ने जो ढंग अख़्तियार किया वह यह था कि वे कांग्रेस के अधिवेशनों तथा दूसरे आम जल्सों से चुपचाप अलग होकर दूर रहें, और बहुमत के ख़िलाफ़ होने पर वहाँ जाकर अपना दृष्टि-कोण भी न रखें और न उसके लिए लड़ें। यह ढंग बहुत ही भद्दा और अनुचित मालूम हुआ। मेरा ख़याल है कि देश में अधिकांश लोगों का यही आम ख़याल था और मुझे विश्वास है कि हिन्दुस्तान की राजनीति में माडरेटों का प्रभाव जो प्राय: सोलहों आने जाता रहा, वह एक हद तक उनके इस डरपोकपन के कारण भी हुआ। मेरा ख़याल है कि अकेले श्री शास्त्री ही एक ऐसे माडरेट नेता थे जो कांग्रेस के शुरू के उन कुछ जल्सों में भी शामिल हुए जिनका माडरेट दल ने बायकाट कर दिया था, और उन्होंने अपने अकेले का दृष्टि-कोण वहाँ रक्खा।

लड़ाई के शुरू के सालों में मेरे अपने राजनैतिक और सार्वजनिक कार्य साधारण ही थे और मैं आम सभाओं में व्याख्यान देने से बचा रहा। अभी तक मुझे जनता में व्याख्यान देने में डर व झिझक मालूम होती थी। कुछ हद तक इसकी वजह यह भी थी कि मैं यह महसूस करता था कि सार्वजनिक व्याख्यान अंग्रेज़ी में तो होने नहीं चाहिए और हिन्दुस्तानी में देर तक बोलने की अपनी योग्यता में मुझे सन्देह था। मुझे वह छोटी-सी घटना याद है जो उस समय हुई; जब मुझे इस बात के लिए मजबूर कर दिया गया कि मैं पहले-पहल इलाहाबाद में सार्वजनिक भाषण दूँ। सम्भवत: यह १९१५ में हुआ। तारीख़ के बारे में मैं ठीक-ठीक नहीं कह सकता। इसके अलावा पहले क्या हुआ और फिर क्या, यह तरतीब भी मुझे साफ़-साफ़ याद नहीं है। प्रेस का मुँह बन्द करनेवाले एक क़ानून के विरोध में सभा होनेवाली थी और उसमें मुझे यह मौक़ा मिला था। मैं बहुत थोड़ा बोला, सो भी अंग्रेज़ी में। ज्योंही मीटिंग ख़तम हुई, मुझे इस बात से बड़ी सकुच हुई कि

[1] 'सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली से प्रकाशित 'कांग्रेस का इतिहास', प्रकरण ४ देखिए। —अनु०

डॉक्टर तेजबहादुर सप्रू ने मंच पर पब्लिक के सामने मुझे छाती से लगाकर प्यार से चूमा। मैंने जो कुछ या जिस तरह कहा उसपर वह खुश हुए हों सो बात नहीं। बल्कि उनकी इस बेहद खुशी का सबब सिर्फ यह था कि मैंने आम सभा में व्याख्यान दिया, और इस तरह सार्वजनिक कार्य के लिए एक नया रंगरूट मिल गया। उन दिनों सार्वजनिक काम दरअसल केवल व्याख्यान देना ही था।

मुझे याद है कि उन दिनों हमें, इलाहाबाद के बहुत से नौजवानों को, यह भी आशा थी कि, मुमकिन है, डॉक्टर सप्रू राजनीति में कुछ आगे क़दम रखें। शहर में माडरेट दल के जितने लोग थे उन सबमें उन्हींसे इस बात की सबसे ज्यादा सम्भावना थी, क्योंकि वह भावुक थे और कभी-कभी मौक़े पर उत्साह की लहर में बह जाते थे। उनके मुक़ाबले पिताजी बहुत ठंडे मालूम पड़ते थे, हालाँकि उनकी इस बाहरी चादर के नीचे काफ़ी आग थी। लेकिन पिताजी की दृढ़ इच्छा-शक्ति के कारण हमें उनसे बहुत कम उम्मीद रह गयी थी, और कुछ वक्त के लिए हमें सचमुच डॉक्टर सप्रू से ही ज्यादा उम्मीदें थीं। इसमें तो कोई शक नहीं कि अपनी लम्बी सार्वजनिक सेवाओं के कारण पण्डित मदनमोहन मालवीय हमें अपनी तरफ़ खींचते थे और हम लोग उनसे देर-देर तक बातें करके उनपर यह ज़ोर डालते थे कि वह ज़ोर के साथ देश का नेतृत्व करें।

उस ज़माने में, घर में राजनैतिक सवाल चर्चा और बहस के लिए शांतिमय विषय नहीं था। उनकी चर्चा अक्सर होती थी, लेकिन चर्चा होते ही तनातनी होने लगती थी। गरमदल की तरफ़ जो मेरा झुकाव था, उसे पिताजी बड़े ग़ौर से देख रहे थे; ख़ासतौर पर बातूनी राजनीति के बारे में मेरी नुक्ताचीनियों को और कार्य के लिये की जानेवाली मेरी आग्रहपूर्ण मांग को। मुझे भी यह बात साफ़-साफ़ नहीं दिखायी देती थी कि क्या काम होना चाहिए और पिताजी कभी-कभी ख़याल करते थे कि मैं सीधे उस हिंसात्मक कार्य की तरफ़ जा रहा हूं जिसको बंगाल के नौजवानों ने अख़्तियार किया था। इससे वह बहुत ही चिन्तित रहते थे, जबकि दरअसल मेरा आकर्षण उस तरफ़ था नहीं। हां, यह ख़याल मुझे हर वक़्त घेरे रहता था कि हमें मौजूदा हालत को चुपचाप बरदाश्त नहीं करना चाहिए और कुछ-न-कुछ करना ज़रूर चाहिए। राष्ट्रीय दृष्टि से किसी काम को सफल करना बहुत आसान नहीं दिखाई देता था। लेकिन मैं यह महसूस करता था कि स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान दोनों ही यह चाहते हैं कि विदेशी हुकूमत के ख़िलाफ़ अधिक लड़ाकू और आक्रामक रवैया अख़्तियार किया जाय। पिताजी खुद माडरेटों की विचार-पद्धति से असन्तुष्ट थे और उनके मन के भीतर द्वन्द्व-युद्ध मच रहा था। वह इतने हठी थे कि जब तक इस बात का पूरा-पूरा विश्वास न हो जाय कि ऐसा करने के अलावा और कोई चारा नहीं, तब तक वह एक स्थिति को छोड़ कर दूसरी को कभी नहीं अपनाते। आगे रखे जानेवाले हरेक़ क़दम के मानी यह थे कि उनके मन में कठिन और कठोर द्वन्द्व हो, लेकिन अपने मन से इस

तरह लड़ने के बाद जब वह कोई क़दम आगे रख देते थे तब फिर पीछे पैर नहीं हटाते थे। उन्होंने आगे जो क़दम बढ़ाया, वह किसी उत्साह के झोंके में नहीं, बल्कि बौद्धिक विश्वास के फलस्वरूप, और एक बार आगे क़दम रख देने के बाद उनका सारा अभिमान उन्हें पीछे मुड़कर देखने से भी रोकता था।

उनकी राजनीति में बाह्य परिवर्तन मिसेज़ बेसेण्ट की नज़रबन्दी के वक़्त से आया और तबसे वह क़दम-ब-क़दम आगे ही बढ़ते गये और अपने माडरेट दोस्तों को पीछे छोड़ते गये। अन्त में १६१६ में पंजाब में जो दुःखान्त कांड हुआ उसने उन्हें हमेशा के लिए अपने पुराने जीवन और अपने पेशे से अलग काट फेंका, और उन्होंने गांधीजी के चलाये नये आन्दोलन के साथ अपने भाग्यकी बागडोर बांध दी।

लेकिन यह बात तो आगे जाकर होने को थी और १६१५ से १६१७ तक तो वह यह तय ही नहीं कर पाये कि क्या करना चाहिए। एक तो उनके अपने मन में तरह-तरह की शंकाएं उठ रही थीं, दूसरे वह मेरी वजह से चिन्तित थे। इस-लिए वह उन दिनों के सार्वजनिक प्रश्नों पर शान्तिपूर्वक बातचीत नहीं कर सकते थे। अक़्सर यह होता था कि बातचीत में वह नाराज़ हो जाते और हमें बात जहां-की-तहां ख़तम कर देनी पड़ती।

मैं गांधीजी से पहले-पहल १६१६ में बड़े दिन की छुट्टियों में लखनऊ कांग्रेस में मिला। दक्षिण अफ्रीका में उनकी बहादुराना लड़ाई के लिए हम सब लोग उनकी तारीफ़ करते थे, लेकिन हम नौजवानों में बहुतों को वह बहुत अलग तथा राजनीति से दूर व्यक्ति मालूम होते थे। उन दिनों उन्होंने कांग्रेस या राष्ट्रीय राजनीति में भाग लेने से इन्कार कर दिया था, और अपनेको प्रवासी भारतीयों के मसले की सीमा तक बांध रखा था। इसके बाद ही चम्पारन में निलहे गोरों के कारण होनेवाले किसानों के दुःख दूर करने में उन्होंने जैसा साहस दिखाया और उस मामले में उनकी जो जीत हुई, उससे हम लोग उत्साह से भर गये। हम लोगों ने देखा कि वह हिन्दुस्तान में भी अपने इस तरीक़े से काम लेने को तैयार हैं और उनसे सफलता की भी आशा होती थी।

लखनऊ-कांग्रेस के बाद उन दिनों इलाहाबाद में सरोजिनी नायडू ने जो कई बढ़िया भाषण दिये, उनसे भी, मुझे याद है, मेरा दिल हिल उठता था। वे भाषण शुरू से आख़िर तक राष्ट्रीयता और देश-भक्ति से सराबोर होते थे और उन दिनों मैं विशुद्ध राष्ट्रीयता-वादी था। मेरे कालेज के दिनों के गोलमोल साम्यवादी भाव पीछे जा छिपे थे। १६१६ में रोजर केसमेन्ट[1] ने अपने मुक़दमे में जो

---

[1] रोजर केसमेंट एक समय ब्रिटिश सरकार के उपनिवेशों में उच्च पद पर था। दक्षिण अमेरिका के पुटुमायो में एंग्लो-पेरूवियन रबर कम्पनी ने वहां के निवासियों पर जो जुल्म किये थे उनकी जांच करने के लिए १६१० में इसकी नियुक्ति की गई थी और उसकी रिपोर्ट से बड़ी सनसनी फैली थी। इसके बाद

आश्चर्यजनक भाषण दिया, उसने हमें यह बताया कि ग़ुलाम जातिवालों के भाव कैसे होने चाहिएँ? आयलैंण्ड में ईस्टर के दिनों में जो बग़ावत हुई उसकी विफलता ने भी हमें अपनी तरफ़ खींचा; क्योंकि जो निश्चित विफलता पर हँसता हुआ संसार के सामने यह ऐलान करता है कि एक राष्ट्र की अजेय आत्मा को कोई भी शारीरिक शक्ति नहीं कुचल सकती, वह सच्चा साहस नहीं था, तो क्या था?

उन दिनों ये ही मेरे भाव थे। परन्तु नयी किताबों के पढ़ने से मेरे दिमाग़ में साम्यवादी विचारों के अंगारे भी फिर जलने लगे थे। उन दिनों वे भाव अस्पष्ट थे, वैज्ञानिक न होकर दयापूर्ण और हवाई अधिक थे। युद्धकाल में तथा उसके बाद भी मुझे बर्ट्रेण्ड रसल[1] के लेख तथा ग्रन्थ बहुत पसन्द आते थे।

इन विचारों और इच्छाओं से मेरे मन का भीतरी संघर्ष तथा अपने वकालत के पेशे के प्रति मेरा असन्तोष और भी बढ़ गया। यों मैं उसे चलाता रहा, क्योंकि उसके सिवा मैं करता भी क्या? लेकिन मैं अधिकाधिक यह महसूस करने लगा कि एक ओर ख़ासतौर पर आक्रामक ढंग का सार्वजनिक कार्य, जो मुझे पसन्द है, और दूसरी तरफ़ यह वकालत का पेशा, दोनों एक साथ निभ नहीं सकते। सवाल सिद्धान्त का नहीं, समय और शक्ति का था। न जाने क्यों कलकत्ता के नामी वकील सर रासबिहारी घोष मुझसे बहुत खुश थे। वह मुझे इस विषय में बहुत नेक सलाह दिया करते थे। ख़ासतौर पर उन्होंने मुझे यह सलाह दी कि मैं पसन्द के किसी क़ानूनी विषय पर एक किताब लिखूँ, क्योंकि उनका कहना था कि जूनियर वकील के लिए अपने को 'ट्रेन' करने का यही सबसे अच्छा रास्ता है। उन्होंने यह भी कहा कि इस किताब के लिखने में मैं तुम्हें विचारों की भी मदद दूँगा और उस किताब का संशोधन भी कर दूँगा। लेकिन मेरे वकीली जीवन में उनकी यह दिलचस्पी बेकार थी क्योंकि मेरे लिए इससे ज्यादा अखरनेवाली और कोई चीज़ नहीं हो सकती थी कि मैं क़ानूनी किताब लिखने में अपना समय और शक्ति बरबाद करूँ।

यह ब्रिटिश साम्राज्य का कट्टर शत्रु बन गया। महायुद्ध मे भाग न लेने के लिए, उसने अपने आयरिश भाइयों से अनुरोध किया। नवम्बर १९१४ मे वह बर्लिन गया और वहाँ जर्मन सरकार के साथ ब्रिटिश के ख़िलाफ़ सुलह की। आयर्लैण्ड में १९१६ के ईस्टर सप्ताह में बलवे की तैयारी की। बारह अप्रैल को जर्मनी स जहाज़ में गोला-बारूद भरकर आयर्लैण्ड के किनारे उतरा। जहाज़ और वह ख़ुद दोनों पकड़े गये। 'राज्य के शत्रु' होने का इल्ज़ाम इस पर लगाया गया और तीन अगस्त को उसे फाँसी की सज़ा दी गयी। —अनु०

[1] लार्ड-पद छोड़कर समाजवाद का प्रचार करनेवाला अंग्रेज़ अध्यापक और समर्थ लेखक। महायुद्ध मे युद्धनीतियों का विरोध करने के लिए इसने सज़ा भी पायी थी। —अनु०

बुढ़ापे में सर रासबिहारी बहुत ही चिड़चिड़े हो गये थे। फ़ौरन ही उन्हें गुस्सा आ जाता था, जिससे उनके जूनियरों पर उनका बड़ा आतंक-सा रहता था। लेकिन मुझे वह फिर भी अच्छे लगते थे। उनकी कमियाँ और कमज़ोरियाँ भी बिलकुल अनाकर्षक नहीं मालूम होती थीं। एक मर्त्तबा मैं और पिताजी शिमला में उनके मेहमान थे। मेरा ख़याल है कि यह १९१८ की बात है—ठीक उस समयकी जब माण्टेगू-चेम्सफ़ोर्ड-रिपोर्ट छपकर आयी थी। उन्होंने एक दिन शाम को कुछ मित्रों को खाने के लिए बुलाया और उसमें खापर्डे साहब भी थे। खाना खाने के बाद सर रासबिहारी और खापर्डे आपस में ज़ोर-ज़ोर से बातें तथा एक दूसरे पर हमला करने लगे, क्योंकि वह राजनीति में भिन्न-भिन्न दलों के थे। सर रासबिहारी घुटे हुए माडरेट थे और खापर्डे उन दिनों प्रमुख तिलक-शिष्य माने जाते थे, यद्यपि पीछे जाकर वे अत्यन्त नरम और माडरेटों तक के लिए भी अत्यधिक माडरेट हो गये। खापर्डे ने गोखले की आलोचना शुरू की। कुछ साल पहले ही गोखले का देहान्त हो चुका था। खापर्डे कहने लगे कि गोखले ब्रिटिश सरकार के एजेण्ट थे और उन्होंने लन्दन में मेरे ऊपर भेदिये का काम किया। सर रासबिहारी इसे कैसे बरदाश्त कर सकते थे? वह बिगड़कर बोले कि गोखले एक पुरुषोत्तम थे और मेरे ख़ास मित्र थे। मैं किसी को उनके ख़िलाफ़ एक भी शब्द नहीं कहने दूँगा। तब खापर्डे श्रीनिवास शास्त्री की बुराई करने लगे। सर रासबिहारी को यह भी अच्छा तो नहीं लगा लेकिन उन्होंने कोई नाराज़गी नहीं दिखलायी। ज़ाहिर है कि वह शास्त्री के उतने प्रशंसक नहीं थे जितने गोखले के। यहाँतक कि उन्होंने यह कहा कि जबतक गोखले जीवित थे मैं रुपये पैसे से भारत-सेवक समिति की मदद करता था, लेकिन उनकी मृत्यु के बाद मैंने रुपया देना बन्द कर दिया है। इसके बाद खापर्डे उनके मुक़ाबले तिलक की तारीफ़ करने लगे। बोले, "तिलक निस्सन्देह महापुरुष, एक आश्चर्यजनक पुरुष, महात्मा हैं।" "महात्मा"! रासबिहारी बोले—"मुझे महात्माओं से चिढ़ है। मैं उनसे कोई वास्ता नहीं रखना चाहता।"

६

हिमालय की एक घटना

मेरी शादी १९१६ में, दिल्ली में वसन्त-पंचमी को हुई थी। उस साल गरमी में हमने कुछ महीने कश्मीर में बिताये। मैंने अपने परिवार को तो श्रीनगर की घाटी में छोड़ दिया, और अपने एक चचेरे भाई के साथ कई हफ़्ते तक पहाड़ों में घूमता रहा, तथा लद्दाख़ रोड तक बढ़ता चला गया।

संसार के उच्च प्रदेश मे उन सँकड़ी और निर्जन घाटियों में, जो तिब्बत के मैदान की तरफ़ ले जाती हैं, घूमने का यह मेरा पहला अनुभव था। ज़ोजी-ला घाटी की चोटी से हमने देखा तो हमारी एक तरफ़ नीचे की ओर पहाड़ों की घनी

हरियाली थी, और दूसरी तरफ़ ख़ाली कड़ी चट्टान। हम उस घाटी की सँकड़ी तह के ऊपर चढ़ते चले गये, जिसके दोनों ओर पहाड़ हैं। एक तरफ़ बरफ़ से ढकी हुई चोटियाँ चमक रही थीं, और उनमें से छोटे-छोटे ग्लेशियर—हिमसरोवर—हमसे मिलने के लिए, नीचे को रेंग रहे थे। हवा ठंडी और कटीली थी, लेकिन दिन में धूप अच्छी पड़ती थी और हवा इतनी साफ़ थी कि अक्सर हमें चीज़ों की दूरी के बारे में भ्रम हो जाता था। वे दरअसल जितनी दूर होती थीं, हम उन्हें उससे बहुत कम दूर समझते थे। धीरे-धीरे सूनापन बढ़ता गया, पेड़ों और वनस्पतियों तक ने हमारा साथ छोड़ दिया—सिर्फ़ नंगी चट्टान और बरफ़ और पाला और कभी-कभी कुछ सुन्दर फूल रह गये। फिर भी प्रकृति के इन जंगली और सुनसान निवासों में मुझे अजीब सन्तोष मिला। मेरे उत्साह और उमंग का ठिकाना न था।

इस यात्रा में मुझे एक बड़ा दिल को कंपा देनेवाला अनुभव हुआ। ज़ोजी-ला घाटी से आगे सफ़र करते हुए एक जगह, जो मेरे ख़याल में मातायन कहलाती थी, हमसे कहा गया कि अमरनाथ की गुफा यहाँ से सिर्फ़ आठ मील दूर है। यह ठीक था कि बीच में बुरी तरह हिम से ढका हुआ एक बड़ा पहाड़ पड़ता था, जिसे पार करना था। लेकिन उससे क्या? आठ मील होते ही क्या हैं? जोश खूब था और तजुरबे नदारद। हमने अपने डेरे-तम्बू, जो ग्यारह हज़ार पाँच सौ फ़ीट की ऊँचाई पर थे, छोड़ दिये और एक छोटे-से दल के साथ पहाड़ पर चढ़ने लगे। रास्ता दिखाने के लिए हमारे साथ यहाँ का एक गडरिया था।

हम लोगों ने रस्सियों के सहारे कई बरफ़ीली नदियों को पार किया। हमारी मुश्किलें बढ़ती गयीं तथा साँस लेने में भी कठिनाई मालूम होने लगी। हमारे कुछ सामान उठानेवालों के मुँह से खून निकलने लगा, हालाँकि उनपर बहुत बोझ नहीं था। इधर बर्फ़ पड़ने लगी और बर्फ़ीली नदियाँ भयानक रूप से रपटीली हो गयीं। हम लोग बुरी तरह थक गये और एक-एक क़दम आगे बढ़ने के लिए बहुत कोशिश करनी पड़ती थी। लेकिन फिर भी हम यह मूर्खता करते ही गये। हमने अपना ख़ीमा सुबह चार बजे छोड़ा था और बारह घंटे तक लगातार चढ़ते रहने के बाद एक सुविशाल हिम-सरोवर देखने का पुरस्कार मिला। यह दृश्य बहुत ही सुन्दर था। उसके चारों ओर बरफ़ से ढकी हुई पर्वत-चोटियाँ थीं, मानों देवताओं का मुकुट अथवा अर्द्धचंद्र हो। परन्तु ताज़ा बरफ़ और कुहरे ने शीघ्र ही इस दृश्य को हमारी आँखों से ओझल कर दिया। पता नहीं कि हम कितनी ऊँचाई पर थे, लेकिन मेरा ख़याल है कि हम लोग कोई पन्द्रह-सोलह हज़ार फ़ीट ऊँचाई पर ज़रूर होंगे; क्योंकि हम अमरनाथ की गुफा से बहुत ऊँचे थे। अब हमें इस हिम-सरोवर को, जो सम्भवतः आध मील लम्बा होगा, पार करके दूसरी तरफ़ नीचे गुफा को जाना था। हम लोगों ने सोचा कि चढ़ाई ख़त्म होने से हमारी मुश्किलें भी ख़त्म हो गयी होंगी, इसलिए बहुत थके होने पर भी हम लोगों ने हँसते हुए यात्रा की यह मंज़िल भी तय करनी शुरू की। इसमें बड़ा धोखा था,

क्योंकि वहाँ दरारें बहुत-सी थीं और ताज़ी गिरनेवाली बरफ़ ख़तरनाक दरारों को ढक देती थी। इस नये बर्फ़ ने ही मेरा क़रीब-क़रीब ख़ात्मा कर दिया होता, क्योंकि मैंने ज्योंही उसके ऊपर पैर रखा, वह नीचे को खिसक गयी और मैं धम्म से मुँह बाये हुए एक विशाल दरार में जा गिरा। यह दरार बहुत बड़ी थी और कोई भी चीज़ उसमें बिलकुल नीचे पहुँचकर हजारों वर्ष बाद तक भूगर्भशास्त्रियों की खोज के लिए इत्मीनान के साथ सुरक्षित रह सकती थी। लेकिन मेरे हाथ से रस्सी नहीं छूटी और मैं दरार की बाज़ू को पकड़े रहा और ऊपर खींच लिया गया। इस घटना से हम लोगों के होश तो ढीले हो गये थे, फिर भी हम लोग आगे चलते ही गये। लेकिन दरारों की तादाद और उनकी चौड़ाई आगे जाकर और भी बढ़ गयी। इनमें से कुछ को पार करने के कोई साधन भी हमारे पास न थे, इसलिए अन्त में हम लोग थके-माँदे हताश हो लौट आये और इस प्रकार अमरनाथ की गुफा अनदेखी रह गयी।

कश्मीर के पहाड़ों तथा ऊँची-ऊँची घाटियों ने मुझे ऐसा मुग्ध कर लिया कि मैंने एक बार फिर वहाँ जाने का संकल्प किया। मैंने कई योजनाएं सोचीं, और कई यात्राओं के मनसूबे बाँधे और उनमें से एक के तो ख़याल ही से मेरी ख़ुशी का ठिकाना न रहा। वह थो तिब्बत की अलौकिक झील मानसरोवर और उसके पास का हिमाच्छादित कैलास। यह अठारह बरस पहले की बात है और मैं आज भी कैलास तथा मानसरोवर से उतना ही दूर हूँ जितना पहले था। मैं फिर कश्मीर न जा सका, हालाँकि वहाँ जाने की मेरी बहुत इच्छा रही। लेकिन मैं राजनीति और सार्वजनिक कामों के जंजाल में अधिकाधिक उलझता गया। पहाड़ों पर चढ़ने या समुद्रों को पार करने के बदले मेरी सैलानी तबीयत को जेलों में जाकर ही सन्तोष करना पड़ा। लेकिन अब भी मैं वहाँ जाने के मनसूबे गढ़ा करता हूँ क्योंकि वह तो एक ऐसे आनन्द की बात है जिसे कोई जेल में भी नहीं रोक सकता। और इसके अलावा जेलों में ये स्कीमें सोचने के सिवा और कोई करे भी क्या? अतः मैं उस दिन का स्वप्न देख रहा हूँ जब मैं हिमालय पर चढ़कर उसे पार करूँगा और उस झील तथा कैलास के दर्शन करके अपना मनोरथ पूरा करूँगा। परन्तु इस बीच में जवीन की घड़ियाँ दौड़ती जा रही हैं, जवानी अधेड़पन में बदल रही है और कभी-कभी मैं यह सोचता हूँ कि मैं इतना बूढ़ा हो जाऊँगा कि कैलास और मानसरोवर जा ही न सकूँगा। परन्तु यद्यपि यात्रा का अन्त न भी दिखाई दे, तब भी यात्रा करने में हमेशा आनन्द ही आता है।

> मेरे अन्तर्पट पर इन गिरि-शृंगों की पड़ती छाया,
> सांध्य गुलाबों से रंजित है जिनकी भीषण दुर्गमता;
> फिर भी मेरे प्राण मुग्ध पलकों पर बैठे अकुलाते,
> शांत शुभ्र हिम के ये प्यासे, कैसी पागल ममता![1]

---

[1]वाल्तर दि ला मेयर के एक पद्य का भावानुवाद। —अनु०

७

गाँधीजी मैदान में
सत्याग्रह और अमृतसर

यूरोपियन महायुद्ध के अन्त में हिन्दुस्तान में एक दबा हुआ जोश फैला हुआ था। कल-कारख़ाने जगह-जगह फैल गये थे और पूँजीवादी वर्ग धन और सत्ता में बढ़ गया था। चोटी पर के मुट्ठीभर लोग मालामाल हो गये थे और उनके जी इस बात के लिए ललचा रहे थे कि बचत की इस दौलत को और भी बढ़ाने के लिए सत्ता और मौक़े मिलें। मगर आम लोग इतने ख़ुशक़िस्मत न थे और वे उस बोझ को कम करने की टोह में थे जिसके तले वे कुचले जा रहे थे। मध्यम-वर्ग के लोगों में यह आशा फैल रही थी कि अब शासन-सुधार होंगे ही, जिनसे स्वराज के कुछ अधिकार मिलेंगे और उसके द्वारा उन्हें अपनी बढ़ती के नये रास्ते मिलेंगे। राजनैतिक आन्दोलन, जोकि शान्तिमय और बिलकुल वैध था, कामयाब होता हुआ दिखायी देता था और लोग विश्वास के साथ आत्म-निर्णय, स्वशासन और स्वराज की बातें करते थे। इस अशान्ति के कुछ चिह्न जनता में भी, और ख़ासकर किसानों में, दिखाई पड़ते थे, पंजाब के देहाती इलाक़ों में ज़बरदस्ती रंगरूट भर्ती करने की दुःखदायी बातें लोग अभी तक बुरी तरह याद करते थे और कोमागाटा-मारू[1] वाले तथा दूसरे लोगों पर षड्यन्त्र के

---

[1]कोमागाटा-मारूवाली घटना थोड़े मे इस प्रकार है—कनाडा मे एक ऐसा क़ानून पास हुआ कि सिवा उन लोगों के जो ठेठ कनाडा तक एक ही जहाज़ में सीधे यात्रा करे, दूसरे किसी को कनाडा मे न उतरने दिया जाय। कनाडा से हिन्दुस्तान तक सीधा एक भी जहाज नही आता था। कनाडा में कई सिक्ख जा बसे थे। अतएव उनके लिए इस क़ानून का यह अर्थ हुआ कि वहाँ बस जानेवाले कोई भी सिक्ख जो यहाँ थोड़े दिन के लिए आये हों, वापस कनाडा नहीं जा सकते, न कनाडा-स्थित कोई सिक्ख हिन्दुस्तान से अपने कुटुम्बियों को ही ले जा सकते थे। इस चुनौती का जवाब देने के लिए १९१५ में बाबा गुरुदत्तसिंह ने 'कोमागाटा मारू' नामक एक ठेठ कनाडा जानेवाला जहाज़ किराये का किया और ६०० सिक्खों को उसमें वहाँ ले गये। इन्हें वहाँ उतरने नहीं दिया गया। वापस लौटते हुए उन्हें कलकत्ते में बजबज स्टेशन पर उतरकर सीधा पंजाब जाने का हुक्म मिला। इस हुक्म को भंग किया गया और इससे बलवा पैदा हुआ; गोलियाँ चलायी गयीं, कितने ही मारे गये, कइयों पर राजद्रोह और षड्यन्त्र और मुक़दमे चले। बाबा गुरुदत्तसिंह वहाँ से भाग निकले और छिपे रहे। १९२१ तक वे इधर-उधर घूमते रहे, फिर गाँधीजी से भेंट हुई और उनकी सलाह के अनुसार अपने को गिरफ़्तार करा दिया। १९२२ में वह लाहौर जेल से छूटे। —अनु०

मुक़दमे चलाकर जो दमन किया गया था उसने उनकी चारों ओर फैली हुई नाराज़गी को और भी बढ़ा दिया। जगह-जगह लड़ाई के मैदानों से जो सिपाही लौटे थे वे अब पहले जैसे 'जो हुकुम' नहीं रह गये थे। उनकी जानकारी और अनुभव बढ़ गया था और उनमें भी बहुत अशान्ति थी।

मुसलमानों में भी, तुर्किस्तान और ख़िलाफ़त के मसले पर जैसा रुख अख़्तियार किया गया उसपर गुस्सा बढ़ रहा था और आन्दोलन तेज़ हो रहा था। तुर्किस्तान के साथ सन्धिपत्र पर अभी हस्ताक्षर नहीं हो चुके थे, मगर ऐसा मालूम होता था कि कुछ बुरा होनेवाला है, सो जहाँ एक ओर वे आन्दोलन कर रहे थे तहाँ दूसरी ओर इन्तज़ार भी कर रहे थे। देशभर में प्रतीक्षा और आशा की हवा ज़ोरों पर थी, लेकिन उस आशा में चिन्ता और भय समाये हुए थे। इसके बाद रौलट-बिलों का दौर हुआ, जिसमें क़ानूनी कार्रवाई के बिना भी गिरफ़्तार करने और सज़ा देने की धाराएं रक्खी गयी थीं। सारे हिन्दुस्तान में चारों ओर उठे हुए क्रोध की लहर ने उनका स्वागत किया था, यहाँ तक कि माडरेट लोगों ने भी अपनी पूरी ताक़त से उनका विरोध किया था। और सच तो यह है कि हिन्दुस्तान के सब विचार और दल के लोगों ने एक स्वर से उनका विरोध किया था। फिर भी सरकारी अफ़सरों ने उनको क़ानून[1] बनवा ही डाला। और ख़ास रिआयत सच पूछो तो यह की गयी कि उनकी मियाद महज़ तीन वर्ष की रख दी गयी!

पन्द्रह बरस पहले इन बिलों पर और इसकी बदौलत जो हलचल मची उसपर ज़रा निगाह दौड़ाना यहां उपयोगी होगा। रौलट-कानून बन तो गया, मगर जहाँ तक मैं जानता हूं, अपनी तीन वर्ष की ज़िन्दगी में वह कभी काम में नहीं लाया गया हालाँकि वे तीन साल शान्ति के नहीं, ऐसे उपद्रव के साल थे, जो १८५७ के ग़दर के बाद हिन्दुस्तान ने पहले-पहल देखे थे। इस तरह ब्रिटिश सरकार ने लोकमत के घोर विरोधी होते हुए एक ऐसा क़ानून बनाया, जिसका उसने कुछ उपयोग भी नहीं किया और बदले में एक तूफ़ान पैदा कर दिया। इससे बहुत-कुछ यह ख़याल किया जा सकता है कि इस क़ानून को बनाने का उद्देश्य सिर्फ़ खलबली मचाना था।

एक और मज़ेदार बात सुनिए। आज पन्द्रह साल के बाद ऐसे कितने क़ानून बन गये हैं जो रोज़-ब-रोज़ बरते भी जाते हैं और जो रौलट-बिल से भी ज़्यादा सख़्त हैं। इन नये क़ानूनों और आर्डिनेंसों के मुकाबले, जिनके मातहत हम आज ब्रिटिश हुकूमत की नियामत का आनन्द लूट रहे हैं, रौलट-बिल तो आज़ादी का परवाना समझा जा सकता है। हाँ, एक फ़र्क़ ज़रूर है। १९१९

[1] एक बिल वापिस लिया गया और दूसरा बिल पास होकर क़ानून बना।
—अनु०

से हमें मॉण्टेगू-चैम्सफ़ोर्ड-योजना नामक स्वराज की एक क़िस्त मिल चुकी है और अब सुनते हैं एक बड़ी क़िस्त और मिलनेवाली है। हम तरक़्क़ी जो कर रहे हैं!

१९१९ के शुरू में गांधीजी एक सख़्त बीमारी से उठे थे। रोग-शय्या से उठते ही उन्होंने वाइसराय से प्रार्थना की थी कि वह इस बिल को क़ानून न बनने दें। इस अपील को उन्होंने, दूसरी अपीलों की तरह, कोई परवाह न की और उस हालत में गांधीजी को अपनी तबियत के खिलाफ़ इस आन्दोलन का अगुआ बनना पड़ा, जो उनके जीवन में पहला भारत-व्यापी आन्दोलन था। उन्होंने सत्याग्रह-सभा शुरू की, जिसके मेम्बरों से यह प्रतिज्ञा करायी गयी थी कि उनपर लागू किये जानेपर वे रौलट-क़ानून को न मानेंगे। दूसरे शब्दों में उन्हें खुल्लमखुल्ला और जान-बूझकर जेल जाने की तैयारी करनी थी।

जब मैंने अख़बारों में यह ख़बर पढ़ी तो मुझे बड़ा सन्तोष हुआ। आख़िर इस उलझन से एक रास्ता मिला तो। वार करने के लिए एक हथियार तो मिला जो सीधा, खुला और बहुत करके राम-बाण था। मेरे उत्साह का पार न रहा और मैं फ़ौरन ही सत्याग्रह-सभा में सम्मिलित होना चाहता था। लेकिन मैंने उसके नतीजे पर—कानून तोड़ना, जेल जाना वग़ैरा पर—शायद ही ग़ौर किया हो और अगर मैंने ग़ौर किया भी होता तो मुझे उनकी परवा न होती। मगर एकाएक मेरे सारे उत्साह पर पाला पड़ गया और मैंने समझ लिया कि मेरा रास्ता आसान नहीं है, क्योंकि पिताजी इस नये विचार के घोर विरोधी थे। वह नये-नये प्रस्तावों के बहाव में बह जानेवाले न थे। कोई नया क़दम आगे बढ़ाने के पहले वह उसके नतीजे को बहुत अच्छी तरह सोच लिया करते थे और जितना ही ज़्यादा उन्होंने सत्याग्रह के प्रश्न और उसके प्रोग्राम के बारे में सोचा उतना हो कम वह उन्हें जँचा। थोड़े-से लोगों के जेल जाने से क्या फ़ायदा होगा? उससे सरकार पर क्या असर होगा और क्या दबाव पड़ेगा? इन आम बातों के अलावा असल बात तो थी—हमारा ज़ाती सवाल। उन्हें यह बात बहुत बेहूदा दिखायी देती थी कि मैं जेल जाऊँ। जेल जाने का सिलसिला अभी शुरू नहीं हुआ था पर यह ख़याल ही उनको बहुत नागवार मालूम होता था। पिताजो अपने बच्चों से बहुत ही मुहब्बत रखते थे। यद्यपि वह प्रेम का दिखावा नहीं करते थे, तो भी उनके अन्दर प्रेम बहुत छिपा रहता था।

बहुत दिनों तक मानसिक संघर्ष चलता रहा और चूँकि हम दोनों जानते थे कि यह बड़ी-बड़ी बाज़ियाँ लगाने का सवाल है, जिसमें हमारे सारे जीवन में बड़ी उथल-पुथल होने की सम्भावना है, दोनों ने इस बात की कोशिश की कि जहाँतक हो सके एक दूसरे की भावनाओं और बातों का ख़याल रखें। मैं चाहता था कि जहाँतक हो सके कोशिश करूँ कि उनको तकलीफ़ न उठानी पड़े। मगर मुझे अपने दिल में यक़ीन हो गया था कि मुझे जाना तो सत्याग्रह के ही रास्ते है। हम दोनों के लिए वह मुसीबत का समय था और कई रातें मैंने अकेले

बड़ी चिन्ता और बेचैनी में काटीं। मैं सोचता रहता कि इसमें से कोई रास्ता निकले। बाद को मुझे मालूम हुआ कि पिताजी रात को सचमुच फ़र्श पर सोकर खुद यह अनुभव कर लेना चाहते थे कि जेल में मेरी क्या गति होगी, क्योंकि उनके खयाल में मुझे आगे-पीछे जेल ज़रूर जाना पड़ेगा।

पिताजी ने गांधीजी को बुलाया और वह इलाहाबाद आये। दोनों की बड़ी देर तक बातें होती रहीं। उस समय मैं मौजूद न था। इसका नतीजा यह हुआ कि गांधीजी ने मुझे सलाह दी कि जल्दी न करो और ऐसा काम न करो जो पिताजी को असह्य हो। मुझे इससे दुःख ही हुआ; मगर उसी समय देश में ऐसी घटनाएं घट गयीं जिनसे सारी हालत ही बदल गयी, और सत्याग्रह-सभा ने अपनी कार्रवाई बन्द कर दी।

सत्याग्रह-दिवस—सारे हिन्दुस्तान में हड़तालें और तमाम काम-काज बन्द—दिल्ली, अमृतसर और अहमदाबाद में पुलिस और फ़ौज का गोली चलाना और बहुत-से आदमियों का मारा जाना—अमृतसर और अहमदाबाद में भीड़ के द्वारा हिंसा-कांड हो जाना—जलियाँवाला-बाग़ का हत्या-कांड—पंजाब में फ़ौजी क़ानून के भीषण, अपमानजनक और जी दहलानेवाले कारनामे। पंजाब मानों दूसरे प्रान्तों से अलग काट दिया गया हो, उसपर मानों एक दुहरा परदा पड़ गया था जिससे बाहरी दुनिया की आंखें उसतक नहीं पहुंच पाती थीं। वहाँ से मुश्किल से कोई ख़बर मिलती थी, और कोई वहाँ न जा सकता था, न वहाँ से आ ही सकता था।

कोई इक्का-दुक्का, जो किसी तरह उस नरक-कुंड से बाहर आ पहुँचता था, इतना भयभीत हो जाता था कि साफ़-साफ़ हाल नहीं बता सकता था। हम लोग जो बाहर थे, असहाय और असमर्थ थे, छोटी-बड़ी ख़बर का इन्तज़ार करते रहते थे और हमारे दिल में कटुता भरती जा रही थी। हममें से कुछ लोग फ़ौजी क़ानून की परवा न करके खुल्लमखुल्ला पंजाब के उन हिस्सों में जाना चाहते थे, लेकिन हमें ऐसा नहीं करने दिया गया। और इस बीच कांग्रेस की तरफ़ से दुखियों और पीड़ितों को सहायता पहुँचाने तथा जाँच करने के लिए एक बड़ा संगठन बनाया गया।

ज्योंही ख़ास-ख़ास जगहों से फ़ौजी क़ानून वापस लिया गया और बाहरवालों को जाने की छुट्टी मिली, मुख्य-मुख्य कांग्रेसी और दूसरे लोग पंजाब में जा पहुँचे और सहायता तथा जांच[1] के काम में अपनी सेवाएँ अर्पित कीं। पीड़ितों की सहायता

[1] सरकार-नियुक्त हण्टर कमेटी से असहयोग क्यों किया गया, इसका हाल 'कांग्रेस इतिहास' में पढ़िए। इसके बाद कांग्रेस ने खुद अपनी जाँच-कमिटी बैठायी। कमिटी के सदस्य थे—गांधीजी, पंडित मोतीलालजी, देशबन्धु दास, अब्बास तैयबजी, फ़ज़लुल हक़ और श्री सन्तानम्। प० मोतीलालजी अमृतसर महासभा के सभापति चुने गये। तब श्री जयकर ने कमिटी में उनका स्थान लिया। कमिटी की रिपोर्ट का सारा मसविदा गांधीजी ने बनाया था।—अनु०

का काम मुख्यतः पंडित मदनमोहन मालवीय और स्वामी श्रद्धानन्दजी की देखभाल में होता था और जाँच का काम मुख्यतः पिताजी और देशबन्धु दास की देख-रेख में। गांधीजी उसमें बहुत दिलचस्पी ले रहे थे और दूसरे लोग अक्सर उनसे सलाह-मशवरा लिया करते थे। देशबन्धु दास ने अमृतसर का हिस्सा खास-तौर पर अपनी तरफ़ लिया और वहाँ मैं उनके साथ उनकी सहायता के लिए तैनात किया गया था। मुझे उनके साथ और उनके नीचे काम करने का वह पहला मौक़ा था। वह अनुभव मेरे लिए बड़ा क़ीमती था और इससे उनके प्रति मेरा आदर बढ़ा। जलियाँवाला-बाग़ से और उस भयंकर गली से, जिसमें लोगों को पेट के बल रेंगाया गया था, सम्बन्ध रखनेवाले बयान, जो बाद को कांग्रेस-जाँच-रिपोर्ट में छपे थे, हमारे सामने लिये गये थे। हमने कई बार खुद जाकर उस बाग़ को देखा था और उसकी हर चीज़ की जाँच बड़े ग़ौर से की थी।

यह कहा गया था, मैं समझता हूँ मि० एडवर्ड थामसन के द्वारा, कि जनरल डायर का यह खयाल था कि बाग़ से निकलने के दूसरे दरवाज़े भी थे और यही कारण है जो उसने इतनी देर तक गोलियाँ जारी रक्खीं। यदि डायर का यही ख़याल था और दरअसल उसमें दरवाज़ा रहा होता, तो भी इससे उसकी ज़िम्मेदारी कम नहीं हो जाती। मगर यह ताज्जुब की बात मालूम होती है कि उसे ऐसा ख़याल रहा। कोई शख़्स इतनी ऊँची जगह पर खड़ा होकर, जहाँ कि वह खड़ा था, उस सारी जगह को अच्छी तरह देख सकता था कि वह किस तरह चारों ओर से बड़े ऊँचे-ऊंचे मकानों से घिरी हुई और बन्द है। सिर्फ एक तरफ़ कोई सौ फ़ीट के करीब कोई मकान न था, महज़ पाँच फ़ीट ऊँची दीवार थी। गोलियाँ तड़ातड़ चल रही थीं और लोग चट-पट मर रहे थे। जब उन्हें कोई रास्ता नहीं सूझ पड़ा तो हज़ारों आदमी उस दीवार की ओर झपटे और उस पर चढ़ने की कोशिश करने लगे। तब गोलियाँ उस दीवार की ओर निशाना लगाकर चलायी गयीं ताकि कोई उस पर से चढ़कर भाग न सके—जैसा कि हमारे बयानों तथा दीवार पर लगे गोलियों के निशानों से मालूम होता है। और जब यह सब ख़तम हो चुका, तो क्या देखा गया कि मुर्दों और घायलों के ढेर दीवारों के दोनों ओर पड़े हुए थे।

उस साल (१६१६) के आख़ीर में मैं अमृतसर से देहली को रात की गाड़ी से रवाना हुआ था। जिस डिब्बे में मैं चढ़ा उसकी तमाम जगहें भरी हुई थीं, सिर्फ ऊपर एक 'बर्थ' ख़ाली थी। सब मुसाफिर सो रहे थे। मैंने वह ख़ाली बर्थ ले ली। दूसरे दिन सुबह मुझे मालूम हुआ कि वह तमाम मुसाफ़िर फ़ौजी अफ़सर थे। वे आपस में ज़ोर-ज़ोर से बातें कर रहे थे, जो मेरे कानों तक आ ही पहुँचती थीं। उनमें से एक बड़ी तेज़ी के साथ, मगर विजय के घमण्ड में, बोल रहा था और फ़ौरन ही मैं समझ गया कि यह वही जलियाँवाला-बाग़ के 'बहा-

दुर' मि० डायर हैं। वह अपने अमृतसर के अनुभव सुना रहा था। उसने बताया कि कैसे सारा शहर उसकी दया के भरोसे हो रहा था। उसने सोचा, एक बार इस सारे बाग़ी शहर को ख़ाक में मिला दूँ। मगर कहा, फिर मुझे रहम आ गया और मैं रुक गया। हंटर-कमिटी में अपना बयान देकर वह लाहौर से वापस आ रहा था। उसकी बातचीत और उसकी संगदिली को देखकर मेरे दिल को बड़ा धक्का लगा—वह देहली स्टेशन पर उतरा तो गहरी गुलाबी धारियोंवाला पायजामा और ड्रेसिंग-गाउन पहने हुए था।

पंजाब-जाँच के ज़माने में मुझे गांधीजी को बहुत-कुछ समझने का मौक़ा मिला। बहुत बार उनके प्रस्ताव कमिटी को अजीब मालूम होते थे और कमिटी उन्हें पसन्द नहीं करती थी। मगर क़रीब-क़रीब हमेशा अपनी दलीलों से कमिटी को वह समझा लिया करते थे और कमिटी उन्हें मंज़ूर कर लिया करती थी। और बाद की घटनाओं से मालूम हुआ कि उनकी सलाह में दूरन्देशी थी। तब से उनकी राजनैतिक अन्तर्दृष्टि में मेरी श्रद्धा बढ़ती गयी।

पंजाब की दुर्घटनाओं और उनकी जाँच के कार्य का मेरे पिताजी पर ज़बरदस्त असर हुआ। उनकी तमाम क़ानूनी और वैधानिक बुनियाद उसके द्वारा हिल गयी थी और उनका मन उस परिवर्तन के लिए धीरे-धीरे तैयार हो रहा था, जो एक साल बाद आनेवाला था। अपनी पुरानी माडरेट स्थिति से वह पहले ही बहुत-कुछ आगे बढ़ चुके थे। उन दिनों इलाहाबाद से नरम दल का अख़बार 'लीडर' निकल रहा था। उससे उनको सन्तोष नहीं था और उन्होंने १९१९ में 'इण्डिपेण्डेण्ट' नाम का दैनिक पत्र इलाहाबाद से निकाला। यों तो इस अख़बार को बड़ी सफलता मिली, लेकिन शुरू से ही उसमें एक बात की बड़ी कमी रही। उसका प्रबन्ध अच्छा नहीं था। उससे सम्बन्ध रखनेवाले सभी—क्या डाइरेक्टर, क्या सम्पादक और क्या प्रबन्ध-विभाग के लोगों—पर इस कमी की ज़िम्मेदारी आती है। मैं ख़ुद भी एक डाइरेक्टर था, मगर इस काम का मुझे कुछ भी अनुभव न था। और उसके कामों की चिन्ता से मैं दिन-रात परेशान रहता था। मुझे और पिताजी दोनों को जांच के सिलसिले में पंजाब जाना और ठहरना पड़ा था। हमारी लम्बी ग़ैरहाज़िरी में पत्र की हालत बहुत गिर गयी और उसकी आर्थिक हालत भी बहुत बिगड़ गयी। उस हालत से वह कभी उभर न सका। हालाँकि १९२०-२१ में उसकी हालत बीच-बीच में कुछ बेहतर हो जाती थी, लेकिन ज्योंही हम जेल गये उसकी हालत बदतर होने लगी। आख़िर १९२३ के शुरू में उसकी ज़िन्दगी ख़तम हो गयी। अख़बार के मालिक बनने के इस अनुभव ने मुझे इतना भयभीत कर दिया कि उसके बाद मैंने किसी अख़बार का डाइरेक्टर बनने की ज़िम्मेदारी नहीं ली। हाँ, जेल में तथा बाहर और-और कामों में लगे रहने के कारण ही मैं ऐसा न कर सकता था।

१९१९ के बड़े दिनों में पिताजी अमृतसर-कांग्रेस के सभापति हुए। उन्होंने

माडरेट नेताओं के नाम एक दिल हिला देनेवाली अपील की, कि वे अमृतसर के अधिवेशन में शामिल हों। चूँकि फ़ौजी-क़ानून की वजह से एक नयी हालत पैदा हो गयी थी, उन्होंने लिखा—'पंजाब का आहत हृदय आपको बुला रहा है। क्या आप उसकी पुकार न सुनेंगे?' मगर उन्होंने उसका वैसा जवाब नहीं दिया जैसा कि वह चाहते थे। वे लोग शामिल नहीं हुए। उनकी आंखें उन नये सुधारों की ओर लगी हुई थीं माण्टेगू-चैम्सफ़ोर्ड सिफ़ारिशों के फल-स्वरूप आनेवाले थे। उनके इन्कार कर देने से पिताजी के दिल को बड़ा दुःख पहुँचा और इससे उनके और माडरेटों के दिल की खाई और चौड़ी हो गई।

अमृतसर-कांग्रेस पहली गांधी-कांग्रेस हुई। लोकमान्य तिलक भी आये थे और उन्होंने उसकी कार्रवाई में प्रमुख भाग लिया था। मगर इसमें कुछ शक नहीं कि प्रतिनिधियों में अधिकांश और इससे भी ज़्यादा बाहर की भीड़ में अधिकतर लोग अगुवा बनने के लिए गांधीजी की ओर देख रहे थे। हिन्दुस्तान के राजनैतिक क्षितिज में 'महात्मा गांधी की जय' की आवाज़ बुलन्द हो रही थी। अली-बन्धु हाल ही नज़रबन्दी से छूटे थे और सीधे अमृतसर-कांग्रेस में आये थे। राष्ट्रीय आन्दोलन एक नया रूप धारण कर रहा था और उसकी नयी नीति निर्माण हो रही थी।

शीघ्र ही मौलाना मुहम्मद अली ख़िलाफ़त-डेपुटेशन में यूरप चले गये। इधर हिन्दुस्तान में खिलाफ़त-कमिटी दिन-पर-दिन गांधीजी के असर में आने लगी और उसके अहिंसात्मक असहयोग के विचारों से सम्बन्ध जोड़ने के फ़िराक़ में थी। दिल्ली में जनवरी १९२० में खिलाफ़त के नेताओं, मौलवियों और उलमाओं की एक शुरू-शुरू की मीटिंग मुझे याद है। खिलाफ़त-डेपुटेशन वाइसराय से मिलने जानेवाला था और गांधीजी भी साथ जानेवाले थे। उनके देहली पहुंचने के पहले, जो प्रार्थना-पत्र वाइसराय को दिया जानेवाला था, उसका मसविदा उन्हें रिवाज के मुताबिक़ भेजा जा चुका था। जब गांधीजी पहुंचे और उन्होंने उसका मज़मून पढ़ा, तो उसे नापसन्द किया और यह भी कहा कि अगर इसमें बहुत-कुछ परिवर्तन नहीं किया गया, तो मैं डेपुटेशन में शरीक न हो सकूँगा। उनका एतराज़ यह था कि इस मज़मून में गोल-मोल बातें कही गयी हैं। इसमें शब्द तो बहुत हैं, मगर यह साफ़तौर पर नहीं कहा गया कि मुसलमानों की कम-से-कम मांगें क्या हैं। उन्होंने कहा कि 'इससे न तो बादशाह के साथ इन्साफ़ होता है और न ब्रिटिश-सरकार के साथ; न लोगों के साथ, न अपने साथ। उन्हें बढ़ी-चढ़ी मांगें पेश न करनी चाहिए जिन पर वे अड़ना न चाहते हों। मगर छोटी-से-छोटी मांग बिलकुल साफ़ शब्दों में हो, जिसमें किसी प्रकार शक-शुबहा न हो और फिर मरने तक उसपर डटे रहो। अगर आप लोग सचमुच कुछ किया चाहते हो तो यही सच्चा और सही राजमार्ग है।'

यह दलील हिन्दुस्तान के राजनैतिक और दूसरे हलकों में एक नयी चीज़

थी। हम लोग बढ़ी-चढ़ी और गोल-मोल बातें और लच्छेदार भाषा के आदी थे और दिमाग़ में हमेशा सौदा करने की तजवीज़ें चला करती थीं। आख़िर गांधीजी की बात क़ायम रही और उन्होंने वाइसराय के प्राइवेट सेक्रेटरी को पत्र लिखा, जिसमें बताया कि पिछले मज़मून में क्या कमियाँ हैं और वह किस तरह गोल-मोल है और कुछ नया मज़मून भी अपनी तरफ़ से भेजा जो उसमें जोड़ा जानेवाला था। इसमें उन्होंने कम-से-कम माँग पेश की थी। वाइसराय का जवाब दिलचस्प था। उन्होंने नये मज़मून का जोड़ा जाना मंज़ूर नहीं किया और कहा कि मेरी राय में पहला मज़मून ही बिलकुल ठीक है। गांधीजी ने सोचा कि इस चिट्ठी-पत्री से उनकी और खिलाफ़त कमिटी की स्थिति साफ़ हो जाती है और वह डेपुटेशन के साथ चले गये।

यह ज़ाहिर था कि सरकार खिलाफ़त कमिटी की मांगें मंज़ूर नहीं करेगी और लड़ाई छिड़े बिना न रहेगी। अब मौलवियों और उलमाओं में देर-देर तक बातें होती रहतीं। अहिंसात्मक असहयोग पर, और खासकर अहिंसा पर, चर्चा होती रहती। गांधीजी ने उनसे कह दिया कि मैं अगुवा बनने के लिए तैयार हूँ, मगर शर्त यह है कि आप लोग अहिंसा को उसके पूरे मानी में अपना लें। इसके बारे में कोई कमज़ोरी, लाग-लपट और छिपावट मन में न होनी चाहिए। मौलवियों के लिए इस चीज़ को मान लेना आसान न था। लेकिन वे राज़ी हो गये। हाँ, उन्होंने यह अलबत्ता साफ़ कर दिया कि वे इसे धर्म के तौर पर नहीं बल्कि तात्कालिक नीति के तौर पर मानेंगे; क्योंकि हमारे मज़हब में नेक काम के लिए तलवार उठाना मना नहीं है।

१९२० में राजनैतिक और खिलाफ़त-आन्दोलन दोनों एक ही दिशा में और एक साथ चले और कांग्रेस के द्वारा गांधीजी के अहिंसात्मक असहयोग के मंज़ूर कर लिये जाने पर आख़िर दोनों एक साथ मिल गये। पहले खिलाफ़त कमिटी ने उस कार्य-क्रम को अपनाया और १ अगस्त लड़ाई जारी करने का दिन मुक़र्रर हुआ।

उस साल के शुरू में मुसलमानों की मीटिंग (मैं समझता हूँ कि मुस्लिम-लीग की कौंसिल होगी) इलाहाबाद में सैयद रज़ाअली के मकान में इस कार्य-क्रम पर विचार करने के लिए हुई। मौलाना मुहम्मदअली तो यूरप थे, मगर मौलाना शौकतअली उसमें मौजूद थे। मुझे उस सभा की याद है, क्योंकि मैं उससे बहुत निराश हुआ था। हाँ, शौकतअली अलबत्ता उत्साह में थे; बाक़ी सब लोग दुःखी और परेशान थे। उनमें यह हिम्मत न थी कि वे उसको नामंज़ूर कर दें, किन्तु फिर भी उनका इरादा किसी खतरे में पड़ने का न था। मैंने दिल में कहा—क्या यही लोग एक क्रांतिकारी आन्दोलन के अगुवा होंगे और ब्रिटिश साम्राज्य को चुनौती देंगे। गांधीजी ने एक भाषण दिया, जिसे सुनकर ऐसा मालूम होता था कि, वे पहले से भी ज़्यादा घबरा गये। उन्होंने एक डिक्टेटर के ढंग से बहुत अच्छा

भाषण दिया। उसमें नम्रता थी, मगर साथ ही हीरे की तरह स्पष्टता और कठोरता भी। उसकी भाषा सुहावनी और मीठी थी, जिसमें कठोर निश्चय और हार्दिक सचाई भरी हुई थी, उनकी आंखों में मृदुलता और शान्ति थी, मगर उनमें से ज़बर्दस्त कार्य-शक्ति और दृढ़ निश्चय की लौ निकल रही थी। उन्होंने कहा कि यह मुकाबला बड़ा ज़बरदस्त होगा और सामना भी बड़े ज़बरदस्त से है। अगर आप लड़ना ही चाहते हैं तो आपको अपना सब-कुछ बर्बाद करने के लिए तैयार हो जाना चाहिए और लड़ाई के साथ अहिंसा और अनुशासन का पालन करना चाहिए। जब लड़ाई का एलान कर दिया जाता है, तो फ़ौजी क़ानून का दौर हो जाता है। हमारे अहिंसात्मक युद्ध में भी हमें अपनी तरफ़ से डिक्टेटर बनाने होंगे और फ़ौजी क़ानून जारी करने होंगे, यदि हम चाहते हों कि हमारी विजय हो। आपको यह हक़ है कि आप मुझे ठोकर मारकर निकाल दें, मेरा सिर उतार लें, और जब कभी जैसी चाहें सज़ा दे दें; लेकिन जबतक आप मुझे अपना अगुवा मानते हैं, तबतक आपको मेरी शर्तों का पाबन्द जरूर रहना होगा, आपको डिक्टेटर की राय पर चलना होगा और फ़ौजी क़ानून के अनुशासन में चलना होगा। लेकिन डिक्टेटर बना रहना बिलकुल आपके सद्भाव, आपकी मंज़ूरी और आपके सहयोग पर अवलम्बित रहेगा। ज्यों ही आप मुझसे उकता जायँ, त्यों ही आप मुझे उठाकर फेंक दें, पैरों तले रौंद दें और मैं चूँ तक न करूँगा।

इस आशय की कुछ बातें उन्होंने कहीं और यह फ़ौजी मिसाल और उनकी हार्दिक सचाई देखकर वहाँ बहुत-से श्रोताओं के बदन में सरसराहट होने लगी। मगर शौकतअली वहाँ मौजूद थे, जो अधकचरे लोगों में जोश भरा करते थे। और जब रायें लेने का समय आया तो उनमें से बहुतों ने चुपचाप, मगर झेंपते हुए, उस प्रस्ताव के, यानी लड़ाई शुरू करने के पक्ष में हाथ ऊँचे कर दिये।

जब हम सभा से लौट रहे थे, तो मैंने गांधीजी से पूछा कि क्या इसी तरीक़े से आप एक महान् युद्ध शुरू करेंगे? मैंने तो वहां जोश और उत्साह की, गरमागरम भाषा की, आंखों से आग की चिनगारी निकलने की आशा रखी थी, लेकिन उसके बजाय मुझे यहाँ पालतू, डरपोक और अधेड़ लोगों का जमघट दिखायी पड़ा। और फिर भी इन लोगों ने—जनमत का इतना प्रभाव था—लड़ाई के हक़ में राय दे दी। निश्चय ही मुस्लिम-लीग के इन मेम्बरों में से बहुत कम ने आगे लड़ाई में योग दिया था। बहुतों को तो सरकारी कामों में पनाह मिल गयी थी। मुस्लिम-लीग उस समय या बाद भी मुसलमानों के किसी भी बड़े वर्ग की प्रतिनिधि नहीं रह गयी थी। हाँ, १९२० की खिलाफ़त-कमिटी अलबत्ता एक ज़ोरदार और उससे कहीं ज़्यादा प्रातिनिधिक संस्था थी, और इसी कमिटी ने जोश और उत्साह के साथ लड़ाई के लिए कमर कसी थी।

१ अगस्त का गांधीजी ने असहयोग की शुरुआत का दिन रक्खा था—हालाँकि

अभी कांग्रेस ने न तो इसको मंजूर किया था, और न इसपर विचार ही किया था। उसी दिन लोकमान्य तिलक का बम्बई में देहान्त हो गया। उसी दिन सुबह गांधीजी सिन्ध के दौरे से बम्बई पहुँचे थे।[1] मैं उनके साथ था, और हम सब उस ज़बरदस्त जुलूस में शरीक हुए थे जिसमें सारी बम्बई अपने उस महान् और मान्य नेता को अपनी श्रद्धांजलि देने के लिये दौड़ पड़ी थी।

८

मेरा निर्वासन

मेरी राजनीति वही थी जो मेरे वर्ग अर्थात् मध्यवर्ग की राजनीति थी। उस समय, (और बहुत हद तक अब भी) मध्यम-वर्ग के लोगों की राजनीति ज़बानी थी। क्या नरम और क्या गरम, दोनों विचार के लोग मध्यवर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे और अपने-अपने ढंग से उनकी भलाई चाहते थे। माडरेट लोग खास करके मध्यम-वर्ग की ऊपरी श्रेणी के मुट्ठीभर लोगों में से थे जो कि आमतौर पर ब्रिटिश शासन की बदौलत फूले-फले थे, और एकाएक ऐसे परिवर्तन नहीं चाहते थे जिनसे उनकी मौजूदा स्थिति और स्वार्थों को धक्का लगे। ब्रिटिश सरकार से और बड़े ज़मींदारों से उनके घने सम्बन्ध थे। गरम विचार के लोग भी मध्यम-वर्ग के ही थे; परन्तु निचली सतह के। कल-कारखानों के मज़दूर, जिनकी संख्या महायुद्ध के कारण बेहद बढ़ गई थी, कुछ-कुछ जगहों में ही, स्थानीय रीति से संगठित हो पाये थे, और उनका प्रभाव नहीं के बराबर था। किसान अपढ़, ग़रीबी और मुसीबत के मारे थे। भाग्य के भरोसे दिन काटते और सरकार, ज़मींदार, साहूकार, छोटे-बड़े हुक्काम, वकील, पंडे-पुरोहित, जो भी होते सब उनपर सवारी गांठते और उनको चूसते थे।

किसी अख़बार का कोई पाठक शायद ही उन दिनों ख़याल करता होगा कि हिन्दुस्तान में करोड़ों किसान और लाखों मज़दूर हैं या उनका कोई महत्व है। अंग्रेज़ों के अख़बार बड़े अफ़सरों के कारनामों से भरे रहते। उनमें शहरों और पहाड़ों पर रहनेवाले अंग्रेज़ों के सामाजिक जीवन की यानी उनकी पार्टियों की, उनके नाच-गानों और नाटकों की, लम्बी-लम्बी ख़बरें छपा करतीं। उनमें हिन्दुस्तानियों के दृष्टिबिन्दु से हिन्दुस्तान की राजनीति की चर्चा प्रायः बिलकुल नहीं की जाती थी, यहां तक कि कांग्रेस के अधिवेशन के समाचार भी किसी ऐसे-वैसे पन्ने के एक कोने में और सो भी कुछ सतरों में, दे दिया करते थे। कोई ख़बर तभी किसी काम की समझी जाती, जब हिन्दुस्तानी, चाहे वह बड़ा हो या मामूली,

[1] इसमें कुछ स्मृति-दोष मालूम होता है। गांधीजी तिलक महाराज के अवसान के पहले से अवसान तक काफ़ी दिन बम्बई में ही थे। —अनु०

कांग्रेस को या उसके दावों को बुरा-भला कह बैठता या नुक़्ताचीनी कर बैठता। कभी-कभी किसी हड़ताल का थोड़ा ज़िक्र आजाता, और देहात को तो महत्त्व तभी दिया जाता जब वहां कोई दंगा-फ़साद हो जाता।

हिन्दुस्तानी अख़बार भी अंग्रेज़ी अख़बारों की नक़ल करने की कोशिश करते। लेकिन वे राष्ट्रीय आन्दोलन को उनसे कहीं ज़्यादा महत्त्व देते थे। यों तो वे हिन्दुस्तानियों को छोटी-बड़ी नौकरियाँ दिलवाने, उनकी तरक़्क़ी और तबादले में, और किसी जाननेवाले अफ़सर की विदाई में दी जानेवाली पार्टी में, जिसमें लोगों में बड़ा उत्साह होता था, दिलचस्पी लेते थे। जब कभी नया बन्दोबस्त होता, तो क़रीब-क़रीब हमेशा ही लगान वग़ैरा बढ़ जाता था, जिससे पुकार मच जाती; क्योंकि उसका असर ज़मींदारों की जेब पर भी पड़ता। बेचारे किसान जो ज़मीन जोतते थे, उनकी तो कोई बात ही नहीं पूछता था। ये अख़बार ज़मींदार और कल-कारख़ानेवालों के होते थे। यह हालत थी उन अख़बारों की जो 'राष्ट्रीय' कहे जाते थे।

यही क्यों, खुद कांग्रेस की भी शुरू के दिनों में बराबर यही मांग थी कि जहां-जहां अभी बन्दोबस्त नहीं हो पाया है वहाँ स्थायी बन्दोबस्त कर दिया जाय कि जिससे ज़मींदारों के अधिकारों की रक्षा हो सके, और उसमें किसानों का कहीं ज़िक्र तक न रहता था।

पिछले बीस वर्षों में राष्ट्रीय आन्दोलन की बढ़ती के कारण हालत बहुत बदल गयी है, और अब अंग्रेज़ों के अख़बारों को भी हिन्दुस्तान के राजनैतिक प्रश्नों के लिए जगह देनी पड़ती है, क्योंकि ऐसा न करें तो हिन्दुस्तानी पाठकों के टूट जाने का अन्देशा रहता है। परन्तु यह बात वे अपने ख़ास ढंग से ही करते हैं। हिन्दुस्तानी अख़बारों की दृष्टि कुछ विशाल हो गई है। वे किसानों और मज़दूरों की भी बातें किया करते हैं; क्योंकि एक तो आजकल यह फ़ैशन हो गया है और दूसरे उनके पाठकों में कल-कारख़ानों और गांव-सम्बन्धी बातों के जानने की तरफ़ दिलचस्पी बढ़ रही है। परन्तु दरअसल तो अब भी वे पहले की तरह हिन्दुस्तानी पूँजीपतियों और ज़मींदारी वर्ग के हितों का ही ध्यान रखते हैं, जो कि उनके मालिक होते हैं। कितने ही हिन्दुस्तानी राजा-महाराजा भी अख़बारों में अपना रुपया लगाने लगे हैं और वे हर तरह कोशिश करते हैं कि उन्हें अपने रुपयों का मुआवज़ा मिले। फिर भी इनमें से बहुत से अख़बार 'कांग्रेसी' कहलाते हैं, हालाँकि वे जिनके नियंत्रण में हैं उनमें से बहुतेरे कांग्रेस के मेम्बर भी न होंगे। कांग्रेस शब्द लोगों को बहुत प्यारा हो गया है और कितने ही लोग और संस्थाएं उसे अपने फ़ायदे के लिए इस्तेमाल करती हैं। जो अख़बार ज़रा आगे बढ़े विचारों का प्रतिपादन करते हैं उन्हें या तो बड़े बड़े जुर्मानों का, यहां तक कि प्रेस-एक्ट के ज़रिये दबा दिये जाने या सेंसर किये जाने का भी, ख़ौफ़ बना रहता है।

१९२० में मुझे इस बात का बिलकुल पता न था कि कारख़ानों में या खेतों

में काम करनेवाले मज़दूरों की हालत क्या है, और मेरा राजनैतिक दृष्टिकोण बिलकुल मध्यम वर्ग के जैसा था। फिर भी मैं इतना ज़रूर जानता था कि उनमें ग़रीबी बहुत है और उनके दुःख भयंकर हैं और मैं सोचता था कि राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान आज़ाद हो जाये, तो उसका पहला लक्ष्य यह होगा कि इस ग़रीबी के मसले को हल करे। मगर मुझे सबसे पहली सीढ़ी तो राजनैतिक आज़ादी ही दिखायी दी, जिसमें मध्यम-वर्ग की प्रधानता हुए बिना नहीं रह सकती। गांधीजी के चम्पारन (बिहार) और खेड़ा (गुजरात) के किसान-आन्दोलन के बाद किसानों के प्रश्न पर मैं ज़्यादा ध्यान देने लगा। फिर भी मेरा ध्यान तो १९२० में राजनैतिक बातों में और असहयोग के आगमन में लग रहा था, जिसकी चर्चा से राजनैतिक वायुमण्डल भरा हुआ था।

उन्हीं दिनों एक नयी बात में मेरी दिलचस्पी पैदा हो गयी, जो आगे चलकर जीवन में महत्त्वपूर्ण बन गयी। मैं स्वयं प्राय. कोई इच्छा न रखते हुए, किसानों के सम्पर्क में आ गया, और सो भी एक विचित्र रीति से।

मेरी माँ और कमला (मेरी पत्नी) दोनों की तन्दुरुस्ती खराब थी और मई १९२० के शुरू में मैं उनको मसूरी ले गया। पिताजी उस वक़्त एक बड़े राज्य के मामले में व्यस्त थे, जिसमें दूसरी ओर के वकील देशबन्धुदास थे। हम सेवाय होटल में ठहरे थे। उन दिनों अफ़ग़ान और ब्रिटिश राज्य प्रतिनिधियों के दर्म्यान मसूरी में सुलह की बातें हो रही थीं (यह १९१९ में हुए छोटे अफ़ग़ान युद्ध के बाद की बात है, जबकि अमानुल्ला तख़्त पर बैठा था) और अफ़ग़ान प्रतिनिधि सेवाय होटल में ठहरे हुए थे। लेकिन वे एक तरफ़ ही रहते थे, खाना भी अकेले खाते थे और किसीसे मिलते-जुलते न थे। मुझे उनमें कोई ख़ास दिलचस्पी नहीं थी और इस महीने भर में मैंने उस प्रतिनिधि-मंडल के एक भी आदमी को नहीं देखा और अगर देखा भी हो तो मैं किसीको पहचानता न था लेकिन क्या देखता हूँ कि एक दिन एकाएक शाम को पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट वहाँ आया और मुझे स्थानीय सरकार का ख़त दिखाया, जिसमें मुझसे यह वादा चाहा गया था कि मैं अफ़ग़ान-प्रतिनिधि-मण्डल से कोई सरोकार न रक्खूं। मुझे यह एक बड़ी अजीब बात मालूम हुई, क्योंकि इस महीने भर में मैंने उन्हें कभी देखा तक नहीं और न मुझे उसका मौक़ा मिल सकता था। सुपरिण्टेण्डेण्ट इस बात को जानता था, क्योंकि वह प्रतिनिधि-मण्डल की हलचलों पर ग़ौर से निगाह रखता था और वहाँ दरअसल ख़ुफ़िया लोगों का एक ख़ासा जमघट लगा रहता था। मगर ऐसा वादा करना मेरे मिज़ाज के ख़िलाफ़ था और मैंने उनको ऐसा कह भी दिया। उन्होंने मुझे डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट से, जो कि देहरादून का सुपरिण्टेण्डेण्ट था, मिलने के लिए कहा और उससे मैं मिला। चूँकि मैं बराबर कहता रहा कि मैं ऐसा वादा नहीं कर सकता, मुझे मसूरी से चले जाने का हुक्म मिला, जिसमें कहा गया कि मैं २४ घंटे के अन्दर देहरादून ज़िले के बाहर चला जाऊँ। इसके मानी

यही थे कि मैं कुछ घंटों में ही मसूरी छोड़ दूँ। मुझे यह अच्छा तो नहीं लगा कि अपनी बीमार माँ और पत्नी दोनों को वहाँ छोड़कर जाऊँ, लेकिन उस वक़्त मुझे उस हुक्म को तोड़ना मुनासिब नहीं मालूम हुआ। उस समय सविनय भंग तो था नहीं, इसलिए मैं मसूरी से चल दिया।

मेरे पिताजी की सर हारकोर्ट बटलर से, जो कि उस समय युक्तप्रान्त के गवर्नर थे, अच्छी तरह मुलाक़ात थी। उन्होंने मित्र-भाव से सर हारकोर्ट को पत्र लिखा कि मुझे यक़ीन है कि ऐसा वाहियात हुक्म आपने न दिया होगा; यह शिमला के किसी मनचले हाकिम की कार्रवाई मालूम होती है। सर हारकोर्ट ने जवाब दिया कि हुक्म में कोई ऐसी ख़राब बात नहीं है जिसके मानने से जवाहरलाल की शान में कोई फ़र्क़ आ जाता। इसके जवाब में पिताजी ने उनसे अपना मतभेद प्रकट किया और लिखा कि जवाहरलाल का जानबूझकर हुक्म तोड़ने का तो कोई इरादा नहीं है; पर अगर उसकी माँ या पत्नी की तन्दुरुस्ती के लिए ज़रूरी हुआ, तो वह ज़रूर मसूरी जायगा, चाहे आपका हुक्म रहे या न रहे। और ऐसा ही हुआ भी। मेरी माँ की हालत ज़्यादा ख़राब हो गयी और पिताजी व मैं दोनों तुरन्त मसूरी के लिए रवाना हो गये। उसके ठीक पहले हमें उस हुक्म के रद कर दिये जाने का एक तार मिला।

दूसरे दिन सुबह मसूरी पहुँचने पर सबसे पहले जो शख़्स मैंने होटल के आँगन में देखा वह अफ़ग़ान था। जो मेरी छोटी बच्ची को गोदी में लिये हुए था। मुझे मालूम हुआ कि वह अफ़ग़ानिस्तान का एक मिनिस्टर और प्रतिनिधि-मण्डल का एक सदस्य था। बाद को पता चला कि मसूरी से मेरे निकाले जाने का हुक्म मिलते ही उन अफ़ग़ानों ने अख़बारों में उसके समाचार पढ़े और उनकी दिलचस्पी यहाँ तक बढ़ी कि प्रतिनिधि-मंडल के प्रधान हर रोज़ फूल और फलों की एक डलिया मेरी माँ को भेजा करते।

बाद को पिताजी और मैं प्रतिनिधि-मण्डल के एक-दो सदस्यों से मिले भी थे और उन्होंने हमें अफ़ग़ानिस्तान आने का प्रेमपूर्वक निमन्त्रण दिया था। मगर अफ़सोस है कि हम उससे कुछ फ़ायदा न उठा पाये, और पता नहीं वहाँ की नयी हुकूमत में वह निमन्त्रण अब क़ायम रहा है या नहीं।

मसूरी से निकाल दिये जाने के फल-स्वरूप मुझे दो हफ़्ते इलाहाबाद रहना पड़ा और इसी अर्से में मैं किसान-आन्दोलन में जा फँसा और ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये त्यों-त्यों मैं उसमें अधिकाधिक फँसता गया, जिसने मेरे विचारों और दृष्टिकोण पर काफ़ी असर डाला। कभी-कभी मेरे मन में यह विचार उठा है कि अगर मैं न तो मसूरी से निकाला जाता और न इलाहाबाद में ठहरा होता, या उन्हीं दिनों कोई दूसरा काम होता तो क्या हुआ होता? बहुत मुमकिन है कि मैं किसानों की ओर तो किसी-न-किसी तरह आगे-पीछे खींचा गया होता; परन्तु मेरा उनके पास जाने का तरीक़ा और इसलिए उसका असर भी कुछ और होता।

जून १९२० के शुरू में, जहाँ तक मुझे याद है, कोई दो सौ किसान प्रतापगढ़ के देहात से पचास मील पैदल चलकर इलाहाबाद आये—इस इरादे से कि वे अपने दुःखों और मुसीबतों की तरफ़ वहाँ के ख़ास-ख़ास राजनैतिक पुरुषों का ध्यान आकर्षित करें। बाबा रामचन्द्र नामक उनके एक अगुवा थे, जो न तो वहाँ के रहनेवाले ही थे और न खुद किसान ही। मैंने सुना कि किसानों का यह जत्था जमना के घाट पर डेरा डाले हुए है। मैं कुछ मित्रों के साथ उनसे मिलने गया। उन्होंने बताया कि किस तरह ताल्लुक़ेदार ज़ोर-ज़ुल्म से वसूली करते हैं, कैसा उनका अमानुषी व्यवहार है, और कैसी उनकी असह्य हालत हो गयी है। उन्होंने हमसे प्रार्थना की कि हम उनके साथ चलकर उनकी हालत की जाँच करें। उनको डर था कि ताल्लुक़ेदार उनके इलाहाबाद आने पर ज़रूर बहुत बिगड़ेंगे और उसका बदला लिये बिना न रहेंगे, इसलिए वे चाहते थे कि उनकी हिफ़ाज़त के लिए हम उनके साथ रहें। वे हमारे इन्कार को मानने के लिए किसी तरह तैयार न थे और सचमुच हमसे बुरी तरह चिपट गये। आख़ीर को मैंने उनसे वादा किया कि मैं एक-दो रोज़ बाद ज़रूर आऊँगा।

मैं कुछ साथियों को लेकर वहाँ पहुँचा। कोई तीन दिन वहाँ हम लोग गाँव में रहे। वे रेलवे लाइन और पक्की सड़क से बहुत दूर थे। उस दौरे में मैंने कई नयी बातें देखीं। हमने देखा, सारे देहाती इलाक़े में उत्साह की लहर फैल रही है और उनमें अजीब जोश उमड़ा पड़ता है। ज़रा ज़बानी कहला दिया और बड़ी-बड़ी सभाओं के लिए लोग इकट्ठे हो गये। एक गाँव से दूसरे गाँव और दूसरे से तीसरे गाँव, इस तरह सब गाँव में सन्देशा पहुँच जाता और देखते-देखते सारे गाँव ख़ाली हो जाते और खेतों में दूर-दूर तक सभास्थान पर आते हुए, मर्द, औरत और बच्चे दिखायी देते। और इससे भी ज़्यादा तेज़ी से 'सीताराम, 'सीता . . रा . . आ . . आ . . म' की धुन आकाश में गूंज उठती और चारों तरफ़ दूर-दूर तक फैल जाती और दूसरे गाँव से उसीकी प्रतिध्वनि सुनायी पड़ती और बस, लोग पानी की धारा की तरह दौड़ते चले आते। मर्द-औरत फटे-चिटे चिथड़े पहने थे; मगर उनके चेहरे पर जोश और उत्साह था और आँखें चमकती हुई दिखायी देती थीं, मानो कोई विचित्र बात होने को थी, जिसके द्वारा जादू की तरह आनन-फ़ानन में उनकी तमाम मुसीबतों का ख़ात्मा हो जायगा।

उन्होंने हमपर बहुत प्रेम बरसाया और वे हमें आशा तथा प्रेमभरी आँखों से देखते थे—मानो हम कोई शुभ सन्देश सुनाने आये हों, या उनके रहनुमा हों, जो उन्हें उनके लक्ष्य तक पहुँचा देंगे। उनकी मुसीबतों को और उनकी अपार कृतज्ञता को देखकर मैं दुःख और शर्म के मारे गड़ गया। दुःख तो हिन्दुस्तान की ज़बरदस्त ग़रीबी और ज़िल्लत पर, और शर्म मेरी अपनी आराम की ज़िन्दगी पर, और शहरों की न-कुछ राजनीति पर, जिसमें भारत के इन अधनंगे करोड़ों पुत्र-पुत्रियों के लिए कोई स्थान न था। नंगे-भूखे, दलित-पीड़ित भारतवर्ष

का एक नया चित्र मेरी आँखों के सामने खड़ा होता हुआ दिखायी दिया। और हम लोगों के, जो दूर शहर से उन्हें देखने कभी-कभी आ जाते हैं, प्रति उनकी श्रद्धा को देखकर मैं परेशानी में पड़ गया और उसने मुझमें यह नयी ज़िम्मेदारी का भाव पैदा कर दिया, जिसकी कल्पना से मेरा दिल दहल उठा।

मैंने उनके दुःख की सैकड़ों कहानियाँ सुनीं। कैसे लगान का बोझ दिन-दिन बढ़ता जा रहा है, जिसके तले वे कुचले जा रहे हैं, किस तरह ख़िलाफ़-क़ानून लाग लगाये जाते हैं और ज़ोरो-ज़ुल्म से वसूली की जाती है, ज़मीन और कच्चे झोंपड़ों से किस तरह उनको बेदख़ल किया जाता है, कैसे उनपर मार पड़ती है, कैसे चारों तरफ़ ज़मींदारों के एजेण्ट, साहूकारों और पुलिस के गिद्धों से घिरे रहते हैं; किस तरह कड़ी धूप में मशक़्क़त करते हैं और अन्त में यह देखते हैं कि उनकी सारी पैदावार उनकी नहीं है--दूसरे ही उठा ले जाते हैं और उसका बदला उन्हें मिलता है ठोकरों, गालियों और भूखे पेट से। जो लोग वहाँ आये थे उनमें से बहुतों के ज़मीन नहीं थी और जिन्हें ज़मींदारों ने बे-दख़ल कर दिया था, उन्हें सहारे के लिए न अपनी ज़मीन थी न अपना झोंपड़ा। यों ज़मीन उपजाऊ थी मगर उसपर लगान आदि का बोझ बहुत भारी था। खेत छोटे-छोटे थे और एक-एक खेत पाने के लिए कितने ही लोग मरते थे। उनकी इस तड़प से फ़ायदा उठाकर ज़मींदारों ने, जो क़ानून के मुताबिक़ एक हद से ज़्यादा लगान नहीं बढ़ा सकते थे, क़ानून को ताक़ में रखकर भारी-भारी नज़राना वग़ैरा बढ़ा दिया था। बेचारे किसान कोई चारा न देख रुपया उधार लाते और नज़राना वग़ैरा देते और फिर जब क़र्ज़ और लगान तक न दे पाते तो बेदख़ल कर दिये जाते; उनका सब-कुछ छिन जाता था।

यह तरीक़ा पुराना चला आ रहा है और किसानों की दिन-ब-दिन बढ़नेवाली दरिद्रता का सिलसिला भी एक लम्बे अरसे से चला आ रहा है। तब फिर क्या बात हुई जिससे मामला इस हद तक बढ़ गया और देहात के लोग इस तरह उमड़ पड़े? निश्चय ही इसका कारण उनकी आर्थिक दशा था। परन्तु यह हालत तो सारे अवध में एक-सी थी। और यह किसानों का १९२०-२१ का बवण्डर तो सिर्फ़ प्रतापगढ़, रायबरेली और फ़ैज़ाबाद ज़िले में ही फैला हुआ था। इसका आंशिक कारण तो बाबा रामचन्द्र कहलानेवाले विलक्षण व्यक्ति का अगुवा हो जाना था।

रामचन्द्र महाराष्ट्रीय था और कुली-प्रथा के अन्दर मज़दूर बनकर फ़िज़ी चला गया था। वहाँ से लौटने पर धीरे-धीरे वह अवध के ज़िलों की तरफ़ आ गया। तुलसीदास की रामायण गाता हुआ और किसानों के कष्टों और दुःखों को सुनाता हुआ वह इधर-उधर घूमने लगा। वह पढ़ा-लिखा थोड़ा था और कुछ हद तक उसने किसानों से अपना ज़ाती फायदा भी कर लिया। मगर हाँ,

उसने भारी संगठन-शक्ति का परिचय दिया। उसने किसानों को आपस में समय-समय पर सभा करना और अपनी तकलीफ़ों पर चर्चा करना सिखलाया और हर तरह उनके आपस में एके का भाव पैदा किया। कभी-कभी बड़ी भारी-भारी सभाएं होतीं और उससे उन्हें एक बल का अनुभव होता। यों 'सीताराम' एक पुरानी और प्रचलित धुन है; मगर उसने उसे करीब-करीब एक युद्ध-घोष का रूप दे दिया और ज़रूरत के वक़्त लोगों को बुलाने का तथा जुदा-जुदा गाँवों को आपस में बाँधने का चिन्ह बना दिया। फैजाबाद, प्रतापगढ़ और रायबरेली राम और सीता की पुरानी कथाओं से भरे पड़े हैं। इन ज़िलों का समावेश पुराने अयोध्या-राज्य में होता था। तुलसीदासजी की रामायण वहाँ लोगों के घर-घर गायी जाती है। कितने ही लोगों को इसके हज़ारों दोहे, चौपाई ज़बानी याद थे। इन रामायण का गान और प्रासंगिक दोहे-चौपाइयों की मिसाल देना बाबा रामचन्द्र का एक ख़ास तर्ज था। कुछ हद तक किसानों का संगठन करके उसने उनके सामने बहुतेरे गोल-मोल और ऊटपटाँग वायदे भी किये, जिनसे उन्हें बड़ी-बड़ी आशाएं बँधी। उसके पास किसी क़िस्म का कोई कार्यक्रम नहीं था, और जब उनका जोश आख़िरी सीमा तक पहुंच गया; तो उसने उसकी ज़िम्मेदारी को दूसरों पर डालने की कोशिश की। यही कारण है जो वह कितने ही किसानों को इलाहाबाद लाया कि वहाँ के लोग उस आन्दोलन में दिलचस्पी लें।

एक साल तक और बाबा रामचन्द्र ने आन्दोलन में प्रधान रूप से भाग लिया और दो-तीन बार जेल गया। मगर बाद में जाकर वह बड़ा ग़ैर-ज़िम्मेदार और अविश्वसनीय साबित हुआ।

किसान-आन्दोलन के लिए अवध ख़ासतौर पर अच्छा क्षेत्र था। वह ताल्लुक़ेदारों की, जो कि अपने को 'अवध के राजा' कहते हैं, भूमि थी और अब भी है। ज़मींदारी-प्रथा का सबसे बिगड़ा हुआ रूप वहाँ मिलता है। ज़मींदारों के लगाये करों के बोझ असह्य हो रहे थे और बे-ज़मीन मज़दूरों की तादाद बढ़ रही थी। वहाँ यों सिर्फ़ एक ही क़िस्म के किसान थे और इसीसे वे सब मिलकर एक-साथ कोई कार्रवाई कर सके।

हिन्दुस्तान को मोटे तौर पर दो भागों में बाँट सकते हैं। एक ज़मींदारी इलाक़ा, जिसमें बड़े-बड़े ज़मींदार हैं, और दूसरा वह जहां किसान ज़मीन के मालिक हैं। मगर कहीं-कहीं दोनों की खिचड़ी हो जाती है। बंगाल, बिहार और संयुक्तप्रान्त ज़मींदारी इलाका है। किसानी इलाक़े के लोगों की हालत इनसे अच्छी है, हालाँकि वहाँ भी उनकी हालत कई बार दयाजजक हो जाती है। पंजाब और गुजरात के (जहाँ ज़मींदार किसान हैं) किसानों की हालत ज़मींदारी इलाक़े से कहीं अच्छी है। ज़मींदारी इलाक़े के ज़्यादातर हिस्सों में कई क़िस्म के काश्तकार थे, दख़ीलकार, ग़ैर-दख़ीलकार और शिकमी वग़ैरा। इन

जुदा-जुदा काश्तकारों के स्वार्थ अक्सर आपस में टकराते और इस कारण मिल-कर एक साथ कोई ज़ोरदार काम नहीं किया जा सकता। लेकिन अवध में १९२० में न तो दख़ीलकार काश्तकार थे और न आजन्म काश्तकार ही थे। वहाँ सिर्फ़ आरज़ी काश्तकार थे, जो बे-दखल होते रहते थे और जिनकी ज़मीनें ज्यादा नज़राना या लगान देने पर दूसरों को दे दी जाया करती थीं। इस तरह चूँकि वहाँ खासतौर पर एक ही तरह के काश्तकार थे, वहाँ एक साथ काम करने के लिए संगठन करना और भी आसान था।

अवध में आरज़ी पट्टे की भी कोई गारण्टी देने का रिवाज नहीं था। ज़मींदार शायद ही कहीं लगान की रसीद देते थे और कोई भी ज़मींदार कह सकता था कि लगान अदा नहीं किया गया और काश्तकार को बे-दख़ल कर सकता था। उस बेचारे के लिए साबित करना ग़ैर-मुमकिन था कि लगान अदा कर दिया। लगान के अलावा बहुतेरी बेजा लागें लगी हुई थीं। मुझे मालूम हुआ कि उस ताल्लुक़े में तरह-तरह की पचास ऐसी लागें लगी हुई हैं। मुमकिन है यह बात बढ़ाकर कही गयी हो। मगर ताल्लुक़ेदार जिस तरह ख़ास-ख़ास मौक़ों पर—जैसे अपने कुटुम्ब में किसी की शादी हो तो, लड़के विलायत पढ़ने गये हों तो, गवर्नर या दूसरे बड़े अफ़सर को पार्टी दी गयी तो, एक मोटर या हाथी ख़रीदा गया हो तो—उनके ख़र्चे का रुपया वसूल करते थे, यह कितनी दुष्टता थी। यहाँ तक कि इन लोगों के मोटराना (मोटर-टैक्स), हथियाना (हाथी के खरीदने का खर्च) वग़ैरा नाम पड़ गये थे।

ऐसी हालत में कोई ताज्जुब नहीं जो अवध में इतना बड़ा किसान-आन्दोलन उठ खड़ा हुआ; बल्कि मुझे उस वक़्त ताज्जुब तो इस बात पर हुआ कि बिना शहरवालों की मदद के या राजनैतिक पुरुषों अथवा ऐसे ही दूसरे लोगों की प्रेरणा के कैसे बिलकुल अपने-आप वह कितना बढ़ गया? यह किसान-आन्दोलन कांग्रेस से बिलकुल अलहदा था। देश में जो असहयोग-आन्दोलन आरम्भ हो रहा था, उसका इससे कोई ताल्लुक़ न था। बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि इन दोनों विशाल और ज़ोरदार आन्दोलनों का मूल कारण एक-सा था। हाँ, १९१९ में गांधीजी ने जो बड़ी-बड़ी हड़तालें करायी थीं उनमें किसानों ने भी हिस्सा लिया था, और उसके बाद से उनका नाम देहातियों में जादू का काम करता था।

मुझे सबसे बड़ा आश्चर्य इस बात पर हुआ कि हम शहरवालों को इतने बड़े किसान-आन्दोलन का पता तक नहीं था। किसी अख़बार में उसपर एक सतर भी नहीं आती थी। उन्हें देहात की बातों में कोई दिलचस्पी नहीं थी। मैंने इस बात को और भी ज्यादा महसूस किया कि हम अपने लोगों से किस तरह दूर पड़े हुए हैं, और उनसे अलग अपनी छोटी-सी दुनिया में किस तरह रहते और काम करते हैं!

६

किसानों में भ्रमण

तीन दिन तक मैं गाँवों में घूमता रहा और एक बार इलाहाबाद आकर फिर वापस गया। हम गाँव-गाँव घूमे—किसानों के साथ खाते, उन्हीं के साथ उनके कच्चे झोंपड़ों में रहते, घंटों उनसे बातचीत करते और कभी-कभी छोटी-बड़ी सभाओं में व्याख्यान भी देते। शुरू में हम छोटी मोटर में गये थे। किसानों में इतना उत्साह था कि सैकड़ों ने रात-रात भर काम करके खेतों के रास्ते कच्ची सड़क तैयार की, जिससे मोटर ठेठ दूर-दूर के गाँवों में जा सके। अक्सर मोटर अड़ जाती और बीसों आदमी खुशी-खुशी दौड़कर उसे उठाते। आख़िर को हमें मोटर छोड़ देनी पड़ी और ज़्यादातर सफ़र पैदल ही करना पड़ा। जहाँ कहीं हम गये, हमारे साथ पुलिस और खुफ़िया के लोग, और लखनऊ के डिप्टी-कलेक्टर रहते थे। मैं समझता हूं, खेतों में हमारे साथ दूर-दूर तक पैदल चलते हुए उनपर एक प्रकार की मुसीबत ही आ गयी होगी। वे सब थक गये थे। हमसे और किसानों से बिलकुल उकता उठे थे। डिप्टी-कलेक्टर थे लखनऊ के एक नाजुक-मिज़ाज नौजवान, पम्पशू पहने हुए। कभी-कभी वह हमसे कहते कि ज़रा धीरे चलें। मैं समझता हूं, आख़िर हमारे साथ चलना कठिन हो गया और वह रास्ते में ही कहीं रह गये।

जून का महीना था, जिसमें सबसे ज़्यादा गर्मी पड़ा करती है। बारिश के पहले की तपिश थी। सूरज की तेज़ी बदन को झुलसाये देती थी और आँखों को अन्धा बना देती थी। मुझे धूप में चलने की बिलकुल आदत न थी और इंग्लैंड से लौटने के बाद हर साल गर्मियों में मैं पहाड़ पर चला जाया करता था। किन्तु इस बार मैं दिन भर खुली धूप में घूमता था और सिर पर बचने को हैट भी न था। सिर्फ़ एक छोटा तौलिया सिर पर लपेट लिया था। दूसरी बातों में मैं इतना मशग़ूल था कि धूप का कुछ ख़याल भी नहीं रहा; और इलाहाबाद लौटने पर जब मैंने देखा तो पता चला कि मेरे चेहरे का रंग कितना पक्का हो गया था। और मुझे याद पड़ा कि सफ़र में क्या-क्या बीती। लेकिन इस बात पर मैं अपने-आपसे खुश भी हुआ; क्योंकि मुझे मालूम हो गया कि बड़े-बड़े मज़बूत आदमियों के बराबर मैं धूप को बर्दाश्त कर सका, और मैं जो उससे डरता था उसकी ज़रूरत नहीं थी। मैंने देख लिया है कि मैं कड़ी-से-कड़ी गर्मी और कड़े-से-कड़े जाड़े को बर्दाश्त कर सकता हूँ। इससे मुझे अपने काम में तथा जेल-जीवन बिताने में बड़ी मदद मिली। इसकी वजह यह थी कि मेरा शरीर आमतौर पर मज़बूत और काम करने के लायक़ था और मैं हमेशा कसरत किया करता था। इसका सबक़ मैंने पिताजी से सीखा था, जो थोड़े-बहुत कसरती थे और क़रीब-क़रीब

अपने आखिरी दिनों तक उन्होंने रोज़ाना कसरत जारी रखी थी। उनके सिर पर चाँदी-से सफ़ेद बाल हो गये थे, चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गयी थीं और वह विचार करते-करते बूढ़े और थके-से दिखायी देते थे। मगर उनका बाक़ी शरीर मृत्यु के एक-दो साल पहले तक उनसे बीस बरस कम उम्र के आदमी का-सा जान पड़ता था।

जून १९२० में प्रतापगढ़ जाने के पहले भी मैं गाँवों से अक्सर गुज़रता था। वहाँ ठहरता था और किसानों से बात-चीत भी करता था। बड़े-बड़े मेलों के अवसर पर गंगा-किनारे हज़ारों देहातियों को मैंने देखा था और उनमें होमरूल का प्रचार किया था। लेकिन उस समय मैं यह अच्छी तरह न जानता था कि दर-असल वे क्या हैं, और हिन्दुस्तान के लिए उनका क्या महत्त्व है। हममें से ज़्यादा-तर लोगों की तरह मैं भी उनके बारे में कोई विचार नहीं करता था। यह बात मुझे इस प्रतापगढ़ की यात्रा में मालूम हुई, और तबसे हिन्दुस्तान का जो चित्र मैंने अपने दिमाग़ में बना रखा है उसमें हमेशा के लिए इस नंगी-भूखी जनता का स्थान बन गया है। सम्भवतः उस हवा में एक क़िस्म की बिजली थी। शायद मेरा दिमाग़ उसका असर अपने पर पड़ने देने के लिए तैयार था। और उस समय जो चित्र मैंने देखे और जो छाप मुझपर पड़ी वह मेरे दिल पर हमेशा के लिए अमिट हो गयी।

इन किसानों की बदौलत मेरी झेंप निकल गयी और मैं सभाओं में बोलना सीख गया। तब तक मैं शायद ही किसी सभा में बोला होऊँ। अक्सर हमेशा हिन्दुस्तानी में बोलने की नौबत आती थी और उसके खयाल से मैं दहशत खाया करता था। लेकिन मैं किसान-सभाओं में बोलने को कैसे टाल सकता था? और इन सीधे-सादे ग़रीब लोगों के सामने बोलने में झेंपने की भी क्या बात थी? मैं वक्तृत्व-कला तो जानता न था। इसलिए उनके साथ एकदिल होकर बोलता और मेरे दिल और दिमाग़ में जो कुछ होता था वह सब उनसे कह देता था। लोग चाहे थोड़े हों चाहे हज़ारों की तादाद में हों, मैं हमेशा बातचीत के या ज़ाती ढंग से ही उनके सामने बोलता; और मैंने देखा कि चाहे कुछ कमी भी उसमें रह जाती हो, लेकिन मेरा काम चल जाता था। मेरे व्याख्यान में प्रवाह काफ़ी रहता था। मैं जो-कुछ कहता था शायद उसका बहुत-कुछ हिस्सा उनमें से बहुतेरे समझ नहीं पाते थे। मेरी भाषा और मेरे विचार इतने सरल न थे कि वे समझ सकते। बहुत लोग तो मेरा भाषण सुन ही नहीं पाते थे; क्योंकि भीड़ तो भारी होती थी और मेरी आवाज़ दूर तक नहीं पहुँच पाती थी। लेकिन जब वे किसी एक शख़्स पर भरोसा और श्रद्धा कर लेते हैं, तब इन सब बातों की ज़्यादा परवा उन्हें नहीं रहती।

मैं अपनी माँ और पत्नी से मिलने मसूरी गया तो, मगर मेरे दिमाग़ में किसानों की ही बातें भरी थीं और मैं फिर उनमें जाने के लिए उत्सुक था। ज्योंही मैं मसूरी से वापस लौटा फिर गाँवों में घूमने चला गया; और मैंने देखा कि किसान-आन्दोलन बढ़ता जा रहा था। उन पीड़ित किसानों के अन्दर एक नया आत्म-विश्वास

पैदा हो रहा था। वे छाती तानकर और सिर ऊँचा करके चलने लगे थे। ज़मींदारों के कारिन्दों और पुलिस का डर उनके दिल में कम हो चला था। और यदि किसीका खेत बे-दख़ल होता था तो कोई दूसरा किसान उसे लेने के लिए आगे नहीं बढ़ता था। ज़मींदारों के नौकर जो उन्हें मारा-पीटा करते थे और क़ानून के ख़िलाफ़ उनसे बेगार और लाग लिया करते थे वह कम हो गया था; और जब कभी कोई ज़्यादती होती तो फ़ौरन उसकी रिपोर्ट होती और तहक़ीक़ात की कोशिश की जाती। इससे ज़मींदारों के कारिन्दों और पुलिस की ज़्यादतियों की कुछ रोक हुई। ताल्लुक़ेदार घबराये और अपनी रक्षा का उपाय करते रहे और प्रान्तीय सरकार ने अवध-काश्तकारी-क़ानून में सुधार करने का वादा किया।

ताल्लुक़ेदार और बड़े ज़मींदार ज़मीन के मालिक कहलाते हैं। वे अपने को "लोगों के स्वाभाविक नेता" कहने में अपना फ़ख़्र समझते हैं। वे यों तो ब्रिटिश सरकार के लाड़ले और बिगड़ैल बेटे हैं, लेकिन सरकार ने उनके लिए शिक्षा और लालन-पालन की जो विशेष व्यवस्था की थी, या करने की भूल की थी, उसके द्वारा उसने उनके सारे वर्ग को बुद्धि और दिमाग़ से बिलकुल बोदा और निकम्मा बना दिया। वे अपने काश्तकारों के लिए कुछ भी नहीं करते थे, जैसा कि दूसरे देशों के ज़मींदार अक्सर थोड़ा-बहुत किया करते हैं और ज़मीन और लोगों को महज़ चूसकर अपना पेट भरनेवाले रह गये थे। उनके पास सबसे बड़ा काम यह रह गया था कि वे स्थानीय अफ़सरों की खुशामद करते रहें — जिनकी मेहरबानी के बिना उनकी हस्ती ज़्यादा दिन टहर नहीं सकती थी। और वे हमेशा अपने ख़ास स्वार्थों और हक़ों की रक्षा की लगातार माँग करते रहते थे।

'ज़मींदार' शब्द से ज़रा धोखा हो जाता है और किसी-किसी को यह ख़याल हो सकता है कि तमाम ज़मींदार बड़ी-बड़ी ज़मीनों के मालिक हैं। जिन सूबों में रैयतवारी तरीक़ा है, वहाँ ज़मींदारी के मानी हैं खुद खेती करनेवाला ज़मीन-मालिक। उन प्रान्तों में भी जहाँ ज़मींदारी-प्रथा है, ज़मींदारों में, कम ज़मीन के मालिक, मध्यम दर्जे के हज़ारों ज़मीन-मालिक, और वे हज़ारों लोग भी जो हद दर्जे की ग़रीबी में दिन काटते हैं और जो किसी तरह काश्तकारों से अच्छी हालत में नहीं हैं, आ जाते हैं। संयुक्त-प्रान्त में, जहाँ तक मुझे याद है, पन्द्रह लाख के क़रीब वे लोग हैं जिनकी गिनती ज़मींदार-वर्ग में की जाती है। ग़ालिबन इनमें से ९० फ़ीसदी के ऊपर की हालत ग़रीब-से-ग़रीब काश्तकार की हालत से मिलती-जुलती है और दूसरे ६ फ़ीसदी की हालत कुछ अच्छी है। बड़े समझे जानेवाले ज़मीन-मालिक सारे सूबे में पाँच हज़ार से ज़्यादा नहीं हैं और उसके कोई $\frac{1}{10}$ वास्तव में बड़े ज़मींदार और ताल्लुक़ेदार कहलाने लायक़ हैं। बाज़-बाज़ बड़े काश्तकार की हालत तो छोटे ग़रीब ज़मींदारों से कहीं अच्छी है। ग़रीब ज़मीन-मालिक और मध्यम दर्जे के ज़मींदार शिक्षा में पिछड़े हुए हैं। मगर हैं आमतौर पर बहुत अच्छे लोग—स्त्री व पुरुष दोनों। और शायद उनकी शिक्षा-

दीक्षा का प्रबन्ध अच्छा हो, तो वे बढ़िया नागरिक बन सकते हैं। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलनों में ख़ासा हिस्सा लि । मगर ताल्लुक़ेदारों और बड़े ज़मींदारों ने नहीं—हाँ, कुछ अच्छे अपवादों को छोड़कर। और तो और उनमें कुलीन वर्ग की ख़ूबियाँ भी नहीं पायी जातीं। एक वर्ग की हैसियत से शरीर और बुद्धि दोनों में वे गिर गये हैं। अबतक तो उनका ख़ात्मा ही हो जाना चाहिए था। अब वे तभीतक जीवित रह सकेंगे कि जबतक ब्रिटिश सरकार ऊपर से उनको सहारा लगाती रहेगी।

पूरे १९२१ भर मैं देहाती इलाक़ों में आता-जाता रहा। लेकिन मेरा कार्य-क्षेत्र बढ़ता गया—यहाँतक कि वह सारे युक्त-प्रान्त में फैल गया। असहयोग सरगर्मी से शुरू हो गया था और इसका सन्देश दूर-दूर के गाँवों में पहुंच चुका था। हर ज़िले में कांग्रेस-कार्यकर्त्ताओं का एक झुण्ड इस नये सन्देश को लेकर देहात में जाता, और उसके साथ वह किसानों की शिकायतें दूर करने की बात भी मोटे तौर पर जोड़ देता था। स्वराज एक ऐसा व्यापक शब्द था जिसमें सब-कुछ आ जाता था, फिर भी ये दोनों आन्दोलन—असहयोग और किसान—बिलकुल अलहदा-अलहदा थे; हालाँकि हमारे प्रांत में ये दोनों बहुत-कुछ एक दूसरे में मिल-जुल जाते थे और एक-दूसरे पर असर डालते थे। कांग्रेस के इस प्रचार का फल यह हुआ कि मुक़दमेबाज़ी एकबारगी कम हो गयी और गाँवों में पंचायतें क़ायम होकर उनमें मुक़द्मे फ़ैसल होने लगे। कांग्रेस का असर शान्ति के हक़ में ख़ासतौर पर ज़्यादा पड़ा, क्योंकि जहाँ भी कोई कांग्रेसी कार्यकर्त्ता जाता, वहाँ वह इस नये अहिंसा के सिद्धान्त पर ख़ासतौर पर ज़ोर देता। हो सकता है कि लोगों ने न तो इसकी पूरी क़द्र की हो, न इसे पूरा समझा ही हो; लेकिन इसने किसानों को मार-काट पर उतर पड़ने से रोका ज़रूर है।

यह कोई कम बात न थी। किसान जब उभड़ते हैं तो मार-पीट कर बैठते हैं और उनका उभाड़ किसानों और मालिकों की एक लड़ाई ही बन जाती है। और उन दिनों अवध के हिस्से के किसानों के जोश का पारा बहुत ऊँचा चढ़ा हुआ था और वे सब-कुछ कर डालने पर आमादा थे। एक चिनगारी पड़ने की देर थी कि आग धधक उठती। फिर भी उन्होंने ग़ज़ब की शान्ति रक्खी। मुझे सिर्फ़ एक ही मिसाल याद आती है कि जिसमें एक ताल्लुक़ेदार पीटा गया। ताल्लुक़ेदार अपने घर में बैठा था—उसके यार-दोस्त आसपास बैठे थे। एक किसान उसके पास गया और उसके गाल पर एक थप्पड़ जमा दिया। किसान का कहना था कि वह अपनी पत्नी के साथ अच्छा व्यवहार नहीं करता था और बदचलन था।

एक और क़िस्म का हिंसा-कार्य आगे जाकर हुआ, जिससे सरकार के साथ टक्करें हुईं। मगर ये टक्करें तो आगे-पीछे होकर ही रहतीं, क्योंकि सरकार संगठित किसानों की बढ़ती हुई ताक़त को बर्दाश्त नहीं कर सकती थी। ढेर-के-ढेर किसान बिना टिकट रेल में सफ़र करने लगे—ख़ासतौर पर तब, जब कि उन्हें अपनी बड़ी-बड़ी सभाओं में समय-समय पर जाना पड़ता था। कभी-

कभी तो उनकी तादाद साठ से सत्तर हज़ार तक हो जाती। उन्हें हटाना मुश्किल था। और वे खुल्लम-खुल्ला रेलवे की हुकूमत का मुक़ाबला करने लगे, जैसाकि पहले कभी देखा-सुना नहीं गया था। वे रेलवे-कर्मचारियों से कहते—'साहब, अब पुराना ज़माना चला गया।' किसके भड़काने से वे बिना टिकट झुण्ड-के-झुण्ड सफ़र करते थे, मैं नहीं जानता। हाँ, हमने उन्हें ऐसी कोई बात नहीं कही थी। हमने तो अचानक सुना कि वे ऐसा कर रहे हैं। बाद को जाकर रेलवेवालों ने कड़ाई की, तब यह सिलसिला बन्द हो गया।

१९२० की सर्दी के दिनों में (जब मैं कलकत्ते में कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में गया हुआ था) कुछ मामूली-सी बात पर कुछ किसान-नेता गिरफ़्तार कर लिये गये। ख़ास प्रतापगढ़ में उनपर मुक़दमा चलाया जानेवाला था। लेकिन मुक़दमे के दिन किसानों की एक बड़ी भीड़ से अदालत का अहाता भर गया और वहाँ से जेल के रास्ते भर एक लाइन बन गयी, जहाँ कि नेता लोग रखे गये थे। मजिस्ट्रेट घबरा गया और उसने मुक़दमा दूसरे दिन के लिए मुल्तवी कर दिया। लेकिन भीड़ बढ़ती गयी और उसने जेल को क़रीब-क़रीब घेर लिया। किसान लोग मुट्ठीभर चने खाकर कुछ दिन बड़े मज़े से रह सकते हैं। आख़िर को किसान-नेता छोड़ दिये गये। शायद जेल में उनका मुक़दमा कर दिया गया था। मैं यह तो भूल गया कि यह घटना कैसे हुई, लेकिन किसानों ने उसे अपनी एक बड़ी विजय समझा और वे यह सोचने लगे कि महज़ अपनी भीड़ के बल पर ही हम अपना चाहा करा लिया करेंगे, मगर सरकार के लिए यह स्थिति असह्य थी। और एक ऐसा मौक़ा जल्दी पेश आया; लेकिन उसका अन्त दूसरी तरह हुआ।

१९२१ की जनवरी के आरम्भ की बात है। मैं नागपुर-कांग्रेस से लौटा ही था कि मुझे रायबरेली से तार मिला कि जल्दी आओ, क्योंकि वहाँ उपद्रव की आशंका थी। दूसरे दिन मैं गया। मुझे मालूम हुआ कि कुछ दिन पहले कुछ प्रमुख किसान पकड़े गये थे और वहीं की जेल में रखे गये थे। किसानों को प्रतापगढ़ की सफलता और उस समय जो नीति उन्होंने अख़्त्यार की थी वह याद थी ही। चुनाँचे किसानों की एक बड़ी भीड़ रायबरेली जा पहुँची। मगर इस बार सरकार उन्हें ऐसा नहीं करने देना चाहती थी और इसलिए उसने अतिरिक्त पुलिस और फ़ौज का इन्तज़ाम कर रखा था कि उन्हें आगे न बढ़ने दिया जाय। क़स्बे के ठीक बाहर एक छोटी नदी के उस पार किसानों का मुख्य भाग रोक दिया गया। लेकिन फिर भी दूसरी तरफ़ से लोग लगातार चले आ रहे थे। स्टेशन पर आते ही मुझे इस स्थिति की ख़बर मिली और मैं फ़ौरन नदी की तरफ़ गया, जहाँ फ़ौज किसानों का सामना करने के लिए रखी गयी थी। रास्ते में मुझे ज़िला-मजिस्ट्रेट का जल्दी में लिखा एक पुर्ज़ा मिला कि मैं वापिस लौट जाऊँ। उसीकी पीठ पर मैंने जवाब लिखा और पूछा कि किस क़ानून की किस दफ़ा की रू से मुझे वापस जाने के लिए कहा गया है? और जबतक इसका जवाब नहीं मिलेगा, तबतक मैं

अपना काम जारी रखा चाहता हूँ। जैसे ही मैं नदी तक पहुँचा दूसरे किनारे से गोलियों की आवाज़ सुनायी दी। मुझे पुल पर ही फ़ौजवालों ने रोक दिया। मैं वहाँ इन्तज़ार कर ही रहा था कि एकाएक कितने ही डरे और घबराये हुए किसानों ने मुझे आ घेरा, जोकि नदी के इस किनारे खेतों में छिप रहे थे। तब मैंने उसी जगह कोई दो हज़ार किसानों की सभा करके उनके डर को दूर और उत्तेजना को कम करने की कोशिश की। कुछ ही क़दम आगे एक छोटे नाले के उस पार उनके भाइयों पर गोलियाँ बरसना और चारों ओर फ़ौज-ही-फ़ौज दिखाई देना—यह उनके लिए एक असाधारण स्थिति थी। मगर फिर भी सभा बहुत सफलता के साथ हुई, जिससे किसानों का डर कुछ कम हो गया। तब ज़िला-मजिस्ट्रेट उस स्थान से लौटे जहाँ गोलियाँ चलायी जा रही थीं और उनके अनुरोध पर मैं उनके साथ उनके घर गया। वहाँ उन्होंने किसी-न-किसी बहाने दो घंटे तक मुझे रोक रखा—ज़ाहिर है कि उनका इरादा मुझे कुछ वक्त किसानों से और शहर के अपने मित्रों से दूर रखने का था।

बाद को हमें पता चला कि गोली-काण्ड से बहुतेरे आदमी मारे गये। किसानों ने तितर-बितर होने या पीछे हटने से इन्कार कर दिया था, मगर यों वे बिलकुल शान्त बने रहे थे। मुझे बिलकुल यक़ीन है कि अगर मैं, या हममें से कोई, जिनपर वे भरोसा रखते थे, वहाँ होते और उन्होंने उनसे कहा होता तो वे ज़रूर वहाँ से हट गये होते। जिन लोगों का वे विश्वास नहीं करते थे, उनका हुक्म मानने से उन्होंने इन्कार कर दिया। किसीने तो दरअसल मजिस्ट्रेट को सुझाया भी था, कि मेरे आने तक ठहर जावें; किन्तु उन्होंने नहीं सुना। जहाँ वह ख़ुद नाकामयाब हो चुके थे, वहाँ भला वह किसी आन्दोलनकारी को क्योंकर सफल होने दे सकते थे? विदेशी सरकारों का, जिनका दारोमदार अपने रोब पर होता है, यह तरीक़ा नहीं हुआ करता।

रायबरेली के ज़िले में उन्हीं दिनों दो बार किसानों पर गोलियाँ चलीं और उसके बाद तो हरेक प्रमुख किसान-कार्यकर्त्ता या पंचायत के मेम्बर के लिए मानो डर का राज्य ही फैल गया! सरकार ने उस आन्दोलन को कुचल डालने का पक्का इरादा कर लिया था। उन दिनों कांग्रेस की प्रेरणा से किसानों के अन्दर चरखा चलाने की प्रवृत्ति हो रही थी। इसलिए चरखा मानो राजद्रोह का प्रतीक हो गया था, और जिसके घर चरखा पाया जाता उसीकी आफ़त आ जाती। चरखे अक्सर जला भी दिये जाते थे। इस तरह सरकार ने सैकड़ों लोगों को गिरफ़्तार करके तथा दूसरे तरीक़ों से रायबरेली और प्रतापगढ़ ज़िले के देहाती इलाक़ों के किसान और कांग्रेस दोनों आन्दोलनों को कुचलने की कोशिश की। ज़्यादातर मुख्य-मुख्य कार्यकर्त्ता दोनों आन्दोलनों में एक ही थे।

कुछ दिन बाद, १६२१ में फ़ैज़ाबाद ज़िले में दूर-दूर तक दमन हुआ। वहाँ एक अनोखे ढंग से झगड़ा खड़ा हुआ। कुछ देहात के किसानों ने जाकर एक

ताल्लुक़ेदार का माल असबाब लूट लिया। बाद को पता लगा कि उन लोगों को एक दूसरे ज़मीदार के नौकर ने भड़का दिया था, जिसका ताल्लुक़ेदार से कुछ झगड़ा था। उन ग़रीबों से सचमुच यह कहा गया था कि महात्मा गांधी चाहते हैं कि वे लूट लें; और उन्होंने 'महात्मा गांधी की जय!' का नारा लगाते हुए इस आदेश का पालन किया।

जब मैंने यह सुना तो मैं बहुत बिगड़ा और दुर्घटना के एक या दो ही दिन के अन्दर उस स्थान पर जा पहुँचा, जो अकबरपुर (फ़ैज़ाबाद ज़िला) के पास ही था। मैंने उसी दिन एक सभा बुलायी और कुछ ही घंटों में पाँच-छः हज़ार लोग कई गाँवों से, कोई दस-दस मील की दूरी से वहाँ इकट्ठे हो गये। मैंने उन्हें आड़े हाथों लिया और बताया कि किस तरह उन्होंने अपने-आपको तथा हमारे काम को धक्का पहुँचाया, और शर्मिन्दगी दिलायी और कहा कि जिन-जिनने लूट-पाट की है, वे सबके सामने अपना गुनाह क़बूल करें। (उन दिनों मैं गांधीजी के सत्याग्रह की भावना से, जैसा-कुछ मैं उसे समझता था, भरा हुआ था।) मैंने उन लोगों से, जो लूट-मार में शरीक थे, हाथ ऊँचा उठाने के लिए कहा, और कहते ताज्जुब होता है कि बीसों पुलिस-अफ़सरों के सामने कई दर्जन हाथ ऊपर उठ गये। इसके मानी थे यक़ीनन उनपर आफ़त आना।

जब उनमें से बहुतेरे लोगों से मैंने एकान्त में बात-चीत की और उन्होंने सीधे-सादे ढंग से सुनाया कि किस तरह उन्हें गुमराह किया गया था, तो मुझे उनकी हालत पर बड़ा दुःख हुआ और इस बात पर अफ़सोस होने लगा कि मैंने नाहक़ ही इन सीधे-भोले लोगों को लम्बी-लम्बी सज़ाएं पाने की हालत में ला दिया। लेकिन जिन लोगों को सज़ा भुगतनी पड़ी वे दो या तीन दर्जन से कम ही थे। सरकार के लिए इतना अच्छा मौक़ा भला कहीं खोने जैसा था? उस ज़िले के किसान-आन्दोलन को कुचलने के लिए इस अवसर का पूरा-पूरा फ़ायदा उठाया गया। एक हज़ार से ऊपर गिरफ़्तारियाँ हुईं और ज़िला-जेल ठसाठस भर गया। कोई एक साल तक मुक़दमे चलते रहे। कितने ही तो मुक़दमे के दौरान में जेल ही में मर गये। दूसरे कितनों ही को लम्बी-लम्बी सज़ाएं दी गयीं। और पिछले दिनों जब मैं जेल गया, तो वहाँ उनमें से कुछ से मुलाक़ात हुई थी। क्या लड़के और क्या जवान, सब अपनी जवानी जेल में काट रहे थे!

भारतीय किसान में टिके रहने की शक्ति बहुत कम है। ज़्यादा दिनों तक मुक़ाबला करने की उसमें ताक़त नहीं रहती। अकालों और महामारियों में लाखों मर जाते हैं। ऐसी दशा में यह आश्चर्य की बात है कि साल भर तक उन्होंने सरकार व ज़मींदार दोनों के सम्मिलित दबाव का मुक़ाबला करने की ताक़त दिखायी। लेकिन वे कुछ-कुछ थकने लग गये थे और सरकार उनके आन्दोलन पर दृढ़तापूर्वक हमले करती रहती थी, जिससे अन्त में उनकी हिम्मत उस समय के लिए तो टूट गयी। फिर भी उनका आन्दोलन धीमी रफ़्तार से चलता रहा—हाँ, पहले-जैसे बड़े-बड़े प्रदर्शन नहीं होते थे, लेकिन अधिकांश गाँवों में पुराने

कार्यकर्त्ता बच रहे थे जिनपर डर का कोई असर न हुआ था। और जो थोड़ा-बहुत काम करते रहे। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि यह सब हुआ था कांग्रेस के १९२१ के जेल जाने के कार्य-क्रम बनने के पहले। किन्तु इसमें भी किसानों ने, पिछले साल के दमन के बावजूद बहुत-कुछ हाथ बँटाया था।

सरकार किसान-आन्दोलन से डर गयी थी और उसने किसानों-सम्बन्धी क़ानून को पास करने की जल्दी की। इसके द्वारा किसानों की हालत सुधरने की आशा हुई थी। किन्तु जब देखा कि आन्दोलन क़ाबू में आ चुका है तो उसको नरम बना दिया गया। इसके द्वारा जो मुख्य परिवर्तन किया गया वह था अवध के किसानों को ज़मीन पर आजन्म अधिकार दे देना। यह दिखायी तो दिया था उनके लिए लुभावना, लेकिन अन्त में साबित यह हुआ कि उनकी हालत में उससे कुछ भी सुधार नहीं हुआ।

अवध में किसानों की हलचलें जब-तब होती रहती थीं, लेकिन छोटे पैमाने पर। मगर, १९२१ में जो मन्दी सारे संसार में आयी, उससे चीज़ों के भाव गिर गये और इसलिए फिर एक संकट-काल आ खड़ा हुआ।

१०

असहयोग

अवध के किसानों की उथल-पुथल का पीछे कुछ ब्योरे के साथ मैंने वर्णन किया है, क्योंकि उसने भारत की समस्या पर से परदा उठाकर उसका मूल-स्वरूप मेरे सामने खड़ा कर दिया, जिसपर कि राष्ट्रीय विचारवालों ने शायद ही कुछ ध्यान दिया हो। हिन्दुस्तान के भिन्न-भिन्न भागों में किसानों की हलचलें बार-बार होती रहती हैं, जो कि गहरी अशान्ति के लक्षण हैं। अवध के कुछ हिस्सों में जो किसान-आन्दोलन १९२०-२१ में हुआ वह उसी तरह का था—हालाँ क वह अपने ढंग का निराला था, जिससे कई रहस्य सामने आये। उसकी शुरुआत का सम्बन्ध किसी तरह न तो राजनीति से था, न राजनैतिक पुरुषों से। बल्कि शुरू से आख़ीर तक बाहरी और राजनैतिक लोगों का उसपर कम-से-कम असर था। सारे हिन्दुस्तान की दृष्टि से वह एक स्थानीय मामला था, और इसलिए उसकी तरफ़ बहुत कम ध्यान दिया गया था। यहाँतक कि संयुक्तप्रान्त के अख़बारों ने भी उसकी तरफ़ बहुत-कुछ लापरवाही ही दिखायी। उनके सम्पादकों और अधिकांश शहराती पाठकों के लिए नंगे किसानों की जमात के उन कामों में कोई असली राजनैतिक या दूसरे प्रकार का महत्त्व न था।

पंजाब और ख़िलाफ़त-सम्बन्धी अन्यायों की रोज़ चर्चा होती थी और असहयोग, जिसके बल पर उन अन्यायों को दूर करने की कोशिश की जानेवाली

थी, लोगों की ज़बान पर एक ही विषय था। सब लोगों का ध्यान उसीमें लगा हुआ था। अलबत्ता शुरू में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के बड़े प्रश्न, यानी स्वराज्य, पर ज़्यादा ज़ोर नहीं दिया जाता था। गांधीजी गोल-मोल और लम्बी-चौड़ी बातों को पसन्द नहीं करते हैं—वह हमेशा किसी ख़ास और निश्चित बात पर सारी ताक़त लगाना ज़्यादा पसन्द करते हैं। फिर भी स्वराज्य की बातें वायुमण्डल में और लोगों के दिमाग़ों में बहुत-कुछ घूमती रहती थीं, और जगह-जगह जो सभा-सम्मेलन होते थे, उनमें बार-बार उनका ज़िक्र आया करता था।

पंजाब और ख़िलाफ़त के और ख़ासकर असहयोग के प्रश्न पर अपना निर्णय देने के लिए १९२० के सितम्बर में कलकत्ता में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ। लाला लाजपतराय उसके सभापति थे, जो लम्बे अरसे तक देश से बाहर रहने के बाद हाल ही अमेरिका से लौटे थे। उन्हें असहयोग की यह नयी योजना नापसन्द थी और उन्होंने उसका विरोध किया था। हिन्दुस्तान की राजनीति में वह आमतौर पर गरम-दल के माने जाते थे, लेकिन उनकी साधारण जीवन-दृष्टि निश्चितरूप से वैध और माडरेट थी। इस सदी के शुरू के दिनों परिस्थिति ने—न कि हार्दिक विश्वास या इच्छा ने—उन्हें लोकमान्य तिलक तथा दूसरे गरमदलवालों का साथी बना दिया था। लेकिन उनका दृष्टि-कोण निश्चय ही सामाजिक तथा आर्थिक था, जो कि उनके अर्से तक विदेशों में रहने से और भी मज़बूत हो गया था, और उसके कारण उनकी दृष्टि अधिकांश हिन्दुस्तानी नेताओं की बनिस्बत ज़्यादा व्यापक थी।

विल्फ़्रेड स्कावेन ब्लण्ट ने अपनी 'डायरियों' में गोखले और लालाजी के साथ हुई मुलाक़ातों (१९०९ के लगभग) का हाल लिखा है। दोनों के बारे में उसने बहुत सख़्त लिखा है, क्योंकि उसकी राय में वे बहुत फूँक-फूँककर चलते थे और वास्तविकता का सामना करते हुए डरते थे। लेकिन फिर भी लालाजी दूसरे बहुत-से हिन्दुस्तानी नेताओं से कहीं ज़्यादा उनका मुक़ाबला करते थे। ब्लण्ट पर जो छाप पड़ी उससे तो हम यही समझ सकते हैं कि उस समय हमारी राजनीति व हमारे नेताओं की गति कितनी धीमी थी और उनका क्या असर एक समर्थ और अनुभवी विदेशी सज्जन पर पड़ा। लेकिन पिछले बीस बरसों में उस गति में बड़ा फ़र्क़ पड़ गया है।

इस विरोध में लाला लाजपतराय अकेले न थे। उनके साथ बड़े-बड़े और प्रभावशाली लोग भी थे। कांग्रेस के क़रीब-क़रीब सभी पुराने महारथियों ने गांधीजी के असहयोग-प्रस्ताव का विरोध किया था। देशबन्धुदास उस विरोध के अगुवा थे, इसलिए नहीं कि वह उसके मूलभाव को नापसन्द करते थे—वह तो उस हद तक बल्कि उससे भी आगे जाने को तैयार थे—बल्कि ख़ासकर इसलिए कि नई कौंसिलों के बहिष्कार पर उन्हें एतराज़ था।

पुरानी पीढ़ी के बड़े-बड़े नेताओं में एक मेरे पिताजी ही ऐसे थे, जिन्होंने

उस समय गांधीजी का साथ दिया। उनके लिए ऐसा करना हँसी-खेल न था। उन पुराने साथियों ने जो-जो एतराज़ किये थे उनमें से बहुतों को वे ठीक समझते थे और उनका उनपर बहुत असर भी हुआ था। उनकी तरह वे भी एक अज्ञात दिशा में एक अजीब नये तरीक़े से आगे बढ़ने में हिचकिचाते थे, जहाँ जाकर किसीके लिए अपने पुराने तौर-तरीक़े क़ायम रखना मुश्किल ही था। फिर भी उनका दिल एक कारगर उपाय करने की ओर आकर्षित होता था और असहयोग के प्रस्ताव में ऐसे निश्चित उपाय की योजना थी, अलबत्ता वह ठीक उसी तरह की न थी जैसी पिताजी चाहते थे। पक्का इरादा करने में उन्हें बहुत वक़्त लगा था। बड़ी देर-देर तक उन्होंने गांधीजी और देशबन्धु से बातें की थीं। उन्हीं दिनों संयोग से वह और दासबाबू दोनों बहुत-कुछ एक साथ पड़ गये थे, क्योंकि एक बड़े मुक़दमे में वे दोनों एक दूसरे के ख़िलाफ़ पैरवी के लिए खड़े हुए थे। वे दोनों इस मसले को बहुत-कुछ एक ही दृष्टिकोण से देखते थे और उनके अन्त के बारे में भी उनका बहुत कम मत-भेद था। फिर भी, वह थोड़ा-सा ही मतभेद इन्हें विशेष कांग्रेस के मुख्य प्रस्ताव पर परस्पर-विरोधी पक्ष में रखवाने के लिए काफ़ी था। तीन महीने बाद वे फिर नागपुर-कांग्रेस में मिले, और आगे चलकर दोनों एक साथ चलते रहे और एक-दूसरे के अधिकाधिक नज़दीक आते गये।

उन दिनों, कलकत्ता की विशेष कांग्रेस के पहले, मैं पिताजी से बहुत कम मिल पाता था। परन्तु जब कभी मैं उनसे मिलता, मैं देखता कि वह बराबर इस समस्या पर विचार करने में लगे रहते थे। इस सवाल के राष्ट्रीय स्वरूप के अलावा इसका ज़ाती पहलू भी था। असहयोग के मानी होते थे उनका वकालत छोड़ देना, जिसके मानी होते थे उनका अपने पुराने जीवन से बिलकुल नाता तोड़ लेना और एक बिलकुल नये जीवन में अपने को ढालना—यह कोई आसान बात नहीं थी, ख़ासकर उस समय जब कि कोई अपनी साठवीं वर्षगाँठ मनाने की तैयारी कर रहा हो। पुराने राजनैतिक साथियों से, अपने पेशे से, उस सामाजिक जीवन से जिसके वह अब तक आदी थे, सबसे ताल्लुक़ तोड़ना था और कितनी ही ख़र्चीली आदतों को छोड़ देना था, जो अबतक पड़ी हुई थीं। फिर रुपये और ख़र्च-वर्च का सवाल भी कम महत्त्व का न था, और यह ज़ाहिर था कि अगर वकालत की आमदनी चली गयी तो उन्हें अपने रहन-सहन का स्टैंडर्ड बहुत कम करना होगा।

लेकिन उनकी बुद्धि, उनका ज़बरदस्त स्वाभिमान, और उनका गर्व—ये सब मिलाकर उन्हें एक-एक क़दम नये आन्दोलन की तरफ़ ही बढ़ाते गये, यहाँ तक कि अन्त में वह सोलहों आना उसमें कूद पड़े। उन कई घटनाओं से जिनका अन्त पंजाब काण्ड में हुआ, और उसके बाद जो-कुछ हुआ उससे उनके दिल में जो गुस्सा भरता जा रहा था उसको, जो अन्याय या अत्याचार वहाँ हुए थे उनकी याद को, और जो राष्ट्रीय अपमान हुआ उसकी कटुता को बाहर निकलने का कोई मार्ग चाहिए था। लेकिन वह महज़ उत्साह की लहर में बह जानेवाले

न थे। उन्होंने आख़िरी फ़ैसला तभी किया और गांधीजी के आन्दोलन में तभी कूदे जब उनके दिमाग़ ने, और एक मँजे हुए वकील के दिमाग़ ने, सारा आगा-पीछा अच्छी तरह सोच लिया।

गांधीजी के व्यक्तित्व की तरफ़ वह खिंचे थे और इसमें कोई शक नहीं कि इस बात ने भी उनके निर्णय पर असर डाला था। जिस शख़्स को वह नापसन्द करते थे उससे उनका साथ कोई भी शक्ति नहीं करा सकती थी, क्योंकि उनकी रुचि और अरुचि दोनों बड़ी तेज़ होती थीं। लेकिन यह मिलाप था अनोखा—एक तो साधु, संयमी, धर्मात्मा, जीवन के आनन्द-विलास और शारीरिक सुखों को लात मारनेवाला, और दूसरा कुछ भोग-प्रिय जिसने जीवन के कितने ही आनन्दों का स्वागत और उपभोग किया और इस बात की बहुत कम परवा की कि परलोक में क्या होगा! मनोविश्लेषण-शास्त्र की भाषा में कहें तो यह एक अन्तर्मुख का एक बहिर्मुख के साथ मिलाप था। फिर भी उन दोनों में एक प्रेम-बन्धन और एक हित-सम्बन्ध था जिसने दोनों को एक-दूसरे की तरफ़ खींचा और बाँध रखा—यहाँ तक कि जब आगे चलकर दोनों की राजनीति में अन्तर पड़ गया तब भी दोनों में गाढ़ी मित्रता रही।

वाल्टर पेटर ने अपनी एक किताब में बताया है कि कैसे एक साधु और एक भोगी, एक धार्मिक प्रकृति का और दूसरा उसके विरुद्ध स्वभाव का परस्पर विरोधी स्थानों से शुरू करके, भिन्न-भिन्न रास्तों से सफ़र करते हुए, और ऐसी जीवन-दृष्टि रखते हुए जो अपने उत्साह और सरगर्मियों में औरों से उच्च और उदार रहती है, अक्सर एक-दूसरे को ज़्यादा अच्छी तरह समझते और पहचानते हैं—बनिस्बत इसके कि उनमें से हरेक दुनिया के किसी साधारण मनुष्य को समझे और पहचाने—और कभी-कभी वे दरअसल एक-दूसरे के हृदय को स्पर्श भी करते हैं।

कलकत्ता के विशेष अधिवेशन ने कांग्रेस की राजनीति में गांधीयुग शुरू किया, जो तब से अब तक क़ायम है—हाँ, बीच में थोड़ा-सा समय (१९२२ से १९२९ तक) ज़रूर ऐसा गया जिसमें गांधीजी ने अपने आपको पीछे रख लिया था और स्वराज्य-पार्टी को, जिसके नेता देशबन्धुदास और मेरे पिताजी थे, अपना काम करने दिया था। तब से कांग्रेस की सारी दृष्टि ही बदल गयी; विलायती कपड़े चले गये और देखते-देखते सिर्फ़ खादी-ही-खादी दिखायी देने लगी; कांग्रेस में नये क़िस्म के प्रतिनिधि दिखायी देने लगे; जो ख़ास करके मध्यम-वर्ग की निचली श्रेणी के थे। हिन्दुस्तानी, और कभी-कभी तो उस प्रान्त की भाषा जहाँ अधिवेशन होता था, अधिकाधिक बोली जाने लगी, क्योंकि कितने ही प्रतिनिधि अंग्रेज़ी नहीं जानते थे। राष्ट्रीय कामों में विदेशी भाषा का व्यवहार करने के ख़िलाफ़ भी लोगों के भाव तेज़ी से बढ़ रहे थे, और कांग्रेस की सभाओं में साफ़-तौर पर एक नयी ज़िन्दगी, नया जोश, और सचाई दिखायी देती थी।

अधिवेशन ख़त्म होने के बाद गांधीजी 'अमृतबाजार पत्रिका' के महान

सम्पादक श्री मोतीलाल घोष से मिलने गये, जोकि मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए थे। मैं उनके साथ गया था। मोतीबाबू ने गांधीजी के आन्दोलन को आशीर्वाद दिया और कहा—'मैं तो अब दूसरी दुनिया में जा रहा हूँ। वह दुनिया कहीं भी हो; मुझे एक बात का बहुत सन्तोष है कि वहाँ ब्रिटिश साम्राज्य न होगा—अब मैं इस साम्राज्य की पहुँच के परे हो जाऊँगा!'

कलकत्ता से लौटते समय मैं गांधीजी के साथ रवीन्द्रनाथ ठाकुर और उनके अति प्यारे बड़े भाई 'बड़ो दादा' से मिलने शान्तिनिकेतन गया। वहाँ हम कुछ दिन रहे। मुझे याद है कि चार्ली एण्डरूज़ ने कुछ किताबें मुझे दी थीं, जो मुझे दिलचस्प मालूम हुई थीं और जिसका मुझ पर बहुत असर भी पड़ा था। उनका विषय था अफ्रीका में ब्रिटिश साम्राज्य से हुई आर्थिक हानि। इनमें से मॉरेल की लिखी एक किताब—'ब्लैकमेन्स बर्डन' की मेरे दिलपर बहुत गहरी छाप पड़ी थी।

इन्हीं दिनों या इसके कुछ दिन बाद एण्डरूज़ साहब ने एक पुस्तिका लिखी, जिसमें हिन्दुस्तान के लिए स्वाधीनता की पैरवी की गयी थी। मैं समझता हूँ कि उसका नाम 'इण्डिपेण्डेंस दि इमीजिएट नीड' था। यह एक बहुत ऊँचे दर्ज़े का निबन्ध था, जो कि सिली के हिन्दुस्तान-विषयक कुछ लेखों और पुस्तकों के आधार पर लिखा गया था। और मुझे ऐसा लगा कि उसमें स्वाधीनता का प्रतिपादन इतनी अच्छी तरह किया गया है कि उसका कोई जवाब नहीं हो सकता—यही नहीं, बल्कि मुझे वह मेरे हार्दिक भावों का चित्र खींचता हुआ मालूम हुआ। इसकी भाषा बड़ी सीधी-सादी और सचाई लिये हुए थी। उसमें मानो हमारे दिल को हिला देनेवाली गहरी प्रेरणाएं और अधखिली अभिलाषाएं साफ़तौर पर मूर्त बनती दिखायी दीं। न तो वह आर्थिक आधार पर लिखी गयी थी और न उसमें साम्यवाद ही था; उसमें शुद्ध राष्ट्रीयता, हिन्दुस्तान की ज़िल्लत के प्रति मन में सहानुभूति और इससे छुटकारा पाने की और बरसों के हमारे इस अधःपतन का ख़ात्मा कर देने की ज़बरदस्त ख़्वाहिश थी। यह कितनी विचित्र बात है कि एक विदेशी, और सो भी वह जो हमपर हुकूमत करनेवाली जाति का है, हमारे अन्तस्तल की पुकार को इस तरह प्रतिध्वनित करे! असहयोग तो, जैसा कि सिली ने बहुत पहले कह दिया है, "यह भावना है कि हमारे लिए विदेशियों को अपनी हुकूमत हमपर जमाये रखने में सहायता पहुँचाना शर्मनाक है।" और एण्डरूज़ ने लिखा है—"आत्मोद्धार का एक ही मार्ग है कि अपने अन्दर से कोई ज़बरदस्त हलचल—क्रान्ति—पैदा हो। ऐसी क्रान्ति के लिए जिस बारूद की ज़रूरत है वह खुद हिन्दुस्तान की आत्मा में से ही पैदा होनी चाहिए। वह बाहर से किसीके देने, माँगने, मिलने, ऐलान करने और रिआयतें देने से नहीं आ सकती। वह अपने अन्दर से ही आनी चाहिए।.........इसलिए जब मैंने देखा कि ऐसी ही आन्तरिक शक्ति, वह बारूद, दरअसल भक् से धड़ाका कर चुकी है—जब महात्मा गांधी ने भारत के हृदय में मन्त्र फूँका—'आज़ाद हो जाओ, ग़ुलाम

मत बने रहो' और हिन्दुस्तान की हृत्तन्त्री उसी स्वर में झनझना उठी—तो मेरे मन और आत्मा उस असह्य बोझ से छुटकारा पाने की ख़ुशी से नाच उठे। एक आकस्मिक हलचल के साथ उसकी बेड़ियाँ ढीली हुईं और आज़ादी का रास्ता खुल गया।"

अगले तीन मास में देश भर में असहयोग की लहर बढ़ती चली गयी। नयी कौन्सिलों का बहिष्कार करने की जो अपील की गयी थी उसमें आश्चर्यजनक सफलता मिली। यह बात नहीं कि सभी लोग वहाँ जाने से रुक गये, या रुक सकते थे, और इस तरह तमाम सीटें ख़ाली रखी जा सकती थीं; बल्कि मुट्ठीभर वोटर भी चुनाव कर सकते थे और अविरोध चुनाव भी हो सकता था। लेकिन हाँ, यह सच है कि अधिकांश वोटर (मतदाता) वोट देने नहीं गये, और वे सब उम्मीदवार जिन्हें देश की पुकार का ख़याल था, कौंसिलों के लिए खड़े नहीं हुए। चुनाव के दिन सर वेलेण्टाइन शिरोल दैवयोग से इलाहाबाद में थे और चुनाव के स्थानों को स्वयं देखने गये थे। वह बायकाट की सफलता देखकर दंग रह गये। एक देहाती चुनाव-केन्द्र पर, जो इलाहाबाद शहर से पन्द्रह मील दूर था, उन्होंने देखा कि एक भी वोटर वोट देने नहीं गया था। हिन्दुस्तान पर लिखी अपनी एक पुस्तक में उन्होंने अपने इस अनुभव का वर्णन किया है।

यद्यपि देशबन्धुदास तथा दूसरे लोगों ने कलकत्ता-अधिवेशन में बहिष्कार की उपयोगिता पर सन्देह प्रकट किया था, तो भी आख़ीर को उन्होंने कांग्रेस के फ़ैसले को माना। चुनाव हो जाने के बाद मतभेद भी दूर हो गया और नागपुर कांग्रेस (१६२०) में फिर बहुत-से पुराने कांग्रेसी नेता असहयोग के मंच पर आकर मिल गये। उस आन्दोलन की कामयाबी ने बहुतेरे डाँवाडोल और सन्देह रखनेवालों को क़ायल कर दिया था।

फिर भी कलकत्ता के बाद कुछ पुराने नेता कांग्रेस से पीछे हट गये जिनमें एक मशहूर और लोकप्रिय नेता थे श्री जिन्ना। सरोजिनी नायडू ने उन्हें 'हिन्दू-मुस्लिम एकता का राजदूत' कहा था और पिछले दिनों में उन्हींकी बदौलत मुस्लिम-लीग का कांग्रेस के नज़दीक आना बहुत-कुछ मुमकिन हुआ था, मगर कांग्रेस ने बाद में जो रूप धारण किया—असहयोग को तथा अपने नये विधान को अपनाया, जिससे वह ज़्यादातर जनता का संगठन बन गयी, वह उन्हें क़तई नापसन्द था। उनके मतभेद का कारण यों तो राजनैतिक बताया गया था परन्तु वह मुख्यतः राजनैतिक न था। उस समय की कांग्रेस में ऐसे बहुत-से लोग थे जो राजनैतिक विचारों में जिन्ना साहब से पीछे ही थे। पर बात यह है कि कांग्रेस के इस नये रंग-रूप से उनके स्वभाव का मेल नहीं खाता था। उस खादीधारी भब्भड़ में, जो हिन्दुस्तानी में व्याख्यान देने की माँग करता था, वह अपने को बिलकुल बेमेल पाते थे। बाहर लोगों में जो जोश था वह उन्हें पागलों की उछल-कूद-सा मालूम होता था। उनमें और भारतीय जनता में उतना ही फ़र्क़ था जितना कि सेवाइल रो, बॉण्ड स्ट्रीट में और झोंपड़ोंवाले हिन्दुस्तानी गाँवों में है। एक बार उन्होंने

खानगी में सुझाया था कि सिर्फ़ मैट्रिक पास ही कांग्रेस में लिए जायँ। मैं नहीं कह सकता कि उन्होंने दरअसल संजीदगी के साथ ही यह बात सुझायी थी। परन्तु यह सच है कि वह उनके साधारण दृष्टिकोण के मुआफ़िक़ ही थी। इस तरह वह कांग्रेस से दूर चले गये और हिन्दुस्तान की राजनीति में अकेले से पड़ गये। दुःख की बात है कि आगे जाकर एकता का यह पुराना दूत उन प्रतिगामी लोगों में मिल गया, जो मुसलमानों में बहुत ही सम्प्रदायवादी थे।

माडरेटों या यों कहें कि लिबरलों का तो कांग्रेस से कोई ताल्लुक़ ही न रहा था। वे उससे सिर्फ़ दूर ही नहीं हट गये, बल्कि सरकार में घुल-मिल गये। नयी योजना के अन्दर मिनिस्टर और बड़े-बड़े अफ़सर बने और असहयोग तथा कांग्रेस का मुक़ाबला करने में सरकार की मदद की। वे जो-कुछ चाहते थे, क़रीब-क़रीब सब उन्हें मिल गया था—यानी कुछ सुधार दे दिये गये थे, और इसलिए अब उन्हें किसी आन्दोलन की ज़रूरत न थी। सो, एक ओर देश जहाँ जोश-खरोश से उबल रहा था, और अधिकाधिक क्रान्तिकारी बनता जा रहा था, वहाँ वे खुले आम क्रान्ति-विरोधी, खुद सरकार के एक अंग बन गये। वे लोगों से कटकर बिलकुल अलग जा पड़े और तबसे हर मसले को हाकिमों के दृष्टि-बिन्दु से देखने की उनको आदत पड़ गयी, जो अबतक क़ायम है। सच्चे अर्थ में उनकी अब कोई पार्टी नहीं रह गयी है—सिर्फ़ चन्द लोग रह गये हैं सोभी कुछ बड़े-बड़े शहरों में।

फिर भी यह न समझिए कि लिबरल लोग निश्चिन्त थे। खुद अपने ही लोगों से कटकर अलहदा पड़ जाना, जहाँ दुश्मनी नहीं दिखायी या सुनायी देती हो वहाँ भी दुश्मनी समझना कोई आनन्ददायी अनुभव नहीं कहा जा सकता। जब सारी जनता उभड़ उठती है तो वह अपने से अलहदा रहनेवालों के प्रति मेहरबान नहीं रह सकती। हालाँकि गांधीजी की बार-बार की चेतावनियों ने असहयोग को विरोधियों के लिए उससे कहीं अधिक मृदुल और सौम्य बना दिया था जितना कि दूसरी हालत में वह हो सकता था। फिर भी महज़ उस वायुमण्डल ने ही आन्दोलन के विरोधियों का दम घुटा दिया था, जिस प्रकार वह उसके समर्थकों को बल और स्फूर्ति देता था और उनमें जीवन तथा कार्य-शक्ति का संचार करता था। जनता के उभाड़ और सच्चे क्रान्तिकारी आन्दोलनों के हमेशा ऐसे दोहरे असर होते हैं, वे उन लोगों को जो जनता में से होते हैं या जो उनकी तरफ़ हो जाते हैं, उत्साहित करते हैं और उनको आगे लाते हैं, और साथ ही उन लोगों के विचारों को दबाते हैं और पीछे हटा देते हैं जो उनसे मतभेद रखते हैं।

यही कारण है जो कुछ लोगों की यह शिकायत थी कि असहयोग में तो सहनशीलता का अभाव है और उससे अन्धे की तरह एक-सी राय देने और एक-से काम करने की प्रवृत्ति पैदा होती है। इस शिकायत में सचाई तो थी, लेकिन वह थी इस बात में कि असहयोग जनता का एक आन्दोलन था और उसका अगुवा था ऐसा ज़बर्दस्त शख़्स जिसे हिन्दुस्तान के करोड़ों लोग भक्ति-भाव से देखते

थे। मगर इससे भी गहरी सच्चाई तो थी जनता पर हुए उसके असर में। ऐसा अनुभव होता था मानो किसी क़ैद से या बोझ से वह छुटकारा पा गयी हो और आज़ादी का एक नया भाव आ गया हो! जिस भय से वह अब तक दबी और कुचली जा रही थी वह पीछे हट गया था और उसकी कमर सीधी और सिर ऊँचा हो गया था। यहाँ तक कि दूर-दूर के बाज़ारों में भी राह चलते लोग कांग्रेस और स्वराज की (क्योंकि नागपुर कांग्रेस ने स्वराज को अपना ध्येय बना लिया था), पंजाब की घटनाओं की तथा ख़िलाफ़त की बातें करते थे। लेकिन 'ख़िलाफ़त' शब्द के अजीब मानी देहात के लोग समझते थे। लोग समझते थे कि यह 'ख़िलाफ़' से बना है और इसलिए वे इसके मानी करते थे 'सरकार के ख़िलाफ़'! हाँ, वे अपने ख़ास-ख़ास आर्थिक कष्टों पर भी बात-चीत करते थे। बेशुमार सभाएं और सम्मेलन हुए और उनसे उनमें बहुत-कुछ राजनैतिक शिक्षा फैली।

हममें बहुत लोग जो कांग्रेस-कार्यक्रम को पूरा करने में लगे हुए थे, १९२१ में मानो एक क़िस्म के नशे में मतवाले हो रहे थे। हमारे जोश, आशावाद और उछलते हुए उत्साह का ठिकाना न था। हमें वैसा आनन्द और सुख का स्वाद आता था जैसा किसी शुभ काम के लिए धर्म-युद्ध करनेवाले को होता है। हमारे मन में न शंकाओं के लिए जगह थी, न हिचक के लिए। हमें अपना रास्ता अपने सामने बिलकुल साफ़ दिखाई देता था, और हम आगे बढ़ते चले जाते थे, दूसरों के उत्साह से उत्साहित होते तथा औरों को आगे धक्का देते थे। हमने जी-जान लगाकर काम करने में कोई बात उठा न रक्खी, इतनी बड़ी मेहनत हमने कभी न की थी; क्योंकि हम जानते थे कि सरकार से मुक़ाबला शीघ्र ही होनेवाला है, और सरकार हमें उठाकर अलग कर दे, इससे पहले हम ज़्यादा-से-ज़्यादा काम कर डालना चाहते थे।

इन सब बातों से बढ़कर हमारे अन्दर आज़ादी का और आज़ादी के गर्व का भाव आ गया था। यह पुराना भाव कि हम दबे हुए हैं और हमें कामयाबी नहीं हो सकती, बिलकुल चला गया था। अब न तो डर से काना-फूसी होती थी और न गोल-मोल क़ानूनी भाषा इस्तेमाल की जाती थी, कि जिससे अधिकारियों के साथ झगड़ा मोल लेने से अपनेको बचाया जा सके। हम वही करते थे जो हम मानते थे और महसूस करते थे, और उसे खुल्लमखुल्ला डंके की चोट कहते थे। हमें उसके नतीजे की क्या परवा थी? जेल? उसकी हम राह ही देख रहे थे। उससे तो हमारे उद्देश्य-सिद्धि में मदद ही पहुँचनेवाली थी। बेशुमार भेदिया और ख़ुफ़िया पुलिस के लोग हमें घेरे रहते थे और हम जहाँ जाते वहाँ साथ रहते थे। उनकी हालत दयाजनक हो गयी थी; क्योंकि हमारे पास उनके पता लगाने के लिए कोई छिपी बात ही न थी। हमारी सारी बाज़ी खुली थी।

हमको इस बात का ही सिर्फ़ सन्तोष न था कि हम एक सफल राजनैतिक काम कर रहे हैं, जिससे हमारी आँखों के सामने भारत की तसवीर बदलती जा

रही है, और जैसा कि हमारा विश्वास था, हिन्दुस्तान की आज़ादी बहुत नज़दीक आ रही है; बल्कि हमारे अन्दर एक नैतिक उच्चता का भाव भी पैदा हो गया था कि हमारे साध्य और साधन दोनों हमारे विरोधियों के मुक़ाबले में अच्छे और ऊँचे हैं। हमें अपने नेता पर और उसके बताये अप्रतिम उपाय पर गर्व था और कभी-कभी हम अपनेको सत्पुरुष मानने का दावा करने लगते थे। लड़ाई के बीच और स्वयं उसमें लिप्त होते हुए और उसे बढ़ावा देते हुए, एक आन्तरिक शान्ति का अनुभव होता था।

ज्यों ज्यों हमारा नैतिक तेज, हमारा सत्य, बढ़ता गया, त्यों-त्यों सरकार का तेज घटता गया। उसकी समझ में नहीं आता था कि यह हो क्या रहा है। ऐसा जान पड़ता था कि हिन्दुस्तान में उसकी परिचित पुरानी दुनिया एकाएक बही जा रही है। दूर-दूर तक एक नया आक्रामक भाव, आत्मावलम्बन और निर्भयता के भाव फैल रहे हैं और भारत में ब्रिटिश हुकूमत का बहुत बड़ा सहारा—रोब—स्पष्टतया दूर होता जा रहा है। थोड़ा-थोड़ा दमन करने से आन्दोलन उलटा बढ़ता जाता था और सरकार बहुत देर तक बड़े-बड़े नेताओं पर हाथ डालने से हिचकती ही रही। वह नहीं जानती थी कि इसका नतीजा आख़िर क्या होगा। हिन्दुस्तानी फ़ौज पर भरोसा रखा जा सकता है या नहीं? पुलिस हमारे हुक्मों पर अमल करेगी या नहीं? दिसम्बर १९२१ में लार्ड रीडिंग ने तो कही दिया था कि 'हम हैरान और परेशान हो रहे हैं।'

१९२१ की गर्मियों में युक्तप्रान्त की सरकार की ओर से ज़िला-अफ़सरों के नाम एक मज़ेदार गुप्त गश्ती-चिट्ठी भेजी गयी थी। वह बाद को एक अख़बार में भी छप गयी थी। उसमें दुःख के साथ कहा गया था कि इस आन्दोलन में हमला करने की शक्ति हमेशा दुश्मन यानी कांग्रेस के हाथों में रहती है। इसके बाद हमला करने की शक्ति किस प्रकार सरकार के हाथों में आ जाय, इसके लिए उसमें तरह-तरह के उपाय बताये गये थे, जिनमें एक था निकम्मी 'अमन सभाओं' को क़ायम करना। यह माना जाता था कि असहयोग से लड़ने का यह तरीक़ा लिबरल मिनिस्टरों का सुझाया हुआ था।

कितने ही ब्रिटिश अफ़सरों के होश-हवास गुम होने लगे थे। दिमाग़ी परेशानी कम न थी। दिन-दिन विरोध और हुकूमत का मुक़ाबला करने की भावना प्रबल होती जा रही थी, जिससे हाकिमों के हृदयाकाश पर चिन्ता के घने बादल मँडरा रहे थे। फिर भी, चूँकि कांग्रेस के साधन शान्तिमय थे, उन्हें उसका मुक़ाबला करने, उसपर हावी होने या ज़ोर के साथ धर दबाने का कोई मौक़ा नहीं मिलता था। औसत दर्जे के अंग्रेज़ इस बात को नहीं मानते थे कि हम कांग्रेसी सच्चे दिल से अहिंसा चाहते हैं। वे समझते थे कि यह सब धोखा-धड़ी है—किसी गहरी साज़िश को छिपाने का बहाना-मात्र है, जो किसी-न-किसी दिन एक हिंसात्मक उत्पात के रूप में फूट पड़नेवाली है। अंग्रेज़ों को बचपन से

ही यह सिखाया जाता है कि पूरब एक रहस्यमय देश है, और वहाँ के बाज़ारों और तंग गलियों में दिन-रात छिपी साज़िशें होती रहती हैं। इसलिए वे इन रहस्यमय समझे जानेवाले देशों के मामलों को सीधा नहीं देख सकते। वे एक पूरब के पुरुष को जो सीधा-सादा और रहस्य से खाली है, समझने की कभी कोशिश ही नहीं करते। वे उससे एक दूरी पर ही रहते हैं, उसके बारे में जो-कुछ ख़याल बनाते हैं वे भेदिया और ख़ुफ़िया पुलिस के द्वारा मिली भली-बुरी ख़बरों के आधार पर बनाते हैं, और फिर उसके सम्बन्ध में अपनी कल्पना की उड़ान को खुला छोड़ देते हैं। अप्रैल १९१९ के शुरू में पंजाब में ऐसा ही हुआ। अधिकारियों में और आमतौर पर अंग्रेज़ लोगों में एकाएक दहशत फैल गयी। उन्हें हर जगह ख़तरा-ही ख़तरा, एक बग़ावत, एक दूसरा ग़दर जिसमें भयानक मारकाट होगी, दिखायी देने लगा और हर सूरत में आँखें मूँदकर आत्म-रक्षा की सहज वृत्ति ने उनसे वे-वे भयंकर कांड करा डाले, जिनके अमृतसर का जलियाँवाला-बाग़ और रेंगनेवाली गली, ये प्रतीक और दूसरे नाम हो गये।

१९२१ का साल बड़ी तनातनी का साल था, और उसमें बहुत-सी ऐसी बातें हुईं जिनसे हाकिमों को चिढ़ने, बिगड़ने और घबराने या डर जाने की गुंजाइश थी। दरअसल जो कुछ हो रहा था वह तो बुरा था ही, परन्तु जो-कुछ ख़याल कर लिया गया वह उससे भी बुरा था। मुझे एक घटना याद है, जिससे इस कल्पना की घुड़दौड़ का नमूना मिल जायगा। मेरी बहन स्वरूप की शादी इलाहाबाद में दस मई १९२१ को होनेवाली थी। देशी तिथि के हिसाब से पंचांग में शुभदिन देखकर यह तारीख़ मुक़र्रर की गयी थी। गांधीजी तथा दूसरे कांग्रेसियों को, जिनमें अली-बन्धु भी थे, निमन्त्रण दिया गया था, और उनकी सुविधा का ख़याल करके उसी समय के आस-पास कार्य-समिति की भी बैठक इलाहाबाद में रख ली गयी थी। स्थानिक कांग्रेसी चाहते थे कि बाहर से आये हुए नामी-नामी नेताओं की मौजूदगी से फ़ायदा उठाया जाय और इसलिए उन्होंने बड़े पैमाने पर एक ज़िला-कान्फ्रेंस का आयोजन किया। उन्हें उम्मीद थी कि आस-पास के देहात के किसान लोग बहुत बड़ी तादाद में आ जायँगे।

इन राजनैतिक सभाओं की बदौलत इलाहाबाद में खूब चहल-पहल और जोश छाया हुआ था। इससे कुछ लोगों के दिलों में अजीब घबराहट छा गयी। एक रोज़ एक बैरिस्टर दोस्त से मैंने सुना कि इस आयोजन से कितने ही अंग्रेज़ों के होश ठिकाने न रहे और उन्हें डर हो गया कि शहर में एकाएक कोई बवंडर खड़ा हो जानेवाला है। हिन्दुस्तानी नौकरों पर से उनका विश्वास हट गया और वे अपनी ज़ेब में पिस्तौल रखने लगे। ख़ानगी में यहाँ तक कहा गया कि इलाहाबाद का क़िला इस बात के लिए तैयार रखा गया था कि ज़रूरत पड़ने पर तमाम अंग्रेज़ों को पनाह के लिए वहाँ भेज दिया जाय। मुझे यह सुनकर बड़ा ताज्जुब हुआ और इस बात को समझ न सका कि कोई क्यों इलाहाबाद

जैसे सोये हुए और शान्तिमय शहर में ऐसे किसी बवंडर का अन्देशा रक्खे, ख़ासकर उस समय जब कि ख़ुद अहिंसा का दूत ही वहाँ आ रहा हो। अरे! यहाँ तक कहा गया कि दस मई, (और इत्तिफ़ाक़ से यही तारीख़ मेरी बहन की शादी की नियत हुई थी) १८५७ को मेरठ में जो ग़दर शुरू हुआ था उसीका सालाना जलसा करने की ये तैयारियाँ हो रही हैं।

१९२१ में ख़िलाफ़त-आन्दोलन को बहुत प्रधानता दी गयी थी, इससे कितने ही मौलवी और मुसलमानों के मज़हबी नेताओं ने इस राजनैतिक लड़ाई में बड़ा हाथ बँटाया था। उन्होंने इस हलचल पर एक निश्चित मज़हबी रंग चढ़ा दिया था और मुसलमान लोग आमतौर पर उससे बहुत प्रभावित हुए थे। बहुत-से पश्चिमी रंग में रँगे हुए मुसलमान भी, जिनका कोई ख़ास झुकाव मज़हब की तरफ़ नहीं था, दाढ़ी रखने तथा शरीयत के दूसरे फ़रमानों की पाबन्दी करने लगे थे। बढ़ते हुए पश्चिमी असर के और नये ख़यालात के सबब से मौलवियों का जो असर और रोब घटता जा रहा था वह फिर बढ़ने और मुसलमानों पर अपनी धाक ज़माने लगा। अली-भाइयों ने भी, जो ख़ुद भी मज़हबी तबीयत के आदमी थे, और इसी तरह गांधीजी ने भी, इस सिलसिले को और ताक़त दी, जो मौलवी और मौलानाओं की बहुत ही इज़्ज़त किया करते थे।

इसमें कोई शक नहीं कि गांधीजी बराबर आन्दोलन के धार्मिक और आध्यात्मिक पहलू पर जोर दिया करते थे। उनका धर्म रूढ़ियों से जकड़ा हुआ न था, परन्तु उनकी यह मंशा ज़रूर थी कि जीवन को देखने की दृष्टि धार्मिक हो। और इसलिए सारे आन्दोलन पर उसका बहुत प्रभाव पड़ा था, तथा जहाँ तक जनता से ताल्लुक़ है, वह उसे एक पुनरुद्धार का आन्दोलन मालूम होता था। कांग्रेस के बहुसंख्यक कार्यकर्ता स्वभावत. अपने नेता का अनुकरण करने लगे और कितने ही तो उनकी शब्दावली भी दुहराने लगे। फिर भी कार्य-समिति में गांधीजी के मुख्य-मुख्य साथी थे—मेरे पिताजी, देशबन्धु दास, लाला लाजपतराय और दूसरे लोग—जो साधारण अर्थ में धार्मिक पुरुष न थे, और राजनैतिक मसलों को राजनैतिक कक्षा में ही रखकर विचार करते थे। अपने व्याख्यानों और वक्तव्यों में वे धर्म को नहीं लाया करते थे। मगर वह जो कुछ कहते थे उससे उनके प्रत्यक्ष उदाहरण का अधिक प्रभाव पड़ता था—क्योंकि उन्होंने वह सब बहुत-कुछ छोड़ दिया, जिसको दुनिया मूल्यवान समझती है, और पहले से अधिक सादी रहन-सहन ग्रहण कर ली। त्याग स्वयं ही धर्म का एक चिह्न समझा जाता है और इसने भी पुनरुद्धार के वायु-मण्डल को फैलाने में मदद की।

राजनीति में, क्या हिन्दू और क्या मुसलमान दोनों तरफ़ धार्मिकता की इस बढ़ती से कभी-कभी मुझे परेशानी होती थी। मुझे वह बिलकुल पसन्द न थी। मौलवी, मौलाना और स्वामी तथा ऐसे ही दूसरे लोग जो-कुछ अपने भाषणों में कहते उसका अधिकांश मुझे बहुत बुराई पैदा करनेवाला मालूम होता था।

उनका सारा इतिहास, सारा समाज-शास्त्र और अर्थशास्त्र मुझे ग़लत दिखायी देता था और हर चीज़ को जो मज़हबी झुकाव दिया जाता था, उससे स्पष्ट विचार करना रुक जाता था। कुछ-कुछ तो गांधीजी के भी शब्द-प्रयोग मेरे कानों को खटकते थे— जैसे 'रामराज्य', जिसे वह फिर लाना चाहते हैं। लेकिन उस समय मुझमें दख़ल देने की शक्ति न थी, और मैं इसी ख़याल से तसल्ली कर लिया करता था कि गांधीजी ने उनका प्रयोग इसलिए किया है कि इन शब्दों को सब लोग जानते हैं और जनता इन्हें समझ लेती है। उनमें जनता के हृदय तक पहुँच जाने की विलक्षण स्वभाव-सिद्ध कला है।

लेकिन मैं इन बातों की झंझट में ज़्यादा नहीं पड़ता था। मेरे पास काम इतना ज़्यादा था और हमारे आन्दोलन की प्रगति इस तेज़ी से हो रही थी कि ऐसी छोटी-छोटी बातों की परवा करने की ज़रूरत न थी, क्योंकि उस समय मैं उन्हें वैसा ही न-कुछ समझता था। किसी बड़े आन्दोलन में हर क़िस्म के लोग रहते हैं, और जब तक हमारी असली दिशा सही है, कुछ भँवरों और चक्करों से कुछ बिगड़ नहीं सकता। और ख़ुद गांधीजी को लें, तो वह ऐसे शख़्स थे जिन्हें समझना बहुत मुश्किल था। कभी-कभी तो उनकी भाषा औसत दर्जे के आधुनिक आदमी की समझ में प्रायः नहीं आती थी। लेकिन हम यह मानते थे कि हम उन्हें इतना ज़रूर अच्छी तरह समझ गये हैं कि वह एक महान् और अद्वितीय पुरुष और तेजस्वी नेता हैं और इसलिए हमारी उनपर श्रद्धा थी, और हमने उन्हें अपनी ओर से सब-कुछ करने का अधिकार दे दिया था। अक्सर हम आपस में उनकी ख़ब्तों और विचित्रताओं की चर्चा किया करते थे और कुछ-कुछ दिल्लगी में कहा करते थे कि जब स्वराज्य आ जायेगा, तब इन ख़ब्तों को इस तरह आगे न चलने देंगे।

इतना होने पर भी हममें से बहुत-से लोग राजनैतिक तथा दूसरे मामलों में उनके इतने प्रभाव में थे कि धर्म-क्षेत्र में भी बिलकुल आज़ाद बने रहना असम्भव था। जहाँ सीधे हमले से कामयाबी की उम्मीद न थी, वहाँ ज़रा चक्कर खाकर जाने से बहुत हद तक प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सका। धर्म के बाहरी आचार कभी मेरे दिल में जगह न कर पाये, और सबसे बड़ी बात तो यह कि मुझे इन धार्मिक कहलानेवाले लोगों के द्वारा जनता का चूसा जाना बहुत नापसन्द था, मगर फिर भी मैंने धर्म के प्रति नरमी अख़्तियार कर ली थी। अपने ठेठ बचपन से लेकर किसी भी समय की बनिस्बत १९२१ में मेरा मानसिक झुकाव धर्म की तरफ़ ज़्यादा हुआ था। लेकिन तब भी मैं उसके बहुत नज़दीक नहीं पहुँचा था।

मैं जिस बात का आदर करता था वह था उस आन्दोलन का नैतिक और सदाचार-सम्बन्धी पहलू तथा सत्याग्रह। मैंने अहिंसा के सिद्धान्त को सोलहों आने नहीं मान लिया था, या हमेशा के लिए नहीं अपना लिया था, लेकिन हाँ, वह मुझे अपनी तरफ़ अधिकाधिक खींचता चला जाता था और यह विश्वास मेरे

दिल में पक्का बैठता जाता था कि हिन्दुस्तान की जैसी परिस्थिति बन गयी है, हमारी जैसी परम्परा और जैसे संस्कार हैं उन्हें देखते हुए यही हमारे लिए सही नीति है। राजनीति को आध्यात्मिकता के—संकीर्ण धार्मिक मानी में नहीं—साँचे में ढालना मुझे एक उम्दा ख़याल मालूम हुआ। निस्सन्देह एक उच्च ध्येय को पाने के लिए साधन भी वैसे ही उच्च होने चाहिए—यह एक अच्छा नीति-सिद्धान्त ही नहीं, बल्कि निर्भ्रान्त व्यावहारिक राजनीति भी थी; क्योंकि जो साधन अच्छे नहीं होते, वे अक्सर हमारे उद्देश्य को ही विफल बना देते हैं और नयी समस्याएं और नयी दिक़्क़तें पैदा कर देते हैं। और ऐसी दशा में, एक व्यक्ति या एक क़ौम के लिए, ऐसे साधनों के सामने सिर झुकाना—दल-दल में से गुज़रना कितना बुरा, कितना स्वाभिमान को गिरानेवाला मालूम होता था! उससे अपने को कलुषित किये बिना कोई कैसे बच सकता था? अगर हम सिर झुकाते हैं, या पेट के बल रेंगते हैं, तो कैसे हम अपने गौरव को क़ायम रखते हुए तेज़ी के साथ आगे बढ़ सकते हैं?

उस समय मेरे विचार ऐसे थे। और असहयोग-आन्दोलन ने मुझे वह चीज़ दी कि जो मैं चाहता था—क़ौमी आज़ादी का ध्येय और (जैसा मैंने समझा) निचले दर्जे के लोगों के शोषण का अन्त कर देना, और ऐसे साधन जो मेरे नैतिक भावों के अनुकूल थे और जिन्होंने मुझे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का भान कराया। यह व्यक्तिगत सन्तोष मुझे इतना ज़्यादा मिला कि नाकामयाबी के अन्देशे को भी मैं ज़्यादा परवा न करता था, क्योंकि ऐसी असफलता तो थोड़े समय के लिए ही हो सकती थी। भगवद्गीता के आध्यात्मिक भाग को मैंने न तो समझा था और न उसकी तरफ़ मेरा खिंचाव ही हुआ था; लेकिन हाँ, उन श्लोकों को पढ़ना पसन्द करता था, जो शाम को गांधीजी के आश्रम में प्रार्थना के समय पढ़े जाते थे, और जिनमें यह बतलाया गया है कि मनुष्य को कैसा होना चाहिए: शान्त, स्थिर, गम्भीर, अचल, निष्काम भाव से कर्म करनेवाला और फल के विषय में अनासक्त। मैं ख़ुद बहुत शान्त-स्वभाव का या अनासक्त नहीं हूँ, इसीलिए शायद यह आदर्श मुझे अच्छा लगा होगा।

११

पहिली जेल-यात्रा

१९२१ का साल हमारे लिए एक असाधारण वर्ष था। राष्ट्रीयता और राजनीति और धर्म, भावुकता और धर्मान्धता का एक अजीब मिश्रण हो गया था। इस सबकी तह में किसानों की अशान्ति और बड़े शहरों का बढ़ता हुआ मज़दूर-वर्गीय आन्दोलन था। राष्ट्रीयता और अस्पष्ट किन्तु देशव्यापी ज़बर्दस्त आदर्श-

वाद ने इन सब भिन्न-भिन्न और कभी-कभी परस्पर-विरोधी असन्तोषों को मिला देने का प्रयत्न किया, और इसमें बड़ी हद तक कामयाबी भी मिली। परन्तु इस राष्ट्रीयता को कई शक्तियों से बल मिला था। उसकी तह में थी हिन्दू राष्ट्रीयता, मुस्लिम राष्ट्रीयता, जिसका ध्यान कुछ-कुछ हिन्दुस्तान की सीमा के बाहर भी खिंचा हुआ था, और हिन्दुस्तानी राष्ट्रीयता, जो युग की भावना के अधिक अनुकूल थी। उस समय ये सब एक-दूसरे में मिल-जुलकर साथ-साथ चलने लगी थीं। हर जगह 'हिन्दू-मुसलमान की जय' थी। यह देखने लायक़ बात थी कि किस तरह गांधीजी ने सब वर्गों और सब गिरोह के लोगों पर जादू-सा डाल दिया था, और उन सबको एक दिशा में चलनेवाला एक पचरंगी दल बना लिया था। वास्तव में वह 'लोगों की धुँधली अभिलाषाओं के एक मूर्त्त रूप' (जो वाक्य एक दूसरे ही नेता के विषय में कहा गया है) बन गये थे।

इससे भी ज़्यादा निराली बात यह थी कि ये सब अभिलाषाएं और उमंगें उन विदेशी हाकिमों के प्रति घृणा-भाव से कहीं मुक्त थीं, जिनके ख़िलाफ़ वे इस्तेमाल हो रही थीं। राष्ट्रीयता मूल में ही एक विरोधरूपी भाव है, और यह दूसरे राष्ट्रीय समुदायों के ख़ासकर किसी शासित देश के विरोधी शासकों के ख़िलाफ़ घृणा और क्रोध के भावों पर जीता और पनपता है। १९२१ में हिन्दुस्तान में ब्रिटिश लोगों के ख़िलाफ़ घृणा और क्रोध ज़रूर था, मगर इसी हालतवाले दूसरे मुल्कों के मुक़ाबले यह बहुत ही कम था। इसमें शक नहीं कि यह बात गांधीजी के अहिंसा के रहस्य पर ज़ोर देते रहने के कारण ही हुई है। इसका यह भी कारण था कि सारे देश में आन्दोलन चालू होने के साथ ही यह भावना आगयी थी कि हमारे बन्धन टूट रहे हैं, हमारा बल बढ़ रहा है, और निकट भविष्य में कामयाब हो जाने का व्यापक विश्वास पैदा हो गया था। जब हमारा काम अच्छी तरह चल रहा हो और जब हम जल्दी ही सबल हो जानेवाले हों तो नाराज़ होने और नफ़रत करने से फ़ायदा ही क्या है? हमें लगा कि उदार बनने में हमारा कुछ बिगाड़ नहीं।

मगर हमारे अपने ही कुछ देशवासियों के प्रति, जो हमारे ख़िलाफ़ हो गये थे और राष्ट्रीय आन्दोलन का विरोध करते थे, हम अपने दिलों में इतने उदार नहीं थे, हालाँकि जो-जो काम हम करते थे और ख़ूब आगा-पीछा सोचकर करते थे, उनके प्रति घृणा या क्रोध का तो कोई सवाल ही न था, क्योंकि उनकी कोई वुक़त नहीं थी, और हम उनकी उपेक्षा कर सकते थे। मगर हमारे दिल की गहराई में उनकी कमज़ोरी, अवसरवादिता तथा उनके द्वारा राष्ट्रीय सम्मान और स्वाभिमान के गिरा दिये जाने के कारण घृणा भरी हुई थी।

इस तरह हम चलते रहे—अस्पष्टता से, किन्तु उत्कटता के साथ, और हम अपने कार्य में सुध-बुध भूले हुए थे। मगर लक्ष्य के बारे में स्पष्ट विचार का बिलकुल अभाव था। अब तो इस बात पर ताज्जुब ही होता है कि हमने

सैद्धान्तिक पहलुओं को, अपने आन्दोलन के बुनियादी उसूलों को, और जिस निश्चित चीज़ को हमें प्राप्त करना है उसे, किस बुरी तरह से भुला दिया था। बेशक, हम स्वराज के बारे में बहुत बढ़-चढ़कर बातें करते थे, मगर शायद हर व्यक्ति जैसा चाहता वैसा ही उसका मतलब निकाला करता था। ज़्यादातर नवयुवकों के लिए तो इसका मतलब था राजनैतिक आज़ादी या ऐसी ही कोई चीज़, और लोकतन्त्री ढंग की शासन-प्रणाली, और यही बात हम अपने सार्वजनिक भाषणों में कहा करते थे। बहुत लोगों ने यह सोचा था कि इससे लाज़मी तौर पर मज़दूरों और किसानों के बोझे, जिनके तले वे कुचले जा रहे हैं, हलके हो जायँगे। मगर यह ज़ाहिर था कि हमारे ज़्यादातर नेताओं के दिमाग़ में स्वराज का मतलब आज़ादी से बहुत छोटी चीज़ थी। गांधीजी इस विषय पर एक अजीब तौर पर अस्पष्ट रहते थे और इस बारे में साफ़ विचार कर लेनेवालों को वह बढ़ावा नहीं देते थे। मगर हाँ, हमेशा अस्पष्टता से ही किन्तु निश्चित रूप से, पददलित लोगों को लक्ष्य करके बोला करते थे, और इससे हम कइयों को बड़ी तसल्ली होती थी, हालाँकि उसीके साथ वह ऊँची श्रेणीवालों को भी कई प्रकार के आश्वासन दे डालते थे। गांधीजी का ज़ोर किसी सवाल को बुद्धि से समझने पर कभी नहीं होता था, बल्कि चरित्रबल और पवित्रता पर रहता था; और उन्हें हिन्दुस्तान के लोगों को दृढ़ता और चरित्रबल देने में आश्चर्यजनक सफलता मिली भी। फिर भी ऐसे बहुत-से लोग थे, जिनमें न अधिक दृढ़ता बढ़ी, न चरित्रबल बढ़ा, मगर जो समझ बैठे थे कि ढीला-ढाला शरीर और कुम्हलाया हुआ चेहरा ही पवित्रता की प्रतिमूर्ति है।

जनता की यह असाधारण चुस्ती और मज़बूती ही हममें विश्वास भर देती थी। हिम्मत हारे, पिछड़े और दबे हुए लोग अचानक अपनी कमर सीधी और सिर ऊँचा करके चलने लगे और एक देशव्यापी, सुनियन्त्रित और सम्मिलित उपाय में जुट पड़े! हमने समझा कि इस उपाय से ही जनता को अदम्य शक्ति मिल जायगी। मगर उपाय के साथ उसके मूलस्थ विचार की आवश्यकता का ख़याल हमने छोड़ दिया। हमने भुला दिया कि एक निश्चित विचार-प्रणाली और उद्देश्य के बिना, जनता की शक्ति और उत्साह बहुत-कुछ धुँधुआकर रह जायगा। किसी हद तक हमारे आन्दोलन में धर्म-जाग्रति के बल ने हमें आगे बढ़ाया। और वह यह भावना थी कि राजनैतिक या आर्थिक आन्दोलनों के लिए या अन्यायों को दूर करने के लिए अहिंसा का प्रयोग करना एक नया ही सन्देश है, जो हमारा राष्ट्र संसार को देगा। सभी जातियों और सभी राष्ट्रों में जो यह विचित्र मिथ्याविश्वास फैल जाता है कि हमारी ही जाति एक विशेष प्रकार से संसार में सबसे ऊँची है, उसीमें हम फँस गये थे। अहिंसा, युद्ध या सब प्रकार की हिंसात्मक लड़ाइयों में, शस्त्रास्त्रों के बजाय एक नैतिक शस्त्र का काम दे सकती है। यह एक कोरा नैतिक उपाय ही नहीं, बल्कि रामबाण भी है।

मेरे ख़याल से, शायद ही कोई गांधीजी के मशीन और वर्तमान सभ्यता-विषयक पुराने विचारों से सहमत था। हम समझते थे कि खुद वह भी अपने विचारों को कल्पना-सृष्टि या मनोराज्य और वर्तमान परिस्थितियों में ज़्यादातर अव्यवहार्य समझते होंगे। निश्चय ही, हममें से ज़्यादातर लोग तो आधुनिक सभ्यता की नियामतों को त्यागने को तैयार न थे, हालाँकि हमें चाहे यह महसूस हो कि हिन्दुस्तान की परिस्थिति के मुताबिक़ उनमें कुछ परिवर्तन कर देना ठीक होगा। खुद मैं तो बड़ी मशीनरी और तेज़ सफ़र को हमेशा पसन्द करता रहा हूँ। फिर भी इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि गांधीजी के आदर्श का बहुत लोगों पर असर पड़ा और वह मशीनों और उनके सब परिणामों को तोलने-जोखने लगे। इस तरह, कुछ लोग तो भविष्यकाल की तरफ़ देखने लगे और दूसरे कुछ भूतकाल की तरफ़ निगाह डालने लगे। और कुतूहल की बात यह है कि दोनों ही तरह के लोगों ने सोचा कि हम जिस सम्मिलित उपाय में लगे हुए हैं वह मिलकर करने योग्य है, और इसी भावना की बदौलत खुशी-खुशी बलिदान करना और आत्म-त्याग के लिए तैयार होना आसान हो गया।

मैं आन्दोलन में दिलोजान से जुट पड़ा और दूसरे बहुत-से लोगों ने भी ऐसा किया। मैंने अपने दूसरे कामकाज और सम्बन्ध, पुराने मित्र, पुस्तकें और अख़बार तक, सिवा उस हद तक कि जितना उनका चालू काम से ताल्लुक़ था, सब छोड़ दिये। उस समय तक मेरा प्रचलित किताबों का कुछ-कुछ पढ़ना जारी था और संसार में क्या-क्या घटनाएं घटती जाती हैं इसको जानने की कोशिश करता था। मगर अब तो इसके लिए वक़्त ही नहीं था। हालाँकि पारिवारिक मोह ज़बरदस्त था, मगर मैं अपने परिवार, अपनी पत्नी, अपनी बेटी, सबको क़रीब-क़रीब भूल ही गया था। बहुत अरसे के बाद मुझे मालूम हुआ कि उन दिनों मैं उनको कितनी कठिनाई और कितने कष्टों का कारण बन गया था, और मेरी पत्नी ने मेरे प्रति कितने विलक्षण धीरज और सहनशीलता का परिचय दिया था। दफ़्तर और कमिटी की मीटिंगें और लोगों की भीड़ ही मानो मेरा घर बन गया था। "गाँवों में जाओ" यही सबकी आवाज़ थी, और हम कोसों खेतों में चलकर जाते थे, दूर-दूर के गाँवों में पहुँचते थे, और किसानों की सभाओं में भाषण देते थे। मैं रोम-रोम में जनता की सामूहिक भावना का और जनता को प्रभावित करने की शक्ति का अनुभव करता था। मैं कुछ-कुछ भीड़ की मनोभावना, व शहर की जनता और किसानों के फ़र्क़ को समझने लगा, और मुझे धूल और तकलीफ़ों और बड़े-बड़े मजमों के धक्कम-धक्कों में मज़ा आने लगा, हालाँकि उनमें अनुशासन के न होने से मैं अक्सर चिढ़ जाता था। उसके बाद तो कभी-कभी मुझे विरोधी और क्रुद्ध जन-समूहों के सामने भी जाना पड़ा है, जिनकी उग्रता इतनी बढ़ी हुई थी कि एक चिनगारी भी उन्हें भड़का सकती थी, पर शुरू के तजुर्बे से और उससे उत्पन्न आत्म-विश्वास से मुझे बड़ी मदद मिली। मैं हमेशा

विश्वास के साथ सीधा भीड़ में घुस जाता। अभी तक तो उसने मेरे प्रति सद्व्यवहार और गुण-ग्राहकता का ही परिचय दिया है, चाहे हममें मतभेद ही रहा हो। मगर भीड़ की गति के सम्बन्ध में कुछ कह नहीं सकते; सम्भव है भविष्य में मुझे कुछ और ही अनुभव मिलें।

मैं भीड़ को अपना समझता था और भीड़ मुझे अपना लेती थी, मगर उनमें मैं अपने-आपको भुला नहीं देता था। मैं अपने को उससे हमेशा अलग ही समझता रहा। मैं अपनी अलग मानसिक स्थिति से उन्हें समीक्षक-दृष्टि से देखता था, और मुझे ताज्जुब होता था कि मैं अपने आसपास जमा होनेवाले इन हज़ारों आदमियों से हर बात में, अपनी आदतों में, इच्छाओं में, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण में बहुत भिन्न होते हुए भी, इन लोगों की सदिच्छा और विश्वास कैसे हासिल कर सका? क्या इसका सबब यह तो नहीं था कि इन लोगों ने मुझे मेरे मूल स्वरूप से कुछ जुदा समझ लिया? जब वे मुझे ज़्यादा पहचानने लगेंगे तब भी क्या वे मुझे चाहेंगे? क्या मैं लम्बी-चौड़ी बातें बना-बनाकर उनकी सदिच्छा प्राप्त कर रहा हूँ? मैंने उनके सामने सच्ची और खरी बातें कहने की कोशिश की, कभी-कभी मैंने उनसे सख़्ती से बातचीत की और उनके कई प्रिय विश्वासों और रीतियों की नुक़्ताचीनी की, फिर भी वे मेरी इन सब बातों को बर्दाश्त कर लेते थे। मगर मेरा यह विचार न हटा कि उनका मुझपर प्रेम, मैं जैसा कुछ हूँ उसके लिए नहीं, बल्कि मेरी बाबत उन्होंने जो-कुछ सुन्दर कल्पना कर ली थी उसके कारण था। यह झूठी कल्पना कितने समय तक टिकी रह सकती थी? और वह टिकी रहने भी क्यों दी जाय? जब उनकी यह कल्पना झूठी निकलेगी और उन्हें असलियत मालूम होगी, तब क्या होगा?

मुझमें तो कई तरह का अभिमान है, मगर भीड़ के इन भोले-भाले लोगों में तो ऐसे किसी अभिमान का कोई सवाल ही नहीं हो सकता। उनमें कोई दिखावा न था, और न कोई आडम्बर ही था, जैसा कि मध्यम-वर्ग के कई लोगों में, जो अपने को उनसे अच्छा समझते हैं, होता है। हाँ, वे जड़ बेशक थे और व्यक्तिगत रूप से ऐसे न थे कि उनमें कोई दिलचस्पी ले; मगर समुदाय-रूप में उनको देखकर तो असीम करुणा और दुःख का भाव पैदा होता था।

मगर हमारी कान्फ्रेंसों में; जहाँ हमारे चुने हुए कार्यकर्त्ता (जिनमें मैं भी शामिल था) मंच पर व्याख्यानबाज़ी करते थे, कुछ दूसरा दृश्य था। वहाँ काफ़ी दिखावा होता था, और हमारे धुँआधार भाषणों में आडम्बर की कोई कमी न थी। हममें से सभी थोड़े-बहुत इस मामले में क़ुसूरवार रहे होंगे, मगर ख़िलाफ़त के कई छोटे नेता तो इसमें सबसे ज़्यादा बढ़े हुए थे। बहुत लोगों की भीड़ के सामने मंच पर खड़े होकर स्वाभाविक बर्ताव रखना आसान नहीं है; और इस तरह लोगों में प्रसिद्धि का हममें से बहुत थोड़े लोगों को तजुर्बा था। इसलिए हम लोग अपने ख़याल के मुताबिक़ नेताओं को जैसा होना चाहिए उसी तरह

अपने-आपको विचारपूर्ण, गम्भीर और स्थिर दिखाने की कोशिश करते थे। जब हम चलते या बात करते या हँसते, तो हमें यह ख़याल रहता था कि हज़ारों आँखें हमें घूर रही हैं और यह ध्यान में रखते हुए हम सब-कुछ करते थे। हमारे भाषण अक्सर बड़े ओजस्वी होते थे, मगर अक्सर वे निरुद्देश्य भी होते थे। दूसरे लोग हमको जैसा देखते हैं उसी तरह अपने-आपको देखना मुश्किल ही है। इसलिए जब मैं स्वयं अपनी टीका-टिप्पणी न कर सका, तो मैंने दूसरों के आचार-व्यवहार पर ग़ौर करना शुरू किया, और इस काम में मुझे ख़ूब मज़ा आया। और फिर यह विचार भी आता था कि शायद मैं भी दूसरों को इतना ही वाहियात दिखाई देता होऊँगा।

१९२१ भर कांग्रेस-कार्यकर्त्ताओं की व्यक्तिगत गिरफ़्तारियाँ और सज़ाएं होती रहीं, मगर सामूहिक गिरफ़्तारियाँ नहीं हुईं। अली-बन्धुओं को हिन्दुस्तानी फ़ौज में असन्तोष पैदा करने के लिए लम्बी-लम्बी सज़ाएं दी गयी थीं। जिन शब्दों के लिए उन्हें सज़ा मिली थी, उनको सैकड़ों मंचों से हज़ारों आदमियों ने दोहराया। अपने कुछ भाषणों के कारण राजद्रोह का मुक़दमा चलाये जाने की धमकी मुझे गर्मियों में दी गयी थी। मगर उस वक़्त ऐसी कोई कार्रवाई नहीं की गयी। साल के अख़ीर में मामला बहुत अधिक बढ़ गया। शाहज़ादे हिन्दुस्तान आनेवाले थे, और उनकी आमद के मुतल्लिक़ की जानेवाली तमाम कार्रवाइयों का बहिष्कार करने की घोषणा कांग्रेस ने कर दी थी। नवम्बर के अख़ीर तक बंगाल में कांग्रेस के स्वयंसेवक ग़ैरक़ानूनी क़रार दे दिये गये, और फिर युक्तप्रान्त के लिए भी ऐसी ही घोषणा निकल गयी। देशबन्धुदास ने बंगाल को एक बड़ा जोशीला सन्देश दिया—"मैं अनुभव करता हूँ कि मेरे हाथों में हथकड़ियाँ पड़ी हुई हैं और मेरा सारा शरीर लोहे की वज़नी ज़ंजीरों से जकड़ा हुआ है। यह है ग़ुलामी की वेदना और यन्त्रणा। सारा हिन्दुस्तान एक बड़ा जेलख़ाना हो गया है! कांग्रेस का काम हर हालत में जारी रहना चाहिए—इसकी परवा नहीं कि मैं पकड़ लिया जाऊँ या न पकड़ा जाऊँ; इसकी परवा नहीं कि मैं मर जाऊँ या ज़िन्दा रहूँ।" यू० पी० में भी हमने सरकार की चुनौती स्वीकार कर ली। हमने न सिर्फ़ यही एलान किया कि हमारा स्वयंसेवक-संगठन क़ायम रहेगा, बल्कि दैनिक पत्रों में अपने स्वयंसेवकों की नामावलियाँ भी छपवा दीं। पहली फ़ेहरिस्त में सबसे ऊपर मेरे पिताजी का नाम था। वह स्वयंसेवक तो नहीं थे, मगर सिर्फ़ सरकारी आज्ञा का उल्लंघन करने के लिए ही वह शामिल हो गये थे और उन्होंने अपना नाम दे दिया था। दिसम्बर के शुरू में ही, हमारे प्रान्त में युवराज के आने के कुछ ही दिन पहले, सामूहिक गिरफ़्तारियाँ शुरू हुईं।

हमने जान लिया कि आख़िर अब पासा पड़ चुका है और कांग्रेस और सरकार का अनिवार्य संघर्ष अब होने ही वाला है। अभी तक जेल एक अपरिचित जगह थी और वहाँ जाना एक नयी बात थी। एक दिन मैं इलाहाबाद के कांग्रेस-

दफ़्तर में ज़रा देर तक बक़ाया काम निपटा रहा था। इतने ही में एक क्लर्क ज़रा उत्तेजित होता हुआ आया और उसने कहा कि पुलिस तलाशी का वारण्ट लेकर आयी है, और दफ़्तर की इमारत को घेर रही है। निःसन्देह मैं भी थोड़ा उत्तेजित तो हो गया, क्योंकि मेरे लिए भी इस तरह की यह पहली ही बात थी, मगर दृढ़, शान्त और निश्चिन्त प्रतीत होने तथा पुलिस के आने और जाने से प्रभावित न होने की अभिलाषा प्रबल थी। इसलिए मैंने एक क्लर्क से कहा कि जब पुलिस-अफ़सर दफ़्तर के कमरों में तलाशी ले तो तुम उसके साथ-साथ रहो, और बाक़ी कर्मचारियों से अपना-अपना काम सदा की तरह करने और पुलिस की तरफ़ ध्यान न देने के लिए कहा। कुछ देर के बाद एक मित्र व साथी कार्यकर्त्ता, जो दफ़्तर के बाहर ही गिरफ़्तार कर लिये गये थे, एक पुलिस-मैन के साथ, मेरे पास मुझसे विदा लेने आये। मुझे इन नयी घटनाओं को मामूली घटनाएं समझना चाहिए, यह अभिमान मुझमें इतना भर गया था कि मैं अपने साथी कार्यकर्त्ता के साथ बिलकुल रुखाई से पेश आया। उनसे और पुलिस-मैन से मैंने कहा कि मैं जबतक अपनी चिट्ठी पूरी न कर लूं, तबतक ज़रा ठहरे रहें। जल्दी ही शहर में और भी लोगों के गिरफ़्तार होने की ख़बर आयी। आख़िरकार मैंने यह तय किया मैं घर जाऊँ और देखूँ कि वहाँ क्या हो रहा है। वहाँ भी पुलिस के दर्शन हुए। वह हमारे उस लम्बे-चौड़े घर के एक हिस्से की तलाशी ले रही थी और मालूम हुआ कि पिताजी और मुझे दोनों को गिरफ़्तार करने आयी है।

युवराज के आगमन के बहिष्कार-सम्बन्धी कार्य-क्रम के लिए हमारा और कोई कार्य इतना उपयुक्त न होता। युवराज जहाँ-जहाँ गये, वहाँ-वहाँ उन्हें हड़तालें और सूनी सड़क ही मिली। जब वह इलाहाबाद आये, तो वह एक सुनसान शहर मालूम पड़ा। कुछ दिनों बाद कलकत्ता ने भी कुछ समय के लिए अचानक अपना सारा कारोबार बन्द कर दिया। युवराज के लिए यह सब एक मुसीबत थी। मगर उनका कोई क़सूर न था, और न उनके ख़िलाफ़ कोई दुर्भावना थी। हाँ, हिन्दुस्तान की सरकार ने अलबत्ता उनके व्यक्तित्व का बेजा फ़ायदा उठाने की कोशिश की थी, इसलिए कि अपनी गिरती हुई प्रतिष्ठा को बनाये रख सके।

इसके बाद तो ख़ासकर युक्तप्रांत और बंगाल में गिरफ़्तारियों और सज़ाओं की धूम मच गयी। इन प्रान्तों में सभी ख़ास-ख़ास कांग्रेसी नेता और काम करनेवाले पकड़ लिये गये, और मामूली स्वयंसेवक तो हज़ारों की तादाद में जेल गये। शुरू-शुरू में ज़्यादातर शहर के ही लोग थे, और जेल जाने के लिए स्वयं-सेवकों की तादाद मानो ख़त्म ही न होती थी। युक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमेटी के लोग सब-के-सब (५५ व्यक्ति), जब वे कमिटी की एक मीटिंग कर रहे थे, एक साथ गिरफ़्तार कर लिये गये। कई ऐसे लोगों को भी, जिन्होंने अभी तक कांग्रेस या राजनैतिक हलचल में कोई हिस्सा नहीं लिया था, जोश चढ़ आया, और के

गिरफ़्तार होने की ज़िद करने लगे। ऐसी भी मिसालें हुईं कि कुछ सरकारी क्लर्क, जो शाम को दफ़्तर से लौट रहे थे, इसी जोश में बह गये, और घर के बजाय जेल में जा पहुँचे। नवयुवक और बच्चे पुलिस की लारियों के भीतर घुस जाते थे और बाहर निकलने से इन्कार कर देते थे। हम जेल के अन्दर से, हर शाम को अपने परिचित नारे और आवाज़ें सुनते थे, जिनसे हमें पता लगता था कि पुलिस की लारियों-पर-लारियाँ चली आ रही हैं। जेलें भर गयी थीं, और जेल-अफ़सर इस असाधारण बात से परेशान हो गये थे। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि लारी के साथ जो वारण्ट आता था उसमें सिर्फ़ लाये जानेवालों की तादाद ही लिखी रहती थी, नाम नहीं लिखे होते थे या न लिखे जा सकते थे। और वास्तव में लिखी तादाद से भी ज़्यादा व्यक्ति लारी में से निकलते थे, तब जेल-अधिकारी यह नहीं समझ पाते थे कि इस अजीब परिस्थिति में क्या करना चाहिए। जेल-मैन्युअल में इसकी बाबत कोई हिदायत नहीं थी।

धीरे-धीरे सरकार ने हर किसीको गिरफ़्तार कर लेने की नीति छोड़ दी; सिर्फ़ ख़ास-ख़ास कार्यकर्त्ता चुनकर पकड़े जाने लगे। धीरे-धीरे लोगों के उत्साह की पहली बाढ़ भी उतर गयी, और सभी विश्वस्त कार्यकर्त्ताओं के जेल चले जाने से अनिश्चय और असहायता की भावना फैल गयी। परन्तु यह सब क्षणिक ही था। वातावरण में तो बिजली भरी हुई थी और चारों ओर गड़गड़ाहट हो रही थी। ऐसा जान पड़ता था कि अन्दर-ही-अन्दर क्रान्ति की तैयारी हो रही है। दिसम्बर १९२१ और जनवरी १९२२ में, यह अनुमान किया जाता है कि, कोई ३० हज़ार आदमियों को असहयोग के सम्बन्ध में सज़ाएं मिलीं। हालाँकि ज़्यादातर प्रमुख व्यक्ति और काम करनेवाले जेल चले गये, मगर इस सारी लड़ाई के नेता महात्मा गांधी फिर भी बाहर थे, जो रोज़ाना लोगों को अपने सन्देश देते और हिदायतें जारी करते रहते थे, जिनसे लोगों को स्फूर्ति मिलती थी और कई अवाञ्छनीय बातें होने से बच जाती थीं। सरकार ने उनपर अभी तक हाथ नहीं डाला था, क्योंकि उसे डर था कि शायद इसका नतीजा ख़राब हो और कहीं हिन्दुस्तानी फ़ौज और पुलिस बिगड़ न उठे।

अचानक १९२२ की फ़रवरी के शुरू में ही सारा दृश्य बदल गया, और जेल में ही हमने बड़े आश्चर्य और भय के साथ सुना कि गांधीजी ने सविनय भंग की लड़ाई रोक दी और सत्याग्रह स्थगित कर दिया है। हमने पढ़ा कि यह इसलिए किया गया कि चौरीचौरा नामक गाँव के पास लोगों की एक भीड़ ने बदले में पुलिस-स्टेशन में आग लगा दी थी और उसमें क़रीब आधे दर्जन पुलिसवालों को जला डाला था।

जब हमें मालूम हुआ कि ऐसे वक़्त में, जब कि हम अपनी स्थिति मज़बूत करते जा रहे थे और सभी मोर्चों पर आगे बढ़ रहे थे, हमारी लड़ाई बन्द कर दी गयी है, तो हम बहुत बिगड़े। मगर हम जेलवालों की मायूसी और नारा-

ज़गी से हो ही क्या सकता था ? सत्याग्रह बन्द हो गया, और उसके साथ ही असहयोग भी जाता रहा। कई महीनों की दिक़्क़त और परेशानी के बाद सरकार को आराम की साँस मिली, और पहली बार उसे अपनी तरफ़ से हमला शुरू करने का मौक़ा मिला। कुछ हफ़्तों बाद उसने गांधीजी को गिरफ़्तार कर लिया और उन्हें लम्बी क़ैद की सज़ा दे दी।

१२

अहिंसा और तलवार का न्याय

चौरीचौरा-कांड के बाद हमारे आन्दोलन के एकाएक स्थगित कर दिये जाने से, मेरा ख़याल है, कांग्रेस के सभी प्रमुख नेताओं में (अवश्य ही गांधीजी को छोड़कर) बहुत ही नाराज़गी फैली थी। मेरे पिताजी, जो उस वक़्त जेल में थे, उसपर बहुत ही बिगड़े थे। स्वभावतया नौजवान कांग्रेसियों को तो यह बात और भी ज़्यादा बुरी लगी थी। हमारी बढ़ती हुई उम्मीदें धूल में मिल गयीं। इसलिए उसके ख़िलाफ़ इतनी नाराज़गी का फैलना स्वाभाविक ही था। आन्दोलन के स्थगित किये जाने से जो तकलीफ़ हुई उससे भी ज़्यादा तकलीफ़ स्थगित करने के जो कारण बताये गये उनसे तथा उन कारणों से पैदा होनेवाले नतीजों से हुई। हो सकता है कि चौरीचौरा एक खेदजनक घटना हो, वह थी भी खेदजनक और अहिंसात्मक आन्दोलन के भाव के बिलकुल ख़िलाफ़। लेकिन क्या हमारी आज़ादी की राष्ट्रीय लड़ाई कम-से-कम कुछ वक़्त के लिये महज़ इसलिए बन्द हो जाया करेगी कि कहीं बहुत दूर के किसी कोने में पड़े गांव में किसानों की उत्तेजित भीड़ ने कोई हिंसात्मक काम कर डाला ? अगर इस तरह अचानक ख़ून-ख़राबी का यही ज़रूरी नतीजा होना है, तब तो इस बात में कोई शक नहीं कि अहिंसात्मक लड़ाई के शास्त्र और उसके मूल सिद्धान्त में कुछ कमी है; क्योंकि हम लोगों को इसी तरह की किसी-न-किसी अनचाही घटना के न होने की गारण्टी करना ग़ैरमुमकिन मालूम होता था। क्या हमारे लिए यह लाज़िमी है कि आज़ादी की लड़ाई में आगे क़दम रखने से पहले हम हिन्दुस्तान के तीस करोड़ से भी ज़्यादा लोगों को अहिंसात्मक लड़ाई का उसूल और उसका अमल सिखा दें, और, यही क्यों, हममें ऐसे कितने हैं जो यह कह सकते हैं कि पुलिस से बहुत ज़्यादा उत्तेजना मिलने पर भी हम लोग पूरी तरह शान्त रह सकेंगे ? लेकिन अगर हम इसमें कामयाब भी हो जायें, तो जो बहुत-से भड़कानेवाले एजेण्ट और ख़ुशामदख़ोर वग़ैरा हमारे आन्दोलन में आ घुसते हैं, और या तो ख़ुद ही कोई मारकाट कर डालते हैं या दूसरों से करा देते हैं, उनका क्या होगा ? अगर अहिंसात्मक लड़ाई के लिए यही शर्त रही कि वह तभी चल सकती है जब कहीं कोई

ज़रा भी खून-ख़राबी न करें, तब तो अहिंसात्मक लड़ाई हमेशा असफल ही रहेगी।

हम लोगों ने अहिंसा के तरीक़े को इसलिये मंजूर किया था, और कांग्रेस ने भी इसलिये उसे अपनाया था कि हमें यह विश्वास था कि वह तरीक़ा कारगर है। गांधीजी ने उसे मुल्क के सामने महज़ इसीलिए नहीं रखा था कि वह सही तरीक़ा है, बल्कि इसलिए भी कि हमारे मतलब के लिये वह सबसे ज़्यादा कारगर था। यद्यपि उसका नाम नकार में है, तो भी वह है बहुत ही बल और प्रभाव रखनेवाला तरीक़ा, और ऐसा तरीक़ा जो ज़ालिम की ख़्वाहिश के सामने चुपचाप सिर झुकाने के बिलकुल खिलाफ़ था। वह तरीक़ा कायरों का तरीक़ा नहीं था जिसमें लड़ाई से मुँह छिपाया जाये, बल्कि बुराई और क़ौमी गुलामी की मुख़ालिफ़त करने के लिए बहादुरों का तरीक़ा था। लेकिन अगर किन्हीं भी थोड़े से शख़्सों के—मुमकिन है वे दोस्ती का लबादा ओढ़े हुए हमारे दुश्मन हों—हाथ में यह ताक़त हो कि ऊटपटांग बेतहाशा कामों से हमारे आन्दोलन को रोक या ख़त्म कर सकते हैं, तो बहादुराना-से-बहादुराना और मजबूत-से-मजबूत तरीक़े से भी आख़िर क्या फ़ायदा?

धारा-प्रवाह बोलने की और लोगों को समझाने की ताक़त गांधीजी में कसरत से मौजूद है। अहिंसा का और शान्तिमय असहयोग का रास्ता अख़्त्यार कराने के लिये उन्होंने अपनी ताक़त से पूरा-पूरा काम लिया था। उनकी भाषा सीधी-सादी थी, उसमें बनावट बिलकुल न थी। उनकी आवाज़ और मुख-मुद्रा शान्त और साफ़ थी। उसमें विकार का नामोनिशान भी न था, लेकिन बर्फ़ की उस ऊपरी चादर के नीचे एक ठोस जोश और उमंग और जलती हुई ज्वाला की गरमी थी। उनके मुख से शब्द उड़-उड़कर ठेठ हमारे दिलो-दिमाग़ के भीतरी-से-भीतरी कोने में घर कर गये, और उन्होंने वहाँ एक अजीब खलबली पैदा कर दी। उन्होंने जो रास्ता बताया था वह कड़ा और मुश्किल था, लेकिन था बहादुरी का, और ऐसा मालूम पड़ता था कि वह आज़ादी के लक्ष्य पर हमें ज़रूर पहुंचा देगा। १९२० में 'तलवार का न्याय' नाम के एक नामी लेख में उन्होंने लिखा था—

"मैं यह विश्वास ज़रूर रखता हूँ कि अगर सिर्फ़ बुज़दिली और हिंसा में ही चुनाव करना हो तो मैं हिंसा को चुनने की सलाह दूँगा। मैं यह पसन्द करूँगा कि हिन्दुस्तान अपनी इज़्ज़त बचाने के लिए हथियारों की मदद ले, बनिस्बत इसके कि वह कायरों की तरह खुद अपनी बेइज़्ज़ती का असहाय शिकार हो जाये या बना रहे। लेकिन मेरा विश्वास है कि अहिंसा हिंसा से कहीं ऊँची है, सज़ा की बनिस्बत माफ़ी देना कहीं ज़्यादा बहादुरी का काम है। 'क्षमा वीरस्य भूषणम्' : क्षमा से वीर की शोभा बढ़ती है। लेकिन सज़ा न देना उसी हालत में क्षमा होती है जब सज़ा देने की ताक़त हो। किसी असहाय जीव का यह कहना कि मैंने अपने से बलवान को क्षमा किया, कोई मानी नहीं रखता। जब एक चूहा बिल्ली को अपने शरीर के टुकड़े-टुकड़े करने देता है तब वह बिल्ली

को क्षमा नहीं करता।...लेकिन मैं यह नहीं समझता कि हिन्दुस्तान कायर है। न मैं यही समझता हूँ कि मैं बिलकुल असहाय हूँ......।

"कोई मुझे समझने में ग़लती न करे। ताक़त शारीरिक बल से नहीं आती, वह तो अदम्य इच्छा-शक्ति से ही आती है।

"कोई यह न समझे कि मैं हवाई और ख़याली आदमी हूँ। मैं तो व्यावहारिक आदर्शवादी होने का दावा करता हूँ। अहिंसा-धर्म महज़ ऋषियों और महात्माओं के लिए ही नहीं है, वह तो आम लोगों के लिए भी है। जैसे पशुओं के लिए हिंसा प्रकृति का नियम है वैसे ही अहिंसा हम मनुष्यों की प्रकृति का क़ानून। पशुओं की आत्मा सोती पड़ी ही रहती है और वह शारीरिक बल के अलावा और किसी क़ानून को जानती ही नहीं। मनुष्य के गौरव के लिए आवश्यक है कि वह अधिक ऊँचे क़ानून की शक्ति, आत्मा की शक्ति के सामने सिर झुकावे।

"इसीलिए मैंने हिन्दुस्तान के सामने आत्म-बलिदान का प्राचीन नियम उपस्थित करने का साहस किया है, क्योंकि सत्याग्रह और उसकी शाखाएं, सहयोग और सविनय प्रतिरोध, कष्ट-सहन के नियम के दूसरे नामों के अलावा और कुछ नहीं हैं। जिन ऋषियों ने हिंसा में से अहिंसा का नियम ढूँढ़ निकाला, वे न्यूटन से ज़्यादा प्रतिभाशाली थे। वे ख़ुद वेलिंगटन से ज़्यादा योद्धा थे। वे हथियार चलाना जानते थे, लेकिन अपने अनुभव से उन्होंने उन्हें बेकार पाया और भयभीत दुनियां को यह सिखाया कि उसका छुटकारा हिंसा के ज़रिये नहीं होगा बल्कि अहिंसा के ज़रिये होगा।

"अपनी सक्रिय दशा में अहिंसा के मानी हैं जानबूझ कर कष्ट सहन करना। उसके मानी यह नहीं हैं कि आप बुरा करने वाले की इच्छा के सामने चुपचाप अपना सिर झुका दें, बल्कि उसके मानी यह हैं कि हम ज़ालिम की इच्छा के ख़िलाफ़ अपनी पूरी आत्मा को भिड़ा दें। अपनी हस्ती के इस क़ानून के मुताबिक़ काम करते हुए, महज़ एक शख़्स के लिए भी यह मुमकिन है कि वह अपनी इज़्ज़त अपने धर्म और अपनी आत्मा को बचाने के लिए, किसी अन्यायी साम्राज्य की ताक़त को ललकार दे और उसके साम्राज्य के पुनरुद्धार या पतन की नींव डाल दे।

"और मैं हिन्दुस्तान को अहिंसा का रास्ता अख़्त्यार करने के लिए इसलिए नहीं कहता कि वह कमज़ोर है। मैं चाहता हूँ कि वह अपनी ताक़त और अपने बल-भरोसे को जानते हुए अहिंसा पर अमल करे...मैं चाहता हूँ कि हिन्दुस्तान यह पहचान ले कि उसके एक आत्मा है, जिसका नाश नहीं हो सकता और जो सारी शारीरिक कमज़ोरियों पर विजय पा सकती है और सारी दुनिया के शारीरिक बलों का मुक़ाबला कर सकती है।......

"इस असहयोग को मैं 'सिनफ़िन'-आंदोलन से अलग समझता हूँ; क्योंकि इसका जिस तरह से ख़याल किया गया है उस तरह वह हिंसा के साथ साथ कभी हो ही नहीं सकता। लेकिन मैं तो हिंसा के सम्प्रदाय को भी न्यौता देता हूँ कि वे

इस शान्तिमय असहयोग की परीक्षा तो करें। वह अपनी अन्दरूनी कमज़ोरी की वजह से असफल न होगा। हाँ, अगर ज़्यादा तादाद में लोग उसे अख़्तियार न करें, तो वह असफल हो सकता है। वही वक़्त असली ख़तरे का वक़्त होगा; क्योंकि उस वक़्त वे उच्चात्मा जो अधिक काल तक राष्ट्रीय अपमान सहन नहीं कर सकते, अपना गुस्सा नहीं रोक सकेंगे। वे हिंसा का रास्ता अख़्तियार करेंगे। जहाँ तक मैं जानता हूं, वे ग़ुलामी से अपना या देश का छुटकारा किये बिना ही बरबाद हो जायेंगे। अगर हिंदुस्तान तलवार के पक्ष को ग्रहण करले तो मुमकिन है कि वह थोड़ी देर को विजय पा ले। परन्तु उस वक़्त हिन्दुस्तान के लिए मेरे हृदय में गर्व न होगा। मैं तो हिन्दुस्तान से इसलिए बंधा हुआ हूँ कि मेरे पास जो-कुछ है वह सब मैंने उसीसे पाया है। मुझे पक्का और पूरा विश्वास है कि दुनियां के लिये हिन्दुस्तान का एक मिशन है।"

इन दलीलों का हमारे ऊपर बहुत असर पड़ा, लेकिन हम लोगों की राय में और कुल मिलाकर कांग्रेस की राय में अहिंसा का तरीक़ा न तो धर्म का अकाट्य सिद्धान्त था, और न हो ही सकता था। हमारे लिए तो वह ज़्यादा-से-ज़्यादा एक ऐसी नीति या एक ऐसा सहल तरीक़ा ही हो सकता था जिससे हम ख़ास नतीजों की उम्मीद करते थे, और उन्हीं नतीजों से आख़ीर में हम उसकी बाबत फ़ैसला करते। अपने-अपने लिए लोग उसे भले ही धर्म बना लें या निर्विवाद सिद्धान्त मान लें, परन्तु कोई भी राजनैतिक संस्था, जबतक वह राजनैतिक है, ऐसा नहीं कर सकती।

चौरीचौरा और उसके नतीजे ने हम लोगों को, एक साधन के रूप में, अहिंसा के इन पहलुओं को जाँच करने को मजबूर कर दिया और हम लोगों ने महसूस किया कि अगर आन्दोलन स्थगित करने के लिए गांधीजी ने जो कारण बताये हैं वे सही हैं तो हमारे विरोधियों के पास हमेशा वह ताक़त रहेगी, जिससे वे ऐसी हालतें पैदा कर दें जिनसे लाज़िमी तौर पर हमें अपनी लड़ाई छोड़ देनी पड़े! तो, यह क़सूर खुद अहिंसा के तरीक़े का था या उसकी उस व्याख्या का जो गांधीजी ने की? लेकिन आख़िर वही तो उस तरीक़े के जन्मदाता थे? उनसे ज़्यादा इस बात का बेहतर जज और कौन हो सकता था कि वह तरीक़ा क्या है और क्या नहीं है? और बिना उसके हमारे आन्दोलन का क्या ठिकाना होगा?

लेकिन बहुत बरसों के बाद, १९३० की सत्याग्रह की लड़ाई शुरू होने से ठीक पहले, हमें यह देखकर बड़ा सन्तोष हुआ कि गांधीजी ने इस बात को साफ़ कर दिया। उन्होंने कहा कि कहीं इक्के-दुक्के हिंसा काण्ड हो जायें, तो उसकी वजह से हमें अपनी लड़ाई छोड़ने की ज़रूरत नहीं है। अगर ऐसी घटनाओं की वजह से, जो कहीं-न-कहीं हुए बिना नहीं रह सकतीं, अहिंसा का तरीक़ा काम नहीं कर सकता, तो ज़ाहिर था कि वह हर मौक़े के लिए सबसे अच्छा तरीक़ा नहीं है। और गांधीजी इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं थे। उनकी

राय में तो जब वह तरीक़ा सही है तो वह सब मौक़ों के लिए मौज़ूँ होना चाहिए, और कम-से-कम संकुचित दायरे में ही सही, विरोधी वातावरण में भी उसे अपना काम करते रहना चाहिए। इस व्याख्या ने अहिंसात्मक लड़ाई का क्षेत्र बढ़ा दिया। लेकिन यह व्याख्या गांधीजी के विचारों के विकास की गवाही देती है या क्या, यह मैं नहीं जानता।

असल बात तो यह है कि फ़रवरी १९२२ में सत्याग्रह का स्थगित किया जाना महज़ चौरीचौरा की वजह से नहीं हुआ, हालाँकि ज़्यादातर लोग यही समझते थे। वह तो असल में एक आख़िरी निमित्त हो गया था। ऐसा मालूम होता है कि गांधीजी ने बहुत अर्से से जनता के नज़दीक रहकर एक नयी चेतना पैदा कर ली है, जो उनको यह बता देती है कि जनता क्या महसूस कर रही है और वह क्या कर सकती है तथा क्या नहीं कर सकती और वह अक्सर अपनी अन्तःप्रेरणा या सहज बुद्धि से प्रेरित होकर काम करते हैं, जैसा कि महान लोकप्रिय नेता अक्सर किया करते हैं। वह इस सहज-प्रेरणा को सुनते हैं और तुरन्त उसीके अनुकूल रूप अपने कार्य को दे देते हैं और उसके बाद अपने चकित और नाराज़ साथियों के लिए अपने फ़ैसलों को कारण का जामा पहनाने की कोशिश करते हैं। यह जामा अक्सर बिलकुल नाकाफ़ी होता है, जैसा कि चौरीचौरा के बाद मालूम होता था। उस वक़्त हमारा आन्दोलन, बावजूद उसके ऊपरी दिखाई देनेवाले और लम्बे-चौड़े जोश के, अन्दर से तितर-बितर हो रहा था। तमाम संगठन और अनुशासन का लोप हो रहा था। क़रीब-क़रीब हमारे सब अच्छे आदमी जेल में थे, और उस वक़्त तक आम लोगों को खुद अपने बल पर लड़ाई चलाते रहने की बहुत ही कम, नहीं के बराबर, शिक्षा मिली थी। जो भी अजनबी आदमी चाहता, कांग्रेस कमिटी का चार्ज ले सकता था, और दर-असल बहुत से अवांछित लोग, जिनमें लोगों को उकसाने तथा भड़कानेवाले सरकारी एजेंट तक शामिल थे, घुस आये थे, और कुछ स्थानीय कांग्रेस और ख़िलाफ़त-कमिटियों को चलाने तक लगे थे। ऐसे लोगों को रोकने का उस वक़्त कोई चारा न था।

इसमें कोई शक नहीं कि कुछ हदतक इस तरह की बात इस क़िस्म की लड़ाई में लाज़िमी है। नेताओं के लिए यह लाज़िमी है कि वे सबसे पहले खुद जेल जाकर लोगों को रास्ता दिखा दें और दूसरों पर यह भरोसा करें कि वे लड़ाई चलाते रहेंगे। ऐसी दशा में जो कुछ किया जा सकता है वह सिर्फ़ इतना ही कि जनता को कुछ मामूली सीधे-सादे काम करना और उससे भी ज़्यादा कुछ क़िस्म के कामों से बचते रहना सिखा दिया जाय। १९३० में इस तरह की तालीम देने में हमने पहले ही कुछ साल लगा दिये थे। इसीसे उस वक़्त और १९३२ में सविनय-भंग-आन्दोलन बहुत ही ताक़त के साथ और संगठित रूप में चला था। १९२१ और १९२२ में इस बात की कमी थी। उन दिनों लोगों के उत्साह के पीछे और कुछ न था। इसमें कोई शक नहीं कि अगर

आन्दोलन जारी रहता तो कई जगह भयंकर हत्याकाण्ड हो जाते। इन हत्याकाण्डों को सरकार बदतर हत्याकाण्डों द्वारा कुचलती। डर का राज क़ायम हो जाता, जिससे लोग बुरी तरह पस्त-हिम्मत हो जाते।

गांधीजी के दिमाग़ में जिन असरों और वजहों ने काम किया वे सम्भवः यहीं थे। उनकी मूल बातों को, तथा अहिंसा-शास्त्र के मुताबिक़ काम करना वाञ्छनीय था, इस बात को मान लेने के बाद कहना होगा कि उनका फ़ैसला सही ही था। उनको ये सब ख़राबियाँ रोककर नये सिरे से रचना करनी थी। एक दूसरी और बिलकुल जुदा दृष्टि से देखने पर उनका फ़ैसला ग़लत भी माना जा सकता है, लेकिन उस दृष्टि-कोण का अहिंसात्मक तरीक़े से कोई ताल्लुक़ न था। आप एक साथ दायें और बायें दोनों रास्तों पर नहीं चल सकते। इसमें कोई शक नहीं कि अपने उस आन्दोलन को उस अवस्था में और इस ख़ास इक्की-दुक्की वजह से सरकारी हत्याकाण्डों द्वारा कुचल डालने का निमन्त्रण देने से भी राष्ट्रीय आन्दोलन ख़त्म नहीं हो सकता था, क्योंकि ऐसे आन्दोलनों का यह तरीक़ा है कि वे अपनी चिता की भस्म में से ही फिर उठ खड़े होते हैं। अक्सर थोड़ी अल्पकालिक हार से भी समस्याओं को भलीभाँति समझने और लोगों को पक्का तथा मज़बूत करने में मदद मिलती है। असली बात पीछे हटना या दिखावटी हार होना नहीं है, बल्कि सिद्धान्त और आदर्श है। अगर जनता इन उसूलों का तेज कम न होने दे तो नये सिरे से ताक़त हासिल करने में देर नहीं लगती। लेकिन १९२१ और १९२२ में हमारे सिद्धान्त और हमारा लक्ष्य क्या था? एक धुँधला स्वराज, जिसकी कोई स्पष्ट व्याख्या न थी, और अहिंसात्मक लड़ाई का एक ख़ास शास्त्र। अगर लोग किसी बड़े पैमाने पर इक्के-दुक्के हिंसा-काण्ड कर डालते तो अपने-आप पिछली बात यानी अहिंसा का तरीक़ा ख़त्म हो जाता, और जहाँतक पहली बात, यानी स्वराज से ताल्लुक़ है उसमें ऐसी कोई बात न थी जिसके लिए लोग अड़ते। आमतौर पर लोग इतने मजबूत न थे कि वे ज़्यादा अरसे तक लड़ाई चलाये जाते और विदेशी शासन के ख़िलाफ़ क़रीब-करीब सर्वव्यापी असन्तोष और कांग्रेस के साथ सब लोगों की हमदर्दी के बावजूद लोगों में काफ़ी बल या संगठन न था। वे टिक नहीं सकते थे। जो हज़ारों लोग जेल गये वे भी क्षणिक जोश में आकर और यह उम्मीद करते हुए कि तमाम क़िस्सा कुछ ही दिनों में तय हो जायगा।

इसलिए यह हो सकता है कि १९२२ में सत्याग्रह को स्थगित करने का जो फ़ैसला किया गया वह ठीक ही था, हालाँकि उसके स्थगित करने का तरीक़ा और भी बेहतर हो सकता था। यों आन्दोलन स्थगित करने से लोगों का विश्वास ढीला हो गया और एक प्रकार की पस्त-हिम्मती आ गयी।

मगर मुमकिन है कि इस बड़े आन्दोलन को इस तरह एकाएक बोतल में बन्द करने से उन दुःखान्त काण्डों के होने में मदद मिली जो देश में बाद को जाकर हुए। राजनैतिक संग्राम में छुट-पुट और बेकार हिंसा-काण्डों की ओर बहाव तो रुक

गया, लेकिन इस तरह दबायी गयी हिंसावृत्ति अपने निकलने का रास्ता तो ढूँढ़ती ही; और शायद बाद के बरसों में इसी बात ने हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों को बढ़ाया। असहयोग और सविनय-भंग आन्दोलनों को आम लोगों से जो भारी समर्थन मिला था उससे तरह-तरह के साम्प्रदायिक नेता, जो ज़्यादातर राजनीति में प्रतिक्रियावादी थे, लोगों की निगाह से गिरकर दबे पड़े थे। लेकिन अब वे उभड़ने लगे। बहुत-से दूसरे लोगों ने भी—जैसे ख़ुफ़िया के एजेंटों तथा उन लोगों ने जो हिन्दू-मुसलमानों में फ़िसाद कराके हाकिमों को ख़ुश करना चाहते थे—हिन्दू-मुस्लिम वैर बढ़ाने में मदद की। मोपलाओं के उत्पात से तथा जिस निहायत बेरहमी से उसे कुचला गया उससे उन लोगों को एक अच्छा हथियार मिला जो साम्प्रदायिक झगड़े पैदा कराना चाहते थे। रेलवे के बन्द डिब्बों में मोपला क़ैदियों का भुरता कर देना एक बहुत ही वीभत्स दृश्य था। यह मुमकिन हो सकता है कि अगर सत्याग्रह बन्द न किया गया होता और उसे सरकार ने ही कुचला होता तो उस हालत में क़ौमी ज़हर इतना न बढ़ता और बाद को जो साम्प्रदायिक दंगे हुए उनके लिए बहुत ही कम ताक़त बाक़ी रहती।

सत्याग्रह बन्द करने के पहले एक घटना हुई, जिसके नतीजे बिलकुल दूसरे हो सकते थे। सत्याग्रह की पहली लहर से सरकार भौंचक रह गयी और डर गयी। इसी वक़्त वाइसराय लार्ड रीडिंग ने एक आम स्पीच में यह कहा कि मैं हैरान व परेशान हूँ। उन दिनों युवराज हिन्दुस्तान में थे और उनकी मौजूदगी से सरकार की जिम्मेदारी बहुत बढ़ गयी थी। दिसम्बर १९२१ के शुरू में जो धड़ाधड़ गिरफ़्तारियाँ हुई थीं उसके बाद ही फ़ौरन उसी महीने में सरकार ने एक कोशिश की कि कांग्रेस से किसी क़िस्म का समझौता कर लिया जाय। यह बात ख़ासतौर पर कलकत्ते में युवराज के आगमन को दृष्टि में रखकर की गयी थी। बंगाल-सरकार के प्रतिनिधियों में और देशबन्धुदास में, जो उन दिनों जेल में थे, कुछ आपसी बात-चीत हुई। मालूम पड़ता है कि इस तरह की तजवीज़ की गयी कि सरकार और कांग्रेस के प्रतिनिधियों में एक छोटी-सी गोलमेज़-कान्फ्रेंस की जाय। यह तजवीज़ इसलिए गिर गयी कि गांधीजी ने इस बात पर ज़ोर दिया कि मौलाना मुहम्मदअली का भी, जो उस वक़्त कराची की जेल में थे, इस कान्फ्रेंस में मौजूद रहना ज़रूरी है और सरकार इस बात के लिए राज़ी न थी।

इस मामले में गांधीजी का यह रुख़ दास बापू को पसन्द नहीं आया। और कुछ वक़्त बाद जब जेल से छूटकर आये तब उन्होंने सार्वजनिक रूप में गांधीजी की आलोचना की और कहा कि उन्होंने सख़्त ग़लती की है। हम लोग उन दिनों जेल में थे, इसलिए हममें से ज़्यादातर वे सब बातें नहीं जान सकते थे जो इस मामले में हुईं, और तमाम बातों को जाने बिना कोई फ़ैसला करना मुश्किल है। लेकिन यह मालूम होता है कि उस हालत में कान्फ्रेंस से कोई फ़ायदा नहीं हो सकता था। असल में सरकार महज़ यह कोशिश कर रही थी कि किसी तरह कलकत्ते में

युवराज के आगमन का समय बिना किसी संघर्ष के बीत जाय। इससे हमारे सामने जो बुनियादी मसले थे वे ज्यों-के-त्यों बने रहते। नौ बरस बाद जब राष्ट्र और कांग्रेस पहले से कहीं ज्यादा ताक़तवर थे, तब गोलमेज़ कान्फ्रेंस हुई और उससे भी कोई नतीजा नहीं निकला। लेकिन इसके अलावा भी मुझे ऐसा मालूम होता है कि गांधीजी ने मुहम्मदअली की मौजूदगी पर ज़ोर देकर बिलकुल ठीक ही किया। कांग्रेस के लीडर की हैसियत से ही नहीं, बल्कि ख़िलाफ़त की हलचल के लीडर की हैसियत से भी, और उन दिनों कांग्रेस के प्रोग्राम में ख़िलाफ़त का प्रश्न महत्त्वपूर्ण था, उनकी मौजूदगी लाज़िमी थी। जिस नीति या कार्रवाई में अपने साथी को छोड़ना पड़े वह कभी सही नहीं हो सकती। सरकार की एक इसी बात से कि वह उन्हें जेल से छोड़ने को तैयार न थी, इस बात का पता चल जाता है कि कान्फ्रेंस से किसी क़िस्म के नतीजे की उम्मीद करना बेकार था।

मुझे और पिताजी को अलग-अलग जुर्मों में अलग-अलग अदालतों ने ६-६ महीने की सज़ाएं दी थीं। मुक़दमे महज़ तमाशे थे और अपने रिवाज के मुताबिक़ हम लोगों ने उनमें कोई हिस्सा नहीं लिया था। इसमें कोई शक नहीं कि हमारे सब व्याख्यानों में और दूसरी हलचलों में सज़ा दिलाने के लिए काफ़ी मसाला ढूँढ़ निकालना बहुत आसान था। लेकिन सज़ा दिलाने के लिए जो मसाला दर-असल पसन्द किया गया वह मज़ेदार था। पिताजी पर एक ग़ैर कानूनी जमात का मेम्बर—कांग्रेस-स्वयंसेवक—होने के जुर्म में मुक़दमा चलाया गया था और इस जुर्म को साबित करने के लिए एक फ़ार्म पेश किया गया जिसमें हिन्दी में उनके दस्तख़त दिखाये गये थे। बेशक दस्तख़त उन्हींके थे, लेकिन असल में हुआ यह कि इससे पहले उन्होंने प्रायः कभी हिन्दी में दस्तख़त नहीं किये थे। इसलिए बहुत ही कम लोग उनके हिन्दी के दस्तख़त पहचान सकते थे। अदालत में एक फटे-हाल महाशय पेश किये गये, जिन्होंने हलफ़िया बयान दिया कि वे दस्तख़त मोतीलालजी के ही हैं। वह महाशय बिलकुल अपढ़ थे और जब उन्होंने दस्तख़तों को देखा तब वह फ़ार्म को उलटा पकड़े हुए थे। पिताजी अदालत में मेरी लड़की को बराबर अपनी गोद में लिये रहे। इससे उनके मुक़दमे में उसे पहली मर्तबा अदालत का तजुर्बा हुआ। उस वक़्त उसकी उम्र चार बरस की थी।

मेरा जुर्म यह था कि मैंने हड़ताल कराने के लिए नोटिसें बाँटी थीं। उन दिनों यह कोई जुर्म न था—यद्यपि मेरा ख़याल है कि इस वक़्त ऐसा करना जुर्म है क्योंकि हम बड़ी तेज़ी के साथ डोमीनियन स्टेट्स (औपनिवेशिक स्वराज्य) की तरफ़ बढ़ते जा रहे हैं—फिर भी मुझे सज़ा दे दी गयी! तीन महीने बाद जब मैं पिताजी तथा दूसरे लोगों के साथ जेल में था तब मुझे इत्तला मिली कि कोई मुक़दमों पर पुनर्विचार करनेवाले अफ़सर इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि मुझे जो सज़ा दी गयी वह ग़लत है और इसलिए मुझे छोड़ा जायगा। मुझे इस बात से बड़ा अचरज हुआ, क्योंकि मेरे मुक़दमे पर पुनर्विचार कराने के लिए मेरी

तरफ़ से किसी ने कोई कार्रवाई नहीं की थी। ऐसा मालूम पड़ता है कि सत्याग्रह स्थगित हो जाने पर जजों में मुक़दमों पर पुनर्विचार करने का एकाएक जोश उमड़ आया हो। मुझे पिताजी को जेल में छोड़ कर बाहर जाने में बहुत दुःख हुआ।

मैंने तय कर लिया कि अब फ़ौरन ही अहमदाबाद जाकर गांधीजी से मिलूँगा, लेकिन मेरे वहाँ पहुँचने से पहले वह गिरफ्तार हो चुके थे। इसलिए उनसे मैं साबरमती-जेल में ही जाकर मिल सका। उनके मुक़दमे के वक़्त मैं अदालत में मौजूद था। वह एक हमेशा याद रखने लायक़ प्रसंग था और हममें से जो लोग उस वक़्त वहाँ मौजूद थे वे शायद उसे कभी भूल नहीं सकते। जज एक अंग्रेज़ था। उसने अपने व्यवहार में काफ़ी शराफ़त और सद्भावना दिखायी। अदालत में गांधीजी ने जो बयान दिया वह दिलों पर बहुत ही असर डालनेवाला था। हम लोग वहाँ से जब लौटे तब हमारे दिल हिलोर ले रहे थे और उनके ज्वलंत वाक्यों और उनके चमत्कारी भावों और विचारों की गहरी छाप हमारे मन पर पड़ी हुई थी।

मैं इलाहाबाद लौट आया। मुझे एक ऐसे वक़्त पर जेल से बाहर रहना बहुत ही सुनसान और दुःखप्रद मालूम हुआ जब मेरे इतने दोस्त और साथी जेल के सीख़चों के अन्दर बन्द थे। बाहर आकर मैंने देखा कि कांग्रेस का संगठन ठीक-ठीक काम नहीं कर रहा है और मैंने उसे ठीक करने की कोशिश की। ख़ासतौर पर मैंने विलायती कपड़े के बहिष्कार में दिलचस्पी ली। सत्याग्रह के वापस ले लिये जाने पर भी हमारे कार्यक्रम का वह हिस्सा अब भी चालू था। इलाहाबाद के कपड़े के क़रीब-क़रीब तमाम व्यापारियों ने यह वादा किया था कि वे न तो विलायती कपड़ा हिन्दुस्तान में ही किसी से ख़रीदेंगे न विलायत से ही मँगावेंगे। इस मतलब के लिए उन्होंने एक मण्डल भी क़ायम कर लिया था। मण्डल के क़ायदों में यह लिखा हुआ था कि जो अपना वादा तोड़ेगा उसे जुर्माने की सजा दी जायगी। मैंने देखा कि कपड़े के कई बड़े-बड़े व्यापारियों ने अपना वादा तोड़ दिया है और वे विदेशों से विलायती कपड़ा मँगा रहे हैं। यह उन लोगों के साथ बहुत बड़ी बेइंसाफ़ी थी जो अपने वादे पर डटे हुए थे। हम लोगों ने कहा-सुनी की लेकिन कुछ नतीजा न निकला और कपड़े के दूकानदारों का मण्डल किसी कारगर काम के लिए बिलकुल बेकार साबित हुआ। इसलिए हम लोगों ने तय किया कि वादा तोड़ने वाले दूकानदारों की दूकानों पर धरना दिया जाय। हमारे काम के लिए धरने का इशारा-भर काफ़ी था। बस, जुर्माने दे दिये गये और नये सिरे से फिर वादे कर लिये गये। जुर्मानों से जो रुपया आया वह दूकानदारों के मण्डल के पास गया।

दो-तीन दिन बाद अपने कई साथियों के साथ मुझे गिरफ्तार कर लिया गया। ये साथी वे लोग थे जिन्होंने दूकानदारों के साथ बातचीत करने में हिस्सा लिया था। हमारे ऊपर ज़बरदस्ती रुपया ऐंठने और लोगों को डराने का जुर्म लगाया गया। मेरे ऊपर राजद्रोह सहित, कुछ और भी जुर्म लगाये गये।

मैंने अपनी कोई सफ़ाई नहीं दी, अदालत में सिर्फ़ एक लम्बा बयान दिया। मुझे कम-से-कम तीन जुर्मों में सज़ा दी गयी, जिनमें ज़बरदस्ती रुपया ऐंठने, लोगों को दबाने के जुर्म भी शामिल थे। लेकिन राजद्रोहवाला मामला नहीं चलाया गया क्योंकि सम्भवतः यह सोचा गया कि मुझे जितनी सज़ा मिलनी चाहिए थी वह पहले ही मिल चुकी है। जहांतक मुझे याद है, मुझे तीन सज़ाएं दी गयीं, जिनमें दो अठारह-अठारह महीने की थीं और एक-साथ चलने को थीं। मेरा ख़याल है कि कुल मिलाकर मुझे एक साल नौ महीने की सज़ा दी गई थी। यह मेरी दूसरी सज़ा थी। मैं छः हफ़्ते के क़रीब जेल से बाहर रह कर फिर वहीं चला गया।

१३

लखनऊ-जेल

१९२१ में हिन्दुस्तान में राजनैतिक अपराधों के लिए जेल जाना कोई नयी बात नहीं थी। खासकर बंग-भंग-आन्दोलन के वक़्त से बराबर ऐसे लोकों का ताँता लगा रहा जो जेल जाते थे और उनको अक्सर बड़ी लम्बी-लम्बी सज़ाएं होती थीं। बग़ैर मुक़दमे चलाये नज़रबन्दियां भी होती थीं। लोकमान्य तिलक को, जो अपने समय के हिन्दुस्तान के सबसे बड़े नेता थे, उनकी ढलती हुई उम्र में छः साल कैद की सज़ा दी गयी थी। पिछले महायुद्ध के कारण तो नज़र-बन्दियों और जेल भेजने का यह सिलसिला और भी बढ़ गया, और षड्यंत्रों के मामले बहुत होने लगे जिनमें आमतौर पर मौत की या आजीवन क़ैद की सज़ाएं दी जाती थीं। अली-बन्धु और मौ० अबुलकलाम आज़ाद भी लड़ाई के ज़माने में नज़रबन्द हुए थे। लड़ाई के बाद ही फ़ौरन पंजाब में फ़ौजी क़ानून जारी हुआ, जिसमें लोग बड़ी तादाद में जेल गये और बहुत लोगों को षड्यन्त्र के या मुख़्तसर मुक़दमों में सज़ाएं दी गयीं। इस तरह हिन्दुस्तान में राजनैतिक सज़ा होना एक काफ़ी आम बात हो गयी थी, मगर अभी तक खुद जानबूझकर कोई जेल न जाता था। लोग अपना काम करते थे और उस सिलसिले में उन्हें राजनैतिक सज़ा अपने-आप मिल जाती थी, या शायद इसलिए मिल जाती थी कि खुफ़िया पुलिस उनको नापसन्द करती थी; लेकिन, ऐसा होने पर, अदालत में पैरवी करके उससे बचने की पूरी कोशिश की जाती थी। हाँ, दक्षिण-अफ्रीका में अलबत्ता सत्याग्रह की लड़ाई में गांधीजी और उनके हज़ारों अनुयायियों ने एक नयी ही मिसाल पेश की थी।

मगर फिर भी १९२१ में जेलख़ाना क़रीब-क़रीब एक अज्ञात जगह थी, और बहुत कम लोग जानते थे कि नये सज़ायाफ़्ता आदमियों को अपने अन्दर निगल जानेवाले डरावने फाटक के भीतर क्या होता है? अन्दाज़ से हम कुछ-कुछ ऐसा समझते थे कि जेल के अन्दर बड़े-बड़े खतरनाक जीव होंगे, जिनके

लिए कुछ भी कर गुज़रना बायें हाथ का खेल होगा। हमारे ख़याल से जेल एकान्त, बेइज़्ज़ती और कष्टों की जगह थी, और सबसे बड़ी बात यह थी कि उसके साथ अनजान जगह होने का ख़ौफ़ लगा हुआ था। १९२० से जेल जाने का बार-बार ज़िक सुनते रहने और उसमें अपने कई साथियों के चले जाने से, हम इस ख़याल के आदी हो गये, और उसके बारे में आशंका और अरुचि की जो भावना अक्सर अपने-आप पैदा हो जाती थी उसकी तेज़ी कम हो गयी। परन्तु दिमाग़ी तैयारी पहले से चाहे कितनी भी रही हो, जब हम लोहे के फाटक में पहले-पहल दाख़िल हुए तो क्षोभ और उद्वेग पैदा हुए बिना नहीं रह सका। उस ज़माने से, जिसे आज तेरह साल हो गये, आज तक मेरे अन्दाज़ से हिन्दुस्तान से कम-से-कम ३ लाख स्त्री-पुरुष उन फाटकों में राजनैतिक अपराधों के लिए दाख़िल हो चुके हैं, हालाँकि बहुत करके इलज़ाम फ़ौजदारी आईन की किसी दूसरी ही दफ़ा की रू से लगाया गया है। इनमें से हज़ारों तो कई बार अन्दर गये और बाहर आये हैं। उन्हें यह अच्छी तरह मालूम हो ही जाता है कि अन्दर वे किन बातों की उम्मीद रखें; और जहाँतक कोई आदमी विचित्र रूप से असाधारण, नीरस, उदासी के साथ कष्ट-सहन और एक ढर्रे की भयंकर ज़िन्दगी के लायक़ अपने-आपको बना सकता है, वहाँतक उन्होंने वहाँ की अजीब ज़िन्दगी के मुआफ़िक़ अपने को बनाने की कोशिश की है। हम उसके आदी हो जाते हैं, क्योंकि इंसान क़रीब-क़रीब हर बात का आदी हो जाता है, और फिर भी जब नयी बार हम उस फाटक के अन्दर दाख़िल होते हैं तो फिर वही पुराने क्षोभ और उद्वेग की भावना आ जाती है और दिल उछलने लगता है और आँखें बरबस बाहर की हरियाली और चौड़े मैदानों, चलते-फिरते लोगों और गाड़ियों और जान-पहचानवालों के चेहरों की तरफ़, जिन्हें अब बहुत अर्से तक देखने का मौक़ा नहीं मिलेगा, आख़िरी नज़र डालने लगती हैं।

जेल की मेरी पहली मियाद के दिन, जो तीन महीने के बाद ही अचानक ख़त्म हो गयी, मेरे और जेल-कर्मचारियों दोनों ही के लिए क्षोभ और बेचैनी के दिन थे। जेल के अफ़सर इन नयी तरह के अपराधियों की आमद से घबरा-से गये थे। इन नये आनेवालों की महज़ तादाद ही, जो दिन-ब-दिन बढ़ती ही जाती थी, ग़ैर-मामूली थी, और उन्हें एक ऐसी बाढ़ मालूम होती थी, जो कहीं पुरानी क़ायम हदों को बहा न ले जाय। इससे भी ज़्यादा चिन्ता की बात यह थी कि नये आनेवाले लोग बिलकुल निराले ढंग के थे। यों आदमी तो सभी वर्ग के थे, मगर मध्यम वर्ग के बहुत ज़्यादा थे। लेकिन इन सब वर्गों में एक बात सामान्य थी। वे मामूली सज़ायाफ़्ता लोगों से बिलकुल दूसरी तरह के थे और उनके साथ पुराने तरीक़े से बर्ताव नहीं किया जा सकता था। अधिकारियों ने यह बात मानी तो, मगर मौजूदा क़ायदों की जगह दूसरे क़ायदे न थे; और न पहले की कोई मिसाल थी, न कोई पहले का तजुर्बा। मामूली कांग्रेसी क़ैदी न तो बहुत दब्बू

था और न नरम। और जेल के अन्दर होते हुए भी अपनी तादाद ज़्यादा होने से उसमें यह ख़याल भी आ गया था कि हममें कुछ ताक़त है। बाहर के आन्दोलन से और जेलख़ानों के अन्दर के मामलों में जनता की नयी दिलचस्पी पैदा हो जाने के कारण, वह और भी मज़बूत हो गया था। इस प्रकार कुछ-कुछ तेज़ रुख होते हुए भी, हमारी सामान्य नीति जेल-अधिकारियों से सहयोग करने की थी। अगर हम लोग उनकी मदद न करते तो अफ़सरों की तकलीफ़ें बहुत ज्यादा बढ़ गयी होतीं। जेलर अक्सर हमारे पास आया करता था, और कुछ बैरकों में, जिनमें हमारे स्वयंसेवक थे, चलकर उन्हें शान्त करने या किसी बात के लिए राज़ी करने को कहता था।

हम अपनी ख़ुशी से जेल आये थे, और कई स्वयंसेवक तो प्रायः बिना बुलाये ख़ुद ज़बरदस्ती भीतर घुस आये थे। इस तरह यह सवाल तो था ही नहीं कि कोई भाग जाने की कोशिश करता। अगर कोई बाहर जाना चाहता तो वह अपनी हरकत के लिए अफ़सोस ज़ाहिर करने पर या आयन्दा ऐसे काम में न पड़ने का इक़रार लिखने पर आसानी से बाहर जा सकता था। भागने की कोशिश करने से तो किसी हदतक बदनामी होती थी, और ऐसा काम सत्याग्रह-जैसे राजनैतिक कार्य से अलग हो जाने के बराबर था। हमारे लखनऊ-जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट ने यह बात अच्छी तरह समझ ली थी, और वह जेलर से (जो कि ख़ानसाहब था) कहा करता था कि अगर आप कुछ कांग्रेस-स्वयंसेवकों को भाग जाने देने में कामयाब हो सकें तो मैं आपको ख़ानबहादुर बनाने के लिए सरकार से सिफ़ारिश कर दूँगा।

हमारे साथ के ज़्यादातर क़ैदी जेल के भीतरी चक्कर की बड़ी-बड़ी बैरकों में रक्खे जाते थे। हममें से अठारह को, जिन्हें मेरे अनुमान से अच्छे बर्ताव के लिए चुना गया था, एक पुराने वीविंग-शेड में रक्खा गया था, जिसके साथ एक बड़ी खुली हुई जगह थी। मेरे पिताजी, मेरे दो चचेरे भाई और मेरे लिए एक अलग सायबान था, जो क़रीब-क़रीब २० × १६ फुट था। हमें एक बैरक से दूसरी बैरक में आने-जाने की काफ़ी आज़ादी थी। बाहर के रिश्तेदारों से काफ़ी मुलाक़ातें करने की इजाज़त थी। अख़बार आते थे, और नई गिरफ़्तारियों और हमारी लड़ाई की बढ़ती की ताज़ी घटनाओं की रोज़ाना ख़बरों से जोश का वातावरण रहता था। आपसी बात-चीत और बहस में बहुत वक़्त जाता था, और मैं पढ़ना या दूसरा ठोस काम कुछ नहीं कर पाता था। मैं सुबह का वक़्त अपने सायबान को अच्छी तरह साफ़ करने और धोने में, पिताजी के और अपने कपड़े धोने में और चर्ख़ा कातने में गुज़ारा करता था। वे जाड़े के दिन थे, जोकि उत्तर-हिन्दुस्तान का सबसे अच्छा मौसम है। शुरू के कुछ हफ़्तों में हमें अपने स्वयंसेवकों के लिए, या उनमें जो अपढ़ थे उनके लिए, हिन्दी, उर्दू और दूसरे प्रारम्भिक विषय पढ़ाने के लिए क्लास खोलने की इजाज़त मिल

गयी थी। तीसरे पहर हम वाली-बॉल खेला करते थे।[1]

धीरे-धीरे बन्धन बढ़ने लगे। हमें अपने अहाते से बाहर जाने और जेल के उस हिस्से में, जहाँ हमारे ज़्यादातर स्वयंसेवक रक्खे गये थे, पहुँचने से रोक दिया गया। तब पढ़ाई के क्लास अपने-आप बन्द हो गये। क़रीब-क़रीब उसी वक़्त मैं जेल से छोड़ दिया गया।

मैं शुरू मार्च में बाहर निकला, और छः या सात हफ़्ते बाद, अप्रैल में फिर लौट आया। तब क्या देखता हूँ कि हालत बदल गयी है। पिताजी को बदलकर नैनीताल-जेल में भेज दिया गया था, और उनके जाने के बाद फ़ौरन ही नये क़ायदे लागू कर दिये गये थे। बड़े वीविंग-शेड के, जहाँ पहले मैं रक्खा गया था, सारे क़ैदी भीतरी जेल में बदल दिये गये और वहाँ बैरकों में रख दिये गये थे। हरेक बैरक क़रीब-क़रीब जेल के अन्दर दूसरी जेल ही थी। दूसरी बैरकवालों से मिलने-जुलने या बातचीत करने की इजाज़त न थी। मुलाक़ात और ख़त अब कम किये जाकर महीने भर में एक कर दिये गये। खाना बहुत मामूली कर दिया गया, हालाँकि हमें बाहर से खाने की चीज़ें मंगाने की इजाज़त थी।

जिस बैरक में मैं रखा गया था उसमें क़रीब पचास आदमी रहते होंगे। हम सबको एकसाथ ठूँस दिया गया, हमारे बिस्तरे एक-दूसरे से तीन-चार फुट के फ़ासले पर थे। ख़ुशक़िस्मती से उस बैरक का क़रीब-क़रीब हरेक आदमी मेरा जाना हुआ था, और कई मेरे दोस्त भी थे। मगर दिन-रात एकान्त का बिलकुल न मिलना नागवार होता गया। हमेशा उसी झुंड को देखना, वही छोटे-छोटे झगड़े-टंटे चलते रहना, और इन सबसे बचकर शान्ति का कोई कोना भी बिलकुल न मिलना! हम सबके सामने नहाते, सबके सामने कपड़े धोते, कसरत के लिए बैरकों के चारों तरफ़ चक्कर लगाकर दौड़ते, और बहस और बातचीत इस हद तक करते कि दिमाग़ थक जाता और सोच-समझकर बात भी करने की ताक़त न रह जाती थी। यह कौटुम्बिक जीवन का एक नीरस—सौगुना नीरस दृश्य था, जिसमें उसका आनन्द, उसकी शोभा और सुख-सुविधा का अंश बहुत कम था; और फिर ऐसे लोगों का साथ जो भिन्न-भिन्न तरह के स्वभाव और

---

[1] अखबारों में एक बे-सिर-पैर की खबर निकली है, और हालाँकि उसका खण्डन किया जा चुका है, फिर भी वह समय-समय पर प्रकाशित होती रहती है। वह यह कि उस वक़्त के यू० पी० गवर्नर सर हारकोर्ट बटलर ने जेल में मेरे पिताजी के पास शेम्पेन शराब भेजी। सच तो यह है कि सर हारकोर्ट ने पिताजी के लिए जेल में कुछ नहीं भेजा, और न किसी दूसरे ने ही शेम्पेन या दूसरी कोई नशीली चीज़ भेजी। वास्तव में कांग्रेस के असहयोग को अपना लेने के बाद, १९२० से, उन्होंने शराब वग़ैरा पीना सब छोड़ दिया था, और उस वक़्त वह कोई ऐसी चीज़ नहीं पीते थे।

रुचियों के थे। हम सबके मन में इस बात का बड़ा उद्वेग रहता था, और मैं तो अक्सर अकेला रहने के लिए तरसता रहता था। कुछ सालों के बाद तो जेल में मुझे खूब एकान्त और अकेलापन मिल गया—ऐसा कि महीनों तक लगातार मुझे किसी जेल-अधिकारी के सिवा और किसी की सूरत भी न दिखायी देती। तब फिर मेरे मन में उद्वेग रहने लगा — मगर इस बार अच्छे साथियों की ज़रूरत महसूस करता था। अब मैं कभी-कभी १६२२ में लखनऊ ज़िला-जेल में इकट्ठा रहने के दिनों को रश्क के साथ याद करता था। फिर भी मैं खूब अच्छी तरह जानता था कि दोनों हालतों में से मुझे अकेलापन ही ज़्यादा पसन्द आया है, बशर्ते कि मुझे पढ़ने और लिखने की सुविधा हो।

फिर भी मुझे कहना होगा कि उस वक़्त के साथी निहायत अच्छे और ख़ुश-मिज़ाज थे, और हम सबकी अच्छी बनी। मगर मेरा ख़याल है कि हम सभी कभी-कभी एक-दूसरे से तंग-से आ जाते थे और अलहदा होकर कुछ एकान्त में रहना चाहते थे। ज़्यादा-से-ज़्यादा एकान्त जो मैं पा सकता था वह यही था कि बैरक छोड़कर अहाते के खुले हिस्से में आ बैठता था। उन दिनों बारिश का मौसम था और बादल होने के कारण बाहर बैठा जा सकता था। मैं गरमी, और कभी-कभी बूँदा-बाँदी सहन कर लेता था, और ज़्यादा-से-ज़्यादा वक़्त बैरक के बाहर बिताया करता था।

खुले हिस्से में लेटकर मैं आकाश तथा बादलों को निहारा करता था, और अनुभव करता था कि बादलों के नित नये रंग कितने सुन्दर होते हैं! यह सौन्दर्य मैंने पहले नहीं देखा था।

"अहो! मेघमालाओं का यह
पल-पल रूप पलटना;
कितना मधुर स्वप्न है लेटे-
लेटे इन्हें निरखना!"[1]

लेकिन वह समय मेरे लिए सुख और आनन्द का न था, वह तो मेरे लिए भार-स्वरूप था। मगर जो वक़्त मैं इन सतत नये रूप धारण करनेवाले बरसाती बादलों को देखने में बिताता था वह आनन्द से भरा रहता था और मुझे राहत मालूम होती थी। मुझे ऐसा आनन्द होता मानो मैंने कोई आविष्कार किया हो, और ऐसी भावना पैदा होती मानो मैं क़ैद से छुटकारा पा गया हूँ। मैं नहीं जानता कि ख़ास उसी वर्षा-ऋतु ने मुझपर इतना असर क्यों डाला; इससे पहले या बाद के किसी साल की भी वर्षा-ऋतु ने इस तरह प्रभावित क्यों नहीं किया। मैंने कई बार पहाड़ों पर और समुद्र पर सूर्योदय और सूर्यास्त के मनोरम दृश्य देखे थे, उनकी शोभा की सराहना की थी, उस समय का आनन्द लूटा था तथा उनकी महान्

[1]अंग्रेज़ी कविता का भावानुवाद।

भव्यता और सुन्दरता से अभिभूत हो उठा था। मगर मैं उनको देखकर यही ख़याल कर लेता कि ये तो रोज़ की बातें हैं, और दूसरी बातों की तरफ़ ध्यान देने लगता। मगर जेल में तो सूर्योदय और सूर्यास्त दिखायी नहीं देते थे। क्षितिज हमसे छिपा हुआ था और प्रातःकाल तप्त सूर्य हमारी रक्षक दीवारों के ऊपर देर से निकलता था। कहीं चित्र-विचित्र रंग का नामो-निशान नहीं था, और हमारी आँखें सदा उन्हीं मटमैली दीवारों और बैरकों का दृश्य देखते-देखते पथरा गयी थीं। वे तरह-तरह के प्रकाश, छाया और रंगों को देखने के लिए भूखी हो रही थीं, और जब बरसाती बादल अठखेलियाँ करते हुए, तरह-तरह की शक्लें बनाते हुए, भिन्न-भिन्न प्रकार के रंग धारण करते हुए हवा में थिरकने लगे तो मैं पागलों की तरह आश्चर्य और आह्लाद से उन्हें निहारा करता। कभी-कभी बादलों का ताँता टूट जाता और इस प्रकार जो छिद्र हो जाता उसके भीतर से वर्षा-ऋतु का एक अद्भुत दृश्य दिखायी देता था। उस छिद्र में से अत्यन्त गहरा नीला आसमान नजर आता था जो अनन्त का एक हिस्सा मालूम होता था।

हमारे ऊपर सख़्तियाँ धीरे-धीरे बढ़ने लगीं, और ज़्यादा-ज़्यादा सख़्त क़ायदे लागू किये जाने लगे। सरकार ने हमारे आन्दोलन की नाप-जोख कर ली थी, और वह हमें यह महसूस करा देना चाहती थी कि हमारे मुक़ाबला करने की हिम्मत करने के सबब से वह हमपर किस क़दर नाराज़ है। नये क़ायदों के चालू करने या उनके अमल में लाने के तरीक़ों से जेल-अधिकारियों और राजनैतिक क़ैदियों के बीच झगड़े होने लगे। कई महीनों तक क़रीब-क़रीब हम सबने—हम लोगों की संख्या उसी जेल में कई सौ थी—विरोध के तौर पर मुलाक़ातें करना छोड़ दिया था। ज़ाहिर है कि यह ख़याल किया गया कि हममें से कुछ झगड़ा करानेवाले हैं, इसलिए सात आदमियों को जेल के एक दूर के हिस्से में बदल दिया गया, जो ख़ास बैरकों से बिलकुल अलहदा था। इस तरह जिन लोगों को अलग किया गया उनमें मैं, पुरुषोत्तमदास टण्डन, महादेव देसाई, जार्ज जोसफ़, बालकृष्ण शर्मा और देवदास गांधी थे।

हमें एक छोटे अहाते में भेजा गया, और वहाँ रहने में कुछ तकलीफ़ें भी थीं। मगर कुल मिलाकर मुझे तो इस तब्दीली से ख़ुशी ही हुई। यहाँ भीड़-भाड़ नहीं थी; हम ज़्यादा शान्ति और ज़्यादा एकान्त से रह सकते थे। पढ़ने या दूसरे काम के लिए वक़्त ज़्यादा मिलता था। हम जेल के दूसरे हिस्सों के अपने साथी क़ैदियों से अलहदा कर दिये गये और बाहरी दुनिया से भी अलहदा कर दिये गये; क्योंकि अब सब राजनैतिक क़ैदियों के लिए अख़बार भी बन्द कर दिये गये थे।

हमारे पास अख़बार नहीं आते थे, मगर बाहर से कोई-कोई ख़बर अन्दर टपक आती थी, जैसे कि जेलों में अक्सर टपका करती है। हमारी माहवारी

मुलाक़ातों और ख़तों से भी हमें बाज़-बाज़ ऐसी-वैसी ख़बरें मिल जाती थीं। हमको पता लगा कि हमारा आन्दोलन बाहर कमज़ोर हो रहा है। वह चमत्कारिक युग गुज़र गया था और कामयाबी धुँधले भविष्य में दूर जाती हुई मालूम हुई। बाहर, कांग्रेस में दो दल हो गये थे—परिवर्तनवादी और अपरिवर्तनवादी। पहला दल, जिसके नेता देशबन्धुदास और मेरे पिताजी थे, चाहता था कि कांग्रेस अगले केन्द्रीय और प्रान्तीय कौंसिलों के चुनावों में हिस्सा ले और हो सके तो इन कौंसिलों पर क़ब्ज़ा कर ले; दूसरा दल, जिसके नेता राजगोपालाचार्य थे, असहयोग के पुराने कार्यक्रम में कोई भी परिवर्तन किये जाने के विरुद्ध था। उस समय गांधीजी तो जेल में ही थे। आन्दोलन के जिन सुन्दर आदर्शों ने हमें, ज्वार की लहरों की चोटी पर बैठे हुए की तरह, आगे बढ़ाया था, वे छोटे-छोटे झगड़ों और सत्ता प्राप्त करने की साज़िशों के द्वारा दूर उछाले जाने लगे। हमने यह महसूस किया कि उत्साह और जोश के वक़्त में बड़े-बड़े और हिम्मत के काम कर जाना जोश गुज़र जाने के बाद रोज़ाना का काम चलाने की बनिस्बत कितना आसान है। बाहर की ख़बरों से हमारा जोश ठण्डा होने लगा, और इसके साथ-साथ जेल से दिल पर जो अलग-अलग तरह के असर पैदा होते हैं उनके कारण हमारा वहाँ रहना और भी दूभर हो गया। मगर, फिर भी हमारे अन्दर यह एक सन्तोष की भावना रही कि हमने अपने स्वाभिमान और गौरव को सुरक्षित रक्खा है, और हमने सत्य का ही मार्ग ग्रहण किया है, चाहे उसका नतीजा कुछ भी हो। आगे क्या होगा, यह तो साफ़ दिखायी नहीं देता था; मगर आगे कुछ भी हो, हमें ऐसा मालूम होता था कि हम कइयों की क़िस्मतों में तो ज़िन्दगी का ज़्यादा हिस्सा जेलों में गुज़ारना ही बदा है। इसी तरह की बातें हम आपस में किया करते थे, और मुझे ख़ास तौर पर याद है कि मेरी जार्ज जोसफ़ से एक बार बातचीत हुई थी जिसमें हम इसी नतीजे पर पहुँचे थे। उन दिनों के बाद जोसफ़ हमसे दूर-ही-दूर होते चले गये हैं, और यहाँ तक कि हमारे कामों के एक ज़बरदस्त आलोचक भी बन गये हैं। क्या पता लखनऊ-ज़िला-जेल के सिविल वार्ड में शरद्-ऋतु की एक शाम को हुई उस बातचीत की याद उनको कभी आती है या नहीं?

हम रोज़ाना कुछ काम और कसरत करने में जुट पड़ते। कसरत के लिए हम उस छोटे-से अहाते के चारों तरफ़ दौड़कर चक्कर लगाया करते थे, या दो बैलों की तरह से दो दो आदमी मिलकर अपने सहन के कुएँ से एक बड़ा चमड़े का डोल खींचा करते थे। इस तरह हम अपने अहाते के एक छोटे-से साग-सब्ज़ी के खेत में पानी देते थे। हममें से ज़्यादातर लोग रोज़ाना थोड़ा-थोड़ा सूत भी कातते थे। मगर उन जाड़े के दिनों और लम्बी रातों में पढ़ना ही मेरा ख़ास काम था। क़रीब क़रीब हमेशा जब-जब सुपरिण्टेण्डेण्ट आता तो वह मुझे पढ़ता हुआ ही देखता था। यह पढ़ते रहने की आदत शायद उसे खटकी और उसने इसपर एक बार कुछ कहा भी। उसने यह भी कहा कि मैंने तो अपना-

साधारण पढ़ना बारह साल की उम्र में ही ख़त्म कर दिया था ! बेशक, पढ़ना छोड़ देने से उस बहादुर, अंग्रेज़ कर्नल को यह फ़ायदा ही हुआ कि उसे बेचैनी पैदा करनेवाले विचार आये ही नहीं, और शायद इसीके बाद उसे युक्तप्रान्त की जेलों के इन्सपेक्टर-जनरल की जगह पर तरक़्क़ी पा जाने में मदद मिली।

जाड़े की लम्बी रातों और हिन्दुस्तान के साफ़ आसमान ने हमारा ध्यान तारों की तरफ़ खींचा, और कुछ नक़शों की मदद से हमने कई तारे पहचान लिये। हर रात हम उनके उगने का इन्तज़ार करते थे और मानो अपने पुराने परिचितों के दर्शन करते हों, इस आनन्द से उनका स्वागत करते थे।

इस तरह हम अपना वक़्त गुज़ारते थे। दिन गुज़रते-गुज़रते हफ़्ते हो जाते और हफ़्ते महीने हो जाते। हम अपनी रोज़मर्रा की रहन-सहन के आदी हो गये। मगर बाहर की दुनिया में असली बोझ तो हमारे महिला-वर्ग पर — हमारी माताओं, पत्नियों और बहनों पर पड़ा। वे इन्तज़ार करते-करते थक गयीं, और जब उनके प्रिय जन जेल के सींखचों में बन्द थे उन्हें अपनेको आज़ाद रखना बहुत खटकता था।

दिसम्बर १९२१ में हमारी पहली गिरफ़्तारी के बाद ही इलाहाबाद के हमारे मकान, आनन्द-भवन, में पुलिसवालों ने अक्सर आना-जाना शुरू किया। वे उन जुर्मानों को वसूल करने आते थे, जो पिताजी पर और मुझपर किये गये थे। कांग्रेस की नीति यह थी कि जुर्माना न दिया जाय। इसलिए पुलिस रोज़-रोज़ आती और कुछ-न-कुछ फ़र्नीचर क़ुर्क़ करके उठा ले जाती। मेरी चार साल की छोटी लड़की इन्दिरा इस बार-बार की लगातार लूट से बहुत नाराज़ होती थी। उसने पुलिस का विरोध किया और अपनी सख़्त नाराज़गी ज़ाहिर की। मुझे आशंका है कि पुलिस-दल के बारे में उसके ये बचपन के भाव उसके भावी विचारों पर असर डाले बिना न रहेंगे।

जेल में पूरी कोशिश की जाती थी कि हमें मामूली ग़ैर-राजनैतिक क़ैदियों से अलग रक्खा जाय। मामूली तौर पर राजनैतिक क़ैदियों के लिए अलग जेलें मुक़र्रर कर दी जाती थीं। मगर पूरी तरह अलहदा किया जाना तो नामुमकिन था, और हम उन क़ैदियों से अक्सर मिल लेते थे, और उनसे तथा ख़ुद तजुर्बे से हमने जान लिया कि उन दिनों वास्तव में जेल की ज़िन्दगी कैसी होती थी। उसे मार-पीट और ज़ोर की रिश्वतख़ोरी और भ्रष्टता की एक कहानी ही समझना चाहिए। खाना अजीब तौर पर ख़राब था; मैंने कई मर्तबा उसे खाने की कोशिश की मगर बिलकुल न खाये जाने लायक़ पाया। कर्मचारी आमतौर पर बिलकुल अयोग्य थे और उन्हें बहुत कम तनख़्वाहें मिलती थीं। मगर उनके लिए क़ैदियों या क़ैदियों के रिश्तेदारों से हर मुमकिन मौक़े पर रुपया ऐंठकर अपनी आमदनी बढ़ाने का रास्ता पूरी तरह खुला था। जेलर और उसके असिस्टेण्टों और वार्डरों के कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व, जेल-मैन्युअल में लिखे मुताबिक़, इतने

ज़्यादा और इतने क़िस्म के थे कि किसी भी आदमी के लिए उनका ईमानदारी या योग्यता के साथ पालन करना नामुमकिन था। युक्तप्रान्त में (और सम्भवतः दूसरे प्रान्तों में भी) जेल-शासन की सामान्य नीति का क़ैदी को सुधारने या उसे अच्छी आदतें या उपयोगी धन्धे सिखाने से कोई सम्बन्ध न था। जेल की मशक़्क़त का मक़सद सज़ायाफ़्ता आदमी को तंग करना था[1] और यह कि उसको इतना भयभीत कर दिया जाय और दबाकर पूरी तरह आज्ञानुवर्ती कर लिया जाय, जिससे जब वह जेल से छूटे तो दिल में उसका डर और ख़ौफ़ लेकर जावे और आयन्दा जुर्म करने और फिर जेल लौटने से बाज़ आवे।

पिछले कुछ बरसों में कुछ सुधार ज़रूर हुए हैं। खाना थोड़ा सुधरा है, और कपड़े वग़ैरा भी सुधरे हैं। यह भी ज़्यादातर राजनैतिक क़ैदियों के छूटने के बाद उनके बाहर आन्दोलन करने के कारण हुआ है। असहयोग के कारण वार्डरों की तनख़्वाहों में भी काफ़ी तरक़्क़ी हुई है, ताकि वे 'सरकार' के वफ़ादार बने रहें। लड़कों और छोटी उम्र के क़ैदियों को पढ़ना-लिखना सिखाने के लिए भी अब थोड़ी-सी कोशिश की जाती है। मगर अच्छे होते हुए भी, इन सुधारों से असली सवाल कुछ भी हल नहीं होता है और अब भी ज़्यादातर वही पुरानी भावना चली आ रही है।

ज़्यादातर राजनैतिक क़ैदियों को मामूली क़ैदियों के साथ किये जानेवाले इस नियमित व्यवहार को ही सहना पड़ा। उन्हें कोई विशेष अधिकार या व्यवहार नहीं मिला, मगर दूसरों से ज़्यादा तेज़-तर्रार और समझदार होने के कारण

---

[1]युक्तप्रान्त के जेल-मैन्युअल की धारा ९८७ में, जो अब नये संस्करण से हटा दी गयी है, लिखा था—

"जेल में मशक़्क़त करना सिर्फ़ काम देने के लिए ही नहीं बल्कि ख़ासकर सजा देने के लिए समझा जाना चाहिए। इसका भी ज्यादा ख़याल न किया जाये कि उससे खूब पैसा पैदा किया जा सकता है। सबसे ज्यादा जरूरी बात यह है कि जेल का काम तकलीफ़-देह और मेहनत का होना चाहिए और उससे बदमाशों को ख़ौफ़ पैदा होना चाहिए।

इसके मुक़ाबले रूस के एस० एफ़० एस० आर० की ताज़ीरात फ़ौजदारी की नीचे लिखी धारा देखने योग्य है—

धारा ९—"सामाजिक सुरक्षा के उपायों का यह उद्देश्य नहीं है कि शारीरिक यातनाएँ दी जायँ, न यह है कि मनुष्य के गौरव को गिराया जाय, और न यह कि बदला लिया जाय या दण्ड दिया जाय।"

धारा २६—"सजाएं देना चूंकि सुरक्षा का ही एक उपाय है, वह तकलीफ़ें देने के उसूल से बिलकुल बरी होना चाहिए, और उससे अपराधी को अनावश्यक अथवा व्यर्थ तकलीफ़ें न पहुँचनी चाहिएँ।"

उनसे आसानी से कोई बेजा फ़ायदा नहीं उठा सकता था, न उनसे रुपया ऐंठा जा सकता था। इस सबब से आप ही कर्मचारी उन्हें पसन्द नहीं करते थे, और जब मौक़ा आता तो उनमें से किसीको भी जेल के क़ायदे टूटने पर सख़्त सज़ा दी जाती। ऐसे ही क़ायदे तोड़ने के लिए एक छोटे लड़के को, जिसकी उम्र १५ या १६ साल की थी और जो अपनेको 'आज़ाद' कहता था, बेंत की सज़ा दी गयी। वह नंगा किया गया और बेंत की टिकटी से बाँध दिया गया, और जैसे-जैसे बेंत उसपर पड़ते थे और उसकी चमड़ी उधेड़ डालते थे, वह 'महात्मा गांधी की जय' चिल्लाता था। हर बेंत के साथ वह लड़का तबतक यही नारा लगाता रहा, जबतक बेहोश न हो गया। बाद में वही लड़का उत्तर-भारत के आतंककारी कार्यों के दल का एक नेता बना।

१४
फिर बाहर

आदमी को जेल में कई बातों का अभाव मालूम होता है, मगर सबसे अधिक अभाव तो शायद स्त्रियों के मधुर वचनों का और बच्चों की हँसी का ही अनुभव होता है। जो आवाज़ें वहाँ आमतौर से सुनायी देती हैं वे कोई बहुत प्रिय नहीं होतीं। वे अधिकतर कठोर और डरावनी होती हैं। भाषा जंगली होती है और उसमें गाली-गलौज भरी रहती है। मुझे याद है कि मुझे एक बार नयी चीज़ का अभाव मालूम हुआ। मैं लखनऊ-जेल में था और अचानक मुझे महसूस हुआ कि सात या आठ महीने से मैंने कुत्ते का भोंकना नहीं सुना है।

जनवरी १९२३ के आख़िरी दिन लखनऊ-जेल के हम सब राजनैतिक क़ैदी छोड़ दिये गये। उस समय लखनऊ में एक सौ और दो सौ के बीच 'स्पेशल क्लास' के क़ैदी होंगे। दिसम्बर १९२१ या १९२२ के शुरू में जिन लोगों को एक साल या कम की सज़ा मिली थी, वे सब तो अपनी सज़ा पूरी करके चले गये थे; सिर्फ़ वे जिनकी लम्बी सज़ाएं थीं, या जो दोबारा आगये थे, रह गये थे। इस अचानक रिहाई से हम सबको बड़ा ताज्जुब हुआ, क्योंकि आम रिहाई की पहले से कोई ख़बर न थी। प्रान्तीय कौंसिल ने राजनैतिक क़ैदियों की आम रिहाई कर देने के पक्ष में एक प्रस्ताव भी पास किया था, मगर सरकार का शासन-विभाग ऐसी माँगों की सुनवाई बहुत कम करता है। लेकिन घटनावश सरकार की दृष्टि में यह समय उपयुक्त था। कांग्रेस सरकार के विरुद्ध कुछ नहीं कर रही थी, और कांग्रेसवाले आपसी झगड़ों में ही फँसे हुए थे। जेल में भी प्रसिद्ध कांग्रेसी व्यक्ति ज़्यादा नहीं थे, इसलिए यह रिहाई कर दी गयी।

जेल के फाटक से बाहर निकलने में हमेशा एक सन्तोष का भाव और आनन्दोल्लास रहता है। ताज़ी हवा और खुले मैदान, सड़कों पर के चलते हुए दृश्य,

और पुराने मित्रों से मिलना-जुलना, ये सब दिमाग़ में एक खुमारी लाते हैं और कुछ-कुछ दीवाना-सा बना देते हैं। बाहर की दुनिया को देखने से पहले-पहल जो असर होता है उसमें कुछ पागलों का-सा एक आनन्द छाया रहता है। हमारा दिल उछलने लगा, मगर यह भाव थोड़ी देर के लिए ही रहा, क्योंकि कांग्रेस-राजनीति की दशा काफ़ी निराशाजनक थी। ऊँचे आदर्शों की जगह षड्यन्त्र होने लगे थे, और कई गुट उन सामान्य तरीक़ों से कांग्रेस-तन्त्र पर क़ब्ज़ा करने की कोशिश करने लगे थे जिनसे कुछ कोमल भावना रखनेवाले लोगों की निगाह में राजनीति एक घृणित शब्द बन गया है।

मेरे मन का झुकाव तो कौंसिल-प्रवेश के बिलकुल ख़िलाफ़ था, क्योंकि इसका ज़रूरी नतीजा यह मालूम होता था कि समझौता करने की चालें करनी पड़ेंगी और अपना लक्ष्य हमेशा नीचा करना पड़ेगा। मगर सच पूछो तो देश के सामने कोई दूसरा राजनैतिक प्रोग्राम भी नहीं था। अपरिवर्तनवादी 'रचनात्मक कार्यक्रम' पर ज़ोर देते थे, जो कि दरअसल सामाजिक सुधार का कार्यक्रम था और जिसका मुख्य गुण यह था कि उससे हमारे कार्यकर्त्ताओं का जनता से सम्पर्क पैदा हो जाय। मगर इससे उन लोगों को तसल्ली नहीं हो सकती थी जो राजनैतिक कार्य में विश्वास करते थे, और यह कुछ अनिवार्य ही था कि सीधे संघर्ष की लहर के बाद, जो कामयाब न हुई हो, कौंसिल-सम्बन्धी कार्यक्रम आगे आवे। यह कार्यक्रम भी देशबन्धुदास और मेरे पिताजी ने, जोकि इस नये आन्दोलन के नेता थे, सहयोग और रचना के लिए नहीं बल्कि बाधा डालने और मुक़ाबला करने की दृष्टि से सोचा था।

देशबन्धुदास कौंसिलों में भी राष्ट्रीय-संग्राम को जारी रखने के उद्देश्य से वहाँ जाने के पक्ष में हमेशा रहे थे। मेरे पिताजी का भी लगभग यही दृष्टिकोण था। १९२० में जो उन्होंने कौंसिल का बहिष्कार मंज़ूर किया था, वह कुछ अंशों में अपने दृष्टिकोण को गांधीजी के दृष्टिकोण के अधीन कर देने के रूप में था। वह लड़ाई में पूरी तरह शामिल हो जाना चाहते थे, और उस समय ऐसा करने का एक ही रास्ता था कि गांधीजी के नुस्ख़े को सोलहों आना आज़माया जाय। कई नौजवानों के दिमाग़ में यह भरा हुआ था कि जिस तरह सिनफ़ीन ने पार्लमेण्ट की सीटों पर क़ब्ज़ा कर लिया और फिर वे कामन्स-सभा में दाख़िल नहीं हुए, उसी तरह यहाँ भी किया जाय। मुझे याद है कि मैंने १९२० की गर्मियों में गांधीजी पर बहिष्कार के इस तरीक़े को अख़्तियार करने के लिए ज़ोर दिया था, मगर ऐसे मामलों में वह झुकनेवाले नहीं थे। मुहम्मदअली उन दिनों ख़िलाफ़त-सम्बन्धी एक डेपुटेशन के साथ यूरप में थे। लौटने पर उन्होंने बहिष्कार के इस तरीक़े पर अफ़सोस ज़ाहिर किया था। उन्हें सिनफ़ीन-मार्ग ज़्यादा पसन्द था। मगर दूसरे व्यक्ति इस मामले में क्या विचार रखते हैं, इस बात की कोई वक़्त न थी; क्योंकि आख़िरकार गांधीजी का दृष्टिकोण ही क़ायम रहने को था। वही आन्दोलन

के जन्मदाता थे, इसलिए यह ख़याल किया गया कि व्यूह-रचना के बारे में उन्हींको पूर्ण स्वतन्त्रता रहनी चाहिए। सिनफ़ीन तरीक़े के बारे में उनके ख़ास ऐतराज़ (हिंसा से उसका सम्बन्ध होने के अलावा) यह थे कि जनता यह सीधी बात ज़्यादा आसानी से समझ सकती है कि वोट देने के स्थलों का और वोट देने का बहिष्कार कर दिया जाय, मगर सिनफ़ीन तरीक़े को मुश्किल से समझेगी। चुनाव करवा लेने और फिर कौंसिलों में न जाने से जनता के दिमाग़ में उलझन पैदा हो जायगी। इसके सिवा, अगर एक बार हमारे लोग चुन दिये गये तो वे कौंसिलों की तरफ़ ही खिंचेंगे और उन्हें उसके बाहर रखना मुश्किल होगा। हमारे आन्दोलनों में इतना अनुशासन और शक्ति नहीं है कि देर तक उन्हें बाहर रक्खा जा सके, और धीरे-धीरे अपनी स्थितियों से गिरकर लोग कौंसिलों के ज़रिये सरकारी आश्रय का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से फ़ायदा उठाने लगेंगे।

इन दलीलों में सचाई काफ़ी थी, और सचमुच १९२४–२६ में जब स्वराज-पार्टी कौंसिल में गयी तब बहुत-कुछ ऐसा ही हुआ भी। फिर भी कभी-कभी विचार आ ही जाता है, कि अगर कांग्रेस १९२० में कौंसिलों पर क़ब्ज़ा करना चाहती तो क्या हुआ होता? इसमें शक नहीं हो सकता कि चूँकि उस समय ख़िलाफ़त-कमिटी भी साथ थी, वह प्रान्तीय तथा केन्द्रीय दोनों ही कौंसिलों की क़रीब-क़रीब हर सीट को जीत सकती थी। आज (अगस्त, १९३४ में) यह फिर चर्चा है कि कांग्रेस असेम्बली के लिए उम्मीदवार खड़े करे, और एक पार्लमेण्टरी-बोर्ड भी बन गया है। मगर १९२० के बाद से हमारे सामाजिक और राजनैतिक जीवन में कई बड़ी-बड़ी दरारें पड़ चुकी हैं, अतः अगले चुनाव में कांग्रेस को कितनी भी कामयाबी क्यों न मिले वह इतनी नहीं हो सकती जितनी १९२० में हो सकती थी।

जेल से छूटने पर कुछ दूसरे लोगों के साथ मैंने भी कोशिश की कि परिवर्तन-वादी और अपरिवर्तनवादी दलों में समझौता हो जाय। किन्तु हमें कुछ भी सफलता न मिली, और मैं इन झगड़ों से ऊब उठा। तब मैं तो संयुक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी के मन्त्री की हैसियत से कांग्रेस को संगठित करने के काम में लग गया। पिछले साल के धक्कों से बहुत छिन्न-भिन्नता आ गयी थी। और उसे दूर करने के लिए काम बहुत था। मैंने बहुत मेहनत की, मगर उसका कोई नतीजा न निकला। असल में मेरे दिमाग़ के लिए कोई काम न था। मगर जल्दी ही मेरे सामने एक नयी तरह का काम आ खड़ा हुआ। मेरी रिहाई के कुछ हफ़्तों के अन्दर ही मैं इलाहाबाद-म्युनिसिपैलिटी के प्रधान-पद पर बैठा दिया गया। यह चुनाव इतना अचानक हुआ कि घटना के पैंतालीस मिनट पहले तक इस बाबत किसीने भी मेरे नाम का ज़िक्र नहीं किया था, बल्कि मेरा ख़याल तक नहीं किया था। मगर अन्तिम घड़ी में कांग्रेस-पक्ष ने यह अनुभव किया कि मैं ही उनके दल में एक ऐसा आदमी हूं जिसका कामयाब होना निश्चित था।

उस साल ऐसा हुआ कि देशभर में बड़े-बड़े कांग्रेसवाले ही म्युनिसिपैलिटियों

के प्रेसिडेण्ट बन गये। देशबन्धु दास कलकत्ता के पहले मेयर बने, विट्ठलभाई पटेल बम्बई कार्पोरेशन के प्रेसिडेण्ट बने, सरदार वल्लभभाई अहमदाबाद के बने। युक्तप्रान्त में ज़्यादातर बड़ी म्युनिसिपैलिटियों में कांग्रेसी ही चेयरमैन थे।

अब तो मुझे म्युनिसिपैलिटी के विविध कामों में दिलचस्पी पैदा होने लगी और मैं उसमें ज़्यादा-से-ज़्यादा वक़्त देने लगा। उसके कई सवालों ने तो मुझे लुभा ही लिया। मैंने इस विषय में ख़ूब अध्ययन किया और म्युनिसिपैलिटी का सुधार करने के मैंने बहुत बड़े-बड़े मनसूबे बाँधे। बाद में मुझे मालूम हुआ कि आजकल हिन्दुस्तानी म्युनिसिपैलिटियों की रचना जिस तरह की गयी है उसके रहते हुए उनमें बड़े सुधारों या उन्नति के लिए बहुत कम गुंजाइश है। फिर भी काम करने के लिए और म्युनिसिपल तन्त्र को साफ़-सूफ़ करने और सुगम बनाने की गुंजाइश तो थी ही, और मैंने इस बात के लिए काफ़ी मेहनत की। उन्हीं दिनों मेरे पास कांग्रेस का काम भी बढ़ रहा था, और प्रान्तीय सेक्रेटरी के अलावा मैं अखिल-भारतीय सेक्रेटरी भी बना दिया गया था। इन विविध कामों की वजह से अक्सर मुझे रोज़ाना पन्द्रह-पन्द्रह घंटे तक काम करना पड़ता था, और दिन ख़त्म होने पर मैं अपने को बिलकुल थका हुआ पाता था।

जेल से घर लौटने पर मेरी आँखों के सामने जो पहला ख़त आया वह इलाहाबाद-हाईकोर्ट के तत्कालीन चीफ़ जस्टिस सर ग्रिमवुड मियर्स का था। यह ख़त मेरे छूटने से पहले लिखा गया था, मगर ज़ाहिरा यह जानते हुए लिखा गया था कि रिहाई होनेवाली है। उसकी सौजन्यपूर्ण भाषा और उनसे अक्सर मिलते रहने के उनके निमन्त्रण से मुझे थोड़ा ताज्जुब हुआ। मैं उन्हें नहीं जानता था। वह इलाहाबाद में अभी १९१९ में ही आये थे, जबकि मैं वकालत के पेशे से दूर होता जाता था। मेरा ख़याल है कि उनके सामने मैंने सिर्फ़ एक ही मुक़दमे में बहस की थी, और हाईकोर्ट में मेरा वह आख़िरी ही मुक़दमा था। किसी-न-किसी कारण से, मुझे ज़्यादा जाने-बूझे बिना ही मेरी तरफ़ उनका कुछ अधिक झुकाव होने लगा। उनकी यह आशा थी, उन्होंने मुझे बाद में बताया, कि मैं ख़ूब आगे बढ़ूँगा, और इसलिए मुझे अंग्रेज़ों के दृष्टिकोण समझाने में वह मुझपर अपनी नेक सलाह का असर डालना चाहते थे। वह बड़ी बारीकी से काम कर रहे थे। उनकी राय थी, और अब भी कई अंग्रेज़ ऐसा ही समझते हैं कि हिन्दुस्तान के साधारण 'गरम' राजनीतिक ब्रिटिश-विरोधी इसलिए हो गये हैं कि सामाजिक क्षेत्र में अंग्रेज़ों ने उनके साथ बुरा बर्ताव किया है। इसीसे रोष, तीव्र दुःख और 'गरम-पन' पैदा हो गया है। यह कहा जाता है, और इसे कई ज़िम्मेदार लोगों ने भी दोहराया है, कि मेरे पिताजी को एक अंग्रेज़ी क्लब में नहीं चुना गया इसीसे वह ब्रिटिश-विरोधी और 'गरम' विचार के हो गये। यह बात बिलकुल निराधार है, और एक बिलकुल दूसरी तरह की घटना का विकृत रूप है।[1]

[1] इस घटना का ज़्यादा हाल जानने के लिए अध्याय ३८ का फ़ुटनोट देखिए। —अनु०

मगर अंग्रेज़ों को ऐसी मिसालें, चाहे वे सही हों या ग़लत, राष्ट्रीय आन्दोलन की उत्पत्ति का सीधा और काफ़ी कारण मालूम होती हैं। वस्तुतः, मेरे पिताजी को और मुझे इस मामले में कोई ख़ास शिकायत थी ही नहीं। व्यक्तिगत रूप से अंग्रेज़ हमेशा हमसे शिष्टता से पेश आते थे, और उनसे हमारी अच्छी बनती है, हालाँकि सभी हिन्दुस्तानियों की तरह बेशक हमें अपनी जाति की ग़ुलामी का भान रहा और वह हमें बहुत ज्यादा खटकती रही। मैं मानता हूं कि आज भी मेरी अंग्रेज़ों से बहुत अच्छी पटती है, बशर्ते कि वह कोई अधिकारी न हो और मुझपर मेहरबानी न जताता हो। और इतने में भी हमारे सम्बन्धों में विनोद-प्रियता की कमी नहीं होती। शायद नरम दलवालों तथा अन्य लोगों की बनिस्बत, जो हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ों से राजनैतिक सहयोग करते हैं, मेरा अंग्रेज़ों से ज्यादा मेल खाता है।

सर ग्रिमवुड का इरादा था कि दोस्ताना मेल-जोल, सरल और शिष्टतापूर्ण बर्ताव के द्वारा कटुता के इस मूल कारण को निकाल डालें। मेरी उनसे कई बार मुलाक़ात हुई। किसी-न-किसी म्युनिसिपल टैक्स पर एतराज़ करने के बहाने वह मुझसे मिलने के लिए आया करते थे और दूसरी बातों पर बहस किया करते थे। एक मर्तबा उन्होंने हिन्दुस्तान के लिबरलों पर खूब हमला किया। वह उन्हें डरपोक, ढीले, अवसरवादी, चरित्र-बल व साहस से रहित कहने लगे, और उनकी भाषा में कठोरता और घृणा आ गयी। उन्होंने कहा—"क्या आप समझते हैं कि हमारे दिल में उनके लिए कोई इज़्ज़त है?" मुझे ताज्जुब होता था कि वह मुझसे इस तरह की बातें क्यों कर रहे हैं; शायद उनका ख़याल था कि ऐसी बातों से मैं ख़ुश होऊँगा। इसके बाद बातचीत फेरकर वह नयी कौंसलों, उनके मन्त्रियों और उनको देश-सेवा करने का कितना बड़ा मौक़ा मिला है इन बातों की चर्चा करने लगे। देश के सामने सबसे ज़रूरी सवाल शिक्षा का है। क्या किसी शिक्षा-मन्त्री को, जिसे अपनी इच्छा के अनुसार काम करने की आज़ादी हो, लाखों आदमियों की क़िस्मत सुधारने का मौक़ा नहीं है? क्या यह ज़िन्दगी का सबसे बड़ा मौक़ा नहीं है? उन्होंने कहा, फ़र्ज़ कीजिए कि आप-जैसा कोई आदमी जिसमें समझदारी, चरित्र-बल, आदर्श और आदर्शों को व्यवहार में लाने की शक्ति हो, प्रान्त की शिक्षा का ज़िम्मेदार हो, तो क्या वह अद्भुत काम करके नहीं दिखा सकता? और उन्होंने कहा कि मैं हाल में ही गवर्नर से मिला हूं, और विश्वास रखिए कि आपको अपनी नीति चलाने की पूरी आज़ादी रहेगी। फिर, शायद यह अनुभव करके कि वह ज़रूरत से ज्यादा आगे बढ़ गये हैं, उन्होंने कहा कि सरकारी तौर पर किसी की तरफ़ से कोई वादा तो वह नहीं कर सकते, मगर जो तजवीज़ उन्होंने रक्खी है वह उनकी ख़ुद की ही है।

सर ग्रिमवुड ने बड़ी सफ़ाई और टेढ़े-मेढ़े तरीक़े से जो प्रस्ताव रखा उसकी

तरफ़ मेरा ध्यान तो गया, मगर सरकार का मन्त्री बनकर उसका साथ देने का विचार मैं कर ही नहीं सकता था। वास्तव में इस ख़याल से ही मैं नफ़रत करता था। मगर, उस समय और उसके बाद भी, कुछ ठोस, निश्चित और रचनात्मक काम करने का मौक़ा पाने की अक्सर कामना की है। विनाश, आन्दोलन, और असहयोग तो मानव-प्राणी की दैनिक प्रवृत्तियाँ नहीं हो सकतीं; फिर भी हमारी क़िस्मत में यही लिखा है कि संघर्ष और विनाश के रेगिस्तान में से गुज़रने के बाद ही उस देश में पहुँच सकते हैं जहाँ हम रचना कर सकते हैं, और सम्भव है कि हममें से ज़्यादातर लोग अपनी शक्तियाँ और जीवन उन रेगिस्तानों को परिश्रम व प्रयत्न से पार करने में ही बिता देंगे, और रचना का काम हमारी सन्तानों या उनकी सन्तानों के हाथ से होगा।

उन दिनों, कम-से-कम युक्तप्रान्त में तो, मन्त्रि-पद बहुत सस्ते हो गये थे। दो नरम-दली मन्त्री, जो असहयोग के ज़माने में काम कर रहे थे, हट गये थे। जब कांग्रेस के आन्दोलन ने मौजूदा तन्त्र को तोड़ना चाहा, तब सरकार ने कांग्रेस से लड़ने के लिए नरम-दली मन्त्रियों से फ़ायदा उठाने की कोशिश की। सरकारी लोग उन दिनों उनको मान देते थे और उनके प्रति आदर प्रदर्शित करते थे, क्योंकि इस मुश्किल वक़्त में उन्हें सरकार का हिमायती बनाये रखने के लिए यह ज़रूरी था। शायद वे समझते थे कि यह मान और प्रतिष्ठा उन्हें बतौर हक़ के दी जा रही है, मगर वे नहीं जानते थे कि यह तो कांग्रेस के सामूहिक आक्रमण के परिणामस्वरूप सरकार की एक चालमात्र थी। जब आक्रमण हटा लिया गया, तो सरकार की निगाह में नरमदली मन्त्रियों की क़ीमत बहुत गिर गयी और साथ ही वह मान और प्रतिष्ठा भी जाती रही। मन्त्रियों को यह अखरा, मगर उनका कुछ बस न चला और जल्दी ही उन्हें इस्तीफ़ा दे देना पड़ा। तब नये मन्त्रियों के लिए तलाश होने लगी, और इसमें जल्दी कामयाबी नहीं हुई। कौंसिलों में जो मुट्ठीभर नरमदली लोग थे, वे अपने साथियों की, जो बग़ैर किसी लिहाज़ के निकाल बाहर किये गये थे, हमदर्दी के सबब दूर ही रहे। दूसरे लोगों में, जो ज़्यादातर ज़मींदार थे, शायद ही कुछ ऐसे हों जो मामूली तौर पर भी शिक्षित कहे जा सकें। कांग्रेस-द्वारा कौंसिलों का बहिष्कार होने से उनमें एक अजीब पचरंगी गिरोह दाख़िल हो गया था।

यह एक प्रसिद्ध बात है कि इसी समय, या कुछ समय बाद, एक शख़्स को मन्त्री बनने के लिए कहा गया। उसने जवाब दिया कि मैं बहुत होशियार आदमी होने का फ़ख्र तो नहीं करता, मगर मैं अपने को मामूली समझदार और शायद औसत दर्जे के लोगों से कुछ ज़्यादा ही समझदार समझता हूँ, और मैं समझता हूँ कि मेरी ऐसी प्रसिद्धि भी है; क्या सरकार चाहती है कि मैं मन्त्रि-पद मंज़ूर कर लूँ और दुनिया में अपने-आपको सख़्त बेवकूफ़ ज़ाहिर करूँ?

यह विरोध कुछ उचित भी था। नरम-दली मन्त्री कुछ संकुचित विचार

के थे, राजनीति या सामाजिक मामलों में उनकी दृष्टि दूर तक नहीं जाती थी। मगर यह तो उनके निकम्मे लिबरल सिद्धान्तों का क़सूर था। परन्तु उनमें काम की योग्यता अच्छी थी, और अपने दफ़्तर का रोज़मर्रा का काम वे ईमानदारी से करते थे। उनके बाद जो मन्त्री बने उनमें से कुछ ज़मींदार-वर्ग में से आये, और उनकी शिक्षा, प्रचलित मानी में भी, बहुत ही सीमित थी। मैं समझता हूँ कि उन्हें ठीक तौर पर सिर्फ़ साक्षर कह सकते थे, इससे ज़्यादा नहीं। कभी-कभी ऐसा मालूम होता था कि गवर्नर ने इन भले आदमियों को हिन्दुस्तानियों को बिलकुल अयोग्य साबित करने के लिए ही चुना और ऊँची जगह पर नियुक्त कर दिया था। उनके बारे में यह कहना बिलकुल उचित होगा कि—

दिया भाग्य ने इसी हेतु तुझको यह ऊँचा उद्भव है,
जिससे दुनिया कहे भाग्य को कुछ भी नहीं असम्भव है।[1]

चाहे शिक्षित हों या नहीं, मगर इन मन्त्रियों की तरफ़ ज़मींदारों के वोट तो थे ही, और वे बड़े अफ़सरों को बढ़िया गार्डन-पार्टियाँ भी दे सकते थे। भूख से तड़पते हुए किसानों से जो रुपया उनके पास आता था, उसका इससे अच्छा उपयोग और क्या हो सकता था!

१५

सन्देह और संघर्ष

मैं बहुत-से कामों में लग गया, और इस तरह मैंने उन मामलों से बचने की कोशिश की जो मुझे परेशानी में डाले हुए थे। लेकिन उनसे बचना संभव न था। जो प्रश्न बार-बार मेरे मन में उठते थे, और जिनका कोई सन्तोषजनक उत्तर मुझे नहीं मिलता था, उनसे मैं कहाँ भाग सकता था? इन दिनों जो काम मैं करता था वह सिर्फ़ इसलिए कि मैं अपने अन्तर्द्वन्द्व से बचना चाहता था। बात यह है कि वह १९२०-२१ की तरह मेरी आत्मा का सोलहों आने प्रतिबिम्ब नहीं था। उस वक़्त जो आवरण मुझपर पड़ा हुआ था अब उससे मैं निकल आया था, और अपने चारों तरफ़ हिन्दुस्तान में और हिन्दुस्तान से बाहर जो कुछ हो रहा था उसपर निगाह डाल रहा था। मैंने बहुत-से ऐसे परिवर्तन देखे जिनकी तरफ़ अभी तक मेरा ख़याल ही नहीं गया था। मैंने नये-नये विचार देखे, और नये-नये संघर्ष; और मुझे प्रकाश की जगह उलटे बढ़ती हुई अस्पष्टता दिखायी दी। गांधीजी के नेतृत्व में मेरा विश्वास बना रहा, लेकिन उनके प्रोग्राम के कुछ हिस्सों की मैं बारीकी से छान-बीन करने लगा। पर वह तो थे जेल में।

[1] रिचर्ड गार्नेट के एक पद्य का भावानुवाद।

हम लोग जब चाहते तब उनसे मिल नहीं सकते थे, और न उनकी सलाह ही ले सकते थे। उन दिनों जो दो पार्टियाँ—कौंसिल-पार्टी और अपरिवर्तनवादी—काम कर रही थीं उनमें से कोई भी मुझे आकर्षित नहीं कर रही थी। कौंसिल-पार्टी ज़ाहिरा तौर पर सुधारवाद और विधानवाद की तरफ़ झुक रही थी, और मुझे लगा कि यह मार्ग तो हमें एक अन्धी गली में ले जाकर डाल देगा। अपरिवर्तनवादी महात्माजी के कट्टर अनुयायी माने जाते थे, लेकिन महान् पुरुषों के दूसरे सब अनुयायियों की तरह वे भी उनके उपदेशों के सार को न ग्रहण कर उनके अक्षरों के अनुसार चलते थे। उनमें सजीवता और संचालन-शक्ति नहीं थी, और व्यवहार में उनमें से ज़्यादातर लोग लड़ाकू नहीं थे और सीधे-सादे समाज-सुधारक थे। लेकिन उनमें एक गुण था। आम जनता से उन्होंने अपना सम्बन्ध बनाये रखा था, जबकि कौंसिलों में जानेवाले स्वराजी सोलहों आने पार्लमेण्टों की पैंतरेबाज़ियों में ही लगे रहे।

मेरे जेल से छूटते ही देशबन्धु दास ने मुझे स्वराजियों के मत का बनाने की कोशिश की। यद्यपि मुझे दिखायी नहीं देता था कि मुझे क्या करना चाहिए, और उन्होंने अपनी सारी वकालत ख़र्च कर दी, तो भी मेरा दिल उनके अनुकूल न हुआ। यह बात विचित्र किन्तु ध्यान देने योग्य थी। इससे मेरे पिताजी के स्वभाव का पता भी लगता था, कि उन्होंने मुझपर कभी इस बात के लिए ज़ोर या असर डालने की कोशिश नहीं की कि मैं स्वराजी हो जाऊँ, यद्यपि वह ख़ुद स्वराज-पार्टी के लिए उन दिनों बहुत उत्सुक थे। साफ़ ज़ाहिर है कि अगर मैं उनके आन्दोलन में उनके साथ हो जाता तो उन्हें बड़ी ख़ुशी होती, लेकिन मेरे भावों के लिए उनके दिल में इतना ज़्यादा ख़याल था कि जहाँतक इस मामले से ताल्लुक़ था उन्होंने सब कुछ मेरी मर्ज़ी पर ही छोड़ दिया; मुझसे कभी कुछ नहीं कहा।

इन्हीं दिनों मेरे पिताजी और देशबन्धु दास में बहुत गहरी मित्रता पैदा हो गयी। यह मित्रता राजनैतिक मित्रता से कहीं ज़्यादा गहरी थी। इस मित्रता में मैंने जो प्रेम की गहराई और अपनापन देखा, उसपर कम अचरज न हुआ, क्योंकि बड़ी उम्र में तो गहरी मित्रता शायद ही कभी पैदा होती हो। पिताजी के मेल-मुलाक़ातियों की तादाद बहुत बड़ी थी। उनके साथ हँस-बोलकर घुल-मिल जाने का उनमें विशेष गुण था। लेकिन वह मित्रता बहुत सोच-विचार कर ही करते थे, और ज़िन्दगी के पिछले सालों में तो वह ऐसी बातों में आस्थाहीन हो गये थे। लेकिन उनके और देशबन्धु के बीच में तो कोई बाधा न ठहर सकी, और दोनों एक-दूसरे को हृदय से चाहने लगे। मेरे पिताजी देशबन्धु से नौ बरस बड़े थे, फिर भी शारीरिक दृष्टि से वही ज़्यादा ताक़तवर और तन्दुरुस्त थे। हालाँकि दोनों की क़ानूनी शिक्षा और वकालत की कामयाबी का पिछला इतिहास एक-सा ही था, फिर भी दोनों में कई बातों में बड़ा अन्तर था। देशबन्धु दास

वकील होने पर भी कवि थे। उनका दृष्टिकोण भावुकतामय—कवियों का-सा—था। मेरा ख़याल है कि उन्होंने बंगाली में बहुत अच्छी कविताएं भी लिखी हैं। वह बड़े अच्छे वक्ता थे, तथा उनकी प्रकृति धार्मिक थी। मेरे पिताजी उनसे अधिक व्यावहारिक और रूखे-से थे, उनमें संगठन करने की बहुत बड़ी शक्ति थी, और धर्मनिष्ठा का उनमें नामो-निशान न था। वह हमेशा लड़ाके रहे थे—हर वक़्त चोट खाने और करने को तैयार। जिन लोगों को वह बेवक़ूफ़ समझते थे, उनको क़तई बरदाश्त नहीं कर सकते थे, अपनी खुशी से तो नहीं ही करते थे। और वह अपना विरोध भी बरदाश्त नहीं कर सकते थे। कोई उनका विरोध करता, तो उन्हें वह ऐसी चुनौती मालूम पड़ती कि जिसका पूरी तरह मुकाबला करना ही चाहिए। मालूम होता था कि मेरे पिताजी और देशबन्धु यद्यपि कई बातों में एक-दूसरे से भिन्न थे, फिर भी एक-दूसरे के साथ अच्छा मेल खा गये। पार्टी के नेतृत्व के लिए इन दोनों का मेल बहुत ही उम्दा और कारगर साबित हुआ। इनमें हरेक, कुछ हद तक, दूसरे की कमी को पूरा करता था। यहाँ तक कि दोनों ने एक-दूसरे को यह अधिकार दे दिया था कि किसी भी क़िस्म का बयान या ऐलान निकालते वक़्त एक-दूसरे के नाम का इस्तेमाल कर सकता है। इसके लिये पहले से पूछने या सलाह लेने की कोई ज़रूरत नहीं।

स्वराज-पार्टी को मज़बूती के साथ क़ायम करने में और देश में उसकी ताक़त और धाक जमाने में इस व्यक्तिगत मित्रता का बहुत-कुछ हाथ था। शुरू से ही इस पार्टी में फूट फैलानेवाली प्रवृत्तियां थीं, क्योंकि कौंसिलों के ज़रिये अपनी ज़ाती तरक़्क़ी की गुंजाइश होने की वजह से बहुत-से अवसरवादी और ओहदों के भूखे लोग उसमें आ घुसे थे। उनमें कुछ असली माडरेट भी थे, जिनका झुकाव सरकार के साथ सहयोग करने की तरफ़ ज़्यादा था। चुनाव के बाद ज्योंही ये प्रवृत्तियाँ सामने आने लगीं, त्योंही पार्टी के नेताओं ने उनकी निन्दा की। मेरे पिताजी ने ऐलान किया कि मैं पार्टी के शरीर से सड़े हुए अंग को काटने में न हिचकूँगा, और उन्होंने अपने इसी ऐलान के अनुसार काम भी किया।

१९२३ से आगे अपने पारिवारिक जीवन में मुझे बहुत सुख व सन्तोष मिलने लगा, हालाँकि मैं पारिवारिक जीवन के लिये बिलकुल वक़्त न दे सकता था। अपने पारिवारिक सम्बन्धों में मैं बड़ा भाग्यशाली रहा हूँ। ज़बरदस्त कशमकश और मुसीबतों के वक़्त में मुझे अपने परिवार में शान्ति और सान्त्वना मिली है। मैंने महसूस किया कि इस दिशा में मैं स्वयं कितना अपात्र निकला। यह सोचकर मुझे कुछ शर्म भी मालूम हुई। मैंने महसूस किया कि १९२० से लेकर मेरी पत्नी ने जो उत्तम व्यवहार किया उसका मैं कितना ऋणी हूँ! स्वाभिमानी और मृदुल स्वभाव की होते हुए भी उसने न सिर्फ़ मेरी सनकों ही को बरदाश्त किया, बल्कि जब जब मुझे शांति और सन्तोष की सबसे ज़्यादा ज़रूरत थी तब-तब वह उसने मुझे दी।

१९२० से हमारे रहन-सहन के ढंग में कुछ फ़र्क़ पड़ गया था। वह बहुत सादा हो गया था, और नौकरों की संख्या भी बहुत कम कर दी गई थी। फिर भी उससे किसी आवश्यक आराम में कोई कमी नहीं हुई थी। किसी हद तक तो आवश्यक चीज़ों को अलग करने के लिए, और कुछ हद तक चालू ख़र्च के लिए रुपया इकट्ठा करने के वास्ते, बहुत-सी चीज़ें, घोड़े-गाड़ियाँ और घर-गृहस्थी की वे सब चीज़ें जो हमारे रहन-सहन के नये ढंग के लिए उपयुक्त नहीं थीं, बेच दी गयी थीं। हमारे फ़र्नीचर का कुछ हिस्सा तो पुलिस ने ही लेकर बेच दिया था। इस फ़र्नीचर की और मालियों की कमी से घर की सफ़ाई और ख़ूबसूरती कम हो गई, और बाग़ जंगल-सा हो गया। कोई तीन साल तक घर व बाग़ की तरफ़ नहीं-के बराबर ध्यान दिया गया था। बहुत हाथ खोलकर ख़र्च करने के आदी होने की वजह से पिताजी कई बातों की किफ़ायतशारी पसन्द नहीं करते थे। इसलिए उन्होंने तय किया कि वह, घर बैठे-बैठे, लोगों को क़ानूनी सलाह देकर कुछ पैसे पैदा किया करें।

जो वक़्त सार्वजनिक कामों से बचा रहता उसमें वह यह काम करते थे। उनके पास वक़्त बहुत कम बचता था, फिर भी वह इस हालत में भी काफ़ी कमा लेते थे।

ख़र्च के लिए पिताजी पर अवलम्बित रहने की वजह से मैं बहुत ही दुःख और ग्लानि अनुभव करता था। जबसे मैंने वकालत छोड़ी थी, तबसे असल में मेरी कोई निजी आमदनी नहीं रही—सिर्फ़ उस न-कुछ आमदनी को छोड़कर जो शेअरों के मुनाफ़े (डिवीडेण्ड) के रूप में मिलती थी। मेरा और मेरी पत्नी का ख़र्च ज्यादा न था। सच बात तो यह है कि मुझे यह देखकर काफ़ी अचरज हुआ कि हम लोग इतने कम ख़र्च में अपना काम चला लेते हैं। इसका पता मुझे १९२१ में लगा, और उससे मुझे बड़ा सन्तोष हुआ। खादी के कपड़ों और रेल के तीसरे दर्जे के सफ़र में ज़्यादा ख़र्च नहीं पड़ता। उन दिनों पिताजी के साथ रहने की वजह से मैं पूरी तरह यह अनुभव नहीं कर सका कि इनके अलावा भी घर-गृहस्थी के ऐसे बहुत बेशुमार ख़र्च हैं जिनका जोड़ बहुत ज़्यादा बैठता है। कुछ भी हो, रुपया न रहने के डर ने मुझे कभी नहीं सताया। मेरा ख़याल है कि ज़रूरत पड़ने पर मैं काफ़ी कमा सकता हूँ, और हम लोग अपना काम बहुत-कम ख़र्च में चला सकते हैं।

पिताजी के ऊपर हमारा कोई बहुत बड़ा बोझ नहीं था। इतना ही नहीं, अगर उनको इस बात का इशारा भी मिल जाता कि हम अपने को उनपर एक बोझ समझते हैं तो उन्हें बड़ा दुःख होता। फिर भी मैं जिस हालत में था उसको पसन्द नहीं करता था, और तीन साल तक मैं इस मामले पर सोचता रहा, लेकिन मुझे उसका कोई हल नहीं मिला। मुझे ऐसा काम ढूँढ लेने में कोई मुश्किल न थी जिससे मैं कमाई कर लेता, लेकिन ऐसा काम कर लेने के

मानी थे कि पब्लिक का जो काम मैं कर रहा था उसे या तो बन्द कर दूँ या कम कर दूँ। इस वक़्ततक मैं जितना समय दे सकता था वह सब मैंने कांग्रेस और म्युनिसिपैलिटी के काम में लगाया। मुझे यह बात पसन्द नहीं आयी कि मैं रुपया कमाने के लिए उस काम को छोड़ दूँ। बड़े-बड़े औद्योगिक फ़र्मों ने मुझे रुपये की दृष्टि से बड़े-बड़े लाभदायक काम सुझाये, मगर उनको मैंने नामंजूर कर दिया। शायद वे इतना ज़्यादा रुपया महज़ मेरी योग्यता के खयाल से उतना नहीं देना चाहते थे, जितना कि मेरे नाम का फ़ायदा उठाने की दृष्टि से। मुझे बड़े-बड़े उद्योग-धन्धेवालों के साथ इस तरह का सम्बन्ध करने की बात अच्छी नहीं लगी। मेरे लिए यह बात बिलकुल असम्भव थी कि मैं फिर से वकालत का पेशा अख्तियार करता, क्योंकि वकालत के लिए मेरी अरुचि बढ़ गयी थी, और वह बढ़ती ही चली गयी।

१६२४ की कांग्रेस में एक बात उठी थी कि प्रधान-मंत्रियों को वेतन दिया जाना चाहिए। मैं उस समय भी कांग्रेस का प्रधान-मन्त्री था, और मैंने इस विचार का स्वागत किया था। मुझे यह बात बिलकुल ग़लत मालूम होती थी, कि किसी से एक तरफ़ तो यह उम्मीद की जाय कि वह अपना पूरा वक़्त देकर काम करे और दूसरी तरफ़ उसे कम-से-कम पेट भरने भर को भी कुछ न दिया जाय। नहीं तो हमें ऐसे ही आदमियों के भरोसे सार्वजनिक काम छोड़ना पड़ेगा, जिनके पास ख़र्च का निजी इन्तज़ाम हो। लेकिन इस तरह के फ़ुरसतवाले लोग राजनैतिक दृष्टि से हमेशा वाञ्छनीय नहीं होते, और न आप उनको उनके काम के लिए ज़िम्मेदार ही ठहरा सकते हैं। कांग्रेस ज़्यादा नहीं दे सकती थी, क्योंकि हमारी वेतन की दर बहुत कम थी। लेकिन हिन्दुस्तान में सार्वजनिक फ़ण्डों से वेतन लेने के ख़िलाफ़ एक अजीब और बिलकुल अनुचित धारणा फैली हुई है, हालाँकि सरकारी नौकरी की बाबत यह बात नहीं है। पिताजी ने इस बात पर बहुत एतराज़ किया कि मैं कांग्रेस से वेतन लूँ। मेरे सहकारी मंत्री को भी रुपयों की सख़्त ज़रूरत थी, लेकिन वह भी कांग्रेस से वेतन लेना शान के ख़िलाफ़ समझते थे। इसलिए मुझे भी उसके बिना ही रहना पड़ा, हालाँकि मैं उसमें कोई बेइज़्ज़ती की बात नहीं समझता था और वेतन लेने को तैयार था।

सिर्फ़ एक मर्त्तबा मैंने इस मामले में पिताजी से बातें छेड़ीं, और उनसे कहा कि रुपये के लिए परावलम्बी रहना मुझे कितना नापसन्द है। मैंने यह बात जहाँ तक हो सकता था, बड़े संकोच से और घुमा-फिरा कर कही, जिससे उन्हें बुरा न लगे। उन्होंने मुझसे कहा कि "तुम्हारे लिए अपना सारा या अधिकतर समय पब्लिक के काम के बजाय थोड़ा-सा रुपया कमाने में लगाना बड़ी बेवक़ूफ़ी होगी, जबकि मैं (पिताजी) थोड़े दिनों की मेहनत से आसानी से उतना रुपया कमा सकता हूँ जितना तुम्हारे और तुम्हारी पत्नी के लिए साल भर काफ़ी

होगा।" दलील जोरदार थी, लेकिन उससे मुझे सन्तोष नहीं हुआ। फिर भी मैं उनके मुताबिक़ ही काम करता रहा।

इन कौटुम्बिक मामलों में और रुपये-पैसे की परेशानियों में १९२३ से लेकर १९२५ तक के साल बीत गये। इस बीच राजनैतिक हालत बदल रही थी, और क़रीब-क़रीब अपनी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ मुझे भिन्न-भिन्न समूहों में अपने को शामिल करना पड़ा, और कांग्रेस में भी मुझे ज़िम्मेदारी का पद लेना पड़ा। १९२३ में एक अजीब हालत थी। देशबन्धु दास पिछले साल गया-कांग्रेस के सभापति थे। उस हैसियत से वह १९२३ के लिए अ० भा० कांग्रेस कमिटी के अध्यक्ष थे। लेकिन इस कमिटी में बहुमत उनके व स्वराजी नीति के ख़िलाफ़ था, यद्यपि वह बहुमत बहुत थोड़ा-सा था और दोनों दल क़रीब-क़रीब बराबर थे। १९२३ की गर्मियों में बम्बई में अ०भा० कांग्रेस कमिटी की बैठक में मामला यहाँ तक बढ़ गया कि देशबन्धु दास ने कमिटी की अध्यक्षता से इस्तीफ़ा दे दिया और एक छोटा-सा मध्यवर्ती दल आगे आया और उसीने नयी कार्य-समिति बनायी। अ० भा० कांग्रेस कमिटी में इस मध्यवर्ती दल के कोई समर्थक न थे, और यह दो मुख्य पार्टियों में से किसी-न-किसी की कृपा पर ही जीवित रह सकता था। किसी भी एक दल से मिलकर वह दूसरे को थोड़े-से बहुमत से हरा सकता था। डॉक्टर अन्सारी इसके नये अध्यक्ष बने और मैं एक मन्त्री।

फ़ौरन ही हमें दोनों तरफ़ से मुसीबतों का सामना करना पड़ा। गुजरात ने, जो उन दिनों अपरिवर्तनवादियों का एक मज़बूत क़िला था, केन्द्रीय कार्यालय की कुछ आज्ञाओं को मानने से इन्कार कर दिया। गर्मियों के आख़ीर में उसी साल नागपुर में अ० भा० कांग्रेस कमिटी की बैठक की गयी। नागपुर में इन दिनों झंडा-सत्याग्रह चल रहा था। यहीं हमारी कार्य-समिति का, जो अभागे मध्यवर्ती दल की प्रतिनिधि थी, थोड़े वक़्त तक बदनाम ज़िन्दगी बिताने के बाद ख़ातमा हो गया। इस समिति को इसलिए हटाना पड़ा कि असल में ख़ास-तौर पर वह किसीकी भी प्रतिनिधि नहीं थी; और वह उन्हीं लोगों पर हुकूमत चलाना चाहती थी, जिनके हाथ में कांग्रेस संगठन की असली ताक़त थी। कार्य-समिति के इस्तीफ़ा देने का कारण यह हुआ कि उसने केन्द्रीय कार्यालय का हुक्म न मानने के लिए गुजरात-कमिटी पर निन्दा का प्रस्ताव रक्खा था वह गिर गया। मुझे याद है कि अपना इस्तीफ़ा देते हुए मुझे कितनी ख़ुशी हुई और मैंने कितने सन्तोष की साँस ली! पार्टी की पैंतरेबाज़ियों के इस थोड़े-से अनुभव से ही मैं बिलकुल उकता गया, और मुझे यह देखकर बड़ा धक्का लगा कि कुछ प्रसिद्ध कांग्रेसी भी इस तरह साज़िश कर सकते हैं।

इस मीटिंग में देशबन्धु दास ने मुझपर यह इलज़ाम लगाया कि तुम भावनाहीन हो। मैं समझता हूँ कि उनका ख़याल सही था। तुलना के लिए जिस पैमाने से काम लिया जाय उसीपर सब कुछ निर्भर रहता है। अपने

बहुत-से मित्रों और साथियों के मुक़ाबले मैं भावना-हीन हूँ। फिर भी मुझे अपनी बाबत हर वक़्त यह डर रहता है कि कहीं मैं भावुकता या आवेश की लहर में डूब या बह न जाऊँ। बरसों मैंने इस बात की कोशिश की है कि मैं भावना-हीन हो जाऊँ। लेकिन मुझे डर है कि इस मामले में मुझे जो सफलता मिली वह सिर्फ़ ऊपरी ही है।

१९

नाभा का नाटक

स्वराजियों और अपरिवर्तनवादियों की कशमकश चलती रही और स्वराजियों की ताक़त धीरे-धीरे बढ़ती गयी। १९२३ के सितम्बर में दिल्ली में कांग्रेस का जो ख़ास अधिवेशन हुआ, उसमें स्वराजियों का ज़ोर और बढ़ गया। इस कांग्रेस के बाद ही मेरे साथ एक ऐसी घटना हुई जो बड़ी अजीब थी और जिसकी मुझे कोई उम्मीद नहीं थी।

सिक्ख, और उनमें से ख़ासकर अकाली, पंजाब में बार-बार सरकार के संघर्ष में आ रहे थे। उनमें एक सुधार-आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था, और यह काम हाथ में लिया गया था कि बदचलन महन्तों को निकालकर उपासना के स्थानों पर और उनकी सम्पत्ति पर क़ब्ज़ा करके गुरुद्वारों को इस ख़राबी से छुड़ाया जाय। सरकार ने इसमें दख़ल दिया और संघर्ष हो गया। गुरुद्वारा-आन्दोलन कुछ-कुछ असहयोग से उत्पन्न हुई जागृति के सबब से पैदा हुआ था, और अकालियों के तरीक़े अहिंसात्मक सत्याग्रह के ढंग पर बनाये गये थे। यों संघर्ष कई जगहों पर हुए, मगर सबसे बड़ी लड़ाई गुरु-का-बाग़ की थी, जहाँ बीसियों सिक्खों ने, जिनमें कई पहले फ़ौज में काम किये हुए सिपाही भी थे, ज़रा भी हाथ उठाये बिना या अपने कर्त्तव्य से पीठ फेरे बिना पुलिस को बर्बरतापूर्ण मार का सामना किया। इस दृढ़ता और साहस के अद्‌भुत दृश्य से सारा हिन्दुस्तान चकित हो उठा। सरकार ने गुरुद्वारा-कमिटी को ग़ैरक़ानूनी क़रार दे दिया। यह लड़ाई कुछ बरस तक जारी रही, और अन्त में सिक्ख सफल हुए। स्वभावतः कांग्रेस की इसमें हमदर्दी थी, और उसने कुछ वक़्त तक अमृतसर में अकाली-आन्दोलन से निकट-सम्पर्क बनाये रखने के लिए बतौर मध्यस्थ के एक अधिकारी नियुक्त किया था।

जिस घटना का मैं ज़िक्र करनेवाला हूँ उसका इस आम सिक्ख-आन्दोलन से कोई सम्बन्ध नहीं था। मगर इसमें शक नहीं कि वह घटना इस सिक्ख-हलचल के सबब से ही हुई। पंजाब की दो सिक्ख रियासतों—पटियाला और नाभा के नरेशों में बड़ा गहरा ज़ाती झगड़ा था जिसका नतीजा यह हुआ कि भारत-सरकार ने महाराजा नाभा को गद्दी से उतार दिया। नाभा रियासत की हुकूमत करने को एक अंग्रेज़ एडमिनिस्ट्रेटर (राज्य-व्यवस्थापक) नियुक्त कर दिया गया।

सिक्खों ने महाराजा नाभा के गद्दी से उतारे जाने का विरोध किया, और उसके विरुद्ध नाभा में और बाहर दोनों जगह आन्दोलन उठाया। इस आन्दोलन के बीच में, जैतो नामक स्थान पर, अखण्ड पाठ नये एडमिनिस्ट्रेटर-द्वारा रोक दिया गया। इसका विरोध करने के लिए, और रोके हुए पाठ को जारी रखने के स्पष्ट उद्देश्य से, सिक्खों ने जैतो को जत्थे भेजने शुरू किये। पुलिस इन जत्थों को रोकती, मारती, गिरफ़्तार करती और आमतौर पर जंगल में एक बीहड़ जगह में ले जाकर छोड़ देती थी। मैं समय-समय पर इस मार-पीट का हाल पढ़ा करता था। जब मुझे दिल्ली में विशेष कांग्रेस के बाद ही मालूम हुआ कि दूसरा जत्था जा रहा है, और मुझे वहाँ चलने और वहाँ क्या होता है यह देखने का निमन्त्रण मिला, तो मैंने खुशी से उसको मंजूर कर लिया। इसमें मेरा सिर्फ़ एक ही दिन ख़र्च होता था, क्योंकि जैतो दिल्ली के पास ही है। कांग्रेस के दो मेरे साथी भी—आचार्य गिडवानी और मद्रास के के० सन्तानम्—मेरे साथ गये। जत्थे ने ज़्यादातर फ़ासला पैदल चलकर तय किया। यह सोचा गया था कि मैं नज़दीक के रेलवे स्टेशन तक रेल से जाऊँ और फिर जैतो के पास नाभा की सरहद में जिस वक़्त वहाँ जत्था पहुँचनेवाला हो, सड़क के रास्ते पहुँच जाऊँ। हम एक बैलगाड़ी से आये और ठीक वक़्त पर पहुँचे, और जत्थे के पीछे-पीछे उससे अलग रहते हुए चले। जैतो पहुँचने पर जत्थे को पुलिस ने रोक दिया और उसी वक़्त मुझे भी एक हुक्म मिला, जिसपर अंग्रेज़ एडमिनिस्ट्रेटर के दस्तख़त थे कि मैं नाभा के इलाक़े में दाख़िल न होऊँ, और अगर मैं दाख़िल हो गया होऊँ, तो फ़ौरन वापस चला जाऊँ। गिडवानी और सन्तानम् को भी ऐसे ही हुक्म दिये गये, मगर उनमें उनके नाम नहीं लिखे हुए थे, क्योंकि नाभा के अधिकारियों को उनके नाम नहीं मालूम थे। मेरे साथियों ने और मैंने पुलिस-अफ़सर से कहा कि हम जत्थे में शामिल नहीं हैं, सिर्फ़ दर्शक की तरह हैं, और नाभा के किसी भी क़ानून को तोड़ने का हमारा इरादा नहीं है। इसके सिवा जब हम नाभा के इलाक़े में ही थे तो उसमें दाख़िल न होने का सवाल ही नहीं हो सकता था, और स्पष्टतः हम एकदम अदृश्य होकर तो कहीं चले नहीं जा सकते थे। जैतो से दूसरी गाड़ी शायद कई घंटे बाद जाती थी। इसलिए, हमने उससे कहा कि अभी तो हम यहीं रहना चाहते हैं। बस, हम फ़ौरन ही गिरफ़्तार कर लिये गये और हवालात में ले जाकर बन्द कर दिये गये। हमको इस तरह हटाने के बाद, उस जत्थे का वही हाल हुआ जो और जत्थों का होता था।

सारे दिन हम हवालात में बन्द रखे गये और शाम को हमें क़ायदे से स्टेशन ले आया गया। सन्तानम् को और मुझको एक ही हथकड़ी डाली गयी—उनकी बायीं कलाई मेरी दाहिनी कलाई से फाँद दी गयी थी, और हथकड़ी की ज़ंजीर हमें ले चलनेवाले पुलिसवाले ने पकड़ ली। गिडवानी के भी हथकड़ी डाली गयी और वह हमारे पीछे-पीछे चले। जैतो के बाज़ारों से इस प्रकार आते हुए मुझे

बार-बार कुत्तों के ज़ंजीर पकड़कर ले जाने की याद आती थी। आरम्भ में तो हम झल्ला उठे, मगर फिर हमने सोचा कि यह घटना बड़ी मज़ेदार है, और हम इसका मज़ा लेने लगे। उसके बाद की हमारी रात अच्छी नहीं गुजरी। रात को हमारा कुछ वक़्त तो धीमी चालवाली रेल के तीसरे दर्जे के डिब्बे में बीता जो ठसाठस भरा हुआ था—आधी रात को रास्ते में शायद गाड़ी भी बदलनी पड़ी थी। और रात का बाक़ी हिस्सा नाभा की एक हवालात में गुज़रा। इस सारे समय और अगले दिन तीसरे पहर तक, जब कि हम अन्त में नाभा-जेल में रख दिये गये, वह हथकड़ी और भारी ज़ंजीर हमारे साथ ही रही। हम दोनों में से कोई भी एक दूसरे के सहयोग बिना हिल-डुल नहीं सकते थे। एक दूसरे आदमी के साथ सारी रात और दूसरे दिन काफ़ी देर तक हथकड़ी से जुड़ा रहना एक ऐसा अनुभव है जिसका अब फिर मज़ा लेना मैं पसन्द न करूँगा।

नाभा-जेल में हम तीनों एक बहुत ही रद्दी और गन्दी कोठरी में रखे गये। वह छोटी-सी और सीलवाली कोठरी थी, जिसकी छत इतनी नीची थी कि उस तक हमारा हाथ क़रीब-क़रीब पहुँच जाता था। हम ज़मीन पर ही सोये और मैं बीच-बीच में एकाएक जाग उठता था, और तब मालूम होता कि मेरे मुँह पर से कोई चूहा या चुहिया निकल गई है।

दो-तीन दिन बाद पेशी के लिए हमें अदालत ले गये, और बहुत ही ऊटपटाँग ज़ाब्ते से वहाँ रोज़-रोज़ कार्रवाई चलने लगी। मजिस्ट्रेट या जज बिलकुल अपढ़ मालूम पड़ता था। निःसन्देह अंग्रेज़ी तो वह जनता ही न था, मगर मुझे शक है कि वह अपनी अदालत को ज़बान उर्दू लिखना भी शायद ही जानता हो। हम उसे एक हफ़्ते से ज्यादा देखते रहे, और इस अर्से में उसने एक भी लाइन नहीं लिखी। अगर उसे कुछ लिखना होता था तो वह सरिश्तेदार से लिखवाता था। हमने कई छोटी-मोटी अर्ज़ियाँ पेश कीं। वह उस वक़्त उनपर कोई हुक्म नहीं लिखता था। वह उन्हें रख लेता था और दूसरे दिन उन्हें निकालता था। उनपर किसी और के ही लिखे हुए नोट रहते थे। हमने बाक़ायदा अपनी सफ़ाई नहीं दी। असहयोग-आन्दोलन में हमें अपनी पैरवी न करने की इतनी आदत हो गई थी, कि जहाँ पैरवी करने की छुट्टी थी वहाँ भी हमें सफ़ाई देने का ख़याल तक प्रायः बुरा लगता था। मैंने एक लम्बा बयान पेश किया, जिसमें मैंने सारे हाल लिखे, और नाभा रियासत के तरीक़े कैसे हैं, और विशेषतया एक अंग्रेज़ के शासन में, इसपर अपनी राय भी ज़ाहिर की।

हमारा मुक़दमा दिन-ब-दिन बढ़ता ही गया, हालाँकि वह एक काफ़ी सीधा-सा मामला था। अब अचानक एक नई बात और हुई। एक दिन शाम को, उस रोज़ की अदालत उठ जाने के बाद भी, हमें उसी इमारत में बिठा रक्खा। और बहुत देर में, क़रीब ७ बजे, हमें एक दूसरे कमरे में ले गये, जहाँ एक शख़्स मेज़ के सामने बैठा था। और वहाँ और भी कई लोग थे। एक आदमी—वह

वही पुलिस-अफ़सर था जिसने हमें जैतो में गिरफ़्तार किया था—खड़ा हुआ और एक बयान देने लगा। मैंने पूछा कि यह कौन-सी जगह है और यहाँ क्या हो रहा है ? मुझे इत्तिला दी गयी कि यह अदालत है और हमपर षड्यन्त्र करने का मुक़दमा चलाया जा रहा है। यह कार्रवाई उससे बिलकुल भिन्न थी जिसको अभीतक हम देखते थे, और जो नाभा में न दाख़िल होने के हुक्म की उदूली के सिलसिले में चल रही थी। ज़ाहिरा यह सोचा गया कि इस हुक्म-उदूली की ज़्यादा-से-ज़्यादा सज़ा तो सिर्फ़ ६ माह ही है इसलिए यह हमारे लिए काफ़ी न होगी, लिहाज़ा और कुछ ज़्यादा संगीन इलज़ाम लगाना ज़रूरी है। साफ़ है कि सिर्फ़ तीन आदमी षड्यन्त्र के लिए काफ़ी नहीं थे, इसलिए एक चौथे शख़्स को, जिनका हमसे कोई ताल्लुक़ न था, गिरफ़्तार किया गया और उसपर भी हमारे साथ ही मुक़दमा चलाया गया। इस अभागे आदमी को, जो एक सिक्ख था, हम नहीं जानते थे। हाँ, हमने उसे जैतो जाते वक़्त सिर्फ़ खेत में देखा भर था।

मेरे बैरिस्टरपन को यह देखकर बड़ा धक्का लगा कि किस अचानक ढंग से एक षड्यन्त्र का मुक़दमा चलाया जा रहा है! मामला तो बिलकुल झूठा था ही, मगर शिष्टता के ख़ातिर भी तो कुछ ज़ाब्ते की पाबन्दी होनी चाहिए। मैंने जज से कहा कि हमें इसकी पहले से कुछ भी इत्तिला नहीं दी गई और हम अपनी सफ़ाई का इन्तज़ाम भी करना चाहेंगे। मगर इसकी उसने कुछ भी चिन्ता न की। यह नाभा का निराला तरीक़ा था। अगर हमें सफ़ाई के लिए कोई वकील करना हो तो वह नाभा का ही होना चाहिए। जब मैंने कहा कि मैं बाहर का कोई वकील करना चाहूँगा, तो मुझे जवाब मिला कि नाभा के क़ायदों में इसकी इजाज़त नहीं है। इससे नाभा के ज़ाब्ते की विचित्रताओं का हमें और भी ज्ञान हुआ। हमें एक तरह की नफ़रत हो गयी, और हमने जज से कह दिया कि जो उसके जी में आवे करे, हम लोग इस कार्रवाई में कोई हिस्सा न लेंगे। किन्तु मैं इस निर्णय पर पूरी तरह क़ायम न रह सका। अपने बारे में अत्यन्त आश्चर्यजनक झूठी बातें सुनकर चुप रहना मुश्किल था, और इसलिए कभी-कभी हम गवाहों के बारे में मुख़्तसर तौर पर मौक़े मौक़े से अपनी राय ज़ाहिर करते जाते थे। हमने अदालत को असली वाक़यात के बारे में एक तहरीरी बयान दिया। यह दूसरा जज, जो षड्यन्त्र का मुक़दमा चला रहा था, पहले से ज़्यादा शिक्षित और समझदार था।

ये दोनों मुक़दमे चलते रहे और हम दोनों अदालतों में जाने का रोज़ इन्तज़ार किया करते थे, क्योंकि इससे जेल की गंदी कोठरी से तबतक के लिए छुटकारा तो हो ही जाता था। इसी दर्मियान एडमिनिस्ट्रेटर की तरफ़ से जेल का सुपरिण्टेण्डेण्ट हमारे पास आया और उसने हमसे कहा कि अगर हम अफ़सोस ज़ाहिर कर दें और नाभा से चले जाने का वचन दे दें, तो हमपर से मुक़दमा उठा लिया जा सकता है। हमने कहा कि हम किस बात का अफ़सोस ज़ाहिर करें?

हमने कोई ऐसी बात नहीं की है, बल्कि रियासत को हमसे माफ़ी माँगनी चाहिए। हम किसी क़िस्म का वचन देने को भी तैयार नहीं हैं।।

गिरफ़्तारी के क़रीब दो हफ़्ते बाद आख़िर हमारे मुक़द्दमे ख़तम हुए। यह सारा वक़्त इस्तग़ासे में ही लगा, क्योंकि हम तो अपनी पैरवी कर ही नहीं रहे थे। ज़्यादा वक़्त तो देर-देर तक इन्तज़ार करने में गया, क्योंकि जहाँ-कहीं ज़रा-सी भी कठिनाई पैदा होती थी वहीं कार्रवाई मुल्तवी कर दी जाती थी या उसकी बाबत किसी अन्दरूनी अफ़सर से, जो शायद अंग्रेज़ एडमिनिस्ट्रेटर ही था, पूछने की ज़रूरत होती थी। आख़िरी दिन, जबकि इस्तग़ासे की तरफ़ से मामला ख़त्म किया गया, हमने भी अपने तहरीरी बयान दे दिये। पहले जज ने कार्रवाई ख़त्म कर दी, और यह जानकर हमें बड़ा ताज्जुब हुआ कि वह थोड़ी ही देर में फिर वापस आ गया और उसके साथ उर्दू में लिखा हुआ एक बड़ा भारी फ़ैसला था। यह ज़ाहिर है कि यह भारी फ़ैसला इतने थोड़े अरसे में नहीं लिखा जा सकता था। यह फ़ैसला हमारे बयान देने के पहले ही तैयार हो गया था। फ़ैसला पढ़कर सुनाया नहीं गया। हमें सिर्फ़ इतना कह दिया गया कि हमें नाभा इलाक़े में से चले जाने के हुक्म की उदूली करने के जुर्म में छः माह की सज़ा, जो इस जुर्म का ज़्यादा-से-ज़्यादा सज़ा थी, दी गयी है।

उसी रोज़ षड्यन्त्र के मुक़द्दमे में भी हमें, ठीक-ठीक मैं भूल गया हूँ, या तो अठारह माह की या दो साल की सज़ा मिली। यह सज़ा छः माह की सज़ा के अलावा हुई। इस तरह हमें कुल दो या ढाई साल का सज़ा दे दी गयी।

हमारे मुक़द्दमे के दौरान में बहुत बात ध्यान देने लायक़ हुई, जिनसे हमें देशी-रियासतों की शासन-रीति या देशी रियासतों में अंग्रेज़ों का शासन-रीति का कुछ हाल मालूम हुआ। सारी कार्रवाई एक स्वाँग-जैसी थी। इसीसे शायद किसी अख़बारवाले या बाहरवाले को अदालत में आने नहीं दिया गया। पुलिस जो चाहती थी करती थी और अक्सर जज या मजिस्ट्रेट की भी परवा नहीं करती थी, और उसकी आज्ञाओं का उल्लंघन भी करती थी। बेचारा मजिस्ट्रेट तो यह सब बरदाश्त कर लेता था, मगर हम इसे बरदाश्त क्यों करते? कई मौक़ों पर मुझे खड़ा होना पड़ा और ज़ोर देना पड़ा कि पुलिस को मैजिस्ट्रेट के रहने के मुताबिक़ अमल करना चाहिए और उसका हुक्म मानना चाहिए। कभी-कभी पुलिस भद्दी तरह से काग़ज़ों को छीन लेती थी, और चूँकि मजिस्ट्रेट अपनी ही अदालत में उसपर कोई कार्रवाई करने या व्यवस्था क़ायम रखने में असमर्थ था, इसलिए हमें थोड़ा-थोड़ा उसका काम करना पड़ता था! बेचारा मैजिस्ट्रेट बड़े पसोपेश में था। वह पुलिस से भी डरता था, और हमसे भी कुछ-कुछ डरा हुआ दिखायी देता था; क्योंकि अख़बारों में हमारी गिरफ़्तारी की ख़ूब चर्चा हो रही थी। जब हम-जैसे थोड़े बहुत प्रसिद्ध राजनैतिक लोगों के साथ यह अन्धेर हो सकता था तो जो लोग कम प्रसिद्ध हैं उनका क्या हाल होता होगा?

मेरे पिताजी को देशी रियासतों का हाल कुछ-कुछ मालूम था, इसलिए वह नाभा में मेरी यकायक गिरफ़्तारी से बहुत परेशान हुए। उन्हें सिर्फ़ गिरफ़्तारी का वाक़या मालूम हुआ; मगर इसके अलावा और कोई ख़बर बाहर न जा पाई। अपनी परेशानी में उन्होंने मेरे समाचार जानने के लिए वाइसराय को भी तार दे डाला। नाभा में मुझसे मिलने के बारे में उनके रास्ते में बहुत मुश्किलें खड़ी कर दी गयीं। मगर आख़िर उन्हें जेल में मुझसे मुलाक़ात करने की इजाज़त मिल गयी। परन्तु वह मेरी कोई मदद नहीं कर सकते थे, क्योंकि मैं अपनी सफ़ाई भी पेश नहीं कर रहा था। मैंने उनसे प्रार्थना की कि वह इलाहाबाद वापस चले जायें और कोई चिन्ता न करें। वह लौट गये, लेकिन कपिलदेव मालवीय को, जो हमारे एक युवक साथी-वकील हैं, नाभा में मुक़दमे की कार्रवाई पर ध्यान रखने को छोड़ गये। नाभा की अदालतों को थोड़े दिन देखकर कपिलदेव की क़ानून और ज़ाब्ते-सम्बन्धी जानकारी में काफ़ी वृद्धि हुई होगी। पुलिस ने खुली अदालत में उनके कुछ काग़ज़ात ज़बरदस्ती छीन लेने की भी कोशिश की थी।

ज़्यादातर देशी रियासतें पिछड़ी हुई हैं और उनकी हालत जागीरदारी-पद्धति की याद दिलाती है, यह सब जानते हैं। वहाँ अकेला राजा सब कुछ कर सकता है। उनमें न तो योग्यता ही होती है और न लोक-हित का भाव। वहाँ बड़ी-बड़ी अजीब बातें हुआ करती हैं, जो कभी प्रकाश में नहीं आतीं। मगर उनकी अयोग्यता से ही किसी-न-किसी तरह यह बुराई कम हो जाती है, और उनकी बदक़िस्मत प्रजा का बोझ कुछ हलका हो जाता है। क्योंकि इसी कारण वहाँ की कार्यकारिणी सत्ता में भी कमज़ोरी रहती है, जिससे जुल्म और बेइन्साफ़ी करने में भी अयोग्यता से काम लिया जाता है। इससे जुल्म ज़्यादा बर्दाश्त करने लायक़ नहीं हो जाता, बल्कि हाँ, इससे वह कम गहरा और व्यापक हो जाता है। मगर देशी-रियासत में जब अंग्रेज़ी सरकार खुद हुकूमत अपने हाथ में ले लेती है, तब उसका एक विचित्र नतीजा यह होता है कि यह हालत नहीं रहती। जागीरदारी पद्धति क़ायम रक्खी जाती है, एकतन्त्र भी ज्यों-का-त्यों रहता है, पुराने सब क़ानून और क़ाब्ते ही जायज़ माने जाते हैं, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, संगठन और मत-प्रकाशन (और इनमें सब कुछ शामिल है) आदि पर सारे बन्धन क़ायम रहते हैं, मगर एक तब्दीली ऐसी हो जाती है जिससे सारी हालत बदल जाती है। कार्यकारिणी सत्ता ज़्यादा मज़बूत हो जाती है, और क़ायदे और उनकी पाबन्दी बढ़ जाती है। इससे जागीरदारी-प्रथा में और एकतन्त्र शासन में रहनेवाले सब बन्धन सख़्त हो जाते हैं। धीरे-धीरे अंग्रेज़ी हुकूमत पुराने रिवाजों और तरीक़ों में बेशक कुछ परिवर्तन करती है, क्योंकि इनसे अच्छी तरह हुकूमत और व्यापारिक प्रवेश करने में रुकावटें आती हैं। मगर शुरू-शुरू में तो वह लोगों पर अपना प्रभुत्व मज़बूत करने के लिए उन पुराने रिवाजों और तरीक़ों से पूरा फ़ायदा उठाती है। इधर लोगों को अब जागीरदारी तन्त्र और एकतन्त्र-

सत्ता ही नहीं, बल्कि एक मज़बूत कार्यकारिणी-द्वारा उनकी सख़्त पाबन्दी भी बरदाश्त करनी पड़ती है।

मैंने नाभा में कुछ ऐसा ही हाल देखा। रियासत का इन्तज़ाम एक अंग्रेज एडमिनिस्ट्रेटर के हाथ में था, जो इंडियन सिविल सर्विस का मेम्बर था, और उसे एकतन्त्र शासक के पूरे अख़्तियार थे। वह सिर्फ़ भारत-सरकार के मातहत था और फिर भी हर मर्त्तबा हमें, अपने अत्यन्त सामान्य अधिकारों के छीन लिये जाने की पुष्टि में, नाभा के क़ायदे-कानूनों का हवाला दिया जाता था। हमें जागीरदारीतन्त्र और आधुनिक नौकरशाहीतन्त्र की खिचड़ी का मुक़ाबला करना पड़ा, जिसमें बुराइयाँ दोनों की शामिल थीं, लेकिन अच्छाइयाँ एक भी न थीं।

इस तरह हमारा मुक़दमा ख़त्म हुआ और हमें सज़ा हो गयी। फ़ैसलों में क्या लिखा था यह हमें मालूम नहीं, मगर इस असल बात से कि हमें लम्बी सज़ा मिली है, हमारी झुँझलाहट कुछ कम हुई। हमने फ़ैसलों की नक़लें माँगीं, मगर हमें जवाब मिला कि इसके लिए बाक़ायदा अर्ज़ी दो।

उसी शाम को जेल में सुपरिण्टेण्डेण्ट ने हमें बुलाया, और उसने हमें ज़ाब्ता फ़ौजदारी की रू से एडमिनिस्ट्रेटर का एक आदेश दिखाया जिसमें हमारी सजाएं स्थगित कर दी गयी थीं। उसमें कोई शर्त नहीं रखी गयी थी, और इसका क़ानूनी नतीजा यह था कि जहाँ तक हमारा ताल्लुक़ था हमारी सज़ाएं ख़त्म हो गयीं। फिर सुपरिण्टेण्डेण्ट ने एक दूसरा हुक्म, जिसका नाम एक्ज़ीक्यूटिव आर्डर था, दिखाया। यह भी एडमिनिस्ट्रेटर का जारी किया हुआ था। उसमें यह आदेश था कि हम नाभा छोड़कर चले जायँ, और ख़ास इजाज़त लिये बिना रियासत में न लौटें। मैंने दोनों हुक्मों की नक़लें माँगीं, मगर वे हमें नहीं दी गयीं। तब हमें रेलवे स्टेशन भेज दिया गया, और हम वहां रिहा कर दिये गये। नाभा में हम किसीको भी नहीं जानते थे, और रात को शहर के दरवाज़े भी बन्द हो गये थे। हमें पता लगा कि अभी अम्बाला को एक गाड़ी जानेवाली है और हम उसीमें बैठ गये। अम्बाला से मैं दिल्ली और वहाँ से इलाहाबाद चला गया।

इलाहाबाद से मैंने एडमिनिस्ट्रेटर को पत्र लिखा कि मुझे दोनों हुक्मों की नक़लें भेज दीजिए, जिससे मुझे मालूम हो सके कि सचमुच वह किस तरह के हुक्म हैं, और साथ ही दोनों फ़ैसलों की नक़लें भी। उसने किसी चीज़ की भी नक़ल देने से इन्कार कर दिया। मैंने बताया कि शायद मुझे अपील करनी पड़े। मगर वह इन्कार ही करता रहा। कई बार कोशिश करने पर भी मुझे इन फ़ैसलों को, जिनके द्वारा मुझे और मेरे दो साथियों को दो या ढाई साल की सज़ा मिली, पढ़ने का मौक़ा नहीं मिला। मुझे पता होना चाहिए कि ये सज़ाएं अब भी मेरे नाम पर लिखी हुई होंगी, और जब कभी नाभा के अधिकारी या ब्रिटिश सरकार चाहें उसी वक़्त मुझपर लागू की जा सकेंगी।

हम तीन तो इस तरह 'मौक़ूफ़ी' की हालत में छोड़ दिये गये, मगर मैं इस

बात का पता नहीं लगा सका कि षड्यन्त्र के चौथे आदमी, उस सिक्ख, का क्या हुआ, जो दूसरे मुक़दमे के लिए हमारे साथ जोड़ दिया गया था। बहुत मुमकिन है कि वह छोड़ा न गया हो। उसकी मदद में किसी शक्तिशाली मित्र या पब्लिक की आवाज़ न थी, और कई दूसरे आदमियों की तरह रियासती जेल में जाकर वह अन्धकार में पड़ा होगा। मगर हम उसे नहीं भूले। हमसे जो कुछ बना वह हम करते रहे, किन्तु उससे कुछ हुआ नहीं। मेरा ख़याल है कि गुरुद्वारा-कमेटी ने भी इस मामले में दिलचस्पी ली थी। हमें पता लगा कि वह पुराने 'कोमागाटा मारू' दल का एक आदमी था, और लम्बे अर्से तक जेल में रह कर हाल में ही छूटकर आया था। पुलिसवाले ऐसे आदमियों को बाहर रहने देने का सिद्धान्त नहीं मानते, और इसलिए उन्होंने बनावटी इलज़ाम में हमारे साथ उसे भी फाँस लिया।

हम तीनों—गिडवानी, सन्तानम् और मैं—नाभा जेल की कोठरी से एक दुःखदायी साथी अपने साथ ले आये। वह था विषमज्वर का कीटाणु, क्योंकि हम तीनों पर ही विषमज्वर का हमला हुआ। मेरी बीमारी ज़ोर की थी और शायद ख़तरनाक भी थी, मगर उसकी मियाद दोनों से कम थी, और मैं सिर्फ़ तीन या चार हफ़्ते ही बिस्तर पर रहा। मगर बाक़ी दोनों तो लम्बे अरसे तक बहुत बुरी हालत में बीमार पड़े रहे।

इस नाभा की घटना के बाद एक और भी बात हुई। शायद छः या ज़्यादा महीने बाद गिडवानी अमृतसर में सिक्ख-गुरुद्वारा-कमेटी से सम्पर्क रखने के लिए कांग्रेस-प्रतिनिधि का काम करते थे। कमेटी ने जैतो को पाँच सौ आदमियों का एक ख़ास जत्था भेजा, और गिडवानी ने दर्शक की तरह से नाभा की हदतक उसके साथ-साथ जाने का निश्चय किया। नाभा की हद में दाख़िल होने का उनका कोई इरादा न था। सरहद के पास जत्थे पर पुलिस ने गोली चलायी, और मेरे ख़याल में बहुत आदमी घायल हुए और मरे। गिडवानी घायलों की मदद करने गये तो पुलिसवाले उनपर टूट पड़े और उनको पकड़ कर ले गये। उनके ख़िलाफ़ अदालत में कोई कार्रवाई नहीं की गयी। उन्हें क़रीब-क़रीब एक साल तक जेल में यों ही पटक रखा, और बाद में बहुत ख़राब तन्दुरुस्ती की हालत में वह छोड़े गये।

गिडवानी की गिरफ़्तारी और उनका जेल में रक्खा जाना मुझे कार्यकारिणी सत्ता का एक भयंकर दुरुपयोग मालूम हुआ। मैंने एडमिनिस्ट्रेटर को (जोकि वहीं अंग्रेज़ आई० सी० एस० था) ख़त लिखा और उससे पूछा कि गिडवानी के साथ ऐसा क्यों किया गया? उसने जवाब में लिखा कि उन्हें इसलिए गिरफ़्तार किया गया था कि उन्होंने नाभा के इलाके में बिना इजाज़त न आने की आज्ञा का उल्लङ्घन किया था। मैंने चुनौती दी कि क़ानून के मुताबिक भी यह ठीक न था, और साथ ही लिखा कि घायलों को मदद देते हुए उनको गिरफ़्तार करना

मुनासिब न था। मैंने उस आर्डर की नक़ल मुझे भेजने या प्रकाशित करने के लिए भी एडमिनिस्ट्रेटर को लिखा। मगर उसने ऐसा करने से इन्कार किया। मेरा इरादा हुआ कि मैं खुद भी नाभा जाऊँ और एडमिनिस्ट्रेटर को अपने साथ भी वही बर्ताव करने दूँ जैसा कि गिडवानी के साथ हुआ। अपने साथी के साथ वफ़ादारी का तो यही तक़ाज़ा था। मगर मेरे कई दोस्तों ने ऐसा करने की राय न दी और मेरा इरादा बदलवा दिया। सच तो यह है कि मैंने अपने दोस्तों की सलाह का बहाना ले लिया, और उसमें अपनी कमज़ोरी छिपा ली। क्योंकि, आख़िरकार यह मेरी अपनी कमज़ोरी और नाभा-जेल में दुबारा जाने की अनिच्छा ही थी जिसने मुझे वहाँ जाने से रोका। मैं अपने साथी को इस तरह छोड़ देने पर कुछ-कुछ शर्मिन्दा हमेशा रहा हूँ। इस तरह, जैसा कि हम सब अक्सर करते हैं, बहादुरी के स्थान पर अक़्लमन्दी को प्रधानता मिली।

१७

कोकनाडा और मुहम्मदअली

दिसम्बर १९२३ में कांग्रेस का सालाना अधिवेशन कोकनाडा (दक्षिण) में हुआ। मौलाना मुहम्मदअली उसके अध्यक्ष थे, और जैसी कि उनकी आदत थी, सभापति की हैसियत से उन्होंने अपनी लम्बी-चौड़ी स्पीच पढ़ी। लेकिन वह थी दिलचस्प। उसमें उन्होंने यह दिखाया कि मुसलमानों में किस तरह राजनीतिक व साम्प्रदायिक भावना बढ़ती गयी। उन्होंने बताया कि १९०८ में आग़ाख़ाँ के नेतृत्व में जो डेपुटेशन वाइसराय से मिला था और जिसकी कोशिश से ही सरकार ने पहली बार पृथक् निर्वाचन के पक्ष में घोषणा की थी वह एक कैसी ज़बरदस्त चाल थी, जिसके मूल में ख़ास सरकार का ही हाथ था।

मुहम्मदअली ने मुझे, मेरी इच्छा के बहुत ख़िलाफ़ अपने सभापति-काल में अखिल भारतीय कांग्रेस-कमिटी का सेक्रेटरी बनने के लिए राज़ी किया। कांग्रेस की भावी नीति के सम्बन्ध में मुझे साफ़-साफ़ पता न था, ऐसी हालत में मैं नहीं चाहता था कि कोई व्यवस्था-सम्बन्धी ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लूँ।

लेकिन मैं मुहम्मदअली को इन्कार नहीं कर सकता था; क्योंकि हम दोनों ने महसूस किया कि कोई दूसरा सेक्रेटरी शायद नये अध्यक्ष के साथ उतनी अच्छी तरह से काम न कर सके जितना कि मैं। रुचि और अरुचि दोनों में वे सख़्त आदमी थे। और सौभाग्य से मैं उन लोगों में से था जो उनकी 'रुचि' में आते थे। हम दोनों प्रेम और परस्पर की गुणग्राहकता के धागे से बँधे हुए थे। वह प्रबल धार्मिक—और मेरी समझ से बुद्धि-विरुद्ध धार्मिक—थे और मैं वैसा नहीं था। मगर मैं उनकी सरगर्मी, अतिशय कार्य-शक्ति और प्रखर बुद्धि से आकर्षित था। वह बड़े चपल वाक्पटु थे। लेकिन कभी-कभी उनका भयंकर व्यंग दिल को चोट

पहुँचा देता था और इससे उनके बहुतेरे दोस्त कम हो गये थे। कोई बढ़िया टिप्पणी मन में आयी तो उसे मन में रख लेना उनके लिए असम्भव था—फिर उसका नतीजा चाहे कुछ हो।

उनके सभापति काल में हम दोनों की गाड़ी ठीक-ठाक चली—हालाँकि कई छोटी-छोटी बातों में हमारा मतभेद रहता था। अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमिटी के दफ़्तर में मैंने एक नया रिवाज चलाया था—किसी के भी नाम के आगे-पीछे कोई प्रत्यय या पदवी वग़ैरा न लिखी जाय। महात्मा, मौलाना, शेख़, सैयद, मुन्शी, मौलवी और आजकल के श्रीयुत और श्री और मिस्टर तथा एस्क्वायर वग़ैरा जो बहुत से ऐसे मानवाचक शब्द हैं और इनका प्रयोग इतनी बहुतायत से और अक्सर अनावश्यक होता है कि मैं इस बारे में एक अच्छा उदाहरण पेश करना चाहता था। लेकिन मैं ऐसा कर नहीं पाया। मुहम्मदअली ने बहुत बिगड़कर मुझे एक तार भेजा, जिसमें प्रधान की हैसियत से मुझे आज्ञा दी थी कि मैं पुराने तरीक़े से ही काम लूँ, और ख़ासतौर पर गांधीजी को हमेशा महात्मा लिखा करूँ।

एक और विषय था जिसमें अक्सर हमारी बहस हुआ करती, और वह था ईश्वर। मुहम्मदअली एक अजीब तरीक़े से अल्लाह का ज़िक्र कांग्रेस के प्रस्तावों में भी ले आया करते थे, या तो शुक्रिया अदा करने की शक्ल में या किसी क़िस्म की दुआ की शक्ल में। मैं इसका विरोध किया करता था। वह ज़ोर से बिगड़ते और कहते, तुम बड़े नास्तिक हो। मगर फिर भी आश्चर्य है कि वह थोड़ी देर बाद मुझसे कहते कि एक मज़हबी आदमी के ज़रूरी गुण तुममें हैं, हालाँकि तुम्हारा ज़ाहिरा बर्ताव और दावा इसके ख़िलाफ़ है। और मैंने कई बार मन में सोचा कि उनका कहना कितना सच था। शायद यह इस बात पर निर्भर करता है कि कोई मज़हब या मज़हबी के क्या मानी करता है।

मैं उनके साथ हमेशा मज़हब के मामले में बहस करना टालता था। क्योंकि मैं जानता था इसका नतीजा यही होता कि हम दोनों एक-दूसरे पर चिढ़ उठते, और मुमकिन था कि उनका जी दुख जाता। किसी भी मत के कट्टर माननेवाले से इस क़िस्म की चर्चा करना हमेशा मुश्किल होता है। बहुत-से मुसलमानों के लिए तो यह शायद और भी मुश्किल हो; क्योंकि उनके यहाँ विचारों की आज़ादी मज़हबी तौर पर नहीं दी गयी है। विचारों की दृष्टि से देखा जाय तो उनका सीधा मगर तंग रास्ता है और उसका अनुयायी ज़रा भी दाहिने-बायें नहीं जा सकता। हिन्दुओं की हालत इससे कुछ भिन्न है, सो भी हमेशा नहीं। व्यवहार में चाहे वे कट्टर हों, उनके यहाँ बहुत पुराने, बुरे और पीछे घसीटनेवाले रस्म-रिवाज माने जाते हैं, फिर भी वे धर्म के विषय में अत्यन्त क्रान्तिकारी और मौलिक विचारों की चर्चा करने के लिए भी हमेशा तैयार रहते हैं। मेरा ख़याल है कि आधुनिक आर्यसमाजियों की दृष्टि आमतौर पर इतनी विशाल नहीं होती। मुसलमानों

की तरह वे अपने सीधे और तंग रास्ते पर ही चलते हैं। विद्या-बुद्धि में बढ़े-चढ़े हिन्दुओं के यहाँ ऐसी कुछ दार्शनिक परम्परा चली आ रही है, जो धार्मिक प्रश्नों में भिन्न-भिन्न विचार-दृष्टियों को स्थान देती है, हालाँकि व्यवहार पर उसका कोई असर नहीं पड़ता। मैं समझता हूँ कि इसका आंशिक कारण यह है कि हिन्दू-जाति में तरह-तरह के और अक्सर परस्पर-विरोधी प्रमाण और रिवाज पाये जाते हैं। इस सम्बन्ध में यहाँ तक कहा जाता है कि हिन्दू-धर्म को साधारण अर्थ में मज़हब नहीं कह सकते। और फिर भी कितनी ग़ज़ब की दृढ़ता उसमें है! अपने-आपको ज़िन्दा रखने की कितनी ज़बरदस्त ताक़त! भले ही कोई अपने को नास्तिक कहता हो, जैसा कि चार्वाक था, फिर भी कोई यह नहीं कह सकता कि वह हिन्दू नहीं रहा। हिन्दू-धर्म अपनी सन्तानों को उनके न चाहते हुए भी पकड़ रखता है। मैं एक ब्राह्मण पैदा हुआ था और मालूम होता है कि ब्राह्मण ही रहूँगा। फिर मैं धर्म और सामाजिक रस्म-रिवाज के बारे में कुछ भी कहता और करता रहूँ। हिन्दुस्तानी दुनिया के लिए मैं पण्डित ही हूं, चाहे मैं इस उपाधि को नापसन्द ही करूँ। मुझे याद है कि एक बार मैं एक तुर्की विद्वान् से स्वीज़रलैण्ड में मिला था। उन्हें मैंने पहले से ही एक परिचय-पत्र भेज दिया था, जिसमें मेरे लिए लिखा था—'पण्डित जवाहरलाल नेहरू।' लेकिन मिलने पर वह हैरान हुए और कुछ निराश भी। क्योंकि उन्होंने मुझसे कहा, कि 'पण्डित' शब्द से मैंने समझा था कि आप कोई बड़े विद्वान् धार्मिक वयोवृद्ध शास्त्री होंगे।

हाँ, तो, मुहम्मदअली और मैं मज़हब पर बहस नहीं करते थे। लेकिन उनमें मौन रहने का गुण न था। और कुछ साल बाद (मैं समझता हूँ, १९२५ में या १९२६ के शुरू में) वह अपने को ज़्यादा न रोक सके। एक रोज़ जब मैं उनके घर, दिल्ली में, उनसे मिला तो वह भभक उठे और बोले कि मैं तुमसे मज़हब पर ज़रूर बहस करना चाहता हूँ। मैंने उन्हें समझाने की कोशिश की। कहा—आपके और मेरे दृष्टिकोण एक-दूसरे से बहुत जुदा हैं और हम एक-दूसरे पर कोई ज़्यादा असर न डाल सकेंगे। लेकिन वह कब सुनते? उन्होंने कहा—"नहीं, हम दो-दो बातें कर ही लें। मैं समझता हूँ, तुम मुझे कठमुल्ला मानते हो। मगर मैं तुम्हें बताना चाहता हूँ कि मैं ऐसा नहीं हूँ।" उन्होंने कहा कि मैंने मज़हब पर बहुत-सी किताबें पढ़ी हैं और गहराई से सोचा है। उन्होंने अपनी आलमारियाँ बतायीं, जो अलग-अलग धर्मों पर लिखी किताबों से और ख़ासकर इस्लाम और ईसाई धर्म-सम्बन्धी किताबों से भरी हुई थीं और जिनमें कुछ आधुनिक किताबें—जैसे एच० जी० वेल्स की 'गॉड, दि इनविज़िबुल किंग'—भी थीं। महायुद्ध के दिनों में जब वह लम्बे अर्से तक नज़रबन्द रहे थे, उन्होंने क़ुरान के कई पारायण किये और कितने ही भाष्यों को पढ़ा। उन्होंने कहा कि इस सारे अध्ययन के फलस्वरूप मैंने देखा कि क़ुरान में जो कुछ लिखा गया है उसका ९७ फ़ीसदी युक्तिसंगत है, और क़ुरान को छोड़कर भी उसकी पुष्टि की

जा सकती है। ३ फ़ीसदी यों प्रत्यक्षतः तो युक्तिसंगत नहीं दिखाई देता है, मगर यह ज़्यादा मुमकिन है कि जो क़ुरान ९७ फ़ीसदी बातों पर साफ़ तौर सही है वह बाक़ी ३ फ़ीसदी में भी सही होगा। बजाय इसके कि मेरी दुर्बल तर्क-शक्ति सही हो और क़ुरान ग़लत, वह इस नतीजे पर पहुँचे कि क़ुरान के सही होने का पक्ष भारी है और इसलिए उन्होंने क़ुरान को १०० फ़ीसदी सही मान लिया।

इस दलील का तर्क स्पष्ट न था, लेकिन मैं बहस करना नहीं चाहता था। किन्तु इसके बाद जो-कुछ हुआ उसे देखकर तो मैं दंग रह गया। मुहम्मदअली ने कहा कि कोई भी क़ुरान को अपने दिमाग़ का दर्वाज़ा खोलकर और एक जिज्ञासु की भावना से पढ़ेगा तो ज़रूर ही वह उसकी सचाई का क़ायल हो जायगा। उन्होंने यह भी कहा कि बापू (गांधीजी) ने उसे बड़े ग़ौर से पढ़ा है और वह ज़रूर इस्लाम की सचाई के क़ायल हो गये होंगे। लेकिन उनके दिल में जो घमंड है, वह उन्हें इसको ज़ाहिर करने से मना करता है।

मुहम्मदअली अपने इस साल के सभापति-काल के बाद से धीरे-धीरे कांग्रेस से दूर हटने लगे। या, जैसा कि वह कहते, कांग्रेस उनसे दूर हटने लगी। मगर यह हुआ बहुत धीरे-धीरे। कई साल आगे तक यों वह कांग्रेस में और अ० भा० कांग्रेस-कमिटी में आते रहे और उनमें ज़ोर-ज़ोर से हिस्सा लेते रहे, लेकिन खाई चौड़ी होती ही गयी और अनबन बढ़ती ही गयी। शायद किसी ख़ास व्यक्ति या व्यक्तियों पर इसका दोष नहीं लगाया जा सकता। मगर देश की वास्तविक परिस्थिति जैसी बन गयी थी उसमें ऐसा हुए बिना रह नहीं सकता था। लेकिन यह हुआ बहुत ही बुरा। और इससे हम बहुतों के जी को बड़ा दुःख हुआ। क्योंकि जातिगत मामले में कैसा ही भेद रहा हो, राजनैतिक मामले में हमारा उनका कम मतभेद था। भारतीय स्वाधीनता का विचार उन्हें भी बहुत भाता था। और चूँकि उनकी हमारी राजनैतिक दृष्टि एक थी, इसलिए हमेशा इस बात की सम्भावना रहती थी कि जातिगत, या यों कहें कि साम्प्रदायिक प्रश्न पर उनके साथ कोई ऐसी तजवीज़ हो सकती थी जो कि दोनों के लिए सन्तोष-जनक हो। राजनैतिक दृष्टि से उन प्रतिगामी लोगों से जो अपने को जातिगत स्वार्थों के रक्षक बताते हैं, उनकी कोई बात मेल नहीं खाती थी।

हिन्दुस्तान के लिए यह दुर्भाग्य की बात हुई कि १९२८ की गर्मियों में वह यहाँ से यूरप चले गये। उस वक़्त इस जातिगत समस्या को सुलझाने के लिए बड़े ज़ोर की कोशिश की गयी थी और वह क़रीब-क़रीब कामयाबी की हद तक जा पहुँची थी। अगर मुहम्मदअली यहाँ होते तो अनुमान होता है कि मामला और ही शक्ल अख़्तियार करता। लेकिन जबतक वह वापस लौटे तबतक यहाँ सब टूट-टाट चुका था। और स्वाभाविक तौर पर वे विरोधी पक्ष में मिल गये।

दो साल बाद, १९३० में, जब सत्याग्रह-आन्दोलन ज़ोर पर था और हमारे भाई-बहिन धड़ाधड़ जेल जा रहे थे, मुहम्मदअली ने कांग्रेस के निर्णय को परवा

न कर गोलमेज़-परिषद् में जाना पसन्द किया। इससे मेरे जी को बड़ा दुःख हुआ। मैं मानता हूँ कि वह भी अपने दिल में दुःखी ही हुए होंगे। और लन्दन में उन्होंने जो कुछ किया उससे इसका काफ़ी प्रमाण मिलता है। उन्होंने महसूस किया कि उनकी असली जगह हिन्दुस्तान में और लड़ाई के मैदान में है, न कि लन्दन के कान्फ्रेंस-भवन में। और अगर वह हिन्दुस्तान वापस आये होते तो मुझे यक़ीन है कि वह सत्याग्रह में शरीक हो गये होते। उनका स्वास्थ्य बहुत ही बिगड़ गया था और बरसों से बीमारी उनपर हावी हो रही थी। लन्दन में जाकर उन्होंने बड़ी चिन्ता के साथ कुछ-न-कुछ काम की चीज़ पाने की जो कोशिश की, और ख़ासकर ऐसे समय जब कि उन्हें आराम और इलाज की ज़रूरत थी, उससे उनके आख़िरी दिन और नज़दीक आ गये। नैनी-जेल में मुझे उनके मरने की ख़बर से बड़ा धक्का लगा।

दिसम्बर १९२९ में लाहौर-कांग्रेस के वक़्त आख़िरी दफ़ा मैं उनसे मिला था। मेरे सभापति-पद से दिये गये भाषण के कुछ हिस्से से वह नाराज़ थे और उन्होंने बड़े ज़ोर से उसकी आलोचना भी की। उन्होंने देखा कि कांग्रेस सरपट दौड़ी जा रही है और राजनैतिक दृष्टि से बहुत तेज़ होती जा रही है। वह ख़ुद भी कम तेज़ न थे, और इसलिए ख़ुद पीछे रह जाना और दूसरे का मैदान में आगे बढ़ जाना उन्हें पसन्द न था। उन्होंने मुझे गम्भीर चेतावनी दी—"जवाहर! मैं तुम्हें चेताये देता हूँ कि तुम्हारे आज के ये संगी-साथी सब तुमको अकेला छोड़ देंगे। जब कोई मुसीबत का और आनबान का मौक़ा आयेगा उसी वक़्त ये तुम्हारा साथ छोड़ देंगे। याद रखना, ख़ुद तुम्हारे कांग्रेसी ही तुम्हें फाँसी के तख़्ते पर भेज देंगे।" कैसी मनहूस भविष्यवाणी थी!

कोकनाडा-कांग्रेस (१९२३) में मेरे लिए एक ख़ास दिलचस्पी की बात थी; क्योंकि वहीं हिन्दुस्तानी-सेवा-दल की नींव रक्खी गयी। स्वयंसेवक-दल इससे पहले नहीं थे सो बात नहीं। वे इन्तज़ाम भी करते थे और जेल भी जाते थे। मगर उनमें अनुशासन और आन्तरिक एकता का भाव बहुत कम था। डॉक्टर नारायण सुब्बाराव हार्डीकर को यह बात सूझी कि राष्ट्रीय कार्यों के लिए क्यों न एक अच्छा अनुशासनबद्ध स्वयंसेवक-दल बना लिया जाय, जो कांग्रेस के पथप्रदर्शन में राष्ट्रीय काम करे? उन्होंने इसमें सहयोग देने के लिए मुझसे आग्रह किया और मैंने बड़ी ख़ुशी से उसे मंज़ूर किया; क्योंकि यह विचार मुझे पसंद आया था। इसकी शुरुआत कोकनाडा में हुई। बाद को हमें यह जानकर आश्चर्य हुआ कि बड़े-बड़े कांग्रेसियों की तरफ़ से भी सेवा-दल के सवाल पर कैसा विरोध-भाव प्रकट हुआ था! कुछ लोगों ने कहा कि कांग्रेस के लिए ऐसा करना ख़तरनाक होगा। यह तो कांग्रेस में फ़ौजी तत्त्व को लाने जैसा है। और यह फ़ौजी तत्त्व उन्हें भय था कि कहीं कांग्रेस की मुल्की सत्ता को ही धर दबाये! दूसरे कुछ लोगों का यह ख़याल दिखायी दिया कि स्वयंसेवकों के दल के लिए तो

सिर्फ़ इतना ही अनुशासन काफ़ी है कि वे ऊपर से मिले आदेशों का पालन करते रहें। कुछ के ख़याल में उन्हें क़दम मिलाकर चलने की भी ऐसी ज़रूरत नहीं। कुछ लोगों के दिल में भीतर-भीतर यह ख़याल था कि तालीम और क़वायद-याफ़्ता स्वयंसेवकों का रखना एक तरह से कांग्रेस के अहिंसा-सिद्धान्त से मेल नहीं खाता। लेकिन हार्डीकर इस काम में भिड़ ही गये और बरसों की मेहनत के बाद उन्होंने प्रत्यक्ष दिखला दिया कि ये तालीम-याफ़्ता स्वयंसेवक कितने ज़्यादा कार्यकुशल और अहिंसात्मक भी हो सकते हैं।

कोकनाडा से लौटने के बाद ही, जनवरी १९२४ में मुझे इलाहाबाद में एक नये ढंग का तजरबा हुआ। मैं अपनी याददाश्त से यह लिख रहा हूँ और मुमकिन है कि तारीख़ों के सम्बन्ध में कुछ भूल और गड़बड़ हो। मैं समझता हूँ, वह कुम्भ या अर्द्धकुम्भ के मेले का साल था। लाखों यात्री संगम यानी त्रिवेणी, नहाने आते हैं। गंगा-घाट यों कोई एक मील चौड़ा है, मगर जाड़े में धारा सिकुड़ जाती है, और दोनों तरफ़ बालू का बड़ा मैदान छोड़ देती है जोकि यात्रियों के ठहरने के लिए बड़ा उपयोगी हो जाता है। अपने इस पाट में गंगा अक्सर अपना बहाव बदलती रहती है। १९२४ में गंगा की धारा इस तरह हो गयी थी कि यात्रियों के लिए नहाना अवश्य हो ख़तरनाक था। कुछ पाबन्दियाँ और अहतियात लगाकर और एक वक़्त में नहानेवालों की तादाद मुक़र्रर करके यह ख़तरा कम किया जा सकता था।

मुझे इस मामले में किसी क़िस्म की दिलचस्पी न थी; क्योंकि ऐसे पर्वों के अवसर पर गंगा नहाकर पुण्य कमाने की मुझे तो चाह न थी। लेकिन मैंने अख़बारों में पढ़ा कि इस मामले में पं० मदनमोहन मालवीय और प्रान्तीय सरकार के बीच एक चर्चा छिड़ गयी है, क्योंकि प्रान्तीय सरकार ने एक ऐसा फ़रमान निकाल दिया था कि कोई संगम पर न नहाने पाये। मालवीयजी ने इसपर एतराज़ किया; क्योंकि धार्मिक दृष्टि से तो संगम पर नहाने का ही महत्त्व था। इधर सरकार का अहतियात रखना भी ठीक ही था कि जिससे जान का ख़तरा न रहे। लेकिन सदा की तरह उसने निहायत ही बेवक़ूफ़ी और चिढ़ा देनेवाले ढंग से इस सम्बन्ध में कारंवाई की थी।

कुम्भ के दिन सुबह ही मैं मेला देखने गया। मेरा कोई इरादा नहाने का न था। गंगा किनारे पहुँचने पर मैंने सुना कि मालवीयजी ने ज़िला-मैजिस्ट्रेट को एक सौम्य चेतावनी दे दी है, जिसमें त्रिवेणी में नहाने की इजाज़त माँगी गयी है। मालवीयजी गरम हो रहे थे और वातावरण में क्षोभ फैला हुआ था। ज़िला-मैजिस्ट्रेट ने इजाज़त नहीं दी तब मालवीयजी ने सत्याग्रह करने का निश्चय किया. और कोई दो सौ लोगों को साथ लेकर वह संगम की तरफ़ बढ़े। इन घटनाओं से मेरी दिलचस्पी थी, और मैं उसी वक़्त जोश में आकर सत्याग्रही-दल में शामिल हो गया। मैदान के उस पार लकड़ियों का एक ज़बर्दस्त घेरा बना दिया गया था

कि लोग संगम तक पहुँचने से बचें। जब हम इस ऊँचे घेरे तक पहुँचे तो पुलिस ने हमें रोका और एक सीढ़ी, जो हम साथ लिये हुए थे, छीन ली। हम तो थे अहिंसात्मक सत्याग्रही, इसलिए उस घेरे के पास बालू में शान्ति के साथ बैठ गये। सुबह भर और दोपहर के भी कुछ घंटे हम उसी तरह बैठे रहे। एक-एक घंटा बीतने लगा। धूप की तेज़ी बढ़ती जा रही थी। पैदल और घुड़सवार पुलिस हमारे दोनों तरफ़ खड़ी थी। मैं समझता हूँ कि सरकारी घुड़-सेना भी वहाँ मौजूद थी। हम बहुतेरों का धीरज छूटने लगा, और हमने कहा कि अब तो कुछ-न-कुछ फ़ैसला करना ही चाहिए। मैं मानता हूँ कि अधिकारी भी उकता उठे थे। और उन्होंने क़दम आगे बढ़ाने का निश्चय किया। घुड़-सेना को कुछ आर्डर दिया। इस समय मुझे लगा (मैं नहीं कह सकता कि वह सही था) कि वे हमपर घोड़े फेंकेंगे, और यों हमको बुरी तरह खदेड़ेंगे। घुड़सवारों से इस तरह पीटे जाने का ख़याल मुझे अच्छा न लगा और वहां बैठे-बैठे मेरा जी भी उकता उठा था। मैंने झट से अपने नज़दीकवाले को सुझाया कि हम इस घेरे को ही क्यों न फाँद जायँ? और मैं उसपर चढ़ गया। तुरन्त ही बीसों आदमी उसपर चढ़ गये और कुछ लोगों ने तो उसकी बल्लियाँ भी निकाल डालीं, जिससे एक ख़ासा रास्ता बन गया। किसीने मुझे एक राष्ट्रीय झंडा दे दिया, जिसे मैंने उस घेरे के सिरे पर खोंस दिया जहाँ कि मैं बैठा हुआ था। मैं अपने पूरे रंग में था और ख़ूब मगन हो रहा था और लोगों को उसपर चढ़ते और उसके बीच में घुसते हुए और घुड़सवारों को उन्हें हटाने की कोशिश करते देख रहा था। यहाँ मुझे यह ज़रूर कहना चाहिए कि घुड़सवारों ने जितना हो सका इस तरह अपना काम किया कि किसीको चोट न पहुँचे। वे अपने लकड़ी के डंडों को हिलाते थे और लोगों को उनसे धक्का देते थे। मगर किसी को चोट नहीं पहुँचाते थे। उस समय मुझे बलवे के समय के घेरे के दृश्य का कुछ-कुछ स्मरण हो आया।

आख़िर मैं दूसरी तरफ़ उतर पड़ा। इतनी मेहनत के कारण गर्मी बढ़ गयी थी, सो मैंने गंगा में ग़ोता लगा लिया। जब वापस आया तो मुझे यह देखकर अचरज हुआ कि मालवीयजी और दूसरे अबतक जहाँ-के-तहीं बैठे हुए हैं और घुड़सवार और पैदल पुलिस सत्याग्रहियों और घेरे के बीच कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर खड़ी हुई थी। सो मैं (ज़रा टेढ़े-मेढ़े रास्ते से निकलकर) फिर मालवीयजी के पास जा बैठा। हम कुछ देर तक बैठे रहे। मैंने देखा कि मालवीयजी मन-ही-मन बहुत भिन्नाये हुए थे और ऐसा मालूम होता था कि वह अपने मन का आवेश बहुत रोक रहे थे। एकाएक बिना किसीको कुछ पता दिये उन पुलिसवालों और घोड़ों के बीच अद्भुत रीति से निकलकर उन्होंने ग़ोता लगा लिया। यों तो किसी भी शख़्स के लिए इस तरह ग़ोता लगाना आश्चर्य की बात होती लेकिन मालवीयजी जैसे बूढ़े और दुर्बल-शरीर व्यक्ति के लिए तो ऐसा करना बहुत ही चकित कर देनेवाला था। ख़ैर; हम सबने उनका अनुकरण किया। हम सब

पानी में कूद पड़े। पुलिस और घुड़सेना ने हमें पीछे हटाने की थोड़ी-बहुत कोशिश की, मगर बाद को रुक गयी। थोड़ी देर बाद वह वहाँ से हटा ली गयी।

हमने सोचा था कि सरकार हमारे ख़िलाफ़ कोई कार्रवाई करेगी। मगर ऐसा कुछ नहीं हुआ। शायद सरकार मालवीयजी के ख़िलाफ़ कुछ करना नहीं चाहती थी, और इसलिए बड़े के पीछे छुटभैये भी अपने-आप बच गये।

१८

पिताजी और गांधीजी

१९२४ के शुरू में यकायक ख़बर आयी कि गांधीजी जेल में बहुत ज़्यादा बीमार हो गये हैं जिसकी वजह से वह अस्पताल पहुँचा दिये गये हैं और वहाँ उनका ऑपरेशन हुआ है। इस ख़बर को सुनकर चिन्ता के मारे हिन्दुस्तान सन्न हो गया। हम लोग डर से परेशान थे और दम साधकर ख़बरों का इन्तज़ार करते थे। आख़ीर में संकट गुज़र गया और देश के तमाम हिस्सों से लोगों की टोलियाँ उन्हें देखने के लिए पूना पहुँचने लगीं। इस वक़्त तक वह अस्पताल में ही थे। क़ैदी होने की वजह से उनके ऊपर गारद रहती थी, लेकिन कुछ दोस्तों को उनसे मिलने की इजाज़त थी। मैं और पिताजी उनसे अस्पताल में ही मिले।

अस्पताल से वह वापस जेल नहीं ले जाये गये। जब उनकी कमज़ोरी दूर हो रही थी तभी सरकार ने उनकी बाक़ी सज़ा रद करके छोड़ दिया। उस वक़्त जो छः साल की सज़ा उन्हें मिली थी उसमें से क़रीब-क़रीब दो साल की वह काट चुके थे। अपनी तन्दुरुस्ती ठीक करने के लिए वह बम्बई के नज़दीक समुद्र के किनारे जुहू चले गये।

हमारा परिवार भी जुहू जा पहुँचा और वहीं समुद्र के किनारे एक छोटे-से बँगले में रहने लगा। हम लोगों ने कुछ हफ़्ते वहीं गुज़ारे और अर्से के बाद अपने मन के मुताबिक़ छुट्टी मिली, क्योंकि मैं वहाँ मज़े से तैर सकता था, दौड़ सकता था और समुद्र-तट की बालू पर घुड़दौड़ कर सकता था। लेकिन हमारे वहाँ रहने का असली मतलब छुट्टियाँ मनाना नहीं था, बल्कि गांधीजी के साथ देश की समस्याओं पर चर्चा करना था। पिताजी चाहते थे कि गांधीजी को यह बता दें कि स्वराजी क्या चाहते हैं और इस तरह वह गांधीजी की सक्रिय सहानुभूति नहीं, तो कम-से-कम उनका निष्क्रिय सहयोग ज़रूर हासिल कर लें। मैं भी इस बात से चिन्तित था कि जो मसले मुझे परेशान कर रहे हैं उनपर कुछ रोशनी पड़ जाय। मैं यह जानना चाहता था कि उनका आगे का कार्यक्रम क्या होगा?

जहाँतक स्वराजियों से ताल्लुक़ है वहाँतक उनको जुहू की बातचीत से गांधीजी को अपनी तरफ़ कर लेने में या किसी हदतक भी उनपर असर डालने में कोई

कामयाबी नहीं मिली। यद्यपि बातचीत बड़े दोस्ताना ढंग से और बहुत ही शराफ़त के साथ होती थी, लेकिन यह बात तो रही ही कि आपस में कोई सम-झौता नहीं हो सका। यह तय रहा कि उनकी राय एक-दूसरे से नहीं मिलती और इसी मतलब से बयान अख़बारों में छपा दिये गये।

मैं भी जुहू से कुछ हद तक निराश होकर लौटा; क्योंकि गांधीजी से मेरी एक भी शंका का समाधान नहीं हुआ। अपने मामूली तरीक़े के मुताबिक़ उन्होंने भविष्य की बात सोचने या बहुत लम्बे अर्से के लिए कोई कार्यक्रम बनाने से साफ़ इन्कार कर दिया। उनका कहना था कि हमें धीरज के साथ लोगों की सेवा का काम करते रहना चाहिए, कांग्रेस के रचनात्मक और समाज-सुधारक कार्यक्रम को पूरा करना चाहिए और लड़ाकू काम के वक़्त का रास्ता देखना चाहिए। लेकिन हमारी असली मुश्किल तो यह थी कि ऐसा वक़्त आने पर कहीं चौरी-चौरा-जैसा काण्ड तो नहीं हो जायगा, जो सारा तख़्ता ही उलट दे और हमारी लड़ाई को रोक दे। इस वक़्त गांधीजी ने हमारे इस शक का कोई जवाब नहीं दिया। न हमारे ध्येय के बारे में ही उनके विचार स्पष्ट थे। हममें से बहुत-से अपने मन में यह बात साफ़-साफ़ जान लेना चाहते थे कि आख़िर हम जा कहाँ रहे हैं। फिर चाहे कांग्रेस इस मामले पर कोई बाज़ाब्ता ऐलान करे या न करे। हम जानना चाहते थे कि या हम लोग आज़ादी के लिए और कुछ हद तक समाज-रचना में हेर-फेर के लिए अड़ेंगे, या हमारे नेता इससे बहुत कम किसी बात पर राज़ीनामा कर लेंगे। कुछ ही महीने पहले संयुक्त-प्रान्त की प्रान्तीय-कान्फ्रेंस में मैंने प्रधान की हैसियत से अपने भाषण में आज़ादी पर ज़ोर दिया था। वह कान्फ्रेंस १९२६ के बसन्त में मेरे नाभा से लौटने के कुछ दिन बाद हुई थी। उन दिनों मैं उस बीमारी से ठीक हो ही रहा था जो नाभा ने मुझे भेंट की थी, इसलिए मैं कान्फ्रेंस में शामिल नहीं हो सका, लेकिन मेरा वह भाषण, जो मैंने चारपाई पर बुख़ार में पड़े-पड़े लिखा था, वहाँ पहुँच गया था।

जब कि हम कुछ लोग कांग्रेस में आज़ादी के मसले को साफ़ करा लेना चाहते थे, तब हमारे लिबरल दोस्त हम लोगों से इतनी दूर बह गये थे—या शायद हमीं लोगों ने उन्हें दूर बहा दिया था—कि वे सरेआम साम्राज्य की ताक़त और उसकी शान-शौकत पर नाज़ करते थे, फ़िर चाहे वह साम्राज्य हमारे देश-भाइयों के साथ पायदान का-सा बर्ताव करे और उसके उपनिवेश या तो हमारे भाइयों को अपना ग़ुलाम बनाकर रक्खें या उनको अपने देश में घुसने ही न दें। श्री शास्त्री राजदूत बन गये थे और सर तेजबहादुर सप्रू ने १९२३ में लन्दन में होनेवाली इम्पीरियल कान्फ्रेंस में बड़े गर्व के साथ कहा था कि "मैं अभिमान के साथ कह सकता हूँ कि वह मेरा ही देश है जो साम्राज्य को साम्राज्य बनाये हुए है।"

एक बहुत बड़ा समुद्र हमें इन लिबरल लीडरों से अलग किये हुए था। हम लोग अलग-अलग दुनिया में रहते थे, अलग-अलग भाषाओं में बात करते थे

और हमारे सपनों में, अगर शिरस्त कभी सपने देखते हों तो, कोई चीज़ ऐसी न थी जो एक-सी हो। तब क्या यह ज़रूरी न था कि हम अपने मक़सद की बाबत साफ़ और सही फ़ैसला कर लें?

लेकिन उस वक़्त ऐसे ख़यालात थोड़े ही लोगों को आते थे। ज़्यादातर आदमी बहुत साफ़ और ठीक-ठीक सोचना पसन्द नहीं करते थे—ख़ासतौर पर किसी राष्ट्रीय हलचल में जोकि स्वभावतः ही कुछ हद तक अस्पष्ट और धार्मिक रंग की होती है। १९२४ के शुरू के महीनों में जनता का ख़याल ज़्यादातर उन स्वराजियों की तरफ़ था जो प्रान्त की कौंसिलों और असेम्बली में गये थे। भीतर से विरोध करने और कौंसिलों को तोड़ने की लम्बी चौड़ी बातें मारने के बाद यह दल क्या करेगा? हाँ, कुछ मज़ेदार बातें तो हुईं। असेम्बली ने उस साल बजट ठुकरा दिया, हिन्दुस्तान की आज़ादी की शर्तें तय करने के लिए गोलमेज़ में बहस की माँग करनेवाला प्रस्ताव पास हो गया। देशबन्धु के नेतृत्व में बंगाल-कौंसिल ने भी बहादुरी के साथ सरकारी ख़र्चों की माँगों को ठुकरा दिया। लेकिन असेम्बली और सूबे की कौंसिलों में, दोनों में ही, वाइसराय और गवर्नर ने बजट पर सही कर दी, जिससे वे क़ानून बन गये। कुछ व्याख्यान हुए, कौंसिलों में कुछ खलबली मची, स्वराजियों में थोड़ी देर के लिए अपनी विजय पर खुशी छा गयी, अख़बारों में अच्छे-अच्छे शीर्षक आये, लेकिन इनके अलावा और कुछ नहीं हुआ। इससे ज़्यादा वे कर ही क्या सकते थे? ज़्यादा-से-ज़्यादा वे फिर यही काम करते, लेकिन उनका नयापन चला गया था। जोश ख़त्म हो गया था और लोग बजटों और क़ानूनों को वाइसराय या गवर्नरों द्वारा सही होते देखने के आदी हो गये थे। इसके बाद का क़दम अवश्य ही कौंसिल में जो स्वराजी मेम्बर थे उनकी पहुँच के बाहर था। वह तो कौंसिल-भवन से बाहर का था।

इस साल १९२४ के बीच में किसी महीने में अहमदाबाद में अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमिटी की बैठक हुई। इस बैठक में, आशा से बाहर, स्वराजियों और गांधीजी में बहुत गहरी तनातनी हो गयी और अचानक कुछ विलक्षण स्थिति पैदा हो गयी। शुरुआत गांधीजी की तरफ़ से हुई। उन्होंने कांग्रेस के विधान में एक ख़ास परिवर्तन करना चाहा। वह वोट देने के हक़ को और मेम्बरी से ताल्लुक़ रखनेवाले नियम को बदल देना चाहते थे। इस वक़्त तक जो कोई कांग्रेस-विधान की पहिली धारा को, जिसमें यह लिखा हुआ था कि 'कांग्रेस का उद्देश्य शान्तिमय उपायों से स्वराज लेना है', मंज़ूर करता और चार आने देता वही मेम्बर हो जाता था। अब गांधीजी चाहते थे कि सिर्फ़ वही लोग मेम्बर हो सकें जो चार आने के बजाय निश्चित परिमाण में अपने हाथ का कता हुआ सूत दें। इससे वोट देने का हक़ बहुत कम हो जाता था और इसमें कोई शक नहीं कि अ० भा० कांग्रेस कमिटी को कोई अधिकार न था कि वह इस हक़ को इस हदतक कम करती। लेकिन जब विधान के अक्षर गांधीजी की मर्ज़ी के ख़िलाफ़

पढ़ते हैं तब वह उनकी शायद ही कभी परवा करते हैं। मैं इसे विधान के साथ इतनी ज़बरदस्त ज़्यादती समझता था कि उसे देखकर मुझे बड़ा धक्का लगा और मैंने कार्य-समिति से कहा कि मन्त्री-पद से मेरा इस्तीफ़ा लीजिए। लेकिन इसी बीच में कुछ नयी बातें और हो गयीं जिनकी वजह से मैंने इसपर ज़ोर नहीं दिया। अ० भा० कांग्रेस-कमिटी की बैठक में देशबन्धु दास और पिताजी ने ज़ोर-शोर से इस प्रस्ताव का विरोध किया और आख़िर में वे उसके ख़िलाफ़ अपनी पूरी नाराज़गी ज़ाहिर करने की ग़रज़ से वोट लिये जाने से कुछ पहले अपने अनुयायियों की काफ़ी तादाद के साथ उठकर चले गये। उसके बाद भी कमिटी में कुछ लोग ऐसे रह गये जो उस तजवीज़ के ख़िलाफ़ थे। प्रस्ताव बहुमत से पास हो गया, लेकिन बाद में वह वापस ले लिया गया, क्योंकि मेरे पिताजी और देशबन्धु के अटल विरोध से और स्वराजियों के उठकर चले जाने से गांधीजी पर बड़ा भारी असर पड़ा, उनकी भावना को गहरी ठेस लगी और एक मेम्बर की किसी बात से वह इतने विचलित हो गये कि अपने को सम्हाल न सके। यह ज़ाहिर था कि उनको बहुत गहरी तक़लीफ़ हुई थी। उन्होंने बड़े हृदयस्पर्शी शब्दों में कमिटी के सामने अपने विचार प्रकट किये, जिन्हें सुनकर बहुत-से मेम्बर रोने लगे। यह एक असाधारण और दिल हिला देने वाला दृश्य था।[1]

---

[1]इस वर्णन में कई स्मृति-दोष हैं। एक तो पं० जवाहरलालजी ने खुद ही सुधार लिया है, जो इस टिप्पणी में इस प्रकार है—

"यह सब हाल जेल में याददाश्त के भरोसे लिखना पड़ा था। अब मुझे मालूम हुआ है कि मेरी याददाश्त गलत निकली और अ० भा० कांग्रेस कमेटी में जिन बातों पर बहस हुई उनमे से एक खास बात को मैं भूल गया और इस तरह वहाँ जो कुछ हुआ उसकी बाबत मैंने गलत खयाल पैदा कर दिया। जिस बात से गांधीजी विचलित हुए थे वह तो एक नौजवान बंगाली (आतंकवादी) गोपीनाथ साहा से सम्बन्ध रखनेवाला प्रस्ताव था, जो मीटिंग में पेश हुआ और अखीर में गिर गया। जहाँ तक मुझे याद है, उस प्रस्ताव मे उसके हिंसात्मक काम (श्री डे के खून) की तो निन्दा की गयी थी लेकिन उसके उद्देश्य के साथ सहानुभूति प्रकट की गयी थी। प्रस्ताव से भी अधिक दुःख गांधीजी को उन व्याख्यानों से हुआ जो उस प्रस्ताव के सिलसिले में दिये गये। उनसे गांधीजी को यह खयाल हो गया कि कांग्रेस में भी बहुत-से लोग अहिंसा के विषय में गम्भीर नहीं हैं और इसी खयाल से वह दुखी हुए। इसके बाद फ़ौरन ही 'यंग इण्डिया' में इस मीटिंग की बाबत लिखते हुए उन्होंने कहा—"चारों प्रस्तावों पर मेरे साथ बहुमत ज़रूर था, लेकिन वह इतना कम था कि मुझे तो उस बहुमत को भी अल्पमत मानना चाहिए। असल में दोनों दल क़रीब-क़रीब बराबर थे। गोपीनाथ साहावाले प्रस्ताव से मामला गम्भीर हो गया। उसपर जो व्याख्यान हुए, उनका जो नतीजा हुआ और उसके

मैं यह कभी नहीं समझ सका कि गांधीजी हाथ-कते सूत पर ही वोट का हक़ देनेवाली उस अनोखी बात के बारे में इतना आग्रह क्यों करते थे? क्योंकि वह यह तो ज़रूर ही जानते होंगे कि उसका भारी विरोध किया जायगा। शायद वह यह चाहते थे कि कांग्रेस में सिर्फ़ ऐसे शख़्स रहें जो उनके खादी वग़ैरा के रचनात्मक कार्यक्रम में श्रद्धा रखते हों और दूसरों के लिए वह या तो यह चाहते थे कि वे लोग भी उस कार्यक्रम को मान लें, नहीं तो कांग्रेस से निकाल दिये जायें। लेकिन हालाँकि बहुमत उनके साथ था फिर भी उन्होंने अपना इरादा ढीला कर दिया और दूसरे दल से समझौता कर लिया। मुझे यह देखकर हैरत हुई कि अगले तीन चार महीनों में इस मामले में उन्होंने कई बार अपनी राय बदली। ऐसा मालूम पड़ता था कि खुद उनकी समझ में कुछ नहीं आता था कि वह कहाँ हैं और किधर जाना चाहते हैं? उनके बारे में मैं ऐसा ख़याल कभी न करता था कि उनकी भी कभी ऐसी हालत हो सकती है। इसलिए मुझे अचम्भा हुआ। मेरी राय में वह मामला खुद कोई ऐसा बहुत जरूरी नहीं था। वोट देने का अख़्तियार हासिल करने के लिये कुछ श्रम कराने का ख़याल बहुत अच्छा था, लेकिन ज़बरदस्ती लादने से उसका मतलब ख़ब्त हो जाता था।

बाद मैंने जो बातें देखीं, उन सबसे मेरी आँखें खुल गयीं।....गोपीनाथ साहा-वाले प्रस्ताव के बाद गम्भीरता विदा हो गयी। ऐसे मौके पर मुझे अपना आख़िरी प्रस्ताव पेश करना पड़ा। ज्यों-ज्यों कार्रवाई होती गयी त्यों-त्यों मैं और भी गम्भीर होता गया। मेरे जी में ऐसा आया कि इस दुःखमय दृश्य से भाग जाऊँ। मुझे, अपने सुपुर्द प्रस्ताव पेश करते हुए डर लगता था।...मैं नहीं जानता था कि मैंने यह बात साफ़ कर दी थी या नहीं कि किसी वक्ता के प्रति मेरे दिल में मैल या दुश्मनी नहीं थी। लेकिन मेरे दिल में जिस बात का रंज था वह कांग्रेस के ध्येय या अहिंसा की नीति के प्रति लोगों की उपेक्षा और उनकी वह अनजाने गैरजिम्मेदारी थी।...ऐसे प्रस्ताव का समर्थन करने को कांग्रेस में सत्तर मेम्बर तैयार थे, यह एक ऐसी बात थी जिसे देखकर मैं दंग रह गया।" गांधीजी के भाष्य के साथ यह घटना अत्यन्त उल्लेखनीय है। इससे पता चलता है कि गांधीजी अहिंसा को कितना अधिक महत्त्व देते है और इस बात का भी पता चलता है कि अहिंसा को अनजान में व अप्रत्यक्ष रूपसे चुनौती देने की कोशिश का उनपर कैसा असर होता है। उसके बाद उन्होंने जो बहुत-सी बातें कीं वे भी ग़ालिबन तह में इसी तरह के विचारों की वजह से की। उसके तमाम कामों और उनकी तमाम कार्यनीति की जड़ असल में अहिंसा ही थी और अहिंसा ही है।"

पंडितजी के इतना सुधार कर देने पर भी, अभी इस प्रसंग के वर्णन में भूलें रह गयी हैं जिन्हें यहाँ सुधार देना ठीक होगा—

(१) स्वराजी गांधीजी के मताधिकार में सूचित परिवर्तन से बिगड़कर

मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि गांधीजी को इन मुश्किलों का सामना इसलिए करना पड़ा कि वह अपरिचित वातावरण में रह रहे थे। सत्याग्रह की सीधी लड़ाई के ख़ास मैदान में उनका मुक़ाबला कोई नहीं कर सकता था। उस मैदान में उसकी सहज बुद्धि उन्हें अचूक सही क़दम रखने के लिए प्रेरित किया करती थी। जनता में सामाजिक सुधार कराने के लिए चुपचाप ख़ुद काम करने और दूसरों से काम कराने में भी वह बहुत होशियार थे। या तो दिल खोलकर लड़ाई, या सच्ची शान्ति को वे समझ सकते थे। इन दोनों के बीच की हालत उनके काम की नहीं थी।

कौंसिलों के भीतर विरोध करने और लड़ाई लड़ने के स्वराजी प्रोग्राम से वह बिलकुल उदासीन थे। उनकी राय थी कि अगर कोई साहब कौंसिलों में जाना चाहते हैं तो वे वहां सरकार की मुख़ालफ़त करने न जायँ, बल्कि बेहतर क़ानून बनवाने वग़ैरा के लिए सरकार से सहयोग करने के लिए जायँ। अगर वे ऐसा नहीं करना चाहते तो बाहर ही रहें। स्वराजियों ने इनमें से एक भी

सभा छोड़कर नहीं चले गये थे, और न गांधीजी ने मताधिकार-सम्बन्धी यह प्रस्ताव ही वापस लिया था। इस प्रस्ताव में एक भाग सज़ा सम्बन्धी—कोई मेम्बर इतना सूत न काते तो वह सदस्य न रह सकेगा—था। यह भाग उन सबको बहुत अखरता था। इसके प्रति विरोध बरसाने के लिए वे उठकर चले गये थे। उनके चले जाने के बाद इस भाग पर राय ली गयी—पक्ष में ६७ और विपक्ष में ३७ मत आये। इसपर गांधीजी ने दूसरा प्रस्ताव पेश किया—इस आशय का कि यदि स्वराजी न चले गये होते तो उनकी रायें ख़िलाफ़ ही पड़तीं, और प्रस्ताव का यह भाग उड़ ही जाता, इसलिए यह भाग प्रस्ताव में से निकाल दिया जाय। इस तरह परिवर्तन-सम्बन्धी मूल प्रस्ताव तो क़ायम रहा, गांधीजी ने उसे वापस नहीं लिया, सिर्फ़ सज़ावाला अंश वापस लिया गया था।

(२) गोपीनाथ साहा-विषयक मूल प्रस्ताव गांधीजी ने पेश किया था, जिसमें गोपीनाथ द्वारा किये गये ख़ून की निन्दा की गयी थी। इसपर देशबन्धु ने एक संशोधन सूचित किया था। उसमें भी निन्दा तो थी ही, परन्तु साथ ही स्तुति भी थी कि फांसी पर चढ़कर गोपीनाथ ने अपनी देशभक्ति का परिचय दिया। इससे वह निन्दा मिट जाती थी। गांधीजी ने इस संशोधन का विरोध किया। कहा—यह संशोधन अहिंसा सिद्धान्त को मटियामेट कर देता है। गांधीजी के मूल प्रस्ताव पर ७८ और देशबन्धु के सुधार पर ७० मत मिले थे। १४८ मतदाताओं में ७० सदस्य अहिंसा के नाममात्र के हामी थे, इस ख़याल से गांधीजी को ज़बरदस्त आघात पहुँचा था। —अनु०

सूरत अख़्तियार नहीं की, और इसीलिए उनके साथ व्यवहार करने में उन्हें मुश्किल पड़ती थी।

लेकिन आख़िर में गांधीजी ने स्वराजियों से अपनी पटरी बैठा ली। कता हुआ सूत भी, चार आने के साथ साथ वोट का हक़ हासिल करने का एक साधन मान लिया गया। उन्होंने कौंसिलों में स्वराजियों के काम को लगभग अपना आशीर्वाद दे दिया। लेकिन ख़ुद उससे बिलकुल अलग रहे। यह कहा जाता था कि वह राजनीति से अलग हो गये हैं, और ब्रिटिश सरकार और उसके अफ़सर यह समझते थे कि उनकी लोकप्रियता कम हो रही है और उनमें कुछ दम नहीं रहा। यह कहा जाता था कि दास और नेहरू ने गांधीजी को रंगभूमि से पीछे हटा दिया है, और ख़ुद नायक बन बैठे हैं। पिछले पन्द्रह बरसों में इस तरह की बातें समय के अनुसार उचित हेर-फेर के साथ बार-बार दुहरायी गयी हैं और उन्होंने हर मर्तबा यह दिखा दिया है कि हमारे शासक हिन्दुस्तानी लोगों के विचारों के बारे में कितनी कम जानकारी रखते हैं। जब से गांधीजी हिन्दुस्तान के राजनैतिक मैदान में आये तब से उनकी लोकप्रियता में कभी कमी नहीं आयी—कम-से-कम जहांतक साधारण लोगों का सम्बन्ध है। उनकी लोकप्रियता बराबर बढ़ती चली गयी है, और यह सिलसिला अभी तक ज्यों-का-त्यों जारी है। लोग गांधीजी की इच्छाएं पूरी भले ही न कर सकें, क्योंकि आदमी में कमज़ोरियां होती हैं, लेकिन उनके दिलों में गांधीजी के लिए आदर बराबर बना हुआ है। जब देश की अवस्था अनुकूल होती है तब से जन-आन्दोलनों के रूप में उठ खड़े होते हैं, नहीं तो चुपचाप मुँह छिपाये पड़े रहते हैं। कोई नेता शून्य में जादू की लकड़ी फेरकर जन-आन्दोलन नहीं खड़ा कर सकता। हाँ, एक विशेष अवस्था पैदा होने पर उनसे लाभ उठा सकता है, उन अवस्थाओं से लाभ उठाने की तैयारी कर सकता है, लेकिन स्वयं उन अवस्थाओं को पैदा नहीं कर सकता।

लेकिन यह बात सच है कि पढ़े-लिखे लोगों में गांधीजी की लोक-प्रियता घटती-बढ़ती रहती है। जब आगे बढ़ने का जोश आता है तब वे उनके पीछे-पीछे चलते हैं, और जब उसकी लाज़िमी प्रतिक्रिया होती है तब वे गांधीजी की नुक्ताचीनी करने लगते हैं। लेकिन इस हालत में भी उनकी बहुत बड़ी तादाद गांधीजी के सामने सिर झुकाती है। कुछ हद तक तो यह बात इसलिये है कि गांधीजी के प्रोग्राम के सिवा दूसरा और कोई कारगर प्रोग्राम ही नहीं है। लिबरलों या उन्हींसे मिलते-जुलते दूसरे उन जैसे प्रतिसहयोगी वग़ैरह को कोई पूछता नहीं, और जो लोग आतंककारी हिंसा में विश्वास रखते हैं उनका आजकल दुनिया में कोई स्थान नहीं रहा। उन्हें लोग बेकार तथा पुराने और पिछड़े हुए समझते हैं। इधर समाजवादी कार्यक्रम को लोग अभी बहुत कम जानते हैं, और कांग्रेस में ऊँची श्रेणियों के जो लोग हैं वे उससे भड़कते हैं।

१९२४ के बीच में थोड़े वक़्त के लिए जो राजनैतिक अनबन हो गई थी,

इसके बाद मेरे पिताजी और गांधीजी में पुरानी दोस्ती फिर क़ायम हो गई और वह और भी ज़्यादा बढ़ गयी। एक-दूसरे से उनकी राय चाहे कितनी ही ख़िलाफ़ होती, लेकिन दोनों के दिल में एक-दूसरे के लिए सद्भाव और आदर था। दोनों में आख़िर ऐसी क्या बात है, जिसकी दोनों इज़्ज़त करते थे? विचार-प्रवाह (Thought Currents) नाम की एक पुस्तिका में गांधीजी के लेखों का संग्रह छापा गया था। इस पुस्तिका की भूमिका पिताजी ने लिखी थी। उस भूमिका में हमें उनके मन की झलक मिल जाती है। उन्होंने लिखा है—

"मैंने महात्माओं और महान् पुरुषों की बाबत बहुत सुना है, लेकिन उनसे मिलने का आनन्द मुझे कभी नहीं मिला। और मैं यह स्वीकार करता हूँ कि मुझे उनकी असली हस्ती के बारे में भी कुछ शक है। मैं तो मर्दों में और मर्दानगी में विश्वास करता हूँ। इस पुस्तिका में जो विचार इकट्ठा किये गये हैं, वे एक ऐसे ही मर्द के दिमाग़ से निकले हैं और उनमें मर्दानगी है। वे मानव-प्रकृति के दो बड़े गुणों के नमूने हैं—यानी श्रद्धा और पुरुषार्थ के......

"जिस आदमी में न श्रद्धा है न पुरुषार्थ, वह पूछता है, 'इस सबका नतीजा क्या होगा?' यह जवाब कि जीत होगी या मौत, उसे अपील नहीं करता। इस बीच में वह विनीत और छोटा-सा व्यक्ति, अजेय शक्ति और अचल श्रद्धा के साथ सीधा खड़ा हुआ अपने देश के लोगों को मातृभूमि के लिए अपनी क़ुर्बानी करने और कष्ट सहने का अपना सन्देश देता चला जा रहा है। लाखों लोगों के हृदयों में इस सन्देश की प्रतिध्वनि उठती है।......"

उन्होंने स्विनबर्न की पंक्तियां देकर अपनी भूमिका ख़त्म की है—

नहीं हमारे पास रहे क्या पुरुषसिंह वे नामी,
जो कि परिस्थितियों के होवें शासक एवं स्वामी![1]

ज़ाहिर है कि वह इस बात पर ज़ोर देना चाहते थे कि वह गांधीजी की तारीफ़ इसलिए नहीं करते कि वह कोई साधु या महात्मा हैं, बल्कि इसलिए कि वह मर्द हैं। वह ख़ुद मज़बूत तथा कभी न झुकनेवाले थे, इसलिये गांधीजी की आत्म-शक्ति की तारीफ़ करते थे। क्योंकि यह साफ़ मालूम होता था कि इस दुबले-पतले शरीरवाले छोटे से आदमी में इस्पात की-सी मज़बूती है, कुछ चट्टान जैसी दृढ़ता है जो शारीरिक ताक़तों के सामने नहीं झुकती, फिर चाहे ये ताक़तें कितनी ही बड़ी क्यों न हों। यद्यपि उनकी शक्ल-सूरत, उनका नंगा शरीर, उनकी छोटी धोती ऐसी न थी कि किसीपर बहुत धाक जमे, लेकिन उनमें कुछ पुरुषसिंहता और ऐसी बादशाहियत ज़रूर है जो दूसरों को ख़ुशी-ख़ुशी उनका हुक्म बजा लाने को मजबूर कर देती है। यद्यपि उन्होंने जान बूझकर नम्रता और निरभि-

---

[1] अंग्रेज़ी कविता का भावानुवाद। —अनु०

मानता ग्रहण की थी, फिर भी शक्ति व अधिकार उनमें लबालब भरे हुए थे और वह इस बात को जानते भी थे, और कभी-कभी तो वह बादशाह की तरह हुक्म देते थे जिसे पूरा करना ही पड़ता। उनकी शान्त लेकिन गहरी आँखें आदमी को जकड़ लेतीं और उसके दिल के भीतर तक की बातें खोज लेतीं। उनकी साफ़-सुथरी आवाज़ मीठी गूँज के साथ दिल के अन्दर घुसकर हमारे भावों को जगाकर अपनी तरफ़ खींच लेती। उनकी बात सुननेवाला चाहे एक शख़्स हो या हज़ार हों, उनका चुम्बक-सा आकर्षण उन्हें अपनी तरफ़ खींचे बिना नहीं रहता और हरेक सुननेवाला मन्त्र-मुग्ध हो जाता था। इस भाव का दिमाग़ से बहुत कम ताल्लुक़ होता था। गांधीजी दिमाग़ को अपील करने की बिलकुल उपेक्षा करते हों सो बात नहीं। फिर भी इतना निश्चित है कि दिमाग़ व तर्क को दूसरा नम्बर मिलता था। मन्त्र-मुग्ध करने का यह जादू न तो वाग्मिता के बल से होता था और न मधुर वाक्यावली के मोहक प्रभाव से। उनकी भाषा हमेशा सरल और अर्थवती होती थी, अनावश्यक शब्दों का व्यवहार शायद ही कभी होता हो। एकमात्र उनकी पारदर्शक सच्चाई और उनका व्यक्तित्व ही दूसरों को जकड़ लेता है। उनसे मिलने पर यह खयाल जम जाता है कि उनके भीतर प्रचण्ड आत्मशक्ति का भंडार भरा हुआ है। शायद यह भी हो कि उनके चारों तरफ़ ऐसी परम्परा बन गयी है जो उचित वातावरण पैदा करने में मदद देती है। हो सकता है कि कोई अजनबी आदमी, जिसे उन परम्पराओं का पता न हो और गांधीजी के आसपास की हालतों से जिसका मेल न खाता हो, उनके जादू के असर में न आवे या इस हद तक न आवे; लेकिन फिर भी गांधीजी के बारे में सबसे ज़्यादा कमाल की बात यही थी और यही है कि वे अपने विरोधियों को या तो सोलहों आने जीत लेते हैं या कम-से-कम उनको निःशस्त्र ज़रूर कर देते हैं।

यद्यपि गांधीजी प्राकृतिक सौन्दर्य की बहुत तारीफ़ करते हैं, लेकिन मनुष्य की बनाई चीज़ों में वह कला या ख़ूबसूरती नहीं देख सकते। उनके लिए ताजमहल ज़बरदस्ती ली हुई बेगार की प्रतिमूर्ति के सिवा और कुछ नहीं। उनमें सूँघने की शक्ति की भी बहुत कमी है। फिर भी उन्होंने अपने तरीक़े से जीवन-यापन की कला खोज निकाली है और अपनी ज़िन्दगी को कलामय बना लिया है। उनका हरेक इशारा सार्थक और ख़ूबी लिये हुए होता है, और ख़ूबी यह है कि बनावट का नामोनिशान नहीं। उनमें न कहीं नुकीलापन है, न कटीलापन। उनमें उस अशिष्टता या हलकेपन का निशान तक नहीं जिसमें, दुर्भाग्य से, हमारे मध्यम वर्ग के लोग डूबे रहते हैं। भीतरी शान्ति पा कर वह दूसरों को भी शान्ति देते हैं और ज़िन्दगी के कँटीले रास्ते पर मज़बूत और निडर क़दम रखते हुए चले जाते हैं।

मगर मेरे पिताजी गांधीजी से कितने भिन्न थे! उनमें व्यक्तित्व का बल था और बादशाहियत की मात्रा थी। स्विनबर्न की वे पंक्तियाँ उनके लिए भी लागू होती हैं। जिस किसी समाज में वह जा बैठते उसके केन्द्र वही बन जाते।

जैसा कि अंग्रेज़ जज ने पीछे कहा था, वह जहाँ-कहीं भी जाकर बैठते वहीं मुखिया बन जाते। वह न तो नम्र ही थे न मुलायम ही, और गांधीजी के उलटे वह उन लोगों की ख़बर लिए बिना नहीं रहते थे जिनकी राय उनके ख़िलाफ़ होती थी। उन्हें इस बात का भान रहता था कि उनका मिज़ाज शाही है। उनके प्रति या तो आकर्षण होता था या तिरस्कार। उनसे कोई शख़्स उदासीन या तटस्थ नहीं रह सकता था। हरेक को या तो उन्हें पसन्द करना पड़ता या नापसन्द। चौड़ा ललाट, चुस्त होंठ और सुनिश्चित ठोड़ी। इटली के अजायबघरों में रोमन सम्राटों की जो अर्द्ध-मूर्त्तियाँ हैं उनसे उनकी शक्ल बहुत काफ़ी मिलती थी। इटली में बहुत-से मित्रों ने जो उनकी तस्वीर देखी तो उन्होंने भी इस साम्य का ज़िक्र किया था। ख़ास तौर पर उनकी ज़िन्दगी के पिछले सालों में जब कि उनका सिर सफ़ेद बालों से भर गया था, उनमें एक ख़ास क़िस्म की शालीनता और भव्यता आ गयी थी जो इस दुनिया में आजकल बहुत कम दिखाई देती है। मेरे सिर पर तो बाल नहीं रहे पर उनके सिर के बाल आख़ीर तक बने रहे। मैं समझता हूँ कि शायद मैं उनके साथ पक्षपात कर रहा हूँ, लेकिन इस संकीर्णता और कमज़ोरी से भरी हुई दुनिया में उनकी शरीफ़ाना हस्ती की रह-रहकर याद आती है। मैं अपने चारों तरफ़ उनकी-सी अजीब ताक़त और उनकी-सी शान शौकत को खोजता हूँ, लेकिन बेकार।

मुझे याद है कि १९२४ में मैंने गांधीजी को पिताजी का एक फ़ोटो दिया था। इन दिनों गांधीजी की और स्वराजियों की रस्साकशी हो रही थी। इस फ़ोटो में पिताजी की मूँछें न थीं और उस वक़्त तक गांधीजी ने उन्हें हमेशा सुन्दर मूँछों सहित देखा था। इस फ़ोटो को देखकर गांधीजी चौंक गये और बहुत देर तक उसे निहारते रहे, क्योंकि मूँछें न रहने से मुँह व ठोड़ी की कठोरता और भी प्रकट हो गयी थी, और कुछ सूखी-सी हँसी हँसते हुए उन्होंने कहा कि अब मैंने यह जान लिया कि मुझे किसका मुकाबला करना है। उनकी आँखों ने और निरन्तर हँसी ने चेहरे पर जो रेखाएं बना दी थीं उन्होंने चेहरे की कठोरता को कम कर दिया था, फिर भी कभी-कभी आँखें चमक उठती थीं।

असेम्बली का काम पिताजीके स्वभाव के उसी तरह अनुकूल था जिस तरह बतख़ का पानी में तैरना। वह काम उनकी क़ानूनी और विधान-सम्बन्धी तालीम के लिए मौज़ूँ था। सत्याग्रह तथा उनकी शाखाओं के खेल के नियम तो वह नहीं जानते थे, लेकिन इस खेल के नियम-उपनियमों से पूरी तरह वाक़िफ़ थे। उन्होंने अपनी पार्टी में कठोर अनुशासन रक्खा और दूसरे दलों और व्यक्तियों को भी इस बात के लिए राज़ी कर लिया कि वे स्वराज-पार्टी की मदद करें। लेकिन जल्दी ही उन्हें अपने ही लोगों से मुसीबत का सामना करना पड़ा। स्वराज-पार्टी को अपने शुरू के दिनों में कांग्रेस में ही अपरिवर्तनवादियों से लड़ना पड़ता था, और इसलिए कांग्रेस के भीतर पार्टी की ताक़त बढ़ाने के लिए बहुत

से ऐसे-वैसे लोग भर्ती कर लिए गये थे। इसके बाद चुनाव हुआ, जिसके लिए रुपये की ज़रूरत थी। रुपये पैसेवालों से ही आ सकते थे, इसलिए इन पैसेवालों को खुश रखना पड़ता था। उनमें से कुछ को स्वराजी उम्मेदवार होने के लिए भी कहा गया था। एक अमेरिकन साम्यवादी ने कहा है कि राजनीति वह नाज़ुक कला है जिसके ज़रिये ग़रीबों से वोट और अमीरों से चुनाव के लिए रुपये यह कहकर लिये जाते हैं कि हम तुम्हारी एक-दूसरे से रक्षा करेंगे!

इन सब बातों से पार्टी शुरू से ही कमज़ोर हो गयी थी। कौंसिल और असेम्बली के काम में इस बात की रोज़ ही ज़रूरत पड़ती थी कि दूसरों से, और ज़्यादा माडरेट दलों के साथ समझौते किये जायें, और इसके फलस्वरूप कोई भी जिहादी भावना या सिद्धान्त क़ायम नहीं रह सकते थे। धीरे-धीरे पार्टी का अनुशासन और रवैया बिगड़ने लगा और उसके कमज़ोर तथा अवसरवादी मेम्बर मुश्किलें पैदा करने लगे। स्वराज पार्टी खुल्लम-खुल्ला यह ऐलान करके कौंसिलों में गयी थी कि "हम भीतर जाकर मुख़ालिफ़त करेंगे।" लेकिन इस खेल को तो दूसरे भी खेल सकते थे और सरकार ने स्वराजी मेम्बरों में फूट व विरोध पैदा करके इस खेल में अपना हाथ डालने की ठान ली। पार्टी के कमज़ोर भाइयों के रास्ते में तरह-तरह के तरीक़ों से ख़ास रिआयतों और ऊँचे ओहदों के लालच दिये जाने लगे। उन्हें सिर्फ़ इन चीज़ों में से जिसे वे चाहें चुन लेना था। उनकी लियाक़त, उनकी विवेकशीलता तथा उनकी राजनीति-चतुरता आदि गुणों की तारीफ़ होने लगी। उनके चारों तरफ़ एक आनन्दमय तथा सुखप्रद वातावरण पैदा कर दिया गया, जो खेतों व बाज़ार की धूल और शोरोग़ुल से बिलकुल जुदा था।

स्वराजियों का स्वर धीमा पड़ गया। कोई किसी सूबे में से तो कोई असेम्बली में से विरोधी पक्ष की तरफ़ खिसकने लगे। पिताजी बहुत चिल्लाये और गरजे। उन्होंने कहा, मैं सड़े हुए अंग को काट फेंकूँगा। लेकिन जब सड़ा हुआ अंग खुद ही शरीर छोड़कर चले जाने को उत्सुक हो तब इस धमकी का कोई बड़ा असर नहीं हो सकता था। कुछ स्वराजी मिनिस्टर हो गये और कुछ बाद को सूबों में कार्यकारिणी के मेम्बर। उनमें से कुछ ने अपना अलग दल बना लिया और अपना नाम 'प्रति-सहयोगी' रख लिया। इस नाम को शुरू में लोकमान्य तिलक ने बिलकुल दूसरे मानी में इस्तेमाल किया था। इन दिनों तो इसके मानी यही थे कि मौक़ा मिलते ही जो ओहदा मिले उसे हड़प लो और उससे जितना फ़ायदा उठा सकते हो उठाओ। इन लोगों के धोखा दे जाने पर भी स्वराज-पार्टी का काम चलता रहा। लेकिन घटना-चक्र ने जो शक्ल अख़्तियार की उससे पिताजी व देशबन्धु दास को कुछ हद तक नफ़रत हो गयी। कौंसिलों और असेम्बली के अन्दर उन्हें अपना काम व्यर्थ-सा मालूम होने लगा, जिसकी वजह से वे उससे ऊबने लगे। मानो उनकी इस ऊब को बढ़ाने के लिए उत्तरी हिन्दुस्तान में हिन्दू-

मुस्लिम तनातनी बढ़ने लगी, जिसकी वजह से कभी-कभी दंगे भी हो जाते थे।

कुछ कांग्रेसी, जो हमारे साथ १९२१ और २२ में जेल गये थे, अब सूबे की सरकारों में मिनिस्टर हो गये थे या दूसरे ऊँचे ओहदों पर पहुँच गये थे। १९२१ में हमें इस बात का फ़ख़्र था कि हमें एक ऐसी सरकार ने ग़ैरक़ानूनी क़रार दिया है और वही हमें जेल भेज रही है, जिसके कुछ सदस्य लिबरल (पुराने कांग्रेसी) भी थे। भविष्य में हमें यह तसल्ली और होने को थी कि कम-से-कम कुछ सूबों में हमारे अपने पुराने साथी ही हमें ग़ैर-क़ानूनी क़रार देकर जेल में भेजेंगे। ये नये मिनिस्टर और कार्यकारिणी के मेम्बर इस काम के लिए लिबरलों से कहीं ज़्यादा कुशल थे। वे हमें जानते थे, हमारी कमज़ोरियों को जानते थे, और यह भी जानते थे कि उनसे कैसे फ़ायदा उठाया जाय ? वे हमारे तरीक़ों से भली-भाँति वाक़िफ़ थे तथा जन-समूहों और उनके मनोभावों का भी उन्हें कुछ अनुभव ज़रूर था। दूसरी तरफ़ जाने से पहले उन्होंने नारमियों की तरह क्रान्तिकारी हलचल के साथ नाता जोड़ा था। और कांग्रेस के अपने पुराने साथियों का दमन करने में वे इन तरीक़ों से अनभिज्ञ पुराने हाकिमों या लिबरल मिनिस्टरों से कहीं ज़्यादा क्षमतापूर्वक अपने इस ज्ञान का उपयोग कर सकते थे।

दिसम्बर १९२४ में कांग्रेस का जलसा बेलगांव में हुआ और गांधीजी उसके सभापति थे। उनके लिए कांग्रेस का सभापति होना तो एक भोंडी-सी बात थी, क्योंकि वह तो बहुत अर्से से उसके स्थायी सभापति से भी बढ़कर थे। उनका प्रधान की हैसियत से दिया हुआ भाषण मुझे पसन्द नहीं आया। उसमें ज़रा भी स्फूर्ति नहीं मिली। जलसा ख़त्म होते ही, गांधीजी के कहने पर, मैं फिर अगले साल के लिए अ० भा० कांग्रेस-कमिटी का कार्यकारी मन्त्री चुन लिया गया। अपनी इच्छाओं के विरुद्ध धीरे-धीरे मैं कांग्रेस का लगभग स्थायी मन्त्री बनता जा रहा था।

१९२५ की गर्मियों में पिताजी बीमार थे। उनका दमा बहुत ज़्यादा तकलीफ़ दे रहा था। वह परिवार के साथ हिमालय में डलहौज़ी चले गये। बाद को कुछ अर्से के लिए मैं भी उन्हीं के पास जा पहुँचा। हम लोगों ने हिमालय के भीतर डलहौज़ी से चम्बा तक का सफ़र किया। जब हम लोग चम्बा पहुँचे तब जून का कोई दिन था, और हम लोग पहाड़ी रास्तों पर सफ़र करके कुछ थक गये थे। इसी समय एक तार आया, उससे मालूम हुआ कि देशबन्धु मर गये। बहुत देर तक पिताजी शोक के भार से झुके बैठे रहे, उनके मुँह से एक शब्द तक नहीं निकला। यह आघात उनके लिए बहुत ही निर्दयता-पूर्ण था। मैंने उन्हें इतना दुखी होते हुए कभी नहीं देखा था। वह व्यक्ति, जो उनके लिए दूसरे सब लोगों से ज़्यादा घनिष्ठ और प्यारा साथी हो गया था, यकायक उन्हें छोड़कर चला गया और सारा बोझ उनके कन्धों पर छोड़ गया। वह बोझा वैसे ही बढ़ रहा था, वह तथा देशबन्धु दोनों ही उससे तथा लोगों की कम-

ज़ोरियों से ऊब रहे थे। फ़रीदपुर-कान्फ़्रेंस में देशबन्धु ने जो आख़िरी भाषण दिया वह कुछ थके हुए-से व्यक्ति का भाषण था।

हम दूसरे ही दिन सुबह चम्बा से चल दिये और पहाड़ों पर चलते-चलाते डलहौज़ी पहुंचे, वहाँ से कार-द्वारा रेलवे स्टेशन पर, फिर इलाहाबाद और वहाँ से कलकत्ता।

१६

साम्प्रदायिकता का दौरदौरा

नाभा-जेल से लौटने पर १६२३ के जाड़े में मैं बीमार पड़ गया। मियादी बुख़ार से यह कुश्ती मेरे लिए एक नया तजरबा था। मुझे शारीरिक कमज़ोरी से या बुख़ार से चारपाई पर पड़ा रहने या बीमार पड़ने की आदत न थी। मुझे अपनी तन्दुरुस्ती पर कुछ नाज़ था और हिन्दुस्तान में आमतौर पर जो बीमार बने रहने का रिवाज-सा पड़ा हुआ था उसके मैं ख़िलाफ़ था। अपनी जवानी और अच्छे शरीर की वजह से मैंने बीमारी पर पार पा लिया, लेकिन संकट के टल जाने पर मुझे कमज़ोरी की हालत में चारपाई पर पड़े रहना पड़ा और अपनी तन्दुरुस्ती भी धीरे-धीरे हासिल करनी पड़ी। इन दिनों मैं अपने आसपास की चीज़ों और अपने रोज़मर्रा के कामों से अजीब तरह का विराग-सा अनुभव करता था और उन्हें तटस्थता से देखता रहता था। मुझे ऐसा मालूम पड़ता था कि जंगल में मैं पेड़ों की आड़ में से बाहर निकल आया हूँ और अब तमाम जंगल को अच्छी तरह देख सकता हूँ। मेरा दिमाग़ जितना साफ़ और ताक़तवर इन दिनों था उतना पहले कभी न था। मैं समझता हूँ कि यह तजरबा या इस तरह का कोई दूसरा तजरबा उन लोगों को हुआ होगा जिन्हें सख़्त बीमारी में से होकर गुज़रना पड़ा है। लेकिन मेरे लिए तो वह एक तरह का आध्यात्मिक अनुभव-सा हुआ। मैं आध्यात्मिक शब्द का इस्तेमाल उसके संकीर्ण धर्म के मानी में नहीं करता। इस तजरबे का मुझपर बहुत काफ़ी असर पड़ा। मैंने महसूस किया कि मैं अपनी राजनीति के भावुकता-मय वायुमण्डल से ऊपर उठ गया हूँ, और जिन ध्येयों तथा शक्तियों ने मुझे कार्य के लिए प्रेरित किया उन्हें ज़्यादा तटस्थता के साथ देख सकता हूँ। इस स्पष्टता के फल-स्वरूप मेरे दिल में तरह-तरह के तर्क-वितर्क उठने लगे, जिनका कोई ठीक जवाब नहीं मिलता था। लेकिन मैं जीवन और राजनीति को धार्मिक दृष्टि से देखने के दिन-पर-दिन अधिक विरुद्ध होता गया। मैं अपने उस तजरबे की बाबत ज़्यादा नहीं लिख सकता। वह एक ऐसा ख़याल था जिसे मैं आसानी से ज़ाहिर नहीं कर सकता। यह बात ग्यारह वर्ष पहले हुई थी और अब तो उसकी मेरे मन पर बहुत हलकी छाप रह गयी है। लेकिन इतनी बात मुझे अच्छी तरह याद है कि मेरे ऊपर और मेरे विचार करने के तरीक़े पर उसका

टिकाऊ असर पड़ा और अगले दो या तीन साल मैंने अपना काम कुछ हद तक तटस्थता से किया।

हाँ, बेशक कुछ हदतक तो यह बात उन घटनाओं की वजह से हुई जो बिलकुल मेरी ताक़त के बाहर थीं और जिनमें मैं फिट नहीं होता था। कुछ राजनैतिक परिवर्तनों का ज़िक्र मैं पहले ही कर चुका हूँ। उससे भी ज़्यादा महत्वपूर्ण बात थी हिन्दू-मुसलमानों के सम्बन्धों का दिन-पर-दिन ख़राब होना, जो ख़ासतौर पर उत्तरी हिन्दुस्तान में अपना असर दिखा रहा था। बड़े-बड़े शहरों में कई दंगे हुए, जिनमें हद दर्जे की पशुता और क्रूरता दिखायी दी। शक और ग़ुस्से की आबोहवा ने नये-नये झगड़े पैदा कर दिये। जिनके नाम भी हममें से ज़्यादातर लोगों ने पहले कभी नहीं सुने थे। इससे पहले झगड़ा पैदा करनेवाली वजह थी गो-वध और वह भी ख़ासकर बक़रीद के दिन। हिन्दू और मुसलमानों के त्यौहारों के एक साथ आ जाने पर भी तनातनी हो जाती थी। मसलन्, जब मुहर्रम उन्हीं दिनों आ पड़ता जब रामलीला होती थी तो झगड़े का अन्देशा हो जाता था। मुहर्रम पिछली दुःखद घटनाओं की याद दिलाता था जिससे दुःख और आँसू पैदा होते थे। रामलीला ख़ुशी का त्यौहार था जिसमें पाप के ऊपर पुण्य की विजय का उत्सव मनाया जाता है। दोनों एक-दूसरे से चस्पाँ नहीं होते थे, लेकिन सौभाग्य से ये त्यौहार तीन साल में सिर्फ़ एक दफ़ा साथ-साथ पड़ते थे। रामलीला तो हिन्दू तिथि के अनुसार नियत आश्विन सुदी दशमी को होती है जब कि मुहर्रम मुस्लिम तारीख़ के मुताबिक़ कभी इस महीने और कभी उस महीने में मनाये जाते हैं।

लेकिन अब तो झगड़े का एक सबब ऐसा पैदा हो गया जो हमेशा मौजूद रहता था और हमेशा खड़ा हो सकता था। यह था मसजिदों के सामने बाजा बजाने का सवाल। नमाज़ के वक़्त बाजा बजाने या ज़रा भी आवाज़ आने पर मुसलमान एतराज़ करने लगे—कहते, इससे नमाज़ में ख़लल पड़ता है। हर शहर में बहुत-सी मसजिदें और उनमें हर रोज़ पाँच मर्तबा नमाज़ पढ़ी जाती है और शहरों में जलूसों की, जिनमें शादी वग़ैरा के जलूस भी शामिल हैं, तथा दूसरे शोरोग़ुल की कमी नहीं। इसलिए झगड़ा होने का अन्देशा हर वक़्त मौजूद रहता था। ख़ासतौर पर जब मसजिद में शाम को होनेवाली नमाज़ के वक़्त जलूस निकलते और बाजों का शोरोग़ुल होता तब एतराज़ किया जाता था। इत्तिफ़ाक़ से यही वक़्त है जबकि हिन्दुओं के मन्दिर में शाम की पूजा यानी आरती होती है और शंख बजाये जाते हैं तथा मन्दिरों के घंटे बजते हैं। इसी आरती-नमाज़ के झगड़े ने बहुत बड़ा रूप धारण कर लिया।

यह बात अचम्भे की-सी मालूम होती है कि जो सवाल एक-दूसरे के भावों का आपस में थोड़ा-सा ख़याल करके और उसके मुताबिक़ थोड़ा-सा इधर-उधर कर देने से तय हो सकता है, उसकी वजह से इतनी कटुता पैदा हो और दंगे हों;

ख़ालिस मज़हबी जोश, तर्क, विचार या आपसी ख़याल से कोई ताल्लुक़ नहीं रखता, और जब दोनों को क़ाबू करनेवाला एक तीसरी पार्टी एक को दूसरे के ख़िलाफ़ भिड़ा सकती है तब उस जोश को भड़काना बहुत आसान होता है।

उत्तरी हिन्दुस्तान के थोड़े-से शहरों में होनेवाले इन दंगों को ज़रूरत से ज़्यादा महत्त्व दे दिया जाता है; क्योंकि हिन्दुस्तान के ज़्यादातर शहरों और सूबों में और तमाम गाँवों में हिन्दू-मुसलमान शान्ति के साथ रहते थे; उनके ऊपर इन दंगों का कोई कहने लायक़ असर नहीं पड़ा। लेकिन अख़बारों ने स्वभावतः ही मामूली-से-मामूली और टुच्चे-से-टुच्चे झगड़े को भी बहुत ज़्यादा शोहरत दी। हाँ, यह बिलकुल सच है कि शहरों के आम लोगों में भी यह साम्प्रदायिक तनातनी और कटुता बढ़ती गयी। चोटी के साम्प्रदायिक लीडरों ने उसे और भी बढ़ाया और वह साम्प्रदायिक, राजनैतिक माँगों की कड़ाई के रूप में ज़ाहिर हुई। हिन्दू-मुस्लिम झगड़े से मुसलमानों के दक़ियानूसी लीडर, जो राजनीति में प्रतिगामी दल के हैं और जो असहयोग के इतने बरसों में कोनों में पीछे पड़े हुए थे बाहर निकले और इस प्रतिक्रिया में सरकार ने उनकी मदद की। उनकी तरफ़ से रोज़-रोज़, नयी-नयी पहले से ज़्यादा उग्र साम्प्रदायिक माँगें पेश होतीं, जो हिन्दुस्तान की आज़ादी और क़ौमी एकता की जड़ काटती थीं। हिन्दुओं की तरफ़ भी जो लोग राजनीति में प्रगति-विरोधी थे, वे ही हिन्दुओं के साम्प्रदायिक नेता थे और हिन्दुओं के हक़ों की रखवाली करने के बहाने वे नियमित-रूप से सरकार के हाथों की कठपुतली बन गये। उन्होंने जिन बातों पर ज़ोर दिया उन्हें हासिल करने में उन्हें कोई कामयाबी नहीं मिली। जिन तरीक़ों से वे काम ले रहे थे उनसे वे लाख कोशिश करने पर भी कामयाब नहीं हो सकते थे। हाँ, उन्होंने देश में जातिगत विद्वेष फैलाने में ज़रूर कामयाबी हासिल की।

कांग्रेस बड़े असमंजस में पड़ गयी। वह तो राष्ट्रीय भावनाओं की प्रतिनिधि-स्वरूप थी। उन्हींका उसे ख़याल रहता था, इसलिए इस साम्प्रदायिक मनमुटाव का उसपर असर पड़ना लाज़िमी था। कई कांग्रेसी राष्ट्रीयता की चादर ओढ़े हुए सम्प्रदायवादी साबित हुए। लेकिन कांग्रेस के नेता मज़बूत बने रहे और कुल मिलाकर उन्होंने किसीकी तरफ़दारी करने से इन्कार कर दिया—हिन्दू-मुसलमानों के मामलों में ही नहीं, बल्कि और फ़िरक़ों के मामलों में भी; क्योंकि अब तो सिख वग़ैरा अल्पसंख्यक जातियाँ ज़ोर-ज़ोर से अपनी माँगें पेश कर रही थीं। लाज़िमी तौर पर इस बात का नतीजा यह हुआ कि दोनों तरफ़ के अतिवादी लोग कांग्रेस की बुराई करने लगे।

बहुत दिन पहले असहयोग के शुरू होते ही या उससे भी पहले गांधीजी ने हिन्दू-मुस्लिम समस्या हल करने की तदबीर बतायी थी। उनका कहना था कि यह समस्या तो तभी हल हो सकती है जब बड़ी जाति उदारता और सद्भावना से काम ले। इसलिए वह मुसलमानों की हरेक माँग को पूरा करने को राज़ी थे।

वह उनसे सौदा नहीं करना चाहते बल्कि उन्हें अपनी तरफ़ पूरी तरह मिला लेना चाहते हैं। चीज़ों की क़ीमतों को ठीक ठीक कूतकर उन्होंने दूरदर्शिता के साथ जो असल काम की बात थी वह ग्रहण कर ली। लेकिन दूसरे लोग जो समझते थे कि हम हरेक चीज़ का बाज़ार-भाव जानते हैं लेकिन असल में किसी भी चीज़ की सही क़ीमत से वाक़िफ़ न थे, वे बाज़ार के सौदा करने के तरीक़े से चिपके रहे। उन्हें यह ख़र्च तो साफ़-साफ़ दिखायी दिया जो असली चीज़ को ख़रीदने में देना पड़ रहा था, और उससे उन्हें दर्द होता था, लेकिन जिस चीज़ को वे शायद ख़रीद लेते उसकी असली क़ीमत की वे कुछ भी क़द्र नहीं कर सकते थे।

दूसरों की आलोचना करना और उनपर दोष मढ़ देना आसान है और अपनी तदबीरों की नाकमयाबी के लिए कोई-न-कोई बहाना ढूँढ़ने के लिए तो दूसरों के सिर क़सूर थापने के लालच को रोकना अक्सर दुश्वार ही हो जाता है। हम कहते हैं क़सूर हमारे ख़याल का या काम में किसी क़िस्म की ग़लती का थोड़े ही था, वह तो दूसरे लोगों ने जान-बूझकर जो रोड़े अटकाये उनका था। हमने सरकार को और साम्प्रदायिक नेताओं को दोष दिया। साम्प्रदायिक नेताओं ने हमारा क़सूर बताया। इसमें कोई शक नहीं कि हम लोगों के रास्ते में सरकार तथा उनके साथियों ने अड़चनें डालीं, और जान-बूझकर लगातार रोड़े अटकाये। इसमें कोई शक नहीं कि ब्रिटिश सरकार ने क्या पहले से और क्या अब अपनी कार्य-नीति का आधार हम लोगों में फूट पैदा करने पर ही रक्खा है। फूट डालकर राज्य करो यह हमेशा साम्राज्यों का तरीक़ा रहा है, और इस नीति में जितनी मात्रा में सफलता मिलती है उतनी मात्रा में शोषितों के ऊपर शासकों की उच्चता साबित होती है। हमें इस बात की कोई शिकायत नहीं होनी चाहिए। कम-से-कम हमें उस पर कोई अचम्भा नहीं करना चाहिए। उसकी उपेक्षा करना या पहले से ही उसका इन्तज़ाम न कर लेना, ख़ुद हमारे विचारों की ही ग़लती है।

लेकिन हम उसका भी क्या इन्तज़ाम करें ? यह तो तय है कि दूकानदारों की तरह सौदा करने और आमतौर पर उन्हींकी चालों से काम लेने से कुछ फ़ायदा नहीं हो सकता; क्योंकि हम कितना भी क्यों न दें हमारी बोली कितनी भी ज़्यादा क्यों न हो, एक ऐसा तीसरा दल हमेशा मौजूद है जो हमसे ज़्यादा बोली बोल सकता है और इससे भी ज़्यादा यह कि वह जो कुछ कहता है उसे पूरा कर सकता है। अगर हम लोगों में कोई एक राष्ट्रीय या सामाजिक दृष्टिकोण नहीं है तो हम अपने समान बैरी पर सब मिलकर एक साथ चढ़ाई नहीं कर सकते। अगर हम मौजूदा राजनैतिक और आर्थिक ढाँचे के भीतर ही सोचते हैं कि उसीमें सिर्फ़ इधर-उधर कुछ हेर-फेर कर लेंगे, उसका सुधार या 'भारतीयकरण' कर लेंगे तो, फिर संयुक्त प्रहार के लिए वास्तविक उत्तेजना नहीं मिलती। क्योंकि उस हालत में हमारा मक़सद जो कुछ पल्ले पड़े उसके बटवारे का रह जाता है, जिसमें तीसरी और हमपर क़ाबू रखनेवाली पार्टी का लाज़िमी तौर पर बोलबाला रहता

है और वही, जिसे इनाम देना पसन्द करती है उसको, जो इनाम चाहते हैं देती है। हाँ, लेकिन एक बिलकुल दूसरे ढंग के राजनैतिक ढाँचे की बात सोचने पर और इससे भी ज़्यादा बिलकुल दूसरे सामाजिक ढाँचे की बात सोचकर ही हम संयुक्त उपाय की मज़बूत नींव डाल सकते हैं। हमारी आज़ादी की माँग की तह में जो ख़याल काम कर रहा था वह यह था कि हम लोगों को यह महसूस करा दें कि हम मौजूदा व्यवस्था का वह हिन्दुस्तानी संस्करण नहीं चाहते, जिसमें परदे के पीछे ब्रिटेन का ही नियन्त्रण रहे; और यही 'डोमिनियन स्टेटस' (औपनिवेशिक स्वराज्य) के तो मानी हैं। लेकिन हम लोग तो बिलकुल ही दूसरी क़िस्म के राजनैतिक ढाँचे के लिए लड़ रहे हैं। इसमें कोई शक नहीं कि राजनैतिक स्वाधीनता के मानी केवल राजनैतिक आज़ादी ही के थे, उसमें सर्वसाधारण के लिए कोई आर्थिक या सामाजिक परिवर्तन शामिल नहीं था। लेकिन उसके यह मानी ज़रूर थे कि आर्थिक नीति और मुद्रा-नीति जो बैंक आफ़ इंग्लैंड के द्वारा ठहराई जाती है वह बन्द हो जायगी और उसके बन्द हो जाने पर हमारे लिए सामाजिक ढाँचे को बदलना बहुत आसान हो जायगा। उन दिनों मैं ऐसा सोचता था। अब मैं इसमें इतना और बढ़ा देना चाहता हूँ कि मेरे ख़याल में राजनैतिक आज़ादी भी हमें अकेली नहीं मिलेगी, जब वह हमें हासिल होगी तब वह अपने साथ बहुत-कुछ सामाजिक आज़ादी को भी लेती आवेगी।

लेकिन हमारे क़रीब-क़रीब सभी नेता मौजूदा राजनैतिक और, बिला शक, सामाजिक ढाँचे के फ़ौलादी चौखटे के तंग दायरे में ही सोचते रहे। साम्प्रदायिक या स्वराज्य-सम्बन्धी हरेक समस्या पर विचार करते समय उनकी दृष्टि मौजूदा राजनैतिक व सामाजिक ढाँचे पर रहती थी। इसीसे वे ब्रिटिश सरकार से मात खाते रहे। क्योंकि उस ढाँचे पर तो उस सरकार का पूरा-पूरा क़ाबू था। लेकिन वे इसके अलावा और कुछ कर भी नहीं सकते थे। क्योंकि सीधी लड़ाई का प्रयोग करने के बावजूद अभी उनका तमाम दृष्टिकोण क्रान्तिकारी न होकर मुख्यतः सुधारवादी था, और वह समय बहुत पहले चला गया जब हिन्दुस्तान में कोई भी राजनैतिक या आर्थिक या जातिगत समस्या सुधारवादी तरीक़ों से सन्तोष-जनक रूप से हल हो सकती थी। परिस्थितियों की माँग थी कि क्रान्तिकारी दृष्टिकोण से योजना निर्माण करके क्रान्तिकारी उपाय किया जाय। लेकिन नेताओं में ऐसा कोई न था जो इन माँगों को पूरा करता।

इसमें कोई शक नहीं कि हमारी आज़ादी की लड़ाई में स्पष्ट आदर्शों और ध्येयों की कमी ने साम्प्रदायिक ज़हर फैलाने में मदद दी। जनता को स्वराज्य की लड़ाई का अपने प्रति दिन के कष्टों से कोई सम्बन्ध दिखायी नहीं दिया। वे जब-तब अपनी सहज-बुद्धि से प्रेरित होकर ख़ूब लड़े। लेकिन वह हथियार इतना कमज़ोर था कि उसे आसानी से कुण्ठित किया जा सकता था और दूसरी तरफ़ दूसरे कामों के लिए भी उसका इस्तेमाल किया जा सकता था। उसके पीछे कोई

तर्क और विवेक न था और प्रतिक्रिया के समय जातीय नेताओं को इस काम में कोई मुश्किल नहीं पड़ती थी कि वे इन्हीं भावनाओं को धर्म के नाम पर उभाड़ कर उसका इस्तेमाल करें। फिर भी यह बात बड़े अचम्भे की है कि हिन्दू और मुसलमान दोनों में बुर्ज़ुआ (मध्यम) श्रेणी के लोगों को धर्म के नाम पर उन मांगों और माँगों के लिए भी जनता की सहानुभूति काफ़ी हद तक मिल गयी, जिनका जनता से ही नहीं, निचली मध्यम श्रेणी के लोगों से भी कोई सम्बन्ध न था। हरेक जाति जो भी अपनी जातीय माँग पेश करती है उसकी जाँच करने पर आख़ीर में यही मालूम होता है कि वह माँग नौकरियों की मांग है और ये नौकरियाँ तो मध्यम श्रेणी के मुट्ठी-भर ऊपर के लोगों को ही मिल सकती हैं। बेशक, यह माँग भी की जाती है कि कौंसलों में, राजनैतिक शक्ति के चिह्न-स्वरूप विशेष और अतिरिक्त जगहें दी जायँ, मगर इस माँग का भी यही मतलब है कि इससे ख़ासकर दूसरों को कृपापात्र बनाने की सत्ता मिलेगी। इन छोटी राजनैतिक माँगों से ज़्यादा-से-ज़्यादा मध्यम श्रेणी की ऊपरी तह के थोड़े-से लोगों को कुछ-कुछ फ़ायदा पहुँचता था, लेकिन उनसे अक्सर राष्ट्रीय उन्नति और एकता के रास्ते में नयी अड़चनें पैदा होती थीं। फिर भी बड़ी चालाकी के साथ इन माँगों को अपने धर्म-सम्प्रदाय के आम लोगों की माँग के रूप में दिखाया जाता था। असल में उनका नंगापन छिपाने के लिए उनपर मज़हबी जोश की चादर लपेट दी जाती थी।

इस तरह जो लोग राजनीति में प्रतिगामी थे वे ही साम्प्रदायिक या जातीय नेताओं का रूप धरकर राजनैतिक मैदान में आये और उन्होंने जो बहुत-सी कार्रवाइयाँ कीं वे असल में जातिगत पक्षपातसे प्रेरित होकर उतनी नहीं कीं जितनी राजनैतिक उन्नति को रोकने के लिए कीं। राजनैतिक मामलों में उनसे हमें हमेशा मुख़ालफ़त की ही उम्मीद थी, लेकिन फिर भी उस बुरी हालत का यह ख़ासतौर पर दर्दनाक पहलू था कि लोग स्वराज के विरोध में इस हद तक जा सकते हैं। मुस्लिम जातीय नेताओं ने तो सबसे ज़्यादा विचित्र और आश्चर्यजनक बातें कहीं और कीं। ऐसा मालूम होता था कि हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता की, उसकी आज़ादी की, उन्हें ज़रा भी परवा नहीं है। हिन्दुओं के जातीय नेता यद्यपि ज़ाहिरा तौर पर राष्ट्रीयता के नाम पर बोलते थे लेकिन असल में उनका उससे कोई ताल्लुक़ नहीं था। चूँकि वे कोई वास्तविक कार्य नहीं कर सकते थे, इसलिए उन्होंने सरकार की ख़ुशामद करके उसे राज़ी करने की कोशिश की, लेकिन वह भी बेकार गयी। हिन्दू-मुसलमान दोनों के नेता साम्यवाद या ऐसी ही 'सत्यानासी' हलचलों की बुराई करते थे। स्थापित स्वार्थों में ख़लल डालनेवाले हर प्रस्ताव के सम्बन्ध में इनकी एक राय देखते बनती थी। मुसलमानों के जातीय नेताओं ने ऐसी बहुत-सी बातें कहीं और बहुत-सी हरकतें कीं जिनसे राजनैतिक और आर्थिक स्वाधीनता को नुक़सान पहुँचता था। लेकिन व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों रूप में उनका व्यवहार पब्लिक और सरकार के सामने कुछ थोड़ा-बहुत

गौरव लिये होता था। लेकिन हिन्दू साम्प्रदायिक नेताओं की बाबत यह बात नहीं कही जा सकती।

कांग्रेस में बहुत-से मुसलमान थे। उनकी तादाद बहुत बड़ी थी, जिनमें बहुत-से योग्य व्यक्ति भी थे। इतना ही नहीं, हिन्दुस्तान के सबसे ज़्यादा मशहूर और सबसे ज़्यादा लोकप्रिय मुसलमान नेता कांग्रेस में शामिल थे। उनमें से बहुत-से कांग्रेसी मुसलमानों ने नेशनलिस्ट मुस्लिम पार्टी नाम का एक दल बनाया और उन्होंने जातीय मुसलमान नेताओं का मुक़ाबला किया। शुरू में तो उन्हें इस काम में कामयाबी भी मिली, और ऐसा मालूम पड़ता था कि पढ़े-लिखे मुसलमानों का बहुत बड़ा हिस्सा उनके साथ था, लेकिन ये सब-के-सब मध्यम वर्ग की ऊपरी श्रेणी के लोगों में से थे और उनमें कोई ऐसा समर्थ नेता न था। वे अपने-अपने काम-धन्धों में लग गये और सर्वसाधारण से उनका सम्बन्ध टूट गया। बल्कि सच तो यह है कि वे लोग अपनी क़ौम के सर्वसाधारण के पास कभी गये ही नहीं। उनका तरीक़ा अच्छे-अच्छे कमरों में बैठकर मीटिंगें करके आपस में राज़ीनामा कर लेने और पैक्ट करने का था और इस खेल में उनके प्रतिपक्षी यानी जातीय नेता उनसे कहीं ज़्यादा होशियार थे। इन जातीय नेताओं ने नेशनलिस्ट मुसलमानों को धीरे-धीरे एक स्थिति से हटाकर दूसरी स्थिति पर लगाया और इसी तरह एक-के-बाद-एक स्थिति से वे उन्हें हटाते गये और जिन सिद्धान्तों के लिए वे शुरू में अड़े थे, उनको वे इनसे एक-एक करके छुड़वाते गये। नेशनलिस्ट मुसलमान हमेशा, कभी पीछे ज़्यादा न हटना पड़े इस डर से, खुद-ब-खुद कुछ पीछे हटते गये और 'कम बुराई' को चुनने की रीति को अख़्तियार करके अपनी हालत मज़बूत करने की कोशिश करते रहे। लेकिन इस नीति का नतीजा हमेशा यह हुआ कि उन्हें हमेशा पीछे हटना पड़ा और हमेशा 'कम बुराई' के बाद उससे ज़्यादा बुरी दूसरी 'कम बुराई' मंजूर करनी पड़ी। फलस्वरूप ऐसा वक़्त आ गया कि उनके पास कोई ऐसी चीज़ नहीं रह गयी जिसे वे अपनी कह सकते। उनके आधारभूत सिद्धान्तों में भी एक के सिवा और कोई बाक़ी नहीं रहा। यह एक सिद्धान्त हमेशा से उनकी जमात का लंगर रहा है और वह है सम्मिलित चुनाव। लेकिन 'कम बुराई' को चुनने की नीति ने फिर उनके सामने यही घातक चुनाव पेश कर दिया और वे उस अग्नि-परीक्षा से तो बच आये लेकिन अपना लंगर वहीं छोड़ गये। इसलिए आज उनकी यह हालत है कि जिन उसूलों या अमल की बुनियाद पर उन्होंने अपनी जमात बनायी थी उन सबको वे खो बैठे। इन्हीं उसूलों और अमल को उन्होंने पहले बड़े फ़ख्र के साथ अपने जहाज़ के मस्तूल पर लगाया था, लेकिन अब उनमें से उनके पास उनके नाम के सिवा और कुछ नहीं रहा।

फ़र्दी हैसियत से तो ये लोग, बिला शक, अब भी कांग्रेस के ख़ास नेताओं में से हैं, लेकिन जमात की हैसियत से नेशनलिस्ट मुसलमानों के गिरने और मिटने की कहानी बहुत ही दयनीय है। इसमें बहुत बरस लगे और उस कहानी

का आख़िरी अध्याय पिछले साल १९३४ में ही लिखा गया है। १९२३ और उसके बाद उनकी जमात बहुत मज़बूत थी और वे साम्प्रदायिक लोगों के मुक़ाबले लड़ाकू ढंग भी अख़्तियार किया करते थे, और सच बात तो यह है कि कई मौक़ों पर गांधीजी तो साम्प्रदायवादी मुसलमानों की कुछ मांगों को सख़्त नापसन्द करते हुए भी पूरा करने को तैयार हो जाते थे; लेकिन उनके साथी नेशनलिस्ट मुसलमान नेता गांधीजी को ऐसा करने से रोकते और उन मांगों की मुख़ालफ़त बड़ी सख़्ती के साथ करते थे।

१९२० से लेकर १९२९ तक के बीच के सालों में आपस में बातचीत और बहस-मुबाहिसा करके हिन्दू-मुस्लिम मसलों को हल करने की कई कोशिशें की गयीं। ये कोशिशें एकता-सम्मेलनों के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन सम्मेलनों में सबसे ज़्यादा प्रसिद्ध वह था जो १९२३ में मौलाना मुहम्मदअली ने कांग्रेस के प्रधान की हैसियत से बुलाया और जो गांधीजी के इक्कीस दिन के अनशन के अवसर पर दिल्ली में हुआ। इन सम्मेलनों में बहुत-से भले और सच्चे आदमी शरीक हुए थे और उन्होंने समझौता करने की बहुत सख़्त कोशिश की, कुछ अच्छे व भले प्रस्ताव भी पास किये गये; लेकिन असली मसला हल हुए बिना ही रह गया। ये सम्मेलन उस मसले को हल कर ही नहीं सकते थे। क्योंकि समझौता बहुमत से नहीं हो सकता था, वह तो एकस्वर से ही तय हो सकता है और किसी-न-किसी दल के ऐसे कट्टर लोग हमेशा मौजूद रहते थे जो समझते थे कि समझौता तभी हो सकता है जब सब लोग सोलहों आने हमारी बात मान लें। सचमुच कभी-कभी तो यह शक होने लगता था कि कुछ नामी-नामी साम्प्रदायिक नेता वाक़ई निपटारा चाहते भी हैं या नहीं? उनमें बहुत-से राजनैतिक मामलों में प्रगति विरोधी थे और उनमें तथा उन लोगों में जो राजनीति में काया-पलट चाहते थे, कोई भी बात सामान्य न थी।

लेकिन असली मुश्किलें तो ज़्यादा गहरी थीं और वे महज़ कुछ लोगों की ख़राबी की वजह से ही नहीं थीं। अब तो सिक्ख भी अपनी जाति की माँगें ज़ोर के साथ पेश करने लगे थे, जिसकी वजह से पंजाब में भी एक ग़ैरमामूली और विकट तिकोना खिंचाव पैदा हो गया था। सचमुच पंजाब ही तमाम मामले की जड़ बन गया और वहाँ हरेक जाति में दूसरे के डर की वजह से जोश और दुर्भाव का वायुमण्डल बन गया। कुछ सूबों में किसान और ज़मींदारों के बंगाल में हिन्दू ज़मींदार और मुसलमान-किसानों के क़िस्से साम्प्रदायिक रूप में सामने आये। पंजाब और सिन्ध में साहूकार और रुपयेवाले लोग आमतौर पर हिन्दू हैं और क़र्ज़ से दबे हुए लोग मुसलमान खेतिहर। वहां क़र्ज़ से दबे हुए लोगों में उनकी जान के गाहक बोहरों के ख़िलाफ़ जो भाव होते हैं उन तमाम भावों ने साम्प्रदायिक लहर को बढ़ाया। आमतौर पर मुसलमान ग़रीब थे और मुसलमानों के साम्प्रदायिक लीडरों ने ग़रीबों में अमीरों के ख़िलाफ़ जो बुरे भाव

होते हैं उनका इस्तेमाल अपने साम्प्रदायिक हेतुओं के लिए किया। यद्यपि आश्चर्य की बात तो यह है कि इन हेतुओं से ग़रीबों की भलाई का क़तई कोई ताल्लुक न था, लेकिन इनकी वजह से साम्प्रदायिक मुसलमान लीडर कुछ हद तक ज़रूर सर्वसाधारण के प्रतिनिधि थे और इसकी वजह से उन्हें ताक़त भी मिली। आर्थिक दृष्टि से हिन्दुओं के साम्प्रदायिक नेता अमीर साहूकारों और पेशेवर लोगों के प्रतिनिधि थे—इसलिए हिन्दू जन-साधारण में उनकी पीठ पर कोई न था, यद्यपि कुछ मौक़ों पर जनसाधारण की सहानुभूति उन्हें मिल जाती थी।

इसलिए यह मसला कुछ हद तक आर्थिक दलबन्दियों में हिलता-मिलता जा रहा है, हालाँकि रंज की बात तो यह है कि लोगों ने अभी इस बात को महसूस नहीं किया। हो सकता है कि यह बात बढ़कर स्पष्ट रूप से आर्थिक वर्गों के झगड़ों की शक्ल अख़्तियार कर ले, लेकिन अगर वह वक़्त आया तो आजकल के साम्प्रदायिक लीडर—जो अपने-अपने दलों में अमीरों के प्रतिनिधि हैं—दौड़कर अपने भेद भाव को मिटा देंगे जिससे वे मिलकर अपने वर्ग के बैरी का मुक़ाबला कर सकें। यों तो जुदा हालतों में भी इन जातिगत झगड़ों को निपटाकर राजनैतिक एकता कर लेना इतना मुश्किल न होना चाहिए, बशर्ते—लेकिन बहुत बड़ी शर्त है—कि तीसरी पार्टी मौजूद न हो।

दिल्ली का 'एकता-सम्मेलन' मुश्किल से ख़त्म हुआ ही था कि इलाहाबाद में हिन्दू-मुसलमानों में दंगा हो गया। यों और दंगों को देखते हुए यह दंगा कोई बड़ा दंगा न था, क्योंकि उसमें हताहतों की संख्या बहुत न थी, लेकिन अपने ही शहर में इस तरह के दंगे के होने से मुझे रंज ज़रूर होता था। मैं दूसरे लोगों के साथ इलाहाबाद दौड़ पड़ा। लेकिन यहाँ पहुँचते-पहुँचते मालूम हुआ कि दंगा ख़तम हो गया। हाँ, उसके फल स्वरूप जो आपसी बैर-भाव बढ़ा और मुक़दमेबाज़ी चली, वह बहुत दिनों तक बनी रही। मैं यह भूल गया हूँ कि यह झगड़ा क्यों हुआ। उस साल या शायद उसके बाद इलाहाबाद में रामलीला के उत्सव के सिलसिले में भी कुछ टंटा हो गया था। रामलीला के उत्सव में बड़े भारी भारी जुलूस भी निकला करते थे—लेकिन चूँकि मसजिद के सामने बाजा बजाने में कुछ बन्धन लगा दिये गये, उसके विरोध-स्वरूप, लोगों ने रामलीला मनाना ही छोड़ दिया। क़रीब क़रीब आठ वर्ष से इलाहाबाद में रामलीला नहीं हुई। यह त्यौहार इलाहाबाद के ज़िले के लाखों लोगों के लिए सालभर में सबसे बड़ा त्यौहार था। लेकिन अब वहाँ उसकी दुःखद याद-भर है। बचपन में जब मैं रामलीला देखने जाया करता था तब की याद मुझे अच्छी तरह बनी हुई है। उसको देखकर हम लोगों को कितनी खुशी, कितना जोश होता था और ज़िले भर से तथा दूसरे क़सबों से लोगों की भारी भीड़ उसे देखने को आती थी। त्यौहार हिंदुओं का था, लेकिन वह खुले-आम मनाया जाता था इसलिए मुसलमान भी उसे देखने को भीड़ में शामिल हो जाते थे और चारों तरफ़ सब लोग ख़ूब खुशियाँ मनाते और मौज

करते थे। अपार चमक उठता था। इसके बहुत दिनों बाद बड़ा हो जाने पर जब मैं रामलीला देखने गया तो मुझे कोई जोश न आया और जुलूस और स्वाँगों से मेरा जी ऊब गया। कला और आमोद-प्रमोद के बारे में मेरी रुचि का माप-दण्ड ऊँचा हो गया था। लेकिन उस वक़्त भी मैंने देखा कि आदमियों की भारी भीड़ उसको देख-देखकर बहुत ख़ुश होती थी और उसे पसन्द करती थी। उनके लिए तो वह मनोरंजन का समय था, और अब आठ या नौ बरसों से इलाहाबाद के बच्चों को—बच्चों को ही क्यों, बड़े लोगों को भी—उस उत्सव को देखने का कोई मौक़ा नहीं मिलता। उनकी ज़िन्दगी में रोज़-मर्रा के नीरस काम से ख़ुशी के जोश का जो एक उज्ज्वल दिन हर साल उन्हें मिल जाया करता था वह भी न रहा, और यह सब बिलकुल नाचीज़ बेकार के झगड़े-टण्टों की वजह से। बेशक धर्म और धार्मिक भावना को ऐसी बहुत-सी बातों के लिए जवाबदेह होना पड़ेगा। ओफ़, वे कितने आनन्द-नाशक साबित हुए हैं!

२०

म्युनिसिपैलिटी का काम

दो साल तक मैं इलाहाबाद-म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन की हैसियत से काम करता रहा। लेकिन दिन-पर-दिन इस काम से मेरी तबीयत उचटती जाती थी। मेरी चेयरमैनी की मियाद क़ायदे से दो-तीन साल की थी, लेकिन दूसरा साल अच्छी तरह शुरू ही हुआ था कि मैंने उस ज़िम्मेदारी से अपना पिण्ड छुड़ाने की कोशिश शुरू कर दी। मैं उस काम को पसन्द करता था और उसमें मैंने अपना काफ़ी वक़्त और ध्यान लगाया था। कुछ हद तक उसमें मुझे कामयाबी भी मिली और अपने साथियों का सद्भाव भी मैंने प्राप्त किया था। सूबे की सरकार ने भी मेरे म्युनिसिपैलिटी-सम्बन्धी कुछ कामों को इतना पसन्द किया कि उसने मेरे राजनैतिक कामों की वजह से अपनी नाराज़गी को भुलाकर उनकी तारीफ़ की। लेकिन फिर भी मैं यह पाता था कि मैं चारों तरफ़ से जकड़ा हुआ हूँ और वस्तुतः कोई उल्लेखनीय कार्य करने से मुझे रोका जाता है तथा मेरे रास्ते में अड़चनें डाली जाती हैं।

इसके मानी यह नहीं हैं कि कोई साहब जान-बूझकर मेरे काम में अड़ंगे लगाते थे, बल्कि सच बात तो यह है कि लोगों ने राज़ी-ख़ुशी से मुझे जितना सहयोग दिया वह आश्चर्यजनक था। लेकिन एक तरफ़ सरकारी मशीन थी और दूसरी तरफ़ म्युनिसिपैलिटी के मेम्बरों और पब्लिक की उदासीनता थी। सरकार ने म्युनिसिपैलिटी के शासन का फ़ौलादी चौखट में जैसा ढाँचा बनाया वह आमूल परिवर्तन या नवीन सुधारों को रोकनेवाला था। राजस्व-सम्बन्धी नीति ऐसी थी

कि म्युनिसिपैलिटी को हमेशा सरकार के भरोसे रहना पड़ता था। मौजूदा म्युनिसिपल क़ानूनों के मुताबिक़ सामाजिक विकास की ओर टैक्स लगाने-सम्बन्धी कायापलट करनेवाली योजनाओं की इजाज़त न थी। जो योजनाएं क़ानून के मुताबिक़ की जा सकती थीं उनपर अमल करने के लिए भी सरकार की स्वीकृति लेनी पड़ती थी, और उस स्वीकृति को वही लोग माँग सकते थे तथा वही उसकी राह देख सकते थे जो बड़े आशावादी हों और जिनके सामने बहुत बड़ी ज़िन्दगी पड़ी हो। मुझे यह देखकर हैरत हुई कि जब कोई सामाजिक पुनस्संगठन का या राष्ट्र-निर्माण का मामला आ पड़ता है तब सरकारी मशीन कितनी धीरे-धीरे, मार-मारकर और ढील-ढाल के साथ चलती है; लेकिन जब किसी राजनैतिक मुख़ालिफ़ को दबाना हो तब ज़रा भी ढील और ग़लती नहीं रहती। यह अन्तर उल्लेखनीय था।

स्थानीय स्वराज्य से सम्बन्ध रखनेवाले प्रान्तीय सरकार के महकमे मिनिस्टर के मातहत होते थे, लेकिन आमतौर पर ये मिनिस्टर देवता म्युनिसिपैलिटी के मामलों में ही नहीं बल्कि पब्लिक मामलों में भी बिलकुल कोरे होते थे। सच बात तो यह है कि उनको कोई पूछता ही न था। ख़ुद उनके महकमे के अफ़सर ही उनका कुछ ख़याल नहीं करते थे। उसे तो इंडियन सिविल सर्विस के स्थायी हाकिम चलाते थे और इन हाकिमों पर हिन्दुस्तान के ऊँचे हाकिमों की इस प्रचलित धारणा का बहुत असर था कि सरकार का काम तो ख़ासतौर पर पुलिस का यानी अमन-चैन रखने का काम है। अधिकारीपन और माँ-बापपन के थोड़े-से ख़याल ने भी इस धारणा पर कुछ हदतक असर डाला था। लेकिन बड़े पैमाने पर सामाजिक सेवा के कार्यों की ज़रूरत को कोई भी महसूस नहीं करता था।

म्युनिसिपैलिटियाँ हमेशा ही सरकार के क़र्ज़ से दबी रहती हैं और इसलिए पुलिस की निगाह के अलावा सरकार जिस दूसरी निगाह से म्युनिसिपैलिटी को देखती है वह है क़र्ज़ देनेवाले साहूकार की निगाह। आया क़र्ज़ की क़िस्तें वायदे पर अदा हो रही हैं? आया म्युनिसिपैलिटी क़र्ज़ अदा करने की ताक़त भी रखती है? उसके पास काफ़ी रोकड़-बाक़ी है या नहीं? ये सब सवाल ज़रूरी और माक़ूल हैं, लेकिन अक्सर यह बात भुला दी जाती है कि म्युनिसिपैलिटी को कुछ ख़ास काम भी करने हैं—जैसे शिक्षा, सफ़ाई वग़ैरा, और वह महज़ एक ऐसा संगठन नहीं है जिसका काम रुपये क़र्ज़ लेकर उन्हें निश्चित मियाद पर अदा करते रहना हो। हिन्दुस्तान की म्युनिसिपैलिटियां शहर की भलाई के लिये जो काम करती हैं वे वैसे ही बहुत कम हैं, लेकिन वे थोड़े से-थोड़े काम भी रुपये की तंगी होते ही फ़ौरन कम कर दिये जाते हैं और आमतौर पर सबसे पहले यह बला शिक्षा के ऊपर पड़ती है। म्युनिसिपैलिटी के मदरसों में हाकिम लोगों की कोई ज़ाती दिलचस्पी नहीं उनके बाल-बच्चे तो उन बिलकुल अप-टू-डेट और ख़र्चीले प्राइवेट स्कूलों में पढ़ते हैं जिन्हें अक्सर सरकार से ग्रांट मिलती है।

ज़्यादातर हिन्दुस्तानी शहरों को दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है। एक तो

घना बसा हुआ ख़ास शहर, दूसरा लम्बा चौड़ा फैला हुआ बँगले-बँगलियों का रक़बा। इन हरेक बँगलों में काफ़ी बड़ा अहाता या बाग़ भी होता है। इस रक़बे को अंग्रेज़ आमतौर पर 'सिविल लाइन' कहकर पुकारते हैं। अंग्रेज़ अफ़सर और व्यापारी तथा ऊपरी मध्यम श्रेणी के पेशेवर और हाकिमों के दर्जे के हिन्दुस्तानी इन्हीं सिविल लाइनों में रहते हैं। म्युनिसिपैलिटी की आमदनी ज़्यादातर शहर ख़ास से होती है न कि सिविल लाइन से। लेकिन म्युनिसिपैलिटियाँ ख़र्च जितना शहर ख़ास पर करती हैं उससे कहीं ज़्यादा सिविल लाइनों पर करती हैं; क्योंकि सिविल लाइनों के बड़े रक़बे में ज़्यादा सड़कों की ज़रूरत होती है। इन सड़कों की सफ़ाई और उनपर छिड़काव कराना होता है। उनपर रोशनी का इन्तज़ाम करना होता है तथा उनकी मरम्मत भी करानी पड़ती है। इसी तरह उनमें नालियों का, पानी पहुँचाने का और सफ़ाई का इन्तज़ाम भी ज़्यादा जगह में करना होता है। मगर शहर ख़ास की हमेशा बुरी तरह से लापरवाही की जाती है और बिला शक शहर के ग़रीबों की गलियों की तो अक्सर कोई परवा ही नहीं की जाती। शहर ख़ास में अच्छी सड़कें तो बहुत ही कम होती हैं। उसकी तंग गलियों में रोशनी का इन्तज़ाम ज़्यादातर बहुत नाकाफ़ी होता है। उसमें नालियों और सफ़ाई का भी माक़ूल इन्तज़ाम नहीं होता। शहर ख़ास के लोग बेचारे धीरज के साथ इन सब बातों को बरदाश्त कर लेते हैं। कभी कोई शिकायत नहीं करते, और जब वे शिकायत करते हैं तब भी ऐसा कोई नतीजा नहीं निकलता क्योंकि क़रीब-क़रीब सभी बड़े-छोटे शोर मचानेवाले लोग तो सिविल लाइनों में ही रहते हैं।

टैक्स के बोझ को कुछ दिन तक ग़रीबों और अमीरों पर बराबर-बराबर डालने के लिए और सुधारों के कुछ काम करने के लिए मैं ज़मीन की क़ीमत के आधार पर टैक्स लगाना चाहता था। लेकिन ज्योंही मैंने यह तजवीज़ पेश की त्योंही एक सरकारी अफ़सर ने उसकी मुख़ालफ़त की। मैं समझता हूँ कि वह अफ़सर ज़िला-मैजिस्ट्रेट था, जिसने यह कहा कि ऐसा करना ज़मीन के क़ब्ज़े के बारे में जो बहुत-सी शर्तें व क़ानून हैं उनके ख़िलाफ़ पड़ेगा। ज़ाहिर है कि ऐसा टैक्स सिविललाइन के बँगलों में रहनेवालों को ज़्यादा देना पड़ता। लेकिन सरकार उस चुंगी को बहुत पसन्द करती है जिससे व्यापार कुचला जाता है। तमाम चीज़ों की—जिनमें खाने की चीज़ें भी शामिल हैं—क़ीमतें बढ़ जाती हैं और इसका बहुत ज़्यादा बोझ ग़रीबों पर आकर पड़ता है। और समाज-विरुद्ध तथा हानिकारक यह टैक्स हिन्दुस्तान की ज़्यादातर म्युनिसिपैलिटियों की आमदनी की ख़ास बुनियाद है—यद्यपि मैं समझता हूँ, वह धीरे-धीरे बड़े-बड़े शहरों से उठता जाता है।

म्युनिसिपैलिटी के चेयरमन की हैसियत से मुझे इस तरह एक हृदयहीन सत्तावादी सरकारी मशीन से काम लेना पड़ता था, जो बड़ी मशक़्क़त के साथ

पुरानी लीक पर चर्र-मर्र करती चलती थी और अड़ियल टट्टू की तरह ज़्यादा तेज़ी से या दूसरी तरफ़ चलने से इन्कार करती थी। दूसरी तरफ़ मेरे साथी मेम्बर लोग थे। उनमें से ज़्यादातर लक-लक ही चलना पसन्द करते थे। उनमें से कुछ तो आदर्शवादी थे। इन लोगों ने अपने काम में उत्साह दिखाया। लेकिन कुल मिलाकर मेम्बरों में न तो दूरदृष्टि ही थी, न परिवर्तन या सुधार करने की धुन। पुराने तरीक़े काफ़ी अच्छे हैं, फिर क्या ज़रूरत है कि ऐसे प्रयोगों से काम लिया जाय जो मुमकिन है पूरे न पड़ें? आदर्शवादी और जोशीले मेम्बर भी धीरे-धीरे उन रोज़मर्रा की जड़ बातों के नशीले असर के शिकार हो गये। लेकिन हाँ, एक बात ऐसी ज़रूर थी जिसपर हमेशा यह भरोसा किया जा सकता था कि वह मेम्बरों में नया जोश पैदा कर देगी; और वह थी अपने नाते-रिश्तेदारों को नौकरियों तथा ठेके वग़ैरा देने के मामले। लेकिन इसमें दिलचस्पी रखने से हमेशा ही काम में अच्छाई नहीं बढ़ती थी।

हर साल सरकारी प्रस्ताव, हाकिम लोग और कुछ अख़बार म्युनिसिपैलिटियों और ज़िला-बोर्डों की नुक़्ताचीनी करते हैं और उनकी बहुत-सी कमियों की तरफ़ इशारा करते हैं, और इससे यह नतीजा निकाला जाता है कि लोक-तन्त्री संस्थाएं हिन्दुस्तान के लिए मौज़ूँ नहीं हैं। उनकी कमियाँ तो ज़ाहिर हैं, लेकिन उस ढाँचे की तरफ़ क़तई ध्यान नहीं दिया जाता, जिसके अन्दर उन्हें अपना काम करना पड़ता है। यह ढांचा न तो लोक-तन्त्री है न एक-तन्त्री। वह तो इन दोनों की दोग़ली सन्तान है और उसमें दोनों की ही ख़राबियाँ मौजूद हैं। यह बात तो मंजूर की जा सकती है कि केन्द्रीय-सरकार को स्थानिक संस्थाओं पर देखभाल तथा नियन्त्रण करने के कुछ अख़्तियार ज़रूर होने चाहिए, लेकिन स्थानीय लोक-संस्थाओं के लिए यह तभी लागू हो सकता है जब केन्द्रीय-सरकार ख़ुद लोक-तन्त्री और पब्लिक की ज़रूरतों का ख़याल रखनेवाली हो। जहाँ ऐसा न होगा वहाँ या तो केन्द्रीय सरकार और स्थानीय शासन-संस्था में रस्साकशी होगी या स्थानीय संस्था चुपचाप केन्द्रीय सरकार के हुक्म बजाया करेगी। इस तरह केन्द्रीय सरकार ही असल में स्थानिक संस्थाओं से जो चाहेगी सो करायेगी। लेकिन तारीफ़ यह है कि वह जो कुछ करेगी उसके लिए ज़िम्मेदार नहीं होगी! अख़्तियार तो उसको होंगे, लेकिन जवाबदेही उसकी न होगी! ज़ाहिर है कि यह हालत सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती; क्योंकि उससे पब्लिक के नियन्त्रण की वास्तविकता जाती रहती है। म्युनिसिपल बोर्डों के मेम्बर केन्द्रीय सरकार को ख़ुश रखने की जितनी कोशिश करते हैं उतनी पब्लिक के अपने चुननेवालों को ख़ुश रखने की नहीं; और जहाँ तक पब्लिक से ताल्लुक़ है, वह अक्सर बोर्ड के कामों की तरफ़ से बिलकुल उदासीन रहती है। समाज की भलाई से असली ताल्लुक़ रखनेवाले मामले तो बोर्ड के सामने मुश्किल से ही कभी जाते हैं—ख़ासतौर पर, इसलिए, कि वे बोर्ड के काम के दायरे से बाहर हैं, और बोर्ड का

सबसे ज़्यादा ज़ाहिरा काम है पब्लिक से टैक्स वसूल करना। और यह काम उसे ऐसा ज़्यादा लोकप्रिय नहीं बना सकता।

स्थानिक संस्थाओं के लिए वोट देने का हक़ भी थोड़े ही लोगों तक सीमित है। वोट देने का अख़्तियार और भी ज़्यादा बढ़ाया जाना चाहिए जो वोटर होने की योग्यता को घटाकर किया जा सकता है। बम्बई-कार्पोरेशन जैसे बड़े-बड़े शहरों के कार्पोरेशन तक के मेम्बरों का चुनाव भी बहुत सीमित वोटरों द्वारा होता है। कुछ समय पहले खुद कार्पोरेशन में वोट देने का अधिक लोगों को अधिकार देने का प्रस्ताव गिर गया था। ज़ाहिर है कि ज़्यादातर मेम्बर अपनी हालत से ख़ुश थे और वे उसमें हेर-फेर करने या उसे ख़तरे में डालने की कोई ज़रूरत नहीं समझते थे।

वजह कुछ भी हो, मगर यह बात ज़रूर है कि हमारी स्थानिक संस्थाएं आमतौर पर कामयाबी और कार्यसाधकता के चमकते हुए नमूने नहीं हैं, यद्यपि वे जैसी हैं वैसी हालत में भी बहुत आगे बढ़े हुए लोकतन्त्री देशों की कुछ म्युनिसिपैलिटियों से टक्कर ले सकती हैं। आमतौर पर उनमें रिश्वत की बुराई नहीं है, महज़ सुव्यवस्था की कमी है। उनकी ख़ास कमज़ोरी है पक्षपात, और उनके दृष्टिकोण सब ग़लत हैं। यह सब स्वाभाविक है, क्योंकि लोकतन्त्र तो तभी कामयाब हो सकता है जब उसके पीछे लोकमत की जानकार और उसके प्रति ज़िम्मेदारी का भान हो। उसकी जगह हमें हुकूमत का सर्वव्यापी वायुमण्डल मिलता है और लोकतन्त्र के साथ जिन बातों की ज़रूरत है वे नहीं पायी जातीं। जन-साधारण को शिक्षा देने का कोई इन्तज़ाम नहीं है; न इस बात की कभी कोशिश की गयी है कि जानकारी के आधार पर लोकमत तैयार किया जाय। लाज़िमी तौर पर ऐसी हालत में पब्लिक का ख़याल व्यक्तिगत या साम्प्रदायिक या दूसरे टुच्चे-टुच्चे मामलों की तरफ़ चला जाता है।

म्युनिसिपैलिटी के इन्तज़ाम में सरकार की दिलचस्पी इस बात में रहती है कि राजनीति उससे बाहर रक्खी जाय। अगर राष्ट्रीय हलचल से सहानुभूति रखनेवाला कोई प्रस्ताव पास किया जाता है तो सरकार की त्यौरियाँ चढ़ जाती हैं। जिन पाठ्य पुस्तकों में राष्ट्रीयता की बू हो उन्हें म्युनिसिपैलिटी के मदरसों में नहीं पढ़ाने दिया जाता। इतना ही नहीं, उनमें राष्ट्रीय नेताओं की तसवीरें भी नहीं लगाने दी जातीं। म्युनिसिपैलिटियों से राष्ट्रीय झंडा उतारना पड़ता है, न उतारें तो म्युनिसिपैलिटी तोड़ दी जाती है। ऐसा मालूम होता है कि हाल ही में कई सूबों की सरकारों ने इस बात की कोशिश की है कि कार्पोरेशन और म्युनिसिपैलिटियों में जितने कांग्रेसी नौकर हों उन सबको निकाल बाहर किया जाय। मामूली तौर पर इस मतलब को पूरा कराने के लिए इन संस्थाओं पर सरकारी दबाव काफ़ी होता है; क्योंकि उनके साथ साथ यह धमकी भी दी जाती है कि उन्हें न निकाला गया तो सरकार म्युनिसिपैलिटियों को शिक्षा वग़ैरा के

लिए जो सहायता देती है उसे बन्द कर देगी। लेकिन कहीं-कहीं तो—खास-तौर पर कलकत्ता-कर्पोरेशन के लिए तो—क़ानून ही ऐसा बना दिया है जिससे उन सब लोगों को, जो असहयोग या सरकार के खिलाफ़ किसी और राजनैतिक हलचल में जेल गये हों, नौकरी न मिलने पावे। इस मामले में सरकार का मतलब महज़ राजनैतिक होता है। काम के लिए उस आदमी की लायक़ी या नालायक़ी का कोई सवाल नहीं।

इन थोड़ी-सी मिसालों से यह ज़ाहिर हो जाता है कि हमारी म्युनिसिपैलिटियों और हमारे ज़िला-बोर्डों को कितनी आज़ादी मिली हुई है और उनमें लोकतन्त्रता की कितनी कमी है? यह तो तय ही है कि वे लोग सीधी सरकारी नौकरी नहीं चाहते। ऐसी हालत में अपने इन राजनैतिक मुख़ालिफ़ों को तमाम म्युनिसिपल और ज़िला बोर्डों की नौकरी से अलग रखने की जो कोशिश हो रही है उसपर कुछ ग़ौर करने की ज़रूरत है। यह कूता गया है कि पिछले चौदह वर्षों में क़रीब तीन लाख लोग जुदा-जुदा मौक़ों पर जेल हो आये हैं और यदि राजनैतिक दृष्टि से न देखें तो इसमें किसीको शक नहीं हो सकता कि इन तीन लाख लोगों में हिन्दुस्तान के सबसे ज़्यादा सज्जन और आदर्शवादी, सबसे ज़्यादा सेवा-व्रती और स्वार्थ-हीन लोग शामिल हैं। इन लोगों में जोश है, आगे बढ़ने की ताक़त है और किसी उद्देश की पूर्ति के लिए सेवा का आदर्श है। इस तरह किसी भी पब्लिक महकमे या सार्वजनिक हित की संस्था के काम के लिए आदमी ढूँढने का सबसे अच्छा सामान इन्हीं में मिल सकता था। फिर भी सरकार ने क़ानून बनाकर इस बात की पूरी-पूरी कोशिश की है कि वे लोग नौकर न होने पावें, जिससे न सिर्फ़ उन्हीं को सज़ा मिले बल्कि उन लोगों को भी जो उनसे हमदर्दी रखते हैं। सरकार ख़ुद ऐसे लोगों को पसन्द करती है और आगे बढ़ाती है जो बिलकुल ही जी-हुज़ूर हों, और उसके बाद यह शिकायत करती है कि हिन्दुस्तान की स्थानिक संस्थाएं ठीक तरह से काम नहीं करतीं; और यद्यपि यह कहा जाता है कि राजनीति स्थानिक संस्थाओं के काम की हद से बाहर है, फिर भी सरकार को इस बात मे कोई एतराज़ नहीं कि वे सरकार की मदद के लिए राजनीति में हिस्सा लें। स्थानीय बोर्डों के स्कूलों के मास्टरों को यह डर दिखाकर, कि उन्हें नौकरी से निकाल दिया जायगा, मजबूर किया गया कि गाँवों में जाकर सरकार के पक्ष में प्रचार करें।

पिछले पन्द्रह बरसों में कांग्रेस-कार्यकर्त्ताओं को कई मुश्किलों का सामना करना पड़ा है। उन्हें बड़ी भारी-भारी ज़िम्मेदारियाँ झेलनी पड़ी हैं और आख़िर उन्होंने ऐसी सरकार से टक्कर ली जो बड़ी ताक़तवर और सुरक्षित है। और यह नहीं कि उसमें उन्हें कामयाबी भी न मिली हो। बल्कि शिक्षा के इस कड़े क्रम ने उन्हें आत्म-निर्भरता, प्रबन्ध-पटुता और डटे रहने की ताक़त दी है। जिन गुणों को एक हुकूमत की भावना से भरी हुई सरकार की लम्बी और नामर्द

करनेवाली शिक्षा ने छीन लिया था उन्हींको हमारी हलचलों ने हिन्दुस्तानियों में फिर से डाल दिया है। हाँ, निस्सन्देह, तमाम सार्वजनिक आन्दोलनों की तरह कांग्रेस की हलचलों में भी बहुत-से नालायक़, बेवक़ूफ़, निकम्मे और इससे भी बदतर लोग आये और हैं। लेकिन इस बात में भी मुझे कोई शक नहीं है कि औसतन कांग्रेस-कार्यकर्त्ता अपनी बराबर योग्यता रखनेवाले किसी दूसरे शख़्स के मुक़ाबले ज़्यादा होशियार और कार्यकुशल साबित होगा।

इस मामले का एक और पहलू है, जिसको शायद सरकार और उसके सलाहकारों ने नहीं समझ पाया है। वह यह है कि असली क्रान्तिकारी तो इस बात का ख़ुशी से स्वागत करते हैं कि सरकार कांग्रेस-कार्यकर्त्ताओं को कोई नौकरी नहीं मिलने देती और उनके लिए काम तथा नौकरी के तमाम रास्ते रोक देती है। औसत कांग्रेसी इस बात के लिए बदनाम हैं कि वे क्रान्तिकारी नहीं होते और कुछ वक़्त अर्ध-क्रांतिकारी काम करने के बाद वे अपनी उसी पुराने ढर्रे की ज़िन्दगी और हालतों को शुरू कर देते हैं। वे फिर अपने धन्धे या पेशे या स्थानीय राजनैतिक मामलों में फंस जाते हैं बड़े-बड़े मामले उनके दिमाग़ से ओझल होने लगते हैं और उनमें जो थोड़ा-बहुत क्रान्तिकारी जोश रहता है वह ठंडा पड़ जाता है। उनके पुट्ठों पर चर्बी चढ़ने लगती है और उनकी आत्मा सुरक्षा चाहती है। मध्यम श्रेणी के कार्यकर्त्ताओं के इस लाज़िमी झुकाव की वजह से ही आगे बढ़े हुए तथा क्रान्तिकारी विचारों के कांग्रेसियों ने हमेशा से इस बात की कोशिश की है कि उनके साथी स्थानिक बोर्डों और कौंसिलों के विधानों के जंजाल में पूरे समय के कामों में न फंसने पावें जो उन्हें कांग्रेस का कारगर काम करने से रोकते हों।

मगर अब ख़ुद सरकार ही कुछ हद तक मदद कर रही है; क्योंकि वह कांग्रेसियों के लिए कोई काम पाना मुश्किल बनाये दे रही है, जिससे यह मुमकिन है कि उनके क्रान्तिकारी उत्साह का कुछ हिस्सा ज़रूर क़ायम रहेगा या हो सकता है कि बढ़ भी जाय।

एक साल या उससे कुछ ज़्यादा दिनों तक म्युनिसिपैलिटी का काम करने के बाद मैं यह महसूस करने लगा कि मैं यहाँ अपनी शक्तियों का सबसे अच्छा उपयोग नहीं कर रहा हूँ। मैं ज़्यादा-से-ज़्यादा जो कुछ कर सकता था वह यह था कि काम जल्दी निबटे और वह पहले से ज़्यादा होशियारी के साथ किया जाय। मैं कोई कहने लायक़ तब्दीली तो करा नहीं सकता था। इसलिए मैं चेयरमैनी से इस्तीफ़ा देना चाहता था। लेकिन बोर्ड के तमाम मेम्बरों ने मुझपर ज़ोर दिया कि मैं चेयरमैन बना रहूँ। मेरे इन साथियों ने मेरे साथ हमेशा शराफ़त व मेहरबानी का बर्ताव किया था। इस कारण मेरे लिए उनकी बात न मानना मुश्किल हो गया। लेकिन अपनी चेयरमैनी के दूसरे साल के आख़ीर में मैंने इस्तीफ़ा दे ही दिया।

यह १६२५ की बात है। उस साल वसन्त ऋतु में मेरी पत्नी बहुत बीमार पड़ गयी। कई महीनों तक वह लखनऊ के अस्पताल में पड़ी रहीं। उसी साल कानपुर में कांग्रेस हुई थी। मुद्दत तक दुःखी दिल के साथ कभी इलाहाबाद, कभी कानपुर और कभी लखनऊ तथा वहाँ से वापस चक्कर लगाने पड़े थे। (मैं इन दिनों भी कांग्रेस का प्रधान-मन्त्री था।)

डाक्टरों ने सिफ़ारिश की कि कमला का इलाज स्वीज़रलैण्ड में कराया जाय। मुझे यह बात पसन्द आयी; क्योंकि मैं ख़ुद भी हिन्दुस्तान से बाहर चला जाना चाहता था। मेरा दिमाग़ साफ़ नहीं था। कोई साफ़ रास्ता नहीं दिखायी देता था। मैंने सोचा कि अगर मैं हिन्दुस्तान से दूर पहुँच जाऊँ तो चीज़ों को और अच्छी दृष्टि से देख सकूँगा और अपने दिमाग़ के अँधेरे कोनों में रोशनी पहुँचा सकूँगा।

मार्च १६२६ के शुरू में हम लोग जहाज़ में बम्बई से वेनिस के लिये रवाना हुए। मैं, मेरी पत्नी और लड़की। उसी जहाज़ में हमारे साथ मेरी बहन और बहनोई रणजित पण्डित भी गये। उन लोगों ने अपनी योरप-यात्रा का इन्तज़ाम हम लोगों के योरप जाने का सवाल पैदा होने से बहुत पहले ही कर रक्खा था।

२१
यूरप में

मुझे यूरप छोड़े तेरह साल से भी ज्यादा हो चुके थे और ये साल लड़ाई और क्रांति तथा भारी परिवर्तन के साल थे। जिस पुरानी दुनियां को मैं जानता था वह लड़ाई के ख़ून और उसकी वीभत्सता में डूब चुकी थी और एक नयी दुनिया मेरा रास्ता देख रही थी। मुझे उम्मीद थी कि यूरप में छः या सात महीने या ज़्यादा-से-ज़्यादा साल के अख़ीर तक रह पाऊँगा। लेकिन दरअसल हम लोग वहाँ ठहरे एक साल और नौ महीने।

यह वक़्त मेरे शरीर और दिमाग़ दोनों के लिए चैन व आराम का वक़्त था। ज़्यादातर हमने यह वक़्त स्वीज़रलैण्ड के जिनेवा में और मोण्टाना के पहाड़ी सेनिटोरियम में बिताया था। मेरी छोटी बहन कृष्णा भी १६२६ की गर्मियों के शुरू में हिन्दुस्तान से हमारे पास आगयी और जबतक हम लोग यूरप में रहे तबतक हमारे साथ रही। मैं अपनी पत्नी को ज़्यादा अर्से के लिए नहीं छोड़ सकता था, इसलिए दूसरी जगहों में मैं बहुत थोड़े वक़्त के लिए ही जा सका। कुछ दिनों बाद जब मेरी पत्नी की तबियत कुछ ठीक हो गयी तब हम लोगों ने कुछ दिनों तक फ्रांस, इंग्लैंड और जर्मनी की सैर की। जिस पहाड़ी की चोटी पर हम लोग ठहरे थे उसके चारों ओर बर्फ़ थी। वहाँ मैं यह महसूस करता था कि मैं हिन्दुस्तान तथा यूरोपियन संसार से बिलकुल अलहदा हो गया हूँ। हिन्दुस्तान

में होनेवाली बातें ख़ासतौर पर बहुत दूर मालूम होती थीं। मैं महज़ दूर से देखनेवाला एक तमाशबीन बन गया था, जो अख़बार पढ़ता था, जो बातें होती थीं उन्हें समझकर उनपर ग़ौर करता था, नये यूरप तथा उसकी राजनीति और उसके अर्थशास्त्र तथा उसके कहीं ज़्यादा आज़ादाना मानव-सम्बन्धों को देखा करता था। जब मैं जिनेवा में था तब स्वभावतः मुझे राष्ट्र-संघ के कामों में और अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर-दफ़्तर में भी दिलचस्पी रही थी।

लेकिन जाड़ा आते ही, जाड़े के खेलों में मेरा मन लग गया। कुछ महीनों तक इन खेलों में ही मेरी खास दिलचस्पी रही और इन्हीं में मैं लगा रहा। बरफ़ पर एक क़िस्म के फिसल-खड़ाऊँ पहनकर तो मैं पहले भी चलता था, खिसकता था, लेकिन लकड़ी के आठ फ़ीट लम्बे और चार इंच चौड़े फिसल-जोड़े को पैरों से बाँधकर बरफ़ पर चलने का तजरबा मेरे लिये बिलकुल नया था और मैं उसपर मुग्ध हो गया। बहुत दिनों तक तो मुझे इस खेल में काफ़ी तकलीफ़ मालूम हुई, लेकिन बार-बार गिरने पर भी मैं हिम्मत के साथ जुटा रहा और अख़ीर में मुझे खूब मज़ा आने लगा।

सब मिलाकर इन दिनों हमारी ज़िन्दगी में कोई ख़ास घटना नहीं हुई। दिन बीतते गये और धीरे-धीरे मेरी पत्नी ताक़त व तन्दुरुस्ती हासिल करती गयी। वहाँ हम लोगों को बहुत कम हिन्दुस्तानियों से मिलने का मौक़ा मिला। सच बात तो यह है कि उस पहाड़ी बस्ती में रहनेवाले थोड़े-से लोगों को छोड़कर और किसीसे हमें मिलने का मौक़ा ही नहीं मिला। लेकिन हम लोगों ने यूरप में जो पौने दो साल बिताये उसमें हमें बहुत-से ऐसे पुराने क्रांतिकारी और हिन्दुस्तान से निकाले हुए भाई मिले जिनके नामों से मैं वाक़िफ़ था।

उनमें से श्यामजी कृष्ण वर्मा जिनेवा में एक मकान की सबसे ऊँची मंज़िल पर अपनी बीमार पत्नी के साथ रहते थे। ये दोनों बूढ़े पति-पत्नी अकेले ही रहते थे। उनके साथ दिन-भर रहकर काम करनेवाले नौकर न थे, इसलिए उनके कमरे गन्दे पड़े रहते थे, जिनमें दम-सा घुटता था। हर चीज़ के ऊपर धूल की मोटी तह जमी हुई थी। श्यामजी के पास काफ़ी रुपया था, लेकिन वह रुपया खर्च करने में विश्वास नहीं रखते थे। वह ट्राम में बैठकर जाने के बदले कुछ पैसे बचा लेना ज़्यादा पसन्द करते थे। जो कोई उनसे मिलने जाता उसको वह शक की निगाह से देखते थे और जबतक इससे उलटी बात साबित न हो जाय तबतक यही मान बैठते थे कि आनेवाले महाशय या तो ब्रिटिश सरकार के एजेण्ट हैं या उनके धन के गाहक हैं। उनकी जेबें उनके 'इण्डियन सोशियॉलॉजिस्ट' नाम के अख़बारोंकी पुरानी कापियां से भरी रहती थीं। वह उन्हें खींचकर निकालते और कुछ जोश के साथ उन लेखों को दिखाते जो उन्होंने कोई बारह बरस पहले लिखे थे। वह ज़्यादातर पुराने ज़माने की बातें किया करते थे। हैम्स्टीड में इण्डिया-हाउस में क्या हुआ, ब्रिटिश सरकार ने उनके भेद लेने के लिए कौन-कौन

शख्स भेजे और उन्होंने किस तरह उन्हें पहचानकर उनको चकमा दिया, आदि। उनके कमरों की दीवारें पुरानी किताबों से भरी अलमारियों से सटी हुई थीं। उन किताबों को पढ़ता-पढ़ाता कोई नहीं था, इसलिए उनपर धूल जमी हुई थी और वे, जो कोई वहाँ जा पहुँचता उसकी तरफ़ दुख-भरी निगाहों से देखती-सी मालूम होती थीं। किताबें और अखबार फ़र्श पर भी इधर-उधर पड़े रहते थे। ऐसा मालूम पड़ता था मानो वे कई दिनों और हफ़्तों से, मुमकिन है महीनों से, इसी तरह पड़े हुए हैं। उस तमाम जगह में शोक की छाप, मनहूसियत की हवा छायी हुई थी। ज़िन्दगी वहाँ ऐसी मालूम पड़ती थी जैसे कोई अनचाहा अजनबी घुस आया हो। अँधेरे और सुनसान बरामदों में चलते हुए ऐसा डर मालूम पड़ता था कि किसी कोने में कहीं मौत की छाया तो नहीं छिपी हुई है। जानेवाले उस मकान में से निकलकर आराम की लम्बी साँस लेते और बाहर की हवा पाकर खुश होते थे।

श्यामजी अपनी दौलत की बाबत कुछ इन्तज़ाम, पब्लिक के कामों के लिए कोई ट्रस्ट, कर देना चाहते थे। शायद वह विदेशों में शिक्षा पानेवाले हिन्दुस्तानियों के लिए कुछ इन्तज़ाम करना पसन्द करते थे। उन्होंने मुझसे कहा कि मैं भी उनके उस ट्रस्ट का एक ट्रस्टी हो जाऊँ। लेकिन मैंने उस ज़िम्मेदारी को अपने ऊपर लेने की कोई ख्वाहिश ज़ाहिर नहीं की। मैं नहीं चाहता था कि मैं उनके आर्थिक मामलों के चक्कर में फसूँ। इसके अलावा मैंने यह भी महसूस किया कि अगर मैंने कहीं ज़रूरत से ज़्यादा दिलचस्पी ज़ाहिर की तो उन्हें फ़ौरन ही यह शक हो जायगा कि उनकी दौलत पर मेरा दाँत है। यह तो किसीको नहीं मालूम था कि उसके पास कितनी दौलत है। अफ़वाह भी उड़ी थी कि जर्मनी में सिक्के की क़ीमत गिरने से उनको बहुत नुक़सान हुआ था।

कभी-कभी कोई नामी-गरामी हिन्दुस्तानी जिनेवा में होकर गुज़रते थे। जो लोग राष्ट्र-संघ में शामिल होने के लिए आते थे, वे तो हाकिमी क़िस्म के लोग होते थे और यह ज़ाहिर है कि श्यामजी ऐसे लोगों के पास तक नहीं फटक सकते थे। लेकिन मज़दूर दफ़्तर में कभी-कभी नामी ग़ैर-सरकारी हिन्दुस्तानी आ जाते थे, जिनमें मशहूर कांग्रेसी भी होते थे। श्यामजी इन लोगों से मिलने की कोशिश करते। श्यामजी से मिलकर उन लोगों पर जो असर होता वह बड़ा ही दिलचस्प होता था। पर श्यामजी से मिलते ही ये लोग घबरा उठते थे और न सिर्फ़ पब्लिक में ही उनसे मिलने से बचने की कोशिश करते थे, बल्कि खानगी में भी उनसे मिलने के लिए किसी-न-किसी बहाने से माफ़ी माँग लेते थे। वे लोग समझते थे कि श्यामजी से ताल्लुक़ रखने या उनके साथ देखे जाने में ख़ैर नहीं है।

इसलिए श्यामजी और उनकी पत्नी को एकाकी ज़िन्दगी बितानी पड़ती थी। उनके न तो कोई बाल-बच्चे ही थे, न कोई रिश्तेदार या दोस्त ही; उनका कोई साथी भी नहीं था। शायद किसी भी मनुष्य-प्राणी से उनका सम्पर्क नहीं

था। वह तो पुराने ज़माने की यादगार थे। सचमुच उनका ज़माना गुज़र चुका था। मौजूदा ज़माना उनके लिए मौज़ूँ नहीं था इसलिए दुनिया उनकी तरफ़ से मुँह फेरकर मज़े से चली जा रही थी। लेकिन फिर भी उनकी आँखों में पुराना तेज था, और यद्यपि उनमें और मुझमे एक-सी कोई चीज़ नहीं थी फिर भी उनके प्रति मैं अपनी हमदर्दी व इज़्ज़त को नहीं रोक सकता था।

हाल ही में अख़बारों में ख़बर छपी कि वह मर गये और उनके कुछ दिन बाद ही वह भली गुजराती महिला भी, जो दूसरे मुल्कों में देश निकाले में भी ज़िन्दगी-भर उनके साथ रही थी, मर गयी। अख़बारों की ख़बरों में यह भी कहा गया था कि उन्होंने (उनकी पत्नी ने) विदेशों में हिन्दुस्तान की औरतों की शिक्षा के लिए बहुत-सा रुपया छोड़ा है।

एक और मशहूर शख़्स, जिनका नाम मैंने अक्सर सुना था लेकिन जो मुझे पहले-पहल स्वीज़रलैण्ड में मिले, राजा महेन्द्रप्रताप थे। उनकी आशावादिता ज़बरदस्त थी। मेरा ख़याल है कि अब भी वह आशावादी हैं। वह बिलकुल हवा में रहते हैं और असली हालत से क़तई कोई ताल्लुक़ रखने से इन्कार करते हैं। मैंने जब उन्हें पहले-पहल देखा तो थोड़ा-सा चौंक पड़ा। वह एक अजीब तरह की पोशाक पहने हुए थे, जो तिब्बत के ऊँचे मैदानों के लिए भले ही मौज़ूँ हो या साइबेरिया के मैदानों में भी, लेकिन वह उन दिनों की गर्मियों में वहाँ बिलकुल बेमौज़ूँ थी। वह पोशाक एक क़िस्म की आधी फ़ौजी पोशाक-सी थी। वह ऊँचे रूसी बूट पहने हुए थे और उनके कोट में बहुत-सी बड़ी-बड़ी जेबें थीं जो फ़ोटो तथा अख़बार इत्यादि से भरी हुई थीं। इन चीज़ों में जर्मनी के चान्सलर बैथ मैन हॉलवेग का एक ख़त था। क़ैसर की एक तस्वीर थी, जिस पर उसके अपने दस्तख़त थे। तिब्बत के दलाई लामा का लिखा हुआ भी एक ख़ूबसूरत खर्रा था। इसके अलावा अनगिनत काग़ज़ात और तस्वीरें थीं। उन जेबों में कितनी चीज़ें भरी हुई थीं, यह देखकर हैरत होती थी। उन्होंने हमसे कहा कि एक दफ़ा चीन में उनका एक डिस्पैच बक्स खो गया, जिसमें उनके बड़े क़ीमती काग़ज़ात भरे हुए थे, तबसे उन्होंने इसी में ज़्यादा सुरक्षा समझी है कि वह हमेशा अपने काग़ज़ात अपनी जेबों में ही रक्खें। इसीसे उन्होंने इतनी ज़्यादा जेबें बनवायी थीं।

महेन्द्रप्रतापजी के पास जापान, चीन, तिब्बत और अफ़ग़ानिस्तान की और उन यात्राओं में जो घटनाएं हुईं उनकी कहानियों की भरमार थी। उनको अपनी ज़िन्दगी तरह-तरह की हालतों में बितानी पड़ीं, जिनका हाल बड़ा दिलचस्प था। उस वक़्त उनको सबसे ज़्यादा जोश 'आनन्द-समाज' (A Happiness Society) के लिए था, जो ख़ुद उन्होंने क़ायम किया था और जिसका मूल-मन्त्र था—"आनन्द रहो।" मालूम पड़ता था कि इस संस्था को लटाविया (या लिथुवानिया) में बहुत कामयाबी मिली।

उनके प्रचार का तरीक़ा यह था कि वह वक़्तन-फ़वक़्तन जिनेवा या दूसरी

जगह होनेवाली कान्फ्रेंसों के मेम्बरों के पास पोस्टकार्ड पर छपे हुए अपने बहुत-से सन्देश भेज दिया करते थे। इन पोस्टकार्डों पर उनके दस्तखत रहते थे, लेकिन जो नाम रहता था वह विचित्र, लम्बा और विविध। महेन्द्रप्रताप को तो उन्होंने म० प्र० यही रहने दिया था, लेकिन उसके साथ और बहुत-से नाम जोड़ दिये गये थे, जो ज़ाहिरा तौर पर जिन देशों को उन्होंने सैर की थी उनमें से उनके मनचाहे देश के नाम के द्योतक थे। इस तरह वह इस बात पर ज़ोर देते थे कि वह अपने को जाति, मज़हब और क़ौम के बन्धनों से ऊपर समझते हैं। इस विचित्र नाम के नीचे आख़िरी विशेषण "मनुष्य-जाति का सेवक" बिलकुल मज़ूर था। महेन्द्र प्रतापजी की बातों को ज़्यादा महत्त्व देना मुश्किल था। वह तो मध्यकालीन उपन्यासों के एक पात्र-से—डॉन क्विक्ज़ोट-से¹ मालूम होते थे, जो ग़लती से बीसवीं सदी में आ भटके थे। लेकिन वह थे पूरी तरह सच्चे और अपनी धुन के पक्के।

पेरिस में हमने बूढ़ी मैडम कामा को भी देखा। जब हमारे पास आकर उन्होंने हमारे चेहरे की तरफ़ ग़ौर से देखा, और हमारी तरफ़ अंगुली उठाकर एकाएक हमसे यह पूछा कि आप कौन हैं, तब वह कुछ-कुछ खूंख़ार और डरावनी-सी मालूम हुईं। आपके जवाब से उनके ऊपर कोई असर नहीं पड़ता; शायद उनको इतना ऊँचा सुनायी देता था कि वह आपकी बात सुन ही नहीं पातीं। वह अपनी इच्छाओं के अनुसार धारणाएं बना लेती हैं, और फिर उन्हींपर अड़ी रहती हैं, चाहे वाक़यात उन धारणाओं के ख़िलाफ़ ही हों।

इनके अलावा मौलवी उबैदुल्ला थे, जो मुझसे कुछ वक़्त के लिए इटली में मिले। वह मुझे चालाक जँचे, लेकिन उनकी लियाक़त पुराने ज़माने की राज-नैतिक चालबाज़ियों में जो होशियारी होती थी वैसी थी। वह नये विचारों के सम्पर्क में न थे। हिन्दुस्तान के 'संयुक्त राज्यों' या 'हिन्दुस्तान के संयुक्त प्रजा-तन्त्र' की उन्होंने एक स्कीम बनायी थी, जो हिन्दुस्तान की साम्प्रदायिक समस्या को हल करने की एक काफ़ी अच्छी कोशिश थी। उन्होंने इस्ताम्बूल में, जो उन दिनों तक क़ुस्तुन्तुनिया ही कहलाता था, अपनी कुछ पुरानी हलचलों की बाबत भी मुझसे कुछ कहा, लेकिन उनको मैंने इतना महत्त्व नहीं दिया, इस-लिए मैं जल्दी ही उन सब बातों को भूल गया। कुछ महीने बाद वह लाला लाजपतराय से मिले और ऐसा मालूम पड़ता है कि उन्हें भी उन्होंने वही बातें कह सुनायीं। लालाजी पर उनका बहुत असर पड़ा, उससे वह बहुत ही चिन्तित हो गये थे। यहाँतक कि उस साल हिन्दुस्तान की कौंसिलों के चुनाव में उन बातों का बड़ा महत्त्वपूर्ण हिस्सा रहा। उनके बिलकुल अनुचित और विचित्र नतीजे तथा मतलब निकाले गये। इसके बाद मौलवी उबैदुल्ला हेजाज चले गये और

---

¹थोड़ी शक्ति पर हवाई क़िले बांधनेवाला एक पात्र जिसका अनुपम चित्र इसी नाम के प्रसिद्ध स्पेनिश उपन्यास में चित्रित किया गया है। —अनु०

पिछले कई सालों से मुझे उनकी बाबत कोई खबर नहीं मिली।

उनसे बिलकुल दूसरी क़िस्म के मौलवी बरकतउल्ला साहब थे। उनसे मैं बर्लिन में मिला। वह बड़े मज़ेदार बूढ़े आदमी थे। बड़े उत्साही और बहुत ही भले। वह बेचारे कुछ सीधे-सादे थे, बहुत तीव्र-बुद्धि न थे। फिर भी वह नये ख़यालात को अपनाने और आजकल की दुनिया को समझने की कोशिश करते थे। १९२७ में सेन फ्रांसिस्को में उनकी मौत हुई, जबकि हम लोग स्वीज़रलैण्ड में थे। उनकी मौत की ख़बर सुनकर मुझे बहुत रंज हुआ।

बर्लिन में ऐसे बहुत-से लोग थे जिन्होंने लड़ाई के वक़्त हिन्दुस्तानियों का एक दल बना लिया था। वह दल तो पहले ही टुकड़े-टुकड़े हो गया। उन लोगों की आपस में नहीं बनी और वे एक-दूसरे से लड़ पड़े, क्योंकि हर शख़्स दूसरे पर विश्वासघात करने का शक करता था। ऐसा मालूम होता है कि सब जगह देश-निकाले राजनैतिक कार्यकर्ताओं का यही हाल होता है। बर्लिन के इन हिन्दुस्तानियों में से बहुत-से तो मध्यमश्रेणी के लोगों के उन बैठे-बिठाये पेशों में लग गये। महायुद्ध के बाद जर्मनी में इस तरह के पेशे अक्सर नहीं मिल सकते थे। अब जो उनमें लग गये उनमें क्रान्तिकारीपन का कोई चिह्न नहीं रहा। यहाँतक कि वे राजनीति से भी दूर रहने लगे।

लड़ाई के ज़माने के इस पुराने दल की कहानी मनोरंजक है। इनमें ज़्यादातर तो वे लोग थे जो १९१४ की गर्मियों में जर्मनी के जुदा-जुदा विश्वविद्यालयों में पढ़ रहे थे। ये लोग जर्मनी के विद्यार्थियों के साथ उन्हींकी-सी ज़िन्दगी बिताते थे, उनके साथ बियर (शराब) पीते थे और उनकी (जर्मनी की) संस्कृति को सहानुभूति तथा सम्मान के साथ देखते थे। लड़ाई से उनको कुछ मतलब न था, लेकिन उस वक़्त जर्मनी के ऊपर राष्ट्रीय उन्माद का जो तूफ़ान आया उससे विचलित हुए बिना नहीं रह सके। उनकी भावना तो वास्तव में ब्रिटिश-विरोधी थी, न कि जर्मनों की पक्षपाती। अपने हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता ने उन्हें ब्रिटेन के दुश्मनों की ओर झुका दिया। लड़ाई शुरू होने के बाद फ़ौरन ही कुछ और थोड़े-से हिन्दुस्तानी, जो इनसे कहीं ज़्यादा क्रान्तिकारी थे, स्वीज़रलैण्ड से जर्मनी जा पहुँचे। इन लोगों ने अपनी एक कमिटी बना ली और हरदयाल को बुला भेजा। वह उन दिनों संयुक्त राज्य अमेरिका के पश्चिमी किनारे पर थे। हरदयाल कुछ महीने पीछे आये, लेकिन इस वक़्त यह कमिटी काफ़ी महत्त्वपूर्ण हो गयी थी। कमिटी पर यह महत्त्व जर्मन-सरकार ने लाद दिया था। जर्मन-सरकार क़ुदरतन यह चाहती थी कि वह तमाम ब्रिटिश-विरोधी भावों को अपने फ़ायदे के लिए इस्तेमाल करे। उधर हिन्दुस्तानी यह चाहते थे कि वे अपने क़ौमी मक़सदों को पूरा करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का फ़ायदा उठावें। वे यह नहीं चाहते थे कि महज़ जर्मनी के ही फ़ायदे के लिए अपने को इस्तेमाल होने दें। इस मामले में उनकी बहुत चल नहीं सकती थी, लेकिन वे यह महसूस करते थे कि उनके पास

कोई चीज़ ज़रूर है जिसे लेने के लिए जर्मन-सरकार बहुत उत्सुक है। इस बात से उन्हें जर्मन सरकार से सौदा करने को एक हथियार मिल गया। उन्होंने इस बात पर बहुत ज़ोर दिया कि जर्मन-सरकार हिन्दुस्तान की आज़ादी की प्रतिज्ञा करे और इत्मीनान दिलाये कि वह उसपर क़ायम रहेगी। ऐसा मालूम होता था कि जर्मनी के वैदेशिक दफ़्तर ने इन लोगों से बाक़ायदा सुलहनामा किया, जिसमें उन्होंने यह वादा किया कि अगर जर्मन लोगों की जीत हुई तो जर्मन-सरकार हिन्दुस्तान की आज़ादी को मंज़ूर कर लेगी। इसी प्रतिज्ञा और इसी शर्त तथा कई छोटी शर्तों की बुनियाद पर हिन्दुस्तानी दल ने यह वादा किया कि हम लड़ाई में जर्मनी की मदद करेंगे। जर्मनी की सरकार हर तरह से इस कमिटी की इज़्ज़त करती थी, और उसके प्रतिनिधियों के साथ क़रीब-क़रीब विदेशी राजदूतों की बराबरी का बर्ताव किया जाता था।

ख़ासतौर पर नातजुर्बेकार नौजवानों के इस छोटे-से दल को यकायक जो इतना महत्त्व मिल गया, उससे उनमें से कई का सिर फिर गया। वे यह महसूस करने लगे कि हम कोई बहुत बड़ा ऐतिहासिक कार्य कर रहे हैं, बहुत ही बड़ी और युगान्तरकारी कार्रवाइयों में लगे हुए हैं। उनमें से बहुतों को बड़ी रोमांचक घटनाओं का सामना करना पड़ा और वे बाल-बाल बचे। लेकिन लड़ाई के पिछले हिस्से में उनकी महत्ता खुल्लम-खुल्ला कम होने लगी, और उनकी उपेक्षा शुरू हो गयी। हरदयाल को, जो अमेरिका से आये थे, बहुत पहले ही सलाम कर लिया गया था। कमिटी से उनकी बिलकुल नहीं बनी, और कमिटी तथा जर्मन-सरकार दोनों ही उनको विश्वास-पात्र नहीं मानते थे। उन्होंने उन्हें चुपचाप खिसका दिया। कई साल बाद जब १९२६ और १९२७ में मैं यूरप में था, तब मुझे अचम्भा हुआ कि यूरप में रहनेवाले ज़्यादातर हिन्दुस्तानियों के दिलों में हरदयाल के ख़िलाफ़ कितनी कटुता और कितनी नाराज़गी है। उन दिनों वह स्वीडन में रहते थे। मैं उनसे नहीं मिला।

लड़ाई ख़त्म होते ही बर्लिनवाली हिन्दुस्तानी कमिटी का बुरी तरह ख़ात्मा हो गया। उन लोगों की तमाम उम्मीदों पर पानी फिर गया था, जिससे उनके लिए ज़िन्दगी बिलकुल नीरस हो गयी थी। उन्होंने बहुत बड़ा जुआ खेला था, और वे उसमें हार गये थे। लड़ाई के सालों में उन्हें जो महत्त्व मिला, और जैसे बड़े-बड़े वाक़यात हुए उनके बाद तो हर हालत में ज़िन्दगी बोझा मालूम होती। लेकिन उन बेचारों को मुँह-माँगे इस तरह की बेफ़िक्री की ज़िन्दगी भी नहीं नसीब हो सकती थी। वे हिन्दुस्तान लौट नहीं सकते थे और लड़ाई के बाद के हारे हुए जर्मनी में रहने के लिए कोई आराम की जगह थी नहीं। उन बेचारों को बड़ी मुश्किलों का सामना करना पड़ा। उनमें से कुछेक को ब्रिटिश सरकार ने बाद में हिन्दुस्तान में आने की इजाज़त दे दी, लेकिन बहुतों को तो जर्मनी में ही रहना पड़ा। उनकी हालत बड़ी नाज़ुक थी। ज़ाहिर है कि वे किसी भी राज्य के नाग-

सिक न थे। उनके पास वाजिब पासपोर्ट तक नहीं थे। जर्मनी के बाहर तो सफ़र करना मुमकिन था ही नहीं, जर्मनी में रहने में भी बहुत-सी मुश्किलें थीं। वे वहाँ की पुलिस की मेहरबानी से ही रह सकते थे। उनकी ज़िन्दगी बहुत ही चिन्ता और मुसीबत से भरी थी। दिन-पर-दिन उन्हें कोई-न-कोई फ़िक्र सवार रहती थी। हर वक़्त उन्हें इसी बात के लिए परेशान रहना पड़ता था, कि क्या खायें और कैसे जियें ?

१९३३ के शुरू से नाज़ियों के दौर दौरे ने उनकी बदनसीबी को और भी बढ़ा दिया। अगर वे सोलहों आने नाज़ियों के मत को मान लें तो दूसरी बात है। अनार्यों और ख़ासतौर पर एशियायी विदेशियों का आजकल जर्मनी में स्वागत नहीं होता। उन लोगों को ज़्यादा-से-ज़्यादा उस वक़्त तक वहाँ ठहरने भर दिया जाता है जबतक कि वे ठीक तरह से रहें। हिटलर ने कई बार यह ऐलान किया है कि वह हिन्दुस्तान में ब्रिटेन के साम्राज्यवादी शासन का तरफ़-दार है। इसमें शक नहीं कि यह बात वह ब्रिटेन की सद्भावना प्राप्त करने को कहता है। इसलिए वह ऐसे किसी हिन्दुस्तानी को शह नहीं देना चाहता जिसने ब्रिटिश सरकार को नाराज़ कर दिया हो।

बर्लिन में हमें जो देश निकाले हुए हिन्दुस्तानी मिले उनमें से एक चम्पक-रमन पिल्ले थे। वह पुराने युद्धकालीन दल के एक मशहूर मेम्बर थे और कुछ धूमधाम-पसन्द थे, और नौजवान हिन्दुस्तानियों ने उन्हें एक बुरा-सा ख़िताब दे रखा था। वह सिर्फ़ राष्ट्रीयता की भाषा में ही सोच सकते थे। किसी भी सवाल को उसके सामाजिक और आर्थिक पहलू से देखने से वह दूर भागते थे। जर्मनी के राष्ट्रवादी 'स्टील हेलमेट्स' से उनकी ख़ूब पटती थी। वह जर्मनी में उन थोड़े-से हिन्दुस्तानियों में से थे, जिनकी नाज़ियों से ख़ूब छनती थी। कुछ महीने हुए, जेल में मैंने ख़बर पढ़ी कि बर्लिन में उनका देहान्त हो गया।

हिन्दुस्तान के एक मशहूर घराने के वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय बिलकुल दूसरी क़िस्म के आदमी थे। आमतौर पर लोग उन्हें चट्टो के नाम से जानते थे। वह बहुत ही क़ाबिल और बड़े मज़े के आदमी थे। हमेशा मुसीबतों में रहते। उनके कपड़े बिलकुल फटे-पुराने थे, और अक्सर उन्हें अपने खाने का इन्तज़ाम करना बहुत ही मुश्किल हो जाता था। लेकिन उनके मज़ाक और उनकी ख़ुशदिली ने उनका साथ कभी नहीं छोड़ा। जब मैं इंग्लैण्ड में पढ़ रहा था, तब वह मुझसे कुछ साल आगे थे। जब मैं हैरो में दाख़िल हुआ, तब वह ऑक्सफ़ोर्ड में थे। तबसे वह कभी हिन्दुस्तान को नहीं लौटे। कभी-कभी घर की याद उनको सताने लगती और वह हिन्दुस्तान को लौटने के लिए व्याकुल हो उठते। उनके तमाम पारिवारिक बन्धन ख़त्म हो चुके थे। और यह तय है कि अगर वह कभी हिन्दुस्तान आये तो फ़ौरन ही वह दुःखी होने लगेंगे, और यह पावेंगे कि यहाँ उनका मेल नहीं मिलता। लेकिन इतने बरसों के बीत जाने और

लम्बे-लम्बे सफ़र करने के बावजूद घर खिंचाव तो रहता ही है। देश से निकाला हुआ कोई भी शख़्स अपनी इस बीमारी से, जिसे मैज़िनी 'आत्मा का तपेदिक़' कहता था, नहीं बच सकता।

मैं यह ज़रूर कहूँगा कि मुझे दूसरे मुल्कों में जितने देश-निकाले हुए हिन्दुस्तानी मिले, उनमें ज़्यादातर लोगों का मुझपर अच्छा असर नहीं पड़ा, यद्यपि मैं उनकी क़ुर्बानियों की तारीफ़ करता था और जिन वाक़ई और असली मौजूदा मुसीबतों में वे फँसे हुए थे और उन्होंने जो तकलीफ़ें सही थीं और जो सहनी पड़ रही थीं, उनसे मेरी पूरी हमदर्दी थी। मैं उनमें से ज़्यादा लोगों से नहीं मिला, क्योंकि उनकी तादाद बहुत काफ़ी है और वे दुनिया-भर में फैले हुए हैं। उनमें से नाम भी तो हमने बहुत कम के सुने हैं, बाक़ी तो हिन्दुस्तान की दुनिया से बिलकुल अलग हो गये हैं और अपने जिन हिन्दुस्तानी भाइयों की ख़िदमत करने की उन्होंने कोशिश की वे उन्हें भूल गये हैं। उनमें से जिन थोड़े-से लोगों से मैं मिला उनमें वीरेन्द्र चट्टोपाध्याय और एम० एन० राय[1] के बुद्धि-वैभव का मुझपर अच्छा असर पड़ा। राय से मैं कोई आध घंटे तक मास्को में मिला था। उन दिनों वह प्रमुख कम्यूनिस्ट थे, लेकिन कम्यूनिस्ट इंटरनेशनल के कट्टर कम्यूनिज़्म से बाद को उनके कम्यूनिज़्म में फ़र्क़ हो गया था। मैं समझता हूँ कि चट्टो बाक़ायदा कम्यूनिस्ट न थे, सिर्फ़ उनका झुकाव कम्यूनिज़्म की तरफ़ था। अब तो राय को हिन्दुस्तानी जेलों में पड़े हुए तीन साल से भी ज़्यादा हो गये हैं।

इनके अलावा और भी बहुत से हिन्दुस्तानी थे जो यूरप के देशों में घूमते-फिरते थे। ये लोग क्रान्तिकारियों की ज़बान में बातचीत करते, बड़े-बड़े जीवट की और अजीब बातें सुझाते, कौतूहल-भरे विचित्र सवाल पूछते। ऐसा मालूम पड़ता था कि इन लोगों पर ब्रिटिश सीक्रट सर्विस (ख़ुफ़िया महकमे) की छाप लगी हुई थी।

हाँ, हम बहुत-से यूरोपियनों और अमेरिकनों से भी मिले। जिनेवा से हम

---

[1]मानवेन्द्रनाथ राय बंगाली हैं और पहले क्रान्तिकारी थे। यहाँसे भागकर वे रूस में बस गये। वहाँ इन्हें कोमिण्टर्न में अग्रगण्य स्थान मिला। कोमिण्टर्न—कम्यूनिस्ट इंटरनशनल—साम्यवादियों की मुख्य संस्था है। बाद को वह उससे हट गये। इसका कारण यह बताया जाता है कि यह मुख्य संस्था बाहर के देशों की संस्थाओं से स्थानिक परिस्थितियों का विचार किये बिना अपनी नीति का कठोरता से पालन चाहती थी। चीन में ये इसी संस्था की तरफ़ से गये थे। उसके बाद ये हिन्दुस्तान में आये और पकड़े गये। बाद में छूट गये। इन्होंने अपनी एक अलग पार्टी बना ली है।

—अनु०

कई बार वीलनव में रोमाँ रोलाँ[1] से मिलने के लिए विला ओल्गा गये। उनके पास पहली मर्तबा जाते वक़्त हम गांधीजी से परिचय-पत्र लेते गये थे। एक नौजवान जर्मन कवि और नाटककार की याद भी मैं बहुत बहुमूल्य समझता हूँ। इसका नाम था अर्न्स्ट टॉलर। अब नाज़ियों के शासन में वह जर्मन नहीं रहा। यही बात न्यूयार्क के नागरिक-स्वाधीनता-संघ के रोज़र बाल्डविन के लिए है। जिनेवा में नामी लेखक श्री धनगोपाल मुकर्जी[2] से भी हमारी दोस्ती हो गयी थी। वह अमेरिका में बस गये हैं।

यूरप जाने से पहले मैं हिन्दुस्तान में फ्रैंक बुकमैन से मिला था। यह ऑक्सफ़ोर्ड-ग्रूप-मूवमेण्ट के हैं। इन्होंने अपनी हलचल के सम्बन्ध में कुछ साहित्य मुझे दिया। उसे पढ़कर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। यकायक धर्म-परिवर्तन करना मेरी निगाह में ऐसी बातें हैं जिनका बुद्धिवाद के साथ मेल नहीं खाता। मैं यह नहीं समझ सका कि जो शख़्स ज़ाहिरा तौर पर साफ़-साफ़ बुद्धिमान मालूम होते थे वे ऐसे अजीब मनोभावों के शिकार कैसे हो जाते हैं और उनपर इन मनोविकारों का इस हद तक असर कैसे पड़ जाता है? मेरा कौतूहल बढ़ा। जिनेवा में फ्रैंक बुकमैन मुझे फिर मिले और उन्होंने मुझे न्यौता दिया कि रूमानिया में उनका जो अन्तर्राष्ट्रीय गृह-सम्मेलन होनेवाला है उसमें मैं शामिल होऊँ। मुझे अफ़सोस है कि मैं वहाँ नहीं जा सका और नज़दीक से इस नयी भावप्रवणता को नहीं देख सका। इस तरह मेरा कौतूहल अभी तक अतृप्त ही है और मैं इस ऑक्सफ़ोर्ड-ग्रूप-मूवमेण्ट की बढ़ती की जितनी ख़बरें पढ़ता हूँ उतना ही आश्चर्य करता हूँ।

२२

आपसी मतभेद

हमारे स्वीज़रलैण्ड में पहुँचने के बाद फ़ौरन ही इंग्लैण्ड में आम हड़ताल हो गयी थी, जिससे मुझे बहुत उत्तेजना हुई। मेरी हमदर्दी पूरी तरह हड़तालियों के साथ थी। कुछ दिनों के बाद जब हड़ताल बुरी तरह ख़त्म हुई तब मुझे ऐसा मालूम पड़ा मानो ख़ुद मुझपर चोट पड़ी है। कुछ महीने बाद मुझे कुछ दिनों के लिए इंग्लैण्ड जाने का मौक़ा मिला। वहाँ कोयले की खानों के मज़दूरों की लड़ाई अभी तक चल रही थी और रात में लन्दन आधे अँधेरे में रहता था। एक

---

[1] सुप्रसिद्ध साम्राज्य-विरोधी फ्रेंच विद्वान्। इस समय वे फ्रांस में नज़र-बंद हैं।—अनु०

[2] मई १९३६ में अमेरिका में इनकी बड़ी करुण परिस्थिति में मृत्यु हो गई। अपनी अनेक पुस्तकों में इन्होंने भारतीय सभ्यता के उज्ज्वल चित्र खींचे हैं। अंग्रेज़ी भाषा पर इनका आश्चर्यजनक प्रभुत्व था।—अनु०

खान में भी मैं कुछ समय के लिए गया। मेरा ख़याल है कि वह जगह डरबीशायर में होगी। मर्दों, औरतों और बच्चों के पीले और पिचके हुए चेहरे मैंने अपनी आँखों से देखे। इससे भी ज़्यादा आँखें खोलनेवाली बात यह हुई कि मैंने हड़ताल करने वाले मजदूरों और उनकी औरतों पर स्थानीय या देहाती अदालतों में मुक़दमे चलते हुए देखे। इन अदालतों के मैजिस्ट्रेट ख़ुद उन कोयले की खानों के डाइरेक्टर या मैनेजर थे। उन्हींकी अदालतों में मज़दूरों का मुक़दमा हुआ और उन्हें ज़रा-ज़रा-से ज़ुर्मों के लिए कुछ ख़ासतौर पर बनाये गये क़ानूनों के मुताबिक़ सज़ा दे दी जाती थी। एक मुक़द्मे से मुझे ख़ासतौर पर गुस्सा आया। अदालत के कठघरे में तीन या चार औरतें ऐसी लायी गयीं जिनकी गोद में बच्चे थे। उनका जुर्म था कि उन्होंने हड़ताल करनेवालों की जगह पर काम करने जानेवाले मज़दूर-द्रोहियों को धिक्कारा था। ये नौजवान माताएँ और उनके नन्हें-नन्हें बच्चे दु:खी हैं और उन्हें भरपेट भोजन नहीं मिलता, यह बात साफ़-साफ़ दिखायी देती थी। लम्बी लड़ाई से वे बहुत ही कमज़ोर हो गयी थीं। उनकी हालत बहुत बिगड़ गयी थी। उनमें मज़दूर-द्रोहियों के प्रति कटुता आ गयी थी जो उनके मुँह का कौर छीनते हुए मालूम होते थे।

वर्ग-न्याय अर्थात् अमीर श्रेणी के लोग ग़रीब दर्जे के लोगों के साथ कैसा इन्साफ़ करते हैं, इसकी बाबत अक्सर हम लोग बहुत-सी बातें पढ़ा करते हैं; और हिन्दुस्तान में तो इस तरह के इन्साफ़ों के क़िस्से रोज़मर्रा की बातें हैं। लेकिन, किसी भी वजह से हो, मैं यह उम्मीद नहीं करता था कि इंग्लैण्ड में 'इन्साफ़' का इतना बुरा नमूना मुझे देखने को मिलेगा। इस वजह से उससे मेरे मन में भारी धक्का लगा। एक और बात, जिसे देखकर मुझे कुछ अचरज हुआ, यह थी कि हड़ताल करनेवालों में डर की आबहवा फैली हुई थी। निश्चित रूप से पुलिस और हाकिमों ने उन्हें बुरी तरह डरा दिया था जिससे वे बेचारे सब बातों को, मैं समझता हूँ कि उनके साथ जो बेइज़्ज़ती का बर्ताव किया जाता था उसे भी, चुपचाप सह लेते थे। यह सही है कि एक लम्बी लड़ाई के बाद वे बुरी तरह थक गये थे। उनकी हिम्मत उनका साथ छोड़ने को ही थी। दूसरे मज़दूर-संघों के उनके साथी-मज़दूरों ने उनका साथ छोड़ ही दिया था। लेकिन ग़रीब हिन्दुस्तानी के मुक़ाबले फिर भी दुनिया-भर का फ़र्क़ था। ब्रिटिश खानों के मज़दूरों का संगठन तो अभी तक बहुत मज़बूत था। सचमुच मुल्क-भर के मज़दूरों की ही नहीं दुनिया-भर के मज़दूर-संघों की हमदर्दी उनके साथ थी। उनके विषय में काफ़ी प्रचार हो रहा था। इसके अलावा भी उनके पास तरह-तरह के साधन थे। हिन्दुस्तानी मज़दूरों को इनमें से एक भी बात नसीब नहीं। लेकिन फिर भी दोनों देशों के मज़दूरों की भयभीत आँखों में एक अजीब साम्य दिखायी देता था।

उस साल हिन्दुस्तान में असेम्बली और प्रान्तीय कौंसिलों का हर तीसरे

साल होनेवाला चुनाव था। मुझे उन चुनावों में कोई दिलचस्पी न थी, लेकिन वहाँ जो घमासान शब्द-युद्ध हुआ उसकी कुछ आवाज़ें स्वीज़रलैण्ड में पहुँच गयीं। स्वराज-पार्टी इन दिनों तक कौंसिलों में बाक़ायदा कांग्रेस-पार्टी हो गयी थी। इसकी मुख़ालिफ़त करने के लिए, मुझे मालूम हुआ कि, पं० मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपतराय ने एक नयी पार्टी बनायी थी। इस पार्टी का नाम रक्खा गया था नेशनलिस्ट-पार्टी। मेरी समझ में यह नहीं आया और अभी तक मैं नहीं समझ सका कि नयी पार्टी और पुरानी पार्टी में किन बुनियादी उसूलों का फ़र्क़ था। सच बात तो यह है कि आजकल कौंसिल की ज़्यादातर पार्टियों में कोई कहने लायक़ फ़र्क़ नहीं है—उतना ही फ़र्क़ है जितना ईसरी और ईसरिया के नामों में। कोई असली उसूल उन्हें एक दूसरे से अलग नहीं करता था। स्वराज-पार्टी ने पहले पहल कौंसिलों में एक नया और लड़ाकू रुख़ अख़्तियार किया और दूसरों के मुक़ाबले वह ज़्यादा गरम नीति से काम लेने के पक्ष में थी। लेकिन यह तो मात्रा का फ़र्क़ था, तत्त्व का नहीं।

नयी नेशनलिस्ट-पार्टी अधिक माडरेट यानी नरम दृष्टि-कोण की प्रतिनिधि थी। वह निश्चित रूप से स्वराज-पार्टी से ज़्यादा सरकार की ओर झुकी हुई थी। इसके अलावा वह सोलहों आने हिन्दू-पार्टी भी थी, जो हिन्दू-सभा के घनिष्ट सहयोग के साथ काम करती थी। मालवीयजी का इस पार्टी का नेतृत्व करना तो आसानी से समझ में आ सकता था क्योंकि वह उनके सार्वजनिक रुख़ को अधिक-से-अधिक ज़ाहिर करती थी। पुराने सम्बन्धों की वजह से वह कांग्रेस में ज़रूर बने हुए थे, लेकिन उनकी विचार-दृष्टि लिबरलों या माडरेटों के दृष्टि-कोण से ज़्यादा भिन्न न थी। कांग्रेस ने सहयोग और सीधी लड़ाई के जो नये ढंग अख़्तियार किये थे, वे उन्हें पसन्द न थे। कांग्रेस की नीति को तय करने में भी उनका कोई ख़ास हाथ न था। यद्यपि लोग उनकी बड़ी इज़्ज़त करते थे और कांग्रेस में हमेशा उनका स्वागत किया जाता था, लेकिन दरअसल मालवीयजी की कांग्रेस के प्रति आत्मीयता नहीं थी। वह उसकी कार्य-कारिणी—कार्य-समिति—के मेम्बर नहीं थे और वह कांग्रेस के आदेशों पर भी अमल नहीं करते थे, ख़ासकर उन आदेशों पर जो कौंसिलों के बारे में दिये जाते थे। वह हिन्दू-सभा के सबसे ज़्यादा लोकप्रिय नेता थे, और हिन्दू-मुसलमानों के मामलों में उनकी नीति कांग्रेस की नीति से जुदा थी। कांग्रेस के प्रति उनको वैसी भावुकता-पूर्ण ममता थी, जैसी किसी एक संस्था से किसी का क़रीब-क़रीब शुरू से ही सम्बन्ध होने पर हो जाती है। कुछ हदतक इसलिए भी उन्हें कांग्रेस से प्रेम था क्योंकि आज़ादी की लड़ाई की दिशा में भी उनकी भावुकता उन्हें खींच ले जाती थी और वह यह देखते थे कि कांग्रेस ही एक ऐसी संस्था है जो उसके लिए कोई कारगर काम कर रही है। इन कारणों से उनका दिल अक्सर कांग्रेस के साथ रहता था, ख़ासतौर पर लड़ाई के वक़्त में; लेकिन उनका दिमाग़ दूसरे कैम्पों में था। लाज़िमी तौर पर इसका

नतीजा यह हुआ कि ख़ुद उनके भीतर भी लगातार एक खींचातानी होती रहती थी। कभी-कभी वह एक-दूसरे के ख़िलाफ़ दिशाओं में, पूर्व-पश्चिम दोनों तरफ़, एक साथ चलने की कोशिश करते थे। नतीजा यह होता था कि लोगों की बुद्धि गड़बड़ी में पड़ जाती थी। लेकिन राष्ट्रीयता ऐसी गोलमालों की खिचड़ियों से ही भरी हुई है और मालवीयजी केवल नेशलिस्ट हैं, सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों से उनका कोई वास्ता नहीं। वह पुराने कट्टर पंथ के समर्थक थे और हैं। सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से वह सनातन-धर्म को माननेवाले हैं। हिन्दुस्तानी राजे, ताल्लुक़ेदार तथा बड़े-बड़े ज़मींदार ठीक ही उन्हें अपना हितचिन्तक मित्र समझते हैं। वह सिर्फ़ एक ही परिवर्तन चाहते हैं, पर उसे ज़रूर अन्तस्तल से चाहते हैं और वह है हिन्दुस्तान से विदेशी शासन का क़तई हट जाना। उन्होंने अपनी जवानी में जो कुछ पढ़ा और जो राजनैतिक तालीम पायी थी उसका अब भी उनके दिमाग़ पर बहुत असर है और वह लड़ाई के बाद की, बीसवीं सदी की, सजीव और क्रान्तिकारी दुनिया को अर्ध-विक्टर उन्नीसवीं सदी के चश्मे से, टी० एच० ग्रीन, जान स्टुअर्ट मिल और ग्लैडस्टन व मॉर्ले की निगाहों से तथा हिन्दू-संस्कृति और समाज-विज्ञान का तीन-चार वर्ष पुरानी भूमिका से देखते हैं। यह एक विचित्र मेल है, जिसमें परस्पर-विरोधी बातें भरी हुई हैं। लेकिन परस्पर-विरोधी बातों को हल करने की अपनी ख़ुद की शक्ति में उनका विश्वास आश्चर्य-जनक है। उठती जवानी से ही विविध क्षेत्रों में उनके द्वारा भारी सार्वजनिक सेवाएँ होती आयी हैं। काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय-जैसी विशाल संस्था क़ायम करने में उन्होंने कामयाबी हासिल की है। उनकी सचाई और उनकी लगन बिलकुल पारदर्शक है। उनकी भाषण-शक्ति बहुत ही प्रभावशाली है। उनका स्वभाव मीठा है और उनका व्यक्तित्व मोहक है। इन सब बातों से हिन्दुस्तान के लोगों के, ख़ासतौर पर हिन्दुओं के, वह बहुत प्यारे हैं, और यद्यपि बहुत-से लोग राजनीति में उनसे सहमत नहीं हैं, न उनके पीछे ही चलते हैं, लेकिन वे उनसे प्रेम तथा उनकी इज़्ज़त ज़रूर करते हैं। अपनी अवस्था और बहुत लम्बी सार्वजनिक सेवा की वजह से वह हिन्दुस्तान की राजनीति के वृद्ध वशिष्ठ हैं, लेकिन ऐसे, जो समय से पीछे मालूम देते हैं और जो आजकल की दुनिया से बिलकुल अलग-से हैं। उनकी आवाज़ की तरफ़ लोगों का ध्यान अब भी जाता है, लेकिन वह जो भाषा बोलते हैं उसे अब बहुत-से लोग न तो समझते ही हैं न उसकी परवाह ही करते हैं।

इन बातों से मालवीयजी के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह स्वराज-पार्टी में शामिल न होते। वह पार्टी राजनैतिक दृष्टि से उनके लिए बहुत ज़्यादा आगे बढ़ी हुई थी, और उसमें कांग्रेस की नीति पर डटे रहने का कड़ा अनुशासन ज़रूरी था। वह चाहते थे कि कोई ऐसी पार्टी हो जो ज़्यादा उग्र न हो और जिसमें राजनैतिक और साम्प्रदायिक दोनों मामलों में मन-मुताबिक़

काम करने की ज़्यादा छूट मिले। ये दोनों बातें उन्हें उस नयी पार्टी में मिल गयीं, जिसके वह जन्मदाता और नेता थे।

लेकिन यह बात आसानी से समझ में नहीं आती कि लाला लाजपतराय क्यों नई पार्टी में शामिल हुए, यद्यपि उनका झुकाव भी कुछ कुछ दक्षिण पक्ष और ज़्यादा साम्प्रदायिक नीति की तरफ़ था। उस साल गर्मियों में मैं जिनेवा में लालाजी से मिला था और मुझसे उनकी जो बातें वहाँ हुईं उनसे तो यह नहीं मालूम पड़ता था कि वह कांग्रेस-पार्टी के ख़िलाफ़ लड़ाकू रुख़ अख़्तियार करेंगे। यह क्यों हुआ, इस बात का अभी तक मुझे कुछ पता नहीं। लेकिन चुनाव की लड़ाई के दौरान में उन्होंने कुछ स्पष्ट आक्षेप किये थे जिनसे यह पता चल जाता है कि उनके मन में क्या-क्या चल रहा था। उन्होंने कांग्रेस के नेताओं पर यह इलज़ाम लगाया कि वे हिन्दुस्तान से बाहर के लोगों के साथ साज़िश कर रहे हैं। उन्होंने एक यह भी इलज़ाम लगाया कि काबुल में कांग्रेस की शाखा खोलकर इन्होंने कुछ साज़िश की है। मेरा ख़याल है कि उन्होंने अपने इन आक्षेपों की बाबत कोई ख़ास बात कभी नहीं बतायी। बार-बार प्रार्थना करने पर भी वह तफ़सील में कोई सबूत न दे सके।

मुझे याद है कि जब मैंने स्वीज़रलैण्ड में हिन्दुस्तानी अख़बारों में लालाजी के इलज़ामों को पढ़ा तो मैं दंग रह गया। कांग्रेस के मन्त्री की हैसियत से मैं कांग्रेस की बाबत सब बातें जानता था। काबुल की कांग्रेस कमिटी का कांग्रेस से सम्बन्ध कराने में मेरा अपना हाथ था। उसकी शुरुआत देशबन्धु दास ने की थी। यद्यपि मुझे उस वक़्त यह नहीं मालूम था, अब भी नहीं मालूम है, कि लालाजी के पास उन इलज़ामों की क्या तफ़सील थी, फिर भी मैं उनके स्वरूप को देखकर यह कह सकता हूँ कि जहाँ तक कांग्रेस का ताल्लुक़ है इन इलज़ामों की कोई बुनियाद नहीं हो सकती। मैं नहीं जानता कि इस मामले में लालाजी कैसे गुमराह हो गये। मुमकिन है कि तरह-तरह की अफ़वाहों का उन्होंने एतबार कर लिया हो, और मेरा ख़याल है कि उन दिनों मौलवी उबेदुल्ला के साथ उनकी जो बातचीत हुई थी उसका उनके ऊपर ज़रूर असर पड़ा होगा। हालाँकि उस बात-चीत में मुझे कोई बात ऐसी ग़ैर-मामूली नहीं मालूम होती थी, लेकिन चुनाव के वक़्त में तो ग़ैर-मामूली हालत पैदा हो ही जाती है। उसमें एक ऐसी अजीब बात होती है कि लोगों का मिज़ाज बिगड़ जाता है और वे सारासार विचार भूल जाते हैं। इन चुनावों को मैं जितना ही ज़्यादा देखता हूँ उतनी ही ज़्यादा मेरी हैरत बढ़ती है, और मेरे मन में इनके ख़िलाफ़ ऐसी अरुचि पैदा हो रही है जो लोकतन्त्री भाव के क़तई ख़िलाफ़ है।

लेकिन शिकायतों की बात जाने दीजिए, देश के बढ़ते हुए साम्प्रदायिक वातावरण को देखकर, नेशनलिस्ट पार्टी का या ऐसी ही किसी और पार्टी का खड़ा होना लाज़िमी था। एक तरफ़ मुसलमानों के दिलों में हिन्दुओं की ज़्यादा तादाद

का डर था, दूसरी तरफ़ हिन्दुओं के दिलों में इस बात पर बहुत नाराज़गी थी कि मुसलमान उनपर धौंस जमाते हैं। बहुत से हिन्दू यह महसूस करते थे कि मुसलमानों का रुख़ बहुत-कुछ 'जो-कुछ पास पल्ले है उसे रख दो नहीं तो ठीक कर दूँगा' जैसा है। वे दूसरी तरफ़ सरकार की तरफ़ मिलने की धमकी देकर ज़बरदस्ती ख़ास रिआयतें ले लेने की भी बहुत ज़्यादा कोशिश करते थे। इसी वजह से हिन्दू-महासभा को कुछ महत्त्व मिल गया, क्योंकि वह हिन्दू-राष्ट्रीयता की प्रतिनिधि थी। अब हिन्दुओं की हिन्दू साम्प्रदायिकता मुसलमानों की साम्प्रदायिकता के मुक़ाबले पर आ डटी थी। महासभा की लड़ाकू हरकतों का यह नतीजा हुआ कि मुसलमानों की यह साम्प्रदायिकता और ज़ोर पकड़ गई। इसी तरह घात-प्रतिघात होता रहा और इस प्रक्रिया में देश का साम्प्रदायिक पारा बहुत चढ़ गया। ख़ासतौर पर यह सवाल देश के अल्पसंख्यक दल और बहुसंख्यक दल के झगड़े का सवाल था। लेकिन अजीब बात तो यह थी कि देश के कुछ हिस्सों में बात बिलकुल उलटी थी। पंजाब और सिन्ध में हिन्दू और सिक्ख दोनों की तादाद मिलकर भी मुसलमानों से कम थी। और इन सूबों के अल्पसंख्यक हिन्दू और सिक्खों को भी वैर-भाव रखनेवाली बहुसंख्या से कुचले जाने का उतना ही डर था जितना मुसलमानों को हिन्दुस्तान के दूसरे सूबों में। या अगर बिलकुल ठीक-ठीक बात कही जाय तो यों कहिए कि दोनों दलों के मध्यमश्रेणीवाले, नौकरी की फ़िराक़ में लगे हुए, लोगों को यह डर था कि कहीं ऐसा न हो जाय कि नौकरियाँ मिलने ही न पावें; और कुछ हदतक स्थापित स्वार्थ रखनेवाले ज़मींदारों और साहूकारों वग़ैरा को यह डर था कि कहीं ऐसे आमूल परिवर्तन न कर दिये जायँ जिसमें हमारे स्वार्थों का सत्यानाश हो जाय।

साम्प्रदायिकता की इस बढ़ती से स्वराज्य-पार्टी को बहुत नुक़सान पहुँचा। उसके कुछ मुसलमान मेम्बर उसे छोड़कर चले गये और मुसलमानों की साम्प्रदायिक जमातों में जा मिले, और उसके कुछ हिन्दू मेम्बर खिसककर नेशनलिस्ट पार्टी में जा मिले। जहाँ तक हिन्दू लीडरों से ताल्लुक़ था, मालवीयजी और लाला लाजपतराय का मेल बहुत ताक़तवर मुक़ाबला था और साम्प्रदायिकता के तूफ़ान के केन्द्र पंजाब में उसका बहुत असर था। स्वराज्य-पार्टी या कांग्रेस की तरफ़ चुनाव लड़ने का ख़ास बोझ मेरे पिताजी के ऊपर पड़ा। उस बोझ को उनसे बँटाने के लिए देशबन्धु दास भी अब नहीं रहे थे। उन्हें लड़ाई में मज़ा आता था। किसी हालत में वह लड़ाई से जी नहीं चुराते थे, और प्रतिपक्षी की ताक़त बढ़ती हुई देखकर उन्होंने चुनाव की लड़ाई में अपनी तमाम ताक़त लगा दी। उन्होंने गहरी चोटें खायीं और दीं। दोनों पार्टियों में से किसीने भी किसीका कुछ लिहाज़ नहीं किया। शिष्टता भी छोड़ दी! इस चुनाव के पीछे भी उसकी याद बड़ी कड़वी बनी रही।

नेशनलिस्ट पार्टी को बहुत काफ़ी मात्रा में कामयाबी मिली। लेकिन इस

कामयाबी ने निश्चित रूप से असेम्बली की राजनैतिक आब कम कर दी। आकर्षण-केन्द्र और भी ज़्यादा नरम नीति की ओर चला गया। स्वराज्य-पार्टी ख़ुद कांग्रेस का दक्षिण पक्ष था। अपनी ताक़त बढ़ाने के लिए उसने बहुत-से संदिग्ध लोगों को पार्टी में घुस आने दिया। इस वजह से उसकी श्रेष्ठता में कमी हो गयी। नेशनलिस्ट पार्टी ने और भी नीचे जाकर उसी नीति से काम लिया। उपाधिकारी लोगों, बड़े ज़मींदारों, मिल-मालिकों तथा दूसरे लोगों का एक अजीब भानमती का पिटारा उसमें आ इकट्ठा हुआ। इन लोगों का भला राजनीति से क्या ताल्लुक़? उस साल १९२६ के अख़ीर में हिन्दुस्तान में एक भारी दुःखद घटना से अंधेरा-सा छा गया। इस घटना से हिन्दुस्तान भर घृणा व रोष से काँप उठा। उससे पता चलता था कि जातीय वैमनस्य हमारे लोगों को कितना नीचे गिरा सकता था। स्वामी श्रद्धानन्द को, जबकि वह बीमारी में चारपाई पर पड़े हुए थे, एक धर्मान्ध मुसलमान ने क़त्ल कर दिया। जिस पुरुष ने गोरखों की संगीनों के सामने अपनी छाती खोल दी थी और उनकी गोलियों का सामना किया था उसकी ऐसी मौत! क़रीब-क़रीब आठ बरस पहले इसी आर्यसमाजी नेता ने दिल्ली की विशाल जामा मसजिद की वेदी पर खड़े होकर हिन्दुओं और मुसलमानों की एक बहुत बड़ी सभा को एकता का और हिन्दुस्तान की आज़ादी का उपदेश दिया था। उस विशाल भीड़ ने 'हिन्दू-मुसलमानों की जय' के शोर से उनका स्वागत किया था और मसजिद से बाहर गलियों में उन्होंने उस ध्वनि पर अपने ख़ून की एक संयुक्त मुहर लगा दी थी। और अब अपने ही देश-भाई-द्वारा मारे जाकर उनके प्राण-पखेरू उड़ गये! हत्यारा यह समझता था कि वह एक ऐसा अच्छा काम कर रहा है जो उसे बहिश्त को ले जायगा!

विशुद्ध शारीरिक साहस का, किसी भी अच्छे काम में शारीरिक तकलीफ़ सहने और मौत तक की परवाह न करनेवाली हिम्मत का मैं हमेशा से प्रशंसक रहा हूँ। मेरा ख़याल है कि हममें से ज़्यादातर लोग उस तरह की हिम्मत की तारीफ़ करते हैं। स्वामी श्रद्धानन्द में इस निडरता की मात्रा आश्चर्यजनक थी। लम्बा क़द, भव्यमूर्ति, संन्यासी के वेश में बहुत उमर हो जाने पर भी बिलकुल सीधी चमकती हुई आँखें और चेहरे पर कभी-कभी दूसरों की कमज़ोरियों पर आनेवाली चिड़चिड़ाहट या गुस्से की छाया का गुज़रना, मैं इस सजीव तस्वीर को कैसे भूल सकता हूँ? अक्सर वह मेरी आँखों के सामने आ जाती है।

२३

ब्रसेल्स में पीड़ितों की सभा

१९२६ के अख़ीर में मैं इत्तिफ़ाक़ से बर्लिन में था और वहीं मुझे यह मालूम हुआ कि जल्दी ही ब्रसेल्स शहर में पद-दलित क़ौमों की एक कान्फ़्रेंस होनेवाली है।

यह ख़याल मुझे पसन्द आया और मैंने स्वदेश को लिखा कि राष्ट्रीय महासभा को ब्रसेल्स-कांग्रेस में हिस्सा लेना चाहिए। मेरी यह बात पसन्द की गयी और मुझे ब्रसेल्स-कान्फ्रेंस के लिए भारत की राष्ट्रीय महासभा का प्रतिनिधि बना दिया गया।

ब्रसेल्स की यह कांग्रेस १९२७ की फ़रवरी के शुरू मे हुई। मुझे पता नहीं कि यह ख़याल पहले-पहल किसको सूझा? उन दिनों बर्लिन एक ऐसा केन्द्र था जो देशनिकाले हुए राजनैतिक लोगों और दूसरे देशों के उग्र विचार के लोगों को अपनी तरफ़ खींचता था। इस मामले में बर्लिन धीरे-धीरे पेरिस के बराबर पहुँच रहा था। वहाँ कम्यूनिस्ट दल भी काफ़ी मज़बूत था। पद-दलित क़ौमों में आपस में तथा इन क़ौमों मे और मज़दूर उग्रदलों में एक-दूसरे के साथ मिलकर संयुक्त रूप से कुछ काम करने का ख़याल उन दिनों लोगों में फैला हुआ था। लोग अधिकाधिक यह महसूस करते थे कि साम्राज्यवाद नाम की चीज़ के ख़िलाफ़ आज़ादी की लड़ाई सब के लिए एक-सी है, इसलिए यह मुनासिब मालूम होता है कि इस लड़ाई की बाबत मिलकर ग़ौर किया जाय और जहाँ हो सके वहाँ मिलकर काम करने की कोशिश भी की जाय। इंग्लैण्ड, फ्रांस, इटली वग़ैरा जिन राष्ट्रों के पास उपनिवेश थे वे क़ुदरतन इस बात के ख़िलाफ़ थे कि ऐसी कोई कोशिश की जाय। लेकिन लड़ाई के बाद जर्मनी के पास तो उपनिवेश रहे नहीं थे, इसलिए जर्मन सरकार दूसरी ताक़तों के उपनिवेशों और अधीन देशों में आन्दोलन की इस बढ़ती को एक हितैषी की तटस्थता से देखती थी। यह उन कारणों में से एक था जिसने बर्लिन को एक केन्द्र बना दिया था। उन लोगों में सबसे ज़्यादा मशहूर व क्रियाशील वे चीनी थे जो वहाँ की क्योमिनतांग-पार्टी के गरमदल के थे। यह पार्टी उन दिनों चीन में तूफ़ान की तरह जीतती जा रही थी और उसकी अप्रतिरोध गति के आगे पुराने ज़माने के जागीरदारी तत्त्व ज़मीन में लुढ़कते नज़र आ रहे थे। चीन के इस नये चमत्कार के सामने साम्राज्यवादी ताक़तों ने भी अपनी तानाशाही आदतों और धौंस-डपट को छोड़ दिया था। ऐसा मालूम पड़ता था कि अब चीन के एके और उसकी आज़ादी के मसले के हल हो जाने में ज़्यादा देर नहीं लगेगी। क्योमिनतांग ख़ुशी से फूलकर कुप्पा हो गयी थी। लेकिन उसके सामने जो मुश्किलें आने को थीं उन्हें भी वह जानती थी। इसलिए वह अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार-द्वारा अपनी ताक़त बढ़ाना चाहती थी। ग़ालिबन इस पार्टी के बायें दल के लोगों ने ही—जो दूसरे देशों के कम्यूनिस्टों से मिलते-जुलते लोगों से मिलकर काम करते थे—इस तरह के प्रचार पर ज़ोर दिया था, जिससे वे दूसरे मुल्कों में चीन की राष्ट्रीय परिस्थिति को और घर पर पार्टी में अपनी स्थिति को मज़बूत कर सकें। उस वक़्त पार्टी ऐसे दो या तीन परस्पर-प्रतिस्पर्धी और कट्टर-शत्रु-दलों में नहीं बँट गयी थी। उस वक़्त वह बाहर से देखनेवाले सब लोगों को संयुक्त सामना करती हुई मालूम होती थी।

इसलिए क्योमिनतांग के यूरोपियन प्रतिनिधियों ने पद-दलित क़ौमों की

कान्फ्रेंस करने के विचार का स्वागत किया, शायद उन्होंने ही कुछ और लोगों से मिलकर इस विचार को पहले-पहल जन्म दिया। कुछ कम्यूनिस्ट और कम्यूनिस्टों से मिलते-जुलते लोग भी शुरू से इस विचार के समर्थक थे, लेकिन कुल मिलाकर कम्यूनिस्ट लोग कान्फ्रेंस के मामले में अलग पीछे ही रहे। लेटिन अमेरिका[1] से भी क्रियात्मक सहायता और मदद आयी, क्योंकि उन दिनों वह संयुक्त राज्य के आर्थिक साम्राज्यवाद के मारे कुड़मुड़ा रहा था। मैक्सिको की नीति उग्र थी। उसका सभापति भी उग्र दल का था। मैक्सिको इस बात के लिए उत्सुक था कि वह संयुक्तराज्य के खिलाफ़ लेटिन अमेरिका के गुट्ट का नेतृत्व करे। इसलिए मैक्सिको ने ब्रसेल्स कांग्रेस में बड़ी दिलचस्पी ली। वहां की सरकार एक सरकार की हैसियत से तो कांग्रेस में हिस्सा नहीं ले सकती थी, लेकिन उसने अपने एक प्रमुख राजनीतिज्ञ को भेजा कि वहाँ वह एक तटस्थ दर्शक की हैसियत से मौजूद रहे।

ब्रसेल्स में जावा, हिन्दी-चीन, फिलस्तीन, सीरिया, मिस्र, उत्तरी अफ्रीका के अरब और अफ्रीका के हब्शी लोगों की क़ौमी संस्थाओं के प्रतिनिधि भी मौजूद थे। इनके अलावा बहुत-से मज़दूरों के उग्र दलों ने भी अपने प्रतिनिधि भेजे थे। बहुत-से ऐसे लोग भी, जिन्होंने एक युग से मज़दूरों की लड़ाइयों में ख़ास हिस्सा लिया था, वहाँ मौजूद थे। कम्यूनिस्ट भी वहाँ थे। उन्होंने कांग्रेस की कार्रवाई में काफ़ी हिस्सा लिया, लेकिन वे वहाँ कम्यूनिस्टों की हैसियत से न आकर कई मज़दूर-संघ या वैसी ही संस्थाओं के प्रतिनिधि होकर आये थे।

जार्ज लेन्सबरी उस कांग्रेस के सभापति चुने गये और उन्होंने बहुत ही ज़ोरदार भाषण दिया। यह बात इस बात का सबूत थी कि कांग्रेस कोई ऐसी-वैसी सभा न थी और न उसने अपना भाग्य ही कम्यूनिस्टों के साथ जोड़ दिया था। लेकिन इस बात में कोई शक नहीं कि वहाँ एकत्र लोग कम्यूनिस्टों के प्रति मित्रभाव रखते थे और यद्यपि उनमें और कम्यूनिस्टों में कई बातों में समझौता भले ही न हो सकता हो फिर भी काम करने के लिए कई बातें ऐसी भी थीं जिनमें मिलकर काम किया जा सकता था।

वहाँ जो स्थायी संस्था, साम्राज्यवाद-विरोधी लीग, क़ायम की गयी उसका भी सभापतित्व मि० लेन्सबरी ने स्वीकार कर लिया, लेकिन फ़ौरन ही उन्हें अपनी इस जल्दबाज़ी पर पछताना पड़ा, या शायद ब्रिटिश मज़दूर दल के उनके साथियों ने उनकी इस बात को पसन्द नहीं किया। उन दिनों यह मज़दूर-दल 'सम्राट का विरोधी दल' था और जल्दी ही बढ़कर 'सम्राट-सरकार' बनने को था। तब भला मंत्रिमण्डल के भावी सदस्य खतरनाक और क्रान्तिकारी राजनीति में कैसे पैर फँसा सकते थे? मि० लेन्सबरी ने पहले तो काम में बहुत व्यस्त रहने का बहाना

---

[1] लेटिन अमेरिका अर्थात् मैक्सिको, ब्राज़ील, बोलीविया इत्यादि अमेरिकन प्रदेश—जहां लैटिन भाषा से निकली भाषाएं बोलनेवाले लोग यूरप से जाकर बसे हैं, जैसे फ्रेंच, इटेलियन, स्पेनिश, पोर्चुगीज आदि। —अनु०

करके लीग के सभापतित्व से इस्तीफ़ा दे दिया, बाद को उन्होंने उसकी मेम्बरी भी छोड़ दी। मुझे इस बात से बहुत अफ़सोस हुआ कि जिस व्यक्ति के व्याख्यान की दो-तीन महीने पहले मैंने इतनी तारीफ़ की थी उसमें यकायक ऐसी तब्दीली हो गयी।

कुछ भी हो, काफ़ी प्रतिष्ठित व्यक्ति साम्राज्य-विरोधी लीग के संरक्षक हैं। इसमें एक तो मि० आइंस्टीन[1] हैं और दूसरी श्रीमती सनयातसेन,[2] और मेरा ख़याल है कि रोमाँ रोलाँ भी। कई महीने बाद आइन्स्टीन ने इस्तीफ़ा दे दिया, क्योंकि फ़िलस्तीन में अरबों और यहूदियों के जो झगड़े हो रहे थे उनमें लीग ने अरबों का पक्ष लिया था और यह बात उन्हें नापसन्द थी।

ब्रसेल्स-कांग्रेस के बाद लीग की कमिटियों की कई मीटिंगें समय-समय पर भिन्न-भिन्न जगहों में हुईं। इन सबसे मुझे अधीनस्थ और औपनिवेशिक प्रदेशों की कुछ समस्याओं को समझने में बड़ी मदद मिली। उनकी वजह से पश्चिमी संसार में मज़दूरों के जो भीतरी संघर्ष चल रहे हैं उनकी तह तक पहुँचने में भी मुझे आसानी हुई। उनकी बाबत मैंने बहुत-कुछ पढ़ा था, और कुछ तो मैं पहले से ही जानता था, लेकिन मेरे उस ज्ञान के पीछे कोई असलियत नहीं थी, क्योंकि उनसे मेरा कोई ज़ाती ताल्लुक़ नहीं पड़ा था। लेकिन अब मैं उनके सम्पर्क में आया और कभी-कभी मुझे उन मसलों का भी सामना करना पड़ा जो इन भीतरी संघर्षों में प्रकट होते हैं। दूसरी इंटरनेशनल और तीसरी इंटरनेशनल[3] नाम की मज़दूरों की जो दो दुनिया हैं उनमें मेरी हमदर्दी तीसरी से थी। लड़ाई से लेकर अब तक दूसरी इंटरनेशनल ने जो कुछ किया उससे मुझे अरुचि हो गयी और हमको तो हिन्दुस्तान में इस इंटरनेशनल के सबसे ज़बर्दस्त हिमायती ब्रिटिश मज़दूर दल के तरीक़ों का खुद तजरबा हो चुका था। इसलिए लाज़िमी तौर पर कम्यूनिज़्म की बाबत मेरा

---

[1]सुप्रसिद्ध जर्मन वैज्ञानिक जो यहूदी होने के कारण जर्मनी से निर्वासित कर दिये गये थे। इनका देहान्त हो चुका है।

[2]स्वतन्त्र चीन के प्रथम प्रमुख सनयातसेन की विधवा पत्नी। —अनु०

[3]अखिल यूरप के श्रमजीवियों के संघ के ये नाम हैं। पहला संघ, जिसे मार्क्स ने स्थापित किया था, नाममात्र का था। दूसरा संघ १८८६ में स्थापित हुआ। उसमें जोरदार प्रस्ताव होते, लेकिन उनपर अमल शायद ही होता। उसने इस आशय के प्रस्ताव किये थे कि पूंजीपति राज्यतन्त्र में अथवा युद्ध में कभी भाग न लिया जाय। ये १९१४-१८ के महायुद्ध में यों ही धरे रह गये। तब १९१९ में बोल्शेविक लोगों ने तीसरा अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी संघ स्थापित किया। इस संघ की कार्यप्रणाली क्रान्तिकारी है। इसका प्रधान उद्देश्य है—संसार से पूंजीवाद का नाश और श्रमजीवियों की डिक्टेटरशिप की स्थापना करना। दूसरा संघ सुधारक और यह तीसरा क्रान्तिकारी माना जाता है। —अनु०

ख़याल अच्छा हो गया; क्योंकि उसमें कितने भी ऐब क्यों न हों, कम्यूनिस्ट कम-से-कम साम्राज्यवादी और पाखण्डी तो न थे। कम्यूनिज़्म से मेरा यह सम्बन्ध उसके सिद्धांतों की वजह से नहीं था, क्योंकि मैं कम्यूनिज़्म की कई सूक्ष्म बातों की बाबत ज़्यादा नहीं जानता था। उस वक़्त उससे मेरी जान-पहचान सिर्फ़ उसकी मोटी-मोटी बातों तक ही सीमित थी। ये बातें और वे भारी-भारी परिवर्तन जो रूस में हो रहे थे मुझे आकर्षित कर रहे थे। लेकिन अक्सर कम्यूनिस्टों से मैं, उनके डिक्टेटराना ढंग तथा उनके नये लड़ाकू और कुछ हदतक अशिष्ट तरीक़े से और जो लोग उनसे सहमत न हों उन सबकी बुराई करने की उनकी आदतों की वजह से चिढ़ जाता था। उनके कहने के मुताबिक़ तो मेरा यह मनोभाव मेरा बुजुर्गों की-सी अमीराना तालीम और लालन-पालन की वजह से था।

एक अजीब बात यह भी थी कि साम्राज्य-विरोधी लीग की कमिटियों की बैठकों में बहस के छोटे-छोटे मामलों में मैं मामूली तौर पर एंग्लो-अमेरिकन मेम्बरों की तरफ़ रहता था। किस तरीक़े से काम किया जाय, कम-से-कम इस मामले में तो हम लोगों के दृष्टि-कोण एक-से-ही थे। मैं और वे लोग ऐसे सब प्रस्तावों के ख़िलाफ़ थे जो लम्बे-चौड़े और अलंकारिक हों और जो घोषणापत्रों-जैसे मालूम पड़ते हों। हम लोग तो छोटी-सी और सीधी-सादी चीज़ चाहते थे। लेकिन यूरोपीय महाद्वीप के देशों की परम्परा इसके ख़िलाफ़ थी। अक्सर कम्यूनिस्टों और ग़ैरकम्यूनिस्टों में भी मत-भेद हो जाया करता था। मामूली तौर पर हम लोग समझौते पर राज़ी हो जाते थे। इसके बाद हममें से कुछ लोग अपने-अपने घर लौट आये और उसके बाद होनेवाली कमिटियों की बैठकों में शामिल नहीं हो सके।

साम्राज्यवादी शक्तियों के वैदेशिक औपनिवेशिक दफ़्तर ब्रसेल्स-कांग्रेस से कुछ ख़ौफ़ खाते थे। ब्रिटिश वैदेशिक विभाग के नामी लेखक 'अंगुर' ने अपनी एक किताब में इस कान्फ्रेंस का कुछ सनसनीदार और कहीं-कहीं हास्यास्पद हाल दिया है। ग़ालिबन ख़ुद कांग्रेस में ख़ुफ़ियाओं की भरमार थी। बहुत-से प्रतिनिधि भी कई ख़ुफ़ियादलों के प्रतिनिधि थे। इसकी हमें एक मज़ेदार मिसाल मिली। मेरे एक अमेरिकन दोस्त उन दिनों पेरिस में रहते थे। उनसे एक दिन फ्रांस की ख़ुफ़िया पुलिस के एक साहब मिलने के लिए आये। वह महज़ कुछ मामलों की बाबत दोस्ताना तरीक़े से कुछ बातें पूछना चाहते थे। जब वह साहब अपनी बातें पूछ चुके तब उन अमेरिकन से बोले—आपने मुझे पहचाना या नहीं, मैं तो आपसे पहले भी मिल चुका हूँ। अमेरिकन ने उन्हें बड़े ग़ौर से देखा; लेकिन उन्हें यह मंजूर करना पड़ा कि मुझे याद नहीं आता कि मैंने आपको कब और कहाँ देखा। तब ख़ुफ़िया पुलिस के उन साहब ने उन्हें बताया, कि मैं आपसे ब्रसेल्स-कांग्रेस में नीग्रो प्रतिनिधि की हैसियत से मिला था, उस वक़्त मैंने

अपना चेहरा और अपने हाथ वग़ैरा सब बिलकुल काले कर लिये थे।'

साम्राज्य-विरोधी-संघ की एक बैठक कोलोन में हुई और मैं भी उसमें शामिल हुआ। जब कमिटी की बैठक ख़त्म हो गयी तब हमसे यह कहा गया कि चलो, नज़दीक ही डुसेलडॉर्फ़ में सेक्को-वेन्ज़ेटी[1] के सिलसिले में जो जलसा हो रहा है उसमें चलें। जब हम उस सभा से वापस आ रहे थे तब हमसे कहा गया कि पुलिस को अपने-अपने पासपोर्ट दिखाइए। हममें से ज़्यादातर लोगों के पास अपना-अपना पासपोर्ट था, लेकिन मैं अपना पासपोर्ट कोलोन के होटल में छोड़ गया था। क्योंकि हम लोग डुसेलडॉर्फ़ तो सिर्फ़ कुछ घंटों के लिए ही आये थे। इसपर मुझे पुलिस-थाने में ले जाया गया। मेरी ख़ुशक़िस्मती से इस मुसीबत में मुझे दो साथी भी मिल गये। वे थे एक अंग्रेज़ और उनकी बीबी। ये दोनों भी अपने पासपोर्ट कोलोन में छोड़ आये थे। हमें वहाँ कोई एक घंटा ठहरना पड़ा होगा, इस बीच में शायद फ़ोन से सब बातें दर्याफ़्त कर ली गयीं। इसके बाद पुलिसवालों ने हमें जाने देने की मेहरबानी की।

पिछले सालों में यह साम्राज्य-विरोधी लोग कम्यूनिज़्म की तरफ़ ज़्यादा झुक गया। लेकिन जहाँतक मुझे मालूम है, उसने किसी वक़्त अपनी अलग हस्ती को नहीं खोया। मैं तो उसके साथ अपना सम्पर्क दूर से पत्रों द्वारा ही रख सकता था। १९३१ में कांग्रेस और सरकार के बीच दिल्ली में जो समझौता हुआ और उसमें मैंने जो हिस्सा लिया उसकी वजह से यह लोग बहुत ज़्यादा नाराज़ हो गये और उसने मुझे बिलकुल निकाल बाहर किया, या ठीक-ठीक यों कहिए कि उसने मुझे निकालने के लिए एक प्रस्ताव भी पास किया। मैं यह मंजूर करता हूँ कि मैंने उसे नाराज़ होने का काफ़ी मसाला दिया था, लेकिन फिर भी वह मुझे स्थिति साफ़ करने का कुछ मौक़ा दे सकती थी।

१९२७ की गर्मियों में मेरे पिताजी यूरप आये। मैं उनसे वेनिस में मिला। और उसके बाद कुछ महीनों तक हम लोग अक्सर साथ-साथ रहे। हम सब लोगों ने—मेरे पिताजी, पत्नी, छोटी बहिन और मैंने—नवम्बर में थोड़े दिनों के लिए मास्को की यात्रा की। हम लोग मास्को में बहुत ही थोड़े दिनों के लिए, सिर्फ़ तीन-चार दिन के लिए ही गये थे; क्योंकि हमने यकायक वहाँ जाना तय किया था। लेकिन हमें इस बात की ख़ुशी है कि हम वहाँ गये; क्योंकि उसकी इतनी-सी झाँकी भी काफ़ी थी। इतनी जल्दी में किया गया वह दौरा हमें नये रूस की बाबत न तो ज़्यादा बता ही सकता था न उसने बताया ही, लेकिन उसने हमें अपने अध्ययन के लिए एक बुनियाद दे दी। पिताजी के लिए ये सब सोवियट और समष्टि-

---

[1] दो इटालियन मज़दूर-कार्यकर्ता जिन्हें अमेरिकन सरकार ने झूठे मुक़दमे चलाकर फाँसी की सज़ा दी थी। सारे मज़दूर-संसार में इस घटना से भारी खलबली मची थी। —अनु०

वादी विचार बिलकुल नये थे। उनकी तमाम तालीम क़ानूनी और विधान-सम्बंधी थी और वे उस ढाँचे में से आसानी से नहीं निकल सकते थे। लेकिन मास्को में उन्होंने जो कुछ देखा उसका उनके ऊपर निश्चित रूप से असर पड़ा था।

जब पहले-पहल साइमन-कमीशन की बाबत ऐलान हुआ तब हम लोग मास्को में ही थे। हमने उनकी बाबत पहले-पहल मास्को के एक अख़बार में पढ़ा। इसके कुछ दिनों बाद पिताजी लन्दन में—प्रिवी-कौंसिल में—हिन्दुस्तान के एक मामले की अपील में सर जान साइमन के साथ-साथ वकील थे। यह एक पुरानी ज़मींदारी का मुक़द्दमा था जिसमें शुरू-शुरू में बहुत साल पहले मैंने भी पैरवी की थी। उस मुक़द्दमे में मुझे कुछ दिलचस्पी नहीं थी। लेकिन एक मर्तबा मैं सर जान साइमन के कहने पर पिताजी के साथ-साथ कुछ सलाह-मशविरे में शामिल होने के लिये साइमन साहब के दफ़्तर में गया था।

१९२७ का साल भी ख़त्म हो रहा था, और यूरप में हम बहुत ज़्यादा ठहर चुके थे। अगर पिताजी यूरप न आते तो शायद हम पहले ही घर लौट गये होते। हमारा एक इरादा यह भी था कि घर लौटते वक़्त कुछ समय दक्षिण-पूर्वी यूरप, टर्की और मिस्र में भी बितावें। लेकिन उस वक़्त उसके लिए समय नहीं रहा था और मैं इस बात के लिए उत्सुक था कि कांग्रेस का जो अगला जलसा मदरास में बड़े दिन की छुट्टियों में होने को था उसमें शामिल हो सकूँ। इसलिये मैं, मेरी पत्नी, मेरी बहिन व मेरी पुत्री दिसम्बर के शुरू में मारसेल्स से कोलम्बो के लिए रवाना हो गये। पिताजी तीन महीने और यूरप में ही रहे।

२४

हिन्दुस्तान आने पर फिर राजनीति में

यूरप से मैं बहुत अच्छी शारीरिक और मानसिक अवस्था लेकर लौट रहा था। मेरी पत्नी अभी पूरी तरह चंगी तो नहीं हुई थी, लेकिन वह पहले से बहुत बेहतर थीं। इसलिए मुझे उनकी तरफ़ से किसी क़िस्म की फ़िक्र नहीं रही थी। मैं ऐसा महसूस करता था कि मुझमें शक्ति और जीवन लबालब भर गया है; और इससे पहले भीतरी द्वन्द्व और मनसूबों के बिगड़ जाने का जो ख़याल मुझे अक्सर परेशान करता रहता था, वह इस वक़्त न रहा था। मेरा दृष्टि-बिन्दु व्यापक हो गया था और केवल राष्ट्रीयता का लक्ष्य मुझे निश्चित रूप से तंग और नाकाफ़ी मालूम होता था। इसमें कोई शक नहीं कि राजनैतिक स्वतन्त्रता लाज़िमी थी, लेकिन वह तो सही दिशा में क़दमभर है। जबतक सामाजिक आज़ादी न होगी और समाज का तथा राज का बनाव समाजवादी न होगा तबतक न तो देश ही अधिक उन्नति कर सकता है, न उसमें रहनेवाले लोग ही। मैं यह महसूस करने लगा कि मुझे दुनिया के मामले ज़्यादा साफ़ दिखाई दे रहे हैं। आजकल की

दुनिया को, जोकि हर वक़्त बदलती रहती है, मैंने अच्छी तरह समझ लिया है। चालू मामलों और राजनीति के बारे में ही नहीं, लेकिन सांस्कृतिक और वैज्ञानिक तथा और भी ऐसे विषयों पर जिनमें मेरी दिलचस्पी थी, मैंने खूब पढ़ा। यूरप और अमेरिका में जो बड़े-बड़े राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तन हो रहे थे, उनके अध्ययन में मुझे बड़ा लुत्फ़ आता था। यद्यपि सोवियट रूस के कई पहलू अच्छे नहीं मालूम होते थे, फिर भी वह मुझे ज़ोरों से अपनी ओर खींचता था और ऐसा मालूम होता था कि वह दुनिया को आशा का सन्देश दे रही है। १९२५ के आसपास यूरप एक तरीक़े से एक जगह जमकर बैठने की कोशिश कर रहा था। महान् आर्थिक संकट तो उसके बाद ही आने को था। लेकिन मैं वहाँ से यह विश्वास लेकर लौटा कि जमकर बैठने की यह कोशिश तो ऊपरी है और निकट-भविष्य में यूरप में और दुनिया में भारी उथल-पुथल होनेवाली है, तथा बड़े-बड़े विस्फोट होनेवाले हैं।

मुझे फ़ौरन ही सबसे पहले करने का काम यह दिखायी देता था कि हम देश को इन विश्वव्यापी घटनाओं के लिए शिक्षित व उद्यत करें, उसे उनके लिए जहाँ तक हमसे हो सके वहाँ तक तैयार रखें। यह तैयारी ज़्यादातर विचारों की तैयारी थी, जिसमें सबसे पहली यह थी कि हमारी राजनैतिक आज़ादी के लक्ष्य के बारे में किसीको कुछ शक नहीं होना चाहिए। यह बात तो सबको साफ़-साफ़ समझ लेनी चाहिए कि हमारे लिए एकमात्र राजनैतिक ध्येय यही हो सकता है और औपनिवेशिक-पद के बारे में जो अस्पष्ट और गोलमोल बातें की जाती हैं उससे आज़ादी बिलकुल जुदा चीज़ है। इसके अलावा सामाजिक ध्येय भी था। मैंने महसूस किया कि कांग्रेस से यह उम्मीद करना कि अभी इस तरफ़ वह ज़्यादा दूर जा सकेगा बहुत ज़्यादा होगा। कांग्रेस तो महज़ एक राजनैतिक राष्ट्रीय संस्था है जिसे दूसरे तरीक़ों पर सोचने का अभ्यास न था। लेकिन फिर भी, इस दिशा में भी शुरुआत की जा सकती है। कांग्रेस से बाहर मज़दूर-मण्डलों और नौजवानों में ख़यालात कांग्रेस से ज़्यादा दूर तक फैलाये जा सकते थे इसके लिए मैं अपने को कांग्रेस के दफ़्तर के काम से अलग रखना चाहता था। इसके अलावा मेरे मन में कुछ-कुछ यह ख़याल भी था कि मैं कुछ महीने सुदूर भीतर के गाँवों में रहकर उनकी हालत का अध्ययन करने में बिताऊँ। लेकिन ऐसा होना न था और घटनाओं ने तय कर लिया था कि वे मुझे कांग्रेस की राजनीति में घसीट लेंगी।

हम लोगों के मद्रास पहुँचने के बाद फ़ौरन ही मैं कांग्रेस के भँवर में फँस गया। कार्य-समिति के सामने मैंने कई प्रस्ताव पेश किये। आज़ादी के बारे में, लड़ाई के ख़तरे के बारे में, साम्राज्य-विरोधी-संघ के बारे में और ऐसे ही कुछ और प्रस्ताव थे। क़रीब क़रीब ये सब प्रस्ताव मंजूर हुए और वे कार्य-समिति के सरकारी प्रस्ताव बना लिये गये। कांग्रेस के खुले अधिवेशन में भी वे प्रस्ताव

मुझे ही पेश करने पड़े और मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वे सब-के-सब क़रीब-क़रीब एक स्वर से पास हो गये। आज़ादी के प्रस्ताव का तो मिसेज़ एनी बेसेण्ट तक ने समर्थन किया। इन चारों ओर के समर्थन से मुझे बड़ी ख़ुशी हुई, लेकिन मेरे दिल में यह ख़याल बेचनी पैदा करता था कि या तो लोगों ने उन प्रस्तावों को समझा ही नहीं है कि वे क्या हैं या उन्होंने उनके मानी तोड़-मरोड़कर बिलकुल दूसरे लगा लिये हैं। कांग्रेस के बाद फ़ौरन ही आज़ादी के प्रस्ताव के बारे में जो बहस उठ खड़ी हुई उससे यह ज़ाहिर हो गया कि असल में यही बात थी।

मेरे ये प्रस्ताव कांग्रेस के हस्बमामूल प्रस्तावों से कुछ भिन्न थे। वे एक नया दृष्टिकोण ज़ाहिर करते थे। इसमें शक नहीं कि बहुत-से कांग्रेसी उन्हें पसन्द करते थे, कुछ लोग कुछ हद तक उन्हें नापसन्द करते थे, लेकिन इतना नहीं कि उनका विरोध करें। शायद ये पिछले लोग यह समझते थे कि प्रस्ताव निरे तात्त्विक हैं, उनके मंजूर होने न होने से कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं पड़ता, और उनसे पिण्ड छुड़ाने का सबसे अच्छा तरीक़ा यही है कि उनको मंजूर कर लिया जाय और ज़्यादा महत्त्वपूर्ण काम की तरफ़ ध्यान दिया जाय। इस तरह उन दिनों आज़ादी का प्रस्ताव कांग्रेस में उठानेवाली एक सजीव और अदम्य प्रेरणा को व्यक्त नहीं करता था जैसा कि उसने एक या दो साल बाद किया। उस वक़्त तो वह एक बहु-व्यापी और बढ़ते जानेवाले भाव को ही प्रकट करता था।

गांधीजी उन दिनों मदरास में ही थे। वह कांग्रेस के खुले अधिवेशन में आते थे, लेकिन उन्होंने कांग्रेस के नीति-निर्माण में कोई हिस्सा नहीं लिया। वह कार्य-समिति के मेम्बर थे, पर उसकी बैठकों तक में भी शामिल न हुए थे। जबसे कांग्रेस में स्वराज-पार्टी का ज़ोर हुआ, तबसे कांग्रेस के प्रति उनका अपना राजनैतिक रुख़ यही रहता था। लेकिन हाँ उनसे समय-समय पर सलाह ली जाती थी और कोई भी महत्त्वपूर्ण बात उनको बताये बिना नहीं की जाती थी। मुझे नहीं मालूम कि मैंने कांग्रेस में जो प्रस्ताव पेश किये उन्हें वे कहाँ तक पसन्द करते थे? मेरा ख़याल तो ऐसा है कि वे उन्हें नापसन्द करते थे—उन प्रस्तावों में जो कुछ कहा गया था, उसकी वजह से उतना नहीं, जितना अपनी साधारण प्रवृत्ति और दृष्टिकोण की वजह से। लेकिन उन्होंने किसी भी अवसर पर उनकी नुक्ताचीनी नहीं की। मेरे पिताजी तो उन दिनों यूरप ही में थे।

आज़ादी के प्रस्ताव की अवास्तविकता तो कांग्रेस की उसी बैठक में उसी वक़्त ज़ाहिर हो गया थी जबकि साइमन कमीशन की निन्दा और उसके बहिष्कार के लिए अपील-सम्बन्धी दूसरे प्रस्ताव पर विचार हुआ। इस प्रस्ताव के फलस्वरूप यह तजवीज़ की गयी कि सब दलों की एक कान्फ्रेंस बुलाई जाय, जो हिन्दुस्तान के लिए एक शासन विधान बनावे। यह ज़ाहिर था कि जिन माडरेट दलों का सहयोग लेने की कोशिश की गई थी, वे आज़ादी की भाषा में कभी विचार

नहीं कर सकते थे। वे तो ज़्यादा-से-ज़्यादा उपनिवेशों के-से पद के किसी स्वरूप तक जा सकते थे।

मुझे फिर कांग्रेस का सेक्रेटरी बनना पड़ा। इसके कुछ कारण तो व्यक्तिगत थे। उस साल के प्रेसिडेंट डॉक्टर अन्सारी मेरे पुराने और प्यारे दोस्त थे। उनकी इच्छा थी कि मैं ही सेक्रेटरी बनूं और मुझे भी यह ख़याल था कि जब मेरे इतने प्रस्ताव पास हुए हैं तब मेरा कर्त्तव्य है कि मैं यह देखूँ कि उनके मुताबिक़ काम हो। यह सच है कि सर्वदल-सम्मेलन के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव हुआ था उसने कुछ हद तक मेरे प्रस्तावों के असर को मार दिया था, फिर भी कुछ तो रही गया था। इसके अलावा मेरे मन्त्रि-पद मंज़ूर कर लेने का असली कारण तो यह डर था कि कांग्रेस सब दलों की कान्फ्रेंस के ज़रिये या दूसरी वजह से कहीं माडरेट स्थिति की तरफ़, राज़ीनामे और समझौते की तरफ़, न झुक जाय। उन दिनों ऐसा मालूम होता था कि कांग्रेस दुविधा में पड़ी हुई है, कभी वह उग्रता की तरफ़ बढ़ती तो कभी नरमी की तरफ़ हटती थी। मैं चाहता था कि जहाँ तक मुझसे हो सके वहाँ तक इस दुविधा में झूलती हुई कांग्रेस को नरमी की तरफ़ न झुकने दूँ और उसे आज़ादी के ध्येय पर उठाये रहूँ।

कांग्रेस के सालाना जलसों के मौक़ों पर बहुत-से दूसरे जलसे भी हमेशा हुआ करते हैं। मदरास में इस तरह का एक जलसा 'रिपब्लिकन कान्फ्रेंस' नाम का हुआ। इसका पहला (व आख़िरी) जलसा उसी साल वहीं हुआ। मुझसे कहा गया कि मैं उसका सभापति बन जाऊँ। मुझे यह ख़याल पसन्द आया, क्योंकि मैं अपने को रिपब्लिकन (प्रजातन्त्रवादी) समझता हूँ। लेकिन मुझे झिझक इस बात की थी कि मुझे यह नहीं मालूम था कि इस कान्फ्रेंस को करानेवाले साहब कौन हैं और मैं यों ही बरसाती मेढकों की तरह पैदा होनेवाली चीज़ों से अपना सम्बन्ध नहीं करना चाहता था। आख़ीर में जाकर मैं उसका सभापति बना। लेकिन बाद को मुझे इसके लिए पछताना पड़ा; क्योंकि ऐसे बहुत-से मामलों की तरह यह रिपब्लिकन कान्फ्रेंस भी मरी हुई पैदा होनेवाली साबित हुई। कई महीनों तक मैंने इस बात की कोशिश की कि उसने जो प्रस्ताव पास किये थे उनकी प्रतियाँ मुझे मिल जायँ। लेकिन मेरी सब कोशिश बेकार गयी। यह देखकर हैरत होती है कि हमारे कितने ही लोग नयी-नयी चीज़ें कायम करना पसन्द करते हैं और फिर उनकी तरफ़ से उदासीन होकर उन्हें उनके भाग्य के भरोसे छोड़ देते हैं। इस समालोचना में बहुत-कुछ सचाई है कि हम लोग किसी काम को उठाकर उसे पूरा करना, उसपर डटे रहना, नहीं जानते।

कांग्रेस के बाद हम लोग मदरास से रवाना नहीं हो पाये थे कि ख़बर मिली कि दिल्ली में हकीम अजमलख़ाँ की मृत्यु हो गयी। कांग्रेस के भूतपूर्व सभापति की हैसियत से वह उसके बुज़ुर्ग राजनीतिज्ञों में से थे। लेकिन वह उसके अलावा कुछ और भी थे। कांग्रेस के नेताओं में उनकी अपनी ख़ास जगह थी। यद्यपि

जिस पुराने कट्टर तरीक़े से उनका लालन पालन हुआ उसमें नयेपन का तो कहीं पता तक न था और मुगलों के ज़माने की शाही दिल्ली की तहज़ीब में वह सराबोर थे, फिर भी उनकी शराफ़त को देखकर, उनकी आहिस्ता-आहिस्ता बातें सुनकर, और उनके मज़ाकों को सुनकर तबीयत ख़ुश हो जाती थी। अपने शिष्टाचार में वह पुराने ज़माने के रईसों के नमूने थे। उनकी नज़र और तौर-तरीक़े शाही थे। उनका चेहरा भी मुग़ल सम्राटों की मूर्तियों से बहुत-कुछ मिलता-जुलता था। ऐसे शख़्स मामूलीतौर पर राजनीति की धक्का-मुक्की में शामिल नहीं होते और जबसे आन्दोलनकारियों की नयी नस्ल ने उन्हें परेशान करना शुरू किया तबसे हिन्दुस्तान में रहनेवाले अंग्रेज़ इस पुराने ढर्रे के लोगों की याद करके लम्बी साँस लेते हैं। अपनी शुरू की ज़िन्दगी में हकीम अजमलख़ाँ का भी राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं था। वह हकीमों के एक नामी परिवार के मुखिया थे, इसलिए वह अपने पेशे में बहुत मशग़ूल रहते थे। लेकिन लड़ाई के पिछले सालों के ज़माने की घटनाओं और उसके पुराने दोस्त और साथी डॉक्टर अन्सारी का असर उन्हें कांग्रेस की तरफ़ ढकेल रहा था। उसके बाद की घटनाओं ने, पंजाब के मार्शल-लॉ और ख़िलाफ़त के सवाल ने तो उनके दिल पर गहरा असर डाला और वह राज़ी-ख़ुशी से गांधीजी के असहयोग के नये तरीक़े के हामी हो गये। कांग्रेस में अपने साथ वह एक निराला गुण तथा कई क़ीमती ख़ूबियाँ लाये। वह पुराने और नये ढर्रे के लोगों के बीच दोनों को मिलानेवाली कड़ी बन गये, और उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को पुराने ढर्रे के लोगों की मदद दिला दी। इस तरह उन्होंने नयों और पुरानों में एक तरह का मेल मिला दिया और आन्दोलन की आगे बढ़नेवाली टुकड़ी को ताक़त और मज़बूती पहुँचायी। हिन्दू और मुसलमानों को भी उन्होंने एक-दूसरे के बहुत नज़दीक ला दिया; क्योंकि दोनों ही उनकी इज़्ज़त करते थे और दोनों पर ही उनकी मिसाल का असर पड़ा था। गांधीजी के लिए तो वह एक ऐसे विश्वास-पात्र मित्र हो गये, जिनकी सलाह हिन्दू-मुसलमानों के मामले में उनके लिए 'ब्रह्मवाक्य' थी। मेरे पिताजी और हकीमजी क़ुदरतन एक-दूसरे के दोस्त हो गये।

पिछले साल हिन्दू महासभा के कुछ नेताओं ने मुझपर यह आरोप लगाया था कि अपनी सदोष शिक्षा तथा फ़ारसी संस्कृति के असर के कारण मैं हिन्दुओं के भावों से अनभिज्ञ हूँ। मैं किस संस्कृति से सम्पन्न हूँ या मेरे पास कोई संस्कृति है भी या नहीं, यह कहना मेरे लिए कुछ मुश्किल है। दुर्भाग्य से फ़ारसी ज़बान तो मैं जानता भी नहीं। लेकिन यह सही है कि मेरे पिताजी हिन्दुस्तानी-फ़ारसी संस्कृति के वातावरण में बड़े हुए थे। यह संस्कृति उत्तर भारत को दिल्ली के पुराने दरबार से विरासत में मिली थी और आज के इन बिगड़े हुए दिनों में भी दिल्ली और लखनऊ उसके ख़ास केन्द्र हैं। काश्मीरी ब्राह्मणों में समय के अनुकूल हो जाने की अद्भुत शक्ति है। हिन्दुस्तान के मैदान में आने पर जब उन्होंने

उन दिनों यह देखा कि ऐसी संस्कृति का बोलबाला है, तो उन्होंने उसे अख़्तियार कर लिया और उनमें फ़ारसी और उर्दू के भारी पण्डित पैदा हुए। उसके बाद उन्होंने उतनी ही तेज़ी के साथ नई व्यवस्था के भी अनुसार अपने को बदल लिया। जब अंग्रेज़ी भाषा का जानना और यूरोपियन संस्कृति को ग्रहण करना ज़रूरी हो गया तब उन्होंने उन्हें भी ग्रहण कर लिया। लेकिन अब भी हिन्दुस्तान में कश्मीरियों में फ़ारसी के कई नामी विद्वान् हैं। इनमें दो के नाम लिये जा सकते हैं, सर तेजबहादुर सप्रू और राजा नरेन्द्रनाथ।

इस तरह मेरे पिताजी और हकीमजी में ऐसी बहुत-सी बातें थीं जो एक-दूसरे से मिलती-जुलती थीं। इतना ही नहीं, उन्होंने पुराने ख़ानदानी रिश्ते भी ढूँढ़ निकाले। उन दोनों में गहरी दोस्ती हो गयी। वे एक-दूसरे को 'भाई-साहब' कहकर पुकारते थे। राजनीति तो उनके बहुत-से प्रेम-बन्धनों में से सिर्फ़ एक और सबसे कम बन्धन था। अपनी घर-गृहस्थी की आदतों में हकीमजी बहुत ही पुराने विचारों के थे। वह या उनके परिवार के लोग पुरानी आदतों को नहीं छोड़ सकते थे। उनके परिवार में जैसा कड़ा परदा किया जाता था वैसा मैंने कहीं नहीं देखा था। फिर भी हकीम साहब को इस बात का पूर्ण विश्वास था कि जब तक किसी मुल्क की औरतें अपनी आज़ादी हासिल न कर लें तब तक वह मुल्क हरगिज़ तरक़्क़ी नहीं कर सकता। मेरे सामने वह इस बात पर बहुत ज़ोर देते थे और कहते थे कि टर्की की आज़ादी की लड़ाई में वहाँ की औरतों ने जो हिस्सा लिया है उसे मैं बहुत ही क़ाबिले-तारीफ़ समझता हूँ। उनका कहना था कि ख़ासतौर पर टर्की की औरतों की बदौलत ही कमालपाशा को कामयाबी मिली।

हकीम अजमलख़ाँ की मौत से कांग्रेस को भारी धक्का लगा। उसके मानी थे कि कांग्रेस का एक सबसे ताक़तवर मददगार जाता रहा। तबसे लेकर अब तक हम सब लोगों को दिल्ली जाने पर वहाँ किसी चीज़ की कमी मालूम होती है; क्योंकि हमारी दिल्ली का हकीम साहब से और बल्लीमारान में उनके मकान से बहुत गहरा सम्बन्ध था।

राजनैतिक दृष्टि से १९२८ का साल एक भरा-पूरा साल था। देशभर में तरह-तरह की हलचलों की भरमार थी। ऐसा मालूम पड़ता था कि एक नयी प्रेरणा, एक नयी ज़िन्दगी जो तरह-तरह के सभी समूहों में एक-सी मौजूद थी, लोगों को आगे की तरफ़ बढ़ा रही है। जिन दिनों मैं देश से बाहर था शायद उन दिनों धीरे-धीरे यह तबदीली हो रही थी और मेरे लौटने पर मुझे वह बहुत बड़ी तबदीली मालूम हुई। १९२६ के शुरू में हिन्दुस्तान पहले जैसा सुप्त और निष्कर्म बना हुआ था। शायद उस वक़्त तक उसकी १९२१-२२ की मेहनत की थकान दूर नहीं हुई थी। १९२८ में वह तरोताज़ा क्रियाशील और नयी शक्ति से पूर्ण हो गया है, इस बात का सबूत हर जगह मिलता था। कारख़ानों

के मज़दूरों में भी और किसानों में भी, मध्यमवर्ग के नौजवानों में भी और आमतौर पर पढ़े-लिखे लोगों में भी।

मज़दूर-संघों की हलचल बहुत ज़्यादा बढ़ गयी थी। सात-आठ साल पहले जो आल इण्डिया ट्रेड-यूनियन कांग्रेस क़ायम हुई थी वह एक मज़बूत और प्रातिनिधिक जमात थी। न सिर्फ़ उसकी तादाद और उसके संगठन में ही काफ़ी तरक़्क़ी हुई थी, बल्कि उसके विचार भी ज़्यादा लड़ाकू और ज़्यादा गरम हो गए थे। अक्सर हड़तालें होती थीं और मज़दूरों में वर्ग-चेतना ज़ोर पकड़ रही थी। कपड़े की मिलों और रेलों में काम करनेवाले मज़दूर सबसे ज़्यादा संगठित थे और इनमें से भी सबसे ज़्यादा मज़बूत और सबसे ज़्यादा संगठित संघ थे बम्बई की गिरनी-कामगार-यूनियन और जी० आई० पी० रेलवे-यूनियन। मज़दूरों के संगठन के बढ़ने के साथ-साथ लाज़िमी तौर पर पश्चिम से घरेलू लड़ाई-झगड़ों के बीज भी आये। हिन्दुस्तान के मज़दूर-संघों को क़ायम होते देर न हुई कि वे आपस में होड़ करने और दुश्मनी रखनेवाले दलों में बँट गये। कुछ लोग दूसरी इंटरनेशनल के हामी थे; कुछ तीसरी इंटरनेशनल के क़ायल। यानी एक दल का दृष्टिकोण नरमी की तरफ़ यानी सुधार-वादी था और दूसरा दल वह था जो खुल्लम-खुल्ला क्रान्तिकारी था और आमूल परिवर्तन चाहता था। इन दोनों के बीच में कई क़िस्म की रायें थीं, जिनमें मात्रा का भेद था, और जैसा कि आम जनता के संगठन में होता है इसमें मौक़ा-परस्त लोग भी आ घुसे थे।

किसान भी करवट बदल रहे थे। उनकी यह जाग्रति संयुक्तप्रान्त में और ख़ासतौर पर अवध में दिखायी देती थी, जहाँ अपने ऊपर होनेवाले अन्यायों का विरोध करने के लिए किसानों की बड़ी-बड़ी सभाएं आये दिन होने लगी थीं। लोग यह महसूस करने लगे थे कि अवध के जोत-सम्बन्धी जिस क़ानून ने किसानों को हीन-हयाती हक़ दिये थे, और जिससे बहुत ज़्यादा उम्मीद की जाती थी उससे किसानों की दुःखी ज़िन्दगी में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा था। गुजरात के किसानों ने तो एक बड़े पैमाने पर संघर्ष शुरू कर दिया, क्योंकि गवर्नमेन्ट ने यह चाहा कि मालगुज़ारी बढ़ा दी जाय। गुजरात में किसान ख़ुद अपनी ज़मीन के मालिक हैं जहाँ सरकार सीधे किसानों से ताल्लुक़ रखती है। यह संघर्ष सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में हुआ बारडोली का सत्याग्रह था। इस लड़ाई में किसानों की बहादुरी के साथ विजय हुई, जिसे देखकर तमाम हिन्दुस्तान वाह-वाह करने लगा। बारडोली के किसानों को बहुत काफ़ी कामयाबी मिली। लेकिन उनकी लड़ाई की असली कामयाबी तो इस बात में थी कि उसने हिन्दुस्तान-भर के किसानों पर बड़ा अच्छा असर डाला। हिन्दुस्तान के किसानों के लिए बारडोली आशा, शक्ति और विजय का प्रतीक हो गयी।

१९२८ के हिन्दुस्तान की एक और बहुत ख़ास बात थी नौजवानों के आन्दोलन की बढ़ती। हर जगह युवक-संघ क़ायम हो रहे थे और युवक-कान्फ्रेंसें की

आ रही थीं। ये संघ और कान्फ्रेंस तरह-तरह के थे। कोई अर्द्ध-धार्मिक थे तो कोई क्रान्तिकारी विचारों और उनके शास्त्रों पर विचार करनेवाले। लेकिन उनकी उत्पत्ति कुछ भी हो, और उनका नियन्त्रण किसीके हाथ में हो, युवकों की ऐसी सभाएं हमेशा अपने-आप आजकल की सजीव सामाजिक और आर्थिक समस्याओं पर विचार करने लगती थीं और आमतौर पर उनका झुकाव यही था कि एकदम काया-पलट कर दी जाय।

महज़ राजनैतिक विचार से देखा जाय तो यह साल साइमन-कमीशन के बायकाट के लिए तथा बायकाट के रचनात्मक पहलू के नाम से पुकारे जानेवाले सर्वदल-सम्मेलन के लिए मशहूर है। इस बायकाट में नरम-दलवालों ने कांग्रेस का साथ दिया और उसमें ग़ज़ब की कामयाबी हुई। जहाँ-जहाँ कमीशन गया वहाँ वहाँ विरोधी जन-समूहों ने 'साइमन गो बैक' (साइमन लौट जाओ) के नारे लगाकर उसका 'स्वागत' किया और इस तरह हिन्दुस्तान के तमाम लोगों की बहुत बड़ी तादाद न सिर्फ़ सर जॉन साइमन का नाम ही जान गयी बल्कि अंग्रेज़ी के 'गो बैक' ये दो शब्द भी उसे मालूम हो गये। बस, अंग्रेज़ी के इन्हीं दो शब्दों में उनका ज्ञान ख़तम हो जाता है। ऐसा मालूम पड़ता है कि इन दो शब्दों से कमीशन के मेम्बरों के कान भड़कते थे और अपनी उसी भड़क की वजह से चौंक पड़ते थे। कहते हैं कि एक मर्तबा जब वे नयी दिल्ली के वैस्टर्न होटल में ठहरे हुए थे तब उन्हें रात के अँधेरे में 'साइमन गो बैक' का नारा सुनायी देने लगा। इस तरह रात में भी पीछा किये जाने पर मेम्बर लोग बहुत चिढ़े, जबकि असल बात यह थी कि वह आवाज़ उन गीदड़ों की थी जो शाही राजधानी के ऊजड़ प्रदेशों में रहते हैं।

विधान के ख़ास-ख़ास उसूलों के तय करने में सर्व-दल-सम्मेलन को कुछ भी मुश्किल नहीं हुई। ये उसूल लोकतन्त्रीय पार्लमेन्टरी ढंग के थे और कोई भी उनकी रूप-रेखा बना सकता था। असली मुश्किल और एकमात्र कठिनाई तो साम्प्रदायिक और अल्पमतवाली क़ौमों के सवाल की वजह से पैदा हुई और चूँकि कान्फ्रेंस में भिन्न-भिन्न जातियों के तमाम कट्टर-से-कट्टर प्रतिनिधि थे, उनमें किसी तरह का राज़ीनामा निहायत ही मुश्किल हो गया। असल में वह पुरानी और बेकार कान्फ्रेंसों की तरह थी। पिताजी जो उस वक़्त यूरप से लौटे थे, उन्होंने इस सम्मेलन में बड़ी दिलचस्पी ली। अन्त में अन्तिम उपाय के रूप में एक छोटी-सी कमिटी नियुक्त कर दी गयी। पिताजी इस कमिटी के सभापति बनाये गये। इस कमिटी का काम था विधान का मसविदा तैयार करना और साम्प्रदायिक प्रश्न पर पूरी रिपोर्ट देना। इस कमिटी को लोग 'नेहरू-कमिटी' कहने लगे और कमिटी की रिपोर्ट 'नेहरू-रिपोर्ट के नाम से पुकारी जाने लगी। सर तेजबहादुर सप्रू भी इस कमिटी के मेम्बर थे, और वह उसकी रिपोर्ट के एक हिस्से के लिए ज़िम्मेदार भी थे।

मैं इस कमिटी का मेम्बर नहीं था, लेकिन कांग्रेस के मन्त्री की हैसियत से

मुझे इसके लिए बहुत काम करना पड़ा। मैं बड़े असमंजस में था, क्योंकि मैं समझता था कि जब असली सवाल सत्ता को जीतने का हो तब तफ़सीलवार काग़ज़ी विधान तैयार करना बिलकुल बेकार बात है। मेरी दूसरी मुश्किल यह थी कि इस खिचड़ी कमिटी ने हमारा ध्यान लाज़िमी तौर पर 'डोमीनियन स्टेटस' तक ही सीमित कर दिया था, और दरअसल तो वह ध्येय इससे भी कम था। मेरी नज़र में तो कमिटी की असली ख़ासियत इस बात में थी कि वह साम्प्रदायिक उलझन में से निकलने का कोई रास्ता ढूँढ निकाले। मुझे यह उम्मीद नहीं थी कि किसी पैक्ट या समझौते द्वारा यह सवाल हमेशा के लिए हल हो जायगा। यह सवाल हल तो तभी हो सकेगा जबकि लोगों का ध्यान इधर से हटकर सामाजिक और आर्थिक मसलों की तरफ़ लग जाय। लेकिन इस बात की सम्भावना थी कि अगर दोनों तरफ़ के लोगों की काफ़ी तादाद थोड़े वक़्त के लिए भी कोई पैक्ट कर ले तो हालत कुछ सुधर जाती और लोगों का ध्यान दूसरे मसलों की तरफ़ लग जाता। इसलिए मैंने कमिटी के काम में रोड़े अटकाने के बजाय उसकी जितनी मदद की जा सकती थी उतनी की।

एक बार तो यह मालूम पड़ा था कि अब कामयाबी मिली। सिर्फ़ दो-तीन बातें तय करने को रह गयी थीं और इनमें असली महत्त्वपूर्ण सवाल पंजाब का था, जहाँ हिन्दू, मुसलमान और सिक्खों का तिकोना तनाव था। कमिटी ने अपनी रिपोर्ट में पंजाब के सवाल पर बिलकुल नये ढंग से ग़ौर किया और उसने इस मामले में जो सिफ़ारिशें कीं उनकी पुष्टि जन-संख्या के बँटवारे सम्बन्धी कुछ नये अंकों से की। लेकिन यह सब बिलकुल बेकार था। दोनों तरफ़ डर और शक का राज रहा और दोनों में जो थोड़ा-सा फ़र्क़ रह गया था उसे पूरा करने के लिए दो-एक क़दम आगे तक नहीं बढ़ा गया।

अपनी कमिटी की रिपोर्ट पर विचार करने के लिए सर्व-दल सम्मेलन लखनऊ में हुआ। इसमें हम लोग फिर एक दुविधा में पड़ गये; क्योंकि इधर तो हम यह चाहते थे कि हमारी वजह से साम्प्रदायिक सवाल के हल होने में किसी क़िस्म की अड़चन न पड़े, बशर्ते कि वह सवाल हल हो सकता हो, और उधर हम इस बात के लिए तैयार न थे कि आज़ादी के सवाल पर झुक जायँ। हमने अर्ज़ किया कि सम्मेलन इस सवाल के बारे में अपने हरेक अंग को पूरी आज़ादी दे दे, जिससे इस मामले में जिसका जो जी चाहे सो करे। कांग्रेस आज़ादी पर डटी रहे, और जो लोग उससे अपनी नीति के अनुसार काम लेना चाहते हैं वे 'डोमीनियन स्टेटस' पर। लेकिन पिताजी रिपोर्ट को पास कराने पर तुले हुए थे। वह ज़रा भी दबने को तैयार न थे। शायद उन परिस्थितियों में वह झुकना चाहते तो भी नहीं झुक सकते थे। सम्मेलन में आज़ादी चाहनेवालों का एक बड़ा दल था। इस दल ने मुझसे कहा था कि मैं दल की तरफ़ से सम्मेलन में एक बयान दूँ जिसमें यह कहूँ कि आज़ादी के ध्येय को कम करने के लिए जो कुछ भी किया जायगा उस

सबसे हमारा कोई सरोकार न रहेगा। लेकिन हमने यह बात भी और साफ़ कर दी कि हम सम्मेलन के रास्ते में रोड़े न अटकावेंगे; क्योंकि हम साम्प्रदायिक समझौते के रास्ते में अड़चनें नहीं डालना चाहते थे।

ऐसे बड़े सवाल पर इस तरह का रुख़ अख़्तियार करना बहुत कारगर नहीं साबित हो सकता था। ज़्यादा-से-ज़्यादा यह रुख़ नकारात्मक था। हमने उसी दिन हिन्दुस्तान का आज़ादी-संघ (इण्डिपेण्डेंस फ़ार इण्डिया लीग) क़ायम करके अपने इस रुख़ को क्रियात्मक स्वरूप भी दे दिया।

प्रस्तावित विधान में जो मौलिक अधिकार क़ायम किये गये थे उनमें अवध के ताल्लुक़ेदारों के कहने पर एक धारा यह भी रख दी गयी कि उनके ताल्लुक़ों में उनके स्थापित अधिकारों की गारण्टी रहेगी कि ये छीने नहीं जायँगे। सर्व-दल-सम्मेलन की इस बात से मुझे एक और बड़ा धक्का लगा। इसमें कोई शक ही नहीं कि तमाम विधान व्यक्तिगत सम्पत्ति के सिद्धान्त की बुनियाद पर बनाया गया था, लेकिन बड़ी-बड़ी अर्द्ध-सामन्ती-सी रियासतों में उनकी मिलकियत के अधिकार विधान की अटल धारा बना देना मुझे बहुत ही बुरा मालूम हुआ। इससे यह बात साफ़ हो गई कि कांग्रेस के नेता और उनसे भी ज़्यादा ग़ैर-कांग्रेसी अपने ही साथियों में सामाजिक दृष्टि से जो ज़्यादा आगे बढ़े हुए समूह थे उनके मुक़ाबले में बड़े-बड़े ज़मींदारों का साथ पसन्द करते थे। यह साफ़ था कि हमारे नेताओं के और हमारे बीच में एक बहुत बड़ी खाई है। और ऐसी हालत में मुझे अपने लिए यह बात बहुत ही बेहूदा मालूम होती थी कि मैं प्रधान-मन्त्री का काम करता रहूँ। मैंने इस बुनियाद पर अपना इस्तीफ़ा दे देना चाहा कि मैं हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिए जो संघ क़ायम किया गया है उसके संचालकों में से एक हूँ। लेकिन कार्य-समिति इस बात से सहमत न हुई। उसने मुझसे और सुभाष बाबू से, जिन्होंने मेरे साथ-साथ उसी बिना पर इस्तीफ़ा दे देना चाहा था यह कहा कि हम लोग संघ का काम मज़े से कर सकते हैं, उसमें और कांग्रेस की नीति में कोई विरोध नहीं है। सच बात तो यह है कि कांग्रेस ने तो पहले ही आज़ादी के ध्येय का ऐलान कर दिया है। इसपर मैं फिर राज़ी हो गया। यह बात आश्चर्यजनक है कि उन दिनों मुझे अपना इस्तीफ़ा वापस करने के लिए कितनी जल्दी राज़ी कर लिया जाता था। यह बात कई मर्तबा हुई और क्योंकि कोई भी पार्टी वास्तव में एक-दूसरे से अलग हो जाने के ख़याल को पसन्द नहीं करती थी, इसलिए उससे बचने के लिए हमें जो बहाना मिलता उसीका हम आश्रय ले लेते।

गांधीजी ने इन तमाम पार्टियों की कान्फ़्रेंसों और कमिटियों की मीटिंगों में कोई हिस्सा नहीं लिया था। यहाँ तक कि वह लखनऊ-कान्फ़्रेंस के वक़्त वहाँ मौजूद भी नहीं थे।

इस बीच में साइमन कमीशन हिन्दुस्तान में दौरा कर रहा था और काले झंडे लिये हुए 'गो-बैक' के नारे लगानेवाले विरोधी भीड़ हर जगह उसका स्वागत

कर रही थी। कभी-कभी भीड़ और पुलिस में मामूली झगड़ा भी हो जाता था। लाहौर में बात बहुत बढ़ गयी और यकायक देशभर में गुस्से की लहर दौड़ गयी। लाहौर में साइमन-विरोधी जो प्रदर्शन हुआ वह लाला लाजपतराय के नेतृत्व में हुआ। जब वह सड़क के किनारे हज़ारों प्रदर्शन-कारियों के आगे खड़े हुए थे तब एक नौजवान अंग्रेज़ पुलिस अफ़सर ने उन पर हमला किया और उनकी छाती पर डंडे लगाये। लालाजी का तो कहना ही क्या, भीड़ की तरफ़ से किसी क़िस्म का झगड़ा खड़ा करने की कोई कोशिश नहीं हुई थी। फिर भी जब वह एक तरफ़ शान्ति से खड़े हुए थे तब पुलिस ने उनको और उनके कई साथियों को बहुत बुरी तरह मारा। गलियों में अथवा सड़कों पर होनेवाले आम प्रदर्शनों में हिस्सा लेनेवाले हर शख़्स को यह ख़तरा रहता है कि पुलिस से मुठभेड़ हो जायगी और यद्यपि हमारे प्रदर्शन क़रीब-क़रीब हमेशा ही सोलहों आने शान्त होते थे फिर भी लालाजी इस ख़तरे को ज़रूर जानते होंगे और उन्होंने जान-बूझकर वह ख़तरा उठाया होगा। लेकिन फिर भी जिस ढंग से उनपर हमला किया गया उससे और उस हमले के वहशियाने ढंग से हिन्दुस्तान के करोड़ों लोगों को धक्का लगा। उन दिनों हम पुलिस द्वारा लाठियों की मार खाने के आदी न थे। उस वक़्त तक इस प्रकार बार-बार होनेवाली पाशविकता के आदी न होने के कारण हम उसे बहुत बुरा मानते थे। हमारे सबसे बड़े नेता, पंजाब के सबसे बड़े और सबसे ज़्यादा लोकप्रिय व्यक्ति के साथ ऐसे बुरे व्यवहार का होना बिलकुल हैवानियत मालूम पड़ी और उस व्यवहार को देखकर हिन्दुस्तान-भर में, ख़ासकर उत्तरी हिन्दुस्तान में, एक ज़बर्दस्त गुस्सा फैल गया। हम लोग कितने असहाय और कितने कमज़ोर हैं, कि हम अपने नेताओं के मान की भी रक्षा नहीं कर सकते!

लालाजी को शारीरिक चोट भी कम भीषण नहीं लगी, क्योंकि उनकी छाती पर लाठियाँ मारी गयी थीं और वह बहुत दिनों से दिल की बीमारी से पीड़ित थे। अगर ये चोटें किसी तन्दुरुस्त नौजवान के लगी होतीं, तो इतनी घातक न साबित होतीं। लेकिन लालाजी न तो नौजवान थे, न तन्दुरुस्त ही। कुछ हफ़्ते बाद लालाजी की जो मौत हुई उस पर इन शारीरिक चोटों का क्या असर पड़ा, निश्चित रूप से यह बताना तो मुमकिन नहीं है, हालाँकि उनके डाक्टरों की यह राय थी कि इन चोटों के कारण उनकी मृत्यु जल्दी हो गयी। लेकिन मैं समझता हूँ कि इस बात में कोई शक नहीं है कि शारीरिक चोटों से लालाजी को जो मानसिक आघात पहुँचा, उसका उनके ऊपर बहुत ज़्यादा असर पड़ा। वह बहुत ही नाराज़ और सन्तप्त हो गये—इसलिए नहीं कि उनका ज़ाती अपमान हुआ था, बल्कि इसलिए कि उनपर किये गये हमले में राष्ट्रीय अपमान सम्मिलित था।

हिन्दुस्तान के मन में इसी राष्ट्रीय अपमान का ख़याल काम कर रहा था और जब उसके कुछ दिनों बाद ही लालाजी की मृत्यु हुई तब लोगों ने लाज़िमी तौर पर उसका ताल्लुक़ उनपर किये गये हमले से जोड़ा और इस ख़याल ने लोगों

के दिलों में जो गुस्सा और रोष आया वह ख़ुद-ब-ख़ुद एक प्रकार के अभिमान के रूप में बदल गया। इस बात को समझ लेना ज़रूरी है, क्योंकि इस बात को समझकर ही हम पीछे होनेवाली बातों को, भगतसिंह की कहानी और उत्तरी भारत में उसको एकाएक जो आश्चर्यजनक लोकप्रियता मिली, उसको समझ सकेंगे। उन कामों की तह में जो मूल स्रोत होते हैं, उनको जो बातें प्रेरित करती हैं, उन्हें समझ लेने की कोशिश किये बिना किसी शख़्स या किसी काम की निन्दा करना बहुत ही आसान और वाहियात है। इससे पहले भगतसिंह को लोग नहीं जानते थे। उन्हें जो लोकप्रियता मिली वह कोई हिंसात्मक या आतंकवाद का काम करने की वजह से नहीं मिली। आतंकवादी तो हिन्दुस्तान में क़रीब-क़रीब तीस बरस से रह-रहकर अपना काम कर रहे हैं, और बंगाल में आतंकवाद के शुरू के दिनों को छोड़कर और कभी किसी भी आतंकवादी को, भगतसिंह को जो लोकप्रियता हासिल हुई उसका सौवाँ हिस्सा भी नहीं मिली। यह एक ऐसी ज़ाहिर बात है जिससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। इसे तो मानना ही पड़ेगा। इसी तरह साफ़ और ज़ाहिर बात है कि यद्यपि आतंकवाद बीच-बीच में कभी-कभी ज़ोर पकड़ जाता है फिर भी हिन्दुस्तान के नौजवानों के लिए अब उसमें कोई आकर्षण नहीं रहा। पन्द्रह बरस तक अहिंसा पर ज़ोर दिये जाने से हिन्दुस्तान का सारा वातावरण बदल गया है, जिसके फलस्वरूप अब जन-साधारण राजनैतिक लड़ाई के साधन के तौर पर आतंकवाद के ख़याल की तरफ़ पहले से कहीं ज़्यादा उदासीन या विरोधी तक हो गये हैं। जिस दर्जे के लोगों पर, यानी निचली सतह के मध्यम श्रेणी के लोगों पर और पढ़े-लिखों पर भी, हिंसा के साधन के ख़िलाफ़ कांग्रेस ने जो प्रचार किया है उसका भारी असर पड़ा है। उनकी वे क्रियाशील और उतावली शक्तियाँ जो क्रान्तिकारी काम करने की ही बातें सोचा करती हैं, अब यह पूरी तरह महसूस करने लगी हैं कि क्रान्ति आतंकवाद के ज़रिये से नहीं हो सकती और आतंकवाद तो एक ऐसा बेकार और जर्जरित तरीक़ा है जो असली क्रान्तिकारी लड़ाई के रास्ते में रोड़े अटकाता है। हिन्दुस्तान में और दूसरे देशों में भी अब तो आतंकवाद मुर्दा-सा हो रहा है। और वह सरकारी दमन की वजह से नहीं, बल्कि आधारभूत कारणों और संसारव्यापी घटनाओं की वजहों से। सरकारी दमन तो सिर्फ़ दबाना या सीमित कर देना भर जानता है, वह जड़ से उखाड़ कर नहीं फेंक सकता। मामूली तौर पर आतंकवाद से किसी देश में होनेवाली क्रान्तिकारी प्रेरणा का बचपन ज़ाहिर होता है। वह अवस्था गुज़र जाती है और उसके साथ-साथ महत्त्वपूर्ण घटना के रूप में आतंकवाद भी गुज़र जाता है, स्थानिक कारणों या व्यक्तिगत दमन के कारण कभी-कभी कुछ आतंकवादी कार्य भले ही होते रहें। बिलाशक हिन्दुस्तान की क्रान्ति का बचपन बीत चुका और इसमें कुछ शक नहीं कि उसके फलस्वरूप यहाँ कभी-कभी हो जानेवाली आतंकवादी घटनाएँ भी धीरे-धीरे बन्द हो जायेंगी। लेकिन इसके मानी यह नहीं हैं

कि हिन्दुस्तान में सब लोगों ने हिंसात्मक साधन में विश्वास करना छोड़ दिया है। यह ठीक है कि उनमें से ज़्यादातर लोग अब वैयक्तिक हिंसा और आतंकवाद में विश्वास नहीं करते, लेकिन इसमें भी कोई शक नहीं कि बहुत-से अब भी यह सोचते हैं कि एक समय ऐसा आ सकता है जब संगठित हिंसात्मक साधनों से काम लेना आज़ादी हासिल करने के लिए ज़रूरी हो—ठीक वैसे ही जैसे कि दूसरे देशों में ज़रूरी हो गया था। आज तो यह सवाल महज़ एक तात्विक विवाद का सवाल है। समय ही उसे कसौटी पर कस सकता है। जो हो; आतंकवादी साधनों से इसका कोई सरोकार नहीं।

इस तरह भगतसिंह ने अपने हिंसात्मक कार्य से लोकप्रियता प्राप्त नहीं की, बल्कि इससे प्राप्त की कि कम-से-कम उस समय लोगों को ऐसा मालूम हुआ कि उसने लालाजी की और लालाजी के रूप में राष्ट्र की इज़्ज़त रखी है। भगतसिंह एक प्रतीक बन गया। उसके काम को लोग भूल गये, केवल प्रतीक उनके मन में रह गया, जिसके फलस्वरूप पंजाब के हरेक गाँव व क़स्बे में और उससे कुछ कम बाक़ी के उत्तरी भारत में उसका नाम घर-घर में गूँजने लगा। उसके बारे में बेशुमार गीत बने और उसने जो लोकप्रियता पायी वह सचमुच अजीब थी।

साइमन-कमीशन के विरुद्ध प्रदर्शन में होनेवाली मार-पीट के कुछ दिनों बाद लाला लाजपतराय दिल्ली में होनेवाली अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमिटी की एक बैठक में शामिल हुए। उनके शरीर पर चोटों के निशान बने हुए थे और उससे होनेवाली तकलीफ़ों को वह भुगत रहे थे। वह मीटिंग लखनऊ के सर्व-दल-सम्मेलन के बाद हुई थी और किसी-न-किसी रूप में उसमें आज़ादी के सवाल पर बहस उठ खड़ी हुई थी। मुझे यह तो याद नहीं रहा कि ठीक-ठीक बहस किस बात पर उठ खड़ी हुई थी, लेकिन मुझे यह याद है कि मैं वहाँ देर तक बोला और मैंने यह कहा कि अब समय आ गया है जब कांग्रेस को यह तय कर लेना चाहिए कि वह उस क्रान्तिकारी दृष्टिकोण को पसन्द करती है जिसमें हमारे राजनैतिक और सामाजिक भवन में कायापलट करने की ज़रूरत है, या सुधारवादियों के ध्येय और साधनों को। इस भाषण में ऐसी कोई महत्त्व की बात नहीं थी। मैं उस भाषण की बात को भूल भी गया होता, लेकिन उसकी इसलिए याद बनी रही कि लालाजी ने कमिटी में मेरे उस भाषण का जवाब दिया और उसके कुछ हिस्सों की नुक्ताचीनी की। उन्होंने एक चेतावनी इस आशय की दी थी कि हम लोगों को ब्रिटिश मज़दूर-दल से कोई उम्मीद न रखनी चाहिए। जहाँ तक मुझसे ताल्लुक़ है, इस चेतावनी की कोई ज़रूरत न थी; क्योंकि मैं ब्रिटिश मज़दूरों के जो अधिकारी नेता हैं. उनका प्रशंसक नहीं हूँ। अगर मैं उन्हें हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई का समर्थन करते या साम्राज्यवाद-विरोधी कोई ऐसा कारगर काम करते देखता जो समाजवाद की तरफ़ ले जानेवाला होता तो मुझे आश्चर्य होता।

कांग्रेस-कमिटी की बैठक में मैंने जो भाषण दिया था, लाहौर लौटकर लालाजी ने उसकी समालोचना शुरू कर दी। उन्होंने अपने साप्ताहिक अख़बार 'पीपुल' में मेरी स्पीच से उठने वाली बहुत-सी बातों के सम्बन्ध में एक लेखमाला लिखनी शुरू की। इस लेखमाला का सिर्फ़ एक ही लेख छपा था; दूसरा लेख दूसरे हफ़्ते के अंक में छपने से पहले ही उनकी मृत्यु हो गयी। उनका वह पहला अधूरा लेख, जो शायद छापने के लिए लिखा गया उनका अन्तिम लेख था, मेरे लिए एक शोकपूर्ण स्मृति छोड़ गया है।

२५
लाठी-प्रहारों का अनुभव

लाला लाजपतराय पर हमला होने और बाद में उनकी मृत्यु हो जाने से साइमन-कमीशन आगे जहाँ जहाँ गया वहाँ-वहाँ उसके ख़िलाफ़ प्रदर्शनों का ज़ोर और भी बढ़ गया। वह लखनऊ में आने वाला था, और वहाँ भी कांग्रेस-कमिटी ने उसके 'स्वागत' की भारी तैयारियाँ की थीं। कई दिन पहले से ही बड़े-बड़े जुलूस, सभाएं और प्रदर्शन किये गये, जो प्रचार के लिए और असली प्रदर्शन से पहले रिहर्सल के तौर पर थे। मैं भी लखनऊ गया और इसमें से कई कार्यों में मौजूद भी रहा। इस प्रारम्भिक प्रदर्शनों की, जो पूरी तरह से व्यवस्थित और शान्त थे, कामयाबी ने अधिकारियों को झुँझला दिया, और उन्होंने ख़ास-ख़ास जगहों में जुलूसों को रोकना और उनके निकाले जाने के ख़िलाफ़ हुक्म देना शुरू किया। इसी सिलसिले में मुझे नया अनुभव हुआ, और मेरे शरीर पर भी पुलिस के डण्डों और लाठियों की मार पड़ी।

जुलूस, आमद-रफ़्त में रुकावट पड़ने का सबब ज़ाहिर करके, बन्द किये गये थे। हमने फ़ैसला किया कि इस मामले में शिकायत का कोई मौक़ा न दिया जाय, और जहाँ तक मुझे याद है सोलह-सोलह आदमियों की छोटी-छोटी टुकड़ियाँ बनाकर उन्हें अलग-अलग रास्तों से सभा की जगह पर भेजने का इन्तज़ाम किया। क़ानून की बारीकी से देखा जाय तो बेशक यह हुक्म का तोड़ना ही था, क्योंकि झण्डा लेकर सोलह आदमियों का निकलना एक जुलूस ही था। सोलह आदमियों के एक झुण्ड के आगे-आगे मैं था, और एक बड़े फ़ासले के बाद ऐसा ही एक और दल आया, जिसके नेता मेरे साथी गोविन्दवल्लभ पन्त थे। वह सड़क सुनसान-सी थी। मेरा दल शायद दो सौ गज़ ही गया होगा, कि हमने अपने पीछे घोड़ों की टापों की आहट सुनी। जब हमने पीछे मुँह किया तो देखा कि घुड़सवारों का एक दल, जिसमें शायद दो या तीन दर्जन सिपाही थे हमारे ऊपर तेज़ी से चढ़ा चला आ रहा है। वे फ़ौरन ही हमारे पास आ पहुँचे, और घोड़ों की जुड़ी हुई क़तार ने सोलह आदमियों के हमारे छोटे-से झुण्ड को

तितर-बितर कर दिया। फिर घुड़सवारों ने हमारे स्वयंसेवकों को बड़े डण्डों से मारना शुरू किया, इससे स्वयंसेवक सहसा सड़क की बाज़ू की तरफ़ हटे और कुछ तो छोटी दूकानों में भी घुस गये। सवारों ने उनका पीछा किया, और उन्हें पीट-पीटकर गिरा दिया। जब मैंने घोड़ों को ऊपर चढ़ते हुए देखा, तब मेरी भी स्वाभाविक वृत्ति ने मुझे प्रेरित किया कि मैं बच जाऊँ। वह हिम्मत तोड़नेवाला दृश्य था। मगर फिर, मेरा ख़याल है कि किसी दूसरी स्वाभाविक वृत्ति ने मुझे अपनी जगह पर ही खड़ा रक्खा और मैं पहले हमले को बरदाश्त कर गया, जिसे मेरे पीछे के स्वयंसेवकों ने रोक लिया था। अचानक मैंने देखा कि मैं सड़क के बीच में अकेला हूँ; मुझसे कुछ ही गज़ की दूरी पर सब तरफ़ पुलिसवाले थे, जो हमारे स्वयंसेवकों को पीट गिराते थे। अपने आप ही मैं, ज़रा आड़ में हो जाने की ख़ातिर सड़क की बाज़ू की तरफ़ धीरे-धीरे चलने लगा। मगर मैं फिर रुक गया और मैंने अपने दिल में कुछ विचार किया, और यह फ़ैसला किया कि हट जाना मेरे लिए अच्छा न होगा। यह सब सिर्फ़ कुछ ही पलों में हो गया, मगर मुझे उस समय के विचार-संघर्ष और निर्णय का अच्छी तरह स्मरण है। यह निर्णय मेरी राय में मेरे उस स्वाभिमान का परिणाम था जो मुझे कायर की तरह काम करते नहीं देख सकता था। फिर भी कायरता और हिम्मत के बीच की रेखा बहुत बारीक थी, और मैं कायरता की तरफ़ भी जा सकता था। मैंने ऐसा निर्णय किया ही था कि मैंने मुड़कर देखा कि एक घुड़सवार मेरे ऊपर घोड़ा छोड़ता चला आ रहा है और अपना लम्बा डण्डा घुमा रहा है। मैंने उससे कहा—'लगाओ', और अपना सिर ज़रा हटा लिया। यह भी सिर और मुँह को बचाने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति ही थी। उसने मेरी पीठ पर धमाधम दो वार किये। मुझे चक्कर आने लगा और मेरा सारा शरीर थरथराने लगा, मगर मुझे यह जानकर आश्चर्य और सन्तोष हुआ कि मैं फिर भी खड़ा ही रहा। फ़ौरन ही पुलिस-दल पीछे हटा लिया गया, और उसे हमारे सामने सड़क रोकने को कहा गया। हमारे स्वयंसेवक फिर इकट्ठे हो गये, जिनमें से कई के ख़ून निकल रहा था और कई की खोपड़ियाँ फूट गई थीं। हमसे पन्त और उनका दल भी आ मिला। वह भी पीटा गया था। अब हम सब पुलिस के सामने बैठ गये। इस तरह लगभग एक घण्टे तक बैठे रहे और अँधेरा हो गया। एक तरफ़ तो कई बड़े-बड़े अफ़सर इकट्ठे हो गये, और दूसरी तरफ़ जैसे-जैसे ख़बर फैली वैसे-वैसे लोगों की बड़ी भीड़ इकट्ठी होने लगी। आख़िरकार अधिकारी हमें अपने रास्ते से जाने देने पर राज़ी हो गये, और उसी रास्ते से हम गये। हमारे आगे-आगे हमराह की तरह से पुलिस के घुड़सवार भी चले, जिन्होंने हमपर हमला किया था और हमें मारा था।

इस छोटी-सी घटना का हाल मैंने कुछ विस्तार से लिखा है, क्योंकि इसका मुझपर ख़ास असर हुआ। मुझे जो शारीरिक कष्ट हुआ वह मेरी इस ख़ुशी के ख़याल के आगे याद ही नहीं रहा कि मैं भी लाठी के प्रहारों को बरदाश्त करने

और उनके सामने टिके रहने के लायक़ मज़बूत हूँ। और जिस बात से मुझे ताज्जुब हुआ वह यह कि इस सारी घटना में, और जबकि मैं पीटा जा रहा था तब भी, मेरा दिमाग़ ठीक-ठीक काम करता रहा, और मैं अपने अन्दर की भावनाओं का ज्ञानपूर्वक विश्लेषण करता रहा। इस रिहर्सल ने मुझे दूसरे दिन सवेरे बड़ी मदद दी, जबकि हमारा और भी सख़्त इम्तिहान होनेवाला था। क्योंकि दूसरे दिन सवेरे ही साइमन-कमीशन आनेवाला था और उसी वक़्त हम विरोधी प्रदर्शन करनेवाले थे।

उस समय मेरे पिताजी इलाहाबाद में थे, और मुझे डर था कि जब वह दूसरे दिन सवेरे अख़बारों में मुझपर होनेवाले हमले का हाल पढ़ेंगे तो वह और परिवार के दूसरे लोग भी चिन्तित हो जावेंगे। इसलिए मैंने रात को उन्हें टेलीफ़ोन कर दिया कि सब ख़ैरियत है और आप लोग किसी क़िस्म की फ़िक्र न करें। मगर उन्हें फ़िक्र तो हुई। और जब वह शांति से न रह सके तो, आधी रात के क़रीब उन्होंने लखनऊ आना तय किया। आख़िरी ट्रेन छूट चुकी थी, इसलिए वह मोटर से रवाना हुए। रास्ते में मोटर में कुछ गड़बड़ हो गयी थी, और वह १४६ मील का सफ़र पूरा करके सवेरे क़रीब ६ बजे बिलकुल थके-माँदे लखनऊ पहुँचे।

यह क़रीब-क़रीब वह वक़्त था जबकि हम जुलूस में स्टेशन जाने की तैयारी कर रहे थे। हमारे कुछ भी करने से लखनऊ जितना उभड़ न सकता था, उतना कल की घटनाओं से उभड़ गया और सूरज उगने से भी पहले बड़ी तादाद में लोग स्टेशन पर पहुँच गये। शहर के मुख़्तलिफ़ हिस्सों से बेशुमार छोटे-छोटे जुलूस आये, और कांग्रेस-आफ़िस से बड़ा जुलूस चार-चार की क़तार में रवाना हुआ, जिसमें कई हज़ार आदमी थे। हम बड़े जुलूस में थे। ज्योंही हम स्टेशन के पास पहुँचे, हमें पुलिस ने रोक दिया। वहाँ स्टेशन के सामने क़रीब आध मील लम्बा और इतना ही चौड़ा बड़ा भारी खुला मैदान था (यहाँ अब नया स्टेशन बन गया है) और उस मैदान की एक बाज़ू पर हमें क़तार में खड़ा कर दिया गया। हमारा जुलूस वहीं खड़ा रहा, हमने आगे बढ़ने की बिलकुल कोशिश नहीं की। उस जगह सब तरफ़ पैदल और घुड़सवार पुलिस और फ़ौज आकर भर गयी थी। हमदर्दी रखनेवाले तमाशबीनों की भीड़ भी बढ़ गयी थी, और कई जगह दो-दो तीन-तीन आदमी विशाल मैदान में जा खड़े हुए थे। अचानक दूर पर हमें एक दल आता हुआ दिखायी दिया। वह घुड़सवारों की दो या तीन लम्बी क़तारें थीं, जो सारे मैदान को घेरे हुए थीं और हमारी तरफ़ दौड़ रही थीं, और मैदान में जो कुछ लोग जा खड़े हुए उन्हें मारती-कुचलती चली आ रही थीं। घोड़े को छोड़ते हुए सवारों का हमला करना एक बड़ा अच्छा दृश्य था, बशर्ते कि रास्ते में खड़े हुए बेचारे बेख़बर तमाशबीनों के साथ, जो घोड़ों के पैरों तले रौंदे गये थे, दर्दनाक वाक़या न हो जाता। इन हमला करनेवाली लाइनों के पीछे वे लोग ज़मीन पर पड़े हुए थे, जिनमें कुछ तो उठ भी नहीं सकते थे और कुछ दर्द से

कराह रहे थे। उस मैदान का सारा नज़ारा लड़ाई के मैदान का-सा हो गया था। मगर इस दृश्य को देखने या कुछ सोच-विचार करने का हमें ज़्यादा वक़्त नहीं मिला; घुड़सवार फ़ौरन हमारे ऊपर आगये और उनकी आगे की क़तार हमारे जुलूस के आगे खड़े हुए लोगों से एक ही छलांग में टकरा गयी। हम वहीं डटे रहे, और चूँकि हम हटते हुए नहीं दिखायी दिये इसलिए उन्हें उसी दम घोड़ों को रोक देना पड़ा। घोड़े पिछले पैरों पर खड़े रह गये, उनके अगले पैर हमारे सिरों पर लटकते हुए हिल रहे थे। और फिर हमपर पैदल और घुड़सवार पुलिस दोनों की लाठियाँ पड़ने लगीं। वह बहुत भयंकर मार थी, और पिछले दिन जो मेरे दिमाग़ की विचारशक्ति क़ायम रही थी वह जाती रही। मुझे सिर्फ़ इतना ही औसान रहा कि मुझे अपनी जगह पर ही खड़ा रहना चाहिए, और गिरना या पीछे हटना नहीं चाहिए। मार से मुझे अँधेरी आ गयी और कभी-कभी मन-ही-मन ग़ुस्सा और उलटकर मारने का ख़याल भी आया। मैंने सोचा कि अपने सामने के पुलिस-अफ़सर को गिराकर घोड़े पर ख़ुद चढ़ जाऊँ। यह कितना आसान है। मगर लम्बे अर्से की तालीम और अनुशासन ने काम दिया, और मैंने अपने सिर को मार से बचाने के सिवा हाथ तक नहीं उठाया। इसके अलावा मैं अच्छी तरह जानता था कि अगर हमारी तरफ़ से कुछ भी मुक़ाबला हुआ तो एक भीषण दुर्घटना हो जायगी, जिसमें हमारे आदमी बड़ी तादाद में गोलियों से भून दिये जायँगे।

हमें वह समय भयंकर रूप से लम्बा मालूम पड़ा, मगर शायद वह सिर्फ़ कुछ ही मिनटों का खेल था। उसके बाद धीरे-धीरे एक-एक क़दम हमारी लाइन, टूटे बग़ैर पीछे हटने लगी। इससे मैं कुछ-कुछ अलग और दोनों तरफ़ से ज़्यादा खुला हुआ रह गया। मुझपर और मार पड़ी और फिर मैं अचानक पीछे से उठा लिया गया और वहाँ से दूर ले जाया गया। इससे मुझे बड़ी झुँझलाहट हुई। मेरे कुछ नौजवान साथियों ने, यह क़यास करके कि मुझपर घातक हमला किया जा रहा है, मुझे इस तरह एकाएक बचा लेना तय कर लिया था।

हमारे जुलूस के लोग अपनी असली लाइन से क़रीब सौ फ़ीट पीछे फिर एक क़तार बनाकर खड़े हो गये। पुलिस भी पीछे हट गयी और हमसे पचास फ़ीट के फ़ासले पर एक लाइन में खड़ी हो गयी। इस तरह हम खड़े रहे, और साइमन-कमीशन, जो इस सारे झगड़े की जड़ था, हमसे बहुत दूर क़रीब आध मील की दूरी पर स्टेशन से चुपचाप निकल गया। इतना करने पर भी वह काले झंडों या प्रदर्शन करनेवालों से बचकर न निकल सका। इसके बाद ही हम पूरा जुलूस बनाकर कांग्रेस-दफ़्तर आये और वहाँ से बिखर कर चले गये। मैं अपने पिताजी के पास गया, जो बड़ी चिन्ता से मेरा इन्तज़ार कर रहे थे।

अब जब सामयिक उत्तेजना चली गयी थी तो मुझे सारे शरीर में दर्द और भारी थकान मालूम होने लगी। शरीर का क़रीब-क़रीब हर हिस्सा दर्द करता

था, और सब जगह अन्धी चोटों और मार के निशान हो गये थे। मगर ख़ैर थी कि मुझे किसी नाज़ुक जगह पर चोट नहीं आयी थी। परन्तु हमारे कई साथी इतने ख़ुशक़िस्मत न थे। उन्हें बुरी तरह चोट आयी थी। गोविन्दवल्लभ पन्त पर, जो मेरे पास खड़े थे, ज़्यादा मार पड़ी, क्योंकि वह छः फ़ीट से भी ज़्यादा ऊँचे-पूरे थे। उस वक़्त जो चोटें उनके आयीं उनके सबब से बहुत अर्से तक उन्हें इतना दर्द और तकलीफ़ रही कि वह कमर भी सीधी नहीं कर सकते थे और न कुछ ज़्यादा काम-काज ही कर सकते थे। उसके बाद मुझे अपनी शारीरिक हालत और बरदाश्त करने की ताक़त का कुछ ज़्यादा घमण्ड हो गया। मगर मार पड़ने की याद से ज़्यादा तो मुझे कई मारनेवाले पुलिसवालों, ख़ासकर अफ़सरों के चेहरों की याद बनी हुई है। ज़्यादातर असली मार-पीट तो यूरोपियन सारजेण्टों ने की, हिन्दुस्तानी सिपाही तो हलके-हलके ही काम चला रहे थे। उन सारजेण्टों के चेहरों में हिक़ारत और ख़ून की प्यास क़रीब-क़रीब पागलपन की हद तक भरी हुई थी, और हमदर्दी या इन्सानियत का नामोनिशान भी न था। ठीक उसी वक़्त, शायद, हमारी तरफ़ के चेहरे भी देखने में उतने ही नफ़रत भरे होंगे, और हमारे ज़्यादातर अहिंसात्मक होने से, हमारे विरोधियों के लिए हमारे दिल और दिमाग़ में कोई प्रेम-भाव नहीं रह गया होगा, और न हमारे चेहरों पर सद्भाव झलका होगा। लेकिन फिर भी एक-दूसरे के ख़िलाफ़ हमें कोई शिकायत न थी; हमारा कोई ज़ाती झगड़ा न था, न कोई दुर्भाव था। उस वक़्त हम अजीब और ज़बरदस्त ताक़तों के प्रतिनिधि थे, जो हमें अपने अधीन बनाये हुए थीं और हमें इधर और उधर फेंकती जाती थीं और जिन्होंने हमारे दिलों और दिमाग़ों पर बड़ी ख़ूबी से क़ब्ज़ा करके हमारी अभिलाषाओं और राग-द्वेषों को उभाड़ दिया था और हमें अपना अन्धा हथियार बना लिया था। हम अन्धे की तरह दौड़-धूप करते थे, और यह नहीं जानते थे कि यह किसलिए करते हैं या कहाँ चले जा रहे हैं? काम की उत्तेजना ने हमें टिकाये रक्खा था, मगर जब वह चली गयी तो फ़ौरन यह सवाल पैदा हुआ कि आख़िर यह सब किसलिए किया जा रहा है? किस लक्ष्य के लिए?

२६

ट्रेड यूनियन कांग्रेस

उस साल देश की राजनीति में ज़्यादातर साइमन-कमीशन के बायकाट और सर्वदल-सम्मेलन का ही बोलबाला रहा। लेकिन मेरी अपनी दिलचस्पी ज़्यादातर दूसरी तरफ़ रही और मैंने काम भी ज़्यादातर उन्हीं दिशाओं में किया। कांग्रेस के कार्यवाहक प्रधान-मन्त्री की हैसियत से मैं उसके संगठन की देखभाल करने और उसे मज़बूत बनाने में लगा रहा। ख़ासतौर पर मेरी दिलचस्पी इस बात

में थी कि मैं लोगों का ध्यान सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों की तरफ़ खींचूँ। पूर्ण स्वाधीनता के सिलसिले में मदरास में हम जिस हद तक पहुँच गये थे उस स्थिति को भी मज़बूत रखना था। ख़ासतौर पर इसलिए कि सर्व-दल-सम्मेलन का तमाम झुकाव हम लोगों को पीछे खींचने की तरफ़ था। इस उद्देश्य को सामने रखकर मैंने देश में बहुत सफ़र किया और कई बड़ी-बड़ी आम सभाओं में व्याख्यान दिये। मेरा ख़याल है कि १९२८ में मैं चार सूबों की राजनैतिक कान्फ्रेंसों का सभापति बना। ये सूबे थे दक्षिण में मलबार और उत्तर में पंजाब, दिल्ली और संयुक्तप्रान्त। इसके अलावा बम्बई और बंगाल में मैं युवक-संघों और विद्यार्थियों की कान्फ्रेंसों का सभापति बना। समय-समय पर मैं संयुक्तप्रान्त के देहात में भी गया और कभी-कभी कारख़ानों के मज़दूरों की सभाओं में भी मैंने व्याख्यान दिये। मेरे व्याख्यानों में सार तो हमेशा ज़्यादतर एक ही रहता था, यद्यपि उसका रूप स्थानीय अवस्थाओं के अनुसार बदल जाता था, और जिन बातों पर मैं ज़ोर देता था वे उसी तरह की होती थीं जिस क़िस्म के लोग सभाओं में आते थे। हर जगह मैंने राजनैतिक आज़ादी और सामाजिक स्वाधीनता पर ज़ोर दिया और यह कहा कि राजनैतिक आज़ादी सामाजिक स्वाधीनता की सीढ़ी है। यानी, आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त करने के लिये यह ज़रूरी है कि पहले राजनैतिक आज़ादी हो। ख़ासतौर से कांग्रेस के कार्यकर्त्ताओं और पढ़े-लिखे लोगों में मैं समाजवाद की विचार-धारा फैलाना चाहता था, क्योंकि ये लोग ही राष्ट्रीय आन्दोलन की असली रीढ़ थे और ये ही ज़्यादातर निहायत संकुचित राष्ट्रीयता की बात सोचा करते थे। इनके व्याख्यानों पर प्राचीन काल के गौरव पर बहुत ज़ोर दिया जाता था, और इस बात पर भी कि विदेशी सरकार ने हमें क्या-क्या भौतिक और आध्यात्मिक हानियाँ पहुँचाई हैं। हम लोगों को घोर कष्ट सहने पड़ रहे हैं, हमारे ऊपर दूसरों का राज्य रहना बड़ी बेइज़्ज़ती की बात है; इसलिए हमारी क़ौमी इज़्ज़त का तक़ाज़ा है कि हम आज़ाद हों और हमारे लिये आवश्यक है कि हम लोग मातृ-भूमि की वेदी पर अपनी बलि चढ़ावें। ये बातें सुपरिचित थीं। हर हिन्दुस्तानी के दिल में उनकी आवाज़ गूँज उठती थी। मेरे मन में भी राष्ट्रीयता का यह भाव भड़क उठता था और मैं उससे गद्गद् हो जाता था—यद्यपि मैं हिन्दुस्तान के ही नहीं, कहीं के भी पुराने ज़माने का अन्ध प्रशंसक कभी नहीं रहा। लेकिन यद्यपि उसमें सचाई ज़रूर थी, फिर भी बार-बार इस्तेमाल में आने की वजह से वे बासी और लचर होती जाती थीं और उनको लगातार बार-बार दुहराते रहने का नतीजा यह होता था कि हम अपनी लड़ाई के सब से ज़्यादा ज़रूरी पहलुओं तथा दूसरे मसलों पर ग़ौर नहीं कर पाते थे। इन बातों से जोश ज़रूर आता था, लेकिन इनसे विचारों को प्रोत्साहन नहीं मिलता था।

हिन्दुस्तान में मैं समाजवाद के मैदान में सबसे पहले नहीं आया, बल्कि सच बात तो यह है कि मैं कुछ पिछड़ा हुआ रहा। जहाँ बहुत-से लोग सितारे की तरह

चमकते आगे बढ़ गये, वहाँ मैं तो बहुत-कुछ मुश्किलों के साथ क़दम-क़दम आगे बढ़ा
विचार-धारा की दृष्टि से मज़दूरों का ट्रेड यूनियन-आन्दोलन निश्चित रूप
समाजवादी था और ज़्यादातर युवक-संघों की भी यही बात थी। जब मैं दिसम्बर
१९२७ में यूरप से लौटा तब एक क़िस्म का अस्पष्ट और गोल-मोल समाजवा
हिन्दुस्तान की आबोहवा का एक हिस्सा बन चुका था और व्यक्तिगत समाजवाद
तो उससे भी पहले हिन्दुस्तान में बहुत-से थे। ये लोग ज़्यादातर सपने देखनेवा
थे। लेकिन धीरे-धीरे उनपर मार्क्स[1] के सिद्धान्तों का असर बढ़ता जाता थ
और उनमें से कुछ तो अपने को सौ फ़ीसदी मार्क्सवादी समझते थे। यूरप औ
अमेरिका की तरह हिन्दुस्तान में भी, सोवियट यूनियन में जो कुछ हो रहा थ
उससे और ख़ासकर पंचवर्षीय योजना से, इस प्रवृत्ति को बहुत बल मिला।

एक समाजवादी कार्यकर्ता की हैसियत से मेरा महत्त्व सिर्फ़ इस बात में थ
कि मैं एक मशहूर कांग्रेसी था और कांग्रेस के बड़े ओहदों पर था। मेरे अला
और भी बहुत-से कांग्रेसी थे जो मेरी ही तरह सोचने लग गये थे। यह प्रवृ
सबसे ज़्यादा युक्तप्रान्त की प्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी में पायी जाती थी, जिस
हमने १९२६ में ही एक नरम समाजवादी कार्यक्रम बनाने की कोशिश की थी
हमारे सूबे में ज़मींदारी और ताल्लुक़ेदारी प्रथा है इसलिए सबसे पहले हमें जि
सवाल का सामना करना पड़ा वह था ज़मीन का सवाल। हम लोगों ने ऐला
किया कि मौजूदा ज़मींदारी-प्रथा रद्द होनी चाहिए और सरकार और काश्तका
के बीच में किसी दूसरे की कोई ज़रूरत नहीं है। हम लोगों को फूँक-फूँकक
क़दम रखना पड़ा; क्योंकि हमें एक ऐसी आबोहवा में काम करना था जो उ
वक़्त तक इस तरह के ख़यालात की आदी नहीं थी।

इसके बाद, १९२९ में, युक्तप्रान्त की प्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी एक क़द
और आगे बढ़ गयी और उसने निश्चित रूप से समाजवाद के ढंग पर अ० भा
कांग्रेस-कमिटी से एक सिफारिश की, जिसके फलस्वरूप जब १९२९ की गर्मिय

---

[1] जीव-दया और मानव-दया की दृष्टि से समाज-व्यवस्था को सुधार की इच्छा रखनेवाले तो प्रत्येक युग में होते हैं। मार्क्स के पहले भी थे। वे य कहते थे कि ग़रीबों पर दया करना अमीरों का कर्तव्य है। क्योंकि उन्हें ईश्व ने धन दौलत दी है। लेकिन मार्क्स ने बताया कि गरीबों की ग़रीबी में ही क्रान्ति के बीज हैं; इनकी ग़रीबी पूँजीवाद और मुट्ठीभर लोगों के धन को अन्यायी सि करती है। उनकी ग़रीबी ईश्वर की दी हुई नहीं है, बल्कि एक निश्चित साम जिक परिस्थिति का परिणाम है। इस परिस्थिति में क्रान्ति भी की जा सकत है, जब कि ग़रीब वर्ग बलवा कर दे। पुराने समाज-सुधारक आदर्शवादी समाज-सुधारक कहे जाते हैं; मार्क्स और उनके अनुयायी वैज्ञानिक समाजवादी कहला हैं। —अनुवादक

में बम्बई में अ० भा० कांग्रेस-कमिटी की बैठक हुई तब उसमें युक्तप्रान्त के प्रस्ताव की भूमिका स्वीकार कर ली गयी और इस तरह उस प्रस्ताव में समाजवाद का जो सिद्धान्त मौजूद था वह भी स्वीकार कर लिया गया। युक्तप्रान्त के प्रस्ताव में जो विस्तृत कार्यक्रम दिया गया था उसपर विचार करने की बात अगली बैठक के लिए स्थगित कर दी गयी। ऐसा मालूम पड़ता है कि ज़्यादातर लोग अ०भा० कांग्रेस-कमिटी और संयुक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी के इन प्रस्तावों को बिलकुल भूल ही गये और वे यह समझ बैठे हैं कि पिछले एक-दो सालों से ही साम्यवाद की चर्चा कांग्रेस में एकाएक उठ खड़ी हुई है। फिर भी इतना तो सही ही है कि अ० भा० कांग्रेस-कमिटी ने उस प्रस्ताव पर अच्छी तरह विचार किये बिना ही उसे पास कर दिया था और ज़्यादातर मेम्बर शायद यह महसूस नहीं कर पाये कि वे क्या कर रहे हैं।

'इण्डिपेण्डेंस फ़ॉर इण्डिया लीग' (भारत-स्वतन्त्रता-संघ) की संयुक्तप्रान्त-वाली शाखा में सूबे के ख़ास-ख़ास कांग्रेसियों के अलावा और कोई न था और यह शाखा निश्चित रूप से समाजवाद को माननेवाली थी, इसलिए वह साम्यवाद की तरफ़ और कांग्रेस-कमिटी से, जिसमें सब तरह के लोग थे, कुछ आगे चली गयी। बल्कि सच बात तो यह है कि 'स्वाधीनता-संघ' का एक ध्येय यह भी था कि सामाजिक स्वाधीनता होनी चाहिए। हम लोग हिन्दुस्तान-भर में संघ को मज़बूत बनाकर यह चाहते थे कि आज़ादी और समाजवाद का प्रचार करने में उस संगठन से काम लिया जाय। किन्तु दुर्भाग्य से कुछ हद तक संयुक्तप्रान्त को छोड़कर और कहीं संघ का काम ठीक तौर से नहीं चला और इससे मुझे बहुत निराशा हुई। इसका सबब यह नहीं था कि देश में हमारे मददगारों की कमी थी, बल्कि बात यह थी कि हमारे ज़्यादातर कार्यकर्ता कांग्रेस में भी प्रमुख कार्य करनेवाले थे और चूँकि कांग्रेस ने, कम-से-कम सिद्धान्ततः तो, आज़ादी को, अपना ध्येय बना लिया था इसलिए वे अपना काम कांग्रेस के संगठन के ज़रिये कर सकते थे। दूसरा सबब यह था कि जिन लोगों ने शुरू-शुरू में 'स्वतन्त्रता-संघ' क़ायम किया उनमें से कुछ ने गम्भीरतापूर्वक यह नहीं सोचा कि संस्था के रूप में हमें इस संघ को मज़बूत बनाना है; वे तो यह समझते थे कि यह संस्था तो महज़ इसलिए है कि कांग्रेस कार्य-समिति पर इसका दबाव पड़ता रहे और कार्य-समिति के चुनाव पर असर डालने के लिए भी इसका इस्तेमाल किया जाय। इसलिए 'स्वतन्त्रता संघ' मुरझा गया और ज्यों-ज्यों कांग्रेस ज़्यादा लड़ाकू होती गयी त्यों-त्यों उसने तमाम गतिशील तत्त्वों को अपनी ओर खींच लिया और संघ कमज़ोर होता गया। १९३० में जब सत्याग्रह की लड़ाई आयी तब यह संघ कांग्रेस में मिलकर ग़ायब हो गया।

१९२८ के पिछले छः महीनों में और १९२९ भर मेरी गिरफ़्तारी की चर्चा अक्सर होती रहती थी। मुझे पता नहीं कि इस सिलसिले में अख़बारों में जो

कुछ छपता था उसके पीछे, और जानकार दोस्तों से मुझे जो खानगी चेतावनियाँ मिला करती थीं उनके पीछे, असलियत क्या थी। लेकिन इन चेतावनियों ने मेरे दिल में एक क़िस्म की अनिश्चितता पैदा कर दी, और मैं यह महसूस करने लगा कि मैं किसी भी वक़्त गिरफ़्तार किया जा सकता हूँ। मुझे ख़ासतौर पर कोई दूसरी चिन्ता न थी; क्योंकि मैं यह जानता था कि भविष्य में मेरे लिए चाहे कुछ हो, लेकिन मेरी ज़िन्दगी रोज़मर्रा के कामों की निश्चित ज़िन्दगी नहीं हो सकती। इसलिए मैं सोचता था कि मैं अनिश्चितता का और एकाएक होनेवाले हेर-फेरों का तथा जेल जाने का जितनी जल्दी आदी हो जाऊँ उतना ही अच्छा है। और मेरा ख़याल है कि कुल मिलाकर मैं इस ख़याल का आदी होने में सफल हुआ। मेरे घरवालों ने भी इस ख़याल के आदी होने में सफलता पायी, हालाँकि जितनी सफलता मुझे मिली उन्हें उससे बहुत कम मिली। इसलिए जब-जब मैं गिरफ़्तार हुआ, तब-तब मुझे उसमें कोई ख़ास बात मालूम नहीं हुई। हाँ, अगर मैं एकाएक गिरफ़्तार होने के ख़याल का आदी न हो जाता तो ऐसा न होता। इस तरह गिरफ़्तारी की ख़बरों में नुक़सान-ही-नुक़सान न था, फ़ायदा भी था। उन्होंने मेरी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में कुछ उल्लास और एक लज़्ज़त पैदा कर दी। आज़ादी का हरेक दिन बेशक़ीमती मालूम होने लगा, मानो वह एक दिन मुनाफ़े में मिला हो। सच बात तो यह है कि १९२८ और १९२९ में मैं जी भरकर काम करता रहा और अख़ीर में मेरी गिरफ़्तारी १९३० के अप्रैल में जाकर हुई। उसके बाद जेल से बाहर जो थोड़े-से दिन मैंने कई बार बिताये उनमें अवास्तविकता की काफ़ी मात्रा थी। मुझे ऐसा मालूम पड़ता था कि मैं अपने ही घर में एक अजनबी हूँ, जो थोड़े दिनों के लिए वहाँ आया हूँ। इसके अलावा मेरे हर काम में अनिश्चितता रहने लगी, क्योंकि कोई यह नहीं कह सकता था कि मेरे लिए कल क्या होनेवाला है? यह आशंका तो हर वक़्त बनी ही रहती थी कि न जाने जेल में वापस जाने का बुलावा कब आ जाय?

ज्यों-ज्यों १९२८ का अख़ीर आता गया, त्यों-त्यों कलकत्ता-कांग्रेस नज़दीक आती गयी। उसके सभापति मेरे पिताजी चुने गये थे। उनका दिल और दिमाग़ उस वक़्त सर्व-दल-सम्मेलन तथा उसके लिए उन्होंने जो रिपोर्ट तैयार की थी उससे सराबोर था। वह चाहते थे कि उसे कांग्रेस से पास करा लिया जाय। वह यह जानते थे कि मैं उनकी इस बात से सहमत न था; क्योंकि मैं आज़ादी के प्रश्न पर कोई समझौता करने को राज़ी न था। इस बात से वह नाराज़ भी थे। इसलिए इस पर हम लोगों ने बहुत बहस नहीं की। लेकिन हम दोनों के मन में मानसिक संघर्ष का भाव निश्चित रूप से काम कर रहा था और हम लोग यह जानते थे कि हम एक-दूसरे के ख़िलाफ़ जा रहे हैं। मतभेद तो हम लोगों में इससे भी पहले अक्सर हुआ करता था, ऐसा भारी मतभेद कि जिसके फल-स्वरूप हम अलग-अलग पक्षों में रहते थे, लेकिन मेरा ख़याल है कि इससे पहले या इसके बाद भी और

किसी भी मौक़े पर हम लोगों में इतनी तनातनी नहीं हुई जितनी कि इस वक़्त थी।

हम दोनों ही इस बात से कुछ हद तक दुखी थे। कलकत्ते में तो मामला इस हद तक बढ़ गया था कि पिताजी ने यह बात साफ़-साफ़ कह दी कि अगर कांग्रेस में उनकी बात नहीं चली, यानी अगर कांग्रेस ने, सर्व-दल-सम्मेलन की रिपोर्ट के पक्ष में जो प्रस्ताव पेश किया जायगा उसे बहुमत से मंज़ूर नहीं किया, तो वह कांग्रेस का सभापति रहने से इन्कार कर देंगे। यह बात बिलकुल वाजिब थी और विधान की दृष्टि से उन्हें यह तरीक़ा अख़्तियार करने का पूरा हक़ था। फिर भी उनके बहुत-से उन विरोधियों के लिए, जो यह नहीं चाहते थे कि इस बात के लिए मामला इस हद तक बढ़ जाय, वह बहुत ही परेशानी की बात थी। मेरा ख़याल है कि कांग्रेस में और दूसरी संस्थाओं में भी अक्सर यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि लोग नुक्ताचीनी और बुराई तो करते हैं, लेकिन ख़ुद ज़िम्मेदारी लेने से जी चुराते हैं। हमें हमेशा यह उम्मीद बनी रहती है कि हमारी नुक्ताचीनी की वजह से दूसरी पार्टी हमारे मुआफ़िक़ अपनी नीति बदल देगी और नाव को खेने की ज़िम्मेदारी हमारे सिर नहीं पड़ेगी। जहाँ ज़िम्मेदारी हम लोगों को सौंपी ही नहीं जाती और जहाँ कार्यकारिणी को न तो हम हटा ही सकते हैं न उनसे जवाब ही तलब कर सकते हैं, जैसा कि आजकल हिन्दुस्तान की सरकार के मामले में है, वहाँ बिलाशक, सीधे हमले को छोड़कर, हमारे पास नुक्ताचीनी करने के सिवा कोई मार्ग नहीं—और वह नुक्ताचीनी ज़रूर खण्डनात्मक होगी—फिर भी अगर हम इस खण्डनात्मक आलोचना को कारगर बनाना चाहते हैं तो उसके पीछे हमारे मन में यह इरादा होना चाहिए, हमें इस बात के लिए तैयार रहना चाहिए, कि जब-कभी हमें मौक़ा मिलेगा तब सब इन्तज़ाम और ज़िम्मेदारी हम अपने हाथ में ले लेंगे—फिर चाहे वे महकमे मुल्की हों या फ़ौजी, भीतरी हों या बाहरी। महज़ थोड़े-से अख़्तियार माँगना, जैसा कि लिबरल लोग फ़ौज के मामले में करते हैं, इस बात को स्वीकार करना है कि हम सरकार का काम नहीं चला सकते। इस स्वीकृति से हमारी नुक्ताचीनी का वज़न घट जाता है।

गांधीजी के आलोचकों में यह बात अक्सर पाई जाती है कि वे उनकी नुक्ता-चीनी करते हैं, बुराई करते हैं, लेकिन जब उनसे उनके फलस्वरूप यह कहा जाता है कि फिर लीजिए इस काम को आप ही चलाइए, तब उनके पैर उखड़ जाते हैं। कांग्रेस में ऐसे बहुत-से शख़्स रहे हैं जो उनके बहुत-से कामों को नापसन्द करते हैं और इसलिए बड़े ज़ोरों के साथ उनकी नुक्ताचीनी करते हैं, लेकिन वे इस बात के लिए तैयार नहीं हैं कि उन्हें कांग्रेस से निकाल दें। यह रुख़ समझ में तो आसानी से आ जाता है, लेकिन यह किसी भी पक्ष के साथ इन्साफ़ नहीं करता।

कलकत्ता-कांग्रेस में भी कुछ-कुछ इसी क़िस्म की मुश्किल पैदा हुई। दोनों दलों में समझौते की बातचीत चली और यह ज़ाहिर किया गया कि समझौते का एक रास्ता निकल आया है, लेकिन आख़ीर में वह गिर गया। ये सब बातें बड़े

गोलमाल में डालनेवाली थीं और इनमें शोभा भी नहीं थी। कांग्रेस के ख़ास प्रस्ताव में, जैसा कि वह आख़ीर में पास हुआ, सर्वदल-सम्मेलन की रिपोर्ट को मंज़ूर कर लिया गया; लेकिन उसमें ब्रिटिश सरकार से भी यह कह दिया गया कि अगर उसने एक साल के अन्दर इस विधान को मंज़ूर नहीं किया तो कांग्रेस फिर अपने आज़ादी के ध्येय को ग्रहण कर लेगी। असल में इस प्रस्ताव ने सरकार को एक नम्र चुनौती देकर उसे साल-भर की मियाद दी थी। इसमें कोई शक नहीं कि यह प्रस्ताव हमें आज़ादी के ध्येय से नीचे घसीट लाया था, क्योंकि सर्वदल-सम्मेलन की रिपोर्ट ने तो पूरे डोमिनियन स्टेटस की भी माँग नहीं की थी। फिर भी यह प्रस्ताव इस अर्थ में बुद्धिमत्तापूर्ण था कि उसने एक ऐसे वक़्त में कांग्रेस में फूट नहीं होने दी जब कि कोई भी फूट के लिए तैयार न था और उसने, १९३० में जो लड़ाई शुरू हुई उसके लिए, सब कांग्रेसियों को एक साथ रक्खा। यह बात तो बिलकुल साफ़ थी कि ब्रिटिश सरकार सालभर के अन्दर सब दलों द्वारा बनाये गये विधान को मंज़ूर नहीं करेगी। सरकार से लड़ाई होना लाज़िमी था, और उस वक़्त देश की जैसी हालत थी उसमें सरकार से किसी क़िस्म की लड़ाई उस वक़्त तक कारगर नहीं हो सकती थी, जब तक उसे गांधीजी का नेतृत्व न मिले।

मैंने कांग्रेस के खुले जलसे में इस प्रस्ताव का विरोध किया था। यद्यपि यह मुख़ालफ़त मैंने कुछ-कुछ बेमन से की थी; तो भी इस बार भी मुझे प्रधान-मन्त्री चुना गया। कुछ भी हो मैं मन्त्री-पद पर बना रहा और कांग्रेस के क्षेत्र में ऐसा मालूम पड़ता था कि मैं वही काम कर रहा हूँ जो प्रसिद्ध 'विकार आफ़ ब्रे'[1] करता था। कांग्रेस की गद्दी पर कोई भी सभापति बैठे, मैं हमेशा उस संगठन को सम्हालने के लिए उसका मन्त्री बनाया जाता था।

झरिया कोयले की खानों के क्षेत्र के बीचों-बीच है। कलकत्ता-कांग्रेस से कुछ दिन पहले यहीं हिन्दुस्तान-भर की ट्रेड यूनियन कांग्रेस हुई। उसके पहले दो दिन मैंने उसमें उपस्थित रहकर उसकी कार्रवाई में भाग लिया और उसके बाद मुझे

---

[1] अपनी ही दिल्लगी उड़ाकर आनन्दित होने की पंडितजी की क्षमता का यह नमूना है। 'विकार आफ़ ब्रे' सोलहवीं सदी का एक ऐतिहासिक पात्र है। ब्रे के 'विकार' का अपना पद क़ायम रहे इस शर्त पर चाहे जैसे विचार बनाने और रखनेवाले इस मज़ेदार 'विकार' के सम्बन्ध में अंग्रेज़ी भाषा में एक प्रशस्ति लिखी गयी है। आठवें हेनरी, छठे एडवर्ड, मेरी और एलिज़ाबेथ इन चारों के राजत्व-काल में यह 'विकार' रहा था। लेकिन तीन बार इसने अपने विचार बदले, दो बार यह रोमन कैथोलिक बना, दो बार प्रोटेस्टैण्ट हुआ। विकार को तो किसी भी दशा में अपना पद छोड़ना नहीं था; हलुवा खाने के लिए वह श्रावक बनने को सदा तैयार था। पंडितजी को मन्त्री-पद की ज़रूरत न थी, परन्तु अध्यक्ष, नीति और परिस्थिति के बदलते हुए भी उन्हें नहीं छोड़ता था। —अनु०

कलकत्ते चला आना पड़ा। मेरे लिए ट्रेड यूनियन कांग्रेस में शामिल होने का यह पहला ही मौक़ा था और मैं दरअसल एक नया आदमी था, यद्यपि किसानों में मैंने जो काम किया था और हाल ही में मज़दूरों में जो काम मैंने किये थे उनकी वजह से मैं जनता में काफ़ी लोक-प्रिय हो गया था। वहाँ जाकर मैंने देखा कि सुधार-वादियों में और उनसे आगे बढ़े हुए तथा क्रान्तिकारी लोगों में पुरानी कशमकश जारी है। बहस की ख़ास बातें ये थीं कि किसी इन्टरनेशनल से तथा साम्राज्य-विरोधी-संघ से और अखिल-विश्व-शान्ति संघ से अपना सम्बन्ध जोड़ा जाय या न जोड़ा जाय और जिनेवा में अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर आफ़िस की जो कान्फ्रेंस होने जा रही है उसमें अपने प्रतिनिधि भेजना मुनासिब होगा या नहीं? इन सवालों से भी कहीं ज़्यादा ज़रूरी यह बात थी कि कांग्रेस के दोनों हिस्सों के दृष्टि-कोण में बहुत भारी फ़र्क़ था। एक हिस्सा तो मज़दूर-संघ के पुराने लोगों का था, जो राजनीति में माडरेट था और सचमुच इस बात को शक की निगाह से देखता था कि उद्योग-धन्धों के मज़दूरों और मिल-मालिकों के झगड़ों में राजनीति को मिलाया जाय। उनका विश्वास था कि मज़दूरों को अपनी शिकायतें दूर कराने से आगे नहीं जाना चाहिए और उसके लिए भी उन्हें फूँक-फूँककर क़दम रखना चाहिए। इन लोगों का उद्देश्य यह था कि धीरे-धीरे मज़दूरों की हालत को सुधारा जाय। इस दल के नेता थे एन० एम० जोशी, जोकि जिनेवा में अक्सर हिन्दुस्तान के मज़दूरों के प्रतिनिधि बनाकर भेजे जा चुके थे। दूसरा दल इनसे कहीं ज़्यादा लड़ाकू था। राजनैतिक लड़ाई में उसका विश्वास था और वह खुल्लमखुल्ला अपने क्रान्तिकारी दृष्टिकोण का ऐलान करता था। कुछ कम्यूनिस्टों का या कम्यूनिस्टों से मिलते-जुलते लोगों का इस दल पर असर था। हाँ, यह दल उनके नियन्त्रण में नहीं था। बम्बई में कपड़ों के कारख़ानों के मज़दूर इस दल के हाथ में थे। और उनके नेतृत्व में बम्बई के कपड़ों के कारख़ानों में मज़दूरों की एक बहुत बड़ी हड़ताल हुई थी, जो कुछ हद तक कामयाब भी हुई थी। बम्बई में 'गिरनी कामगार यूनियन' नाम की एक नयी और ज़बरदस्त यूनियन क़ायम हुई थी जिसका बम्बई के मज़दूरों पर असर था। आगे बढ़े हुए दल के प्रभाव में एक और ताक़तवर संघ जी० आई० पी० रेलवे के मज़दूरों का था।

जब से ट्रेड यूनियन कांग्रेस क़ायम हुई है तभी से उसकी कार्यकारिणी और उसका दफ़्तर एन० एम० जोशी और उनके नज़दीकी साथियों के हाथ में रहा है और मज़दूर-संघों का आन्दोलन चलाने का श्रेय उन्हींको है। यद्यपि उग्र दल का मज़दूर जनता पर ज़्यादा ज़ोर है, पर ऊपर से दल की नीति पर असर डालने का उन्हें कोई मौक़ा नहीं मिला। यह हालत सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती और न उससे सच्चे हालात का पता ही चल सकता है। इनमें आपस में बड़ा असन्तोष और झगड़ा था और उग्र दल के लोग चाहते थे कि वे ट्रेडयूनियन कांग्रेस को अपने अधिकार में कर लें। इसके साथ-ही-साथ मामलों को बहुत ज़्यादा बढ़ाने

की अनिच्छा भी थी, क्योंकि लोगों को फूट हो जाने का डर था। ट्रेड यूनियन-आन्दोलन हिन्दुस्तान में अभी अपनी जवानी की तरफ़ बढ़ रहा था। वह कमज़ोर था और जो लोग उसे चला रहे थे उनमें से ज़्यादातर खुद मज़दूर नहीं थे। ऐसी हालतों में हमेशा बाहरवालों में यह प्रवृत्ति होती है कि मज़दूरों को इस्तेमाल करके अपना मतलब गाँठें। हिन्दुस्तान की ट्रेड यूनियन कांग्रेस में और मज़दूर-संघों में यह प्रवृत्ति साफ़-साफ़ दिखायी देती थी। फिर भी, सालों काम करके एन० एम० जोशी ने यह साबित कर दिया था कि वह मज़दूर-संघों के सच्चे और उत्साही हितैषी हैं और जो लोग राजनैतिक दृष्टि से उन्हें नरम और फिसड्डी समझते थे वे भी यह मानते थे कि हिन्दुस्तान के मज़दूरों के आन्दोलन में उन्होंने जो सेवाएं की हैं वे क़द्र के लायक़ हैं। नरम या आगे बढ़े हुए दोनों दलों में से बहुत ही कम आदमियों के लिए यह बात कही जा सकती थी।

झरिया में मेरी अपनी हमदर्दी आगे बढ़े हुए दल के साथ थी। लेकिन मैं नया-नया ही वहाँ पहुँचा था, इसलिए ट्रेड यूनियन कांग्रेस की इस घरेलू लड़ाई में मेरा दिमाग़ चकराता था, अतएव मैंने यही तय किया कि मैं इन झगड़ों से अलग रहूँ। मेरे झरिया से चले आने के बाद ट्रेड यूनियन कांग्रेस के पदाधिकारियों का सालाना चुनाव हुआ और कलकत्ते में मुझे यह मालूम हुआ कि अगले साल के लिए मैं उसका सभापति चुना गया हूँ। मेरा नाम नरम दलवालों ने पेश किया था, ग़ालिबन इसलिए कि जिस दूसरे उम्मीदवार का नाम उग्र दल ने पेश किया था उसको हराने का सबसे ज़्यादा मौक़ा मेरा नाम पेश करने में ही था। इन महाशय ने रेलों के कर्मचारियों में वास्तविक काम किया था, इसलिए अगर मैं चुनाव के दिन झरिया में मौजूद होता तो मुझे विश्वास है कि मैं उन कार्यकर्ता उम्मीदवार के मुक़ाबले में अपना नाम वापस ले लेता। मुझे यह बात ख़ासतौर पर बेजा मालूम होती थी कि एक ऐसे शख़्स को जिसने कुछ काम नहीं किया और नया-नया ही आया एकाएक सभापति की गद्दी पर डाल दिया जाय। यह बात ख़ुद ही इस बात की सबूत थी कि हिन्दुस्तान में मज़दूर-संघ का आन्दोलन अभी अपने बचपन में है और कमज़ोर है।

१९२८ के साल में मज़दूरों के झगड़ों और हड़तालों की भरमार रही। १९२९ में भी यही हाल रहा। बम्बई के कपड़ों के कारख़ानों के मज़दूर बहुत दुःखी और लड़ाकू थे। उन्होंने इन हड़तालों का नेतृत्व किया। बंगाल के सन के कारख़ानों में भी एक बहुत बड़ी हड़ताल हुई। जमशेदपुर के लोहे के कारख़ानों में, और मेरा ख़याल है कि रेलों के मज़दूरों में भी हड़तालें हुईं। जमशेदपुर की टीन की चद्दरों के कारख़ानों में तो बहुत दिनों झगड़ा रहा। यह हड़ताल मज़दूरों ने बहादुरी के साथ कई महीनों तक चलायी। यद्यपि इन मज़दूरों से लोगों की बहुत ज़्यादा हमदर्दी थी, फिर भी जो ज़बरदस्त कम्पनी इन कारख़ानों की

मालिक थी उसने मज़दूरों को कुचल दिया। इस कम्पनी का ताल्लुक़ बर्मा की तेल-कम्पनी से था।

सब मिलाकर ये दोनों साल मज़दूरों में बेचैनी के साल थे और मज़दूरों की हालत दिन-पर-दिन ख़राब होती जा रही थी। हिन्दुस्तान में लड़ाई के बाद के साल यहाँ के धन्धों के लिए मौज के साल थे। इन दिनों उन्होंने अनाप-शनाप मुनाफ़ा कमाया। सन या रुई के कारख़ानों ने पाँच या छः साल तक अपने हिस्से-दारों को जो मुनाफ़ा बाँटा वह सौ फ़ सदी सालाना था—अक्सर वह डेढ़ सौ फ़ीसदी तक पहुँचा। ये अनाप-शनाप मुनाफ़े सब-के-सब कारख़ानों के मालिकों और हिस्सेदारों की जेब में गये। मज़दूरों की हालत जैसी-की-वैसी बनी रही। उनकी मज़दूरी में जो थोड़ी-बहुत तरक़्क़ी हुई, वह आमतौर पर चीज़ों की क़ीमतें बढ़ जाने से बराबर हो गयी। इन दिनों जब लोग धड़ाधड़ कमा रहे थे तब भी ज़्यादातर मज़दूर बहुत ही बुरे घरों में रहते थे और उनकी औरतों तक को कपड़ा भी पहनने को नहीं मिलता था। बम्बई के मज़दूरों की हालत तो बहुत बुरी थी; लेकिन सन के कारख़ानों में काम करनेवाले उन मज़दूरों की हालत तो बहुत ही बुरी थी जिनके पास आप मोटर में कलकत्ते के महलों से घंटे-भर के अन्दर पहुँच सकते थे। वहाँ बाल बिखरे और फटे-पुराने मैले-कुचैले कपड़े पहने हुए अधनंगी औरतें महज़ रोटियों पर काम करती थीं, इसलिए कि दौलत का एक लम्बा-चौड़ा दरिया लगातार ग्लासगो और डंडी की तरफ़ बहता रहे और उसमें से कुछ हिस्सा थोड़े-से हिन्दुस्तानियों की जेबों में चला जाय।

तेज़ी के इन सालों में कारख़ाने मज़े से चलते रहे, यद्यपि मज़दूरों की हालत पहले-जैसी बनी रही और उन्हें कुछ भी फ़ायदा नहीं हुआ। लेकिन जब धूम का वक़्त चला गया और अनाप-शनाप मुनाफ़ा कमाना उतना आसान नहीं रह गया तब सारा बोझ मज़दूरों के सिर पटक दिया गया। कारख़ाने के मालिक पुराने मुनाफ़े को भूल गये। उसे तो वे खा चुके थे और अब अगर उन्हें काफ़ी मुनाफ़ा नहीं होता है तो यह रोज़गार किस तरह चले? इसके फलस्वरूप मज़दूरों में बेचैनी फैली, झगड़े खड़े हुए और बम्बई में ऐसी भारी-भारी हड़तालें हुईं कि देखनेवाले दंग रह गये और जिनसे कारख़ानों के मालिक और सरकार दोनों ही डर गये। मज़दूरों के आन्दोलन में वर्ग-चेतना आने लगी थी और विचार-धारा तथा संगठन दोनों ही दृष्टियों से वह लड़ाकू और खतरनाक होता जा रहा था। इधर राज-नैतिक हालत भी तेज़ी के साथ बिगड़ रही थी और यद्यपि मज़दूरों का आन्दोलन और राजनैतिक हलचल एक-दूसरे से अलग थे, उनका आपस में कोई सम्बन्ध न था, फिर भी कुछ हद तक वे एक-दूसरे के साथ-साथ चलते थे, इसलिए सर-कार भविष्य को आशंका-रहित नहीं समझती थी।

मार्च १६२६ में सरकार ने आगे बढ़े हुए दल में से उनके कई सबसे ज़्यादा नामी-नामी कार्यकर्ताओं को गिरफ़्तार करके संगठित मज़दूरों पर एकाएक हमला

कर दिया। बम्बई की गिरनी कामगार यूनियन के नेता तथा बंगाल, युक्तप्रान्त और पंजाब के मजदूर-नेता गिरफ़्तार कर लिये गये। इनमें से कुछ कम्यूनिस्ट थे, कुछ कम्यूनिस्टों से मिलते-जुलते और महज़ मज़दूर संघोंवाले थे। वह उस नामी मेरठ-केस की शुरुआत थी जो साढ़े चार वर्ष के क़रीब चला।

मेरठ के इन मुलज़िमों की मदद के लिए सफ़ाई-कमिटी बनी। मेरे पिताजी इस कमिटी के सभापति थे तथा डॉक्टर अन्सारी, मैं तथा कुछ और लोग उसके मेम्बर थे। हम लोगों का काम मुश्किल था। मुक़दमे के लिए रुपया इकट्ठा करना आसान न था। ऐसा मालूम होता था कि पैसेवाले लोगों को कम्यूनिस्ट समाजवादी आन्दोलन करनेवालों से कोई हमदर्दी नहीं थी, और वकील लोग पूरा मेहनताना लिये बिना काम करने को तैयार न थे, जोकि किसी का खून ही चूसकर दिया जा सकता था। हमारी कमिटी में कई नामी वकील थे, जैसे पिताजी तथा दूसरे लोग। ये हर वक़्त हमें सलाह देने और रास्ता दिखाने को तैयार थे। उसमें हमारा कुछ भी खर्च नहीं पड़ता था। लेकिन उनके लिए यह मुमकिन न था कि वे महीनों लगातार मेरठ में ही बने रहें। उनके अलावा जिन वकीलों के पास हम गये, मालूम होता है, वे यह समझते थे कि यह मुक़द्दमा हमारे लिए ज्यादा-से-ज्यादा रुपया कमाने का एक जरिया है।

मेरठ के मुक़दमे के अलावा कुछ और सफ़ाई-कमिटियों से भी मेरा ताल्लुक़ रहा है—जैसे एम० एन० राय के तथा दूसरे और मुक़दमों में। हर मौक़े पर मुझे अपने पेशे के लोगों के लालचीपन को देखकर हैरत हुई है। इस सिलसिले में मुझे सबसे पहला बड़ा धक्का उस वक़्त लगा जब १९१९ में पंजाब में फ़ौजी कानून की रू से मुकदमे चल रहे थे। उन दिनों वकीलों के एक बहुत बड़े लीडर ने इस बात पर ज़िद की कि उन्हें पूरी फ़ीस दी जाय। यह रक़म बहुत बड़ी थी। उन्होंने इस बात का कोई ख़याल नहीं किया कि उनके मुवक्किल वे लोग हैं जो फ़ौजी क़ानून के शिकार हुए हैं और उनमें उनका साथी एक वकील भी है। इनमें से बहुत से लोगों को क़र्ज़ लेकर या अपनी जायदादें बेच-बेचकर इन वकील साहब की फ़ीस देनी पड़ी। इसके बाद मुझे जो तजरबे हुए वे तो और भी दु:खदायी थे। हम लोगों को ग़रीब-से-ग़रीब लोगों से ताँबे के पैसे ले-लेकर रुपये इकट्ठे करने पड़ते थे। और वे बड़े-बड़े चेकों के रूप में वकीलों को दे देने पड़ते थे। यह बात हमें बहुत ही अखरती थी। और फिर यह सब काम बिलकुल बेकार मालूम पड़ता था, क्योंकि एक राजनैतिक मामले में या मज़दूरों के मामले में हम सफ़ाई दें या न दें, नतीजा ग़ालिबन वही होता है। लेकिन मेरठ के मुक़दमे-जैसे मुकदमे में, बिलाशक, सफ़ाई देना कई दृष्टियों से लाज़िमी था।

मेरठ-षड्यन्त्र-बचाव-कमिटी की मुलज़िमों के साथ आसानी से नहीं पटी। इन मुलज़िमों में तरह-तरह के लोग थे, जिनकी सफाई भी अलग-अलग क़िस्म की थी, और कभी-कभी तो उनमें आपसी मेल क़तई ग़ायब रहता था। कुछ

महीनों के बाद हमने बाक़ायदा कमिटी को तोड़ दिया और अपनी ज़ाती हैसियत से मदद करते रहे। राजनैतिक हालात जिस तरह बदलते जा रहे थे, उसकी तरफ़ हमारा ध्यान अधिकाधिक खिंचने लगा और १९३० में तो हम सब-के-सब जेल में बन्द हो गये।

४७

विक्षोभ का वातावरण

१९२९ की कांग्रेस लाहौर में होनेवाली थी। वह दस साल के बाद फिर पंजाब में होने जा रही थी, और लोग दस वर्ष पहले की बातें याद करने लगे—१९१९ की घटनाएं, जलियाँवाला बाग़, फ़ौजी क़ानून और उसके साथ होनेवाली बेइज़्ज़तियाँ, अमृतसर का कांग्रेस-अधिवेशन और उसके बाद असहयोगको शुरुआत। इन दस वर्षों में बहुत-सी घटनाएं हुई थीं और हिन्दुस्तान की सूरत ही बदल गयी थी, मगर फिर भी उस और इस समय में समानताओं की कमी न थी। राजनैतिक विक्षोभ बढ़ रहा था और संघर्ष का वातावरण तेज़ी से बनता जा रहा था। आनेवाले संघर्ष की लम्बी छाया पहले से ही देश पर पड़ रही थी।

असेम्बली और प्रान्तीय कौंसिलों में बहुत समय से, उन मुट्ठीभर लोगों के सिवा जो उनके चौकों में चक्कर काटा करते थे, लोगों की दिलचस्पी नहीं रही थी। ये असेम्बलियां और कौंसिलें अपनी लकीर पीटा करती थीं, जिनसे सरकार को अपने सत्ताधारी और स्वेच्छाचारी स्वरूप को ढकने के लिए एक टूटा-फूटा सहारा और लोगों को हिन्दुस्तान में पार्लमेण्ट होने और उसके मेम्बरों को भत्ता मिलने की बात करने का एक बहाना मिल जाता था। असेम्बली का आ़ख़िरी सफल कार्य, जिसकी तरफ़ लोगों का ध्यान गया, १९२८ में हुआ था, जबकि उसने साइमन-कमीशन से सहयोग न करने का प्रस्ताव पास किया था।

इसके बाद असेम्बली के प्रेसीडेण्ट और सरकार के बीच में एक संघर्ष भी हुआ था। विट्ठलभाई पटेल, जो असेम्बली के स्वराजी प्रेसीडेण्ट थे, अपनी स्वतन्त्र वृत्ति के कारण सरकार के दिल में काँटे की तरह खटकते थे और उनके पर काट देने की बहुत कोशिशें की गयीं। ऐसी बातों की तरफ़ ध्यान तो जाता था, मगर आमतौर पर जनता का ध्यान बाहर की घटनाओं की ही तरफ़ लगा हुआ था। मेरे पिताजी को अब कौंसिलों के बारे में कोई भ्रम नहीं रह गया था और वह अक्सर यह राय ज़ाहिर करते थे कि इस अवस्था में अब कौंसिलों से ज़्यादा फ़ायदा नहीं उठाया जा सकता। अगर कोई मुनासिब मौक़ा आजावे तो वह उसमें से ख़ुद भी बाहर निकल आना चाहते थे। हालाँकि उनका दिमाग़ वैधानिक था और क़ानूनी तरीक़ों और ज़ाब्तों का आदी था, मगर मौजूदा हालत से मजबूरन् उन्हें यही नतीजा निकालना पड़ा कि हिन्दुस्तान में तो वैधानिक कहे जानेवाले तरीक़े

बेकार और फ़िज़ूल हैं। वह अपने क़ानूनी दिमाग़ को यह कहकर सान्त्वना दे देते थे कि हिन्दुस्तान में विधान ही नहीं है, और न वस्तुतः यहां कोई क़ानून की हुकूमत ही है, क्योंकि यहाँ किसी एक व्यक्ति या दल की मर्ज़ी पर ही, जिस तरह जादूगर के पिटारे में से अचानक कबूतर निकल पड़ते हैं, उसी तरह, आर्डिनेंस वग़ैरा निकल पड़ते हैं। तबीयत और आदत से वह क्रान्तिकारी बिलकुल न थे, और अगर मध्यम-वर्गीय प्रजातन्त्रवाद जैसी कोई चीज़ होती तो वह विनाशक विधान के बड़े भारी स्तम्भ होते। मगर जैसी हालत थी, हिन्दुस्तान में नक़ली पार्लमेण्ट का नाटक होने के कारण, यहाँ वैधानिक आन्दोलन करने की चर्चा से वह अधिकाधिक चिढ़ने लगे थे।

गांधीजी अब भी राजनीति से अलग ही रह रहे थे, सिवाय इसके कि कलकत्ता-कांग्रेस में उन्होंने हिस्सा लिया था। मगर वह सब घटनाओं की जानकारी रखते थे, और कांग्रेस-नेता उनसे अवसर सलाह-मशवरा किया करते थे। कुछ वर्षों से उनका ख़ास काम खादी-प्रचार हो गया था, और इसके लिए उन्होंने सारे हिन्दुस्तान में लम्बे-चौड़े दौरे किये थे। उन्होंने बारी-बारी से एक-एक प्रांत को लिया। वह उसके हर ज़िले और क़रीब-क़रीब हर महत्त्वपूर्ण क़स्बे में गये, और दूर के और देहाती हिस्सों में भी गये। हर जगह उनके लिए लोगों की भारी भीड़ जमा होती थी और उनका कार्यक्रम पूरा करने के लिए पहले से बहुत तैयारी करनी पड़ती थी। इस तरह से उन्होंने बार-बार हिन्दुस्तान का दौरा किया है, और उत्तर से दक्षिण तक और पूर्वी पहाड़ों से पश्चिमी समुद्र तक इस विशाल देश के एक-एक कोने को उन्होंने देख लिया है। मैं नहीं समझता कि और किसी मनुष्य ने कभी हिन्दुस्तान में इतना सफ़र किया होगा।

प्राचीन काल में बड़े-बड़े परिव्राजक होते थे, जो हमेशा घूमते ही रहते थे। मगर उनके यात्रा के साधन बहुत धीमे थे। और इस तरह का जीवन-भर का भ्रमण भी एक साल के रेल और मोटर के सफ़र का मुक़ाबला नहीं कर सकेगा। गांधीजी रेल और मोटर से जाते थे, मगर वह सिर्फ़ उन्हींसे बँधे हुए नहीं थे; वह पैदल भी चलते थे। इस तरह उन्होंने हिन्दुस्तान और यहाँ के लोगों का अद्भुत ज्ञान प्राप्त किया, और इसी तरीक़े से करोड़ों लोगों ने उन्हें देखा और उनके व्यक्तिगत सम्पर्क में आये।

वह १९२९ में अपने खादी-सम्बन्धी दौरे में युक्तप्रान्त में आये, और उन्होंने निहायत गरम मौसम में इस प्रान्त में कई हफ़्ते बिताये। मैं कभी-कभी उनके साथ कई दिनों तक लगातार रहता, और हालाँकि उनके आने पर इससे पहले भी बड़ी-बड़ी भीड़ देख चुका था, मगर फिर भी उनके लिए इकट्ठी हुई भीड़ों को देखकर ताज्जुब किये बग़ैर न रहता। यह हाल गोरखपुर जैसे पूर्वी ज़िलों में ख़ासतौर पर देखा जाता था, जहाँ आदमियों का मजमा देखकर टिड्डी-दल की याद आ जाती थी। जब हम देहात में मोटर से गुज़रते थे, तो कुछ-कुछ मीलों के फ़ासले

पर ही दस हज़ार से लेकर पचीस हज़ार तक की भीड़ हमें मिला करती थी, और सभाओं में तो अक्सर लाख-लाख से भी ज़्यादा तादाद हो जाती थी। सिवाय किसी-किसी बड़े शहर के सभाओं में लाउड स्पीकरों का इन्तज़ाम न था, और ज़ाहिरा सब आदमियों को भाषण सुनाई देना नामुमकिन था। शायद वे कुछ सुनने की उम्मीद भी नहीं करते थे; वे तो महात्माजी के दर्शन करके ही सन्तुष्ट हो जाते थे। गांधीजी अपने पर अनावश्यक बोझ न पड़ने देते हुए, आमतौर पर, छोटा-सा भाषण देते थे। नहीं तो, इस तरह हर घण्टे और हर रोज़ काम चलाना बिलकुल असम्भव हो जाता।

मैं सारे युक्तप्रान्त के दौरे में उनके साथ नहीं रहा, क्योंकि मैं उनके लिए कोई ख़ास उपयोगी नहीं हो सकता था, और यात्री-दल में मेरे एक के और बढ़ जाने से कोई मतलब न था। यों मजमों से मुझे परहेज़ न था, मगर गांधीजी के साथ चलने-वालों का आमतौर पर जैसा हाल होता है, यानी धक्के खाना और अपने पैर कुचलवाना, ये मुझे ललचाने को काफ़ी न थे। मेरे पास करने को दूसरा काम भी काफ़ी था, और सिर्फ़ खादी के प्रचार में ही, जो मुझे बढ़ती हुई राजनैतिक हालत में एक अपेक्षाकृत छोटा ही काम नज़र आता था, लग जाने की मेरी इच्छा न थी। किसी हद तक मैं गांधीजी के ग़ैर-राजनैतिक कामों में लगे रहने से नाराज़ भी था, और मैं उनके विचारों की पृष्ठभूमि कभी नहीं समझ सका। उन दिनों वह खादी-कार्य के लिए धन इकट्ठा कर रहे थे, और वह अक्सर कहते थे कि मुझे 'दरिद्र-नारायण' अर्थात् दरिद्रों के लिए धन चाहिए। उनका यही मतलब था कि उससे वह ग़रीबों की मदद करेंगे, उन्हें घरेलू धन्धों द्वारा काम दिलायेंगे। मगर इससे अप्रत्यक्ष रूप से दरिद्रता का गौरव बढ़ता दिखायी देता था, क्योंकि नारायण ख़ासकर ग़रीबों का नारायण है, ग़रीब उसके प्यारे हैं। मैं समझता हूँ कि सब जगह धार्मिक भावना यही है। मैं इस बात को पसन्द नहीं कर सकता था; क्योंकि मुझे तो दरिद्रता एक घृणित चीज़ मालूम होती थी, जिससे लड़कर उसे उखाड़ फेंकना चाहिए, न कि उसे किसी तरह बढ़ावा देना चाहिए। इसके लिए लाज़िमी तौर पर उस प्रणाली पर हमला करना चाहिए जो दरिद्रता को बरदाश्त करती और पैदा करती है, और जो लोग ऐसा करने से झिझकते हैं उन्हें मजबूरन दरिद्रता को किसी-न-किसी तरह उचित ठहराना ही पड़ता था। वे यही विचार कर सकते थे कि दुनिया में सदा चीज़ों की कमी ही रहेगी, और ऐसी दुनिया की कल्पना नहीं कर सकते थे कि जिसमें सबको जीवन की आवश्यक चीज़ें भरपूर मिल सकें। शायद उनके विचारानुसार हमारे समाज में ग़रीब और अमीर तो हमेशा ही बने रहेंगे।

जब कभी मुझे इस बारे में गांधीजी से बहस करने का मौक़ा न मिला तभी वह इस बात पर ज़ोर देते थे कि अमीर लोगों को अपनी दौलत जनता की धरोहर की तरह समझनी चाहिए। यह दृष्टिकोण काफ़ी पुराना है और हिन्दुस्तान में,

मध्यकालीन यूरप में भी, अक्सर पाया जाता है। किन्तु मैं तो इस बात को बिलकुल नहीं समझ सका हूँ कि कोई भी शख़्श ऐसा हो जाने की कैसे उम्मीद कर सकता है, या यह कैसे कल्पना कर लेता है कि इसी से समाज की समस्या हल हो जायगी।

असेम्बली, जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, सुस्त और सोती रहनेवाली संस्था हो गयी थी और उसकी उबा देनेवाली कार्रवाइयों में शायद ही कोई दिलचस्पी लेता हो। जब भगतसिंह और बी० के० दत्त ने दर्शकों की गैलरी से उस सभा-भवन के फ़र्श पर दो बम फेंके, तब एक दिन एक झटके की तरह एकाएक उसकी नींद खुली। किसीको सख़्त चोट नहीं आयी, और शायद बम इसी इरादे से फेंके गये थे, जैसा कि अभियुक्तों ने बाद में बयान किया था कि शोर और खलबली पैदा की जाय, न कि किसीको चोट पहुँचाई जाय।

उससे सचमुच असेम्बली में और बाहर खलबली मच गयी। आतंककारियों के दूसरे काम इतने निरापद न थे। एक नौजवान अंग्रेज़ पुलिस अफ़सर को, जिसके बारे में कहा गया था कि उसने लाला लाजपतराय को पीटा था, लाहौर में गोली से मार दिया गया। बंगाल और दूसरी जगहों पर ऐसा मालूम होने लगा कि आतंककारियों की हलचलें फिर से शुरू हो गयीं। षड्यन्त्र के बहुत-से मुक़दमे चलने लगे, और नज़रबन्दी की—यानी बग़ैर मुक़दमा चलाये और सज़ा दिये जेल में रक्खे जानेवाले या दूसरी तरह से रोके हुए लोगों की—तादाद जल्दी बढ़ गयी।

लाहौर षड्यन्त्र के मुक़दमे में अदालत में पुलिस ने कई असाधारण काम किये, और इस कारण भी इस मुक़दमे की तरफ़ लोगों का ध्यान बहुत गया। अदालत और जेल में अभियुक्तों के साथ जो बर्ताव किया जा रहा था, उसके विरोध-स्वरूप ज़्यादातर क़ैदियों ने भूख-हड़ताल कर दी। यह ठीक किन कारणों से शुरू हुई, यह तो मैं भूल गया हूँ, मगर अन्त में यह बड़ा सवाल बन गया कि क़ैदियों, ख़ासकर राजनैतिक, के साथ आमतौर पर कैसा बर्ताव होना चाहिए। यह हड़ताल हफ़्तों तक बढ़ती गयी, और उससे सारे देश में खलबली मच गयी। अभियुक्तों की शारीरिक कमज़ोरी के सबब से उन्हें अदालत में नहीं ले जाया जा सकता था, और बार-बार कार्रवाई मुल्तवी करनी पड़ती थी। इसपर भारत-सरकार ने ऐसा क़ानून बनाने की शुरुआत की जिससे अभियुक्तों या उनके पैरोकारों की ग़ैर-मौजूदगी में भी अदालत अपनी कार्रवाई जारी रख सके। उन्हें जेल के बर्ताव के प्रश्न पर भी ग़ौर करना पड़ा।

जब हड़ताल एक महीने तक चल चुकी थी, उस वक़्त मैं इत्तफ़ाक़ से लाहौर पहुँचा। मुझे कुछ क़ैदियों से जेल में मिलने की इजाज़त दे दी गयी, और मैंने इसका फ़ायदा उठाया। भगतसिंह से यह मेरी पहली मुलाक़ात थी। मैं जतीन्द्र-नाथ दास वग़ैरा से भी मिला। भगतसिंह का चेहरा आकर्षक था और उससे बुद्धिमत्ता टपकती थी। वह निहायत गम्भीर और शान्त था। उसमें गुस्सा नहीं

दिखायी देता था। उसकी दृष्टि और बातचीत में बड़ी सुजनता थी। मगर मेरा ख़याल है कि कोई भी शख़्स जो एक महीने तक उपवास करेगा, आध्यात्मिक और सौजन्यपूर्ण दिखायी देने लगेगा। जतीन्द्रनाथ दास तो और भी मृदुल, एक कन्या की तरह कोमल और सुशील, मालूम पड़ा। जब मैं उससे मिला, उसे काफ़ी दर्द हो रहा था। बाद में वह, उपवास से ही, भूख-हड़ताल के इकसठवें रोज़ मर गया।

भगतसिंह की विशेष इच्छा अपने चाचा सरदार अजीतसिंह से, जो १९०७ में लाला लाजपतराय के साथ निर्वासित कर दिये गये थे, मिलना या कम-से-कम उनको ख़बर पाना मालूम हुई। वह कई बरसों तक विदेशों में देश-निकाले में रहे। कुछ-कुछ यह भी सुना गया था कि वह दक्षिण अमेरिका में बस गये हैं, मगर मुझे ख़याल नहीं है कि उनके बारे में कोई भी निश्चित ख़बर हो। मुझे यह भी पता नहीं कि वह मर गये हैं या जीते हैं।

जतीन्द्रनाथ दास की मृत्यु से सारे देश में सनसनी पैदा हो गयी। इससे राजनैतिक क़ैदियों के बर्ताव का सवाल आगे आ गया, और इसपर सरकार ने एक कमिटी मुकर्रर कर दी। इस कमिटी के विचारों के फलस्वरूप नये क़ायदे जारी किये गये, जिनसे क़ैदियों के तीन दर्जे कर दिये गये। इन क़ायदों से कुछ सुधार होने की सूरत नज़र आयी, मगर असल में कुछ भी फ़र्क़ नहीं पड़ा, और हालत अत्यन्त असन्तोषजनक ही रही, और अब भी है।

धीरे-धीरे गरमी और बरसात की ऋतु बीतकर ज्योंही शरद-ऋतु आयी, प्रान्तीय कांग्रेस-कमिटियाँ कांग्रेस के लाहौर-अधिवेशन के लिए अध्यक्ष चुनने के काम में लग गयीं। इस चुनाव की एक लम्बी कार्रवाई होती है, जो अगस्त से अक्तूबर तक चलती रहती है। १९२९ में गांधीजी को अध्यक्ष बनाने के पक्ष में क़रीब-क़रीब एकमत था। उन्हें दूसरी बार सभापति बनाने से, वास्तव में, कांग्रेस के नेताओं में उनका पद कोई और ऊँचा नहीं हो जाता था, क्योंकि वह तो कई बरसों से एक तरह के सभापतियों के भी दादा बने हुए थे। उस वक़्त सबको यही लगा कि चूँकि लड़ाई अत्यन्त निकट है और उसकी सारी बागडोर यों भी उन्हींके हाथों में रहनेवाली है, तो फिर कांग्रेस का 'विधिवत्' नेता भी उस वक़्त के लिए उन्हींको क्यों न बनाया जाय। इसके सिवा, इतना बड़ा और कोई आदमी सामने न था जो उस समय सभापति बनाया जाता।

इसलिए प्रान्तीय कमिटियों ने सभापति-पद के लिए गांधीजी की सिफ़ारिश की। मगर उन्होंने मंजूर न किया। हालाँकि उन्होंने ज़ोर के साथ इन्कार किया था, मगर उसमें दलील करने की गुंजायश मालूम हुई और यह उम्मीद की गयी कि वह इसपर दुबारा ग़ौर कर लेंगे। लखनऊ में इसका आख़िरी फ़ैसला करने के लिए अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमिटी की मीटिंग की गयी, और आख़िरी घड़ी तक क़रीब-क़रीब हम सभी का यह ख़याल था कि वह राज़ी हो जायेंगे। मगर ऐसा न हुआ और आख़िरी घड़ी में उन्होंने मेरा नाम पेश किया और उसपर ज़ोर

दिया। उनके आख़िरी इन्कार से अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमिटी के लोग तो कुछ-कुछ भौंचक्के रह गये, और इस विषम स्थिति में डाले जाने से कुछ-कुछ नाराज़ भी हुए। किसी दूसरे शख़्स के उपलब्ध न होने की दशा में, लाचारी से उन्होंने आख़िर मुझको चुन लिया।

मुझे पहले कभी इतनी झुँझलाहट और ज़िल्लत महसूस नहीं हुई जितनी इस चुनाव पर। यह बात नहीं थी कि मुझे यह सम्मान दिये जाने का—क्योंकि यह एक बड़े भारी सम्मान की बात है—भान न हो, और अगर मैं मामूली तरीक़े से चुना जाता तो मुझे ख़ुशी भी हुई होती। मगर मुझे यह सम्मान तो सीधे रास्ते या बग़ल के रास्ते से भी नहीं मिला, मैं तो गोया किसी छिपे रास्ते से आ खड़ा हुआ और अचानक लोगों को मुझे मंजूर कर लेना पड़ा। उन्होंने किसी तरह इसे बरदाश्त किया, और दवा की गोली की तरह मुझे निगल लिया। इसपे मेरे स्वाभिमान को चोट पहुँची, और मुझे क़रीब-क़रीब महसूस हुआ कि मैं इस सम्मान को लौटा दूँ। मगर ख़ुशक़िस्मती से मैंने अपने भावों को प्रकट करने से अपने-आपको रोक लिया, और भारी कलेजा लिये हुए वहाँ से चुपचाप चला आया।

इस फ़ैसले पर जिसको सबसे ज़्यादा ख़ुशी हुई वह शायद मेरे पिताजी थे। वह मेरी राजनीति को पसन्द नहीं करते थे, मगर वह मुझे तो बहुत ज़्यादा चाहते थे, और मेरे लिए कुछ भी अच्छी बात होने से उन्हें ख़ुशी होती थी। अक़्सर वह मेरी नुक्ताचीनी करते थे और मुझसे कुछ रुखाई से बोला करते थे, मगर कोई भी आदमी, जो उनकी सदिच्छा बनाये रखने की परवा करता हो, उनके सामने मेरे ख़िलाफ़ कुछ कह नहीं सकता था!

मेरा चुनाव मेरे लिए एक बड़े सम्मान और उत्तरदायित्व की बात थी; और यह चुनाव इसलिए महत्त्व रखता था कि अध्यक्ष-पद पर बाप के बाद फ़ौरन ही बेटा आ रहा था। यह अक्सर कहा गया कि मैं कांग्रेस का सबसे-कम उम्र का सभापति था—उस वक़्त मेरी उम्र ठीक चालीस साल की थी। मगर यह ग़लत है। मेरा ख़याल है कि गोखले की भी क़रीब-क़रीब यही उम्र थी, और मौलाना अबुलकलाम आज़ाद की (हालाँकि वह मुझसे कुछ बड़े हैं) उम्र तो शायद चालीस से भी कम थी जब वह सभापति बने थे। मगर गोखले जब ३५-४० के थे, तभी योग्यता के लिहाज़ से बड़े राजनीतिज्ञों में माने जाते थे, और अबुलकलाम आज़ाद की सूरत-शक्ल ऐसी बन गयी थी जो उनकी विद्वत्ता के अनुकूल आदरणीय थी। चूँकि मुझमें राजनीतिज्ञता का गुण शायद ही कभी माना गया हो, और मुझपर कभी बड़ा विद्वान् होने का दोषारोपण भी किसीने नहीं किया, इसलिए मैं बड़ी उम्र का होने के दोषारोपण से बच गया हूँ—भले ही मेरे बाल पक गये हैं और मेरा चेहरा भी उसकी चुग़ली खा लेता है।

लाहौर-कांग्रेस नज़दीक आती जाती थी। इस बीच घटनाएं एक-एक करके ऐसी घटती जाती थीं, जिनसे मालूम होता था कि ख़ुद अपनी ही किसी ताक़त

से आगे बढ़ती जा रही हैं। व्यक्ति कितने ही बड़े क्यों न थे, मगर उनका बहुत ही थोड़ा हिस्सा था। व्यक्ति को यही मालूम होता था कि वह किसी बड़ी मशीन के अन्दर, जो बेरोक आगे बढ़ती हुई चली जा रही थी, सिर्फ़ एक पुर्ज़े की तरह ही है।

भाग्य की इस प्रगति को, शायद रोकने की आशा से ब्रिटिश सरकार एक क़दम आगे बढ़ी, और वाइसराय लार्ड इर्विन ने एक गोल-मेज़-कान्फ्रेंस करने की बाबत ऐलान किया। उस ऐलान के शब्द बड़ी चालाकी-भरे थे। जिनका मतलब 'बहुत कुछ' भी और 'कुछ नहीं' भी हो सकता था, और हम कई को तो यह साफ़ मालूम होता था कि 'कुछ नहीं' ही निकलेगा। और अगर उसमें ज़्यादा मतलब भी होता, तो भी हम जो कुछ चाहते थे उसके क़रीब तक भी वह नहीं पहुँच सकता था। वाइसराय के इस ऐलान के निकलते ही फ़ौरन, और बड़ी जल्दी से, दिल्ली में 'लीडरों की कान्फ्रेंस' बुलाई गयी, और कई दलों के लोग उसमें बुलाये गये। उसमें गाँधीजी, मेरे पिताजी और विट्ठलभाई पटेल भी (जो उस समय तक असेम्बली के प्रेसीडेण्ट ही थे) मौजूद थे, और तेजबहादुर सप्रू वग़ैरा नरम दल के नेता भी थे। सबकी सहमति से एक संयुक्त प्रस्ताव या वक्तव्य तैयार किया गया, जिसमें वाइसराय का ऐलान कुछ शर्तों के साथ—जिनके बारे में कहा गया था कि ये ज़रूरी हैं और पूरी की जानी चाहिएं—मंजूर किया गया। अगर इन शर्तों को सरकार मंजूर कर लेगी तो सहयोग किया जायगा। ये शर्तें[1] काफ़ी वज़नदार थीं, और उनसे कुछ तो अन्तर होता ही।

नरम और प्रगतिशील सभी दलों के द्वारा ऐसा प्रस्ताव मंजूर किया जाना एक बड़ी विजय ही थी। मगर कांग्रेस के लिए तो यह नीचे गिरना था। हाँ, सबके बीच में एक सर्वसम्मत बात के रूप में वह ऊँची चीज़ थी, मगर उसमें एक घातक पकड़ भी थी। उन शर्तों को देखने के कम-से-कम दो भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण थे। कांग्रेस के लोग तो उन्हें सारभूत-पूर्ण रूप से अनिवार्य मानते थे, जिनके पूरा हुए बिना कोई सहयोग नहीं हो सकता था। उनकी निगाह से वे कम-से-कम शर्तें थीं! यह बात कांग्रेस-कार्य-समिति की एक बाद की बैठक में साफ़ कर दी गयी और उसमें यह भी कह दिया गया कि यह तजवीज़ सिर्फ़ अगली कांग्रेस तक के लिए ही है। मगर नरम दलों के लिए ये ज़्यादा-से-ज़्यादा माँगें थीं, जिनका

[1] शर्तें ये थीं—

१—प्रस्तावित कान्फ्रेंस में सारी बातचीत हिन्दुस्तान के लिए पूर्ण औपनिवेशिक पद के आधार पर होनी चाहिए।

२—कान्फ्रेंस में कांग्रेस के लोगों का सब से ज़्यादा प्रतिनिधित्व होना चाहिए।

३—राजनैतिक कैदियों की आम रिहाई हो।

४—अभी से आगे हिन्दुस्तान का शासन, मौजूदा हालात में जहाँ तक मुमकिन है, उपनिवेशों के शासन के ढंग पर चलना चाहिए।

बयान किया जाना अच्छा था, मगर जिनपर इतना ज़ोर नहीं दिया जा सकता था कि सहयोग तक से इन्कार कर दिया जाय। उनकी दृष्टि से वे शर्तें महत्त्वपूर्ण कहलाते हुए भी वास्तव में कोई शर्तें नहीं थीं। और बाद में हुआ भी यह कि जब इनमें से एक भी शर्त पूरी नहीं की गई और हममें से ज़्यादतर लोग बीसियों हज़ार दूसरे आदमियों के साथ जेल में पड़े थे, उस वक़्त, हमारे नरमदली और सहयोगी मित्र, जिन्होंने उस वक्तव्य पर हमारे साथ दस्तख़त किये थे, हमें जेल में डालनेवालों को सहयोग दे रहे थे।

हममें से ज़्यादातर लोगों को अन्देशा तो था कि ऐसी बात होगी—मगर यह उम्मीद नहीं थी कि इस हदतक होगी। लेकिन हमें कुछ-कुछ यह भी उम्मीद थी कि इस संयुक्त कार्य से जिसमें कांग्रेस के लोगों ने अपने-आपको इतना दबाया है, यह भी नतीजा होगा कि लिबरल और दूसरे लोग ब्रिटिश सरकार को मनमाना और एक-सा सहयोग देने की आदत से बाज़ आवेंगे। हम कई लोगों के लिए तो, जो इस समझौते के प्रस्ताव को दिल से नापसन्द करते थे, ज़्यादा ज़बरदस्त कारण यह था कि हमारे कांग्रेस के लोगों की आपस में एकता बनी रहे। एक बड़ी लड़ाई की शुरुआत में हम कांग्रेस में फूट होना बरदाश्त नहीं कर सकते थे। यह तो अच्छी तरह मालूम था कि हमारी पेश की हुई शर्तों को सरकार नहीं मान सकेगी, और,इस तरह हमारी स्थिति और भी मज़बूत हो जायगी, और हम अपने दाहिने दल को भी अपने साथ आसानी से ले चल सकेंगे। यह सिर्फ़ कुछ ही हफ़्तों का सवाल था। दिसम्बर आया और लाहौर-कांग्रेस नज़दीक आयी।

फिर भी वह संयुक्त वक्तव्य हममें से कुछ लोगों के लिए एक कड़वी घूँट था। स्वाधीनता की माँग का छोड़ देना, चाहे सिर्फ़ कल्पना में हो और सिर्फ़ थोड़ी देर के लिए ही क्यों न हो, एक ग़लत और ख़तरनाक बात थी। इसका मतलब यह था कि स्वाधीनता की बात सिर्फ़ एक चाल थी, जिसकी बिना पर कुछ सौदा किया जा सके; वह कोई सारभूत चीज़ न थी, जिसके बग़ैर हमें कभी सान्त्वना हो न हो सके। इसलिए मैं दुविधा में पड़ गया और मैंने वक्तव्य पर हस्ताक्षर नहीं किये (सुभाष बोस ने तो निश्चित रूप से हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया); मगर, जैसा कि मुझसे अक्सर होता है, बहुत कहने-सुनने पर मैं नरम पड़ गया और मैंने हस्ताक्षर कर दिये। मगर फिर मैं भी बड़ी बेचैनी लेकर आया, और दूसरे ही दिन मैंने कांग्रेस के सभापति-पद से अलग हो जाने का विचार किया और अपना यह इरादा गांधीजी को लिख भेजा। मैं नहीं समझता कि मैंने यह गम्भीरता से लिखा था, हालाँकि मैं क्षुब्ध तो काफ़ी हो गया था। फिर गांधीजी का एक धीरज का पत्र आने और तीन दिन तक सोचते रहने से आख़िर मैं शान्त हो गया।

लाहौर-कांग्रेस से कुछ ही समय पहले, कांग्रेस और सरकार के बीच में समझौते का कोई आधार ढूँढने की एक आख़िरी कोशिश की गयी। वाइसराय लार्ड इर्विन के साथ एक मुलाक़ात का इन्तज़ाम किया गया। मुझे नहीं मालूम कि इस

मुलाक़ात के इन्तिज़ाम में पहला क़दम किसने उठाया, मगर मेरा अन्दाज़ है कि विट्ठलभाई पटेल ने ही यह ख़ासतौर पर किया होगा। इस मुलाक़ात में गांधीजी और मेरे पिताजी कांग्रेस का दृष्टिकोण प्रकट करने के लिए मौजूद थे, और मेरे ख़याल से जिन्ना साहब, सर तेजबहादुर सप्रू और प्रेसीडेण्ट पटेल भी थे। इस मुलाक़ात का कुछ नतीजा न निकला। सहमत होने का कोई सामान्य आधार हाथ न आया और यह पाया गया कि दो ख़ास पार्टियाँ, सरकार और कांग्रेस, एक-दूसरे से बहुत फ़ासले पर थीं। इसलिए अब इसके सिवा कुछ बाक़ी न रहा कि कांग्रेस अपना क़दम आगे बढ़ावे। कलकत्ते में दी हुई एक साल की मियाद ख़तम हो रही थी; अब कांग्रेस का आदर्श हमेशा के लिए स्वाधीनता घोषित होने को था, और उसे प्राप्त करने के लिए ज़रूरी कार्रवाइयाँ करने को थीं।

लाहौर-कांग्रेस से पहले के इन आख़िरी हफ़्तों में मुझे एक दूसरे क्षेत्र में भी ज़रूरी काम करना था। ट्रेड यूनियन कांग्रेस नागपुर में होनेवाली थी, और इस साल उसका प्रेसीडेण्ट होने के कारण मुझे उनका सभापतित्व करना था। यह बहुत ही असाधारण बात थी कि एक ही आदमी राष्ट्रीय कांग्रेस और ट्रेड यूनियन कांग्रेस दोनों का ही कुछ हफ़्तों के अन्दर सभापतित्व करे। परन्तु मैंने यह उम्मीद की थी कि मैं दोनों कांग्रेसों को जोड़नेवाली कड़ी बन जाऊँगा, और दोनों को ज़्यादा नज़दीक ले आऊँगा, जिससे राष्ट्रीय कांग्रेस तो ज़्यादा समाजवादी और ज़्यादा श्रमिक-पक्षीय हो जाय और संगठित मज़दूर-पक्ष राष्ट्रीय संग्राम में साथ दे।

मगर शायद यह उम्मीद झूठी थी, क्योंकि राष्ट्रीयता समाजवाद और श्रमिक-पक्षीय दिशा में दूर तक तभी जा सकती है जब वह राष्ट्रीयता न रहे। फिर मुझे लगा कि हालाँकि कांग्रेस का दृष्टिकोण मध्यम-वर्गीय है, फिर भी देश में वही एक कारगर क्रान्तिकारी ताक़त है। इस हालत में मज़दूर-वर्ग को उसकी मदद करनी चाहिए, उसके साथ सहयोग करना चाहिए, और उसको अपने प्रभाव में लाना चाहिए। मगर साथ ही उसको अपनी हस्ती और अपनी विचार-धारा अलग क़ायम रखनी चाहिए। मुझे उम्मीद है कि जैसे-जैसे घटनाएँ घटती जायँगी और कांग्रेस सीधे संघर्ष में पड़ती जायगी, वैसे-वैसे वह अपने-आप लाज़िमी तौर पर ज़्यादा उग्र आदर्श या दृष्टिकोण पर आती जायगी। पिछले बरसों में कांग्रेस का काम किसानों और गाँवों की तरफ़ बढ़ा है। अगर इसी तरफ़ इसका क़दम बढ़ता रहा तो किसी दिन यह किसानों का एक बड़ा संगठन बन जायगी, वरना ऐसा संगठन तो हो ही जायगा जिसमें किसान-वर्ग प्रधान हो। संयुक्तप्रान्त की कई ज़िला-कमिटियों में इस वक़्त भी किसानों के प्रतिनिधि काफ़ी तादाद में थे, हालाँकि नेतृत्व मध्यमवर्ग के पढ़े-लिखे लोगों ने अपने हाथ में ले रक्खा था।

इस तरह से देहात और शहरों के निरन्तर संघर्ष का राष्ट्रीय कांग्रेस के और ट्रेड यूनियन कांग्रेस के सम्बन्ध पर असर होने की सम्भावना थी। मगर वह सम्भावना दूर थी, क्योंकि मौजूदा राष्ट्रीय कांग्रेस मध्यमवर्गीय लोगों के हाथ में

है और उसपर शहरवालों का क़ब्ज़ा है, और जबतक राष्ट्रीय स्वाधीनता का सवाल हल नहीं हो जाता है तबतक उसकी राष्ट्रीयता ही मैदान में प्रधान रहेगी, और वही देश की सबसे ज़बरदस्त भावना रहेगी। फिर भी मुझे यही दिखायी दिया कि कांग्रेस को संगठित मज़दूर-वर्ग के नज़दीक लाना स्पष्टतौर पर अच्छा है, और युक्तप्रान्त में तो हमने प्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी में ट्रे० यू० कां० की प्रान्तीय शाखा से प्रतिनिधि भी बुलाये थे। कांग्रेस के कई लोगों ने भी मज़दूरों की हलचलों में बड़ा हिस्सा लिया था।

मगर मज़दूरों के कुछ आगे बढ़े हुए दल राष्ट्रीय कांग्रेस से झिझकते थे। वे इसके नेताओं पर अविश्वास करते थे और इसके आदर्श को मध्यमवर्गीय और प्रतिगामी समझते थे, और मज़दूर दृष्टिकोण से यह सचमुच ऐसा था भी। जैसा कि इसके नाम से ही ज़ाहिर होता है, कांग्रेस तो एक राष्ट्रीय संगठन था।

१६२६ ईस्वी भर हिन्दुस्तान के मज़दूर-संघ एक नये सवाल पर, यानी हिन्दुस्तानी मज़दूरों के विषय में नियुक्त रायल कमीशन पर, जिसका नाम व्हिटले-कमीशन था, बहुत विक्षुब्ध हो रहे थे। बायाँ पक्ष (गरम दल) कमीशन का बहिष्कार करने की राय रखता और दाहिना पक्ष (नरम दल) सहयोग देने की तरफ़ था, और चूँकि दाहिने पक्ष के नेताओं को कमीशन में मेम्बर बना दिया गया था, इसलिए यह कुछ व्यक्तिगत मामला भी बन गया था। और कई बातों की तरह इस बात में भी मेरी हमदर्दी बायें पक्ष की तरफ़ थी, और ख़ासकर इसलिए कि यही राष्ट्रीय कांग्रेस की नीति थी। जब कि हम सीधे हमले की लड़ाई चला रहे हैं या चलानेवाले हैं उस वक़्त सरकारी कमीशनों से सहयोग करना निरर्थक बात मालूम हुई।

नागपुर ट्रेड यूनियन कांग्रेस में व्हिटले-कमीशन के बहिष्कार का यह प्रश्न एक बड़ा प्रश्न बन गया, और दूसरे भी कई विवादग्रस्त प्रश्नों पर बायें पक्ष को सफलता मिली। इस कांग्रेस में मैंने बहुत कम प्रकट भाग लिया। मैं मज़दूर-क्षेत्र में बिलकुल नया था। अभी मैं रास्ता ढूँढ़ रहा था, इसलिए भी मैं थोड़ा झिझकता रहा। आमतौर पर मैं अपनी राय ज़्यादा आगे बढ़े हुए दलों की तरफ़ ज़ाहिर करता था, मगर मैंने किसी भी जमात के साथ हो जाने से अपने को बचाया। मैंने संचालन करनेवाले अध्यक्ष की बनिस्बत एक निष्पक्ष 'स्पीकर' की तरह से ज़्यादा काम किया। इस तरह ट्रे० यू० कां० के टुकड़े हो जाने और एक नये नरम संगठन के क़ायम हो जाने में मैं प्रायः एक मौन दर्शक बना रहा। ज़ाती तौर पर मुझे यह महसूस हुआ कि दाहिने पक्ष के दलों का अलग हो जाना मुनासिब न था, मगर बायें पक्ष के कुछ नेताओं ने ही इस काम को जल्दी करवा दिया और उन्हें अलग हो जाने का पूरा-पूरा बहाना दे दिया। दाहिने और बायें पक्षों के झगड़ों में बीच के बड़े भारी दल को कुछ-कुछ बेबसी मालूम हुई। अगर इस दल का पथ-प्रदर्शन ठीक तरह किया गया होता तो शायद इसने उन

दोनों दलों को संयम में रक्खा होता और ट्रे० यू० कां० में फूट पड़ने से बचा ली होती। अगर अलग-अलग टुकड़े भी होते तो उसके इतने ख़राब नतीजे न होते जितने कि बाद में जाकर हुए।

उस समय जो कुछ हुआ उससे मज़दूर-संगठन के आन्दोलन को एक ज़बरदस्त धक्का लगा, जिससे वह अभी तक सम्हल नहीं सका है। सरकार ने मज़दूर-आन्दोलन के आगे बढ़े हुए दलों पर पहले ही से हमला शुरू कर दिया था, और उसका पहला फल हुआ मेरठवाला मुक़द्दमा। सरकार का हमला जारी रहा। मालिकों ने भी देखा कि अपने लाभ की पूर्ति के लिए यही ठीक मौक़ा है। १९२९-३० के जाड़े में संसार-व्यापी मन्दी शुरू हो ही गयी थी। आर्थिक मन्दी के धक्के से, सब तरह से हमला किये जाने से, और अपने ट्रेड यूनियन संगठन की हालत उस समय बहुत ही कमज़ोर होने के कारण, हिन्दुस्तान के मज़दूर-वर्ग के लिए बड़ी कठिनाई का ज़माना आ गया। वे लाचार होकर देख रहे थे कि उनकी हालत दिन-ब-दिन गिरती जा रही है। इसके बाद भी या दूसरे साल एक और टुकड़ा—कम्यूनिस्ट हिस्सा—ट्रेड यूनियन कांग्रेस से अलहदा हो गया। इस तरह सिद्धान्ततः हिन्दुस्तान में मज़दूर-संघों के तीन संगठन बन गये—एक नरम दल, एक मुख्य ट्रे० यू० कांग्रेस दल, और एक कम्यूनिस्ट-दल। व्यवहार में ये सभी कमज़ोर और बेकार हो गये, और इनके आपसी झगड़ों से आम मज़दूर ऊब उठे थे। १९३० के बाद से मैं इन सबसे अलग था, क्योंकि मैं तो ज़्यादातर जेल में रहा। जब कभी बीच-बीच में मैं जेल से बाहर आता था तो मुझे मालूम होता था कि सबमें एकता होने की कोशिशें की जा रही हैं। मगर वे कामयाब न हुईं।[1] नरम दल के यूनियनों के साथ रेलवे कारीगरों के रहने से उनकी ताक़त बढ़ गयी। दूसरे दलों के मुक़ाबले में उनको एक फ़ायदा यह था कि सरकार उनको स्वीकार करती थी, और जिनेवा की मज़दूर-कान्फ्रेंसों के लिए उनकी सिफ़ारिशों को मंजूर कर लेती थी। जिनेवा जाने के लालच से भी कुछ मज़दूर-नेता उनकी तरफ़ खिंच गये और वे अपने साथ अपनी यूनियन को भी उधर खींच ले गये।

२८

पूर्ण स्वाधीनता और उसके बाद

मेरी स्मृति में लाहौर-कांग्रेस की तस्वीर आज भी साफ़ खिंची हुई है। यह क़ुदरती भी है, क्योंकि मैंने उसमें सबसे बड़ा हिस्सा लिया था, और थोड़ी देर के लिए तो मैं रंग-मंच के केन्द्र में ही था और भीड़-भड़भड़ के उन दिनों में मेरे दिल में जो-जो भावनाएं पैदा हुईं उनके ख़याल से मुझे आनन्द होता है। लाहौर के लोगों

[1] इसके बाद ट्रेड यूनियनों में एकता पैदा करने की कोशिशें ज्यादा कामयाब हुई हैं, और विभिन्न दल अब आपस में एक तरह के सहयोग से काम कर रहे हैं।

ने भारी तादाद में तथा दिल से मेरा जैसा शानदार स्वागत किया उसे मैं कभी नहीं भूल सकता। मैं अच्छी तरह जानता था कि यह अपार उत्साह मेरे लिए व्यक्तिगत नहीं था, बल्कि एक प्रतीक के लिए, एक आदर्श के लिए था। मगर किसी आदमी के लिए यह भी कोई कम बात नहीं है कि वह, थोड़े समय के लिए ही सही, बहुत लोगों की आंखों में और दिलों में वैसा प्रतीक बन जाय। मेरे आनन्द का पार न था और मैं मानो अपने व्यक्तित्व की मर्यादा को पार कर रहा था। मगर मुझ पर क्या असर हुआ, इसका कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि वहां तो बड़े-बड़े सवाल सामने थे। सारा वातावरण जोश से भरा हुआ था और अवसर की गम्भीरता का ख़याल सब ओर छाया हुआ था। हमें सिर्फ़ नुक़्ता-चीनी या विरोध या राय के ज़ाहिर करने के ही प्रस्ताव नहीं करने थे, मगर हमें ऐसी लड़ाई को न्योता देना था जिससे सारा देश हिल जानेवाला था और जिसका असर लाखों की ज़िन्दगी पर पड़नेवाला था।

दूर भविष्य में हमारे और हमारे देश के लिए क्या होनेवाला है, यह तो कोई भी नहीं कह सकता था, मगर निकट भविष्य में क्या होगा, यह तो साफ़ दिखायी देता था। हमारे लिए और हमारे प्रिय व्यक्तियों के लिए लड़ाई और तकलीफ़ सामने नज़र आती थी। इस ख़याल ने हमारे उत्साह में गम्भीरता ला दी थी और हमें अपनी ज़िम्मेदारी से बहुत आगाह कर दिया था। हमारा दिया हुआ हरेक वोट अपने आराम और सुख और पारिवारिक आनन्द और मित्रों के मिलने-जुलने को बिदाई का पैग़ाम था, और था एकान्त के दिनों और रातों तथा शारीरिक और मानसिक कष्टों को निमन्त्रण।

स्वाधीनता और स्वाधीनता की लड़ाई को चलाने के लिए की जानेवाली कार्रवाई का ख़ास प्रस्ताव तो क़रीब-क़रीब एकमत से पास होगया, कई हज़ारों में से मुश्किल से बीस आदमियों ने उसके ख़िलाफ़ वोट दिया था, मगर असली वोटिंग एक छोटे मामले पर हुआ, जो एक संशोधन की शकल में आया था। वह संशोधन गिर गया और दोनों तरफ़ की रायों की तादाद ज़ाहिर कर दी गयी। ख़ास प्रस्ताव इत्तफ़ाक़ से इकतीस दिसम्बर की आधी रात के घंटे की चोट के साथ, जबकि पिछला साल गुज़रकर उसकी जगह नया साल आ रहा था मंज़ूर हुआ। इस तरह ज्योंही कलकत्ता-कांग्रेस की दी हुई एक साल की मोहलत ख़त्म हुई त्योंही नया फ़ैसला किया गया और लड़ाई की तैयारी शुरू की गयी। काल का चक्र तो चल गया, मगर फिर भी हम यह नहीं जानते थे कि हमें कैसे और कब शुरुआत करनी चाहिए। अ० भा० कांग्रेस कमिटी को हमारी लड़ाई की योजना बनाने और उसको चलाने का अख़्तियार दिया गया, मगर सब जानते थे कि असली फ़ैसला तो गांधीजी के ही हाथ है।

लाहौर-कांग्रेस में नज़दीक के ही सीमाप्रान्त से बहुत लोग आये थे। इस प्रान्त से व्यक्तिगत प्रतिनिधि तो कांग्रेस की बैठक में हमेशा आया ही करते थे।

पिछले कुछ वर्षों से ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ारख़ाँ कांग्रेस के अधिवेशनों में आकर हिस्सा लिया करते थे। मगर लाहौर में पहली बार सीमाप्रान्त से सच्चे नौजवानों का एक बड़ा दल आकर अखिलभारतीय राजनैतिक लहर के सम्पर्क में आया। उसके ताज़ा दिमाग़ों पर बड़ा असर पड़ा, और वे यह ख़याल और जोश लेकर गये कि वे आज़ादी की लड़ाई में सारे हिन्दुस्तान के साथ हैं। वे सीधे-सादे मगर बड़ा काम करनेवाले लोग थे। उन्हें हिन्दुस्तान के दूसरे प्रान्तों के लोगों की तरह महज़ बातचीत करने और बाल की खाल खींचने की आदत कम थी। उन्होंने अपने लोगों को संगठित करना और उनमें नये-नये ख़यालात फैलाना शुरू किया। उन्हें कामयाबी भी मिली, और सीमाप्रान्त के स्त्री-पुरुष, जोकि हिन्दुस्तान की लड़ाई में सबसे पीछे शामिल हुए थे, १९३० से महत्त्वपूर्ण और बड़ा हिस्सा लेने लगे।

लाहौर-कांग्रेस के बाद ही, और उसके आदेशानुसार मेरे पिताजी ने असेम्बली के कांग्रेसी मेम्बरों को अपनी-अपनी जगहों से इस्तीफ़ा दे देने को कहा। क़रीब-क़रीब सभी एक साथ बाहर आ गये। कुछ इने-गिने लोगों ने ही बाहर आने से इन्कार किया, हालाँकि इससे उनके चुनाव की प्रतिज्ञा भंग होती थी।

फिर भी आगे के बारे में हमें कुछ साफ़ सूझता न था। हालाँकि कांग्रेस-अधिवेशन में बड़ा जोश दिखायी देता था, मगर किसीको मालूम न था कि देश लड़ाई के कार्यक्रम का कहाँ तक साथ देगा। हम इतने आगे बढ़ गये थे कि अब पीछे नहीं जा सकते थे। मगर देश का रुख़ क्या होगा, इसका क़रीब-क़रीब बिलकुल पता न था। अपनी लड़ाई को शुरू करने के लिए और देश की नब्ज़ भी पहचानने की दृष्टि से २६ जनवरी को स्वतंत्रता-दिवस मनाना तय हुआ। इस दिन देश-भर में आज़ादी की प्रतिज्ञा ली जानेवाली थी।

इस तरह अपने कार्यक्रम की बाबत शंकाशील मगर कुछ-न-कुछ कारगर काम करने की इच्छा और उत्साह से हम घटनाओं के इन्तज़ार में रहे। जनवरी के शुरू में मैं इलाहाबाद में था; मेरे पिताजी ज़्यादातर बाहर थे। यह एक बड़े भारी सालाना मेले—माघ मेले का वक़्त था। शायद वह ख़ास कुम्भ का साल था, और लाखों स्त्री-पुरुष लगातार इलाहाबाद में, या यात्रियों की भाषा में प्रयागराज में, आ रहे थे। वे सब तरह के लोग थे, उनमें खासकर किसान थे, और मज़दूर, दूकानदार, कारीगर, व्यापारी, औद्योगिक और ऊँचे पेशेवाले लोग भी थे। वास्तव में हिन्दुओं में से सभी तरह के लोग आये थे। जब मैं इस बड़ी भीड़ को और संगम पर जाते और आते हुए लोगों की अटूट धारा को देखता तो मैं सोचा करता कि ये लोग सत्याग्रह और शान्ति-पूर्ण सीधे हमले की पुकार का कितना साथ देंगे? इनमें से कितने लोग लाहौर के प्रस्तावों को जानते हैं या उनकी परवा करते हैं? उनका यह विश्वास कितना आश्चर्यजनक और मज़बूत था, जिससे वे और उनके बुज़ुर्ग हज़ारों बरसों से हिन्दु-स्तान के हर हिस्से से पवित्र गंगा में स्नान करने के लिए चले आते थे! क्या वे इस अदम्य उत्साह को अपनी ज़िन्दगी सुधारने के लिए राजनैतिक और आर्थिक

कार्य में नहीं लगा सकते ? या क्या उनके दिमाग़ों में धर्म का बाह्याचार और दक़ियानूसीपन इतना भर चुका है कि उनमें दूसरे ख़यालात की गुंजाइश ही नहीं रही ? मैं तो यह जानता ही था कि ये दूसरे ख़यालात उनमें पहुँच चुके हैं, जिनसे सदियों की शान्त निश्चिन्तता में खलबली पैदा हो गयी है। इन अस्पष्ट विचारों और आकांक्षाओं की हलचल के जनता में फैलने से ही पिछले बारह बरसों में बड़े-बड़े उतार-चढ़ाव आये थे, जिनसे हिन्दुस्तान की सूरत ही बदल गयी है। इन विचारों के अस्तित्व के विषय में और उनकी बड़ी भारी ताक़त के बारे में तो कोई शक ही नहीं था। मगर फिर भी शक पैदा होता, और सवाल उठते थे, जिनका तत्काल कोई जवाब न था। ये ख़यालात कितने फैल चुके हैं ? उनके पीछे कितनी ताक़त है ? संगठित काम करने की कितनी योग्यता है ? लम्बे धैर्य की कितनी शक्ति है ?

यात्रियों के झुण्ड-के-झुण्ड हमारे घर आते थे। हमारा घर एक तीर्थ-स्थान, भारद्वाज-आश्रम, के पास ही पड़ता था, जहाँ पुराने ज़माने में एक विद्यापीठ था। मेले के दिनों में सुबह से शाम तक बे-शुमार लोग हमसे मिलने आते रहते थे। मेरे ख़याल से ज़्यादातर लोग तो कौतूहल से, और जिन बड़े आदमियों का नाम उन्होंने सुन रखा है उन्हें, ख़ासकर मेरे पिताजी को, देखने की इच्छा से आते थे। मगर आनेवालों में ऐसे भी बहुत-से लोग थे जिनका झुकाव राजनीति की तरफ़ था, और वे कांग्रेस के बारे में, उसमें क्या तय हुआ, और आगे क्या होनेवाला है ये सवाल भी पूछते थे। वे अपनी आर्थिक कठिनाइयाँ सुनाते थे और पूछते थे कि उनकी बाबत उन्हें क्या करना चाहिए ? हमारे राजनैतिक नारे उन्हें खूब याद थे, और सारे दिन मकान उन्हीं से गूँजता रहता था। मैंने पहले तो, जैसे-जैसे बीस, पचास या सौ आदमियों का झुण्ड एक के बाद एक आता था, हरेक से थोड़े शब्द कहना शुरू किया। मगर जल्दी ही यह काम असम्भव हो गया, और तब मैं उनके आने पर चुपचाप नमस्कार कर लेता था। मगर इसकी भी हद थी। फिर तो मैंने छिप जाने की कोशिश की। मगर यह सब फ़िज़ूल था। नारे ज़्यादा-ज़्यादा तेज़ लगने लगते, मकान के बरामदे इन मिलनेवाले लोगों से भर जाते और हरेक दरवाज़े और खिड़की में से बहुत-से लोग हमें झांकने लगते। कुछ भी काम करना, बातचीत करना या भोजन करना तक मुश्किल हो जाता। इससे सिर्फ़ परेशानी ही नहीं होती थी बल्कि झुँझलाहट और चिढ़ भी होती थी। मगर फिर भी वे लोग तो आते ही थे। वे अपनी प्रेम-भरी चमकती आँखों से, जिनमें पीढ़ियों की ग़रीबी और मुसीबतें झलक रही थीं, देखते हुए हमारे ऊपर अपनी श्रद्धा और प्रेम बरसा रहे थे, और उसके बदले में सिवा भ्रातृ-भाव और सहानुभूति के कुछ नहीं माँगते थे। इस प्रेम और श्रद्धा की प्रचुरता के प्रभाव से हृदय को अपनी अल्पता का अनुभव हुए बिना नहीं रह सकता था।

एक महिला, जो हमारी प्रिय मित्र थी, उस वक़्त हमारे यहाँ ठहरी हुई थीं।

उनसे बातचीत करना भी जब तब कठिन हो जाता था, क्योंकि चार-चार, पाँच-पाँच मिनट पर आये हुए झुण्ड से कुछ-न-कुछ कहने के लिए मुझे बाहर आना पड़ता था, और बीच-बीच में हमें बाहर के नारे और शोरगुल सुनायी देते थे। मेरी परेशानी में उन्हें कुछ हँसी-सी आयी, और साथ ही, मेरा ख़याल है यह समझकर कि मैं जनता में बहुत लोक-प्रिय हूँ, वह प्रभावित भी हुईं। (सच बात तो यह थी कि लोग ख़ासकर मेरे पिताजी को देखने के लिए आते थे, मगर चूँकि वह बाहर गये हुए थे, मुझे ही लोगों के सामने जाना पड़ता था।) उन्होंने अचानक मेरी तरफ़ मुड़कर मुझसे पूछा कि मैं इस वीर-पूजा को कैसा पसन्द करता हूँ और क्या इसपर मुझे गर्व नहीं होता? जवाब देने से पहले मैं थोड़ा झिझका और इससे उन्होंने समझा कि शायद इस बिलकुल व्यक्तिगत प्रश्न से उन्होंने मुझे परेशानी में डाल दिया। उन्होंने इसके लिए माफ़ी चाही। उनके सवाल से मुझे परेशानी बिलकुल नहीं हुई, मगर मुझे सवाल का जवाब ढूँढ़ना बड़ा मुश्किल मालूम हुआ। मेरा दिमाग़ बहुत बातें सोचने लगा और मैं अपनी भावनाओं और विचारों का विश्लेषण करने लगा। वे अनेक प्रकार के थे। यह सच था कि, प्रायः इत्तफ़ाक़ से ही, मैं जनता में बड़ा लोक-प्रिय हो गया था। पढ़े-लिखे लोगों में मेरी क़द्र होती थी। नौजवान स्त्री-पुरुषों का तो, एक प्रकार से, मैं नायक बन गया था और उनकी निगाह में मेरे आसपास कुछ वीरता की आभा दिखायी पड़ती थी, मेरे बारे में गाने तैयार हो गये थे और ऐसी-ऐसी अनहोनी कहानियाँ गढ़ ली गयी थीं जिन्हें सुनकर हँसी आती थी। मेरे विरोधी भी अक्सर मेरे लिए अच्छी राय ज़ाहिर करते थे, और बुज़ुर्गाना ढंग से कहते थे कि मुझमें योग्यता या ईमानदारी की कमी नहीं है।

शायद किसी बड़े महात्मा या बड़े भारी हैवान पर ही इन सब बातों का असर नहीं होता होगा। मगर मैं तो अपने को दोनों में से एक भी नहीं मानता। बस, ये बातें मेरे दिमाग़ में बैठ गयीं। उन्होंने मुझपर थोड़ा नशा चढ़ा दिया और मुझको हिम्मत और ताक़त दी। मेरा यह अन्दाज़ है, (क्योंकि बाहर से अपने-आपको समझ लेना मुश्किल काम है) कि मैं अपने काम-काज में थोड़ा स्वेच्छाचारी और कुछ डिक्टेटर-जैसा बन गया। मगर फिर भी, मेरा ख़याल है कि मेरा अभिमान कुछ ज़्यादा नहीं बढ़ा। मुझे इतना-सा ही ख़याल हुआ कि मुझमें भी कुछ बातों की लियाक़त है और उनके सम्बन्ध में मैं ऐसा नाचीज़ नहीं हूँ। मगर मैं यह भी ख़ूब जानता था कि यह कोई विलक्षण बात नहीं है, और मुझे अपनी कमजोरियों का भी बहुत ख़याल था। आत्म-निरीक्षण की आदत ने ही शायद मुझे ठिकाने रखने में मदद दी और इसीसे मैं अपने सम्बन्ध की कई घटनाओं पर अनासक्त दृष्टि से ग़ौर कर सकता था। सार्वजनिक जीवन के अनुभव ने मुझे बता दिया कि लोकप्रियता तो अक्सर अवाञ्छनीय व्यक्तियों के पास रहती है; वह यक़ीनन भलेपन या अक़्लमन्दी का ही आवश्यक चिह्न नहीं होती। तो मैं अपनी कमज़ोरियों के

सबब से लोक-प्रिय था, या अपने गुणों के सबब से? सचमुच मैं लोक-प्रिय किस कारण से था?

इसका सबब मुझमें दिमाग़ी क़ाबिलियत का होना नहीं था; क्योंकि मुझमें दिमाग़ी क़ाबिलियत कोई ग़ैरमामूली नहीं थी और कम-से-कम इसीसे लोकप्रियता नहीं मिलती; और 'क़ुर्बानी' कहे जानेवाले कामोंसे भी मेरी लोक-प्रियता नहीं थी, क्योंकि यह सभी जानते हैं कि हमारे ही समय में हिन्दुस्तान में सैकड़ों-हज़ारों आदमियों ने मुझसे बेहद ज़्यादा तकलीफ़ें उठायी हैं और जान तक की बलि दे दी है। मैं बड़ा वीर हूँ, यह शोहरत बिलकुल वाहियात है। मैं अपने-आपको वीरोचित बिलकुल नहीं समझता और जीवन में वीरों का-सा ढँग या उसकी नक़ल और दिखावा करना मुझे बेवकूफ़ी की बात मालूम होती है। प्रेमशौर्य की अद्भुतता का मुझमें नाम भी नहीं है। यह सही है कि मुझमें कुछ शारीरिक और दिमाग़ी हिम्मत है, मगर उसकी बुनियाद तो है शायद अभिमान—अपना, अपने ख़ानदान का और अपने राष्ट्र का अभिमान, और किसीके भी दबाव से कुछ न करने की वृत्ति।

मुझे अपने सवाल का सन्तोषजनक जवाब नहीं मिला। तब मैं दूसरे ही तरह से उसकी खोज में लग गया। मुझे पता लगा कि मेरे पिताजी और मेरे बारे में एक बहुत प्रचलित कहावत यह है कि हम हर हफ़्ते अपने कपड़े पैरिस की किसी लॉण्ड्री में धुलने को भेजते थे। हमने कई बार इसका खण्डन किया है, फिर भी यह बात प्रचलित है ही। इससे ज़्यादा अजीब वाहियात बात की कल्पना भी मैं नहीं कर सकता। अगर कोई इतना मूर्ख हो कि वह ऐसे झूठे बड़प्पन के लिए इस तरह की फ़िज़ूलख़र्ची करे, तो समझता हूँ कि वह अव्वल दर्जे का मूर्ख ही समझा जायगा।

इसी तरह से एक दूसरी दन्तकथा, जो कि इनकार करने पर भी प्रचलित है; यह है कि मैं प्रिंस ऑफ़ वेल्स के साथ स्कूल में पढ़ता था। कहा जाता है कि जब १९२१ में वह हिन्दुस्तान आये तब उन्होंने मुझे बुलाया था, पर उस वक़्त मैं जेल में था। सच बात तो यह है कि मैं न तो स्कूल में ही उनके साथ पढ़ा हूँ और न मुझे उनसे मिलने या बात करने का ही मौक़ा हुआ है।

मेरे कहने का मतलब यह नहीं कि मेरी प्रसिद्धि या लोक-प्रियता इन या ऐसी कहानियों की बदौलत ही है। उसकी ज़्यादा मज़बूत बुनियाद भी हो सकती है। मगर इसमें शक नहीं कि इसमें बड़प्पन की बात बहुत शामिल है, जैसा कि इन कहानियों से ज़ाहिर है। कम-से-कम भावना यह है कि पहले मैं बड़े-बड़े लोगों से मिलता-जुलता था, और बड़े ऐश-आराम की ज़िन्दगी गुज़ारता था और फिर मैंने वह सब त्याग दिया। हिन्दुस्तानी दिमाग़ त्याग को बहुत अच्छा समझता है। मगर इस कारण से मेरी नामवरी हो, यह मुझे बिलकुल अच्छा नहीं लगता। मुझे निष्क्रिय गुणों की बनिस्बत सक्रिय गुण ज़्यादा पसन्द हैं, और केवल

त्याग और बलिदान को मैं अच्छा नहीं समझता। मैं उसकी दूसरी ही दृष्टि से क़द्र करता हूँ—यानी मानसिक और आध्यात्मिक शिक्षा के तौर पर, जैसे कि कसरती आदमी को अच्छी तन्दुरुस्ती रखने के लिए सादा और नियमित जीवन रखना ज़रूरी है। जो लोग महान् कार्यों में पड़ना चाहते हैं उनमें कठिन आघातों के सहन करने और धैर्य की क्षमता होना ज़रूरी है। मगर जीवन की त्यागमय दृष्टि, जीवन के निषेध, उसके आनन्दों और अनुभूतियों से भयपूर्वक दूर रहने की तरफ़ मुझे रुचि या आकर्षण नहीं है। मैंने किसी भी चीज़ का, जिसका मैंने वास्तव में महत्त्व समझा, जान-बूझकर त्याग नहीं किया है; मगर हाँ, चीज़ों का मूल्य हमेशा समान नहीं रहा करता है।

उन महिला मित्र ने मुझसे जो सवाल पूछा था उसका जवाब फिर भी नहीं मिला। क्या मैं भीड़ की इस वीर-पूजा से गर्व अनुभव नहीं करता? मैं तो इसे नापसन्द करता था, और इससे दूर भाग जाना चाहता था। मगर फिर भी मैं इसका आदी हो गया था। और जब यह बिलकुल न होती थी तो इसका अभाव भी कुछ खटकता था। दोनों ही तरह से मुझे सान्त्वना नहीं थी। मगर कुल मिलाकर भीड़ ने मेरी एक अन्दरूनी ज़रूरत पूरी कर दी। मैं उनपर असर डाल सकता हूँ, और उनसे काम करवा सकता हूँ, इस ख़याल से मुझमें उनके दिल और दिमाग़ पर अधिकार होने की एक भावना आ गयी थी। इससे किसी हद तक सत्ता की मेरी इच्छा पूरी होती थी। और वे लोग तो अपनी तरफ़ से मुझपर एक अजीब तरह का ज़ुल्म करते थे, क्योंकि उनके विश्वास और प्रेम से मेरा अन्तरतल हिल जाता था, और उसके जवाब में मेरे दिल में भी भावुकता का संचार हो जाता था। हालाँकि मैं व्यक्तिवादी हूँ, मगर कभी-कभी मेरे व्यक्तिवाद की दीवारें भी टूट-सी जाती थीं, और मुझे ऐसा लगता था कि इन दुखिया लोगों के साथ-साथ मुसीबतों में रहना, अकेले छुटकारा पा जाने की बनिस्बत अच्छा है। मगर वे दीवारें हटनेवाली न थीं, और मैं उन्हीं के ऊपर से आश्चर्य भरी आँखों से इस घटना की तरफ़ देखा करता था।

अभिमान की तह आदमी पर, चर्बी की तरह, धीरे-धीरे अनजाने चढ़ती रहती है। यह जिस आदमी पर चढ़ती है उसे पता नहीं चलता कि रोज़ाना वह कितनी चढ़ती जाती है। मगर ख़ुशक़िस्मती से इस पागल दुनिया की सख़्त चोटों से वह कम भी हो जाती है या बिलकुल उतर भी जाती है। हिन्दुस्तान में तो पिछले वर्षों में हमपर इन सख़्त चोटों की कोई कमी नहीं रही है। ज़िन्दगी का स्कूल हमारे लिए बहुत सख़्त रहा है, और कष्ट-सहन दरअसल बड़ा सख़्त काम लेनेवाला मास्टर है।

एक दूसरी बात में भी मैं ख़ुशक़िस्मत रहा हूँ। मेरे परिवार के लोग, दोस्त और साथी ऐसे रहे हैं, जिन्होंने मुझे ठीक निगाह रखने में और अपना दिमाग़ बिगड़ने न देने में मदद दी है। सार्वजनिक उत्सवों, म्युनिसिपैलिटियों, स्थानिक

बोर्डों और दूसरी सार्वजनिक संस्थाओं की तरफ़ से अभिनन्दनों और जुलूसों की शह से मेरे दिमाग़, मेरी विनोद-प्रियता और वास्तविकता की भावना पर बड़ा बोझ पड़ता था। इन अवसरों पर बहुत लम्बी-चौड़ी और शानदार भाषा इस्तेमाल होती थी, और हरेक आदमी इतना गम्भीर और पाक साफ़ बनता था कि इस सबको देखकर मेरी यह ज़बरदस्त इच्छा होती थी कि मैं हँस पड़ूँ या अपनी ज़बान बाहर निकाल दूँ या सिर के बल उल्टा खड़ा हो जाऊँ; सिर्फ इस लिए कि उस गम्भीर सम्मेलन में लोगों के चेहरों पर इसका कैसा धक्का लगता और क्या असर होता है यह मैं देखूँ और इसका मज़ा लूं। मगर खुशक़िस्मती से अपनी प्रसिद्धि के कारण और इस लिए कि हिन्दुस्तान के सार्वजनिक जीवन में गम्भीरता ही आदरणीय समझी जाती है, मैं अपनी इस अनियन्त्रित इच्छा को रोक लेता था, और आमतौर पर ठीक औचित्य से ही बर्ताव करता था। मगर हमेशा नहीं। किसी-किसी बड़ी सभा में, या ज़्यादातर जुलूसों में, जिनसे मैं बहुत परेशान होता जाता हूँ, मैंने कभी-कभी इसका प्रदर्शन भी किया है। कभी कभी हमारे सम्मान में निकाले जानेवाले जुलूसों को मैं अचानक छोड़ देता था और भीड़ में अनजाने शामिल हो जाता था। मैं अपनी पत्नी को या और किसी को जुलूस की गाड़ी में ही बैठा छोड़ देता था।

अपनी भावनाओं को हमेशा दबाये रखने और लोगों के सामने किसी ख़ास ढँग से बर्ताव करने की इस कोशिश के कारण दिमाग़ पर बड़ा ज़ोर पड़ता है, और नतीजा यह होता है कि सार्वजनिक अवसरों पर आदमी गम्भीर चेहरा बनाये रहता है। शायद इसीलिए एक हिन्दी मासिक-पत्रिका के लेख में एक बार लिखा गया था कि मैं हिन्दू-विधवा की तरह हूँ। हालाँकि मैं पुराने ढँग की हिन्दू-विधवा की बड़ी इज़्ज़त करता हूँ, फिर भी मुझे इस वर्णन से धक्का लगा। लेखक का ज़ाहिरा उद्देश्य स्पष्टतया मेरे कुछ गुणों की, मेरे नम्रतापूर्वक समर्पण, त्याग, और कभी हँसी-मज़ाक़ किये बिना हमेशा काम में लगे रहने की तारीफ़ करना था। मेरा तो ख़याल था कि, मुझमें अधिक क्रियाशीलता और तेज़ी है, और मज़ाक़ करने और हँसने की योग्यता भी है। और निःसन्देह मैं चाहता हूं कि ये गुण हिन्दू-विधवाओं में भी चाहिए। गांधीजी ने एक बार एक मिलनेवाले से कहा था कि अगर मुझमें विनोदशीलता न होती तो मैं शायद आत्महत्या या ऐसा ही कुछ कर बैठता। मैं इतनी हद तक तो जाना नहीं चाहता, मगर ज़िन्दा रहना मेरे लिए तो प्रायः असह्य हो जाता, अगर मेरी ज़िन्दगी में कुछ लोग हँसी-मज़ाक की कुछ मात्रा न डालते रहते।

मेरी लोक-प्रियता पर और मुझे मिलनेवाले बड़े-बड़े मान-पत्रों पर, जिनमें (जैसा कि वास्तव में हिन्दुस्तान के सभी मानपत्रों में होता है) बड़ी चुनी हुई और लच्छेदार भाषा और लम्बी-चौड़ी तारीफ़ भरी रहती थी, मेरे परिवार के और मित्र-मण्डली के लोग बड़ा मज़ाक उड़ाया करते थे। अतिशयोक्ति और अलंकार-

पूर्ण शब्दों और विशेषणों को, जो साधारणतया राष्ट्रीय आन्दोलन के सभी प्रमुख व्यक्तियों के लिए व्यवहृत होते थे, मेरी पत्नी और बहनें और दूसरे लोग पकड़ लेते थे और उनका मौक़े-बेमौक़े मेरा किसी तरह का लिहाज़ किये बिना प्रयोग करते रहते थे। वे मुझे 'भारत-भूषण' और 'त्याग-मूर्ति' आदि कहा करते थे, और इस विनोद-पूर्ण व्यवहार से मुझे भी शांति मिलती थी, और उन गम्भीर सार्वजनिक सभाओं की थकावट, जहाँ मुझे बहुत शिष्टता का बर्ताव दिखाना पड़ता था, धीरे-धीरे दूर हो जाती थी। इस मज़ाक में मेरी छोटी सी लड़की भी शामिल हो जाती थी। सिर्फ़ मेरी माताजी ही इस बात पर ज़ोर दिया करती थीं कि मुझसे अदब का व्यवहार किया जाय। अपने प्यारे पुत्र के साथ ज़्यादा मज़ाक या दिल्लगी होने का वह कभी समर्थन नहीं करती थीं। इससे मेरे पिताजी का भी कुछ मनोरंजन हो जाता था। वह अपने विचारों और भावों को चुपचाप प्रदर्शित करने का एक ख़ास तरीक़ा रखते थे।

मगर इन नारे लगानेवाले मजमों, बेलुत्फ़ और थकानेवाले सार्वजनिक उत्सवों और बेहद बहसों और राजनीति के धूम-धक्कों का मुझपर सिर्फ़ ऊपरी असर होता था, हालाँकि यह असर कभी-कभी तेज़ और गहरा होता था। मगर मेरा असली संघर्ष मेरे अन्दर चल रहा था। मेरे विचारों और इच्छाओं और निष्ठाओं में संघर्ष चल रहा था। मेरे मस्तिष्क की अन्तरभावनाएं बाहरी परिस्थितियों से झगड़ रही थीं। मेरी अन्तर्ज्वाला बुझी न थी। मैं एक लड़ाई का मैदान बन गया था, जहाँ तरह-तरह की ताक़तें एक-दूसरे को जीत लेने की कोशिश कर रही थीं, मैं इससे छुटकारा चाहता था। मैंने सामंजस्य और चित्त की समता ढूंढने की कोशिश की, और इसी प्रयत्न में लड़ाई में कूद पड़ा। इससे मुझे शान्ति मिली। बाहरी संघर्ष ने भीतरी संघर्ष की तेज़ी को कम कर दिया।

मैं जेल में बैठा यह सब क्यों लिख रहा हूँ? मैं चाहे जेल में होऊँ या जेल के बाहर, लेकिन अब भी मैं उसीकी तलाश में हूँ, और मैं अपने पिछले विचार और अनुभव इस आशा से लिख रहा हूँ कि इससे मुझे शान्ति और मानसिक सन्तोष मिल सके।

२६

सविनय आज्ञा-भंग शुरू

स्वाधीनता-दिवस, २६ जनवरी १९३०, आया और बिजली की चमक की तरह उसने हमें बता दिया कि देश में सरगर्मी और उत्साह है। उस दिन हर जगह बड़ी-बड़ी सभाएं हुईं जिनमें बग़ैर भाषणों या विवेचनों के, शान्ति और गम्भीरता से, लोगों ने आज़ादी की प्रतिज्ञा[1] ली। सभाएं और जुलूस बड़े

[1]यह प्रतिज्ञा परिशिष्ट नं० १ में दी हुई है।

प्रभावशाली थे। गांधीजी को इस दिवस के प्रदर्शन से आवश्यक बल मिल गया और जनता की नब्ज़ की ठीक पहचान रखने के कारण उन्होंने समझ लिया कि लड़ाई छेड़ने का यह ठीक वक़्त है। इसके बाद तो घटनाएं एक के बाद एक इस तरह घटित होने लगीं, जैसा कि किसी नाटक में रस की पराकाष्ठा होते समय होता है।

जैसे-जैसे सविनय भंग नज़दीक आता गया और लोगों में जोश बढ़ता गया, वैसे-वैसे हमारे ख़यालात इस बात की तरफ़ गये कि किस तरह १९२१-२२ का आन्दोलन चला था और चौरी-चौरा के बाद वह एकाएक स्थगित कर दिया गया था। तब से अब देश में अनुशासन ज़्यादा था और अब लोग ज़्यादा साफ़तौर से समझ गये थे कि यह लड़ाई किस क़िस्म की है। उसका तरीक़ा तो किसी हद तक समझ ही लिया गया था। मगर हर आदमी ने यह भी पूरी तरह महसूस कर लिया कि गांधीजी अहिंसा पर उत्कट रूप से ज़ोर देते हैं, और यह बात गांधीजी की दृष्टि से ज़्यादा ज़रूरी थी। दस साल पहले कुछ लोगों के दिमाग़ों में शायद इस बाबत शक रहा हो, मगर अब तो वैसा शक नहीं हो सकता था। फिर भी, हमें इसका पक्का विश्वास कैसे हो सकता था कि किसी स्थान पर अपने-आप या किसी षड्यन्त्र से हिंसा का कोई काण्ड न हो जायगा? और अगर ऐसी कोई घटना हुई, तो उसका हमारे सविनय भंग-आन्दोलन पर क्या असर होगा? क्या वह पहले की ही तरह अचानक बन्द कर दिया जायगा? यही सम्भावना सबसे ज़्यादा बेचैन कर रही थी।

गांधीजी ने भी शायद इस सवाल पर अपने ख़ास ढंग से विचार किया, हालाँकि जिस समस्या की उन्हें चिन्ता मालूम होती थी, जहाँ तक मैं कभी-कभी बातचीत करके समझ सका, वह दूसरे ही ढंग से उनके सामने उपस्थित थी।

सुधार करने के लिए अहिंसात्मक ढंग की लड़ाई करना ही उनकी दृष्टि में सच्चा उपाय था, और अगर ठीक तरह से उसपर व्यवहार किया जाय तो वही अचूक भी है। तो क्या यह कहा जाना चाहिए कि इस उपाय को व्यवहार में लाने और सफल बनाने के लिए ख़ासतौर पर कोई बहुत अनुकूल वातावरण चाहिए और अगर बाहरी हालतें इसके मुआफ़िक़ न हों तो इसको काम में नहीं लाना चाहिए? इससे तो यह नतीजा निकलता है कि अहिंसात्मक उपाय हर हालत के लिए ठीक नहीं है, और इस तरह यह न तो सार्वभौम उपाय रह जाता है, न अचूक। मगर यह नतीजा गांधीजी के लिए असह्य था, क्योंकि उनका पक्का विश्वास था कि यह उपाय सार्वभौम भी है और अव्यर्थ भी। इसलिए बाहरी हालत के प्रतिकूल होने पर भी, और झगड़ों और हिंसा के होते रहते भी, यह उपाय अवश्य काम में आ सकता है। बदलती हुई हालतों में इसके व्यवहार का ढंग भी बदलता रह सकता है, मगर उसका बन्द किया जाना तो ख़ुद उस उपाय की विफलता को मान लेना होगा।

सम्भव है वह इस प्रकार से सोचते होंगे, मगर मैं उनके विचारों को निश्चय से नहीं कह सकता। उन्होंने हमें यह तो कुछ-कुछ बता ही दिया कि अब उनकी विचार-पद्धति में थोड़ा फ़र्क़ हो गया है, और जब सविनय भंग आवेगा, तो किसी प्रकार हिंसात्मक काण्ड से उसका बन्द किया जाना ज़रूरी नहीं है। मगर यदि हिंसा किसी आन्दोलन का ही हिस्सा बन जायगी, तो वह शान्तिपूर्ण सविनय भंग-आन्दोलन न रहेगा और उसकी हलचलों को बन्द करना या बदलना पड़ेगा। इस आश्वासन से बहुतेरों को बहुत हद तक सन्तोष हुआ। अब सब के सामने बड़ा सवाल यह था, कि यह किया कैसे जाय? शुरुआत किस तरह हो? किस प्रकार का सविनय-भंग हम चलावें, जो कारगर हो, परिस्थिति के अनुकूल हो और जनता में लोक-प्रिय हो? इतने ही में गांधीजीने इसकी तरकीब बतायी।

नमक अचानक एक रहस्यपूर्ण, बलपूर्ण शब्द बन गया। नमक-कर पर हमला होना था। नमक-क़ानून को तोड़ना था। हम हैरत में पड़ गये। नमक का राष्ट्रीय संग्राम हमें कुछ अटपटा मालूम हुआ। दूसरी आश्चर्य में डालनेवाली बात हुई गांधीजी की अपनी ग्यारह बातों' का प्रकाशित करना। कुछ राजनैतिक और सामाजिक सुधारों की, चाहे वे अच्छे ही क्यों न हों, फ़ेहरिस्त उस समय पेश करना जबकि हम आज़ादी की दृष्टि से बात कर रहे थे, क्या मतलब रखता था? गांधीजी जब 'आज़ादी' शब्द कहते थे तो क्या उनका वही अर्थ था जो हमारा था,

---

'सविनयभंग के शुरू होने के पहले लार्ड इर्विन ने एक भाषण दिया था, उसके जवाब में गांधीजी ने 'यंग इंडिया' में एक लेख लिखकर बताया था कि यदि सरकार कुछ शर्तों का पालन करे तो देश के लिए सविनयभंग करने का कारण न रह जाय। वे शर्तें ही ये ग्यारह बातें हैं—(१) सम्पूर्ण मद्य-पाननिषेध। (२) रुपये की क़ीमत डेढ़ शिलिंग के बदले एक शिलिंग चार पेंस की जाय। (३) लगान पचास फ़ी सदी कम किया जाय और उसे सोलहों आना धारा-सभा के अंकुश में रक्खा जाय। (४) नमक-कर रद्द किया जाय। (५) सैनिक ख़र्च कम किया जाय, फिलहाल आधा कर दिया जाय। (६) लगान-कमी की पूर्ति बड़े अधिकारियों की तनख़्वाह पचास फ़ी सदी कम करके की जाय। (७) विदेशी कपड़े पर बहिष्कार-कर लगाया जाय। (८) समुद्र-तट पर देशी जहाज़ों के चलने का क़ायदा बनाया जाय। (९) हिंसा-काण्ड के अपराध के सिवा शेष सब राजनैतिक क़ैदियों को छोड़ दिया जाय, तमाम राजनैतिक मुक़द्दमे वापस लिये जायँ, १२४ अ धारा, और १८१८ का क़ानून रद्द किया जाय, और उन्हें देश-निकाला दिया गया है उनके लिए दरवाज़ा खोल दिया जाय। (१०) ख़ुफ़िया विभाग बन्द कर दिया जाय या लोक-नियन्त्रण में रक्खा जाय। (११) आत्म-रक्षा के लिए बन्दूक आदि रखने का परवाना दिया जाय और इस विषय को लोकनियन्त्रण में रक्खा जाय। —अनु०

था क्या हम लोग अलग-अलग भाषाओं का प्रयोग कर रहे थे ? मगर हमें बहस करने का मौक़ा न था, क्योंकि घटनाएं तो आगे जा रही थीं। वे हिन्दुस्तान में तो हमारी निगाहों के सामने राजनैतिक रूप में दिन-पर-दिन आगे बढ़ ही रही थीं; मगर, शायद, हम नहीं जानते थे कि वे दुनिया में भी तेज़ी से बढ़ रही थीं और दुनिया को एक भयंकर मन्दी में जकड़े हुए थीं। चीज़ों के भाव गिर रहे थे, और शहर के रहनेवालों ने समझा कि अब खुशहाली का ज़माना आ रहा है। मगर किसानों ने तो इसमें ख़तरा ही देखा।

इसके बाद गांधीजी का वाइसराय से पत्र-व्यवहार हुआ, और साबरमती-आश्रम से दाण्डी की नमक-यात्रा शुरू हुई। दिन-ब-दिन इस यात्रा-दल के बढ़ने का हाल जैसे-जैसे लोग पढ़ते थे, देश में जोश का पारा बढ़ता जाता था। अहमदाबाद में अ० भा० कांग्रेस-कमिटी की बैठक इस लड़ाई की बाबत, जो प्रायः हमारे सिर पर आ चुकी थी, आख़िरी व्यवस्था करने के लिए हुई। इस बैठक में हमारे संग्राम का नेता मौजूद नहीं था, क्योंकि वह तो अपने यात्रा-दल के साथ समुद्र की ओर जा रहा था, और उसने वहाँ से लौटने से इन्कार कर दिया। अ० भा० कां० कमिटी ने योजना बनायी कि अगर गिरफ़्तारियाँ हों तो क्या-क्या किया जाना चाहिए, और यदि यह कमिटी फिर बैठक न कर सके तो उसकी तरफ़ से कार्य-समिति के गिरफ़्तारशुदा लोगों की जगह ख़ुद नये मेम्बर नियुक्त कर देने और अपने स्थान पर ऐसे ही अधिकार रखने वाले अपने अनुगामी को नामज़द कर देने के बड़े-बड़े अधिकार सभापति को दिये गये। प्रान्तीय और स्थानीय कांग्रेस-कमिटियों ने भी अपने-अपने सभापतियों को ऐसे ही अधिकार दे दिये।

इस तरह से वह ज़माना शुरू हुआ जब के 'डिक्टेटर' कहे जानेवाले लोग क़ायम हो गये और उन्होंने कांग्रेस की तरफ़ से संग्राम का संचालन किया। इस पर भारत मन्त्री और वाइसराय और गवर्नरों ने बड़ी नफ़रत ज़ाहिर की और वे चीख़-चीख़कर कहने लगे कि कांग्रेस कितनी ख़राब और पतित हो गयी है कि वह डिक्टेटरी को मानने लगी है, जबकि वे ख़ुद तो मानो प्रजातन्त्रवाद के पक्के माननेवाले ही थे ! कभी-कभी हिन्दुस्तान के नरम-दली अख़बारों ने भी हमें प्रजातन्त्र के लाभों का उपदेश दिया। हम यह सब ख़ामोशी से (क्योंकि हम तो जेल में थे) और हैरत में होकर सुनते थे। बेशरमी और मक्कारी इससे ज़्यादा क्या हो सकती थी ? इधर तो हिन्दुस्तान पर एकतन्त्री डिक्टेटर द्वारा बल-पूर्वक शासन हो रहा था, जिसमें आर्डिनेन्स-क़ानून बन रहे थे और हर तरह की नागरिक स्वतन्त्रता दबायी जा रही थी, और उधर हमारे शासक प्रजातन्त्रवाद की भली-भली बातें कर रहे थे। और क्या सामान्य अवस्था में भी, हिन्दुस्तान में प्रजातन्त्र की छाया भी कहीं थी ? अंग्रेज़ी हुकूमत अपनी ताक़त और हिन्दुस्तान में स्थापित स्वार्थों की हिफ़ाज़त करती और उसकी सत्ता को हटाने-वालों का दमन करती, यह तो बेशक उसके लिए क़ुदरती बात थी। मगर इसकी

यह कहना कि यह सब प्रजातन्त्री तरीका है, एक ऐसी बात है जो अगली पीढ़ियों के ग़ौर करने और तारीफ़ करने के लिए लिखकर रख ली जाय।

कांग्रेस ऐसी हालत में जानेवाली थी, जब उसका मामूली ढंग पर काम करना ग़ैर-मुमकिन था; वह ग़ैर-क़ानूनी क़रार दे दी जानेवाली थी, और गुप्त रूप के सिवा और किसी ढंग से उसकी कमिटियाँ किसी परामर्श या किसी काम के लिए इकट्ठी नहीं हो सकती थीं। हमने छुपाव को बढ़ावा नहीं दिया, क्योंकि हम अपनी लड़ाई को बिलकुल खुली रखना चाहते थे, जिससे कि हमारा तर्ज़ ऊँचा रहे और हम जनता पर असर डाल सकें। मगर छुपाव से भी ज़्यादा काम नहीं चल सकता। केन्द्र में, प्रान्तों में और स्थानीय हल्क़ों में हमारे सब बड़े-बड़े स्त्री-पुरुष तो गिरफ़्तार होनेवाले ही थे। फिर कौन आगे काम चलाता? इस सूरत में हमारे सामने एक ही रास्ता था, जिस तरह लड़ाई करती हुई फ़ौज में होता है, कि पुराने सेनानायकों के हटते ही नये सेना-नायक बनाने की व्यवस्था करना। लड़ाई के मैदान में बैठकर कमिटियों की बैठकें करना हमारे लिए नामुमकिन था। वास्तव में, कभी-कभी ऐसा हमने किया भी था, मगर इसका उद्देश्य और अनिवार्य नतीजा यह होता था कि सारी कमिटी एक-साथ गिरफ़्तार हो जाती। हमें यह भी सुभीता नहीं था कि लड़नेवाली लाइनों के पीछे जेनरल स्टाफ़ सुरक्षित बैठा रहता, या कहीं दूसरी जगह और भी ज़्यादा हिफ़ाज़त से देश का मन्त्रि-मण्डल बैठा रहता। यह लड़ाई ही इस तरह की थी कि हमारे जेनरल स्टाफ़ और मन्त्रि-मण्डलों को अपने-आपको सबसे आगे और खुली जगहों में रखना पड़ता था, और वे तो सब शुरू में ही गिरफ़्तार कर लिये गये थे। फिर हमने अपने 'डिक्टेटरों' को भी क्या सत्ता दे दी थी? लड़ाई चालू रखने के राष्ट्र के दृढ़ निश्चय के प्रतीक-रूप में उन्हें सामने रहने का यह सम्मान दिया जाता था। मगर असल में तो उन्हें ज़्यादातर ख़ुद जेल में चले जाने की ही सत्ता मिली थी। वे तभी काम करते थे जब किसी बड़ी और अबाध सत्ता के कारण उनकी कमिटी, जिसके वह प्रतिनिधि थे, मीटिंग नहीं कर सकती थी; और जब उस कमिटी की बैठक हो सकती, तो डिक्टेटर को जो कुछ भी सत्ता थी वह समाप्त हो जाती थी। डिक्टेटर किसी बुनियादी सवाल या सिद्धान्त के बारे में कुछ फ़ैसला नहीं कर सकता था। वह तो आन्दोलन की छोटी-छोटी और ऊपरी बातों के विषय में ही कुछ कर सकता था। कांग्रेस की 'डिक्टेटरशिप' तो वास्तव में जेल में पहुँचने की सीढ़ी थी। और रोज़-रोज़ वही बात होती रही। पुराने लोग हटते जाते थे और उनकी जगह नये लोग आते जाते थे।

इस तरह अपनी आख़िरी तैयारियाँ करके, अहमदाबाद में हमने अ० भा० कांग्रेस-कमिटी के अपने साथियों से विदा माँगी; क्योंकि यह किसीको मालूम न था कि आगे हम कब और कैसे इकट्ठे हो सकेंगे, या इकट्ठे हो भी सकेंगे या नहीं? हम अपनी-अपनी जगहों पर जाकर अ० भा० कांग्रेस-कमिटी के आदेशों के अनुसार अपनी-अपनी जगह के इन्तज़ाम को आख़िरी तौर पर ठीक-ठाक करके

और, जैसा कि सरोजिनी नायडू ने कहा, जेल-यात्रा के लिए बिस्तर बाँधने को जल्दी-जल्दी चल दिये।

लौटते वक़्त पिताजी और मैं गांधीजी से मिलने गये। वह अपने यात्री-दल के साथ जम्बूसर में थे। वहाँ हम उनके साथ कुछ घण्टे रहे और फिर वह अपने दल के साथ समुद्र-यात्रा के दूसरे पड़ाव के लिए पैदल चल पड़े। वह हाथ में डण्डा लिये हुए, अपने अनुयायियों के आगे-आगे, जा रहे थे। उनके क़दम मज़बूत थे और चेहरे पर शान्ति तथा निर्भयता छिटकी पड़ती थी। इस तरह उस समय मैंने उनके आख़िरी दर्शन किये। वह एक दिल हिला देनेवाला दृश्य था।

जम्बूसर में मेरे पिताजी ने गांधीजी से सलाह करके यह तय किया था कि वह इलाहाबाद का अपना पुराना मकान राष्ट्र को दान कर देंगे, और उसका नाम बदलकर 'स्वराज-भवन' रख देंगे। इलाहाबाद लौटकर उन्होंने उसकी घोषणा कर दी, और कांग्रेसवालों को उसका क़ब्ज़ा भी दे दिया। उस बड़े मकान का हिस्सा अस्पताल बना दिया गया। उस वक़्त तो वह उसकी क़ानूनी कार्रवाई को पूरी न कर सके, पर डेढ़ साल बाद मैंने उनकी इच्छा के अनुसार उस मकान का एक ट्रस्ट बना दिया।

अप्रैल आया। गांधीजी समुद्र-तट पर पहुँच गये और हम नमक-क़ानून को तोड़कर सविनय-भंग करने की उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगे। कई महीनों से हम अपने स्वयंसेवकों को क़वायद की तालीम दे रहे थे, और कमला और कृष्णा (मेरी पत्नी और बहन) भी उनसे शामिल हो गयी थीं और उन्होंने इस काम के लिए मर्दाना लिबास धारण किया था। स्वयंसेवकों के पास कोई भी हथियार, लाठियाँ तक, न थीं। उनको तालीम देने का मक़सद यह था कि वे अपने काम में ज़्यादा योग्य और कुशल हो जायें और बड़ी-बड़ी भीड़ों को नियंत्रण में रख सकें। राष्ट्रीय सप्ताह, १९१९ के सत्याग्रह-दिवस से लेकर जलियाँवाला बाग़ तक की घटनाओं की यादगार में, हर साल मनाया जाता है, और छः अप्रैल इसी सप्ताह का पहला दिन था। इसी दिन गांधीजी ने दांडी में समुद्र के किनारे नमक-क़ानून तोड़ा, और तीन-चार दिन बाद सारे कांग्रेस-संगठनों को इजाज़त दे दी गयी कि वे भी नमक-क़ानून तोड़ें और अपने-अपने क्षेत्र में सविनय आज्ञा-भंग शुरू कर दें।

ऐसा मालूम हुआ कि जैसे कोई बटन दबा दिया गया, और अचानक सारे देश में, शहरों में और गाँवों में, जिधर देखो रोज़ नमक बनाने की ही धूम फैल गयी। नमक बनाने के लिए कई अजीब-अजीब तरकीबें निकाली गयीं। इस बारे में हमारी जानकारी बहुत ही थोड़ी थी, इसलिए जहाँ इस बारे में कुछ भी लिखा मिला वह हमने पढ़ डाला, और इस बाबत जानकारी देने के लिए कई पर्चियाँ प्रकाशित कीं, और बर्तन और कड़ाहियाँ इकट्ठी कीं, और अन्त में एक भद्दी-सी चीज़ बना ही डाली, जिसे हम बड़ी बहादुरी से उठाकर दिखाते और अक्सर बहुत ऊँची

क़ीमत पर नीलाम भी करते थे। वह अच्छी चीज़ है या बुरी, इसका सचमुच कोई महत्त्व न था; क्योंकि ख़ास चीज़ तो उस बेहूदे नमक-क़ानून को तोड़ना था। इसमें हम ज़रूर कामयाब हुए, चाहे हमारा बनाया हुआ नमक कितना भी ख़राब क्यों न हो। जब हमने देखा कि लोगों में उत्साह उमड़ रहा है, और नमक बनाना जंगली आग की तरह चारों तरफ़ फैल रहा है, तो हमें कुछ शर्म मालूम हुई; क्योंकि जब गांधीजी ने इस तरीक़े की तजवीज़ पहले-पहल रक्खी थी तब हमने उसकी कामयाबी में शक किया था। हमें ताज्जुब होता था कि इस व्यक्ति में लोगों पर असर डालने और उनसे संगठित रूप में काम करवाने की कितनी अद्भुत सूझ है।

मैं चौदह अप्रैल को गिरफ़्तार हो गया, जबकि मैं रायपुर (मध्यप्रान्त) की एक कान्फ्रेंस में शामिल होने के लिए रेलगाड़ी पर सवार हो रहा था। उसी दिन जेल में मेरा मुक़दमा भी हो गया, और मुझे नमक क़ानून के मातहत छः महीने की सज़ा दी गयी। अपनी गिरफ़्तारी की सम्भावना से मैंने (अ० भा० कांग्रेस कमिटी द्वारा दी गयी नयी सत्ता के अनुसार) पहले ही अपनी अनुपस्थिति में कांग्रेस के सभापति-पद के लिए गांधीजी को नामज़द कर दिया था, और अगर वह मंज़ूर न करें तो, मेरी दूसरी नामज़दगी पिताजी के लिए थी। जैसा कि मेरा ख़याल था, गांधीजी राज़ी न हुए, और इसलिए पिताजी ही कांग्रेस के स्थानापन्न सभापति बने। उनकी तन्दुरुस्ती ठीक नहीं थी, फिर भी वह बड़े ज़ोरशोर से लड़ाई में कूद पड़े। उन शुरू के महीनों में उनके ज़बरदस्त संचालन और अनुशासन से आन्दोलन को बहुत लाभ हुआ। आन्दोलन को तो बहुत लाभ हुआ, मगर इससे उनकी रही-सही तन्दुरुस्ती और शक्ति बिलकुल चली गयी।

उन दिनों बड़ी सनसनी पैदा करनेवाले समाचार आया करते थे— जुलूसों का निकलना, लाठी प्रहारों का होना और गोलियाँ चलना, नामी-नामी आदमियों की गिरफ़्तारियों पर अक्सर हड़तालें होना, पेशावर-दिवस, गढ़वाली-दिवस आदि का ख़ासतौर पर मनाया जाना वग़ैरा। उस वक़्त तो विदेशी कपड़े और तमाम अंग्रेज़ी माल का पूरा-पूरा बहिष्कार किया गया था। जब मैंने सुना कि मेरी बूढ़ी माताजी और बहनें भी गरमी की तेज़ धूप में विदेशी कपड़े की दूकानों के सामने धरना देने के लिए खड़ी रहती हैं, तो इसका मेरे दिल पर बड़ा गहरा असर हुआ। कमला ने भी यह काम किया। मगर उसने कुछ और ज़्यादा भी किया। मेरा ख़याल था कि कितने बरसों से मैं उसे बहुत अच्छी तरह जानता हूँ, मगर उसने इस आन्दोलन के लिए इलाहाबाद शहर और ज़िले में इतनी शक्ति और निश्चय से काम किया कि मैं भी दंग रह गया। उसने अपने गिरते हुए स्वास्थ्य की बिलकुल परवा नहीं की। वह सारे दिन धूप में घूमा करती थी और उसने संगठन की बड़ी योग्यता का परिचय दिया। मैंने इसका कुछ-कुछ हाल जेल में सुना था। बाद में जब पिताजी भी वहाँ मेरे पास आ गये तब उन्होंने मुझे बताया कि वह कमला के काम की, ख़ासकर उसकी संगठन-शक्ति की, कितनी

ज़्यादा सराहना करते थे। पिताजी मेरी माताजी का या लड़कियों का केंप भूप में इधर-उधर जाना पसन्द नहीं करते थे, मगर सिवा सिर्फ कभी-कभी उनको मना करने के उन्होंने उन्हें रोका नहीं।

उन शुरू के दिनों में जो खबरें हमारे पास आया करती थीं, उनमें से सबसे बड़ी खबर २३ अप्रैल की पेशावर की घटना और बाद में सारे सीमाप्रान्त में होनेवाली घटनाएं थीं। हिन्दुस्तान में कहीं भी मशीनगनों की गोलियों के सामने इस प्रकार अनुशासनपूर्ण और शान्तिपूर्ण हिम्मत दिखायी जाती, तो उससे सारा देश थर्रा उठता। मगर सीमाप्रान्त के लिए तो यह घटना और भी ज़्यादा महत्त्व रखती थी, क्योंकि पठान लोग हिम्मत के लिए तो मशहूर थे मगर शान्तिपूर्ण स्वभाव के लिए मशहूर नहीं थे। इन्हीं पठानों ने वह मिसाल क़ायम कर दी जो हिन्दुस्तान में अद्वितीय थी। सीमाप्रान्त में ही यह मशहूर घटना हुई जिसमें गढ़वाली सिपाहियों ने निःशस्त्र जनता पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया। उन्होंने इसलिए इन्कार कर दिया कि सच्चे सिपाहियों को निहत्थी भीड़ पर गोली चलाना नापसन्द होता है, और इसलिए भी कि भीड़ के लोगों से उन्हें सहानुभूति थी। मगर केवल सहानुभूति ही आमतौर पर सिपाही को अपने अफ़सर की हुकुम-उदूली जैसी ख़तरनाक कार्रवाई के लिए प्रेरित नहीं कर सकती, क्योंकि इसका बुरा नतीजा उसे मालूम रहता है। गढ़वालियों ने यह बात शायद इसलिए की कि उन्हें (और दूसरी भी कुछ रेजीमेण्टों को, जिनकी हुकुम-उदूली की खबर फैल नहीं पायी) यह ग़लत खयाल हो गया था कि अंग्रेज़ों की हुकूमत तो अब जाने ही वाली है। जब सिपाहियों में ऐसा खयाल पैदा हो जाता है तभी वे अपनी सहानुभूति और इच्छा के अनुसार काम करने की हिम्मत दिखाते हैं। शायद कुछ दिनों या हफ़्तों तक आम हलचल और सविनय-भंग से लोगों में यह खयाल पैदा हो गया था कि अंग्रेज़ी हुकूमत के आख़िरी दिन आ गये हैं, और इसका असर कुछ फ़ौज पर भी पड़ा, मगर जल्दी ही यह भी ज़ाहिर हो गया कि निकट-भविष्य में ऐसा होने की सूरत नहीं है, और फिर फ़ौज में हुकुम-उदूली नहीं हुई। फिर तो इस बात का भी ख़याल रक्खा गया कि सिपाहियों को ऐसी दुविधा में डाला ही न जाय।

उन दिनों बड़ी-बड़ी आश्चर्यजनक बातें हुईं, मगर सबसे अधिक आश्चर्य की बात थी स्त्रियों का राष्ट्रीय संग्राम में भाग लेना। स्त्रियाँ बड़ी तादाद में अपने घर के घेरों से बाहर निकल आयीं, और हालाँकि उन्हें सार्वजनिक कार्यों का अभ्यास न था फिर भी वे लड़ाई में पूरी तरह कूद पड़ीं। विदेशी कपड़े और शराब की दूकानों पर धरना देने का काम तो उन्होंने बिलकुल अपना ही कर लिया। सभी शहरों में सिर्फ स्त्रियों के ही भारी-भारी जुलूस निकाले गये, और आमतौर पर स्त्रियाँ पुरुषों की बनिस्बत ज़्यादा मज़बूत साबित हुईं। अक्सर प्रान्तों में या स्थानीय क्षेत्रों में वे 'कांग्रेस-डिक्टेटर' भी बनती थीं।

अकेला नमक-क़ानून ही नहीं तोड़ा गया बल्कि दूसरी दिशाओं में भी सविनय-

भंग होने लगा। वाइसराय-द्वारा कई आर्डिनेंस—जिसमें कई कामों पर प्रतिबन्ध लगाये गये थे—निकाले जाने से भी इस काम में मदद मिली। जैसे-जैसे ये आर्डिनेन्स और प्रतिबन्ध बढ़ते गये, वैसे-वैसे उन्हें तोड़ने के मौक़े भी बढ़ते गये। और सविनय-भंग की यह शक्ल हो गयी कि आर्डिनेंस से जिस काम की मुमानियत की जाती थी वही काम किया जाता था। प्रारम्भिक सूत्रपात निश्चित रूप से कांग्रेस और लोगों के हाथ में रहा था, और जब एक आर्डिनेन्स से गवर्नमेण्ट की निगाह में परिस्थिति न सँभली तब वाइसराय ने और नये-नये आर्डिनेन्स निकाले। कांग्रेस-कार्य-समिति के कई मेम्बर गिरफ़्तार कर लिये गये थे, मगर उनकी जगह नये मेम्बर नियुक्त कर लिये गये, और इस तरह वह काम करती ही रही। हर सरकारी आर्डिनेन्स के मुक़ाबले में कार्य-समिति अपना प्रस्ताव पास करती थी, और उस आर्डिनेन्स के लिए क्या करना चाहिए इसके लिए आज्ञाएं जारी करती थी। इन आज्ञाओं का देश में आश्चर्यजनक समानता से पालन होता था। हाँ, अलबत्ता, पत्र-प्रकाशन-सम्बन्धी आज्ञा का यथारीति पालन नहीं हुआ।

जब प्रेस को ज़्यादा नियन्त्रित करने और समाचारपत्रों से ज़मानत माँगने के बारे में आर्डिनेन्स निकला, तब कार्य-समिति ने राष्ट्रीय समाचारपत्रों से यह कहा कि वे ज़मानत देने से इन्कार कर दें और यदि आवश्यक हो तो प्रकाशन ही बन्द कर दें। अख़बारवालों के लिए यह एक कड़वी घूँट थी, क्योंकि इसी समय तो लोगों में ख़बरों की बहुत ज़्यादा माँग थी। फिर भी कुछ नरम-दल के अख़बारों को छोड़कर ज़्यादातर अख़बारों ने अपना प्रकाशन बन्द कर दिया, और नतीजा यह हुआ कि तरह-तरह की अफ़वाहें फैलने लगीं। मगर वे ज़्यादा वक़्त तक न टिक सके। प्रलोभन बहुत भारी था, और अपना धन्धा नरम दल के अख़बार छीन लिये जा रहे थे यह देखकर उन्हें बुरा भी मालूम हुआ। इसलिए उनमें से ज़्यादातर फिर अपना प्रकाशन करने लगे।

गांधीजी ५ मई को गिरफ़्तार कर लिये गये थे। उनकी गिरफ़्तारी के बाद समुद्र के पश्चिम किनारे पर नमक के कारख़ानों और गोदामों पर धावे किये गये। इन धावों में पुलिस की बेरहमी की बहुत दर्दनाक घटनाएं हुईं। उन दिनों भारी-भारी हड़तालों, जुलूसों और लाठी-प्रहारों के कारण बम्बई सबसे ज़्यादा प्रसिद्ध हो रहा था। इन लाठी-प्रहारों के घायलों के इलाज के लिए कई आरज़ी अस्पताल क़ायम हो गये थे। बम्बई में कई बातें ऐसी हुईं जो ग़ौर की थीं, और बड़ा शहर होने के कारण बम्बई में प्रकाशन की सुविधा भी थी। छोटे क़स्बों और देहाती हिस्सों में भी ऐसी ही बातें हुईं, मगर वे सब प्रकाश में न आ पायीं।

जून के अन्त में मेरे पिताजी बम्बई गये, और उनके साथ माताजी और कमला भी गयीं। उनका बड़ा स्वागत किया गया। जब वह वहाँ ठहरे हुए थे, तभी कुछ बहुत ज़बरदस्त लाठी-प्रहार हुए। वास्तव में यह तो बम्बई में मामूली-सी बात हो गयी थी। क़रीब दो हफ़्ते बाद ही वहाँ सारी रात एक असाधारण अग्नि-

परीक्षा हुई, जबकि मालवीयजी और कार्य-समिति के मेम्बर एक बड़ी भारी भीड़ के साथ पुलिस के सामने, जिसने उनका रास्ता रोक रखा था, सारी रात डटे रहे।

बम्बई से लौटने पर ३० जून को पिताजी गिरफ़्तार कर लिये गये, और उनके साथ सैयद महमूद भी पकड़े गये। वे कार्य-समिति के, जो ग़ैरक़ानूनी क़रार दे दी गयी थी, स्थानापन्न अध्यक्ष और मन्त्री की हैसियत से गिरफ़्तार हुए। दोनों को छः-छः महीने की सज़ा मिली। मेरे पिताजी की गिरफ़्तारी शायद एक बयान प्रकाशित करने पर हुई थी, जिसमें उन्होंने सैनिकों या पुलिस-मैनों को निहत्थी जनता पर गोली चलाने की आज्ञा मिलने की सूरत में उनका क्या कर्तव्य है यह बताया था। यह बयान सिर्फ़ क़ानूनी था, और उसमें बताया गया था कि मौजूदा ब्रिटिश इण्डिया क़ानून में इस बाबत क्या लिखा है। मगर फिर भी वह भड़काने वाला और ख़तरनाक समझा गया।

बम्बई जाने से पिताजी को बहुत मेहनत करनी पड़ी। बड़े सवेरे से बहुत रात तक उन्हें काम करना पड़ता था और हर ज़रूरी काम का फ़ैसला उन्हें ही करना पड़ता था। वह बहुत दिनों से बीमार-से तो थे ही, अब वह बिलकुल थककर लौटे, और अपने डाक्टरों की ज़रूरी सलाह से उन्होंने फ़ौरन पूरी तरह आराम लेने का फ़ैसला कर लिया। उन्होंने मसूरी जाने की तैयारी की, और सामान वग़ैरा बँधवा लिया; मगर जिस दिन वह मसूरी जाना चाहते थे उससे एक दिन पहले ही वह नैनी सेण्ट्रल जेल की हमारी बैरक में हमारे पास आ पहुँचे।

३०
नैनी-जेल में

मैं क़रीब सात साल के बाद फिर जेल गया था, और जेल-जीवन की स्मृतियाँ कुछ-कुछ धुँधली हो गयी थीं। मैं नैनी सेण्ट्रल जेल में रखा गया था, जोकि प्रान्त का एक बड़ा जेलख़ाना है। वहाँ मुझे अकेले रहने का नया अनुभव मिला। मेरा अहाता बड़े अहाते से, जिसमें कि बाईस सौ या तेईस सौ क़ैदी थे, अलग था। वह एक छोटा सा गोल घेरा था, जिसका व्यास लगभग एक सौ फ़ीट था और जिसके चारों तरफ़ क़रीब पन्द्रह फ़ीट ऊँची गोल दीवार थी। उसके बीचों-बीच एक मटमैली और भद्दी-सी इमारत थी, जिसमें चार कोठरियाँ थीं। मुझे इनमें से दो कोठरियाँ, जो एक-दूसरे से मिली हुई थीं, दी गयीं। एक नहाने-धोने वग़ैरा के लिए थी। दूसरी कोठरियाँ कुछ वक़्त तक ख़ाली रहीं।

बाहर के विक्षोभ और दौड़-धूप के जीवन के बाद, यहाँ मुझे कुछ अकेलापन और उदासी मालूम हुई। मैं इतना थक गया था कि दो-तीन दिन तक तो मैं ख़ूब सोता रहा। गरमी का मौसम शुरू हो गया था, और मुझे रात को अपनी कोठरी के बाहर, अन्दर की इमारत और अहाते की दीवार के बीच की तंग जगह

में, खुले में सोने की इजाज़त मिल गयी थी। मेरा पलंग भारी-भारी ज़ंजीरों से कस दिया गया था, ताकि मैं कहीं उसे लेकर भाग न जाऊँ, या शायद इसलिए कि पलंग कहीं अहाते की दीवार पर चढ़ने की सीढ़ी न बना लिया जाय। रातभर अजीब तरह की आवाज़ें आया करती थीं। ख़ास दीवार की निगरानी रखनेवाले कनविक्ट ओवरसियर अक्सर एक-दूसरे को तरह-तरह की आवाज़ें लगाया करते थे। कभी-कभी वे ऐसी लम्बी आवाज़ें लगाते थे जो अन्त में दूर पर चलती हुई तेज़ हवा के कराहने की-सी आवाज़ें मालूम होती थीं। बैरकों के अन्दर से चौकीदार बराबर ज़ोर-ज़ोर से अपने क़ैदियों को गिनते थे और कहते थे कि सब ठीक है। रात में कई बार कोई-न-कोई जेल-अफ़सर अपना चक्कर लगाता हुआ हमारे अहाते में आ जाता था, और जो वार्डर ड्यूटी पर होता था उससे वहाँ का हाल पूछता था। चूँकि मेरा अहाता दूसरे अहातों से कुछ दूर था, ये आवाज़ें ज़्यादातर साफ़ सुनायी न देती थीं, और पहले-पहल मैं समझ न सका कि ये क्या हैं। पहले-पहल तो मुझे ऐसा लगा कि मैं किसी जंगल के पास हूँ और किसान लोग अपने खेतों से जंगली जानवरों को भगाने के लिए चिल्ला रहे हैं; और कभी-कभी ऐसा मालूम होता था कि मानो रात में स्वयं जंगल और जानवर, सब मिलकर गीत गा रहे हैं।

मैं सोचता हूँ कि यह मेरा महज़ ख़याल ही है, या यह सचाई है कि चौकोनी दीवार की बनिस्बत गोल दीवार में आदमी को अपने क़ैद होने का ज़्यादा भान होता है। कोनों और मोड़ों के न होने से यह भाव हमारे मन में और भी बढ़ जाता है कि हम यहाँ दबाये जा रहे हैं। दिन के वक़्त वह दीवार आसमान को भी ढक लेती थी और उसके एक छोटे हिस्से को ही देखने देती थी। मैं—

उस नन्हें नीले वितान पर
बन्दी जिसे कहें आकाश—
उड़ते हुए मेघ-खंडों पर
जिनमें रजत-ऊर्मि-आभास;[1]

अपनी सजल सतृष्ण दृष्टि डाला करता था। रात को वह दीवार मुझे और भी ज़्यादा घेर लेती थी, और मुझे ऐसा लगता था कि मैं किसी कुएँ के भीतर हूँ। कभी-कभी तारों से भरा हुआ आसमान का जितना हिस्सा मुझे दिखायी देता था वह मुझे असली नहीं मालूम होता था। वह नमूने के, बनावटी, तारामण्डल का हिस्सा लगता था।

मेरी बैरक और अहाता, आमतौर पर, सारे जेल में कुत्ताघर कहलाता था। यह एक पुराना नाम था और इसका मुझसे कोई ताल्लुक़ नहीं था। यह छोटी

---

[1] ऑस्कर वाइल्ड के अंग्रेज़ी पद्य का भावानुवाद। कवि ने अपने जेल-जीवन में 'रेडिंग जेल-प्रशस्ति' नामक एक काव्य लिखा है। उसमें से ये पंक्तियाँ उद्धृत की हैं। —अनु०

बैरक, सबसे अलग, इसलिए बनायी गयी थी कि इसमें ख़ासतौर पर ख़तरनाक अपराधी, जिन्हें अलग रखने की ज़रूरत हो, रखे जायँ। बाद में वह राजनैतिक क़ैदियों, नज़रबन्दों वग़ैरा को रखने के काम में लिया जाने लगा, जो सारे जेल से अलग रखे जा सकते थे। अहाते के सामने कुछ दूर पर एक ऐसी चीज़ थी जिसे पहले-पहल अपनी बैरक से देखकर मुझे बड़ा धक्का-सा लगा। वह एक बड़ा भारी पिंजरा-सा था, जिसके अन्दर आदमी गोल-गोल चक्कर काट रहे थे। बाद में मुझे पता लगा कि यह पानी खींचने का पम्प था, जिसे आदमी चलाते थे और जिसमें एक साथ सोलह आदमी लगते थे। देखते-देखते आदमी के लिए हर चीज़ मामूली हो जाती है। इसलिए मैं भी उसके देखने का आदी होगया। मगर हमेशा वह मुझे मनुष्य-शक्ति के उपयोग का बिलकुल मूर्खतापूर्ण और जंगली तरीक़ा मालूम हुआ, और जब कभी मैं उसके पास से गुज़रता तो मुझे किसी पशु-प्रदर्शनी की याद आ जाती।

कुछ दिनों तक तो मुझे कसरत या दूसरे किसी मतलब से अपने अहाते के बाहर जाने की इजाज़त न मिली। बाद में मुझे बड़े सवेरे, जब प्रायः अँधेरा ही रहता था, आधा घंटा बाहर निकलने और मुख्य दीवार के सहारे-सहारे अन्दर घूमने या दौड़ लगाने की इजाज़त मिल गयी। यह बड़े सुबह का वक़्त मेरे लिए इसलिए तजवीज़ किया गया था कि मैं दूसरे क़ैदियों के सम्पर्क में न आ सकूं, या वे मुझे देख न लें। पर मुझे उससे बड़ी ताज़गी आ जाती थी। इस थोड़े-से वक़्त में ज़्यादा-से-ज़्यादा खुला व्यायाम करने की ग़रज़ से मैं दौड़ लगाया करता था। दौड़ने के अभ्यास को मैंने धीरे-धीरे बढ़ा लिया था, और मैं रोज़ दो मील से ज़्यादा दौड़ लिया करता था।

मैं सवेरे बहुत जल्दी, करीब चार या साढ़े तीन बजे ही जब बिलकुल अँधेरा रहता था, उठ जाया करता था। कुछ तो जल्दी सोने से भी जल्दी उठना हो जाता था, क्योंकि मुझे जो रोशनी मिली थी वह ज़्यादा पढ़ने के लिए काफ़ी नहीं थी। मुझे तारों को देखते रहना अच्छा लगता था, और कुछ प्रसिद्ध तारों की स्थिति देखकर मुझे समय का अन्दाज़ हो जाता था। जहाँ मैं लेटता था वहाँ से मुझे ध्रुवतारा दीवार के ऊपर झांकता हुआ दिखायी देता था, और उससे असाधारण शान्ति मिलती थी। उसके चारों तरफ़ का आसमान चक्कर काटता था, मगर वह वहीं क़ायम था। वह मुझे प्रसन्नतापूर्ण और दीर्घ उद्योग का प्रतीक मालूम होता था।

एक महीने तक मेरे पास कोई साथी न था, मगर फिर भी मैं अकेला नहीं था, क्योंकि मेरे अहाते में वार्डर और कनविक्ट ओवरसियर व रसोई और सफ़ाई करनेवाले क़ैदी थे। कभी-कभी किसी काम के लिए दूसरे क़ैदी, ज़्यादातर कनविक्ट ओवरसियर—सी० ओ०—लोग भी, जो लम्बी सज़ाएं भुगत रहे थे, आ जाते थे। इनमें आजन्म-क़ैदी ज़्यादा थे। आमतौर पर समझा जाता था कि

आजन्म क़ैद बीस साल या कम में ख़त्म हो जाती है, मगर जेल में ऐसे बहुत क़ैदी थे जिन्हें बीस साल से भी ज़्यादा हो गये थे। नैनी में मैंने एक बड़ी अजीब मिसाल देखी। क़ैदियों के कन्धों पर कपड़ों में लगी हुई लकड़ी की एक पट्टी रहती है, जिसमें उनकी सज़ाओं का हाल और रिहाई की तारीख़ लिखी रहती है। एक क़ैदी की पट्टी पर मैंने पढ़ा कि उसकी रिहाई १९९६ में होगी। १९३० में ही उसको कई साल हो चुके थे, और उस समय वह अधेड़ था। शायद उसे कई सज़ाएं दी गई थीं और वे सब एक के बाद एक जोड़ दी गयी थीं। शायद कुल मिलाकर उसे पचहत्तर साल की सज़ा थी!

बरसों बीत जाते हैं और कई आजन्म-क़ैदी तो किसी बच्चे या स्त्री या जानवरों को भी नहीं देख पाते। उनका बाहरी दुनिया से सम्बन्ध बिलकुल टूट जाता है, और कोई मानवी सम्पर्क नहीं रहता। वे मन-ही-मन हमेशा घुटा करते हैं, और उनका दिमाग़ भय, बदले की भावना और नफ़रत के रोषपूर्ण विचारों से भर जाता है। दुनिया की भलाई, दयालुता और आनन्द को भूल जाते हैं, और सिर्फ़ बुराई में ही जीवन बिताते हैं। फिर धीरे-धीरे उनसे द्वेष और वैर-भाव भी चला जाता है, और उनका जीवन एक जड़ यन्त्र-जैसा बन जाता है। अपने-आप चलनेवाले यन्त्रों की तरह वे अपने दिन गुज़ारते हैं, ये सब दिन सदा बिलकुल एक-से ही गुज़रते हैं। उन्हें एक भय के सिवा और कोई भावना ही नहीं होती। समय-समय पर क़ैदियों की तुलाई और नपाई होती है। मगर मस्तिष्क और हृदय की भावना को भी, जो अत्याचार के इस भयंकर वातावरण में मुरझाकर सूख जाती है, कोई तौलता है? लोग मौत की सज़ा के ख़िलाफ़ दलीलें देते हैं और वे मुझे बहुत जँचती हैं। मगर जब मैं जेल का लम्बा संकटभरा जीवन देखता हूँ, तो सोचता हूँ कि आदमी को घुला-घुलाकर मारने के बजाय तो मौत की सज़ा ही अच्छी है। एक दफ़ा एक आजन्म-क़ैदी मेरे पास आकर मुझसे पूछने लगा—"हम आजन्म-क़ैदियों का क्या होगा? क्या स्वराज हमें नरक में से निकाल देगा?"

और ये आजन्म क़ैदी कौन होते हैं? इनमें से बहुतेरे तो सामूहिक मुक़दमों में आते हैं, जिनमें कि उन लोगों को, कभी-कभी पचास-पचास या सौ-सौ आदमियों को, एक साथ सज़ाएं होती हैं। इनमें कुछ ही शायद क़ुसूरवार होते हैं, ज़्यादातर लोग सचमुच क़ुसूरवार होते हैं इसमें मुझे संदेह है। ऐसे मुक़दमे में लोगों को फँसा देना बड़ा आसान है। किसी मुख़बिर की शहादत और थोड़ी शनाख़्त हो जानी चाहिए, बस इतना ही ज़रूरी है। आजकल डकैतियाँ बढ़ रही हैं, और जेल की आबादी हर साल ज़्यादा हो जाती है। जब लोग भूखों मर रहे हैं, तो वे क्या करें? जज और मैजिस्ट्रेट लोग अपराधों की बढ़ती पर टीका करते नहीं थकते। मगर उनकी निगाह उसके प्रकट—आर्थिक कारणों पर नहीं जाती।

इसके अलावा काश्तकार लोग आते हैं। किसी ज़मीन के टुकड़े की बाबत गाँव में झगड़ा हो जाता है, लाठियाँ चल जाती हैं और कोई मर जाता है।

नतीजा यह होता है कि जन्मभर या लम्बी मियादों के लिए कई आदमी जेल भेज दिये जाते हैं। अक्सर किसी घर के सारे पुरुष क़ैद कर दिये जाते हैं और पीछे स्त्रियाँ रह जाती हैं, जो जैसे-तैसे करके पेट पालती हैं। इनमें एक भी व्यक्ति जरायमपेशा नहीं होता। साधारणतः ये लोग शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से अच्छे युवक, औसत देहाती से कहीं ऊपर उठे हुए, होते हैं। यदि इन्हें थोड़ी तालीम मिले, और दूसरी बातों और कामों की तरफ़ इनकी रुचि थोड़ी बदल दी जाय, तो यही लोग देश के क़ीमती धन बन सकते हैं।

बेशक हिन्दुस्तान की जेलों में पक्के मुजरिम भी हैं, जो जान-बूझकर समाज के शत्रु बनकर उसके लिए बहुत ख़तरनाक हो जाते हैं। मगर मुझे जेल में ऐसे लड़के और आदमी बहुत मिले हैं जो अच्छे नमूने के थे, और जिनपर मैं बिना झिझके विश्वास कर सकता हूँ। मुझे यह नहीं मालूम कि असली जरायमपेशा और ग़ैर-जरायमपेशा क़ैदी कितने-कितने अनुपात में हैं, और शायद इस तरह विभाजन करने का ख़याल तक जेल-महकमे में किसी को नहीं आया होगा। न्यूयार्क के सिंग-सिंग-जेल के वार्डन लुई ई० लोज़ ने इस विषय के कुछ दिलचस्प आँकड़े दिये हैं। वह अपनी जेल के क़ैदियों के बारे में कहता है कि मेरी राय में पचास फ़ीसदी तो बिलकुल जरायम-वृत्ति के नहीं हैं; पचीस फ़ीसदी परिस्थितियों और मजबूरियों के कारण अपराधी बने हैं, और बाकी पचीस फ़ीसदी में से शायद आधे, यानी साढ़े बारह फ़ीसदी ही समाज में न रहने लायक़ हैं। यह तो सभी जानते हैं कि असली अपराधवृत्ति बड़े शहरों और आधुनिक सभ्यता के केन्द्रों में ज़्यादा होती है, और पिछड़े हुए देशों में कम होती है। अमेरिका की जरायमपेशा टोलियाँ तो मशहूर हैं, और सिंग-सिंग-जेल भी ख़ासतौर पर मशहूर है, जहाँ भयंकर-से-भयंकर मुजरिम भेजे जाते हैं। मगर, उनके वार्डन की राय के मुताबिक़ उनके सिर्फ़ साढ़े बारह फ़ीसदी क़ैदी ही सचमुच बुरे हैं। मेरे ख़याल से यह बड़ी अच्छी तरह कहा जा सकता है कि हिन्दुस्तान की जेलों में तो यह अनुपात इससे भी बहुत कम होगा। आर्थिक नीति थोड़ी और अच्छी हो जाय, लोगों को रोज़गार कुछ ज़्यादा मिलने लगे, और शिक्षा कुछ बढ़ जाय, तो हमारी जेलें ख़ाली की जा सकती हैं। मगर इसको कामयाब बनाने के लिए बिलकुल मौलिक योजना की, जिससे हमारी सारी सामाजिक रचना बदल जाय, ज़रूरत है। इसके सिवा दूसरा असली उपाय वही है जो ब्रिटिश-सरकार कर रही है—हिन्दुस्तान में पुलिस की तादाद और जेलों का बढ़ाना। हिन्दुस्तान में कितनी तादाद में लोग जेल भेजे जाते हैं, यह देखकर माथा ठनकने लगता है। अखिल-भारतीय-क़ैदी-सहायक समिति के मन्त्री की एक हाल की रिपोर्ट में कहा गया है कि १९३३ में सिर्फ़ बम्बई प्रान्त में ही १,२८,००० लोग जेल भेजे गये, और उसी साल बंगाल की संख्या १,२४,००० थी।[1] मुझे सब प्रान्तों के आँकड़े तो मालूम नहीं, किन्तु

[1] स्टेट्समन, ११ दिसम्बर, सन् १९३४

यदि दो प्रान्तों का जोड़ ढाई लाख है, तो बहुत सम्भव है कि सारे हिन्दुस्तान का जोड़ क़रीब दस लाख तक होगा। मगर इसे वास्तव में जेल में हमेशा रहने वालों की तादाद नहीं कह सकते, क्योंकि बहुत लोगों को तो थोड़ी-थोड़ी सज़ाएं मिलती हैं। स्थायी रहनेवालों की तादाद इससे बहुत कम होगी, मगर फिर भी वह एक बहुत बड़ी संख्या होगी। हिन्दुस्तान के कुछ बड़े प्रान्तों की जेलें संसार की बड़ी-बड़ी जेलों में समझी जाती हैं। युक्तप्रान्त भी ऐसे प्रान्तों में माना जाता है, जिसे यह गौरव—यदि इसे गौरव कहा जाय—प्राप्त है। और, बहुत सम्भव है, कहां संसार का सबसे पिछड़ा हुआ और प्रतिगामी जेल-प्रबन्ध है या था। क़ैदी को एक व्यक्ति, एक मानव-प्राणी, समझने और उसके मस्तिष्क को सुधारने या उसकी चिन्ता रखने की कुछ भी कोशिश यहाँ नहीं की जाती। युक्त-प्रान्त का जेल-प्रबन्ध जिस बात में सबसे बड़ा-चढ़ा है वह है अपने क़ैदियों को भागने न देना। वहाँ भागने की कोशिश बहुत ही कम होती है और दस हज़ार में से शायद ही एकाध कोई भागने में सफल होता होगा।

जेलख़ानों की एक अत्यन्त दुःखजनक बात है, वहाँ पन्द्रह साल या इससे ज़्यादा उम्र के लड़कों का बड़ी तादाद में होना। इनमें से ज़्यादातर तो तेज़ और होशियार दीखनेवाले लड़के होते हैं, जो अगर मौक़ा मिले तो बड़ी आसानी से अच्छे बन सकते हैं। कुछ अर्से से इन्हें मामूली पढ़ना-लिखना सिखाने की कुछ शुरु-आत की गयी है, मगर, जैसा कि हमेशा होता है, वह बिलकुल ही नाकाफ़ी और बेकार है। खेल-कूद या दिल-बहलाव का बहुत-कम मौक़ा आता होगा, किसी क़िस्म के भी अख़बार की इजाज़त नहीं है, और न किताबें पढ़ने का प्रोत्साहन दिया जाता है। बारह घंटे या इससे भी ज़्यादा देर तक सब क़ैदियों को उनकी बैरिकों या कोठरियों में ताले में रक्खा जाता है, और लम्बी-लम्बी शामों का वक़्त काटने के लिए उनके पास कोई काम नहीं रहता।

मुलाक़ातें तीन महीने में एक दफ़ा हो सकती हैं, और यही ख़तों का भी हाल है। यह मियाद अमानुषिक रूप से लम्बी है। इसपर भी, कई क़ैदी तो इससे भी लाभ नहीं उठा सकते। अगर वे अनपढ़ होते हैं, जैसे कि ज़्यादातर होते ही हैं, तो वे किसी जेल-अफ़सर से ही चिट्ठी लिखवाते हैं, और ये लोग चूँकि अपना काम और बढ़ाना नहीं चाहते इसलिए चिट्ठी लिखना अक्सर टालते रहते हैं, अगर चिट्ठी लिखी भी गयी तो पता ठीक-ठीक नहीं दिया जाता, और वह ठिकाने पर नहीं पहुँचती। मुलाक़ात करना तो और भी मुश्किल है। क़रीब-क़रीब लाज़िमी तौर पर, किसी-न किसी जेल कर्मचारी को कुछ नज़राना-शुक्रियाना देने से ही मुलाक़ात हो सकती है। अक्सर क़ैदी दूसरी-दूसरी जेलों में बदल दिये जाते हैं, और उनके घर के लोगों को उनका पता नहीं लगता। मुझे कई ऐसे क़ैदी मिले हैं जिनका ताल्लुक़ अपने कुटुम्ब से बरसों से छूट चुका था, और उन्हें मालूम था कि उनका क्या हुआ? तीन या अधिक महीनों के बाद जब मुलाक़ातें

होती भी हैं तो अजीब तरह से। जँगले के दोनों तरफ़ आमने-सामने बहुत-से क़ैदी और उनके मुलाक़ाती खड़े कर दिये जाते हैं, और वे सब एक-साथ बातचीत करने की कोशिश करते हैं। एक-दूसरे से बहुत ज़ोर से चिल्ला-चिल्लाकर बोलना पड़ता है, इससे मुलाक़ात में जो थोड़ा-बहुत मानवी-सम्पर्क हो सकता है वह भी नहीं रहता।

हज़ार में से किसी एकाध क़ैदी को (यूरोपियनों को छोड़कर) अच्छा खाना मिलने या जल्दी-जल्दी मुलाक़ात करने या ख़त लिखने की ख़ास सुविधा भी मिल जाती है। राजनैतिक आन्दोलनों में जबकि लाखों राजनैतिक क़ैदी जेल जाते हैं, इन विशेष दर्जे के क़ैदियों की तादाद कुछ थोड़ी-सी बढ़ जाती है, मगर फिर भी वह बहुत थोड़ी ही रहती है। इन राजनैतिक स्त्री और पुरुष क़ैदियों में से ६५ फ़ीसदी के साथ मामूली ढंग का ही बर्ताव किया जाता है और उन्हें ऐसी सुविधाएं भी नहीं मिलतीं।

कई लोग, जिन्हें क्रान्तिकारी हलचलों के कारण आजन्म या लम्बी सज़ाएं दी जाती हैं, लम्बे अर्से तक तनहाई कोठरियों में रखे जाते हैं। मेरा ख़याल है कि यू० पी० में तो ऐसे सब लोग आमतौर पर सीधे तनहाई कोठरियों में बन्द रखे जाते हैं। यों तो तनहाई जेल के किसी क़ुसूर के लिए सज़ा के तौर पर ही दी जाती है, मगर इन लोगों को तो, जो आमतौर पर कच्ची उम्र के नवयुवक होते हैं, शुरू से तनहाई में ही रखा जाता है, चाहे उनका बर्ताव जेल में बहुत अच्छा ही क्यों न हो। इस तरह अदालत की सज़ा के अलावा, जेल महकमा उसमें बिना किसी सबब के एक और भयंकर सज़ा बढ़ा देता है। यह बड़ी असाधारण बात है और क़ानून के किसी दफ़ा के अनुसार नहीं है। थोड़े वक़्त के लिए भी तनहाई में बन्द रखा जाना एक बड़ी दर्दनाक बात है, फिर जब यह बरसों तक रहे तब तो बड़ी ख़तरनाक हो जाती है। इससे दिमाग़ी ताक़त धीरे-धीरे लगातार घटती जाती है, और अन्त में पागलपन की हद तक पहुँच जाती है, और क़ैदी का चेहरा विचार-शून्य या भयभीत पशु जैसा दिखने लगता है। यह मनुष्य की शक्ति को धीमे-धीमे ख़त्म करना या उसकी आत्मा को धीरे-धीरे हलाल करना है। अगर आदमी ज़िन्दा बचता भी है तो वह एक विलक्षण जीव और दुनिया के लिये बे-मौज़ूँ बन जाता है। और यह सवाल तो हमेशा उठता ही रहता है कि क्या वह व्यक्ति वास्तव में किसी कार्य या अपराध का गुनहगार भी था? हिन्दुस्तान में पुलिस के तरीक़े अर्से से सन्देह की दृष्टि से देखे जाते हैं, और राजनैतिक मामलों में तो वे बहुत ही ज़्यादा सन्देहास्पद हैं।

यूरोपियन या यूरेशियन क़ैदियों को चाहे उन्होंने कोई भी अपराध किया हो या उनकी कैसी भी हैसियत हो, अपने-आप ऊँचे दर्जे में रख दिया जाता है, और उन्हें ज़्यादा अच्छा भोजन, हलका काम और जल्दी-जल्दी ख़त और मुलाक़ात की सुविधाएं दी जाती हैं। हर हफ़्ते पादरी के आने से वे बाहर की बातों के सम्पर्क में बने रहते हैं। पादरी उनके लिए सचित्र और हँसी-मज़ाक़-

वाले विदेशी अखबार ले आता है, और जब ज़रूरत होती है तब उसके घर-वालों से पत्र-व्यवहार करता रहता है।

यूरोपियन क़ैदियों को ये सुविधाएँ क्यों मिली हैं इसकी किसीको शिकायत नहीं है, क्योंकि उनकी तादाद थोड़ी ही है, मगर दूसरे—स्त्री और पुरुष—क़ैदियों के प्रति व्यवहार में मनुष्यता का बिलकुल अभाव देखकर ज़रूर रंज होता है। क़ैदी को एक व्यक्ति, एक मानव प्राणी, नहीं समझा जाता, और इसलिए उसके साथ वैसा बर्ताव भी नहीं किया जाता। जेल को तो सरकारी तन्त्र द्वारा बुरे-से-बुरे दमन का अमानुषिक पहलू समझना चाहिए। यह एक ऐसा यन्त्र है जो बेरहमी से, बिना सोचे, काम करता रहता है और उसकी पकड़ में जो कोई आ जाता है उसे कुचल डालता है। जेल के क़ायदे इसी यन्त्र को दिखाने के लिए ख़ास तौर पर बनाये गये हैं। जब भावनाशील स्त्री या पुरुष यहाँ आते हैं, तो यह हृदयहीन शासन उनके मन को एक यातना और पीड़ा जैसा लगता है। मैंने देखा है कि कभी-कभी लम्बी मियाद के क़ैदी जेल की उदासी से ऊबकर बच्चे की तरह फूट-फूटकर रोने लगते हैं, और सहानुभूति और प्रोत्साहन के थोड़े-से शब्दों से, जोकि इस वातावरण में बहुत दुर्लभ होते हैं, उनके चेहरे ख़ुशी और अहसानमन्दी से चमक उठते हैं।

इतना होने पर भी, क़ैदियों में एक-दूसरे के प्रति उदारता और अच्छी मित्रता के कई हृदय स्पर्शी उदाहरण भी दिखायी देते थे। एक बार एक अन्धा दुबारा क़ैदी तेरह साल के बाद रिहा हुआ। इस लम्बे अर्से के बाद वह बाहर जा रहा था, जहाँ न उसके पास कोई साधन थे, न दोस्त। उसके साथी क़ैदी उसकी सहायता करना चाहते थे, लेकिन वे ज़्यादा नहीं कर सकते थे। एक ने जेल-दफ़्तर में जमा की हुई अपनी क़मीज़ दी, दूसरे ने कोई और कपड़ा दिया। एक तीसरे को उसी दिन सवेरे चप्पल की जोड़ी मिली थी, जिसे उसने अभिमान से मुझे दिखाया था। जेल में यह चीज़ मिलना बड़ी भारी बात है। मगर जब उसने देखा कि उसका कई साल का साथी यह अन्धा नंगे-पैर बाहर जा रहा है तो उसने ख़ुशी से उसे अपने नये चप्पल दे दिये। उस समय मैंने सोचा कि शायद जेल के अन्दर बाहर से ज़्यादा उदारता है।

१९३० का वह साल आश्चर्यजनक परिस्थितियों और स्फूर्तिदायक घटनाओं से भरा हुआ था। गांधीजी की सारे राष्ट्र में स्फूर्ति और उत्साह भर देने की अद्भुत शक्ति से मुझे सबसे ज़्यादा आश्चर्य हुआ। उनकी शक्ति में एक मोहिनी-सी मालूम होती थी, और उनके बारे में जो बात गोखले ने कही थी वह हमें याद आयी—उनमें मिट्टी से सूरमा बना लेने की ताक़त है। शान्तिपूर्ण सविनय भंग महान् राष्ट्रीय उद्देश्यों को पूर्ण करने के लिए लड़ाई के शस्त्र और शास्त्र दोनों तरह से काम में आ सकता है, यह बात सच मालूम हुई। और देश में, मित्रों और विरोधियों दोनों को बिलकुल भरोसा-सा होने लगा कि हम सफलता की

ओर आ रहे हैं। आन्दोलन में क्रियात्मक रूप से काम करने वालों में एक अजीब उत्साह भर आया, और थोड़ा-थोड़ा जेल के भीतर भी आ पहुँचा। मामूली क़ैदी भी कहते थे कि स्वराज आ रहा है। और इस उम्मीद से कि उससे उन्हें भी कुछ फ़ायदा हो जायगा वे आतुरता से उसका इन्तज़ार करते थे। बाज़ार की बातचीत सुन-सुनकर वार्डर लोग भी उम्मीद करते थे कि स्वराज नज़दीक ही है। इसपे जेल के छोटे-छोटे अफ़सर कुछ और घबराहट में पड़ जाते थे।

जेल में हमें दैनिक पत्र नहीं मिलता था, मगर एक हिन्दी साप्ताहिक पत्र से हमें कुछ खबरें मिल जाया करती थीं, और ये खबरें ही अक्सर हमारी कल्पनाओं को तेज़ कर दिया करती थीं। रोज़ लाठी-प्रहार होना, किसी-किसी दिन गोली चलना, शोलापुर में फ़ौजी क़ानून जारी होना, जिसमें राष्ट्रीय झंडा ले जाने के लिए ही दस साल की सज़ा दी गई थी, ऐसी ख़बरें आती थीं। सारे देश में हमें अपने लोगों, ख़ासकर स्त्रियों पर बड़ा अभिमान होने लगा। मुझे तो अपनी माता, पत्नी और बहनों तथा दूसरी चचेरी बहनों और महिला-मित्रों के कार्यों के कारण विशेष सन्तोष हुआ और हालाँकि मैं उनसे दूर था, और जेल में था, फिर भी मुझे ऐसा लगा कि हम सब एक ही महान् कार्य में साथ-साथ कार्य करने के नये नाते से एक-दूसरे के बहुत पास आ गये हैं। ऐसा मालूम होने लगा मानो परिवार तो उससे भी बड़े समुदाय में समा गया है। मगर फिर भी उसमें पुरानी मधुरता और निकटता बनी रही। कमला ने तो मुझे आश्चर्य में ही डाल दिया, क्योंकि उसकी क्रिया-शीलता और उत्साह ने उसकी बीमारी को दबा दिया, और कम-से-कम कुछ समय के लिए तो वह बहुत ज़्यादा काम-काज करते रहने पर भी चंगी बनी रही।

जिस वक़्त बाहर दूसरे लोग ख़तरे का मुक़ाबला कर रहे हैं, और कष्ट उठा रहे हैं, उस वक़्त मैं जेल में आराम से समय बिता रहा हूँ, यह ख़याल मुझे दिक़ करने लगा। मैं बाहर जाने की इच्छा करता था, किन्तु नहीं जा सकता था। इसलिए मैंने अपना जेल-जीवन बड़ा कठोर कार्यमय बना लिया। मैं अपने चर्खे पर रोज़ क़रीब तीन घंटे सूत कातता था। इसके अलावा दो या तीन घंटे मैं निवाड़ बुनता, जो मैंने जेल-अधिकारियों से ख़ासतौर पर माँग ली थी। मैं इन कामों को पसन्द करता था। इनमें न ज़्यादा ज़ोर पड़ता था न थकावट होती थी, और मेरा समय काम में लग जाता था। इससे मेरे दिमाग़ का बुख़ार भी शान्त हो जाता था। मैं बहुत पढ़ता रहता था, या सफ़ाई करने या कपड़े धोने वग़ैरा में लगा रहता था। मैं मशक़्क़त अपनी ख़ुशी से ही करता था, क्योंकि मुझे सज़ा सादी मिली थी।

इस तरह, बाहर की घटनाओं और अपने जेल-कार्य-क्रम का विचार करते-करते, मैं नैनी-जेल में अपने दिन गुज़ारने लगा। हिन्दुस्तान के इस जेल की कार्य-प्रणाली देखकर मुझे यह प्रतीत हुआ कि वह हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी सरकार की

प्रणाली से भिन्न नहीं है। सरकार का शासन-तन्त्र बहुत सुव्यवस्थित है, जिसके फलस्वरूप देश पर सरकार का क़ब्ज़ा मज़बूत होता है, मगर जिसमें देश की मानव-सामग्री की चिन्ता बहुत थोड़ी, या बिलकुल नहीं, की जाती है। ऊपर से तो यही दिखना चाहिए कि जेल का प्रबन्ध सुचारु रूप से हो रहा है, और यह किसी हद तक ठीक भी है। मगर शायद कोई भी यह ख़याल नहीं करता कि जेल का ख़ास लक्ष्य होना चाहिए उसमें आनेवाले अभागे लोगों को सुधारना और उनकी सहायता करना। यहाँ तो बस यही ख़याल है कि उनको कुचल डालो, ताकि जबतक वे बाहर निकलें, तबतक उनमें ज़रा-सी भी हिम्मत बाक़ी न रहे। और जेल का प्रबन्ध संचालन किस तरह होता है, क़ैदियों को कैसे क़ाबू में रक्खा जाता है, और कैसे दण्ड दिया जाता है, यह बात ज़्यादातर क़ैदियों की ही सहायता से हो होती है। क़ैदियों में से ही कुछ लोग कनविक्ट-वार्डर (सी० डब्ल्यू०) या कनविक्ट-ओवरसियर (सी० ओ०) बना दिये जाते हैं, और वे ख़ौफ़ से या इनामों या छूट के प्रलोभन से अधिकारियों के साथ सहयोग करने लगते हैं। तनख़्वाहदार ग़ैर-कनविक्ट-वार्डर वैसे थोड़े-ही हैं। जेल के अन्दर की ज़्यादातर हिफ़ाज़त और चौकीदारी कनविक्ट-वार्डर और सी० ओ० ही करते हैं। जेल में मुख़बिरी का भी ख़ूब ज़ोर-रहता है। क़ैदियों को एक-दूसरे की चुग़ली और मुख़बिरी करने को उत्साहित किया जाता है, और क़ैदियों को एका करने या कोई भी संयुक्त कार्य करने की तो इजाज़त ही नहीं रहती। यह सब आसानी से समझ में आ सकता है, क्योंकि उनमें फूट रखने से ही वे क़ाबू में रक्खे जा सकते हैं।

जेल से बाहर, हमारे देश के शासन में भी, यही एक प्रणाली व्यापक लेकिन कम ज़ाहिर रूप में दिखायी देती है। मगर यहाँ सी० डब्ल्यू० और सी० ओ० लोगों का नाम बदल गया है। उनके बड़े-बड़े शानदार नाम हैं और उनकी वर्दियाँ ज़्यादा तड़क-भड़कदार हैं और नियम-पालन कराने के लिए, जेल की ही तरह, उनके पीछे हथियारबन्द सशस्त्र दल रहता है।

आधुनिक राज्यों के लिए जेलख़ाना कितना ज़रूरी और लाज़िमी है, कम-से-कम क़ैदी तो यही सोचने लगता है। सरकार के प्रबन्ध आदि विषयक तरह-तरह के कार्य तो जेल पुलिस और फ़ौज के मौलिक कार्यों के मुक़ाबले में थोथे मालूम होने लगते हैं। जेल में आदमी मार्क्स के इस सिद्धान्त की क़दर करने लगता है, कि राज्य तो वास्तव में उस दल की, जिसके हाथ में शासन है, इच्छा को अमल में लानेवाला एक ज़बरदस्ती का साधन है।

एक महीने तक मैं अपनी बैरक में अकेला ही रहा। फिर एक साथी—नर्मदाप्रसादसिंह—आ गये, और उनके मिलने से बड़ी सान्त्वना मिली। इसके ढाई महीने बाद, जून १९२० की आख़िरी तारीख़ को हमारे अहाते में असाधारण खलबली मच गयी। अचानक बड़े सवेरे मेरे पिताजी और डा० सैयद महमूद

वहाँ लाये गये। वे दोनों आनन्द-भवन में, जबकि अपने बिस्तरों में सोये हुए थे, गिरफ़्तार किये गये थे।

३१

यरवडा में सन्धि-चर्चा

पिताजी की गिरफ़्तारी के साथ ही, या उसके फौरन बाद ही, कार्य-समिति ग़ैर-कानूनी क़रार दे दी गयी। इससे एक नयी स्थिति पैदा हो गयी—यदि कमिटी अपनी मीटिंग करे तो सब-के-सब मेम्बर एक साथ गिरफ़्तार हो सकते थे। इसलिए कार्यवाहक सभापतियों को जो अख़्तियार दे दिया गया था उसके मुताबिक़ स्थानापन्न मेम्बर उसमें और जोड़े गये और इस सिलसिले में कई स्त्रियाँ भी मेम्बर बनीं। कमला भी उनमें थी।

पिताजी जब जेल आये तो उनकी तन्दुरुस्ती निहायत ख़राब थी और वह जिन हालतों में वहाँ रक्खे गये थे उनमें उन्हें बड़ी तकलीफ़ थी। सरकार ने जान-बूझकर यह स्थिति पैदा नहीं की थी, क्योंकि वह अपनी तरफ़ से तो उनकी तकलीफ़ कम करने की भरसक कोशिश करने को तैयार थी, परन्तु नैनी-जेल में वह अधिक कुछ नहीं कर सकी। मेरी बैरक की ४ छोटी-छोटी कोठरियों में हम चार आदमियों को एकसाथ रख दिया गया। जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट ने सुझाया भी कि पिताजी को किसी दूसरी जगह रख दें, जहाँ उन्हें कुछ ज़्यादा जगह मिल जाय, लेकिन हम लोगों ने एक साथ रहना ही बेहतर समझा, क्योंकि इससे हम कोई-न-कोई उनकी सम्हाल रख सकते थे।

बारिश शुरू ही हुई थी पर कोठरी के अन्दर की ज़मीन मुश्किल से सूखी रहती थी, क्योंकि छत से पानी जगह-जगह टपकता रहता था। रात के वक़्त रोज़ यह सवाल उठता कि पिताजी का बिछौना हमारी कोठरी से सटे उस छोटे-से बरामदे में, जो १० फ़ीट लम्बा और ५ फ़ीट चौड़ा था, कहाँ लगाया जाय, जिससे पानी से बचाव हो सके? कभी-कभी उन्हें बुख़ार आ जाता था। आख़िर जेल-अधिकारियों ने हमारी कोठरी से लगा हुआ एक और अच्छा बड़ा बरामदा बनवाना तय किया। बरामदा बन तो गया और उससे ज़्यादा आराम भी मिलता, मगर पिताजी को उसका कुछ फ़ायदा न मिला, क्योंकि उसके तैयार होने के बाद शीघ्र ही उन्हें रिहा कर दिया गया। तब हममें से जो लोग वहाँ पीछे रह गये थे उन्होंने उससे पूरा फ़ायदा उठाया।

जुलाई के अख़ीर में यह चर्चा बहुत सुनाई दी कि सर तेजबहादुर सप्रू और जयकर साहब इस बात की कोशिश कर रहे हैं कि कांग्रेस और सरकार के बीच सुलह हो जाय। हमने यह ख़बर एक दैनिक पत्र में पढ़ी जो पिताजी को ख़ासतौर पर बतौर रिआयत के दिया जाता था। उसमें हमने वह सारा पत्र-व्यवहार पढ़ा जो

वाइसराय लार्ड इर्विन और सर सप्रू तथा जयकर साहब के बीच हुआ था। और बाद में हमें यह भी मालूम हुआ कि हमारे ये 'शान्तिदूत' गांधीजी से भी मिले थे। हमारी समझ में यह नहीं आता था कि आख़िर इनको सुलह की इतनी क्यों पड़ी है, या ये इससे क्या नतीजा निकालना चाहते हैं। बाद को हमें मालूम हुआ कि उन्हें इस बात का उत्साह मिला है पिताजी के एक छोटे-से बयान से, जो उन्होंने बम्बई में अपनी गिरफ़्तारी से कुछ पहले दिया था। वक्तव्य का खर्रा मि० स्लोकॉम्ब (लन्दन के 'डेली हेरल्ड' के संवाददाता, जो उन दिनों हिन्दुस्तान में थे) का बनाया हुआ था, जो पिताजी से बातचीत करके तैयार किया गया था और जिसे उन्होंने पसन्द भी कर लिया था। इस वक्तव्य[1] में यह बताया गया था कि अगर सरकार कुछ शर्तें मान ले तो सम्भव है कि कांग्रेस सत्याग्रह को वापस ले लेगी।

यह एक गोल-मोल और कच्ची बात थी और उसमें भी यह साफ़ कह दिया गया था कि उन स्पष्ट शर्तों पर भी तबतक विचार नहीं किया जा सकेगा, जबतक पिताजी गांधीजी से और मुझसे मशवरा न कर लें। मुझसे ज़रूरत इसलिए पड़ती थी कि मैं उस साल कांग्रेस का प्रधान था। मुझे याद है कि अपनी गिरफ़्तारी के बाद पिताजी ने इसका ज़िक्र नैनी में मुझसे किया था, और उन्हें इस बात पर

[1] यह वक्तव्य २५ जून १९३० को प० मोतीलाल नेहरू की सहमति से दिया गया था—"यदि किन्हीं हालतों मे ब्रिटिश-सरकार और भारत-सरकार—हालांकि इसका पहले से अन्दाज़ नही किया जा सकता कि गोलमेज़ परिषद् अपनी खुशी से क्या सिफ़ारिशें करेगी या ब्रिटिश पार्लमेण्ट का उन सिफ़ारिशों के बारे में क्या रुख रहेगा—खानगी तौर पर यह आश्वासन दें कि वे भारत के लिए पूर्ण उत्तरदायी शासन की मांग का समर्थन करेंगी, सिर्फ़ शर्त इतनी होगी कि हिन्दुस्तान की खास ज़रूरतों और अवस्थाओं और ग्रेटब्रिटेन के साथ उसका पुराना सम्बन्ध होने के कारण ज़रूरी बातों पर दोनों में आपस में समझौता हो जायगा और सत्ता को हस्तान्तर करने की शर्तें तय हो जायँगी और इनका निर्णय गोलमेज़ कान्फ्रेंस करेगी, तो पंडित मोतीलाल नेहरू यह ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ले लेते हैं कि वह खुद इस तरह का आश्वासन—या किसी तीसरे ज़िम्मेदार पार्टी का यह इशारा कि ऐसा आश्वासन मिल जायगा— गांधीजी या प० जवाहरलाल नेहरू तक ले जावेंगे। यदि ऐसा आश्वसन मिला और मंज़ूर कर लिया गया तो इससे सुलह का रास्ता खुल जायगा, जिसके मानी यह होंगे कि इधर सविनय भंग-आन्दोलन बन्द किया जायगा और साथ ही उधर सरकार की मौजूदा दमन-नीति भी खत्म हो जायगी, राजनैतिक क़ैदियों की आम रिहाई होगी और इसके बाद कांग्रेस उन शर्तों पर, जो आपस में तय हो जायँगी, गोलमेज़-कान्फ्रेंस में शरीक होगी।"

दुःख ही रहा कि उन्होंने जल्दी में ऐसा गोल-मोल वक्तव्य दे डाला और सम्भव था कि उसका ग़लत अर्थ लगाया जाय। और दरअसल ऐसा हुआ भी, क्योंकि जिन लोगों की विचार-धारा हमसे बिलकुल जुदा है उनके द्वारा तो बिलकुल स्पष्ट और यथार्थ वक्तव्यों का भी ग़लत अर्थ लगाये जाने की सम्भावना रहती ही है।

२७ जुलाई को सर तेजबहादुर सप्रू और जयकर अचानक नैनी-जेल में हमसे मिलने आ पहुँचे। वे गांधीजी का एक पत्र साथ लाये थे। उस दिन तथा दूसरे दिन हम लोगों में बड़ी देर तक बातचीत हुई। पिताजी को हरारत थी। इस बातचीत से वह बहुत थक गये। हमारी बातचीत और बहस घूम-घामकर वहीं आ जाती थी जहाँ से शुरू हुई थी। हम लोगों के राजनैतिक दृष्टि-बिन्दु इतने जुदा-जुदा थे कि हम मुश्किल से एक-दूसरे की भाषा और भावों को समझ पाते थे। हमें यह साफ़ दिखायी देता था कि मौजूदा हालत में कांग्रेस और सरकार के बीच सुलह होने का कोई मौक़ा नहीं है। हमने अपने साथियों—कार्य-समिति के सदस्यों—और ख़ासकर गांधीजी से सलाह किये बिना अपनी तरफ़ से कुछ भी कहने से इन्कार कर दिया, और हमने इस आशय की एक चिट्ठी गांधीजी को लिख भी दी।

ग्यारह दिन बाद, ८ अगस्त को, डॉक्टर सप्रू वाइसराय का जवाब लेकर फिर हमसे मिलने आये। वाइसराय को इस बात पर कोई एतराज़ न था कि हम लोग यरवडा जावें (यरवडा पूना के पास है और यहीं का जेल में गांधीजी रखे गये थे); लेकिन वह तथा उनकी कौंसिल हमें सरदार वल्लभभाई, मौलाना अबुलकलाम आज़ाद और कार्य-समिति के दूसरे मेम्बरों से मिलने की इजाज़त नहीं दे सकती थी, जो कि बाहर थे और सरकार के ख़िलाफ़ क्रियात्मक आन्दोलन कर रहे थे। डॉक्टर सप्रू ने हमसे पूछा कि ऐसी हालत में आप लोग यरवडा जाने को तैयार हैं या नहीं? हमने कहा कि हमें तो कभी भी गांधीजी से मिलने जाने में कोई उज़्र नहीं है, न हो सकता है, लेकिन जबतक हम अपने दूसरे साथियों से न मिल लें, तबतक किसी अन्तिम निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकेगा। इत्तफ़ाक़ से उसी दिन या शायद एक दिन पहले के अख़बार में यह ख़बर पढ़ी कि बम्बई में भयंकर लाठी-चार्ज हुआ और सरदार वल्लभभाई, मालवीयजी, तसद्दुक अहमद शेरवानी वग़ैरा कार्य-समिति के स्थायी या स्थानापन्न मेम्बर गिरफ़्तार कर लिये गये हैं। हमने डॉक्टर सप्रू से कहा कि इस घटना से मामला सुधरा नहीं है और हमने उनसे कह दिया कि वह सारी स्थिति वाइसराय के सामने साफ़ कर दें। फिर भी डाक्टर सप्रू ने कहा कि गांधीजी से तो जल्दी मिलने में हर्ज ही क्या है? हमने उन्हें यह बात पहले ही कह दी थी कि यदि हमारा जाना यरवडा हुआ तो हमारे साथी डॉक्टर सैयद महमूद भी, जो हमारे साथ नैनी में ही थे, बहैसियत कांग्रेस-सेक्रेटरी हमारे साथ चलेंगे।

दो दिन बाद, १० अगस्त को, हम तीनों—पिताजी, महमूद और मैं—एक

स्पेशल ट्रेन में नैनी से पूना भेजे गये। हमारी गाड़ी बड़े बड़े स्टेशनों पर नहीं ठहरी, हम उन्हें झपाटे से पार करते हुए चले गये, कहीं-कहीं छोटे और किनारे के स्टेशनों पर ट्रेन ठहरायी गयी। फिर भी हमारे जाने की खबर हमसे आगे दौड़ गयी और लोगों की बड़ी भीड़ स्टेशनों पर—जहाँ हम ठहरे वहाँ भी और जहाँ नहीं ठहरे वहाँ भी—इकट्ठी हो गयी। हम ११ की रात को पूना के नज़दीक खिड़की स्टेशन पर पहुँचे।

हमने उम्मीद तो यह की थी कि हम गांधीजी की ही बैरक में ठहराये जायँगे, या कम-से-कम उनसे जल्दी ही मुलाकात हो जायगी। यरवडा के सुपरिण्टेण्डेण्ट ने तो यही तजवीज़ कर रक्खी थी, लेकिन ऐन वक़्त पर उन्हें अपना प्रबन्ध बदल देना पड़ा। जो पुलिस अफ़सर हमारे साथ नैनी से आया था उसके द्वारा यरवडा वालों को ऐसी ही कुछ हिदायत मिली थी। सुपरिण्टेण्डेण्ट कर्नल मार्टिन ने तो हमें इस रहस्य का पता न दिया, परन्तु पिताजी ने कुछ ऐसे मार्मिक प्रश्न किये जिनसे यह मालूम हो गया कि हमें गांधीजी से (कम-से-कम पहली बार तो) सप्रू और जयकर साहब के सामने ही मिलने दिया जायगा। यह अन्देशा किया गया था कि अगर हम पहले मिल लेंगे तो हमारा रुख़ कड़ा हो जायगा और हम सब और भी मज़बूत हो जायँगे। लिहाज़ा वह सारी रात और दूसरे दिनभर और रातभर हम दूसरी बैरक में रखे गये। इसपर पिताजी को बहुत बुरा मालूम हुआ। वहाँ ले जाकर गांधीजी से न मिलने देना, जिनसे मिलने के लिए हम इतनी दूर नैनी से लाये गये, गोया हमें तरसाना और तड़पाना था। आख़िर १३ ता० को दोपहर के पहले हमें ख़बर की गयी कि सर सप्रू और जयकर साहब तशरीफ़ ले आये हैं और गांधीजी भी जेल के दफ़्तर में उनके साथ मौजूद हैं और आप सबको वहीं बुलाया है। पिताजी ने जाने से इन्कार कर दिया और जब जेलवालों की तरफ़ से बहुतेरी सफ़ाइयाँ दी गयीं और माफ़ियाँ माँगी गयीं और यह तय पाया कि हम पहले अकेले गांधीजी से ही मिलाये जायँगे, तब वह वहाँ जाने को राज़ी हुए। आगे चलकर हम सबके सम्मिलित अनुरोध पर सरदार पटेल और जयरामदास दौलतराम, जो दोनों यरवडा ले आये गये थे, और सरोजिनी नायडू भी, जो हमारे सामने की स्त्री-बैरक में ही रक्खी गयी थीं, हमारे साथ बातचीत में शरीक किये गये। उसी रात पिताजी, महमूद और मैं तीनों गांधीजी के अहाते में ले जाये गये और यरवडा से चलने तक हम वहीं रहे। वल्लभभाई और जयरामदास भी वहाँ लाये गये और वे भी वहाँ रक्खे गये, जिससे हमारे आपस में सलाह-मशवरा किया जा सके।

१३, १४ और १५ अगस्त तक सप्रू और जयकर साहब से हमारा मशवरा जेल के दफ़्तर में होता रहा और हमने आपस में चिट्ठी-पत्री के द्वारा अपने-अपने विचार भी प्रदर्शित कर दिये, जिनमें हमारी तरफ़ से वे कम-से-कम शर्तें बता दी गयीं जिनके पूरा होने पर सविनय-भंग वापस लिया जा सकता था और

सरकार के साथ सहयोग किया जा सकता था। बाद को ये चिट्ठियाँ अखबारों में भी छाप दी गयीं थीं।[1]

इन बातचीतों का पिताजी के शरीर पर बुरा असर हुआ और १६ ता० को एकाएक उन्हें ज़ोर का बुखार आ गया। इससे हमारा जाना रुक गया और हम १९ की रात को रवाना हो पाये—फिर उसी तरह स्पेशल ट्रेन से। बम्बई-सरकार ने सफ़र में हर तरह से पिताजी के आराम का खयाल रक्खा और यरवडा-जेल में भी उनके आराम का पूरा-पूरा प्रबन्ध किया गया था। जिस रात हम यरवडा पहुंचे उस दिन एक मज़ेदार घटना हुई, जो मुझे अब तक याद है। सुपरिण्टेण्डेण्ट कर्नल मार्टिन ने पिताजी से पूछा कि आप किस तरह का खाना पसन्द करेंगे? पिताजी ने कहा कि मैं बहुत सादा और हल्का खाना खाता हूँ, और उन्होंने सुबह की चाय से लेकर रात के खाने तक की सब ज़रूरी चीज़ें गिना दीं (नैनी में रोज़ हम लोगों के घर से खाना आता था)। पिताजी ने सरल भाव से जो-जो चीजें लिखायीं वे थीं तो सब सादी और हल्की ही, मगर उन्हें देखकर कर्नल मार्टिन दंग रह गये। बहुत मुमकिन था कि रिज और सेवाय होटल में वे चीज़ें सादा और हल्की समझी जाती हों, जैसा कि ख़ुद पिताजी भी समझते थे; लेकिन यरवडा जेल में ये अजीब और बेतुकी दिखायी दीं। महमूद और मैं बड़ी रंगत के साथ उस समय कर्नल मार्टिन के चेहरे के उतार-चढ़ाव देखते रहे, जबकि पिताजी भोजन की उन कई तरह की और खर्चीली चीज़ों के नाम सुनाते जा रहे थे, क्योंकि कई दिनों से उनके यहाँ भारत का सबसे बड़ा और बहुत नामी नेता रखा गया था और उसकी भोजन-सामग्री थी सिर्फ़ बकरी का दूध, खजूर और शायद कभी-कभी नारंगियाँ। मगर जो यह नया नेता उनके सामने आया उसका ढंग कुछ और ही था।

पूना से नैनी लौटते समय भी हम बड़े बड़े स्टेशन छलाँगते गये और ऐसी-वैसी मामूली जगह गाड़ी ठहरती रही। मगर भीड़ अब की और ज़्यादा थी प्लेटफ़ार्म भरे हुए थे और कहीं-कहीं तो रेलवे लाइन पर भी भीड़ जमा हो गयी थी—ख़ासकर हरदा, इटारसी और सोहागपुर में यहाँ तक कि दुर्घटनाएं होते-होते बचीं।

पितजी की हालत तेज़ी से गिरने लगी। कितने ही डॉक्टर उन्हें देखने गये—ख़ुद उनके डॉक्टर भी और प्रान्तीय सरकार की तरफ़ से भेजे हुए डॉक्टर भी। ज़ाहिर था कि जेल उनके लिए सबसे ख़राब जगह थी और वहाँ किसी तरह माक़ूल इलाज भी नहीं हो सकता था। मगर फिर भी जब किसी मित्र ने अख़बार में लिखा कि बीमारी के सबब से उन्हें रिहा कर देना चाहिए, तो पिताजी बहुत बिगड़े और उन्होंने कहा कि लोग समझेंगे कि मेरी तरफ़ से यह इशारा कराया गया है। यहाँतक कि उन्होंने लार्ड इर्विन को तार दिया कि मैं ख़ास मेहरबानी

---

[1] जिन चिट्ठियों में ये शर्तें दी गयी थीं वे परिशिष्ट नं० २ में दी गयी हैं

कराके नहीं छूटना चाहता। लेकिन उनकी हालत दिन-ब-दिन ख़राब ही होती गयी। वज़न तेज़ी से गिरता जा रहा था, और उनका शरीर एक छाया या ढाँचा मात्र रह गया था। आख़िर ८ सितम्बर को, ठीक १० सप्ताह बाद, वह रिहा कर दिये गये।

उनके चले जाने से हमारी बैरक से मानो जीवन और आनन्द चला गया। जब वह हमारे पास थे तो उनके लिए न जाने क्या-क्या करना पड़ता था, उनके आराम के लिए छोटी-छोटी बातों का भी ध्यान रखना पड़ता था। और हम सब—महमूद, नर्मदाप्रसाद और मैं—बड़ी ख़ुशी-ख़ुशी उनकी सेवा में दिन बिताते थे। मैंने निवाड़ बुनना छोड़ दिया था, कातना भी बहुत कम कर दिया था, और न किताबें पढ़ने का ही वक़्त मिलता था। जब वह चले गये तो हमें फिर उन्हीं कामों को शुरू करना पड़ा, मगर दिल पर बोझ बना रहता था। और वह आनन्द नहीं रहा था। उनके रिहा होने पर तो दैनिक पत्र भी मिलना बन्द हो गया था। ४-५ दिन बाद मेरे बहनोई रणजित पंडित गिरफ़्तार हुए और हमारी बैरक में ही रखे गये।

१ महीने बाद, ११ अक्तूबर को, मेरी छः महीने की सज़ा पूरी हो जाने पर, मैं छोड़ दिया गया। मैं जानता था कि मैं थोड़े ही दिन आज़ाद रह सकूँगा, क्योंकि लड़ाई जमती और तेज़ होती जा रही थी। 'शान्ति-दूतों'—सप्रू-जयकर साहब—की कोशिशें बेकार हो चुकी थीं। उसी दिन, जिस दिन मैं छूटा, दो और आर्डिनेन्स जारी किये गये थे। ऐसे वक़्त पर छूटने से मुझे ख़ुशी हुई और मैं इस बात के लिए उत्सुक था कि जितने दिन आज़ाद रहूँ कुछ अच्छा और ज़ोरदार काम कर जाऊँ।

उन दिनों कमला इलाहाबाद थी और वह कांग्रेस के काम में जुट पड़ी थी। पिताजी मसूरी में इलाज करा रहे थे और माँ तथा बहनें उनके साथ थीं। कमला को साथ लेकर मसूरी जाने से पहले कोई डेढ़ दिन तक मैं इलाहाबाद में ही व्यस्त रहा। उन दिनों हमारे सामने जो बड़ा सवाल था वह यह कि देहात में करबन्दी आन्दोलन शुरू किया जाय या नहीं? लगान-वसूली का वक़्त नज़दीक आ रहा था और यों भी लगान वसूल होने में दिक़्क़त आनेवाली थी; क्योंकि नाज के भाव बुरी तरह गिर गये थे। संसारव्यापी मन्दी का प्रभाव हिन्दुस्तान-भर में दिखायी दे रहा था।

लगानबन्दी-आन्दोलन के लिए इससे बढ़कर उपयुक्त अवसर नहीं दिखायी देता था—दोनों तरह से, सविनय-भंग आन्दोलन के सिलसिले में भी और यों स्वतन्त्र रूप से भी। यह ज़ाहिर तौर पर असम्भव था कि ज़मींदार और काश्तकार उस साल की पैदावार से पूरा-पूरा लगान चुका दें। उन्हें या तो पिछले साल की बचत, अगर कुछ हो तो उसका, या क़र्ज़ का सहारा लिये बिना चारा न था। ज़मींदार के पास तो यों भी कुछ-न-कुछ सहारा रहता है, और उसे

क़र्ज़ भी आसानी से मिल सकता है; मगर एक औसत किसान का तो, जो अमूमन भूखा-नंगा और कंगाल होता है, कोई सहारा नहीं होता। किसी भी प्रजातन्त्री देश में या और जगह जहाँ किसानों का संगठन अच्छा और प्रभावशाली है, इन परिस्थितियों में, किसानों से ज़्यादा वसूल करना असम्भव होता। लेकिन भारत में उनका प्रभाव नाममात्र का है—सिवा इसके कि कहीं-कहीं कांग्रेस उनकी हिमायत करती और उनका साथ देती है। हाँ, एक बात और भी है। सरकार को यह डर ज़रूर लगा रहता है कि जब किसानों के लिए हालत असहनीय हो जायगी, तो वे उठ खड़े होंगे और बुरी तरह उमड़ पड़ेंगे। लेकिन, उन्हें तो ज़माने से यह शिक्षा मिलती चली आ रही है कि जो कुछ विपता आवे उसे चूँ तक किये बिना करम पर हाथ रखकर बरदाश्त करते चले जाओ।

गुजरात तथा दूसरे प्रान्तों में उस समय करबन्दी-आन्दोलन चल रहे थे, लेकिन वे प्रायः सब राजनैतिक स्वरूप के थे और सविनय भंग-आन्दोलन से जुड़े हुए थे। ये वे प्रान्त थे जहाँ रैयतवारी तरीक़ा था और किसानों का ताल्लुक़ सीधा सरकार से था। उनके लगान न देने का असर तुरन्त सीधा सरकार पर पड़ता था। मगर युक्तप्रान्त की हालत उनसे भिन्न थी, क्योंकि हमारा इलाक़ा ज़मींदारी और ताल्लुक़ेदारी है और काश्तकार तथा सरकार के बीच एक तीसरी जमात भी है। अगर काश्तकार लगान देना बन्द कर दे तो उसका सीधा असर ज़मींदार पर होता है; इससे वह एक वर्ग का प्रश्न बन जाता है। इधर कांग्रेस कुल मिलाकर एक राष्ट्रीय संस्था है और उनमें कितने ही छोटे-मोटे तथा कुछ बड़े ज़मींदार भी शामिल थे। उसके नेता इस बात से बुरी तरह भय खाते थे कि कहीं कोई वर्ग विग्रह का प्रश्न न बन जाय, या ज़मींदार लोग न बिगड़ बैठें। इस कारण सविनय भंग शुरू होने से ठेठ छः महीने तक वे देहात में करबन्दी आन्दोलन शुरू करने से बचते रहे, हालाँकि मेरी राय में उसके लिए बहुत ही अनुकूल अवसर था। मैं इस वर्गवाद के सवाल से तो इस तरह या और किसी तरह क़तई नहीं घबराता था, लेकिन मैं इतना ज़रूर महसूस करता था कि कांग्रेस अपनी मौजूदा हालत में वर्ग-संघर्ष को नहीं अपना सकती। हाँ, वह दोनों से—काश्तकार और ज़मींदार दोनों से—कह सकती थी कि लगान मत दो। फिर भी औसत ज़मींदार बहुत करके मालगुज़ारी दे देते; लेकिन उस दशा में क़ुसूर उनका होता।

अक्तूबर में जब मैं जेल से छूटा तो क्या राजनैतिक और क्या आर्थिक दोनों दशाएँ मुझे ऐसी मालूम हुईं, मानो वे देहात में करबन्दी आन्दोलन छेड़ देने के लिए पुकार-पुकार के कह रही हों। किसानों की आर्थिक कठिनाइयाँ तो ज़ाहिर ही थीं। राजनैतिक क्षेत्र में, हमारा सविनय भंग-आन्दोलन यद्यपि सब जगह फल-फूल रहा था, तो भी कुछ-कुछ धीमा पड़ गया था। हालाँकि लोग थोड़े-थोड़े करके और कहीं-कहीं बड़े दल बनाकर भी जेल जाते थे, तो भी वातावरण में वह तेज़ी और गर्मी नहीं दिखायी देती थी। शहर और मध्यम श्रेणी के लोग हड़तालों

और जुलूसों से कुछ थक-से गये थे। प्रत्यक्षतया यह दिखायी देता था कि कुछ ज़िन्दगी डालने की, नया ख़ून लाने की, ज़रूरत है। किसान-समुदाय के अलावा यह और कहाँ से आ सकता था? और यह ख़ज़ाना तो अभी अखूट भरा पड़ा है। यह फिर जनता का एक आन्दोलन हो जायगा, जिससे जनता के गहरे हितों का सम्बन्ध होगा, और मुझे जो सबसे मार्के की बात मालूम होती थी वह यह थी कि इसकी बदौलत समाज-व्यवस्था-सम्बन्धी प्रश्न उठ खड़े होंगे।

उस थोड़े समय में जब मैं इलाहाबाद रहा, हमारे साथियों ने और मैंने इन विषयों पर ख़ूब ग़ौर किया। जल्दी ही हमने प्रान्तीय कांग्रेस की कार्यकारिणी की मीटिंग बुलाई और बहुत बहस-मुबाहसे के बाद करबन्दी-आन्दोलन की मंजूरी दे दी और हर ज़िले को उसे शुरू करने का अधिकार दे दिया। हमने ख़ुद सूबे के किसी हिस्से में उसे शुरू नहीं किया, और कार्यकारिणी ने उसे ज़मींदार और काश्तकार दोनों पर लागू किया, जिससे उसके वर्गवाद-सम्बन्धी प्रश्न बन जाने की सम्भावना न रह जाय। हाँ, यह तो हम जानते ही थे कि इसमें मुख्य सहयोग किसानों की ही तरफ़ से मिलेगा।

जब इस तरह आगे क़दम बढ़ाने की छुट्टी मिल गयी, तो हमारे इलाहाबाद ज़िले ने पहला क़दम उठाना चाहा। हमने एक सप्ताह बाद ज़िले के किसानों का एक सम्मेलन करके इस नये आन्दोलन को आगे ठेलने का निश्चय किया। मेरे मन को इस बात से तसल्ली हुई कि जेल से छूटते ही पहले दिन मैंने ठीक-ठीक काम कर लिया। सम्मेलन के साथ ही मैंने इलाहाबाद में एक बड़ी आम सभा का भी आयोजन किया। इसमें मैंने एक लम्बा भाषण दिया। इसी भाषण पर बाद को मुझे फिर सज़ा दी गयी थी।

इसके बाद १३ अक्तूबर को कमला और मैं तीन दिन के लिए पिताजी से मिलने मसूरी गये। वह कुछ-कुछ अच्छे हो रहे थे और मुझे यह देखकर तसल्ली हुई कि अब उन्होंने करवट बदली है और चंगे हो गये हैं। वे तीन दिन बड़ी शान्ति और बड़े आनन्द में बीते जो मुझे अबतक याद आते हैं। फिर से अपने परिवार के साथ आकर रहना कितना अच्छा लगता था! मेरी लड़की इन्दिरा और मेरी तीन नन्हीं-नन्हीं भानजियाँ भी वहीं थीं। मैं इन बच्चों के साथ खेलता, कभी-कभी हम एक शाही जुलूस बनाकर घर के आस-पास बड़ी शान से घूमते। सबसे छोटी लड़की जो शायद ३-४ साल की थी, हाथ में राष्ट्रीय झण्डा लिये, झण्डा-गीत 'झण्डा ऊँचा रहे हमारा' गाती हुई सबके आगे-आगे चलती। पिताजी के साथ मेरे ये तीन दिन बस आख़िरी दिन थे, क्योंकि इसके बाद उनकी बीमारी असाध्य हो गयी और उन्हें हमसे छीनकर ले ही गयी।

पिताजी ने एकाएक इलाहाबाद आने का निश्चय कर लिया—शायद इस अन्देशे से कि शीघ्र ही मेरी गिरफ़्तारी हो जायगी या इसलिए कि वह मेरी परिस्थिति को और अच्छी तरह देख सकें। १९ को इलाहाबाद में किसान-सम्मेलन होनेवाला

था, इसलिए कमला और मैं १७ को मसूरी से चलनेवाले थे। पिताजी ने हमारे जाने के दूसरे दिन, १८ को, और लोगों के साथ रवाना होने की तजवीज़ की।

कमला और मेरे दोनों के लिए यह यात्रा ज़रा घटनापूर्ण रही। देहरादून में, ज्योंही मैं रवाना होने लगा, ज़ाब्ता फ़ौजदारी की १४४ दफ़ा के मुताबिक़ मुझपर एक नोटिस तामील की गयी। लखनऊ में हम कुछ ही घण्टों के लिए ठहरे थे, कि मालूम हुआ, कि वहाँ भी १४४ दफ़ा की एक नोटिस हमारी राह देख रही है। लेकिन वह तामील न हो सकी, क्योंकि भीड़ के कारण पुलिस अफ़सर मुझ तक पहुँच नहीं पाया। म्युनिसिपैलिटी की तरफ़ से मुझे एक मानपत्र दिया गया और फिर हम मोटर से इलाहाबाद चले गये। रास्ते में जगह-जगह ठहरकर किसानों की सभाओं में व्याख्यान भी देते जाते थे। इस तरह करते-करते १८ की रात को हम इलाहाबाद पहुँचे।

१९ को सुबह होते ही १४४ दफ़ा का एक और नोटिस मुझे मिली। सरकार मेरे पीछे पड़ी थी, और मैं कुछ घण्टों का ही मेहमान था। मैं उत्सुक था कि गिरफ़्तारी के पहले किसान-सम्मेलन में हो आऊं। इस सम्मेलन में हमने ख़ानगी तौर से सिर्फ़ प्रतिनिधियों को ही बुलाया था। किसी बाहरी आदमी के आने की इजाज़त इसमें न थी। इलाहाबाद ज़िले के बहुत-से प्रतिनिधि इसमें आये थे, और जहाँ तक मुझे याद है उनकी संख्या १६०० के लगभग थी। सम्मेलन ने बड़े उत्साह के साथ अपने ज़िलों में करबन्दी शुरू करने का फ़ैसला किया। हाँ, कुछ मुख्य कार्यकर्ताओं को ज़रूर हिचकिचाहट थी। इस बात में उन्हें कुछ शक था कि कामयाबी होगी या नहीं, क्योंकि किसानों को डराने-दबाने के साधन ज़मींदारों के पास बहुत थे और सरकार उनकी पीठ पर थी। उन्हें यह भी अन्देशा था कि किसान इन सब कठिनाइयों में कहाँ तक टिक सकेंगे। लेकिन उन भिन्न-भिन्न श्रेणी के १६०० प्रतिनिधियों के दिलों में, जो वहाँ मौजूद थे, ऐसा कोई हिचक या सन्देह न था, कम-से-कम वहाँ तो दिखायी नहीं देता था। सम्मेलन में मैंने भी एक भाषण दिया था। लेकिन मैं नहीं कह सकता कि मैंने १४४ दफ़ा का उल्लङ्घन किया या नहीं, जोकि मुझपर सार्वजनिक सभा में न बोलने के लिए लगायी गयी थी।

वहाँ से मैं, पिताजी और घर के दूसरे लोगों को लिवाने के लिए स्टेशन गया। गाड़ी लेट थी और उनके उतरते ही मैं उन्हें वहीं छोड़कर एक सभा के लिए रवाना हो गया। इसमें शहर और आसपास के देहात के लोग भी आनेवाले थे। ८ बजे के बाद रात को मैं और कमला थके-माँदे सभा से घर लौट रहे थे। मैं पिताजी से बातें करने के लिए उत्सुक हो रहा था, और मैं जानता था कि वह भी मेरी राह देख रहे होंगे, क्योंकि उनके आने के बाद हमें शायद ही बातचीत करने का मौक़ा मिला हो। पर रास्ते में हमारी मोटर रोक ली गयी—वहाँ से हमारा घर दिखायी दे रहा था, और मैं गिरफ़्तार करके फिर जमना-पार नैनी की अपनी पुरानी बैरक में पहुँचा दिया गया। कमला अकेली आनन्द-भवन गयी

और उसने पिताजी तथा घर के दूसरे लोगों को इस नयी घटना की ख़बर सुनायी और उधर नौ का घण्टा बजते-बजते मैंने फिर उसी नैनी-जेल के फाटक में प्रवेश किया।

३२

युक्तप्रान्त में कर-बन्दी

आठ दिन की ग़ैरहाज़िरी के बाद मैं फिर नैनी आ गया और सैयद महमूद, नर्मदाप्रसाद और रणजित पण्डित के साथ उसी पुरानी बैरक में आ मिला। कुछ दिनों के बाद जेल में ही मेरा मुक़द्दमा चला। मुझपर कई दफ़ाएं लगायी गयी थीं, जिनका आधार था मेरा वह भाषण जो मैंने अपने छूटने के बाद इलाहाबाद में दिया था। उसी के अलग-अलग हिस्सों को लेकर अलग-अलग इलज़ाम लगाये गये थे। अपने व्यवहारानुसार मैंने कोई सफ़ाई पेश नहीं की, सिर्फ़ थोड़े में अपना एक लिखित बयान अदालत में पेश किया। दफ़ा १२४ की रू से राजद्रोह के अपराध में मुझे १८ मास की सख़्त क़ैद और ५००) जुरमाने, १८८२ के नमक-क़ानून के मुताबिक़ ६ महीने की क़ैद और १००) जुरमाने तथा १९३० के आर्डिनेन्स ६ के मातहत (मैं भूल गया हूँ कि यह आर्डिनेन्स किस विषय का था) ६ मास की क़ैद और १००) जुरमाने की सज़ाएं दी गयीं। पिछली दोनों सज़ाएं एक साथ चलनेवाली थीं, इसलिए कुल मिलाकर मुझे २ साल की क़ैद हुई और जुरमाना न देने की हालत में ५ महीने और। यह मेरी पाँचवीं बार जेल-यात्रा थी।

फिर से मेरी गिरफ़्तारी और सज़ा का सविनय-भंग-आन्दोलन की गति पर कुछ समय के लिए अच्छा ही असर हुआ। उससे उसमें एक नया जीवन और अधिक बल आ गया। इसका अधिकांश श्रेय पिताजी को है। जब कमला से उनको मेरी गिरफ़्तारी की ख़बर मिली तो उन्हें वेदना का एक धक्का लगा, मगर फ़ौरन ही उन्होंने अपनी शक्तियों को बटोरा और सामने पड़ी हुई मेज़ को ठोंककर कहा—अब मैंने निश्चय कर लिया है कि इस तरह बीमार बनकर पड़ा नहीं रहूँगा; अब अच्छा होकर एक जवाँमर्द की तरह काम करूँगा और बीमारी को व्यर्थ में अपने पर हावी न होने दूँगा। उनका यह निश्चय तो जवाँमर्दों का-सा ही था; मगर अफ़सोस है कि यह सारा संकल्प-बल भी उस गहरी बीमारी को, जो उनके शरीर को कुतर-कुतरकर खा रही थी, न दबा पाया। फिर भी कुछ दिनों तक तो उनके स्वास्थ्य में साफ़-साफ़ तबदीली दिखायी देने लगी—इतनी कि देखकर लोगों को अचम्भा होता। कुछ महीने पहले से, जबसे वह यरवडा गये, उनके बलग़म में ख़ून आने लगा था। उनके इस निश्चय के बाद ही वह यकायक बन्द हो गया और कुछ दिन तक बिलकुल नहीं दिखायी दिया। इससे उन्हें ख़ुशी हुई थी, और जब वह मुझसे जेल में मिलने आये तो उन्होंने मुझसे इस बात का

ठीक कुछ फ़र्क़ के साथ किया। लेकिन बदक़िस्मती से यह तसल्ली थोड़े ही दिन रही और आगे चलकर बीमारी फिर बढ़ गयी और ख़ून अधिक परिमाण में आने लगा। इस बीच में उन्होंने अपने पुराने ही जोश-ख़रोश से काम किया और देशभर में सविनय-भंग-आन्दोलन को एक ज़ोर का वेग दिया। जगह-जगह के लोगों से वह बातचीत करते और उन्हें ब्यौरेवार आज्ञाएं भेजते। उन्होंने एक दिन मुक़र्रर किया (यह नवम्बर में मेरा जन्मदिन था) जो सारे हिन्दुस्तान में उत्सव के रूप में मनाया जाय और उस दिन मेरे भाषण के वे अंश सभाओं में पढ़े जायँ जिनपर मुझे सज़ा दी गयी थी। उस दिन कई जगह लाठी चार्ज हुए, जुलूस और सभाएं बलपूर्वक तितर-बितर की गयीं और यह अन्दाज़ किया गया था कि उस दिन सारे देशभर में कोई पाँच हज़ार गिरफ़्तारियाँ हुई होंगी। वह अपने ढंग का एक अनोखा जन्मोत्सव था।

बीमार तो वह थे ही, तिसपर यह ज़िम्मेदारी और उसमें इतनी ज़्यादा ताक़त का सर्फ़ होना उनकी तन्दुरुस्ती के लिए बहुत हानिकारक हुआ और मैंने उनसे आग्रह किया कि वह बिलकुल आराम ही करें। मैंने सोचा कि हिन्दुस्तान में तो उनको ऐसा विश्राम मिलेगा नहीं क्योंकि यहाँ उनका दिमाग़ लड़ाई के उतार-चढ़ाव में लगा रहेगा और लोग उनके पास सलाह-मशवरा लेने के लिए आये बिना न रहेंगे; इसलिए मैंने उन्हें सुझाया कि वह रंगून, सिंगापुर, और डच-इंडीज़ की तरफ़ छोटी-सी समुद्र-यात्रा कर आवें और उन्हें यह विचार पसन्द भी आया था। यह भी तजवीज़ की गयी थी कि कोई डॉक्टर-मित्र यात्रा में साथ रहें। इस ग़रज़ से वह कलकत्ता गये भी, मगर वहाँ उनकी तबीयत और भी ख़राब होती गयी और वह आगे न बढ़ सके। कलकत्ते से बाहर एक स्थान में सात हफ़्ते तक रहे। कमला को छोड़कर हमारे घर के सब लोग उनके साथ थे। कमला इलाहाबाद में बहुत अर्से तक कांग्रेस का काम करती रही।

मेरी गिरफ़्तारी इतनी जल्दी शायद इसलिए हुई कि मैं करबन्दी-आन्दोलन के सिलसिले में काम कर रहा था। मगर सच पूछिये तो मेरी गिरफ़्तारी से बढ़कर उस आन्दोलन को बढ़ानेवाली और कोई घटना नहीं हो सकती थी—ख़ासकर उसी दिन जबकि किसान-सम्मेलन ख़तम ही हुआ था और उसके प्रतिनिधि इलाहाबाद में ही मौजूद थे। इससे उनका उत्साह बहुत बढ़ गया और वे ज़िले के क़रीब-क़रीब हर गाँव में सम्मेलन का फ़ैसला अपने साथ लेते गये। दो-एक दिन में ही ज़िले-भर में ख़बर फैल गयी कि करबन्दी-आन्दोलन शुरू हो गया है और हर जगह लोग ख़ुशी-ख़ुशी उसमें शरीक होने लगे।

उन दिनों हमारी सबसे बड़ी मुश्किल ख़बर पहुँचाने की थी—लोगों को यह बतलाने की कि हम क्या कर रहे हैं और उनसे क्या कराना चाहते हैं। अख़बार हमारी ख़बरों को छापने के लिए तैयार नहीं होते थे, इस डर से कि सरकार उनको सज़ा देगी और दबा देगी; छापेख़ाने भी हमारे इश्तिहार और पत्रिकाएं छापने को

तैयार नहीं होते थे; चिट्ठियों और तारों को काट-छाँट दिया जाता था और अक्सर रोक भी लिया जाता था। ख़बरें पहुँचाने का भरोसे का तरीक़ा जो हमारे पास बाक़ी था वह यह था कि हम हरकारों की मार्फ़त अपनी ख़बरें भेजें। इसमें भी हमारे हरकारों को कभी-कभी गिरफ़्तार कर लिया जाता था। यह तरीक़ा ख़र्चीला था, और इसमें बड़े संगठन की भी ज़रूरत थी। लेकिन इसमें कुछ सफलता मिली। प्रान्तीय कार्यालय प्रधान कार्यालय के निरन्तर सम्पर्क में रहते थे और अपने ख़ास-ख़ास ज़िला-केन्द्रों के सम्पर्क में भी। शहरों में कोई ख़बर फैलाना मुश्किल नहीं था। कई शहरों में ग़ैर-क़ानूनी ख़बरें रोज़ाना या हफ़्तेवार साइक्लोस्टाइल के ज़रिये प्रकाशित होती रहती थीं और ऐसी ख़बरों की माँग बहुत रहती थी। आम लोगों में इत्तिला करने के लिए शहर में डोंडी पिटवाने का भी एक तरीक़ा था। इसमें अक्सर इत्तिला करनेवाले की गिरफ़्तारी हो जाती थी, मगर इसकी कुछ परवाह नहीं थी क्योंकि लोग गिरफ़्तारी को तो पसन्द ही करते थे, उससे बचना नहीं चाहते थे। ये सब तरीक़े शहरों में अनुकूल पड़ते थे परन्तु गाँवों में आसानी के साथ काम में नहीं लाये जा सकते थे। हरकारों और साइक्लोस्टाइल से छपे हुए इश्तिहारों के ज़रिये से ख़ास-ख़ास गाँवों के केन्द्रों से किसी-न-किसी तरह का ताल्लुक़ तो रक्खा ही जाता था, परन्तु यह सन्तोषजनक नहीं था; क्योंकि दूर के गाँवों में हमारी ख़बरों को पहुँचाने में काफ़ी समय लग जाया करता था।

इलाहाबाद के किसान-सम्मेलन से यह मुश्किल दूर हो गयी। ज़िले के प्रायः हर ख़ास-ख़ास गाँव से डेलीगेट आये थे और जब वे वापस गये तब अपने साथ किसानों से सम्बन्ध रखनेवाले ताज़ा फ़ैसलों और उनके कारण हुई मेरी गिरफ़्तारी की ख़बर को ज़िले के हरेक हिस्से में ले गये। ये लोग, जिनकी कि तादाद सोलह सौ थी, करबन्दी-आन्दोलन के प्रभावशाली और जोशीले प्रचारक बन गये। इस प्रकार आन्दोलन की प्रारम्भिक सफलता का विश्वास हो गया, और इसमें कोई शक नहीं था कि शुरू में उस प्रदेश के आम किसान लगान देना बन्द कर देंगे, और उस वक़्त तक बिलकुल नहीं देंगे, जबतक कि उनको देने के लिए और दबाया-डराया नहीं जायगा। निस्सन्देह कोई नहीं कह सकता था कि ज़मींदारों और अहलकारों की हिंसावृत्ति और भय के मुक़ाबले में उनकी सहनशक्ति कितनी टिक सकेगी।

करबन्दी करने की अपील हमने ज़मींदारों और किसानों दोनों से की थी। सिद्धान्त की दृष्टि से वह अपील किसी एक वर्ग के लिए नहीं थी। मगर असली रूप में कई ज़मींदारों ने अपना कर दे दिया और राष्ट्रीय संग्राम के प्रति जिनकी सहानुभूति थी ऐसे भी कई लोगों ने कर दे दिया। उनपर दबाव बहुत भारी था और उनके बहुत नुक़सान उठाने की सम्भावना थी। जहाँतक किसानों का सवाल है, वे तो मज़बूत रहे। उन्होंने लगान नहीं दिया और इस प्रकार

हमारा आन्दोलन एक करबन्दी-आन्दोलन ही हो गया। इलाहाबाद ज़िले से वह संयुक्तप्रान्त के कुछ दूसरे ज़िलों में भी फैल गया। कई ज़िलों में उसको बाज़ाब्ता अख़्तियार नहीं किया गया, न उसका ऐलान किया गया, परन्तु वास्तव में किसानों ने कर देना रोक दिया और कई जगह तो भाव के गिर जाने के कारण वे दे ही नहीं सके। इसपर कई महीनों तक न तो सरकार ने और न बड़े ज़मींदारों ने उन सरकश किसानों को भयभीत करने के लिए कोई बड़ी कार्रवाई की। उन्हें अपनी कामयाबी पर भरोसा नहीं था; क्योंकि एक तरफ़ तो सविनय भंग-आन्दोलन के सहित राजनैतिक संग्राम था और दूसरी तरफ़ आर्थिक मन्दी का प्रश्न था, जिससे कि किसान दुःखी थे। इन दोनों कठिनाइयों का समावेश एक-दूसरे में हो गया और सरकार को बराबर यह डर रहा कि कहीं किसानों में कोई तूफ़ान न उठ खड़ा हो। उधर लन्दन में गोलमेज़ कान्फ्रेंस हो रही थी। इसलिए इधर भारतवर्ष में सरकार अपनी तरफ़ से कोई नहीं बढ़ाना चाहती थी, और न 'ज़ोरदार' हुकूमत का प्रभावशाली प्रदर्शन ही करना चाहती थी।

जहाँतक इस प्रान्त का सम्बन्ध है, करबन्दी-आन्दोलन का एक ख़ास नतीजा दिखायी दिया। इससे हमारे संग्राम का आकर्षण-केन्द्र शहरी प्रदेश से हटकर देहाती प्रदेशों में चला गया। इससे आन्दोलन में नवजीवन आ गया और जिसने उसकी बुनियाद को अधिक व्यापक और मज़बूत बना दिया। यद्यपि हमारे शहरी लोग इससे हैरान हो गये और थक गये और हमारे मध्यम श्रेणी के लोग किसी हद तक निराश हो गये, परन्तु संयुक्तप्रान्त में आन्दोलन मज़बूत था और पहले किसी भी समय किये गये आन्दोलन से मज़बूत रहा। शहर से देहात की तरफ़ परिवर्तन और राजनैतिक से आर्थिक समस्याओं की तरफ़ परिवर्तन दूसरे प्रान्तों में इतनी हद तक नहीं हुआ और नतीजा यह हुआ कि उनमें शहरों की प्रधानता बनी रही और वे मध्यमवर्ग के लोगों की थकावट से ज़्यादा-से-ज़्यादा नुक़सान उठाते रहे। बम्बई शहर में भी, जो कि शुरू से आख़ीर तक आन्दोलन में ख़ूब भाग लेता रहा, कुछ-कुछ निराशा फैलने लगी। बम्बई में और दूसरी जगह भी हुकूमत की अवहेलना और गिरफ़्तारियाँ भी जारी रहीं, परन्तु यह सब किसी क़दर बनावटी दिखायी देता था। उसका सजीव तत्त्व जाता रहा था। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि जन-समूह को लम्बे समय तक किसी क्रान्ति की हालत में रखना असम्भव है। आमतौर पर तो ऐसी स्थिति कुछ दिनों तक ही टिका करती है, परन्तु सविनय-भंग की यह अद्भुत शक्ति है कि यह कई महीनों तक जारी रहे और उसके पश्चात् भी धीमी चाल से अमर्यादित समय तक चलता रह सकता है।

सरकारी दमन बढ़ा। स्थानिक कांग्रेस कमिटियाँ, यूथ-लीग आदि, जोकि अभी तक आश्चर्य के साथ चलती रही थीं, ग़ैर-क़ानूनी क़रार दी जाकर दबा दी गयीं। जेलों में राजनैतिक क़ैदियों के साथ ज़्यादा बुरा बर्ताव होने लगा। सरकार ख़ास करके इससे चिढ़ गयी, कि लोग जेल से छूट जाने के बाद तुरन्त ही

फिर जेल में चले जाते थे। सज़ा के बावजूद भी सत्याग्रहियों को झुकाने में असफल होने के कारण शासकों का हौसला ढीला हो गया। ज़ाहिरा तौर पर जेल-शासन-सम्बन्धी अपराधों के कारण संयुक्तप्रान्त में नवम्बर या दिसम्बर १९३० के शुरू में कुछ राजनैतिक क़ैदियों को बेंत की सज़ा दी गयी थी। इसकी ख़बर हमारे पास नैनी-जेल में पहुँची। उससे हम क्षुब्ध हो उठे—तब से हम हिन्दुस्तान में इसके तथा इससे भी ख़राब दृश्यों और घटनाओं के आदी हो गये हैं--क्योंकि बेंत लगाना बुरे-से-बुरे और जेल-जीवन के आदी क़ैदियों के लिए भी मुझे एक अवांछनीय यातना मालूम हुई, और नौजवान कोमल-हृदय बच्चों के लिए तो और ज़्यादा। फिर नाममात्र के नियम-भंग के क़ुसूर में बेंत की सज़ा को बिलकुल जंगली ही कहना चाहिए। हमारी बैरक के हम चारों ने सरकार को इसकी बाबत लिखा, और जब दो हफ़्ते तक उसका कोई जवाब न आया तो हमने इस बेंत लगाने के विरोध में और इस बर्बरता के शिकार होनेवालों के प्रति हमदर्दी में कोई निश्चित कार्रवाई करन᠁ ᠁ क्या। हमने तीन दिन—७२ घंटे—का पूरा उपवास किया। उपवास के लिहाज़ से यह कोई बड़ी बात न थी, मगर हमें उपवास का अभ्यास नहीं था और न यही जानते थे कि हम उसमें कितने टिक सकेंगे? इससे पहले २४ घंटे से ज़्यादा का उपवास मैंने शायद ही कभी किया हो।

हमें उपवास के दिनों में कोई ज़्यादा तकलीफ़ नहीं हुई, और मुझे यह जानकर खुशी हुई कि उसमें वैसी सख़्त तकलीफ़ जैसी कोई बात नहीं थी जिसका कि डर था। मगर एक बेवक़ूफ़ी मैंने की। उपवास भर मैंने अपनी कड़ी कसरत जारी रक्खी थी; जैसे दौड़ना और हाथ-पाँव को झटके देने की कसरत वग़ैरा। मैं नहीं समझता कि उससे मुझे कोई ज़्यादा फ़ायदा हुआ। ख़ासकर उस हालत में जबकि मेरी तबीयत पहले से ही कुछ ख़राब थी। इन तीन दिनों में हम सब का वज़न ७ से ८ पौण्ड तक घटा। इससे पहले महीने में कोई १५ से २६ पौण्ड तक वज़न हम हरेक का घट चुका था सो अलग।

हमारे उपवास के अलावा, बाहर भी, बेंत लगाने के ख़िलाफ़ खासा आन्दोलन हो रहा था, और मैं समझता हूँ कि युक्तप्रान्तीय सरकार ने महकमा जेल को ऐसी हिदायतें भेजी थीं कि आइन्दा बेंत न लगाये जाएँ। मगर ये आज्ञाएँ ज़्यादा दिन क़ायम नहीं रहने को थीं और कोई १ साल के बाद युक्तप्रान्त की और दूसरे प्रान्तों की जेलों में बेंतों की सज़ा फिर दी जाने लगी।

बीच-बीच में यदि ऐसी उत्तेजक घटनाओं से ख़लल न पड़ा होता तो हमारा जेल-जीवन शान्तिपूर्ण रहता। मौसम अच्छा था और जाड़ा तो इलाहाबाद में बहुत ही मज़ेदार होता है। रणजित पंडित क्या आये, हमारी बैरक को दुर्लभ लाभ मिल गया; क्योंकि वह बाग़बानी बहुत कुछ जानते थे और शीघ्र ही वह हमारा वीरान अहाता फूलों और तरह-तरह के रंगों से गुलज़ार हो गया। उन्होंने तो उस तंग और थोड़ी जगह में छोटे पैमाने पर गॉल्फ खेलने को सुविधा भी कर दी थी।

नैनी-जेल में हमारे सिर पर से हवाई जहाज़ उड़कर जाया करते थे और यह हमारे लिए एक आनन्द और मनोरंजन का विषय हो गया था। पूर्व और पश्चिम को आने-जानेवाले बड़े-बड़े हवाई जहाज़ों के लिए इलाहाबाद एक ख़ास स्टेशन है और आस्ट्रेलिया, जावा, और फ्रेंच इण्डो-चायना को जानेवाले बड़े-बड़े जहाज़ सीधे हमारे सिर पर से गुज़रा करते थे। उनमें सबसे बड़े और शाही थे डच जहाज़, जो बटेविया आते-जाते थे। कभी-कभी इत्तफ़ाक़ से और हमारी खुश-क़िस्मती से जाड़े में बड़े तड़के जबकि कुछ-कुछ अंधेरा रहता था और तारे चमकते दिखायी देते थे, कोई जहाज़ ऊपर से गुज़रता था। उसमें ख़ूब रोशनी की जगमगाहट रहती थी और उसके दोनों सिरों पर लाल रोशनी होती थी। प्रातःकाल के स्वच्छ नीले आसमान में जब वह जहाज़ ऊपर उड़ता तो उसका दृश्य बड़ा ही सुन्दर मालूम होता था।

पण्डित मदनमोहन मालवीय भी, किसी दूसरी जेल से, नैनी भेज दिये गये थे। वह हमसे अलग दूसरी बैरक में रक्खे गये थे, लेकिन हम रोज़ उनसे मिलते थे और शायद बाहर की बनिस्बत वहाँ मैं उनसे अधिक परिचय कर पाया। वह बड़े खुश-मिज़ाज साथी थे। जीवन-शक्ति से भरे-पूरे और हर बात में एक युवक की तरह दिलचस्पी लेनेवाले। रणजित की सहायता से उन्होंने जर्मन पढ़ना शुरू किया और उस सिलसिले में उन्होंने अपनी विलक्षण स्मरण-शक्ति का परिचय दिया। जब यह बेंतें लगाने की ख़बर मिली तब वह नैनी में ही थे और यह ख़बर सुनकर बहुत बिगड़े थे और उन्होंने हमारे सूबे के कार्यवाहक गवर्नर को इसके विषय में लिखा भी था। इसके बाद ही वह बीमार हो गये। जेल की सर्दी उन्हें बरदाश्त न हुई। उनकी बीमारी चिन्ताजनक होती गयी और वह शहर के अस्पताल में भेज दिये गये और कुछ दिन बाद मियाद से पहले ही वहाँ से रिहा कर दिये गये। खुशी की बात है कि अस्पताल जाकर वह चंगे हो गये।

१ जनवरी १९३२ को अंग्रेज़ी साल के नये दिन, कमला की गिरफ़्तारी की ख़बर हमें मिली। मुझे इससे खुशी हुई, क्योंकि वह बहुत दिनों से अपने दूसरे साथियों की तरह जेल जाने को बहुत उत्सुक थी। यों तो अगर वह मर्द होती तो वह और मेरी दोनों बहनें तथा और भी दूसरी स्त्रियाँ बहुत पहले ही गिरफ़्तार हो गयी होतीं; मगर उस वक़्त सरकार जहाँतक हो सकता था स्त्रियों को गिरफ़्तार करना टालती थी और इससे वह इतने अर्से तक बच रही और अब जाकर उसके मन की मुराद पूरी हुई। मैंने सोचा, सचमुच उसे कितनी ख़ुशी हुई होगी! मगर साथ ही मुझे कुछ डर भी लगा, क्योंकि उसकी तन्दुरुस्ती हमेशा ख़राब रहती थी। और मुझे अन्देशा था कि जेल में कहीं उसे बहुत ज़्यादा तकलीफ़ न हो।

गिरफ़्तारी के वक़्त एक पत्र-प्रतिनिधि वहाँ मौजूद था। उसने उससे एक सन्देश माँगा। उसी क्षण झट से उसने एक छोटा-सा सन्देश दिया, जो उसके

स्वभाव के अनुकूल ही था—"आज मुझे असीम प्रसन्नता है और इस बात का गर्व है कि मैं अपने पति के पद-चिह्नों पर चल सकी हूँ। मुझे आशा है कि आप लोग इस ऊँचे झंडे को नीचे न झुकने देंगे।" मुमकिन था कि अगर वह कुछ सोच पाती तो ऐसा सन्देश न देती; क्योंकि वह अपने को पुरुषों के अत्याचारों से स्त्रियों के अधिकारों की रक्षा करनेवाली योद्धा समझती थी। लेकिन उस समय हिन्दू-स्त्रीत्व के संस्कार उसमें प्रबल हो उठे और उनके प्रवाह में पुरुषों के अत्याचार न जाने कहाँ बह गये?

पिताजी कलकत्ता थे और उनकी हालत सन्तोषजनक नहीं थी। लेकिन कमला की गिरफ़्तारी और सज़ा के समाचार सुनकर वह बहुत बेचैन हो गये और उन्होंने इलाहाबाद लौटना तय किया। फ़ौरन ही मेरी बहन कृष्णा को उन्होंने इलाहाबाद रवाना किया और ख़ुद घर के और लोगों के साथ कुछ दिन बाद चले। १२ जनवरी को वह मुझसे मिलने नैनी आये। मैंने उन्हें कोई दो मास बाद देखा था, और उन्हें देखकर मेरे दिल को जो धक्का लगा उसे मैं मुश्किल से छिपा सका। उनके चेहरे को देखकर मेरे दिल को जो दहशत बैठ गयी उससे वह अनजान मालूम हुए; क्योंकि उन्होंने मुझसे कहा कि कलकत्ते की बनिस्बत अब तो मैं बहुत अच्छा हूँ। उनके चेहरे पर वरम आ गया था और वह शायद यह समझते थे कि यह तो यों ही आ गया है।

उनके उस चेहरे का मुझे रह-रहकर ख़याल हो आता था। वह किसी तरह उनके चेहरे जैसा न रहा था। अब पहली मर्तबा मेरे दिल में यह डर पैदा हुआ कि उनके लिए ख़तरा सामने खड़ा है। मैंने हमेशा उनकी कल्पना बल और स्वास्थ्य के साथ-साथ ही की थी और उनके सम्बन्ध में मौत का ख़याल कभी मन में नहीं आता था। मौत के ख़याल पर वह हमेशा हँस दिया करते थे—उसे हँसी में उड़ा दिया करते थे, और हमसे कहा करते थे कि मैं तो अभी बहुत दिन जीऊँगा। लेकिन इधर मैं देखता था कि जब कभी कोई उनका जवानी का मित्र मर जाता, तब वह अपने को अकेला-सा, अटपटे साथियों और लोगों में छूट गया-सा और मृत्यु के आने का इशारा-सा होता हुआ अनुभव करते थे। लेकिन आमतौर पर यह भाव आकर चला जाता था और उनकी ओत-प्रोत जीवनी-शक्ति अपना ज़ोर जमा लेती थी। हम परिवार के लोग उनके इस बहु-सम्पन्न व्यक्तित्व के और उनके सर्वव्यापी उत्साह-प्रद स्नेह-पान के कितने अभ्यस्त हो गये थे कि उनके बिना दुनिया की कल्पना करना हमारे लिए कठिन था।

उनके चेहरे को देखकर मुझे बड़ा दुःख हुआ और मेरे मन में तरह-तरह की आशंकाएं छा गयीं। फिर भी मुझे यह ख़याल नहीं हुआ था कि ख़तरा इतना नज़दीक आ पहुँचा है। ठीक उन्हीं दिनों पता नहीं क्यों ख़ुद मेरी भी तन्दुरुस्ती अच्छी नहीं रहती थी।

पहली गोलमेज़-कान्फ्रेंस के वे आख़िरी दिन थे और उसमें जो आलंकारिक

भाषण हुए और आडम्बरयुक्त भाव प्रदर्शित किये गये वे हमारे मनोरंजन का विषय बन गये थे, और मुझे कहना होगा कि उस मनोरंजन में कुछ घृणा का भाव भी था। वहाँ के भाषण और लम्बी-चौड़ी बातें और वादविवाद हमें अवास्तविक और व्यर्थ मालूम होते थे; पर हाँ, एक वास्तविकता साफ़ दिखायी पड़ती थी—वह यह कि देश की कठिन परीक्षा के अवसर पर और जबकि हमारे भाइयों और बहनों ने अपने आचरण से सबको इतना आश्चर्य में डाल दिया, तब भी हमारे देश में ऐसे लोग थे जो हमारे संग्राम की अवहेलना करते थे और हमारे विपक्षियों की तरफ़ अपना नैतिक बल लगाते थे। यह बात हमें पहले से भी ज़्यादा साफ़ नज़र आ गयी कि राष्ट्रीयता की धोखे की टट्टी में विरोधी आर्थिक हित अपना काम कर रहे हैं और किस तरह स्थापित स्वार्थ उसी राष्ट्र-धर्म के नाम पर भविष्य के लिए अपनी रक्षा करने की चेष्टा कर रहे हैं। गोलमेज़-कान्फ्रेंस इन स्थापित स्वार्थों के प्रतिनिधियों का ही एक सम्मेलन था। उनमें से कितनों ही ने हमारे संग्राम का विरोध किया था, कुछ ख़ामोश होकर एक तरफ़ खड़े देखते थे—हाँ, समय-समय पर हमें इस बात की याद भी दिलाया करते थे कि "जो खड़े होकर इन्तज़ार करते हैं वे एक तरह की सेवा ही करते हैं।" लेकिन ज्यों ही लन्दन से डोर हिली इस इन्तज़ारी का एकाएक अन्त आ गया और वे अपने विशेष हितों की रक्षा के लिए और जो कुछ टुकड़े और मिल सकते हैं उनमें हिस्सा बँटाने के लिए एक-के-बाद एक दौड़ पड़े। लन्दन में यह सम्मेलन और भी जल्दी इसलिए किया गया कि कांग्रेस तेज़ी के साथ बायें पक्ष की ओर जा रही थी और उसपर जनता का अधिकाधिक प्रभाव पड़ता जा रहा था। यह सोचा गया कि अगर भारत में आमूल राजनैतिक परिवर्तन का दौर आ गया तो इसके मानी होंगे जनता की भिन्न-भिन्न शक्तियों या अंशों का प्राधान्य हो जाना, या कम-से-कम महत्त्वपूर्ण बन बैठना। और ये लाज़िमीतौर पर आमूल सामाजिक परिवर्तन पर ज़ोर देंगे और इस तरह स्थापित स्वार्थों को धक्का पहुँचा जायेंगे। हिन्दुस्तानी स्थापित स्वार्थवाले इस आनेवाली आफ़त को देखकर सहम गये और इसके कारण उन्होंने दूरगामी राजनैतिक परिवर्तनों का विरोध किया। उन्होंने चाहा कि ब्रिटिश लोग यहाँ वर्तमान सामाजिक ढाँचे को और स्थापित स्वार्थों को क़ायम रखने के लिए अन्तिम निर्णायक शक्ति के तौर पर क़ायम रहें। औपनिवेशिक पद पर जो इतना ज़ोर दिया गया उसके मूल में यही धारणा काम कर रही है। एक दफ़ा तो एक मशहूर हिन्दुस्तानी लिबरल नेता मुझपर इस बात के लिए बिगड़ पड़े कि मैंने इस बात पर ज़ोर दिया था कि ग्रेट ब्रिटेन से समझौता होने के लिए आवश्यक है कि ब्रिटिश फ़ौज हिन्दुस्तान से तुरन्त हटा ली जाय और हिन्दुस्तानी फ़ौज हिन्दुस्तानी लोकतन्त्र के मातहत कर दी जाय। वह तो यहाँ तक आगे बढ़ गये थे कि बोले—"अगर ब्रिटिश सरकार इस बात पर राज़ी हो भी जाय, तो मैं अपनी पूरी ताक़त से इसका विरोध करूँगा।" किसी भी तरह की क़ौमी आज़ादी के लिए यह

माँग बहुत ज़रूरी थी। फिर भी उन्होंने इसका जो विरोध किया वह इसलिए नहीं कि मौजूदा हालत में वह पूरी नहीं की जा सकती थी, बल्कि इसलिए कि वह अवांछनीय समझी गयी। इसका आंशिक कारण तो शायद यह डर हो कि बाहरी शक्तियाँ हमारे देश पर धावा बोल देंगी, और वह समझते थे कि ब्रिटिश फ़ौज उस समय हमारी रक्षा के काम आवेगी! मगर ऐसे किसी हमले की सम्भावना हो या न हो, इसके अलावा भी किसी भी जानदार हिन्दुस्तानी के लिए यह ख़याल ही कितना ज़लील करनेवाला है कि वह किसी बाहरी आदमी से अपनी रक्षा करने के लिए कहे। मगर अंग्रेज़ों की सबल बाहु को हिन्दुस्तान में क़ायम रखने की ख़्वाहिश की तह में असली बात यह नहीं थी। अंग्रेज़ों की ज़रूरत तो समझी गयी थी ख़ुद हिन्दुस्तानियों से, लोकतन्त्र से और जनता की आगे बढ़ती हुई लहर के प्रभाव से, हिन्दुस्तानी स्थापित स्वार्थों की रक्षा के लिए।

इसलिए गोलमेज़ के प्रसिद्ध प्रतिगामी और साम्प्रदायिक ही नहीं बल्कि वे प्रतिनिधि भी जो अपने को उन्नतिशील और राष्ट्रवादी कहते थे, आपस में तथा ब्रिटिश सरकार के और अपने बीच अपने समान-हित की बहुत बातें पाते थे। राष्ट्र-धर्म सचमुच में बहुत व्यापक और भिन्न-भिन्न अर्थ रखनेवाला शब्द मालूम हुआ। एक तरफ़ उसमें जहाँ वे लोग शामिल थे जो आज़ादी की लड़ाई में जूझते हुए जेल गये थे, वहाँ दूसरी तरफ़ उसमें उन लोगों का भी समावेश होता था जो हमें जेल भेजनेवालों से हाथ मिलाते थे, उनकी क़तार में खड़े होते थे और उनके साथ बैठकर एक कार्य-नीति बनाने का आयोजन करते थे। एक दूसरे लोग भी हमारे देश में थे—बहादुर राष्ट्रवादी, जो धारा-प्रवाह व्याख्यान झाड़ते थे, जो हर तरह से स्वदेशी-आन्दोलन को बढ़ावा देते थे। वे हमसे कहते थे कि इसी में स्वराज का सार छिपा हुआ है। इसलिए क़ुरबानी करके भी स्वदेशी को अपनाओ; और तक़दीर से इस आन्दोलन की बदौलत उन्हें कुछ त्याग नहीं करना पड़ा। उलटा उनकी तिजारत और मुनाफ़ा बढ़ गया। और जब एक तरफ़ कितने ही लोग जेल गये और लाठी-प्रहार का मुक़ाबला किया, तो दूसरी तरफ़ वे अपनी दूकानों में बैठ-बैठकर रुपये गिन रहे थे। बाद को जब राष्ट्रवाद ने ज़रा उग्र रूप धारण किया और उसमें ज़्यादा जोखिम दिखायी दी तो उन्होंने अपने भाषणों का स्वर नीचा कर दिया, गरम दलवालों को बुरा कहने लगे और विरोधियों के साथ राज़ीनामे और ठहराव कर लिये।

हमें सचमुच इसका कुछ ख़याल या परवा नहीं थी कि गोलमेज़-कान्फ्रेंस ने क्या किया। वह हमसे बहुत दूर, अवास्तविक और खोखली थी और लड़ाई यहाँ हमारे क़स्बों और गाँवों में हो रही थी। हमें इस बात में कोई भ्रम नहीं था कि हमारी लड़ाई जल्द ही ख़त्म हो जायगी, या ख़तरा सामने खड़ा है, मगर फिर भी १९३० की घटनाओं ने हमें अपने राष्ट्रीय बल और दमख़म का इत्मीनान करा दिया और उस इत्मीनान के भरोसे हमने भावी का मुक़ाबला किया।

दिसम्बर या जनवरी के शुरू की एक घटना से हमें दुःख पहुँचा। श्री श्रीनिवास शास्त्री ने एडिनबरा के (जहाँ मैं समझता हूँ कि उन्हें 'शहर की आज़ादी' भेंट की गई थी) अपने एक भाषण में उन लोगों के प्रति नफ़रत के भाव ज़ाहिर किये जो सविनय अवज्ञा-आन्दोलन के सिलसिले में जेल जा रहे थे। उस भाषण ने और ख़ासकर जिस मौक़े पर वह दिया गया उससे हमारे दिलों को बड़ी चोट लगी। क्योंकि यद्यपि राजनीति में शास्त्रीजी से हमारा बहुत मतभेद था, तो भी हम उनकी इज़्ज़त करते थे।

रैम्ज़े मैकडानल्ड साहब ने, सदा की तरह, एक सद्भावपूर्ण भाषण के द्वारा गोलमेज-कान्फ्रेंस का उपसंहार किया। उसमें कांग्रेसियों से ऐसी अपरोक्ष रीति से अपील की गयी थी कि वे बुरा मार्ग छोड़ दें और भले आदमियों की टोली में मिल जाँय। ठीक इसी समय—१९३१ की जनवरी के बीच में—इलाहाबाद में कांग्रेस की कार्य-समिति की एक बैठक हुई और दूसरी बातों के साथ-साथ इस भाषण और उसमें की गई अपील पर विचार भी किया। उस वक्त मैं नैनी-जेल में था और रिहा होने पर मैंने उसकी कार्रवाई का हाल सुना। पिताजी इसी समय कलकत्ते से लौटे थे और हालाँकि वह बहुत बीमार थे तो भी उन्होंने इस बात पर बहुत ज़ोर दिया कि उनकी रोगशय्या के पास ही मेम्बर लोग आकर चर्चा करें। किसीने यह सुझाया कि मि० मैकडानल्ड की अपील के जवाब में हमारी तरफ़ से भी कोई इशारा किया जाय और सविनय-भंग कुछ ढीला कर दिया जाय। इससे पिताजी बहुत उत्तेजित हो गये, अपने बिछौने पर उठ बैठे और कहा कि मैं तबतक समझौता नहीं करूँगा जबतक कि राष्ट्रीय ध्येय प्राप्त नहीं हो जाता, और अगर मैं अकेला ही रह गया तो भी मैं लड़ाई जारी रक्खूँगा। यह उत्तेजना उनके लिए बहुत बुरी थी। उनका तापमान बढ़ गया। आख़िर डॉक्टरों ने किसी तरह उन्हें राज़ी करके मेहमानों को वहाँ से हटाकर उन्हें अकेला रहने दिया।

बहुत कुछ उन्हीं के आग्रह से कार्य-समिति ने बिलकुल न झुकने का प्रस्ताव पास किया था। उसके अख़बारों में छपने से पहले ही सर तेजबहादुर सप्रू और श्रीनिवास शास्त्री का एक तार पिताजी को मिला, जिसमें उनकी मार्फ़त कांग्रेस से यह दरख़्वास्त की गई थी कि वह इस विषय पर तबतक कोई फ़ैसला न करे, जबतक कि उन्हें बातचीत करने का एक मौका न दिया जाय। वे लन्दन से विदा हो चुके थे। उन्हें इस आशय का जवाब दिया गया कि कार्य-समिति ने एक प्रस्ताव तो पास कर दिया है, लेकिन जबतक आप दोनों यहाँ न आ जायँगे और आपसे बातचीत न हो जायगी, तबतक वह प्रकाशित नहीं किया जायगा।

बाहर यह जो कुछ हो रहा था उसका हमें जेल में कुछ पता न था। हम इतना ही जानते थे कि कुछ होने वाला है और इससे हम कुछ चिन्तित होगये थे। हमें जिस बात का सबसे अधिक ख़याल था, वह तो था २६ जनवरी के

स्वतन्त्रता-दिवस का प्रथम वार्षिकोत्सव, और हम सोचते थे कि देखें यह किस तरह मनाया जाता है। बाद को हमने सुना कि वह सारे देश में मनाया गया। सभाएँ की गयीं और उनमें स्वाधीनता के प्रस्ताव का समर्थन किया गया और सब जगह वह प्रस्ताव पास किया गया, जिसे 'स्मारक प्रस्ताव'[1] कहा जाता था। इस उत्सव का संगठन एक तरह की करामात ही थी। क्योंकि न तो अख़बार और न छापेख़ाने ही सहायता करते थे, न तार व डाक से ही काम लिया जा सकता था। लेकिन फिर भी एक ही प्रस्ताव अपनी-अपनी प्रान्तीय भाषा में, कई बड़ी-बड़ी सभाएँ करके, करीब-करीब एक ही समय देशभर में, क्या देहात और क्या क़स्बे सब जगह पास किया गया। बहुतेरी सभाएँ तो क़ानून की अवहेलना करके की गयीं और पुलिस के द्वारा बलपूर्वक तितर-बितर की गयी थीं।

२६ जनवरी को हम नैनी-जेल में बीते हुए साल के कामों पर सिंहावलोकन कर रहे थे और आगामी बर्ष को आशा की दृष्टि से देख रहे थे। इतने ही में दोपहर को यकायक मुझे कहा गया कि पिताजी की हालत बहुत नाज़ुक होगयी है और मुझे फ़ौरन घर जाना होगा। पूछने पर पता चला कि मैं रिहा किया जा रहा हूँ। रणजित भी मेरे साथ थे।

उसी शाम को हिन्दुस्तान को कितनी ही जेलों से बहुत-से दूसरे लोग भी छोड़े गये। ये लोग थे कार्य-समिति के मूल और स्थानापन्न सदस्य। सरकार हमें आपस में मिलकर हालात पर ग़ौर करने का मौक़ा देना चाहती थी। इसलिए मैं उसी शाम को हर हालत में छूट ही जाता। पिताजी की तबीयत की वजह से कुछ घण्टे पहले रिहाई हो गयी। २६ दिन का जेल-जीवन बिताकर कमला भी उसी दिन लखनऊ-जेल से छोड़ दी गयी। वह भी कार्य-समिति की एक स्थानापन्न मेम्बर थी।

३३

पिताजी का देहान्त

पिताजी को मैंने दो हफ़्ते बाद देखा। १२ जनवरी को नैनी में जब वह मिलने आये थे तब उनका चेहरा देखकर मेरे दिल को एक धक्का लगा था। तबसे अब उनकी तबीयत और ज़्यादा ख़राब हो गयी थी और उनके चेहरे पर ज़्यादा वरम आ गया था। बोलने में कुछ तकलीफ़ होती थी और दिमाग़ पर पूरा पूरा क़ाबू नहीं रहा था, लेकिन फिर भी उनकी संकल्प-शक्ति वैसी ही क़ायम रही थी और वह उनके शरीर और दिमाग़ को काम करने में ताक़त देती रही।

मुझे और रणजित को देखकर वह ख़ुश हुए। एक या दो रोज़ बाद रणजित

---

[1] यह प्रस्ताव परिशिष्ट नं० ३ म दिया गया है।

(वह कार्य-समिति के सदस्यों की श्रेणी में नहीं आते थे इसलिए) वापस नैनी भेज दिये गये। इससे पिताजी को बहुत बुरा मालूम हुआ और वह बार-बार उनको याद करते थे और शिकायत करते थे, कि जब इतने सारे लोग मुझसे दूर-दूर से मिलने आते हैं तब मेरा दामाद ही मुझसे दूर रक्खा जाता है। उनके इस आग्रह से डॉक्टर लोग चिन्तित थे और यह ज़ाहिर था कि उससे पिताजी को कोई फ़ायदा नहीं हो रहा था। ३ या ४ दिन बाद, मैं समझता हूँ डॉक्टरों के कहने से, युक्तप्रान्त की सरकार ने रणजित को छोड़ दिया।

२६ जनवरी को, उसी दिन जिस दिन मैं छोड़ा गया, गांधीजी भी यरवडा-जेल से रिहा कर दिये गये। मैं उत्सुक था कि वह इलाहाबाद आवें, और जब मैंने उनके छूटने की ख़बर पिताजी को दी तो मैंने देखा कि वह उनसे मिलने के लिए आतुर थे। बम्बई में एक अभूतपूर्व विशाल जन-सभा में स्वागत हो जाने के बाद दूसरे ही दिन गांधीजी बम्बई से चल पड़े। वह इलाहाबाद रात को देर से पहुँचे। लेकिन पिताजी उनसे मिलने की इन्तजारी में जाग रहे थे, और उनके आने से और उनके कुछ शब्द सुनने से पिताजी को बड़ी शान्ति मिली। उनके आने से मेरी माँ को भी बहुत शान्ति और तसल्ली रही।

अब कार्य-समिति के जो मूल और स्थानापन्न मेम्बर रिहा किये गये थे, वे असमंजस में पड़े हुए मीटिंग की सूचनाओं की इन्तज़ार कर रहे थे। कितने ही लोग पिताजी की बाबत चिन्तित थे और तुरन्त ही इलाहाबाद आना चाहते थे। इसलिए यह तय हुआ कि उन सबको फ़ौरन मीटिंग के लिए इलाहाबाद बुला लिया जाय। दो दिन के बाद ३० या ४० लोग आगये और हमारे मकान के पास ही स्वराज-भवन में उनकी मीटिंगें होने लगीं। कभी-कभी मैं भी इन मीटिंगों में चला जाता था। लेकिन मैं अपनी चिन्ताओं में इतना डूबा रहता था कि उनमें कोई उपयोगी हिस्सा नहीं लेता था और इस समय मुझे कुछ याद नहीं आता कि वहाँ क्या-क्या निर्णय हुए थे। मेरा ख़याल है कि वे सविनय भंग-आन्दोलन को जारी रखने के हक़ में हुए थे।

ये मित्र और साथी लोग, जिनमें से बहुतेरे तो हाल ही जेल से छूटे थे और फिर शीघ्र ही जेल जाने की आशा लगाये बैठे थे, पिताजी से मिलना चाहते थे। और अन्तिम दर्शन करके उनसे अन्तिम बिदा लेना चाहते थे। सुबह-शाम वे दो-दो तीन-तीन करके आते, पिताजी अपने इन पुराने साथियों का स्वागत करने के लिए आराम-कुर्सी पर बैठने का आग्रह करते थे। उनका डीलडौल तो भव्य मगर चेहरा भाव-शून्य दिखायी देता था; क्योंकि वरम आ जाने के कारण चेहरे पर भाव प्रकट नहीं हो पाते थे। लेकिन जैसे-जैसे एक के बाद एक साथी आते और जाते थे तैसे-तैसे उन्हें पहचान-पहचानकर उनकी आँखों में चमक आ जाती थी। उनका सिर कुछ झुकता जाता था और नमस्कार के लिए हाथ जुड़ जाते थे। हालाँकि वह ज़्यादा नहीं बोल सकते थे, कभी-कभी कुछ शब्द बोलते थे, मगर

फिर भी उनका पुराना हँसी-मज़ाक़ क़ायम था। वह एक बूढ़े शेर की तरह, जिसका शरीर बुरी तरह ज़ख़्मी हो गया हो और जिसकी ताक़त शरीर से क़रीब-क़रीब चली गयी हो, बैठे थे, लेकिन उस हालत में भी उनकी शान तो सिंहों या राजाओं जैसी ही थी। जब-जब मैं उनकी तरफ़ देखता, तो मैं सोचता कि उनके दिमाग़ में क्या-क्या ख़याल आते होंगे। क्या वह हम लोगों के काम-काज में दिलचस्पी लेने की हालत में नहीं रहे हैं? यह साफ़ मालूम होता था कि वह अक्सर अपने-आपसे लड़ते थे। चीज़ें उनकी पकड़ से निकलना चाहती थीं और वह उनपर क़ाबू पाने की कोशिश करते थे। आख़ीर तक यह लड़ाई जारी रही। मगर वह हारे नहीं। जब-तब बड़ी ही स्पष्टता के साथ हमसे बातें करते थे—यहाँ तक कि जब गले की सिकुड़न से उनके मुँह से शब्द निकलना मुश्किल हो गया था तो वह काग़ज़ पर लिख-लिख अपना आशय ज़ाहिर करते थे।

कार्य-समिति की बैठकों में, जो कि हमारे पड़ोस में ही हो रही थीं, कहना चाहिए कि, उन्होंने कुछ भी दिलचस्पी नहीं ली। १५ रोज़ पहले इनसे उनका उत्साह ज़रूर बढ़ा होता, मगर अब शायद उन्होंने महसूस किया कि अब वह उससे बहुत दूर निकल गये हैं। उन्होंने गांधीजी से कहा—"महात्माजी! मैं जल्दी ही चला जानेवाला हूँ, स्वराज देखने के लिए ज़िन्दा नहीं रहूँगा। लेकिन मैं जानता हूँ कि आपने स्वराज जीत लिया है और जल्दी ही वह आपके हाथ में आ जायगा।"

जो दूसरे शहरों और सूबों से लोग आये थे उनमें से बहुतेरे चले गये। गांधीजी रह गये। कुछ और घनिष्ट मित्र, निकट सम्बन्धी और तीन नामी डॉक्टर भी, जो उनके पुराने मित्र थे और जिनके लिए वह कहा करते थे कि मैंने अपना शरीर उनके हाथों में सौंप दिया है। वे थे डॉक्टर अन्सारी, विधानचन्द्र राय और जीवराज मेहता। ४ फ़रवरी को उनकी हालत कुछ अच्छी दिखायी पड़ी और इसलिए यह तय किया कि उससे फ़ायदा उठाकर उन्हें लखनऊ ले जाया जाय, जहां कि एक्स-रे द्वारा इलाज की सुविधाएं हैं। उसी दिन उन्हें हम मोटर से ले गये। गांधीजी और कुछ लोग भी साथ गये। हम गये तो धीरे-धीरे, लेकिन फिर भी वह बहुत थक गये। दूसरे दिन थकावट दूर होती हुई मालूम हुई, लेकिन फिर भी कुछ चिन्ताजनक लक्षण दिखायी पड़ते थे। दूसरे दिन सुबह यानी ६ फ़रवरी को मैं उनके बिछौने के पास बैठा हुआ उन्हें देख रहा था। रात उनकी तकलीफ़ और बेचैनी में बीती थी। एकाएक मैंने देखा कि उनका चेहरा शान्त हो गया और लड़ने की शक्ति ख़त्म हो गयी। मैंने समझा कि उन्हें नींद लग गयी है और इससे मुझे ख़ुशी भी हुई। मगर माँ की निगाह तेज़ थी। वह रो पड़ी। मैंने उसकी तरफ़ देखा और कहा कि उन्हें नींद लग गयी है, वह जाग जायँगे। मगर वह नींद तो उनकी आख़िरी नींद थी और उसके बाद फिर

जागना नहीं हो सकता था।

उसी दिन हम उनके शव को मोटर से इलाहाबाद लाये। मैं उसके साथ बैठा। रणजित गाड़ी चला रहे थे और पिताजी का पुराना नौकर हरि भी साथ था। इसके पीछे दूसरी मोटर थी, जिसमें माँ और गांधीजी थे और उसके बाद दूसरी मोटरें थीं। मैं दिनभर भौंचक्का-सा रहा। यह अनुभव करना मुश्किल था कि क्या घटना हुई है और एक के बाद एक हुई घटनाओं और बड़ी-बड़ी भीड़ों के कारण मैं कुछ सोच भी न सका। सूचना मिलते ही लखनऊ में बड़ी भीड़ जमा हो गयी थी। वहाँ से शव को लेकर इलाहाबाद आये। शव राष्ट्रीय झंडे में लपेटा हुआ था और ऊपर एक बड़ा झंडा फहरा रहा था। मीलों तक ज़बरदस्त भीड़ उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करने को जमा हुई थी। घर पर कुछ अन्तिम विधियाँ की गयीं और फिर गंगा-यात्रा को चले। ज़बरदस्त भीड़ साथ थी। जाड़े के दिन थे। सन्ध्या का अंधकार गंगा-तट पर धीरे-धीरे फैल रहा था। और चिता की ऊँची-ऊँची लपटों ने उस शरीर को भस्म कर दिया जिसका हमारे लिए और उनके इष्ट मित्रों के लिए और हिन्दुस्तान के लाखों लोगों के लिए इतना मूल्य और महत्त्व था। गांधीजी ने छोटा-सा हृदयस्पर्शी भाषण दिया और फिर हम लोग चुपचाप घर चले आये। जब हम उदास और सुनसान लौट रहे थे, तब आकाश में तारे तेज़ी से चमक रहे थे।

माँ को और मुझे हज़ारों सहानुभूति के सन्देश मिले। लॉर्ड और लेडी इर्विन ने माँ को एक सौजन्यपूर्ण सन्देश भेजा। इस बहुत भारी सद्भावना और सहानुभूति ने हमारे दुःख और शोक की तीव्रता को कम कर दिया था। लेकिन सबसे ज़्यादा और आश्चर्यजनक शान्ति और सान्त्वना तो मिली गांधीजी के वहाँ मौजूद रहने से, जिससे माँ को और हम सब लोगों को जीवन के उस संकटकाल का सामना करने का बल मिला।

मेरे लिए यह अनुभव करना मुश्किल था कि पिताजी अब नहीं हैं। तीन महीने बाद मैं, अपनी पत्नी और लड़की सहित, लंका गया। हम लोगों ने वहां नुवारा एलीया में शान्ति और आराम से कुछ दिन गुज़ारे। वह जगह मुझे बहुत पसन्द आयी और मुझे एकाएक ख़याल हुआ कि पिताजी को यह जगह ज़रूर माफ़िक होगी। तो उन्हें यहाँ क्यों न बुला लूँ? वह बहुत थक गये होंगे और यहाँ आराम से उनको ज़रूर फ़ायदा होगा। मैं उन्हें इलाहाबाद तार देने लगा था।

लंका से इलाहाबाद लौटते समय डाक से मुझे एक अजीब चिट्ठी मिली। लिफ़ाफ़े पर पिताजी के हस्ताक्षर से पता लिखा हुआ था और उसपर न जाने कितने निशान और डाकखानों की मोहरें लगी हुई थीं। मैंने उसे खोला तो देखकर आश्चर्य हुआ कि वह सचमुच पिताजी का लिखा हुआ था, लेकिन तारीख़ उसपर पड़ी थी २८ फ़रवरी सन् १९२६ की। वह मुझे १९३१ की गर्मियों में मिला। इस तरह वह कोई साढ़े पाँच साल तक इधर-उधर सफ़र करता रहा। १९२६

में जब मैं कमला के साथ यूरोप रवाना हुआ था तब पिताजी ने अहमदाबाद से यह ख़त लिखा था। इटालियन स्टीमर लॉयड के पते पर, जिससे कि मैं यात्रा करनेवाला था, वह बम्बई भेजा गया था। यह साफ़ है कि वह उस वक़्त मुझे नहीं मिला और बहुतेरे स्थानों में भ्रमण करता रहा और शायद कितने ही डाकख़ानों में हवा खाता रहा। अन्त को किसी मनचले आदमी ने उसे मुझे भेज दिया। कैसा अजीब संयोग है कि वह बिदाई का पत्र था!

३४

दिल्ली का समझौता

जिस दिन और जिस वक़्त मेरे पिताजी की मृत्यु हुई, उसी दिन और प्रायः उसी समय बम्बई में गोलमेज़-कान्फ्रेंस के कुछ हिन्दुस्तानी मेम्बर जहाज़ से उतरे। श्री श्रीनिवास शास्त्री और सर तेजबहादुर सप्रू और शायद दूसरे कुछ लोग, जिनका ख़याल अब मुझे नहीं है, सीधे इलाहाबाद आये। गांधीजी तथा कार्यसमिति के कुछ और सदस्य वहाँ पहले ही मौजूद थे। हमारे मकान पर ख़ानगी बैठकें हुईं, जिनमें यह बताया गया कि गोलमेज़-कान्फ्रेंस में क्या-क्या हुआ? मगर शुरू में ही एक छोटी-सी घटना हुई। श्री श्रीनिवास शास्त्री ने ख़ुद-ब-ख़ुद अपने एडिनबरावाले भाषण पर खेद प्रकट किया। उन्होंने यह भी कहा कि अपने आस-पास के वातावरण का मुझपर अक्सर असर हो जाता है और मैं अत्युक्ति और शब्दाडम्बर में बह जाता हूँ।

इन प्रतिनिधियों ने हमें गोलमेज़-कान्फ्रेंस के सम्बन्ध में ऐसी मार्के की कोई बात नहीं कही, जिसे हम पहले से न जानते हों। हाँ, उन्होंने यह अलबत्ता बताया कि वहाँ परदे के पीछे कैसी-कैसी साज़िशें हुईं, और फ़लाँ 'लार्ड' या फ़लाँ 'सर' ने ख़ानगी में क्या-क्या किया? हमारे हिन्दुस्तानी लिबरल दोस्त हमेशा सिद्धान्तों की और हिन्दुस्तान की परिस्थिति की वास्तविकताओं की बनिस्बत इस बात को ज़्यादा महत्त्व देते हुए दिखायी देते हैं कि बड़े अफ़सरों ने ख़ानगी बातचीत में या गपशप में क्या-क्या कहा? लिबरल नेताओं के साथ हमारी जो कुछ बातचीत हुई, उसका कोई नतीजा न निकला; हमारी पिछली राय ही और मज़बूत हो गयी कि गोलमेज़-कान्फ्रेंस के निर्णयों की कुछ भी वक़त नहीं है। किसीने—मैं उनका नाम भूल गया हूँ—सुझाया कि गांधीजी वाइसराय को मुलाक़ात के लिए लिखें और उनके साथ खुलकर बातचीत कर लें। इसपर गांधीजी राज़ी हो गये, हालाँकि मैं नहीं समझा कि उन्होंने परिणाम की कोई आशा की हो। मगर अपने सिद्धान्त को सामने रखते हुए वह सदा विरोधियों के साथ, कुछ क़दम आगे जाकर भी, मिलने और बातचीत करने को तैयार रहते हैं। और चूँकि अपने पक्ष की सचाई का पूरा विश्वास रहता है, इसलिए वह दूसरे पक्ष के

लोगों को भी क़ायल करने की आशा रखते थे। मगर जो वह चाहते थे वह बौद्धिक विश्वास से शायद कुछ ज़्यादा था। वह हमेशा हृदय-परिवर्तन की कोशिश करते हैं—राग-द्वेष के बन्धनों को तोड़कर दूसरे की सदिच्छा और ऊँची भावनाओं तक पहुँचने की कोशिश करते हैं। वह जानते थे कि यदि यह परिवर्तन हो गया तो विश्वास का जमना आसान हो जायगा, या अगर विश्वास न भी जम सका तो विरोध ढीला हो जायगा और संघर्ष की तीव्रता कम हो जायगी। अपने व्यक्तिगत व्यवहारों में अपने विरोधियों पर उन्होंने इस तरह की बहुतेरी विजय प्राप्त की हैं, और यह ध्यान देने योग्य बात है कि वह महज़ अपने व्यक्तित्व के ज़ोर पर किसी विरोधी को कैसे अपनी तरफ़ कर लेते हैं। कितने ही आलोचक और निन्दक उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उनके प्रशंसक बन गये, और हालाँकि वह नुक़्ताचीनी करते रहते हैं, मगर उसमें कहीं उपहास का नामोनिशान नहीं रहता।

चूँकि गांधीजी को अपने सामर्थ्य का पता है, वह हमेशा उन लोगों से मिलना पसन्द करते हैं जो उनसे मतभेद रखते हैं। मगर किसी व्यक्तिगत या छोटे मामलों में व्यक्तियों से व्यवहार करना एक बात है और ब्रिटिश-सरकार जैसी, जो विजयी साम्राज्यवाद की प्रतिनिधि है, अमूर्त वस्तु से व्यवहार करना बिलकुल दूसरी बात है। इस बात को जानते हुए, गांधीजी कोई बड़ी आशा लेकर लार्ड इर्विन से मिलने नहीं गये थे। सविनय भंग-आन्दोलन अब भी चल रहा था। मगर वह ढीला पड़ गया था; क्योंकि सरकार से 'सुलह' करने की बातों का बड़ा ज़ोर हो रहा था।

बातचीत का इन्तज़ाम फ़ौरन हो गया और गांधीजी दिल्ली रवाना हुए। हमसे कहते गये कि अगर वाइसराय से कामचलाऊ समझौते के बारे में कोई बात-चीत गम्भीर रूप से हुई तो मैं कार्य-समिति के मेम्बरों को बुला लूँगा। कुछ ही दिनों बाद हमें दिल्ली का बुलावा आया। हम तीन हफ़्ते तक वहाँ रहे। रोज़ मिलते और लम्बी-लम्बी बहस करते-करते थक जाते। गांधीजी कई बार लार्ड इर्विन से मिले। मगर कभी-कभी बीच में तीन-चार रोज़ ख़ाली भी जाते। शायद इसलिए कि भारत-सरकार लन्दन में इण्डिया-आफ़िस से सलाह-मशवरा किया करती थी। कभी-कभी देखने में ज़रा-ज़रा-सी बात या कुछ शब्दों के कारण ही गाड़ी रुक जाती। एक ऐसा शब्द था सविनय-भंग को स्थगित कर देना। गांधीजी बराबर इस बात को स्पष्ट करते रहे कि सविनय भंग आख़िरी तौर पर न तो बन्द ही किया जा सकता है न छोड़ा ही जा सकता है; क्योंकि यही एक-मात्र हथियार हिन्दुस्तान के लोगों के हाथ में है। हाँ, वह स्थगित किया जा सकता है। लार्ड इर्विन को इस बात पर आपत्ति थी। वह ऐसा शब्द चाहते थे जिसका अर्थ निकलता हो सविनय-भंग छोड़ दिया गया। लेकिन यह गांधीजी को मंज़ूर नहीं होता था। आख़िर 'डिसकन्टिन्यू' (रोक देना) शब्द इस्तेमाल किया गया।

विदेशी कपड़े और शराब की दुकानों पर धरना देने की बाबत भी लम्बी-चौड़ी बहस हुई। हमारा बहुतेरा समय समझौते की अस्थायी तजवीज़ों पर ग़ौर करने में लगा और मूलभूत बातों पर कम ध्यान दिया गया। शायद यह सोचा गया कि जब यह कामचलाऊ समझौता हो जायेगा और रोज़-रोज़ की लड़ाई रोक दी जायगी, तब अधिक अनुकूल वातावरण में बुनियादी बातों पर ग़ौर किया जा सकेगा। हम उस बातचीत को विराम सन्धि की वार्ता मान रहे थे, जिसके बाद असली प्रश्नों पर आगे और बातचीत की जायगी।

उन दिनों दिल्ली में हर तरह के लोग खिंच-खिंचकर आते थे। बहुत से विदेशी, ख़ासकर अमेरिकन, पत्रकार थे और वे हमारी ख़ामोशी पर कुछ नाराज़ से थे। वे कहते कि आपकी बनिस्बत तो हमें गांधी-इर्विन-बातचीत के बारे में नयी दिल्ली के सेक्रेटेरियट से ज़्यादा ख़बरें मिल जाती हैं। और यह बात सही थी। इसके बाद बड़े-बड़े पदधारी लोग थे जो गांधीजी के प्रति अपना सम्मान प्रदर्शित करने के लिए दौड़ आते थे, क्योंकि अब तो महात्माजी का सितारा बुलन्द हो रहा था। उन लोगों को, जो अब तक गांधीजी से और कांग्रेस से दूर रहे, और जबतब उनकी बुराई करते रहे थे, अब उसका प्रायश्चित्त करने के लिए आते देखना मज़ेदार लगता था। कांग्रेस का बोलबाला होता हुआ दिखायी देता था, और कौन जाने आगे क्या-क्या होकर रहे, इसलिए बेहतर यही है कि कांग्रेस और उसके नेताओं के साथ मेल-जोल करके रहा जाय। एक साल के बाद ही उनमें दूसरे परिवर्तन की लहर आयी दिखाई दी। वे कांग्रेस के प्रति तथा उसके तमाम कार्यों के प्रति ज़ोरों के साथ अपनी घृणा प्रदर्शित करते और कहते थे कि हमसे इनसे कोई वास्ता नहीं है।

सम्प्रदायवादी लोग भी इन घटनाओं से जगे और उन्हें यह आशंका पैदा हुई कि कहीं ऐसा न हो कि आनेवाली व्यवस्था में उनके लिए कोई ऊँचा स्थान न रह जाय, और इसलिए कई लोग गांधीजी के पास आये और उनको यक़ीन दिलाया कि साम्प्रदायिक प्रश्न पर हम समझौता करने को बिलकुल तैयार हैं। अगर आप शुरुआत कर दें तो समझौते में कोई दिक़्क़त पेश न आयगी।

ऊँची और नीची सभी श्रेणियों के लोगों का सतत प्रवाह डॉ० अन्सारी के बँगले की ओर हो रहा था, जहाँ गांधीजी और हममें से बहुतेरे लोग ठहरे थे, और फ़ुरसत के वक़्त हम उन्हें दिलचस्पी से देखते और फ़ायदा भी उठाते थे कुछ सालों से हम, ख़ास करके क़स्बों में, देहात में रहनेवाले ग़रीबों के और उन लोगों के जो जेलों में ठूँस दिये गये थे, सम्पर्क में आते रहते थे, लेकिन धनी-मानी वैभवशाली लोग जो गांधीजी से मिलने आते थे, मानव-प्रकृति का दूसरा पहलू सामने रखते थे। वे परिस्थितियों के साथ अपना मेल मिलाना ख़ूब जानते हैं, जहाँ कहीं उन्हें सत्ता और सफलता दिखायी दी, वे उसी तरफ़ झुक गये और अपनी मधुर मुस्कान से उसका स्वागत करने लगे। उनमें कितने ही

हिन्दुस्तान में ब्रिटिश सरकार के मज़बूत स्तम्भ थे। यह जानकर तसल्ली होती थी कि वे भारत में जो भी अन्य कोई सरकार क़ायम होगी उसके भी उतने ही सुदृढ़ स्तम्भ बन जायँगे।

उन दिनों अक्सर मैं सुबह गांधीजी के साथ नयी दिल्ली घूमने जाया करता था। यही एक ऐसा वक़्त था कि मामूलीतौर पर कोई आदमी उनसे बात करने का मौक़ा पा सकता था; क्योंकि उनका बाक़ी सारा वक़्त बँटा हुआ था। एक-एक मिनट किसी काम या किसी व्यक्ति के लिए नियत था। यहाँ तक कि सुबह के घूमने का वक़्त भी किसीको बातचीत के लिए, मामूलीतौर पर किसी विदेश से आये हुए या किसी मित्र को, दे दिया जाता था जो उनसे व्यक्तिगत सलाह-मशवरे के लिए आते थे। हमने बहुत-से विषयों पर बातचीत की। पिछले ज़माने पर भी और मौजूदा हालत पर भी; और ख़ासकर भविष्य पर भी। मुझे याद है कि उन्होंने मुझे किस तरह कांग्रेस के भविष्य के बारे में अपने एक विचार से अचम्भे में डाल दिया। मैंने तो ख़याल कर रक्खा था कि आज़ादी मिल जाने पर कांग्रेस की हस्ती अपने-आप मिट जायगी। लेकिन उनका विचार था कि कांग्रेस बदस्तूर रहेगी — सिर्फ़ एक शर्त होगी, कि वह अपने लिए एक आर्डिनेन्स पास करेगी, जिसके मुताबिक़ उसका कोई भी मेम्बर राज्य में वैतनिक काम न कर सकेगा, और अगर राज्य में अधिकार-पद ग्रहण करना चाहे तो उसे कांग्रेस छोड़ देनी होगी। मुझे इस समय यह तो याद नहीं है कि उन्होंने अपने दिमाग़ में उसका कैसा ढाँचा बैठाया था; मगर उसका तात्पर्य यह था कि कांग्रेस इस प्रकार अपनी अनासक्ति और निःस्वार्थ भाव के कारण सरकार के प्रबन्ध तथा दूसरे विभागों पर ज़बरदस्त नैतिक दबाव डाल सकेगी और उन्हें ठीक रास्ते पर क़ायम रख सकेगी।

यह एक अनोखी कल्पना है, जिसे पूरीतौर से समझ लेना मुश्किल है और जिसमें अनगिनत कठिनाइयाँ सामने आती हैं। मुझे यह दिखायी पड़ता है कि यदि ऐसी किसी सभा की कल्पना की भी जाय तो किसी स्थापित स्वार्थ के द्वारा उसका दुरुपयोग किया जायगा। मगर उसकी व्यावहारिकता को एक तरफ़ रख दें, तो इससे गांधीजी के विचारों का कुछ आधार समझने में ज़रूर मदद मिलती है। यह आधुनिक दल-व्यवस्था की कल्पना के बिलकुल विपरीत है; क्योंकि आधुनिक व्यवस्था तो किसी पूर्व-निश्चित कल्पना के अनुसार राजनैतिक और आर्थिक ढाँचे को ढालने के लिए राज्यसत्ता पर क़ब्ज़ा करने के ख़याल पर बनी हुई है। यह उस दल-व्यवस्था के भी विरुद्ध है, जोकि आजकल अक्सर पायी जाती है और जिसका कार्य श्री आर० एच० टानी के शब्दों में "ज़्यादा-से-ज़्यादा गधों को ज़्यादा-से-ज़्यादा गाजरें खिलाना" है।

गांधीजी के लोक-तन्त्र का ख़याल निश्चित-रूप से आध्यात्मिक है। मामूली अर्थ में उसका संख्या से या बहुमत से या प्रतिनिधित्व से कोई वास्ता नहीं। उसकी

बुनियाद है सेवा और त्याग; और यह नैतिक दबाव से ही काम लेती है। हाल ही प्रकाशित अपने एक वक्तव्य में (१७ सितम्बर १९३४) लोकतन्त्र की उन्होंने व्याख्या दी है। वह अपने को जन्मतः लोकतन्त्र-वादी मानते हैं और कहते हैं कि अगर "मनुष्य-जाति के दरिद्र-से-दरिद्र व्यक्तियों के साथ अपने-आपको बिलकुल मिला देने उनसे बेहतर हालत में अपना जीवन-यापन न करने की उत्कंठा और उनके समतल तक अपने को पहुँचाने के जागरूक प्रयत्न से किसीको इस दावे का अधिकार मिल सकता है, तो मैं अपने लिए यह दावा करता हूँ।" आगे चलकर वह लोकतन्त्र की विवेचना इस प्रकार करते हैं—

"हमें यह बात जान लेनी चाहिए कि कांग्रेस के लोकतन्त्री-स्वरूप और प्रभाव की प्रतिष्ठा उसके वार्षिक अधिवेशन में खिंच आनेवाले प्रतिनिधियों या दर्शकों की संख्या के कारण नहीं बल्कि उसकी की हुई सेवा के कारण है, जिसकी मात्रा दिन-प्रति-दिन बढ़ती जा रही है। पश्चिमी लोकतन्त्र अगर अबतक विफल नहीं हुआ है तो कम-से-कम वह कसौटी पर ज़रूर चढ़ा है। ईश्वर करे कि हिन्दुस्तान में प्रत्यक्ष सफलता के प्रदर्शन के द्वारा लोकतन्त्र के सच्चे विज्ञान का विकास हो।

"नीति-भ्रष्टता और दम्भ लोकतन्त्र के अनिवार्य फल नहीं होने चाहिए जैसे कि वे निःसन्देह वर्तमान समय में हो रहे हैं। और न बड़ी संख्या लोकतन्त्र की सच्ची कसौटी ही है। यदि थोड़े-से व्यक्ति, जिनके प्रतिनिधि बनने का दावा करते हैं, उनकी भावना, आशा और हौंसले का प्रतिनिधित्व करते हैं, तो यह लोकतन्त्र के सच्चे भाव से असंगत नहीं है। मेरा मत है कि लोकतन्त्र का विकास बलप्रयोग करके नहीं किया जा सकता है। लोकतन्त्र की भावना बाहर से नहीं लादी जा सकती; वह तो अन्दर से ही पैदा की जा सकती है।"

निश्चय ही यह पश्चिमी लोकतन्त्र नहीं है, जैसा कि वह स्वयं कहते हैं। बल्कि कौतूहल की बात तो यह है कि वह कम्यूनिस्टों के लोकतन्त्र की धारणा से मिलता-जुलता है; क्योंकि उसमें भी आध्यात्मिकता की झलक है। थोड़े-से कम्यूनिस्ट जनता की असली आकांक्षाओं और आवश्यकताओं के प्रतिनिधित्व का दावा करेंगे, चाहे जनता को इसका पता न भी हो। जनता उनके लिए एक आध्यात्मिक वस्तु हो जायगी और वे इसका प्रतिनिधित्व करने का दावा करते हैं। फिर भी वह समानता थोड़े ही है और हमको बहुत-दूर तक नहीं ले जाती है। जीवन को देखने और उस तक पहुँचने के साधनों में बहुत ज़्यादा मतभेद है— मुख्यतः उसे प्राप्त करने के साधन और बलप्रयोग के सम्बन्ध में।

गांधीजी चाहे लोकतन्त्री हों या न हों वह भारत की किसान-जनता के प्रतिनिधि अवश्य हैं। वह उन करोड़ों की जागी और सोयी हुई इच्छा-शक्ति के साररूप हैं। यह शायद उनका प्रतिनिधित्व करने से कहीं ज़्यादा है; क्योंकि वह करोड़ों के आदर्शों की सजीव मूर्ति हैं। हाँ, वह एक औसत किसान नहीं हैं।

वह एक बहुत तेज़ बुद्धि, उच्च भावना और सुरुचि तथा व्यापक दृष्टि रखनेवाले पुरुष हैं—बहुत सहृदय, फिर भी आवश्यक रूप से एक तपस्वी, जिन्होंने अपने विकारों और भावनाओं का दमन करके उन्हें दिव्य बना दिया है और आध्यात्मिक मार्गों में प्रेरित किया है। उनका एक ज़बर्दस्त व्यक्तित्व है जो चुम्बक की तरह हरेक को अपनी ओर खींच लेता है और दूसरों के हृदय में अपने प्रति आश्चर्य-जनक वफ़ादारी और ममता उमड़ाता है। यह सब एक किसान से कितना भिन्न और कितना परे है? और इतना होने पर भी वह एक महान् किसान हैं जो बातों को एक किसान के दृष्टि-बिन्दु से देखते हैं और जीवन के कुछ पहलुओं के बारे में एक किसान की ही तरह अन्धे हैं। लेकिन भारत किसानों का भारत है और वह अपने भारत को अच्छी तरह जानते हैं और उसके हलके-से-हलके कम्पनों का भी उनपर तुरन्त असर होता है। वह स्थिति को ठीक-ठीक और अक्सर सहज-स्फूर्ति से जान लेते हैं और ऐन मौक़े पर काम करने की अद्भुत सूझ उनमें है।

ब्रिटिश सरकार ही के लिए नहीं, बल्कि ख़ुद अपने लोगों और नज़दीकी साथियों के लिए भी वह एक पहेली और एक समस्या बने हुए हैं। शायद दूसरे किसी भी देश में आज उनका कोई स्थान न होता। मगर हिन्दुस्तान, आज भी ऐसा मालूम होता है पैग़म्बरों जैसे धार्मिक पुरुषों को, जो पाप और मुक्ति और अहिंसा की बातें करते हैं, समझ लेता है या कम-से-कम उनकी क़द्र करता है। भारत का धार्मिक साहित्य बड़े-बड़े तपस्वियों की कथाओं से भरा पड़ा है, जिन्होंने घोर तप और त्याग के द्वारा भारी पुण्य-संचय करके छोटे-छोटे देवताओं की सत्ता हिला दी तथा प्रचलित व्यवस्था उलट-पलट दी। जब कभी मैंने गांधीजी के अक्षय आध्यात्मिक भण्डार से बहनेवाली विलक्षण कार्य-शक्ति और आन्तरिक बल को देखा है, तो मुझे अक्सर ये कथाएँ याद आ जाया करती हैं। वह स्पष्टतः दुनिया के साधारण मनुष्य नहीं हैं। वह तो बिरले और कुछ और ही तरह के साँचे में ढाले गये हैं और अनेक अवसरों पर उनकी आँखों से हमें मानो उस अज्ञात के दर्शन होते थे।

हिन्दुस्तान पर, क़स्बों के हिन्दुस्तान पर ही नहीं, नये औद्योगिक हिन्दुस्तान पर भी, किसानपन की छाप लगी हुई है और उसके लिए यह स्वाभाविक था कि वह अपने इस पुत्र को—अपने ही समान और फिर भी अपने से इतने भिन्न सत्पुत्र को—अपना उपास्य-देव और अपना प्रिय नेता बनावे। उन्होंने पुरानी और धुँधली स्मृतियाँ फिर ताज़ा कर दीं और हिन्दुस्तान को उसकी आत्मा की झलक दिखलायी। इस ज़माने की घोर मुसीबतों से कुचले जाने के कारण उसे भूतकाल के असहाय गीत गाने और भविष्य के गोल-मोल स्वप्न देखने में सान्त्वना मिलती थी। मगर उन्होंने अवतरित होकर हमारे दिलों को आशा और हमारे जीर्ण-शीर्ण शरीर को बल दिया और भविष्य हमारे लिए मन-मोहक वस्तु बन गया। इटली के दो-मुँहे देवता जेनस की तरह भारत पीछे भूतकाल की तरफ़ और आगे

भविष्यकाल की तरफ़ देखने लगा और दोनों के समन्वय की कोशिश करने लगा।

हममें से कितने ही इस किसान-दृष्टि से कटकर अलग हो गये थे और पुराने आचार-विचार और धर्म हमारे लिए विदेशी-से बन गये थे। हम अपनेको नयी रोशनी का कहते थे और प्रगति, उद्योगीकरण, ऊँचे रहन-सहन और समष्टीकरण की भाषा में सोचते थे। किसान के दृष्टि-बिन्दु को हम प्रतिगामी समझते थे और कुछ लोग, जिनकी संख्या बढ़ रही है, समाजवाद और कम्यूनिज़्म को अनुकूल दृष्टि से देखते थे। ऐसी दशा में यह प्रश्न है कि हमने कैसे गांधीजी की राजनीति में उनका साथ दिया और किस तरह बहुत-सी बातों में उनके भक्त और अनुयायी बन गये। इस सवाल का जवाब देना मुश्किल है और जो गांधीजी को नहीं जानता है उसे उस जवाब से सन्तोष न हो सकेगा। बात यह है कि व्यक्तित्व एक ऐसी चीज़ है जिसकी व्याख्या नहीं हो सकती। वह एक ऐसी शक्ति है जिसका मनुष्य के अन्तःकरण पर अधिकार हो जाता है और गांधीजी के पास यह शक्ति बहुत बड़े परिमाण में है। और जो लोग उनके पास आते हैं उन्हें वे अक्सर भिन्न रूप में दिखायी पड़ते हैं। यह ठीक है कि वह लोगों को आकर्षित करते हैं, मगर लोग जो उन तक गये हैं और जाकर ठहर गये हैं सो तो आख़ीर में अपने बौद्धिक विश्वास के कारण ही। यह ठीक है कि वे उनके जीवन-सिद्धान्त से या उनके कितने ही आदर्शों से भी सहमत न थे; कई बार तो वे उन्हें समझते भी न थे; मगर जिस कार्य को करने का उन्होंने आयोजन किया वह एक मूर्त और प्रत्यक्ष वस्तु थी, जिसको बुद्धि समझ सकती थी और उसकी क़द्र कर सकती थी। हमारी निष्क्रियता और अकर्मण्यता की लम्बी परम्परा के बाद, जोकि हमारी मुर्दा राजनीति में पोषित चली आ रही थी, किसी भी प्रकार के कार्य का स्वागत ही हो सकता था। फिर एक बहादुराना और उपयोगी कार्य का तो, जिसके कि आस-पास नैतिकता का तेज भी जगमगा रहा हो, पूछना ही क्या! बुद्धि और भावना दोनों पर उसका असर हुए बिना नहीं रह सकता था। फिर धीरे-धीरे उन्होंने अपने कार्य के सही होने का भी हमें क़ायल कर दिया और हम उनके साथ हो लिये, हालाँकि हमने उनके जीवन-तत्त्व को स्वीकार नहीं किया। कार्य को उसके मूलभूत विचार से अलग रखना शायद ठीक तरीक़ा नहीं है और उससे आगे चलकर कठिनाई और मानसिक संघर्ष हुए बिना नहीं रह सकता। हमने मोटे तौर पर यह उम्मीद की थी कि गांधीजी चूँकि एक कर्मयोगी हैं और बदलनेवाली हालतों का उनपर बहुत जल्दी असर होता है, इसलिए उस रास्ते पर आगे बढ़ेंगे जो हमें सही नज़र आता था। और हर हालत में वह जिस रास्ते पर चल रहे थे अबतक तो सही ही था और अगर आगे चलकर हमें जुदे जुदे रास्ते चलना पड़े तो उसका पहले से ख़याल बनाना बेवक़ूफ़ी होगी।

इन सबसे यह ज़ाहिर होता है कि न तो हमारे विचार सुलझे हुए थे और न निश्चित। हमेशा हमारे दिल में यह भावना रही कि हमारा मार्ग चाहे अधिक

तर्क-शुद्ध हो मगर गांधीजी हिन्दुस्तान को हमसे कहीं ज्यादा अच्छी तरह जानते हैं और जो शख्स इतनी ज़बरदस्त श्रद्धा-भक्ति का अधिकारी बन जाता है उसके अन्दर कोई ऐसी बात अवश्य होनी चाहिए जो जनता की आवश्यकताओं और ऊँची आकांक्षाओं के माफ़िक़ हो। हमने सोचा कि यदि हम उनको अपने विचारों का क़ायल कर सकें तो हम जनता को भी अपने मत का बना सकेंगे, और हमें यह सम्भव दिखायी पड़ता था कि हम उनको क़ायल कर सकेंगे, क्योंकि उनके किसान दृष्टिकोण के रहते हुए भी वह एक पैदायशी विद्रोही हैं, एक क्रान्तिकारी हैं, जो भारी-भारी परिवर्तनों के लिए कमर कसे रहते हैं और जिसे परिणाम की आशंकाएं रोक नहीं सकतीं।

किस तरह उन्होंने सुस्त और निराश जनता को एक अनुशासन में बाँधकर काम में जुटा दिया—बल-प्रयोग करके या दुनियावी लालच देकर नहीं बल्कि महज़ मीठी निगाह, कोमल शब्द और इनसे भी बढ़कर खुद अपने जीते-जागते उदाहरण के द्वारा। सत्याग्रह की शुरुआत के दिनों में ठठ १९१९ में, मुझे याद है कि बम्बई के उमर सोभानी उन्हें 'स्लेव ड्राइवर' (ग़ुलामों को हाँकनेवाले) कहा करते थे। अब इस युग में तो हालत और भी बदल गयी है। उमर अब मौजूद नहीं हैं कि उन परिवर्तनों को देखें। मगर हम जो ज़्यादा खुशक़िस्मत रहे, १९३१ के शुरू महीनों से पीछे के समय को देखते हैं तो दिल उमंग और अभिमान से भर जाता है। १९३१ का साल सचमुच हमारे लिए एक अद्भुत साल था और ऐसा मालूम होता था कि गांधीजी ने अपनी जादू की लकड़ी से हमारे देश का नक़्शा ही बदल दिया है। कोई ऐसा मूर्ख तो नहीं था जो यह समझता हो कि हमने ब्रिटिश सरकार पर आख़िरी विजय पा ली है। हमें जो अभिमान होता था उसका सरकार से कोई ताल्लुक़ नहीं है। हमें तो अपने लोगों, अपनी बहनों, अपने नौजवानों और बच्चों पर, इस आन्दोलन में जिस तरह उन्होंने योग दिया उसपर, फ़ख्र था। वह एक आध्यात्मिक लाभ था जोकि किसी भी समय और किन्हीं भी लोगों के लिए क़ीमती था। मगर हमारे लिए तो, जोकि ग़ुलाम और दलित हैं, दुहरा उपकार था, और हमें इस बात की चिन्ता थी कि कोई ऐसी बात न हो जाय जिससे यह लाभ हमसे छिन जाय।

ख़ासकर मुझपर तो गांधीजी ने असाधारण कृपा और ममता दिखायी है और मेरे पिताजी की मृत्यु ने तो उन्हें ख़ासतौर से मेरे नज़दीक ला दिया है। मुझे जो कुछ कहना होता था, उसको वह बहुत ही धीरज के साथ सुनते थे और मेरी इच्छाओं को पूरी करने के लिए उन्होंने हर तरह की कोशिश की है। इससे अवश्य ही मैं यह सोचने लगा था कि यदि मैं और कुछ दूसरे साथी उनपर लगातार अपना असर डालते रहे तो सम्भव है उन्हें समाजवाद की ओर प्रेरित कर सकेंगे, और उन्होंने खुद भी यह कहा था कि जैसे-जैसे मुझे रास्ता दिखायी देगा मैं एक-एक क़दम बढ़ता जाऊँगा। उस वक़्त मुझे मालूम पड़ता था कि

एक दिन वे अनिवार्यतः समाजवाद के मूल सिद्धान्त या स्थिति को स्वीकार कर लेंगे; क्योंकि मुझे तो मौजूदा समाज-व्यवस्था में हिंसा, अन्याय, नाश और दुःखों से बचने का दूसरा कोई रास्ता दिखायी नहीं देता था। मुमकिन है कि साधनों से उनका मतभेद हो, मगर आदर्श से नहीं। उस वक़्त मैंने यही ख़याल किया था। मगर अब मैं अनुभव करता हूँ कि गांधीजी के आदर्शों में और समाजवाद के ध्येय में मौलिक भेद है।

अब हम फिर फ़रवरी १९३१ की दिल्ली में चलें। गांधी-इर्विन बातचीत होती रहती थी। वह एकाएक रुक गयी। कई दिनों तक वाइसराय ने गांधीजी को नहीं बुलाया और हमें ऐसा लगा कि बात-चीत टूट गयी। कार्य-समिति के सदस्य दिल्ली से अपने-अपने सूबों में जाने की तैयारी कर रहे थे। जाने से पहले हम लोगों ने आपस में भावी कार्य की रूप-रेखाओं और सविनय-भंग पर (जो कि अभी उसूलन् जारी था) विचार-विनिमय किया। हमें यक़ीन था कि ज्योंही बातचीत के टूटने की बात पक्के तौर पर ज़ाहिर हो जायगी त्योंही हम सबके लिए फिर मिलकर बातचीत करने का मौक़ा नहीं रह जायगा।

हम गिरफ़्तारियों की उम्मीद ही रखते थे। हमसे कहा गया था और यह सम्भव भी दीखता था कि अबकी बार सरकार कांग्रेस पर ज़ोर का धावा बोलेगी। वह अबतक के दमन से बहुत भयंकर होगा। सो हम आपस में आख़िरी तौर पर मिल लिये और आन्दोलन को भविष्य में चलाने के विषय में कई प्रस्ताव किये। एक प्रस्ताव ख़ासतौर पर मार्के का था। अब तक रिवाज यह था कि कार्यवाहक सभापति अपने गिरफ़्तार होने पर अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर देता था और कार्य-समिति में जो स्थान ख़ाली हों उनके लिए भी मेम्बरों को नामज़द कर देता था। स्थानापन्न कार्य-समितियों की शायद ही कभी बैठकें होती थीं और उन्हें किसी भी विषय में नयी बात करने के नहीं-से अधिकार थे। वे सिर्फ़ जेल जाने भर को थीं। इसमें एक जोखिम हमेशा ही लगी रहती थी और वह यह कि लगातार स्थानापन्न बनाने की कार्रवाई से सम्भव था कि कांग्रेस की स्थिति थोड़ी अटपटी हो जाय। इसमें खतरे भी थे। इसलिए दिल्ली में कार्य-समिति ने यह तय किया कि अब आगे से कार्यवाहक सभापति और स्थानापन्न सदस्य नामज़द न किये जाने चाहिए। जबतक मूल समिति के कुछ मेम्बर जेल के बाहर रहेंगे तबतक वही पूरी कमिटी की हैसियत से काम करेंगे। जब सब मेम्बर जेल चले जायँगे तब कोई समिति नहीं रहेगी, और हमने ज़रा दिखावे के तौर पर कहा कि सत्ता उस हालत में देश के प्रत्येक स्त्री-पुरुष के पास चली जायगी। और हम उनको आह्वान करते हैं कि वे बिना झुके लड़ाई को जारी रखें।

इस प्रस्ताव में संग्राम को जारी रखने का वीरोचित मार्ग दिखाया गया था और समझौते के लिए कोई गली-कूचा नहीं रखा गया था। इसके द्वारा यह बात भी मंजूर की गयी थी कि हमारे सदर मुक़ाम के लिए देश के हर हिस्से से

अपना सम्पर्क रखने और नियमित रूप से आदेश भेजने में कठिनाई अधिकाधिक बढ़ती जा रही थी। यह लाज़िमी था, क्योंकि हमारे बहुतेरे कार्यकर्ता नामी स्त्री-पुरुष थे और वे खुल्लम-खुल्ला काम करते थे। वे कभी भी गिरफ़्तार हो सकते थे। १६३० में छिपे तौर पर आदेश भेजने, रिपोर्ट मँगवाने और देखभाल करने के लिए कुछ आदमी भेजे जाते थे। व्यवस्था चली तो अच्छी और उसने यह भी दिखा दिया कि हम गुप्त ख़बरें देने के काम को बड़ी सफलता के साथ कर सकते हैं। लेकिन कुछ हद तक यह हमारे खुले आन्दोलन के साथ मेल नहीं खाती थी, और गांधीजी इसके ख़िलाफ़ थे। तो अब प्रधान कार्यालय से हिदायतें मिलने के अभाव में हमें काम की ज़िम्मेदारी स्थानीय लोगों पर ही छोड़नी पड़ी थी, वरना वे ऊपर से आदेश आने की राह देखते बैठे रहते और कुछ काम नहीं करते। हाँ, जब-जब मुमकिन होता आदेश भेजे भी जाते थे।

इस तरह हमने यह और दूसरे कई प्रस्ताव पास किये, (इनमें से कोई न तो प्रकाशित किया गया और न उनपर अमल ही किया गया। क्योंकि बाद को हालत बदल गयी थी) और अपनी-अपनी जगह जाने के लिए बिस्तर बाँध लिये। ठीक इसी वक़्त लार्ड इर्विन की तरफ़ से बुलावा आया और बातचीत फिर शुरू हो गयी। ४ मार्च की रात को हम आधी रात तक गांधीजी के वाइसराय-भवन से लौटने का इन्तज़ार कर रहे थे। वह रात को कोई २ बजे आये, और हमें जगाकर कहे कि समझौता हो गया है। हमने मसविदा देखा। बहुतेरी धाराओं को तो मैं जानता था, क्योंकि अक्सर उनपर चर्चा होती रहती थी लेकिन धारा नं० २[1] जोकि सबसे ऊपर ही थी और संरक्षण आदि के बारे में थी, उसे देखकर मुझे ज़बरदस्त धक्का लगा। मैं उसके लिए क़तई तैयार न था, मगर मैं उस वक़्त कुछ न बोला और हम सब सो गये।

अब कुछ करने की गुंजाइश भी कहाँ रह गयी थी? बात तो हो चुकी थी। हमारे नेता अपना वचन दे चुके थे और अगर हम राज़ी न भी हों तो कर क्या सकते थे? क्या उनका विरोध करें? क्या उनसे अलहदा हो जायँ? अपने मतभेद की घोषणा करें? हो सकता है कि इससे किसी व्यक्ति को अपने लिए

---

[1] दिल्ली-समझौते की धारा नं० २ (५ मार्च, १६३१) यह है—"विधान-सम्बन्धी प्रश्न पर, सम्राट् सरकार की अनुमति से, यह तय हुआ है कि हिन्दुस्तान के वैध शासन की उसी योजना पर आगे विचार किया जायगा जिसपर गोलमेज़-कान्फ्रेंस में पहले विचार हो चुका है। वहाँ जो योजना बनी थी, संघ-शासन उसका एक अनिवार्य अंग है। इसी प्रकार भारतीय उत्तरदायित्व और भारत के हित की दृष्टि से रक्षा (सेना), वैदेशिक मामले, अल्प-संख्यक जातियों की स्थिति, भारत की आर्थिक साख और ज़िम्मेदारियों की अदायगी जैसे विषयों के प्रतिबन्ध या संरक्षण भी उसके आवश्यक भाग हैं।"

सन्तोष हो जाय। परन्तु अन्तिम फ़ैसले पर उसका क्या असर पड़ सकता था? कम-से-कम अभी कुछ समय के लिए तो सविनय भंग आन्दोलन ख़त्म हो चुका था। अब जबकि सरकार यह घोषित कर सकती थी कि गांधीजी समझौता कर चुके हैं, तो कार्य समिति तक उसे आगे नहीं बढ़ा सकती थी।

मैं इस बात के लिए तो बिलकुल राज़ी न था, जैसे कि मेरे दूसरे साथी भी थे, कि सविनय भंग स्थगित कर दिया जाय और सरकार के साथ अस्थायी समझौता कर लिया जाय। हममें से किसीके लिए यह आसान बात न थी कि अपने साथियों को वापस जेल भेज दें या जो कई हज़ार लोग पहले से जेलों में पड़े हुए हैं उनको वहीं पड़ा रहने देने के साधन बनें। जेलख़ाना ऐसी जगह नहीं है जहां हम अपने दिन और रात गुज़ारा करें, हालांकि हम बहुतेरे अपने को उसके लिए तैयार रखते हैं और आत्मा को कुचल डालनेवाले उसके दैनिक कार्य क्रम के बारे में बड़े हलके दिल से बातें करते हैं। इसके अलावा तीन हफ़्ते से ज़्यादा दिन गांधीजी और लार्ड इर्विन के बीच जो बातें चलीं उनसे लोगों के दिलों में ये आशाएं बँध गयीं कि समझौता होने वाला है और अब अगर उसके आख़िरी तौर पर टूट जाने की ख़बर मिले तो उससे उनको निराशा होगी। यह सोचकर कार्य-समिति के हम सब मेम्बर अस्थायी समझौते के (क्योंकि इससे अधिक वह हो भी नहीं सकता था) पक्ष में थे, बशर्ते कि उसके द्वारा हमें अपनी कोई अत्यन्त महत्त्व की बात न छोड़नी पड़ती हो।

जहांतक मुझसे सम्बन्ध है, जिन दूसरी बातों पर काफ़ी बहस-मुबाहिसा हुआ उनसे मुझे इतनी ज़्यादा दिलचस्पी नहीं थी; मुझे सबसे ज़्यादा ख़याल दो बातों का था। एक तो यह कि हमारा स्वतन्त्रता का ध्येय किसी भी तरह नीचा न किया जाय, और दूसरा यह कि समझौते का युक्तप्रान्त के किसानों की स्थिति पर क्या असर होगा? हमारा लगानबन्दी-आन्दोलन अबतक बहुत कामयाब रहा था, और कुछ इलाक़ों में तो मुश्किल से लगान वसूल हो पाया था। किसान ख़ूब रंग में थे। और संसार की कृषि-सम्बन्धी अवस्थाएं और चीज़ों के भाव बहुत ख़राब थे, जिससे उनके लिए लगान अदा करना और मुश्किल हो गया था। हमारा करबन्दी-आन्दोलन राजनैतिक और आर्थिक दोनों तरह का था। अगर सरकार के साथ कोई क्षणिक समझौता हो जाता है तो सविनय-भंग वापस ले लिया जायगा और इसका राजनैतिक आधार निकल जायगा। लेकिन उसके आर्थिक पहलू के, भावों की इतनी गिरावट के और किसानों की मुक़र्रर की हुई किश्त के मुक़ाबले में कुछ भी देने की असमर्थता के विषय में क्या होगा? गांधीजी ने लार्ड इर्विन से यह प्रश्न बिलकुल साफ़ कर लिया था। उन्होंने कहा था, करबन्दी-आन्दोलन बन्द कर दिया जायगा तो भी हम किसानों को यह सलाह नहीं दे सकते कि वे अपनी ताक़त या हैसियत से ज़्यादा दें। चूँकि यह प्रान्तीय मामला था, भारत सरकार के साथ इसकी ज़्यादा चर्चा नहीं

हो सकी थी। हमें यह यकीन दिलाया गया था कि प्रान्तीय सरकार इस विषय में खुशी के साथ बातचीत करेगी और अपने बस भर किसानों की तकलीफ़ दूर करने की कोशिश करेगी। यह एक गोलमोल आश्वासन था। लेकिन उन हालतों में इससे ज़्यादा पक्की बात होना मुश्किल था। इस तरह यह मामला उस वक़्त के लिए तो ख़त्म ही हो गया था।

अब हमारी स्वाधीनता का अर्थात् हमारे उद्देश्य का महत्त्वपूर्ण प्रश्न बाक़ी रहा और समझौते की धारा नम्बर २ से मुझे यह मालूम पड़ा कि यह भी ख़तरे में जा पड़ा है। क्या इसीलिए हमारे लोगों ने एक साल तक अपनी बहादुरी दिखाई? क्या हमारी बड़ी-बड़ी ज़ोरदार बातों और कामों का ख़ात्मा इसी तरह होना था? क्या कांग्रेस का स्वाधीनता-प्रस्ताव और २६ जनवरी की प्रतिज्ञा इसीलिए की गयी थी? इस तरह के विचारों में डूबा हुआ मैं मार्च की उस रात-भर पड़ा रहा और अपने दिल में ऐसी शून्यता महसूस करने लगा कि मानो उसमें से कोई क़ीमती चीज़ सदा के लिए निकल गई हो—

तरीक़ा ये दुनिया का देखा सही—
गरजते बहुत जो वे बरसते नहीं।[1]

३५

कराची-कांग्रेस

गांधीजी ने किसी से मेरी मानसिक व्यथा का हाल सुना और दूसरे दिन सुबह घूमने के वक़्त अपने साथ चलने के लिए मुझे कहा। बड़ी देर तक हमने बातचीत की, जिसमें उन्होंने मुझे यह विश्वास दिलाने की कोशिश की कि न तो कोई अत्यन्त महत्त्व की बात छोड़ दी गयी है और न कोई सिद्धान्त ही त्यागा गया है। उन्होंने धारा नम्बर २ का एक विशेष अर्थ लगाया जिससे वह हमारी स्वतन्त्रता की माँग से मेल खा सके। इसमें उनका आधार ख़ासकर 'भारत के हित में' शब्द थे। यह अर्थ मुझे खींचातानी का मालूम हुआ। मैं उसका क़ायल तो नहीं हुआ, लेकिन उनकी बातचीत से मुझे कुछ सान्त्वना ज़रूर हुई; मैंने उनसे कहा कि समझौते के गुण-दोष को एक तरफ़ रख दें, तो भी एकाएक कोई नई बात खड़ी कर देने के आपके तरीक़े से मैं डरता हूँ। आप में कुछ ऐसी अज्ञात वस्तु है जिसे चौदह साल के निकट-सम्पर्क के बाद भी मैं बिलकुल नहीं समझ सका हूँ और इसने मेरे मन में भय पैदा कर दिया है। उन्होंने अपने अन्दर ऐसे अज्ञात तत्त्व का होना तो स्वीकार किया, मगर कहा कि मैं खुद भी इसके लिए जवाबदेह नहीं हो सकता, न यही पहले से बता सकता हूँ कि वह मुझे कहाँ और किस ओर ले जायगा।

एक-दो दिन तक मैं बड़ी दुविधा में पड़ा रहा। समझ न सका कि क्या करूँ?

---

[1] अंग्रेज़ी पद्य का भावानुवाद।

अब समझौते के विरोध का या उसे रोकने का तो कोई सवाल ही नहीं था। वह वक़्त गुज़र चुका था और मैं जो कुछ कर सकता था वह यह कि व्यवहार में उसे स्वीकार करते हुए सिद्धान्ततः अपने को उससे अलग रक्खूँ। इससे मेरे अभिमान को कुछ सान्त्वना मिल जाती लेकिन हमारे पूर्ण स्वराज के बड़े प्रश्न पर इसका क्या असर पड़ सकता था? तब क्या यह अच्छा न होगा कि मैं उसे ख़ूबसूरती के साथ मंजूर कर लूँ और उसका अधिक-से-अधिक अनुकूल अर्थ लगाऊँ, जैसा-कि गांधीजी ने किया? समझौते के बाद ही फ़ौरन अख़बारवालों से बातचीत करते हुए गांधीजी ने उसी अर्थ पर ज़ोर दिया और कहा कि हम स्वतन्त्रता के प्रश्न पर पूरे-पूरे अटल हैं। वह लॉर्ड इर्विन के पास गये और इस बात को बिलकुल स्पष्ट कर दिया जिससे कि उस समय या आगे कोई ग़लतफ़हमी न होने पावे। उन्होंने उनसे कहा कि यदि कांग्रेस गोलमेज़-कान्फ्रेंस में अपना प्रतिनिधि भेजे, तो उसका आधार एकमात्र स्वतन्त्रता ही हो सकता है और उसे पेश करने के लिए ही वहाँ जाया जा सकता है। अवश्य ही लॉर्ड इर्विन इस दावे को मान तो नहीं सकते थे, लेकिन उन्होंने यह मंजूर किया कि हाँ, कांग्रेस को उसे पेश करने का हक़ है।

इसलिए मैंने समझौते को मान लेना और दिल से उसके लिए काम करना तय किया। यह बात नहीं कि ऐसा करते हुए मुझे बहुत मानसिक और शारीरिक क्लेश न हुआ हो। मगर मुझे बीच का कोई रास्ता नहीं दिखायी देता था।

समझौते के पहले तथा बाद में लॉर्ड इर्विन के साथ बातचीत के दरमियान गांधीजी ने सत्याग्रही क़ैदियों के अलावा दूसरे राजनैतिक क़ैदियों की रिहाई की भी पैरवी की थी। सत्याग्रही क़ैदी तो समझौते के फल-स्वरूप अपने-आप रिहा हो जाने वाले ही थे। लेकिन दूसरे ऐसे हज़ारों क़ैदी थे जो मुकदमा चलाकर जेल भेजे गये थे और ऐसे नज़रबन्द भी थे जो बिना मुक़दमा चलाये, बिना इलज़ाम लगाये या सज़ा दिये ही जेलों में ठूँस दिये गये थे। इनमें से कितने ही नज़रबन्द वर्षों से वहाँ पड़े हुए थे और उनके बारे में सारे देश में नाराज़गी फैली हुई थी—ख़ासकर बंगाल में, जहाँ कि बिना मुक़दमा चलाये क़ैद कर देने के तरीक़े से बहुत ज़्यादा काम लिया गया। पेनग्विन आइलैण्ड के[1] जनरल स्टाफ़ के मुखिया की तरह (या शायद ड्रेफस[2] के मामले की तरह) भारत-सरकार का भी मानना था

---

[1] 'पेनग्विन आइलैण्ड' आनातोले फ्रांस नामक प्रसिद्ध फ्रेंच लेखक की कृति है जिसमें लोकशासन-हीन, यन्त्राधीन राज्य का चित्र खींचा गया है।

[2] ड्रेफस नामक एक फ़रासीसी सैनिक अफ़सर था जिसपर पिछली सदी के अन्त में सरकारी ख़बरें बेचने का झूठा इल्ज़ाम लगाया गया था और लम्बी सज़ा दी गयी थी। इसपर इल्ज़ाम दो बार झूठा साबित हुआ; दो दफ़ा उसपर फिर मुक़दमा चलाया गया और अन्त में बहुत सालों तक क़ैद भोगने के बाद बेचारा निरपराध साबित हुआ।

कि सबूत का न होना ही बढ़िया सबूत का होना है। सबूत का न होना तो ग़ैर-साबित किया ही नहीं जा सकता। नज़रबन्दों पर सरकार का यह आरोप था कि वे हिंसात्मक प्रकार के असली या अप्रत्यक्ष क्रान्तिकारी हैं। गांधीजी ने समझौते के अंग-स्वरूप तो नहीं, परन्तु इसलिए कि बंगाल में राजनैतिक तनातनी कम हो जाय और वातावरण अपनी मामूली स्थिति में आ जाय, उनकी रिहाई की पैरवी की थी। मगर सरकार इसपर रज़ामन्द न हुई।

भगतसिंह की फाँसी की सज़ा रद कराने के लिए गांधीजी ने जो ज़ोरदार पैरवी की उसको भी सरकार ने मंजूर नहीं किया। उसका भी समझौते से कोई सम्बन्ध न था। गांधीजी ने इसपर भी अलहदा तौर पर ज़ोर इसलिए दिया कि इस विषय पर भारत में बहुत तीव्र लोक-भावना थी। मगर उनकी पैरवी बेकार गयी।

उन्हीं दिनों की एक कुतूहलवर्धक घटना मुझे याद है, जिसने हिन्दुस्तान के आतंकवादियों की मनःस्थिति का आन्तरिक परिचय मुझे कराया। मेरे जेल से छूटने के पहले ही, या पिताजी के मरने के पहले या बाद, यह घटना हुई। हमारे स्थान पर एक अजनबी मुझसे मिलने आया। मुझसे कहा गया कि वह चन्द्रशेखर आज़ाद है। मैंने उसे पहले कभी नहीं देखा था। हाँ, दस वर्ष पहले मैंने उसका नाम ज़रूर सुना था जबकि १९२१ में असहयोग-आन्दोलन के ज़माने में स्कूल से असहयोग करके वह जेल गया था। उस समय वह कोई पन्द्रह साल का रहा होगा और जेल के नियम-भंग करने के अपराध में जेल में उसे बेंत लगवाये गये थे। बाद को उत्तर-भारत में वह आतंकवादियों का एक मुख्य आदमी बन गया। इसी तरह का कुछ-कुछ हाल मैंने सुन रक्खा था। मगर इन अफ़वाहों में मैंने कोई दिलचस्पी नहीं ली थी। इसलिए वह आया तो मुझे ताज्जुब हुआ। वह मुझसे इसलिए मिलने को तैयार हुआ था कि हमारे छूट जाने से आमतौर पर ये आशाएं बँधने लगीं कि सरकार और कांग्रेस में कुछ-न-कुछ समझौता होनेवाला है। वह मुझसे जानना चाहता था कि अगर कोई समझौता हो तो उनके दल के लोगों को भी कुछ शान्ति मिलेगी या नहीं? क्या उनके साथ अब भी विद्रोहियों का-सा बर्ताव किया जायगा? जगह-जगह उनका पीछा इसी तरह किया जायगा? उनके सिरों के लिए इनाम घोषित होते ही रहेंगे और फाँसी का

पंडितजी का संकेत जिसकी तरफ़ है ऐसा पात्र तो 'पेनग्विन आइलैण्ड' म मुमकिन है; परन्तु 'सबूत का न होना ही बढ़िया सबूत है' यह तो ड्रेफस के केस की याद दिलाता है। ड्रेफस के हाथ की सही का एक भी काग़ज़ मिलता नहीं था, इस सफ़ाई के विरोध में यह कहा जाता था कि 'सबूत का न होना ही बढ़िया सबूत है' क्योंकि सबूत हो तो सच-झूठ प्रमाणित करना पड़े! सबूत रक्खा ही नहीं, यह साबित करता है कि इसपर जुर्म साबित होता है। —अनु०

लड़ता हमेशा लटकता रहा करेगा, या उनके लिए शान्ति के साथ काम-धन्धे में लग जाने की भी कोई सम्भावना होगी? उसने कहा कि ख़ुद मेरा तथा मेरे दूसरे साथियों का यह विश्वास हो चुका है कि आतंकवादी तरीक़े बिलकुल बेकार हैं और उनसे कोई लाभ नहीं है। हाँ, वह यह मानने के लिए तैयार नहीं था कि शान्तिमय साधनों से ही हिन्दुस्तान को आज़ादी मिल जायगी। उसने कहा, आगे कभी सशस्त्र लड़ाई का मौक़ा आ सकता है, मगर वह आतंकवाद न होगा। हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिए तो उसने आतंकवाद को ख़ारिज ही कर दिया था। पर उसने फिर पूछा, कि अगर मुझे शान्ति के साथ जमकर बैठने का मौक़ा न दिया जाय, रोज़-रोज़ मेरा पीछा किया जाय, तो मैं क्या करूँगा? उसने कहा—इधर हाल में जो आतंककारी घटनाएं हुई हैं वे ज़्यादातर आत्म-रक्षा के लिए ही की गयी हैं।

मुझे आज़ाद से यह सुनकर ख़ुशी हुई थी और बाद में उसका और सबूत भी मिल गया कि आतंकवाद पर से उन लोगों का विश्वास हट रहा है। एक दल के विचार के रूप में तो वह अवश्य ही लगभग मर गया है; और जो कुछ व्यक्तिगत इक्की-दुक्की घटनाएं हो जाती हैं वे या तो किसी कारण बदले के लिए या बचाव के लिए या किसीकी व्यक्तिगत लहर के फलस्वरूप हुई घटनाएं हैं, न कि आम धारणा के फलस्वरूप। अवश्य ही इसके यह मानी नहीं हैं कि पुराने आतंकवादी और उनके नये साथी अहिंसा के हामी बन गये हैं या ब्रिटिश सरकार के भक्त बन गये हैं। हाँ, अब वे पहले की तरह आतंकवादियों की भाषा में नहीं सोचते। मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि उनमें से बहुतों की मनोवृत्ति निश्चित रूप से फ़ासिस्ट[1] बन गई थी।

मैंने चन्द्रशेखर आज़ाद को अपना राजनैतिक सिद्धान्त समझाने की कोशिश की और यह भी कोशिश की कि वह मेरे दृष्टिबिन्दु का क़ायल हो जाय। लेकिन उसके असली सवाल का, कि 'अब मैं क्या करूँ?', मेरे पास कोई जवाब न था। ऐसी कोई बात होती हुई नहीं दिखायी देती थी कि जिससे उसको या उसके जैसों को कोई राहत या शान्ति मिले। मैं जो कुछ उसे कह सकता था वह इतना ही कि वह भविष्य में आतंकवादी कार्यों को रोकने की कोशिश करे, क्योंकि उससे हमारे बड़े कार्य को तथा ख़ुद उसके दल को भी नुक़सान पहुँचेगा।

---

[1] फ़ासिस्ट पद्धति आज मुसोलिनी की पद्धति समझी जाती है। लेकिन यहाँ फ़ासिस्ट मनोवृत्ति का अर्थ है—'रक्षित हित रखनेवाले वर्ग के लाभ के लिए बलपूर्वक बनाई गई डिक्टेटरशाही।' ऐसी डिक्टेटरशाही आज इटली में चल रही है और जर्मनी में भी है। पंडितजी का कहना यह है कि हिंसावादी भी आज इसी तरह की डिक्टेटरशाही बनाने की तरफ़ झुक रहे हैं। —अनु०

दो-तीन हफ़्ते बाद ही जब गांधी-इर्विन-बातचीत चल रही थी, मैंने दिल्ली में सुना कि चन्द्रशेखर आज़ाद पर इलाहाबाद में पुलिस ने गोली चलायी और वह मर गया। दिन के वक़्त एक पार्क में वह पहचाना गया और पुलिस के एक बड़े दल ने आकर उसे घेर लिया। एक पेड़ के पीछे से उसने अपने को बचाने की कोशिश की। दोनों तरफ़ से गोलियाँ चलीं। एक-दो पुलिसवालों को घायल कर अन्त में गोली लगने से वह मर गया।

अस्थायी समझौता होने के बाद शीघ्र ही मैं दिल्ली से लखनऊ पहुँचा। हमने सारे देश में सविनय-भंग बन्द करने के लिए आवश्यक तमाम कार्रवाई की, और कांग्रेस की तमाम शाखाओं ने हमारे आदेशों का पालन बड़े ही अनुशासन से किया। हमारे साथियों में से ऐसे कितने ही लोग थे जो समझौते से नाराज़ थे, और कितने ही तो आगबबूला भी थे। उन्हें सविनय-भंग से रोकने पर मज़बूर करने के लिए हमारे पास कोई साधन न था। मगर जहाँतक मुझे मालूम है, बिना एक भी अपवाद के उस सारे विशाल संगठन ने इस नयी व्यवस्था को स्वीकार करके उसपर अमल किया, हालाँकि कितने ही लोगों ने उसकी बड़ी आलोचना भी की थी। मुझे ख़ासतौर पर दिलचस्पी इस बात पर थी कि हमारे सूबे में इसका क्या असर होगा? क्योंकि वहाँ कुछ क्षेत्रों में करबन्दी-आन्दोलन तेज़ी से चल रहा था। हमारा पहला काम यह देखना था कि सत्याग्रही क़ैदी रिहा हो जायँ। वे हज़ारों की तादाद में प्रतिदिन छूटते थे, और कुछ समय बाद—उन हज़ारों नज़रबन्दों के और उन लोगों के अलावा जो हिंसात्मक कार्यों के लिए सज़ा पाये हुए थे और जो रिहा नहीं किये गये थे—सिर्फ़ वही लोग जेल में रह गये जिनका मामला विवादास्पद था।

ये जेल से छूटे हुए क़ैदी जो अपने गाँवों और क़स्बों में गये तो स्वभावतः लोगों ने उनका स्वागत किया। कई लोगों ने सजावट भी की, बन्दनवारें लगवायीं, जुलूस निकाले, सभाएं कीं, भाषण हुए और स्वागत में मानपत्र भी दिये गये। यह सब कुछ होना स्वाभाविक था और इसी की आशा भी की जा सकती थी। वह ज़माना, जबकि चारों ओर पुलिस की लाठियाँ-ही-लाठियाँ दिखायी देती थीं, सभा और जुलूस ज़बर्दस्ती बिखेर दिये जाते थे, एकाएक बदल गया था। इससे पुलिसवाले ज़रा बेचैनी अनुभव करने लगे और कदाचित हमारे बहुतेरे जेल से आनेवालों में विजय का भाव भी आ गया था। यों अपने को विजयी मानने का शायद ही कोई कारण था; लेकिन जेल से आने पर (अगर जेल में आत्मा कुचल न दी गयी हो तो) हमेशा एक आनन्द और अभिमान की भावना पैदा होती है, और झुण्ड-के-झुण्ड लोगों के एक-साथ जेल से छूटने पर तो यह आनन्द और अभिमान और अधिक बढ़ जाता है।

मैंने इस बात का ज़िक्र इसलिए किया है कि आगे जाकर सरकार ने इस 'विजय के भाव' पर बड़ा एतराज़ किया था, और हम पर इसके लिए इल्ज़ाम

लगाया गया था ! हमेशा हुकूमत-परस्ती के वातावरण में रहने और पाले-पोसे जाने के कारण और शासन के सम्बन्ध में ऐसी फ़ौजी स्वरूप की धारणा होने से, जिसको जनता का आधार या समर्थन प्राप्त नहीं होता, उनके नज़दीक अपने तथा-कथित रोब के घट जाने से बढ़कर दुःखदायी बात दूसरी नहीं हो सकती। जहाँ-तक मुझे पता है, हममें से किसी को इसका कोई ख़याल न था और जब हमने बाद को यह सुना कि लोगों की इस गुस्ताख़ी पर सरकारी अफ़सर ठेठ शिमला से लेकर नीचे मैदान तक आग-बबूला हो गये हैं और ऐसा अनुभव करने लगे हैं मानो उनके अभिमान पर चोट पड़ी है, तो हम आश्चर्य से दंग रह गये। जो अख़बार उनके विचारों की प्रतिध्वनि करते हैं वे तो अब तक भी इससे बरी नहीं हुए हैं। अब भी वे, हालाँकि तीन-साढ़े तीन साल हो गये हैं, उन साहसिक और बुरे दिनों का ज़िक्र भय से काँपते हुए करते हैं, जबकि उनके मतानुसार कांग्रेसी इस तरह विजयघोष करते फिरते थे कि मानो उन्होंने कोई बड़ी भारी विजय प्राप्त की हो। अख़बारों में सरकार ने और उनके दोस्तों ने जो गुस्सा उगला वह हमारे लिए एक नयी बात थी। उससे पता लगा कि वे कितने घबरा गये थे, उन्हें अपने दिल को कितना दबा-दबाकर रखना पड़ा था, जिससे उनके मन में कैसी गाँठ पड़ गयी थी। यह एक अनोखी बात है कि थोड़े-से जुलूसों से और हमारे लोगों के कुछ भाषणों से उनमें इतना तहलका मच गया !

सच पूछो तो कांग्रेस के साधारण लोगों में ब्रिटिश सरकार को 'हरा देने का कोई भाव' नहीं था और नेताओं में तो और भी नहीं। लेकिन हाँ, अपने भाइयों और बहिनों के त्याग और साहस पर हम लोगों के अन्दर एक विजय की भावना ज़रूर थी। देश ने १६३० में जो कुछ किया उस पर हमें अवश्य गर्व है। उसने हमें अपनी ही निगाहों में ऊँचा उठा दिया; हममें आत्म-विश्वास पैदा किया, और इस बात के ख़याल से हमारे छोटे-से-छोटे स्वयंसेवक की भी छाती तन जाती और सिर ऊँचा हो जाता है। हम यह भी अनुभव करते थे कि इस महान आयोजन ने, जिसने सारी दुनिया का ध्यान अपनी तरफ़ खींच लिया था, ब्रिटिश सरकार पर बहुत भारी दबाव डाला और हमको अपने ध्येय के ज़्यादा नज़दीक पहुँचाया। इन सबका 'सरकार को हराने' से कोई ताल्लुक़ न था, और वास्तव में तो हममें से बहुतों का यही ख़याल रहा कि दिल्ली-समझौते में तो सरकार ही ज़्यादा फ़ायदे में रही है, इसमें से जिन लोगों ने यह कहा कि अभी तो हम अपने ध्येय से बहुत दूर हैं और एक बड़ा और एक मुश्किल संग्राम सामने आने को है, वे सरकार के मित्रों के द्वारा लड़ाई को उकसाने और दिल्ली-समझौते की भावना को भंग करने के दोषी तक बताये गये।

युक्तप्रान्त में अब हमें किसानों के मसले का सामना करना था। हमारी नीति अब यह थी कि जहाँतक मुमकिन हो ब्रिटिश सरकार से सहयोग किया जाय और, इसलिए, हमने तुरन्त ही युक्तप्रान्तीय सरकार के साथ उनकी कार्रवाई

शुरू कर दी। बहुत दिनों के बाद सूबे के कुछ बड़े अफ़सरों से—कोई बारह साल तक हमने इधर सरकारी तौर पर कोई व्यवहार नहीं रक्खा था—मैं किसानों के मामलों पर चर्चा करने के लिए मिला। इस विषय में हमारी लम्बी लिखा-पढ़ी भी चली। प्रान्तीय कमेटी ने हमारे प्रान्त के प्रमुख नेता श्री गोविन्दवल्लभ पन्त को एक मध्यस्थ के तौर पर नियत किया कि जो लगातार प्रान्तीय सरकार के सम्पर्क में रहें। सरकार की तरफ़ से यह बात मान ली गयी कि हाँ, किसान वाक़ई संकट में हैं, अनाज के भाव बहुत बुरी तरह गिर गये हैं, और एक औसत किसान लगान देने में असमर्थ है। सवाल सिर्फ़ यह था कि छूट कितनी दी जाय। इस विषय में कुछ कार्रवाई करना प्रान्तीय सरकार के हाथ में था। साधारणतया सरकार ज़मींदारों से ही ताल्लुक़ रखती है, सीधे काश्तकारों से नहीं; और लगान कम करना या उसमें छूट देना ज़मींदारों का ही काम था। लेकिन ज़मींदारों ने तबतक ऐसा करने से इन्कार कर दिया, जबतक कि सरकार भी उनको उतनी ही छूट न दे दे। और उन्हें तो किसी भी सूरत में अपने काश्तकारों को छूट देने की ऐसी पड़ी नहीं थी। इसलिए फ़ैसला तो आख़िर सरकार को ही करना था।

प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी ने किसानों से कह दिया था कि कर-बन्दी की लड़ाई रोक दी गयी है और जितना हो सके उतना लगान दे दो। मगर उनके प्रतिनिधि की हैसियत से उसने काफ़ी छूट चाही थी। बहुत दिनों तक सरकार ने कुछ भी कार्रवाई नहीं की। शायद गवर्नर सर मालकम हेली के छुट्टी या स्पेशल ड्यूटी पर चले जाने से वह दिक़्क़त महसूस कर रही थी। और इस मामलेमें तुरन्त और व्यापक परिणाम लानेवाली कार्रवाई करने की ज़रूरत थी। कार्यवाहक गवर्नर और उनके साथी ऐसी कार्रवाई करने में हिचकते थे, और सर मालकम हेली के आने तक (गर्मियों तक) मामले को आगे धकेलते रहे। इस देरी और ढील-ढाल ने उस मुश्किल हालत को और भी ख़राब बना दिया, जिससे काश्तकारों को बहुत नुक़सान बर्दाश्त करना पड़ा।

दिल्ली-समझौते के बाद ही मेरी तन्दुरुस्ती कुछ ख़राब हो गयी। जेल में भी मेरी तबीयत कुछ ख़राब रही थी। उसके बाद पिताजी की मृत्यु से गहरा धक्का लगा और फिर फ़ौरन ही दिल्ली में सुलह की चर्चा का ज़ोर पड़ा। यह सब मेरे स्वास्थ्य के लिए हानिकर साबित हुआ। लेकिन कराची-कांग्रेस जाने तक मैं कुछ-कुछ ठीक हो चला था।

कराची हिन्दुस्तान के ठेठ उत्तर-पश्चिम कोने में है, जहाँ की यात्रा ज़रा मुश्किल होती है। बीच में बड़ा रेतीला मैदान है, जिससे वह हिन्दुस्तान के शेष हिस्सों से बिलकुल जुदा पड़ जाता है। लेकिन फिर भी वहाँ दूर-दूर के हिस्सों से बहुत लोग आये थे और वे उस समय देश का जैसा मिज़ाज था उसको सही तौर पर ज़ाहिर करते थे। उनके दिलों में शान्ति के भाव थे और राष्ट्रीय आन्दो-

खन की जो ताक़त देश में बढ़ रही थी उसके प्रति गहरा सन्तोष था। कांग्रेस-संगठन के प्रति, जिसने कि देश की भारी पुकार और माँग का बड़ी योग्यता-पूर्वक जवाब दिया था और जिसने अनुशासन और त्याग के द्वारा अपने अस्तित्व की पूरी सार्थकता दिखलायी थी, उनके मन में अभिमान था। अपने लोगों के प्रति विश्वास का भाव था और उस उत्साह में संयम भी दिखलायी पड़ता था। इसके साथ ही आगे आनेवाले ज़बर्दस्त प्रश्नों और ख़तरों के प्रति ज़िम्मेदारी का भी गहरा भाव था। हमारे शब्द और प्रस्ताव अब राष्ट्रीय पैमाने पर किये जाने-वाले कार्यों के मंगलाचरण-से थे और वे यों ही बिना सोचे-विचारे न बोले जाते थे, न पास किये जाते थे। दिल्ली-समझौता यद्यपि भारी बहुमत से पास हो गया था, तो भी वह लोकप्रिय नहीं था, और न पसन्द ही किया गया था, और लोगों के अंदर यह भय काम कर रहा था कि यह हमें तरह-तरह की भद्दी और विषम स्थितियों में लाकर डाल देगा। कुछ ऐसा दिखायी पड़ता था कि देश के सामने जो सवाल है उनको यह अस्पष्ट कर देगा। कांग्रेस-अधिवेशन के ठीक पहले ही देश की नाराज़गी का एक और कारण पैदा हो गया था—भगतसिंह का फाँसी पर लटकाया जाना। उत्तर-भारत में इस भावना की लहर तेज़ थी और कराची उत्तर में ही होने के कारण वहाँ पंजाब से बड़ी तादाद में लोग आये थे।

पिछली किसी भी कांग्रेस की बनिस्बत कराची-कांग्रेस में तो गांधीजी की और भी बड़ी निजी विजय हुई थी। उसके सभापति सरदार वल्लभभाई पटेल हिन्दुस्तान के बहुत ही लोकप्रिय और ज़ोरदार आदमी थे और उन्हें गुजरात के सफल नेतृत्व की सुकीर्ति प्राप्त थी। फिर भी उसमें प्रधानता तो गांधीजी की ही थी। अब्दुलग़फ़्फ़ारख़ाँ के नेतृत्व में सीमाप्रान्त से भी लालकुर्तीवालों का एक अच्छा दल वहाँ पहुँचा था। लालकुर्तीवाले बड़े लोकप्रिय थे। जहाँ कहीं भी जाते लोग तालियों से उनका स्वागत करते, क्योंकि अप्रैल १९३० के बाद से अबतक गहरी उत्तेजना दिखायी जाने पर भी उन्होंने असाधारण शान्ति और साहस की छाप हिन्दुस्तान पर डाली थी। लालकुर्ती नाम से कुछ लोगों को यह गुमान हो जाता था कि वे कम्युनिस्ट या वाम-पक्षीय मज़दूर-दल के थे। उनका असली नाम तो 'खुदाई ख़िदमतगार' था और वह संगठन कांग्रेस के साथ मिलकर काम करता था (१९३१ में बाद को कांग्रेस का एक अभिन्न अंग बना लिया गया था)। वे लालकुर्तीवाले महज़ इसलिए कहलाते थे कि उनकी वर्दी ज़रा पुराने ढंग की लाल थी। उनके कार्य-क्रम में कोई आर्थिक नीति शामिल न थी, वह पूर्णरूप से राष्ट्रीय था और उसमें सामाजिक सुधार का काम भी शामिल था।

कराची के मुख्य प्रस्ताव में दिल्ली-समझौता और गोलमेज़-कान्फ्रेंस का विषय था। कार्य-समिति ने जिस अन्तिम रूप में उसे पास किया था उसे मैंने अवश्य ही मंजूर कर लिया था; मगर जब गांधीजी ने मुझे खुले अधिवेशन में उसे पेश करने के लिए कहा, तो मैं ज़रा हिचकिचाया। यह मेरी तबीयत के

खिलाफ़ था। पहले मैंने इन्कार कर दिया, मगर बादको यह मुझे अपनी कमज़ोरी और असन्तोषजनक स्थिति दिखायी दी। या तो मुझे इसके पक्ष में होना चाहिए या इसके ख़िलाफ़; यह मुनासिब न था कि ऐसे मामले में टालमटोल करूँ और लोगों को अटकलें बाँधने के लिए खुला छोड़ दूँ। अतः बिलकुल आख़िरी घड़ीपर खुले अधिवेशन में, प्रस्ताव आने के कुछ ही मिनट पहले, मैंने उसे पेश करने का निश्चय किया। अपने भाषण में मैंने अपने हृदय के भाव ज्यों-के-त्यों उस विशाल जन-समूह के सामने रख दिये और उनसे पैरवी की कि वे उस प्रस्ताव को हृदय से स्वीकार कर लें। मेरा वह भाषण—जो ऐन मौक़े पर अन्तःस्फूर्ति से दिया गया और जो हृदयकी गहराई से निकला था, जिसमें न कोई अलंकार था न सुन्दर शब्दावली—शायद मेरे उन कई भाषणों से ज़्यादा सफल रहा जिनके लिए पहले से ध्यान देकर तैयारी करने की ज़रूरत हुई थी।

मैं और प्रस्तावों पर भी बोला था। इनमें भगतसिंह, मौलिक अधिकार और आर्थिक नीति के प्रस्ताव उल्लेखनीय हैं। आख़िरी प्रस्ताव में मेरी ख़ास दिलचस्पी थी, क्योंकि एक तो उसका विषय ही ऐसा था और दूसर उसके द्वारा कांग्रेस में एक नये दृष्टिकोण का प्रवेश होता था। अबतक कांग्रेस सिर्फ़ राष्ट्रीयता की ही दिशा में सोचती थी और आर्थिक प्रश्नों से बचती रहती थी। जहाँतक ग्राम-उद्योगों से और आमतौर पर स्वदेशी को बढ़ावा देने से ताल्लुक़ था, उसको छोड़कर कराची वाले इस प्रस्ताव के द्वारा मूल उद्योगों और नौकरियों के राष्ट्रीयकरण और ऐसे ही दूसरे उपायों के प्रचार के द्वारा ग़रीबों का बोझा कम करके अमीरों पर बढ़ाने के लिए एक बहुत छोटा क़दम, समाजवाद की दिशा में, उठाया गया; लेकिन वह समाजवाद क़तई न था। पूँजीवादी राज्य भी उसकी प्रायः हर बात को आसानी से मंजूर कर सकता है।

इस बहुत ही नरम और निस्सार प्रस्ताव ने भारत-सरकार के बड़े-बड़े लोगों को गहरे विचार में डाल दिया। शायद उन्होंने अपनी हमेशा की अन्दरूनी निगाह से यह ख़याल कर लिया कि बोलशेविकों का रुपया लुक-छिपकर कराची जा पहुँचा है और कांग्रेस के नेताओं को नीति-भ्रष्ट कर रहा है। एक तरह के राजनैतिक अन्तःपुर में रहते-रहते बाहरी दुनिया से कटे, गोपनीयता के वातावरण से घिरे हुए उनके दिमाग़ को रहस्य और भेद की कहानियाँ और कल्पित कथाएँ सुनने का बड़ा शौक़ रहता है। और फिर ये क़िस्से एक रहस्यपूर्ण ढंग से थोड़ा-थोड़ा करके उनके प्रीति-भाजन पत्रों में दिये जाते हैं और साथ में यह झलकाया जाता है कि यदि परदा खोल दिया जाय तो और भी कई गुल खिल सकते हैं। उनके इस मान्य प्रचलित तरीक़े से मौलिक अधिकार आदि सम्बन्धी कराची के प्रस्तावों का बार-बार ज़िक्र किया गया है और मैं उनसे यही नतीजा निकाल सकता हूँ कि वे इस प्रस्ताव पर सरकारी सम्मति क्या है, यह बतलाते हैं। क़िस्सा यहाँ तक कहा जाता है कि एक छिपे व्यक्ति ने, जिसका कम्यूनिस्टों से सम्बन्ध है, पूरे प्रस्ताव

का या उसके ज़्यादातर हिस्से का ढाँचा बनाया है और उसने कराची में वह मेरे मत्थे मढ़ दिया। उसपर मैंने गांधीजी को चुनौती दे दी कि या तो इसे मंजूर कीजिए या दिल्ली-समझौते पर मेरे विरोध के लिए तैयार रहिए। गांधीजी ने मुझे चुप करने के लिए यह रिश्वत दे दी और आखिरी दिन जबकि विषय-समिति और कांग्रेस थकी हुई थी, उन्होंने इसे उनके सिर पर लाद दिया।

उस छिपे व्यक्ति का नाम, जहाँतक मुझे पता है, यों साफ़-साफ़ लिया नहीं गया है। लेकिन तरह-तरह के इशारों से मालूम हो जाता है कि उनकी मंशा किनसे है। मुझे छिपे तरीक़ों और घुमाव-फिराव से बात कहने की आदत नहीं, इसलिए मैं सीधे ही कह दूँ कि उनकी मंशा शायद एम० एन० राय से है। शिमला और दिल्ली के ऊँचे आसनवालों के लिए यह जानना दिलचस्प और शिक्षाप्रद होगा कि एम० एन० राय या दूसरे 'कम्यूनिस्ट-विचारवाले' कराची के उस सीधे-सादे प्रस्ताव के बारे में क्या ख़याल करते हैं। उन्हें यह जानकर ताज्जुब होगा कि उस तरह के आदमी तो उस प्रस्ताव को कुछ-कुछ घृणा की दृष्टि से देखते हैं, क्योंकि उनके मतानुसार तो यह मध्यम वर्ग के सुधारवादियों की मनोवृत्ति का एक ख़ासा उदाहरण है।

जहाँतक गांधीजी से ताल्लुक़ है, उनसे मेरी घनिष्टता पिछले १७ बरसों से है और मुझे उन्हें बहुत नज़दीक से जानने का सौभाग्य प्राप्त है। यह ख़याल कि मैं उन्हें चुनौती दूँ, या उनसे सौदा करूँ, मेरी निगाह में भयानक है। हाँ, हम एक-दूसरे का ख़ूब लिहाज़ रखते हैं और कभी किसी विशेष मसले पर अलग-अलग भी हो सकते हैं, लेकिन हमारे आपस के व्यवहारों में बाज़ारू तरीक़ों से हरगिज़ काम नहीं लिया जा सकता।

कांग्रेस में इस तरह के प्रस्ताव को पास कराने का ख़याल पुराना है। कुछ सालों में युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमिटी इस विषय में हलचल मचा रही थी और कोशिश कर रही थी कि अ० भा० कां० कमिटी समाजवादी प्रस्ताव को स्वीकार कर ले। १६२६ में उसने अ० भा० कां० कमिटी में कुछ हद तक उसके सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया था। उसके बाद सत्याग्रह आ गया। दिल्ली में, फ़रवरी १६३१ में, जबकि मैं गांधीजी के साथ सुबह घूमने जाया करता था, मैंने उनसे इस मामले का ज़िक्र किया था और उन्होंने आर्थिक विषयों पर एक प्रस्ताव रखने के विचार का स्वागत किया था। उन्होंने मुझसे कहा था कि कराची में इस विषय को उठाना और इस विषय में एक प्रस्ताव बनाकर मुझे दिखाना। कराची में मैंने मसविदा बनाया और उन्होंने उसमें बहुतेरे परिवर्तन सुझाये और तजवीज़ें कीं। वह चाहते थे कि कार्य-समिति में पेश करने के पहले हम दोनों उसकी भाषा पर सहमत हो जायँ। मुझे कई मसविदे बनाने पड़े और इससे इस मामले में कुछ दिन की देरी हो गयी। आख़िर गांधीजी और मैं दोनों एक मसविदे पर सहमत हो गये और तब वह कार्य-समिति में और उसके बाद विषय-समिति में पेश किया

गया। यह बिलकुल सच है कि विषय-समिति के लिए यह एक नया विषय था और कुछ मेम्बरों को इसे देखकर ताज्जुब हुआ था। फिर भी कह कमिटी में और कांग्रेस में आसानी से पास हो गया और बाद में अ० भा० कां० कमिटी को सौंप दिया गया कि वह निर्दिष्ट दिशा में उसको और विशद और व्यापक बनावे।

हाँ, जब मैं इस प्रस्ताव का मसविदा तैयार कर रहा था तब कितने ही लोगों से, जो मेरे डेरे पर आया करते थे, इसके बारे में मैं कभी-कभी कुछ सलाह ले लिया करता था। मगर एम० एन० राय से इसका कोई ताल्लुक़ नहीं था, और मैं यह अच्छी तरह जानता था कि वह इसको बिलकुल पसन्द नहीं करेंगे और इसकी खिल्ली तक उड़ावेंगे।

अलबत्ता कराची आने के कुछ दिन पहले इलाहाबाद में एम० एन० राय से मेरी मुलाक़ात हुई थी। वह एक रोज़ शाम को अकस्मात् हमारे घर चले आये, मुझे पता नहीं था कि वह हिन्दुस्तान में हैं। फिर भी मैंने उन्हें फ़ौरन पहचान लिया, क्योंकि उनको मैंने १९२७ में मास्को में देखा था। कराची में वह मुझसे मिले थे, मगर शायद पाँच मिनट से ज़्यादा नहीं। पिछले कुछ सालों में राजनैतिक दृष्टि से मेरी निन्दा करते हुए मेरे ख़िलाफ़ उन्होंने बहुत-कुछ लिखा है, और अक्सर मुझे चोट पहुँचाने में कामयाब भी हुए हैं। गो उनके और मेरे बीच बहुत मतभेद हैं, फिर भी मेरा आकर्षण उनकी ओर हुआ, और बाद को जब वह गिरफ़्तार हुए और मुसीबत में थे, तब मेरा जी हुआ कि जो-कुछ मुझसे हो सके (और वह बहुत थोड़ी थी) उनकी मदद करूँ। मैं उनकी तरफ़ आकर्षित हुआ उनकी विलक्षण बौद्धिक क्षमता को देखकर। मैं उनकी तरफ़ इसलिए भी खिंचा कि मुझे वह सब तरह अकेले मालूम हुए, जिनको हर आदमी ने छोड़ दिया था। ब्रिटिश सरकार उनके पीछे पड़ी हुई थी। हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय दल के लोगों को उनकी ओर दिलचस्पी नहीं थी। और जो लोग हिन्दुस्तान में अपनेको कम्यूनिस्ट कहते हैं वे विश्वासघाती समझकर उनकी निन्दा करते थे। मुझे मालूम हुआ कि सालों तक रूस में रहने और कोमिण्टर्न के साथ घनिष्ट सहयोग करने के बाद वह उनसे जुदा पड़ गये थे। या जुदा कर दिये गये थे। ऐसा क्यों हुआ इसका मुझे पता नहीं है, और सिवा कुछ आभास के न अब तक यही जानता हूँ कि उनके मौजूदा विचार क्या हैं और पुराने कम्यूनिस्टों से किस बात में उनका मतभेद है। लेकिन उनके जैसे पुरुष को इस तरह प्रायः हरेक के द्वारा अकेला छोड़े जाते देखकर मुझे पीड़ा हुई और अपनी आदत के ख़िलाफ़ मैं उनके लिए बनायी गयी डिफ़ेंस कमिटी में शामिल हुआ। १९३१ की गर्मियों से, अब से कोई तीन वर्ष पहले से, वह जेल में हैं बीमार हैं और प्रायः तनहाई में रह रहे हैं।

कराची में कांग्रेस अधिवेशन का एक आख़िरी काम था कार्य-समिति का चुनाव। यों तो उसका चुनाव अ० भा० कां० कमिटी द्वारा होता है मगर ऐसा रिवाज पड़ गया था कि उस साल का सभापति (गाँधीजी और कभी-कभी दूसरे

साथियों की सलाह से) नाम पेश करता और वे अ० भा० कां० कमिटी में मंजूर कर लिये जाते। लेकिन कराची में हुए कार्य-समिति के चुनाव का बुरा नतीजा निकला, जिसका पहले किसी को ख़याल नहीं हुआ था। अ० भा० कां० कमिटी के कुछ मुसलमान मेम्बरों ने इस चुनाव पर एतराज़ किया था। ख़ास तौर पर एक (मुस्लिम) नाम पर। शायद उन्होंने उसमें अपनी तौहीन समझी थी कि उनके दल का कोई भी आदमी नहीं था। एक ऐसी अ० भा० कमिटी में जिसमें केवल पन्द्रह ही मेम्बर हों, यह बिलकुल असम्भव था कि सभी हितों के प्रतिनिधि उसमें रहें। और असली झगड़ा था, जिसके बारे में हमें कुछ भी इल्म नहीं था, बिलकुल निजी और पंजाब का स्थानीय। लेकिन उसका नतीजा यह हुआ कि जिन लोगों ने विरोध की आवाज़ें उठायी थीं वे (पंजाब में) कांग्रेस से हटकर मजलिसे अहरार[1] में शरीक हो गये। कांग्रेस के कुछ बहुत ही मुस्तैद और लोकप्रिय कार्यकर्ता उसमें शामिल हो गये और पंजाब के कितने ही मुसलमानों को उसने अपनी ओर खींच लिया। वह निचले मध्यमवर्ग के लोगों का प्रतिनिधित्व करती थी और मुस्लिम जनता से उसका बहुत सम्पर्क था। इस तरह वह एक ज़बर्दस्त संगठन बन गया। उच्च श्रेणी के मुस्लिम साम्प्रदायिक लोगों के उस लुंज संगठन की बनिस्बत यह कहीं ज़्यादा मज़बूत था, काम करता था जो कि हवा में या यों कहिये, कि दीवानखाने में या कमिटियों के अहरार लोग वैसे तो साम्प्रदायिकतावाद की तरफ़ चले गये मगर मुस्लिम जनता के साथ उन्होंने अपना सिलसिला बाँध रक्खा था। इसलिए वे एक ज़िन्दा जमात बने रहे, जिसका एक धुँधला-सा आर्थिक दृष्टिकोण है। देशी राज्यों के मुसलमान आन्दोलन में, ख़ासकर कश्मीर में, उन्होंने बड़ा काम किया है जिनमें कि आर्थिक कष्ट और साम्प्रदायिकता दोनों अजीब तरह से और बदक़िस्मती से घुल-मिल गये हैं। कांग्रेस से अहरार पार्टी के कुछ नेताओं का कट जाना पंजाब में कांग्रेस के लिए बहुत ही हानिकारक हुआ। मगर कराची में इसका हमें पता क्या था? बाद में जाकर धीरे-धीरे हमें इसका भान होने लगा। लेकिन यह न समझना चाहिए कि कार्य-समिति के चुनाव के कारण ही वे लोग कांग्रेस से अलग हो गये हों। वह तो एक तिनका था जिसने हवा के रुख़ को बताया। उसके असली कारण तो और ही हैं, और वे गहरे हैं।

हम सब कराची में ही थे कि कानपुर के हिन्दू-मुस्लिम दंगे की ख़बर हमें मिली। इसके बाद ही दूसरा समाचार यह मिला कि गणेशशंकर विद्यार्थी को कुछ मज़हबी दीवाने लोगों ने, जिनको मदद के लिए वह वहाँ गये थे, क़त्ल कर डाला। वे भयंकर और पाशविक दंगे ही क्या कम बुरे थे? लेकिन गणेशजी की मृत्यु ने हमें उनकी वीभत्सता जिस तरह हमारे हृदय पर अंकित कर दी वैसी

[1] अहरार के मानी हैं आत्म-सम्मान रखनेवाले। —अनु०

और कोई चीज़ नहीं कर सकती थी। उस कांग्रेस-कैम्प में हज़ारों आदमी उन्हें जानते थे और युक्तप्रान्त के हम सब लोगों के वह अत्यन्त प्यारे साथी और दोस्त थे। जवाँमर्द और निडर, दूरदर्शी और निहायत अक़्लमन्द सलाहकार, कभी हिम्मत न हारनेवाले, चुपचाप काम करनेवाले, नाम, पद और प्रसिद्धि से दूर भागनेवाले। अपनी जवानी के उत्साह में झूमते हुए वह हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए, जो उन्हें इतनी प्यारी थी और जिसके लिए उन्होंने अबतक कार्य किया था, अपना सिर हथेली पर लेकर ख़ुशी-ख़ुशी आगे बढ़े थे कि बेवक़ूफ़ हाथों ने उन्हें ज़मीन पर मार गिराया और कानपुर को और सूबे को एक अत्यन्त उज्ज्वल रत्न से वंचित कर दिया। जब यह ख़बर पहुँची तो कराची के यू० पी० कैम्प में शोक की घटा छा गयी और ऐसा मालूम हुआ कि उसकी शान चली गयी। लेकिन फिर भी उसके दिल में यह अभिमान था कि गणेशजी ने बिना पीछे क़दम उठाये मौत का मुक़ाबला किया और उन्हें ऐसी गौरवपूर्ण मौत नसीब हुई।

३६

लंका में विश्राम

मेरे डाक्टरों ने मुझपर ज़ोर दिया कि मुझे कुछ आराम करना चाहिए, और आब-हवा बदलनी चाहिए। मैंने लंका द्वीप में एक महीना गुज़ारना तय किया। हिन्दुस्तान बड़ा भारी देश होने पर भी, इसमें स्थान-परिवर्तन या मानसिक विश्राम की असली सम्भावना दिखायी न दी; क्योंकि मैं जहाँ भी जाता वहाँ राजनैतिक साथी मिलते ही, और वही समस्याएँ भी मेरे पीछे-पीछे वहाँ पहुँच जातीं। लंका ही हिन्दुस्तान से सबसे नज़दीक की जगह थी, इसलिए हम लंका ही गए—कमला, इन्दिरा और मैं। १९२७ में यूरप से लौटने के बाद यही मेरी पहली तातील थी, यही पहला मौक़ा था जब मेरी पत्नी, कन्या और मैंने एक-साथ शान्ति से कहीं विश्राम किया हो, और हमें कोई चिन्ताएँ न रही हों। ऐसा विश्राम फिर नहीं मिला है, और मैं सोचता हूँ कि शायद मिलेगा भी या नहीं।

फिर भी, दरअसल, हमें लंका में नुवाया एलीया में दो हफ़्तों के सिवा ज़्यादा विश्राम नहीं मिला। वहाँ के सभी वर्गों के लोगों ने हमारे प्रति बहुत ही आतिथ्य और मित्र-भाव प्रदर्शित किया। यह इतनी सद्भावना लगती तो बहुत अच्छी थी, मगर परेशानी में भी डाल देती थी। नुवाया एलीआ में बहुत-से श्रमिक, चाय-बाग़ों के मज़दूर और दूसरे लोग रोज़ कई मील चलकर आया करते थे और अपने साथ अपनी प्रेम-पूर्ण भेंट की चीज़ें,—जंगल के फूल, सब्ज़ियाँ, घर का मक्खन—भी लाया करते थे। हम तो उनसे प्रायः बात भी नहीं कर सकते थे; एक-दूसरे की तरफ़ देख भर लेते थे और मुस्करा देते थे। हमारा छोटा-सा घर उनकी भेंट की इन क़ीमती चीज़ों से, जो वे अपनी दरिद्रावस्था में भी हमें दे

जाते थे, भर गया था। ये चीज़ें हम वहाँ के अस्पतालों और अनाथालयों को भेज दिया करते थे।

हमने उस द्वीप की मशहूर चीज़ों और ऐतिहासिक खंडहरों, बौद्ध मठों और घने जंगलों को देखा। अनुराधापुर में मुझे बुद्ध की एक पुरानी बैठी हुई मूर्त्ति बहुत पसन्द आयी। एक साल बाद जब मैं देहरादून जेल में था, तब लंका के एक मित्र ने इस मूर्त्ति का चित्र मेरे पास भेज दिया था, जिसे मैं अपनी कोठरी में अपने छोटे-से टेबल पर रक्खे रहता था। यह चित्र मेरा बड़ा मूल्यवान साथी बन गया था, और बुद्ध की मूर्त्ति के गम्भीर शान्त भावों से मुझे बड़ी शान्ति और शक्ति मिलती थी, जिससे मुझे कई बार उदासी के मौक़ों पर बड़ी मदद मिली।

बुद्ध हमेशा मुझे बहुत आकर्षक प्रतीत हुए हैं। इसका कारण बताना तो मुश्किल है, मगर वह धार्मिक नहीं है; क्योंकि बौद्ध-धर्म के आस-पास जो मताग्रह जम गये हैं उनमें मुझे कोई दिलचस्पी नहीं है। उनके व्यक्तित्व ने ही मुझे आकर्षित किया है। इसी तरह ईसा के व्यक्तित्व के प्रति भी मुझे बड़ा आकर्षण है।

मैंने मठों में और सड़कों पर बहुत-से 'भिक्षुओं' को देखा, जिन्हें हर जगह, जहाँ कहीं वे जाते थे, सम्मान मिलता था। क़रीब-क़रीब सभी के चेहरों पर शान्ति और निश्चलता का, तथा दुनिया की फ़िक्रों से एक विचित्र वैराग्य का, मुख्य भाव था। आमतौर पर उनके चेहरे से बुद्धिमता नहीं झलकती थी; उनकी सूरत से दिमाग़ के अन्दर होनेवाला भयंकर संघर्ष नहीं मालूम पड़ता था। जीवन उन्हें महासागर की ओर शान्ति से बहती हुई नदी के समान दिखायी देता था। मैं इनकी तरफ़ कुछ रश्क के साथ, आँधी और तूफ़ान से बचानेवाला शान्त बन्दरगाह पाने की एक हल्की उत्कण्ठा के साथ, देखता था। मगर मैं तो जानता था कि मेरी क़िस्मत में और ही कुछ है, उसमें तो आँधी और तूफ़ान ही हैं। मुझे कोई शान्त बन्दरगाह मिलनेवाला नहीं है, क्योंकि मेरे भीतर का तूफ़ान भी उतना ही तेज़ है जितना बाहर का। और अगर मुझे कोई ऐसा बन्दरगाह मिल भी जाय, जहाँ इत्तिफ़ाक़ से आँधी की प्रचंडता न हो, तो भी क्या वहाँ मैं सन्तोष और सुख से रह सकूँगा?

कुछ समय के लिये तो वह बन्दरगाह खुशनुमा ही था। वहाँ आदमी पड़ा रह सकता था, स्वप्न देख सकता था, और उष्ण-कटिबन्ध का शान्तिप्रद और जीवनदायी आनन्द अपने अन्दर भर सकता था। लंकाद्वीप उस समय मेरी भी वृत्ति के अनुकूल था, और उसकी शोभा देखकर मेरा हृदय हर्ष से भर गया। विश्राम का हमारा महीना जल्दी ही खत्म हो गया, और हार्दिक दुःख के साथ हम वहाँ से विदा हुए। उस भूमि की और वहाँ के लोगों की कई बातें अब भी मुझे याद आया करती हैं; जेल के मेरे लम्बे और सूने दिनों में भी यह मीठी याद मेरे साथ रही। एक छोटी-सी घटना मुझे याद है। वह शायद जाफ़ना के पास हुई

थी। एक स्कूल के शिक्षकों और लड़कों ने हमारी मोटर रोक ली, और अभिवादन के कुछ शब्द कहे। दृढ़ और उत्सुक चेहरे लिये लड़के खड़े रहे, और उनमें से एक मेरे पास आया। उसने मुझसे हाथ मिलाया। बिना कुछ पूछे या दलील किये उसने कहा—"मैं कभी लड़खड़ाऊँगा नहीं।" उस लड़के की उन चमकती हुई आँखों की, उस आनन्दपूर्ण चेहरे की, जिसमें निश्चय की दृढ़ता भरी हुई थी, छाप मेरे मन पर अब भी पड़ी हुई है। मुझे पता नहीं कि वह कौन था, उसका कोई पता-ठिकाना मेरे पास नहीं है; मगर किसी-न-किसी प्रकार मुझे यह विश्वास होता है कि वह अपने शब्दों का पक्का रहेगा, और जब जीवन की विषम समस्याओं का मुकाबला उसे करना होगा तब वह लड़खड़ायेगा नहीं, पीछे नहीं रहेगा।

लंका से हम दक्षिण भारत, ठीक कुमारी अन्तरीप के पास, दक्षिणी सिरे पर गये। वहाँ आश्चर्यजनक शान्ति थी। इसके बाद हम त्रावणकोर, कोचीन, मलाबार, मैसूर, हैदराबाद में होकर गुज़रे, जो ज़्यादातर देशी रियासतें हैं। इनमें से कुछ दूसरों से बहुत प्रगतिशील हैं, कुछ बहुत पिछड़ी हुई हैं। त्रावणकोर और कोचीन शिक्षा में ब्रिटिश-भारत से भी बहुत आगे बढ़े हुए हैं। मैसूर शायद उद्योग-धन्धों में आगे बढ़ा हुआ है, और हैदराबाद क़रीब-क़रीब पूरी तरह पुराने सामन्त-तन्त्र का स्मारक है। हमें हर जगह, जनता से भी और अधिकारियों से भी आदर और स्वागत मिला। मगर इस स्वागत में अधिकारियों की यह चिन्ता भी छिपी हुई थी कि हमारे वहाँ आने से कहीं लोगों के ख़यालात ख़तरनाक न हो जायें। मालूम होता है, उस वक़्त मैसूर और त्रावणकोर ने राजनैतिक कार्य के लिए कुछ नागरिक स्वतन्त्रता और अवसर दिया था। हैदराबाद में इतनी आज़ादी न थी। और, हालाँकि हमारे साथ आदर का बर्ताव किया जा रहा था, फिर भी मुझे वह वातावरण दम घोटने और साँस रोकनेवाला मालूम हुआ। बाद में मैसूर और त्रावणकोर की सरकारों ने उतनी नागरिक स्वतन्त्रता और राजनैतिक कार्यों की सुविधा भी छीन ली, जो उन्होंने पहले दे रक्खी थी।

मैसूर रियासत के बंगलोर शहर में, एक बड़े मजमे के बीच, मैंने लोहे के एक ऊँचे खम्भे पर राष्ट्रीय झण्डा फहराया था। मेरे जाने के थोड़े दिनों बाद ही वह खम्भा तोड़कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया गया, और मैसूर-सरकार ने झण्डे का प्रदर्शन जुर्म क़रार दे दिया। मैंने जिस झण्डे को फहराया था उसकी इतनी ख़राबी और बेइज़्ज़ती होने से मुझे बड़ा रंज हुआ।

आज त्रावणकोर में कांग्रेस ही ग़ैरक़ानूनी संस्था क़रार दे दी गयी है और कांग्रेस का मेम्बर भी कोई नहीं बन सकता, हालाँकि ब्रिटिश भारत में सविनय-भंग रुक जाने के बाद से वह क़ानूनी हो गयी है। इस तरह मैसूर और त्रावण-कोर दोनों मामूली शान्तिपूर्ण राजनैतिक हलचल को भी कुचल रही हैं, और उन्होंने वे सुभीते भी छीन लिये हैं जो पहले दे रक्खे थे। ये रियासतें पीछे हट रही हैं किन्तु हैदराबाद को पीछे जाने या सुविधाएँ छीनने की ज़रूरत ही नहीं

महसूस हुई, क्योंकि वह आगे कभी बढ़ी ही न थी और न उसने इस क़िस्म की कोई सुविधाएँ दी थीं। हैदराबाद में राजनैतिक सभाएं नहीं होतीं, और सामाजिक और धार्मिक सभाएं भी सन्देह की दृष्टि से देखी जाती हैं, और उनके लिए भी ख़ास इजाज़त लेनी पड़ती है। वहाँ कोई भी अच्छे अख़बार नहीं निकलते; और बाहर से बुराई के कीटाणुओं को न आने देने के लिए हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सों में छपनेवाले बहुत-से अख़बारों की रियासत में रोक कर दी गयी है। बाहर के असर से दूर रहने का यह नीति इतनी सख़्त है कि नरम नीति के अख़बारों को भी वहाँ मुमानियत है।

कोचीन में हम 'सफ़ेद यहूदी' कहानेवाले लोगों का मुहल्ला, देखने गये, और उनके पुराने मन्दिर में उनकी एक प्रकार की पूजा देखी। यह छोटा-सा समाज बहुत प्राचीन और बहुत अजीब है। इसकी तादाद घटती जा रही है। हमसे कहा गया कि कोचीन के जिस हिस्से में वे रहते हैं, वह जेरूसलेम के समान था। निश्चय ही वह पुरानी बनावट का तो मालूम हुआ।

मलाबार के किनारे हमने कुछ ऐसे क़स्बे देखे जिनमें ज़्यादातर सीरियन मत के ईसाई बसे हुए थे। शायद इसका बहुत कम लोगों को ख़याल होगा कि ईसाई-धर्म हिन्दुस्तान में ईसा के बाद पहली सदी में ही आ गया था, जबकि यूरप ने भी उसे नहीं ग्रहण किया था, और दक्षिण हिन्दुस्तान में ख़ूब मज़बूती से जम गया था। हालाँकि इन ईसाइयों का बड़ा धर्माध्यक्ष सीरिया के एण्टि-योक या और किसी क़स्बे में है, मगर इनकी ईसाइयत ज़्यादातर हिन्दुस्तानी चीज़ ही है और उसका बाहर से ज़्यादा ताल्लुक़ नहीं है।

दक्षिण में नेस्टेरियन मत के लोगों की भी एक बस्ती देखकर मुझे बड़ा ताज्जुब हुआ। उनके पादरी ने मुझे बताया कि उनकी तादाद दस हज़ार है। मेरा तो यह ख़याल था कि ये लोग कभी के दूसरे मतों में मिल चुके होंगे, और मुझे यह पता न था कि कभी वे हिन्दुस्तान मे भी मौजूद थे। मगर मुझसे कहा गया कि एक समय हिन्दुस्तान में उनके अनुयायी बहुत थे, और वे उत्तर में बनारस तक फैले हुए थे।

हम हैदराबाद ख़ासकर श्रीमती सरोजनी नायडू और उनकी लड़कियों, पद्मजा और लीलामणि, से मिलने गये थे। जिन दिनों हम उनके यहाँ ठहरे हुए थे, एक बार मेरी पत्नी से मिलने के लिए कुछ पर्दानशीन स्त्रियाँ उन्हींके मकान पर इकट्ठी हो गयीं और शायद कमला ने उनके सामने भाषण दिया। उसका भाषण सम्भवतः पुरुषों के बनाये हुए क़ानूनों और रिवाजों के ख़िलाफ़ स्त्रियों के युद्ध के (जो उसका एक ख़ास प्यारा विषय था) बारे में था, और उसने स्त्रियों से कहा कि वे पुरुषों से बहुत न दबें इसके दो या तीन हफ़्ते बाद इसका एक बड़ा दिलचस्प नतीजा निकला। एक परेशान हुए पति ने हैदराबाद मे कमला को ख़त लिखा कि, आपके यहाँ आने के बाद से मेरी पत्नी का बर्ताव अजीब हो गया

है। पहले की तरह वह मेरी बात नहीं सुनती, न मेरी बात मानती है; बल्कि मुझसे बहस करती है और कभी-कभी सख़्त रुख़ भी अख़्तियार कर लेती है।

बम्बई से लंका को रवाना होने के सात हफ़्ते बाद हम फिर बम्बई आ गये, और मैं फ़ौरन ही कांग्रेस की राजनीति के भँवर में कूद पड़ा। कार्य-समिति की बैठकें कई ज़रूरी मामलों पर विचार करने के लिए होने वाली थीं—हिन्दुस्तान की स्थिति तेज़ी से बदलती और गम्भीर होती जाती थी; यू० पी० के किसानों का प्रश्न जटिल हो गया था; खान अब्दुलग़फ़्फ़ार ख़ाँ के नेतृत्व में सीमा-प्रान्त में लालकुर्ती-दल की आश्चर्यजनक प्रगति हुई थी; बंगाल में अत्यन्त विक्षोभ की दशा हो गयी थी, और उसमें क्रोध और असन्तोष अन्दर-ही-अन्दर बढ़ गया था; हमेशा की साम्प्रदायिक समस्या तो थी ही, और कांग्रेस के लोगों और सरकारी अफ़सरों के बीच कई तरह के मामलों में छोटे-छोटे कई स्थानीय झगड़े खड़े हो गये थे, जिनमें दोनों पक्ष एक-दूसरे पर दिल्ली-समझौते को तोड़ने का इल्ज़ाम लगाते थे। इसके अलावा यह सवाल भी बार-बार उठता था कि क्या कांग्रेस गोलमेज़-कान्फ्रेंस में शामिल होगी? क्या गांधीजी को वहाँ जाना चाहिए?

३७

समझौता-काल में दिक़्क़तें

गांधीजी को गोलमेज़ कान्फ्रेंस के लिए लन्दन जाना चाहिए या नहीं? यह सवाल बराबर उठता रहता था, और इसका कोई निश्चित जवाब नहीं मिलता था। आख़िरी मिनट तक कोई भी नहीं जानता था, कांग्रेस-कार्य-समिति और ख़ुद गांधीजी भी नहीं जानते थे। क्योंकि, जवाब का आधार तो कई बातों पर था, और नयी-नयी घटनाएँ परिस्थिति को बदल रही थीं। इस सवाल और जवाब की तह में असली मुश्किल समस्याएँ खड़ी थीं।

ब्रिटिश सरकार और उसके दोस्तों की तरफ़ से हमसे बराबर कहा गया कि गोलमेज़-कान्फ्रेंस ने तो विधान की रूप रेखा निश्चित कर ही दी है, चित्र की मोटी-मोटी रेखाएं खिंच चुकी हैं, और अब तो इनमें रंग भरना ही बाक़ी रहा है। मगर कांग्रेस ऐसा नहीं समझती थी और उसकी निगाह में तो अभी सारी तस्वीर ही बनना बाक़ी थी; सो भी क़रीब-क़रीब कोरे काग़ज़ पर। यह तो सच था कि दिल्ली में समझौते के द्वारा संघ-स्वरूप को आधार मान लिया गया था, और संरक्षणों या प्रतिबन्धों का विचार भी मंज़ूर कर लिया था। मगर हममें से बहुत-से तो पहले से ही हिन्दुस्तान के लिए संघ-स्वरूप का विधान ही सबसे ज़्यादा उपयुक्त समझते थे। और इस विचार को हमारे मान लेने का यह मतलब नहीं था कि हमने ख़ास उस तरह का संघ भी मान लिया जिसकी

रचना पहली गोलमेज़-कान्फ्रेंस ने की थी। राजनैतिक स्वाधीनता और सामाजिक-परिवर्तन के साथ भी संघ-स्वरूप पूरी तरह मेल खा सकता है। हाँ, संरक्षणों या प्रतिबन्धों के विचार का मेल बैठाना ज़्यादा मुश्किल था और मामूली तौर पर उसके होने से स्वाधीनता में काफ़ी कमी आ जाती थी। मगर 'भारत के हित की दृष्टि से' इन शब्दों से हम इस कठिनाई से कम-से-कम थोड़ी हद तक तो निकल सकते थे, फिर भी अच्छी तरह नहीं। कुछ भी हो, कराची-कांग्रेस ने यह साफ़ कर दिया था कि हमें वही विधान मंज़ूर हो सकेगा जिसमें फ़ौज, वैदेशिक मामलों और राजस्व तथा आर्थिक नीति पर पूरा अधिकार दिया गया हो, और हिन्दुस्तान को विदेशों की (अर्थात् अधिकांश ब्रिटिशों की) देनदारी मंजूर करने से पहले अपने क़र्ज़े के प्रश्न की जाँच करने का हक़ हो। इसके अलावा मौलिक अधिकारों-सम्बन्धी प्रस्ताव ने भी बता दिया था कि हम किन-किन राजनैतिक और आर्थिक परिवर्तनों को करना चाहते हैं। ये सब बातें गोलमेज़-कान्फ्रेंस के कई निश्चयों और हिन्दुस्तान की सरकार के मौजूदा ढाँचे के भी ख़िलाफ़ पड़ती थीं।

कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार के दृष्टिकोण में भारी फ़र्क़ था, और अब इस अवस्था में उनका दूर होना बहुत ही असम्भव मालूम होता था। क़रीब-क़रीब सभी कांग्रेसवालों को गोलमेज़-कान्फ्रेंस में कांग्रेस और सरकार के बीच किसी भी बात पर एक-राय की उम्मीद नहीं थी, और गांधीजी को भी, हालाँकि वह हमेशा बड़े आशावादी रहे हैं, कोई ज़्यादा आशा न हो सकी। फिर भी वह कभी नाउम्मीद नहीं होते थे, और आख़िरी हद तक कोशिश करने का इरादा रखते थे। हम सब महसूस करते थे, कि चाहे सफलता मिले या न मिले, दिल्ली-समझौते के कारण एक बार प्रयत्न तो करना ही चाहिए। मगर दो ज़रूरी बातें थीं, जिनके कारण हमारा गोलमेज़-कान्फ्रेंस में हिस्सा लेना रुक सकता था। हम तभी जा सकते थे जबकि हमें गोलमेज़-कान्फ्रेंस के सामने अपना सम्पूर्ण दृष्टिबिन्दु रखने की पूरी आज़ादी रहे, और इसके लिए हमें यह कहकर कि यह मामला तो पहले ही तय हो चुका है, या और किसी सबब से, रोका न जाय। हिन्दुस्तान में भी ऐसी परिस्थिति हो सकती थी कि जिससे गोलमेज़-कान्फ्रेंस में हमारा प्रतिनिधि न जा पाता। यहाँ ऐसी हालत पैदा हो सकती थी कि जिससे सरकार से संघर्ष पैदा हो जाता, या जिसमें हमें कठोर दमन का मुक़ाबला करना पड़ता। अगर हिन्दुस्तान में ऐसा हो, और हमारा घर ही जल रहा हो, तो हमारे किसी भी प्रतिनिधि के लिए यह बिलकुल असम्भव होता कि इस आग का ख़याल न करके वह लन्दन में जाकर विधान आदि पर कोरे पण्डितों की तरह बहस करे।

हिन्दुस्तान में परिस्थिति तेज़ी से बदल रही थी। सारे देश में ऐसा हो रहा था,—ख़ासकर बंगाल, युक्तप्रान्त और सीमाप्रान्त में। बंगाल में तो दिल्ली के समझौते से कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं पड़ा, और तनाव जारी रहा, बल्कि और भी

ज़्यादा हो गया। सविनय-भंग के कुछ क़ैदी छोड़ दिये गये। लेकिन हज़ारों राजनैतिक क़ैदी, जो नाम के लिए सविनय-भंग के क़ैदी नहीं समझे जा सकते थे, जेल में ही रहे। नज़रबन्द भी जेलों या नज़रबन्द-कैम्पों में ही सड़ते रहे। राजद्रोहात्मक भाषणों या दूसरी राजनैतिक प्रवृत्तियों के कारण नयी गिरफ्तारियाँ अक्सर हो जाती थीं, और आमतौर पर यही महसूस हो रहा था कि सरकार की तरफ़ से हमला अब भी बन्द नहीं हुआ है, वह जारी है। कांग्रेस के लिए आतंकवाद के कारण बंगाल की समस्या हमेशा बहुत ही कठिन रही है। कांग्रेस की सामान्य प्रवृत्तियों और सविनय-भंग के मुक़ाबले आतंकवादी हलचलें तो बहुत थोड़ी और बहुत छोटी-सी रही हैं। मगर उनसे शोर ज़्यादा मचता था, और उनकी तरफ़ ध्यान बहुत खिंच जाता था। इन हलचलों से दूसरे प्रान्तों की तरह कांग्रेस का काम होना मुश्किल हो गया था। क्योंकि आतंकवाद से ऐसा वातावरण पैदा हो जाता था जो शान्तिपूर्ण लड़ाई के लिए अनुकूल न था। लाज़िमी तौर पर इसके कारण सरकार ने सख़्त-से-सख़्त दमन किया, जोकि आतंकवादी और ग़ैर-आतंकवादी बहुत-कुछ दोनों पर निष्पक्ष समानता से पड़ा।

पुलिस और स्थानीय अफ़सरों के लिए यह मुश्किल था कि वे ख़ास क़ानून और आर्डिनेन्सों का (जो आतंकवादियों के लिए बनाये गये थे) कांग्रेसवालों, मज़दूरों और किसानों के कार्यकर्ताओं और दूसरे लोगों पर, जिनकी प्रवृत्तियों को वे नापसन्द करते थे, उपयोग न करें। यह मुमकिन है कि कई नज़रबन्दों का, जिन्हें अभी तक कई वर्षों से बग़ैर इलज़ाम लगाये, मुक़दमा चलाये या सज़ा दिये बन्द रखा गया था, असली क़ुसूर आतंकवादी प्रवृत्तियाँ नहीं, बल्कि दूसरी ही कोई प्रबल राजनैतिक प्रवृत्ति हो। उन्हें इसका मौक़ा तक नहीं दिया गया कि वे अपनी सफ़ाई दे सकें, या कम-से-कम अपना अपराध तक मालूम कर सकें। उनपर अदालतों में मुक़दमे इसलिए नहीं चलाये जाते कि शायद पुलिस के पास उन्हें सज़ा दिलाने लायक़ काफ़ी सबूत नहीं हैं, हालाँकि यह सभी जानते हैं कि सरकार-विरोधी जुर्मों के लिए ब्रिटिश भारत के क़ानून आश्चर्यजनक रूप से व्यापक और भरे-पूरे हैं और उनके घने जाल में से बच सकना मुश्किल है। यह अक्सर होता है कि कोई आदमी अदालतों से बरी कर दिया जाता है, मगर फिर फ़ौरन ही गिरफ्तार कर लिया जाता है और नज़रबन्द बना लिया जाता है।

बंगाल के इस पेचीदा सवाल के कारण कांग्रेस-कार्य-समिति के लोग अपने को बड़ा लाचार अनुभव करते थे। वे हमेशा इससे परेशान रहते थे और किसी-न-किसी रूप में बंगाल का कोई-न-कोई मामला उनके सामने आता ही रहता। जितना उनसे बनता था उतना उस बारे में वे ज़रूर करते थे, मगर वे अच्छी तरह जानते थे कि इससे असली सवाल हल न होगा। इसलिए कुछ कमज़ोरी ही समझिए, वे जो-कुछ वहाँ होता था उसे वैसा ही चलने देते थे। और यह कहना भी मुश्किल है कि, उनकी जैसी परिस्थिति थी उसमें वे और कर भी क्या सकते

थे ? बंगाल में कार्य-समिति के इस रवैये पर बड़ा रोष प्रकट किया जाता रहता था, और वहाँ यह ख़याल पैदा हो गया कि कांग्रेस-कार्य-समिति और दूसरे सब प्रान्त बंगाल की परवा नहीं करते। मालूम होता था कि मुसीबत के वक्त में सबने बंगाल का साथ छोड़ दिया है। मगर यह ख़याल बिलकुल ग़लत था, क्योंकि सारे हिन्दुस्तान में बंगाल के प्रति सहानुभूति थी, लेकिन उसे यह नहीं सूझता था कि इस सहानुभूति को अमली मदद की शकल में कैसे ज़ाहिर करें ? इसके अलावा, हर प्रान्त के सामने अपने-अपने कष्टों का भी तो सवाल था।

युक्तप्रान्त में किसानों की स्थिति ख़राब होती जा रही थी। प्रान्तीय सरकार इस सवाल पर टालमटोल करने की कोशिश कर रही थी। उसने लगान और मालगुज़ारी के छूट के फ़ैसले को आगे धकेल दिया, और ज़बरदस्ती लगान-वसूली शुरू कर दी। सामूहिक बेदख़लियाँ और क़ुर्क़ियाँ होने लगीं। जब हम लंका में थे तभी ज़बरदस्ती लगान-वसूली की कोशिश के कारण, दो या तीन जगहों पर किसानों के दंगे हो गये थे। ये दंगे थे तो मामूली-से ही, मगर बदक़िस्मती से उनमें ज़मींदार या उनके कारिन्दे मर गये थे। गांधीजी युक्तप्रान्त के गवर्नर सर माल्कम हेली से किसानों की परिस्थिति पर बातचीत करने नैनीताल गये थे (उस वक्त भी मैं लंका में ही था), मगर उसका कोई अच्छा नतीजा नहीं निकला। जब सरकार ने छूट की घोषणा की, तो वह उम्मीद से बहुत कम थी। देहात में लगातार हो-हल्ला मचने और बढ़ने लगा। ज्यों-ज्यों ज़मींदार और सरकार दोनों का मिलाकर दबाव बढ़ता गया, और हज़ारों किसान अपनी ज़मीन से बेदख़ल किये जाने लगे, और उनकी छोटी-छोटी मिल्कियत छीनी जाने लगी, त्यों-त्यों ऐसी स्थिति पैदा होती गयी कि जिससे किसी भी दूसरे देश में एक बड़ा किसान-विप्लव खड़ा हो सकता था। मेरा ख़याल है कि यह कांग्रेस की कोशिश का ही नतीजा था कि जिससे किसानों ने कोई हिंसात्मक कार्य नहीं किये। मगर ख़ुद उनपर जो बल-प्रयोग हुआ उसका क्या पूछना !

किसानों की इस उभाड़ और मुसीबत में एक बात अच्छी थी। खेती की पैदावारों के भाव बहुत कम हो जाने से ग़रीब लोगों के पास, जिनमें किसान भी शामिल थे, अगर उनकी सम्पत्ति छिनी नहीं थी तो, पिछले कई सालों की बनिस्बत ज़्यादा खाद्य सामग्री मौजूद थी।

बंगाल की तरह, सीमाप्रान्त में भी दिल्ली के समझौते से कोई शान्ति नहीं हुई। वहाँ विक्षोभ का वातावरण निरन्तर बना रहा। वहाँ की हुकूमत विशेष कानूनों और आर्डिनेन्सों और छोटे-छोटे क़सूरों पर भारी-भारी सज़ाओं के कारण एक फ़ौजी हुकूमत के समान हो रही थी। इस हालत का विरोध करने के लिए ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ार ख़ाँ ने बड़ा आन्दोलन उठाया, जिससे सरकार की निगाह में वह बहुत खटकने लगे। वह छः फ़ुट तीन इञ्च ऊँचे पूरे पठान, मर्दानगी के साथ, गाँव-गाँव पैदल जाते थे, और जगह-जगह 'लाल-कुर्ती' दल के केन्द्र क़ायम

करते थे। जहाँ कहीं वह या उनके ख़ास-ख़ास साथी जाते थे वहाँ-वहाँ वह लाल-कुर्ती-दल का एक सिलसिला बनाकर छोड़ जाते थे, और जल्दी ही सारे प्रान्त में 'खुदाई ख़िदमतगार' की शाखाएँ फैल गयीं। वे बिलकुल शान्तिपूर्ण थे, और उनके ख़िलाफ़ गोल-मोल आराप लगाये जाने पर भी, आजतक हिंसा का कोई एक भी निश्चित अभियोग नहीं ठहर सका है। मगर चाहे वे शान्तिपूर्ण रहे हों या नहीं, उनका पूर्व-इतिहास तो युद्ध और हिंसा का रहा था, और वे उपद्रवी सीमा प्रदेश के पास बसे हुए थे इसलिए इस अनुशासन-युक्त आन्दोलन के, जिसका हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय-आन्दोलन से गहरा ताल्लुक़ था, तेजी से बढ़ने के कारण सरकार घबरा गयी। मेरा ख़याल है कि उसने इस आन्दोलन के शान्ति और अहिंसा के दावे पर कभी विश्वास नहीं किया। मगर, यदि उसने विश्वास भी कर लिया होता, तो भी उसके हृदय में इसके कारण दहशत और झुँझलाहट ही पैदा हुई होती। इसमें उसे इतनी असली और भीतरी शक्ति दिखायी दी कि वह इसे शान्ति से देखती नहीं रह सकती थी।

इस बड़े आन्दोलन के मुखिया, बिला उज्र, ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ार ख़ाँ ही थे—जिन्हे 'फ़ख़्रे-अफ़ग़ान', 'फ़ख़्रे-पठान', 'गांधी-ए-सरहद' वग़ैरा नामों से याद किया जाने लगा। उन्होंने सिर्फ़ अपने चुपचाप और एक-निष्ठ काम के बल पर, जिसमें न वह मुश्किलों से डरे न सरकारी दमन से, सीमाप्रान्त में आश्चर्यजनक लोक-प्रियता पा ली थी। जैसे कि राजनीतिज्ञ आमतौर पर हुआ करते हैं उस तरह के राजनीतिज्ञ न वह थे, न हैं; वह राजनैतिक चालाकियों और पैंतरेबाज़ियों को नहीं जानते। वह तो एक ऊँचे और सीधे—शरीर और मन दोनों में—आदमी हैं। वह शोर-गुल और बकवास से नफ़रत करते हैं। वह हिन्दुस्तान की आज़ादी के ढाँचे के अन्दर अपने सीमा-प्रान्तीय लोगों के लिए भी आज़ादी चाहते हैं, मगर विधानों और क़ानूनी बातों के बारे में उनका दिमाग़ सुलझा हुआ नहीं है और न उनमें उन्हें कोई दिलचस्पी ही है। किसी भी चीज़ को पाने के लिए ज़ोरदार काम की ज़रूरत है, और गांधीजी ने ऐसे शान्तिपूर्ण काम का एक बढ़िया तरीक़ा, जो उन्हें जँच गया, बता ही दिया था। इसलिए ज़्यादा बहस में न पड़ते हुए, और अपने संगठन के लिए क़ायदों के मसविदे के फेर में न पड़कर उन्होंने सीधा संगठन करना ही शुरू कर दिया और उसमें उन्हें ख़ूब कामयाबी मिली।

गांधीजी की तरफ़ उनका रुझान ख़ासतौर पर हो गया। पहले तो अपने-आपको पीछे ही रखने के लजीले स्वभाव के कारण वह उनसे दूर-दूर रहे। बाद में कई मामलों पर बहस करने के लिए उन्हें उनसे मिलना पड़ा, और उनका ताल्लुक़ बढ़ा। यह ताज्जुब की बात है कि इस पठान ने अहिंसा को उसूलन हममें से कई लोगों की बनिस्बत ज़्यादा कैसे मान लिया? और चूँकि उनका अहिंसा पर पक्का यक़ीन था, इसी कारण वह अपने लोगों को समझा सके कि उभाड़े जाने पर भी शान्ति रखने का बड़ा भारी महत्त्व है। यह कहना तो बिलकुल ग़लतही

होगा कि सीमा-प्रान्त के लोगों ने कभी भी या छोटी भी हिंसा करने का विचार पूरी तरह से छोड़ दिया है, जैसा कि किसी भी प्रान्त के लोगों के बारे में आमतौर पर यह कहना बिलकुल ग़लत होगा। आम जनता तो भावुकता की लहरों में बहा करती है, और जब इस तरह की लहर उठ खड़ी हो तब वह क्या करेगी यह पहले से नहीं कहा जा सकता। मगर अपने-आप पर क़ाबू और ज़ब्त रखने की जो मिसाल सीमा-प्रान्त के लोगों ने १९३० में और बाद के बरसों में पेश की थी वह विलक्षण ही थी।

सरकारी अधिकारी और हमारे कई निहायत डरपोक देशवासी 'सरहदी गांधी' को शक की निगाह से देखते हैं। वे उनकी बातों का यक़ीन नहीं करते। उन्हें उनमें कोई छिपा हुआ षड्यन्त्र ही दिखायी देता है। मगर पिछले कुछ बरसों से वह और सीमा-प्रान्त के दूसरे साथी हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सों के कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं के बहुत नज़दीक आ गये हैं, और उनके बीच में गहरा भाईचारा और परस्पर आदर का भाव पैदा हो गया है। ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ार ख़ाँ को कांग्रेस के लोग कई बरस से जानते और चाहते हैं। मगर वह महज़ एक साथी ही नहीं हैं, उससे कुछ ज़्यादा हैं। दिन-ब-दिन हिन्दुस्तान के बाक़ी हिस्सों में लोग उनको एक बहादुर और निडर लोगों के, जो हमारे सर्व-सामान्य युद्ध में हमारे साथी हैं, साहस और बलिदान का प्रतीक समझने लगे हैं।

ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ार ख़ाँ से पहिचान होने के बहुत पहले ही मैं उनके बड़े भाई डाक्टर ख़ान साहब को जानता हूँ। जब मैं केम्ब्रिज में पढ़ता था, तब वह लन्दन के सेण्ट टॉमस अस्पताल में शिक्षा पाते थे, और बाद में जब मैं इनरटेम्पल के क़ानूनी विद्यालय में पढ़ता था तब मेरी-उनकी गहरी दोस्ती हो गयी थी। जब मैं लन्दन में रहता था, तो शायद ही कोई ऐसा दिन जाता हो जब हम आपस में न मिलते हों। मैं तो हिन्दुस्तान चला आया, मगर वह इंग्लैण्ड में ही रह गये और महायुद्ध के ज़माने में डाक्टर की हैसियत से काम करते हुए कई बरसों तक वहीं रहे। इसके बाद मैंने उन्हें नैनी-जेल में देखा।

सीमा-प्रान्त के लालकुर्तीवालों ने कांग्रेस के साथ सहयोग तो किया, लेकिन उनका अपना संगठन अलग ही था। यह एक विचित्र हालत थी। दोनों को जोड़नेवाली कड़ी तो अब्दुलग़फ़्फ़ार ख़ाँ थे। १९३१ की गर्मियों में इस सवाल पर कार्य-समिति ने सीमा-प्रान्त के नेताओं की सलाह से यह तय किया कि लाल-कुर्तीवालों को कांग्रेस का ही अंग बना लिया जाय और इस तरह वे कांग्रेस के एक जुज़ बन गये।

गांधीजी की इच्छा कराची-कांग्रेस के बाद फ़ौरन सीमा-प्रान्त में जाने की थी, मगर सरकार ने ऐसा न होने दिया। बाद के महीनों में जब सरकारी अधिकारियों ने लालकुर्ती-दल की कार्रवाइयों की शिकायत की, तो उन्होंने ज़ोर दिया कि उनको वहां इन बातों का ख़ुद पता लगाने के लिए जाने की इजाज़त दी

जाय, मगर उन्हें नहीं जाने दिया गया। न वहाँ मेरा जाना ही पसन्द किया गया। दिल्ली के समझौते को देखते हुए, हमने यह ठीक नहीं समझा कि हम सरकार की स्पष्ट इच्छा के विरुद्ध सीमा-प्रान्त में जायँ।

इन सवालों के अलावा, कार्य-समिति के सामने एक और मसला था,—साम्प्रदायिक। यह कोई नयी समस्या न थी, हालाँकि बार-बार यह नयी और अजीब शक्ल में सामने आती थी। गोलमेज़-कान्फ्रेंस के सबब से इसे और भी महत्त्व मिल गया। क्योंकि यह तो ज़ाहिर था कि ब्रिटिश-सरकार इसीको सबसे आगे रक्खेगी, और दूसरी सब समस्याओं को इससे कम महत्त्व देगी। इस कान्फ्रेंस के मेम्बर, जो कि सभी सरकार के नामज़द किये हुए थे, खासकर इस तरह पसन्द किये गये थे कि जिससे साम्प्रदायिक और सामुदायिक स्वार्थों को महत्त्व दिया जा सके। सरकार ने खासतौर पर, और ज़ोर के साथ, राष्ट्रीय मुसलमानों के किसी भी नेता को नामज़द करने से ही इन्कार कर दिया। गांधीजी ने महसूस किया कि अगर ब्रिटिश-सरकार के कहने से कान्फ्रेंस बिलकुल शुरू में ही साम्प्रदायिक सवाल में ही उलझ गयी, तो असली राजनैतिक और आर्थिक सवालों पर काफ़ी विचार न हो सकेगा। इस परिस्थिति में उनके लन्दन जाने से कोई फ़ायदा न होगा। इसलिए उन्होंने कार्य-समिति के सामने यह बात पेश की कि लन्दन तभी जाना चाहिए जबकि सब सम्बन्धित दलों के बीच साम्प्रदायिक समस्या पर कोई समझौता हो जाय। उनकी यह सहज-बुद्धि बिलकुल ठीक थी, मगर कमिटी ने यह बात न मानी, और यह फ़ैसला किया कि सिर्फ़ इसी आधार पर कि हम साम्प्रदायिक समस्या को तय नहीं कर पाये हैं, उन्हें जाने से इन्कार न करना चाहिए। कमिटी ने विविध सम्प्रदायों के प्रतिनिधियों की सलाह से इस समस्या का हल ढूँढने की कोशिश भी की। मगर इसमें ज़्यादा कामयाबी न मिली।

१९३१ की गर्मियों में, छोटे-मोटे कई मसलों के अलावा, यही कुछ बड़े प्रश्न हमारे सामने थे। सारे देश की स्थानीय कांग्रेस-कमिटियों से हमारे पास बराबर शिकायतें आ रही थीं कि स्थानीय अफ़सरों ने फ़लाँ-फ़लाँ बात में दिल्ली के समझौते को तोड़ दिया है। हमने उनमें से कुछ बड़ी-बड़ी शिकायतें सरकार के पास भी भेज दीं, और उधर सरकार ने भी कांग्रेसवालों के ख़िलाफ़ समझौता तोड़ने के अपराध लगाये। इस तरह एक-दूसरे पर आरोप और प्रत्यारोप किये गये, और बाद में वे अख़बारों में भी छाप दिये गये। यह कहने की ज़रूरत नहीं है, कि इससे भी कांग्रेस और सरकार के सम्बन्ध सुधरे नहीं।

फिर भी, इन छोटे-छोटे कई मसलों के सम्बन्ध में संघर्ष ख़ुद कोई बड़ा महत्त्व नहीं रखता था। इसका महत्त्व यही था कि इससे एक-दूसरे बड़े और मौलिक संघर्ष के बढ़ने का पता लगता था। यह मौलिक संघर्ष व्यक्तियों पर निर्भर नहीं करता था, बल्कि हमारे राष्ट्रीय संग्राम के स्वरूप के कारण और हमारे ग्रामों

की आर्थिक व्यवस्था में असामंजस्य होने के कारण उत्पन्न हुआ था। इस संघर्ष को बिना बुनियादी परिवर्तन किये मिटाना या कम करना मुमकिन नहीं था। हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन मूल में इसलिए शुरू हुआ था कि हमारे ऊपरी तह के मध्यम-वर्गों में अपनी उन्नति और विकास का साधन प्राप्त करने की इच्छा पैदा हुई, और इसकी जड़ में राजनैतिक और आर्थिक प्रेरणा थी। यह आन्दोलन निचले मध्यम-वर्गों में फैल गया, और देश में एक ताक़त बन गया; और फिर उसने देहात के लोगों को भी उठाना शुरू किया, जिन्हें आमतौर पर यह भी मुश्किल हो रहा था कि अपना सबसे निचली कोटि का दरिद्रतापूर्ण जीवन भी किसी तरह क़ायम रख सकें। पुराने ज़माने की स्वावलम्बी ग्रामीण व्यवस्था कभी की मिट चुकी थी। सहायक घरेलू धन्धे भी, जो खेती के सहायक थे और जिनसे ज़मीन का बोझ कुछ कम हो जाता था, बर्बाद हो गये थे; कुछ तो सरकारी नीति के सबब से, मगर ख़ासकर इस कारण कि वे मशीनों के व्यवसायों का मुक़ाबला नहीं कर सके। ज़मीन का बोझ बढ़ने लगा, और हिन्दुस्तान के कारख़ानों की तरक़्क़ी इतनी धीमी हुई कि वह इसमें कुछ फ़र्क़ न कर सकी। और फिर ये गाँव, जो सब तरह से साधन-हीन और तरह-तरह के बोझों से लदे हुए थे, और सहसा संसार के बाज़ारों के मुक़ाबले में डाल दिये गये, और इधर-से-उधर धक्के खाने लगे थे, बराबरी के नाते से विदेशों का मुक़ाबला कर नहीं सकते थे। उनकी उत्पत्ति के औज़ार पुराने ढंग के थे, और ज़मीन के बँटवारे का तरीक़ा उनका ऐसा था जिससे खेत बराबर छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटते जाते थे। कोई भी आमूल सुधार होना नामुमकिन था। इसलिए कृषि करनेवाले वर्ग——ज़मींदार और काश्तकार दोनों ही——सिवा उन दिनों के जबकि भाव बहुत ऊँचे हो जाते थे, नीचे ही गिरते गये। ज़मींदारों ने अपने बोझ को काश्तकारों पर उतारने की कोशिश की, और किसानों के, छोटे ज़मीन-मालिकों और काश्तकारों दोनों ही के, मुफ़लिस हो जाने के कारण वे राष्ट्रीय आन्दोलन की तरफ़ खिंच आये। खेतिहर-मज़दूर भी, अर्थात् देहातों के ऐसे लोग जिनके पास ज़मीन नहीं थी और जिनकी तादाद बड़ी थी, इस तरफ़ आकर्षित हुए। इन देहाती वर्गों के लिए तो 'राष्ट्रीयता' या 'स्वराज' का मतलब यही था कि ज़मीन के बँटवारे की प्रणाली में मौलिक परिवर्तन किया जाय, जिससे कि उनका बोझ दूर या कम हो जाय और भूमिहीन को भूमि मिल जाय। मगर राष्ट्रीय आन्दोलन में पड़े हुए किसानों या मध्यम-वर्गीय नेताओं में किसीने भी इनकी इच्छाओं को साफ़ तौर पर ज़ाहिर नहीं किया।

१९३० का सविनय-भंग आन्दोलन, उद्योग-धन्धों और कृषि की बड़ी संसार-व्यापी मन्दी के बिलकुल मुआफ़िक़ बैठ गया, और इसका पता पहले तो उसके नेताओं को भी न लगा। इस मन्दी का असर देहाती जनता पर भी बहुत ज़्यादा पड़ा था, इसलिए वे भी कांग्रेस और सविनय-भंग की तरफ़ झुक पड़े। उनका यह लक्ष्य नहीं था कि लन्दन में या दूसरी किसी जगह बैठकर कोई अच्छा-

का विधान तैयार किया जाय, मगर उनका लक्ष्य, ख़ासकर ज़मींदारी इलाक़े में, यह था कि भूमि-प्रथा में बुनियादी तब्दीली की जाय। वास्तव में यह मालूम होने लगा कि ज़मींदारी तरीक़ा अब इस ज़माने के लिए पुराना पड़ गया है, और उसमें कोई स्थिरता बाक़ी नहीं रही है। मगर ब्रिटिश सरकार, अपनी मौजूदा परिस्थिति में, इस भूमि-प्रणाली में कोई बुनियादी तब्दीली करने की हिम्मत नहीं दिखा सकती थी। जब उसने एक शाही कृषि-कमीशन मुक़र्रर किया था, तब भी उसके निर्देशों में ज़मीन की मिल्कियत और भूमि-प्रणाली के परिवर्तन पर विचार करने की मनाही कर दी गयी थी।

इस तरह, उस समय संघर्ष मानो हिन्दुस्तान की परिस्थिति में ही छिपा था, और वह किसी प्रकार के लुभावने शब्दों या समझौते से दूर नहीं किया जा सकता था। दूसरे आवश्यक राष्ट्रीय प्रश्नों के अलावा ज़मीन के सवाल का बुनियादी हल निकालने से ही यह संघर्ष बच सकता था। यह हल ब्रिटिश-सरकार की मार्फ़त निकले, इसकी कोई सम्भावना न थी। अस्थायी इलाजों से बीमारी चाहे थोड़ी देर के लिए कम हो सके, और सख़्त दमन के डर से चाहे लोग उसका इज़हार करना बन्द कर दें, मगर दोनों बातों से सवाल का हल नहीं निकल सकता था।

मगर, मैं समझता हूँ कि, ज़्यादातर सरकारों की तरह ब्रिटिश-सरकार का भी यह ख़याल है कि हिन्दुस्तान में ज़्यादा गड़बड़ 'आन्दोलनकारियों' के कारण है। मगर यह बिलकुल ही ग़लत ख़याल है। पिछले पन्द्रह बरसों से हिन्दुस्तान के पास एक ऐसा नेता तो रहा है, जिसने अपने करोड़ों देशवासियों का स्नेह, श्रद्धा और भक्ति पायी है, और जो उससे कई तरह अपनी इच्छा भी मनवा लेता है। उसने उसके वर्तमान इतिहास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण हिस्सा लिया है, मगर फिर भी उससे ज़्यादा महत्त्वपूर्ण तो वे आम लोग ही रहे हैं जो उसके आदेशों को मानो आँख बन्द करके मानते रहे हैं। आम लोग ही मुख्य अभिनेता थे, और उनके पीछे, उन्हें आगे धकेलनेवाली, बड़ी-बड़ी ऐतिहासिक प्रेरणाएं थीं, जिन्होंने लोगों को तैयार कर दिया और अपने नेता की आवाज़ सुनने को मजबूर कर दिया। उस ऐतिहासिक परिस्थिति, और राजनैतिक और आर्थिक प्रेरणाओं के अभाव में, कोई भी नेता या आन्दोलनकारी उन्हें कोई भी काम करने की स्फूर्ति नहीं दे सकता था। गांधीजी में नेतृत्व का यही ख़ास गुण था कि वह अपनी सहज-बुद्धि से आम लोगों की नब्ज़ पहचान सकते थे, और जान लेते थे कि किस प्रगति और काम के लिए कब परिस्थिति ठीक अनुकूल है।

१९३० में हिन्दुस्तान का राष्ट्रीय आन्दोलन कुछ वक़्त के लिए देश की बढ़ती हुई सामाजिक शक्तियों के भी अनुकूल बैठ गया, जिससे उसे बड़ी ताक़त मिल गयी। उसमें वास्तविकता मालूम होने लगी, और ऐसा लगने लगा कि मानो वह सचमुच इतिहास के साथ क़दम-ब-क़दम आगे बढ़ रहा है। कांग्रेस उस राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रतिनिधि थी, और उसकी प्रतिष्ठा बढ़ने से मालूम होता था कि उसकी

शक्ति और सत्ता बढ़ रही है । यह कुछ-कुछ अस्पष्ट, कुछ बे-अन्दाज़, कुछ ज़बान से न बयान किया जाने-जैसा तो था, किन्तु फिर भी बहुत-कुछ मौजूद था ही। निःसन्देह किसान लोग कांग्रेस की तरफ़ झुके और उन्होंने ही उसकी असली शक्ति बनायी। निचले मध्यम-वर्ग ने उसे सबसे मज़बूत सैनिक दिये । ऊपरी मध्यम-वर्ग ने भी, इस वातावरण से घबराकर, कांग्रेस से दोस्ती बनाये रखने में ही ज़्यादा भलाई देखी । ज़्यादातर सूती मिलों ने कांग्रेस के बनाये इक़रारनामों पर दस्तख़त कर दिये, और वे ऐसे काम करने से डरने लगीं जिनसे कांग्रेस उनसे नाराज़ हो जाय। जब कुछ लोग लन्दन में बैठे पहली गोलमेज़-कान्फ्रेंस में भले-भले क़ानूनी प्रश्नों पर बातचीत कर रहे थे, उस वक़्त मालूम हो रहा था कि आम लोगों के प्रतिनिधि की हैसियत से कांग्रेस के पास ही धीरे-धीरे और अनजान में असली ताक़त चली जा रही है। दिल्ली के समझौते के बाद भी यह भ्रम बढ़ता ही रहा; किन्हीं अभिमान-भरे भाषणों के कारण नहीं, बल्कि १९३० और बाद की घटनाओं के कारण। इसमें शक नहीं कि शायद कांग्रेस के नेताओं को ही सबसे ज़्यादा यह पता था कि सामने क्या-क्या कठिनाइयाँ और ख़तरे आनेवाले हैं, इसलिए उनको मामूली न समझने की उन्होंने पूरी फ़िक्र रक्खी।

देश में बढ़नेवाली बराबर की दो समान सत्ताओं की हस्ती का अस्पष्ट भान क़ुदरती तौर पर सरकार को बहुत ही चुभनेवाला था। असल में, इस धारणा के लिए कोई असली बुनियाद तो थी नहीं, क्योंकि दृश्य सत्ता तो सोलहों आना सरकारी अधिकारियों के हाथ में ही थी; फिर भी लोगों के दिमाग़ों में दो समान सत्ताओं के अस्तित्व का भान था, इसमें तो शक ही नहीं है। सत्तावादी और अपरिवर्तनीय शासन-तन्त्र के लिए तो यह स्थिति चलने देना असम्भव था, और इसी विचित्र वातावरण से अधिकारी बेचैन हो गये, न कि गाँवों के कुछ ऐसे-वैसे भाषणों या जुलूसों से, जिनकी कि उन्होंने बाद में शिकायत की। इसलिए संघर्ष होना लाज़मी दीखने लगा। कांग्रेस अपनी ख़ुशी से आत्मघात नहीं कर सकती थी, और सरकार भी इस दुहरी सत्ता के वातावरण को बरदाश्त नहीं कर सकती थी, और कांग्रेस को कुचल डालने पर तुली हुई थी। यह संघर्ष दूसरी गोलमेज़-कान्फ्रेंस के कारण रुका रहा। किसी-न-किसी कारण से, ब्रिटिश-सरकार गांधीजी को लन्दन बुलाने को बहुत उत्सुक थी, और इसीसे जहाँतक हो सके कोई भी ऐसा काम नहीं करती थी जिसमें उनका लन्दन जाना रुक जाय।

इतने पर भी संघर्ष की भावना बढ़ती ही गयी, और हमें दीखने लगा कि सरकार का रुख़ सख़्त हो रहा है। दिल्ली के समझौते के बाद ही लार्ड इर्विन हिन्दुस्तान से चले गये और लार्ड विलिंगडन वाइसराय बनकर आये। यह ख़बर फैलने लगी कि नया वाइसराय बड़ा सख़्त आदमी है, और पिछले वाइसराय की तरह समझौते करनेवाला नहीं है। हमारे कई राजनैतिक पुरुषों में, लिबरलों की तरह राजनीति का विचार सिद्धान्तों की दृष्टि से न करके व्यक्तियों की दृष्टि

से करने की आदत हो गयी है। वे यह नहीं समझते थे कि ब्रिटिश-सरकार की सामान्य साम्राज्यवादी नीति वाइसरायों की व्यक्तिगत रायों पर निर्भर नहीं रहती। इसलिए वाइसरायों के बदल जाने से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा, न पड़ सकता था। मगर, व्यवहार में यह हुआ कि परिस्थिति की गति-विधि के कारण सरकार की नीति भी धीरे-धीरे बदलती गयी। सिविल-सर्विस के उच्च अधिकारियों को कांग्रेस के साथ समझौते या व्यवहार करने की बात पसन्द नहीं थी। शासन के सम्बन्ध में उनकी सारी तालीम और सत्तावादी धारणाएं इसके ख़िलाफ़ थीं। उनके दिमाग़ में यह ख़याल था कि उन्होंने गांधीजी के साथ बिलकुल बराबरी का-सा बर्ताव करके कांग्रेस के प्रभाव और गांधीजी के रुतबे को बढ़ा दिया है, और अब यह वक़्त है कि जब उनको थोड़ा-सा नीचा दिखाया जाय। यह ख़याल बड़ी बेवक़ूफ़ी का था; मगर, हिन्दुस्तान की सिविल-सर्विस में विचारों की मौलिकता तो कभी मानी ही नहीं गई है। ख़ैर, कुछ भी कारण हो, सरकार सख़्ती से तन गयी और उसने अपना पंजा और भी मज़बूती से जमाया, और पुराने पैग़म्बर के शब्दों में मानो उसने हमसे कहा कि "मेरी छोटी अँगुली भी मेरे बाप की कमर से मोटी है; उसने तुम्हें कोड़े लगवाये थे, तो मैं तुम्हें बिच्छू से कटवाऊँगा।"[1]

मगर अभी तोबा कराने का वक़्त नहीं आया था। अभी तो यही ज़रूरी समझा गया कि अगर मुमकिन हो, तो कांग्रेस का प्रतिनिधि दूसरी गोलमेज़-कान्फ्रेंस में ज़रूर जाय। वाइसराय और दूसरे अधिकारियों से लम्बी-लम्बी बातचीत करने के लिये गांधीजी दो बार शिमला गये। उन्होंने उस समय के मौजूदा कई सवालों पर बातचीत की, और बंगाल के अलावा, जो सरकार को सबसे ज़्यादा चिन्तित कर रहा मालूम पड़ता था, ख़ासकर सीमा-प्रान्त के लालकुर्ती-दल-आन्दोलन और युक्तप्रान्त के किसानों की स्थिति इन दो विषयों पर बातचीत हुई।

शिमला में गांधीजी ने मुझे भी बुला लिया था, और मुझे भारत-सरकार के कुछ अधिकारियों से मिलने के भी मौक़े मिले। मैं सिर्फ़ युक्तप्रान्त के बारे

---

[1] ये शब्द बाइबिल के पुराने अहदनामे (१ किंग्ज़, १२–१०) से लिये गये हैं। ये शब्द पैग़म्बर के नहीं हैं, बल्कि प्राचीन यहूदी बादशाह के सलाहकार के हैं। सुलेमान बादशाह का लड़का जब गद्दी पर बैठा तो प्रजा ने उससे जाकर प्रार्थना की—"हम आपके वफ़ादार हैं, आपके वालिद के ज़माने में जो जूआ हमारे कन्धे पर था उसे बराय मेहरबानी हलका कर दीजिए।" बादशाह के पिता के वृद्ध सलाहकारों ने सलाह दी कि यह बात मंजूर कर लेनी चाहिए। मगर उसके युवक सलाहकारों ने कहा कि ये लोग यों सीधे न होंगे। इनसे आप कहिए—"मेरे बाप की कमर से मेरी छोटी अँगुली भी ज़्यादा मोटी है। मेरे पिता के समय जूआ भारी था तो मैं उसे और भारी कर दूँगा। उन्होंने तुम्हें कोड़े लगवाये थे तो मैं तुम्हें बिच्छू से कटवाऊँगा।" —अनु०

में ही बातचीत करता था। बड़ी साफ़-साफ़ बातें हुईं, और छोटे-छोटे आरोपों और प्रत्यारोपों की तह में जो असली संघर्ष की बातें छिपी हुई थीं उनपर भी बहस हुई। मुझे याद है कि मुझसे कहा गया कि फ़रवरी १९३१ में ही सरकार की ऐसी स्थिति थी कि वह ज़्यादा-से-ज़्यादा तीन महीने के अन्दर सविनय-भंग के अन्दोलन को दबा सकती थी। उसने अपना सारा यन्त्र तैयार कर लिया था, और उसे चालू कर देने की, केवल बटन दबा देने भर की, आवश्यकता थी। मगर उसने यह सोचकर कि, अगर हो सके तो, बल-प्रयोग के बजाय आपस में मिलकर समझौता कर लेना शायद अच्छा होगा, आपसी बातचीत करके देखना तय किया था, और इसीका नतीजा था कि दिल्ली का समझौता हो गया। अगर समझौता न हुआ होता, तो बटन तो मौजूद था ही, और पल भर में दबाया जा सकता था। और इसमें यह भी इशारा मालूम होता था कि अगर हमने ठीक बर्ताव न किया तो फिर जल्दी ही बटन दबा देना पड़ेगा। यह सारी बात बड़ी नम्रता से और साफ़-साफ़ कही गयी थी, और हम दोनों ही जानते थे कि हमारे सारे प्रयत्नों के बावजूद, और हम चाहे कुछ भी कहें या करें, संघर्ष होना तो लाज़िमी था।

एक दूसरे ऊँचे अधिकारी ने कांग्रेस की तारीफ़ भी की। उस वक़्त हम ज़्यादा व्यापक अ-राजनैतिक ढंग की समस्याओं पर विचार कर रहे थे। उसने मुझसे कहा कि, राजनीति के सवाल को छोड़ दें तो भी कांग्रेस ने हिन्दुस्तान की बड़ी भारी सेवा की है। हिन्दुस्तानियों के ख़िलाफ़ आमतौर पर यह इल्ज़ाम लगाया जाता है कि वे अच्छे सगठनकर्त्ता नहीं हैं, मगर १९३० में कांग्रेस ने भारी कठिनाइयों और विरोध के होते हुए भी एक आश्चर्यजनक संगठन कर दिखाया था।

जहाँतक गोलमेज़-कांफ्रेंस में जाने का सवाल था, गांधीजी की पहली शिमला-यात्रा[1] का कोई नतीजा न निकला। दूसरी यात्रा[2] अगस्त के आख़िरी हफ़्ते में हुई। जाने या न जाने का आख़िरी फ़ैसला तो करना ही था, मगर फिर भी उन्हें हिन्दुस्तान छोड़ने का निश्चय करना मुश्किल हो गया। बंगाल में, सीमा-प्रान्त में और युक्तप्रान्त में उन्हें मुसीबत आती हुई दीख रही थी और जबतक उन्हें हिन्दुस्तान में शान्ति रहने का आश्वासन न मिल जाय, वह जाना नहीं चाहते थे। अन्त में[3] एक तरह का समझौता सरकार के साथ हो गया, जो एक वक्तव्य और परस्पर के पत्र-व्यवहार के रूप में था। यह बिलकुल ही आख़िरी घड़ी में

[1]-[2]-[3]समझौते के बाद सन्धि-भंग के बारे में तीन बार गांधीजी शिमला गये थे—दुबारा लन्दन जाने के निश्चय के बाद गांधीजी ने शिमला जाने का निश्चय किया। समझौते की शर्तें तोड़ी जा रही थीं, मगर शर्तें तोड़ी गयी या नहीं इसका फ़ैसला करनेवाली कोई निष्पक्ष अदालत तो थी नहीं। गांधीजी यह चाहते थे कि यदि शर्तें तोड़ी गई हों तो उनका परिमार्जन किया जाय, या ऐसी कोई अदालत नियुक्त की जाय। समझौते की शर्तों के खिलाफ़ युक्तप्रान्त और बारडोली में कर वसूल

किया गया, ताकि वह उस जहाज़ से आ सकें जिसमें गोलमेज़-कान्फ्रेंस के प्रतिनिधि जा रहे थे। वास्तव में यह, एक तरह से बिलकुल ही आख़िरी घड़ी में हुआ था, क्योंकि आख़िरी ट्रेन छूट चुकी थी, शिमला से कालका तक एक स्पेशल ट्रेन तैयार करायी गयी, और कालका से छूटनेवाली गाड़ी पकड़ने के लिये दूसरी गाड़ियाँ रोक दी गयीं।

मैं उनके साथ शिमले से बम्बई तक गया। और वहाँ अगस्त के एक सुन्दर प्रभात में मैंने उन्हें विदाई दी, और वह अरब के समुद्र और सुदूर पश्चिम की तरफ़ बढ़ चले। अगले दो साल तक के लिए मेरे लिए उनके ये अन्तिम दर्शन थे।

३८

दूसरी गोलमेज़-परिषद्

एक अंग्रेज़ पत्रकार ने हाल ही में एक किताब लिखी है और उसका दावा है कि उसने गांधीजी को हिन्दुस्तान में और लन्दन में गोलमेज़-परिषद् में बहुत काफ़ी देखा है। अपनी किताब में उसने लिखा है—

"मुलतान नाम के जहाज़ में जो लीडर बैठे हुए थे वे यह जानते थे कि गांधीजी के ख़िलाफ़ कार्य-समिति के भीतर एक साज़िश की गयी है और वे यह भी जानते थे कि वक़्त आते ही कांग्रेस उन्हें निकाल फेंकेगी। लेकिन कांग्रेस गांधीजी को निकालकर ग़ालिबन अपने आधे के क़रीब मेम्बरों को निकाल देगी। इन आधे मेम्बरों को सर तेजबहादुर सप्रू और जयकर साहब लिबरल-पार्टी में मिला लेना चाहते थे। वे इस बात को कभी नहीं छिपाते थे। उन्हींके शब्दों में गांधीजी का दिमाग़ साफ़ नहीं है, लेकिन अगर कोई मट्ठर दिमाग़वाला नेता अपने साथ दस लाख मट्ठर दिमाग़वाले अनुयायी आपको दे तो उनको अपनी तरफ़ करना अच्छा ही है।"[1]

किया जा रहा था। दोनों जगह अन्याय और अत्याचार की घटनाएँ हुई थीं। आखिरकार तीसरी बार की शिमला-यात्रा में सरकार ने बारडोली के अत्याचारों की जाँच के लिए एक कमिटी मुक़र्रर की और आगे के लिए कांग्रेस को यह छूट दे दी कि जहाँ कहीं ऐसी घटनाएँ हों वहाँ वह उसका प्रतीकार करे। —अनु०

[1] ग्लोर्नी बोल्टन की The Tragedy of Gandhi नामक पुस्तक का यह उदाहरण मैंने उस किताब की एक आलोचना से लिया है, क्योंकि खुद किताब को पढ़ने का मौका अभीतक नहीं मिल पाया है। मुझे उम्मीद है कि मैं ऐसा करके किताब के लेखक या जिन लोगों का नाम उसमें आया है उनके साथ कोई ज्यादती नहीं कर रहा हूँ।

इतना लिखने के बाद मैंने किताब भी पढ़ ली। मि० बोल्टन के बहुत-से

मुझे पता नहीं कि इस उद्धरण में जो बातें कही गयी हैं वे सर तेजबहादुर सप्रू और जयकर साहब या गोलमेज़-कान्फ्रेंस के दूसरे मेम्बरों के विचारों को, जो सन् १९३१ में लन्दन जा रहे थे, कहाँतक प्रकट करती हैं ? लेकिन मुझे यह बात ज़रूर आश्चर्यजनक मालूम होती है कि हिन्दुस्तान की राजनीति से थोड़ी-सी जानकारी रखनेवाला कोई शख़्स, फिर चाहे वह पत्रकार हो या नेता, इस तरह

बयान और उन्होंने जो नतीजे निकाले हैं वे मेरे विचार से बिलकुल बेबुनियाद हैं। इसके अलावा कई वाक़यात भी ग़लत दिये गये हैं। ख़ासकर कमिटी ने दिल्ली-पैक्ट की बातचीत के दौरान में और उसके बाद क्या किया और क्या नहीं किया इस सम्बन्धी बातें। उन्होंने एक अजीब बात यह भी मानली है कि १९३१ में सरदार वल्लभभाई पटेल को कांग्रेस का सभापतित्व और उसका नेतृत्व गांधीजी की प्रतिस्पर्धा में मिला, जबकि सच बात यह है कि पिछले पन्द्रह बरसों में कांग्रेस में और निस्सन्देह देश में भी गांधीजी की हस्ती कांग्रेस के किसी भी अध्यक्ष से कहीं ज्यादा बड़ी हस्ती रही है। वह सभापति बनानेवाले रहे हैं और उनकी बात हमेशा लोगों ने मानी है। उन्होंने खुद बार-बार अध्यक्ष होने से इन्कार किया और यह पसन्द किया कि उनके कुछ साथी और सहायक सदारत करें। मैं तो कांग्रेस का सभापति महज़ उन्हींकी बदौलत हुआ। वास्तव मे वह चुन लिये गये थे, लेकिन उन्होंने अपना नाम वापस लेकर ज़बरदस्ती मुझे चुनवाया। वल्लभभाई का चुनाव भी मामूली तरीके से नहीं आ। हम लोग अभी-अभी जेल से निकले थे। अभी तक कांग्रेस-कमिटियां ग़ैर-कानूनी जमातें थीं। वे मामूली तरीकों पर काम नहीं कर सकती थीं इसलिए कराची-कांग्रेस के लिए सभापति चुनने का काम कार्य-समिति ने अपने ऊपर ले लिया। वल्लभभाई समेत सारी कमिटी ने गांधीजी से प्रार्थना की कि वह सभापतित्व मंजूर कर लें और इस तरह जहां वह कांग्रेस के असली प्रधान हैं वहां पद के द्वारा भी प्रधान होजायँ; खासकर आगामी नाजुक साल के लिए। लेकिन वह राजी नहीं हुए और इस बात पर ज़ोर देते रहे कि वल्लभभाई को सभापतित्व मंजूर कर लेना चाहिए। मुझे याद है कि उस वक़्त उनसे यह कहा गया था कि आप हमेशा मुसोलिनी रहना चाहते हैं और दूसरों को, थोड़े वक्त के लिए, बादशाह यानी बराय-नाम अधिकारी बना देते हैं।

एक छोटे-से फुटनोट में मिस्टर बोल्टन की दूसरी बहुत-सी वाहियात बातों का जवाब देना मुमकिन नहीं हैं। लेकिन एक मामले की बाबत, जो कुछ-कुछ ज़ाती-सा है, मैं ज़रूर कुछ कहना पसन्द करूंगा। उनको इस बात का इत्मीनान-सा हो गया मालूम होता है कि मेरे पिताजी के राजनैतिक जीवन को पलट देनेवाली बात एक यूरोपियन क्लब में उनका मेम्बर न चुना जाना ही है, और एक इसी बात से न सिर्फ़ वह उग्र तरीक़ों के ही हामी हो गये बल्कि अंग्रेज़ों की सोसाइटी से भी वह दूर रहने लग। यह कहानी जो अक्सर बार-बार दुहराई गई है, क़तई ग़लत

की बात कह सकता है ! मैं तो उसे पढ़कर दंग रह गया, क्योंकि, इससे पहले मैंने किसी को इशारे में भी इस तरह की बात कहते हुए नहीं सुना । लेकिन इसमें ऐसी कोई बात नहीं है जो समझ में न आये, क्योंकि तभी से मैं ज़्यादातर जेल में रह रहा हूँ।

तो ये साज़िश करनेवाले शख़्स कौन हैं और इनका मक़सद क्या है ? कभी-कभी यह कहा जाता था कि मैं और कांग्रेस के सभापति सरदार वल्लभभाई पटेल कार्य-समिति के मेम्बरों में सबसे ज़्यादा गरम स्वभाव के हैं, और मेरा ख़याल है, इसलिए, साज़िश के नेताओं में हम लोगों की भी गिनती होगी। लेकिन शायद गांधीजी का वल्लभभाई से ज़्यादा सच्चा भक्त हिन्दुस्तान भर में दूसरा कोई न होगा। अपने काम में वह कितने ही कड़े और मज़बूत क्यों न हों, लेकिन गांधीजी

है । असली घटना की कोई ख़ास अहमियत नहीं, लेकिन उस रहस्य को दूर करने के लिए मै उन्हें यहा दिये देता हूँ । वकालत के शुरू के दिनों में पिताजी को सर जान एज बहुत चाहते थे । वह उन दिनों इलाहाबाद-हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस थे । सर जान ने पिताजी से कहा कि आप इलाहाबाद की यूरोपियन क्लब में शामिल हो जायें । उन्होंने कहा, मैं खुद मेम्बरी के लिए आपके नाम का प्रस्ताव करूँगा । पिताजी ने उनकी इस मेहरबानी के लिए उनका शुक्रिया अदा किया, लेकिन साथ में यह भी कहा कि इसमें बखेडा ज़रूर होगा, क्योंकि बहुतसे अंग्रेज़ मेरे हिन्दुस्तानी होने की वजह से एतराज़ करेंगे और मुमकिन है कि मेरे खिलाफ़ वोट दें । कोई भी मामूली अफ़सर इस तरह मेरा नाम रद करा सकेगा, और ऐसी हालत मे मैं चुनाव के झगड़े मे पड़ना नहीं पसन्द करूँगा । इसपर सर जान ने यह भी कहा कि मै इलाहाबाद क्षेत्र की फौज के कमाण्डर ब्रिग्रेडियर जनरल से आपके नाम का अनुमोदन करा दूँगा। लेकिन अख़ीर में यह खयाल छोड़ दिया गया। मेरे पिताजी का नाम क्लब मे नहीं पेश किया गया, क्योंकि उन्होंने यह बात साफ़ कर दी कि मैं बेइज्जती का खतरा मोल लेने के लिए तैयार नहीं हूँ । इस घटना की बदौलत वह अंग्रेजों के खिलाफ़ होने के बजाय सर जान एज के एहसान-मन्द बन गये और उसके बाद के सालों में ही बहुत-से अंग्रेजो से उनकी दोस्ती तथा मेल-मुहब्बत पैदा हुई। और यह सब तो हुआ १८९० से १८९९ के दरमियान, और पिताजी इसके कोई पच्चीस वर्ष बाद उग्र राजनैतिक और असहयोगी बने। उनकी यह तबदीली एकाएक नहीं हुई, लेकिन पंजाब के फौजी कानून ने इस स्थिति को जल्दी ला दिया। और ऐन मौक़े पर पड़े गांधीजी के असर ने तो हालत बहुत ही बदल दी। इतने पर भी अंग्रेजों से मिलना-जुलना छोड़ने को— उनसे संबंध छोड़ने का उनका कोई इरादा नहीं था। लेकिन जहां ज्यादातर अंग्रेज़ अफ़सर हों वहां असहयोग और सविनय-भंग के कारण लाज़िमी तौर पर मिलना-जुलना बन्द हो जाता है ।

के आदर्शों, उनकी नीति और उनके व्यक्तित्व के प्रति उनकी बड़ी भक्ति है। मैं ज़रूर इस बात का दावा नहीं कर सकता कि मैंने भी उसी तरह से इन आदर्शों को माना है, लेकिन मुझे बहुत नज़दीक रहकर गांधीजी के साथ काम करने का सौभाग्य मिला है। मेरे लिए उनके ख़िलाफ़ साज़िश करने का ख़याल ही कमीना है। सच बात तो यह है कि कार्य-समिति के सभी मेम्बरों के बारे में यही बात सही है। वह कमिटी असल में गांधीजी की बनाई हुई थी। अपने कुछ साथियों के सलाह-मशविरे से उन्होंने इस कमिटी को नामज़द किया था। उसके चुनाव की तो सिर्फ़ रस्म पूरी की गयी थी। कमिटी के ज़्यादातर मेम्बर तो उसके स्तम्भ-रूप थे—ऐसे जो उसमें बरसों से रह रहे थे; क़रीब-क़रीब उसके हमेशा मेम्बर ख़याल किये जाते थे। उनमें राजनैतिक मतभेद था, लेकिन वह स्वभाव व दृष्टिकोण का मतभेद था; और सालों तक एकसाथ और कन्धे-से-कन्धा मिलाकर काम करते-करते तथा एकसे ख़तरों का सामना करते हुए वे एक-दूसरे से हिलमिल गये थे। उनमें आपस में दोस्ती, भाईचारा और एक-दूसरे के लिए आदर पैदा हो गया था। वे 'संयुक्त मण्डल' न होकर एक इकाई, एक शरीर, थे और उनमें से किसी की बाबत यह सोचा तक नहीं जा सकता कि वह दूसरों के ख़िलाफ़ साज़िश करेगा। कमिटी में गांधीजी की चलती थी और सब लोग नेतृत्व के लिए उन्हीं की तरफ़ देखते थे। कई सालों से यही होता आ रहा था और सन् १९३० और उसके बाद १९३१ में हमारी लड़ाई को जो बड़ी कामयाबी मिली थी उसमें तो यह बात और भी ज़्यादह बढ़ गयी थी। कार्य-समिति के गरम ख़याल के मेम्बरों को उन्हें निकालने की कोशिश करने में क्या मक़सद हो सकता था? शायद यह सोचा जाता है कि उन्हें जल्दी समझौता करने के लिए राज़ी हो जानेवाला और इसलिए एक क़िस्म का बोझा समझा जाता हो। लेकिन उनके बिना लड़ाई का क्या होता? असहयोग और सत्याग्रह का क्या होता? वह तो इस जीवित आन्दोलन के अंग थे। बल्कि सच बात तो यह है कि वह ख़ुद ही आन्दोलन थे। जहाँतक उस लड़ाई से ताल्लुक़ है, सब-कुछ उन्हींपर निर्भर था। यह ठीक है कि यह राष्ट्रीय लड़ाई उनकी ही पैदा की हुई नहीं थी, न वह किसी एक शख़्स पर निर्भर ही थी। उसकी जड़ें इससे ज़्यादा गहरी थीं। लेकिन लड़ाई का वह ख़ास पहलू, जिसकी निशानी सविनय-भंग थी, ख़ासतौर पर गांधीजी पर ही अवलम्बित था। उनके अलग होने के मानी थे इस आन्दोलन को बन्द करना और नयी नींव पर नये सिरे से इमारत खड़ी करना। यह काम किसी भी वक़्त काफ़ी मुश्किल साबित होता; लेकिन १९३१ में तो कोई उसका ख़याल भी नहीं कर सकता था।

यह ख़याल बड़ा ही मज़ेदार है कि कुछ लोगों की राय में हम कुछ लोग १९३१ में गांधीजी को कांग्रेस से निकालने की कोशिश कर रहे थे। जब उनको ज़रा-सा इशारा करने से ही काम चल सकता था, तो फिर हमें उनके ख़िलाफ़ साज़िश

करने की क्या ज़रूरत थी ? ज्योंही गांधीजी कभी ऐसी बात कहते कि मैं कांग्रेस से अलग होना चाहता हूँ त्योंही तमाम कार्य-समिति और सारे मुल्क में तहलका मच जाता था। वह हमारी लड़ाई के एक ऐसे अंग बन गये थे कि हम इस ख़याल को भी बरदाश्त नहीं कर सकते थे कि वह हमसे अलग हो जायँ। बल्कि हम लोग तो उन्हें लन्दन भेजने में भी हिचकिचाते थे, क्योंकि उनकी ग़ैरहाज़िरी में हिन्दुस्तान के काम का तमाम बोझ हमारे ऊपर आकर पड़ता था, और यह बात ऐसी न थी जिसको हम पसन्द करते। हम लोग उनके कन्धों पर तमाम बोझ डाल देने के आदी हो गये थे। कार्य-समिति के मेम्बरों को ही नहीं, उससे बाहर के बहुत से लोगों को भी जो बन्धन गांधीजी से बाँधे हुए थे, वे ऐसे थे कि उनसे अलग होकर थोड़े वक़्त के लिए कुछ फ़ायदा उठाने के बजाय वे उनके साथ रहकर नाकामयाब होना ज़्यादा पसन्द करते थे।

गांधीजी का दिमाग़ साफ़ है या नहीं, इसका फ़ैसला तो हम अपने लिबरल दोस्तों के लिए ही छोड़ देते हैं। हाँ, यह बात बिलकुल सच है कि कभी-कभी उनकी राजनीति बहुत आध्यात्मिक होती है जो मुश्किल से समझ में आती है। लेकिन उन्होंने यह दिखा दिया है कि वह कर्मवीर हैं, उनमें आश्चर्यजनक साहस है और वह एक ऐसे शख़्स हैं जो अक्सर अपनी ज़िम्मेदारी को पूरा करके दिखा सकते हैं। और अगर 'दिमाग़ के साफ़ न होने' से इतने व्यावहारिक नतीजे निकलते हैं, तो शायद वह उस व्यावहारिक राजनीति के मुक़ाबले बुरा साबित न होगा, जिसकी शुरुआत और जिसका ख़ात्मा स्टडी-रूमों और ऊँचे हलक़ों में ही हो जाता है। यह सच है कि उनके करोड़ों अनुयायियों का दिमाग़ साफ़ नहीं था। वे राजनैतिक और शासन-विधानों की बाबत कुछ नहीं जानते। वे तो सिर्फ़ अपनी इन्सानी ज़रूरतों, खाना, घर, कपड़ा और ज़मीन की बातें ही सोच सकते हैं।

मुझे यह बात हमेशा ही अचम्भे की मालूम हुई है कि मानव प्रकृति को देखने की विद्या को भली-भाँति सीखे हुए नामी विलायती पत्रकार किस तरह हिन्दुस्तान के मामलों में ग़लती कर जाते हैं। क्या यह उनके बचपन की उस अमिट धारणा की वजह से है कि 'पूर्व तो बिलकुल दूसरी चीज़ है। उसको आप मामूली पैमानों से नहीं नाप सकते ?' या, अंग्रेज़ों के लिए, यह साम्राज्य का वह पीलिया रोग है, जो उनकी आँखों को ख़राब कर देता है ? कोई चीज़ कैसी भी अनहोनी क्यों न हो, उसपर वे क़रीब-क़रीब फ़ौरन ही इत्मीनान कर लेंगे, बिना किसी तरह का अचम्भा किये, क्योंकि वे समझते हैं कि रहस्य-भरे पूर्व में हर बात मुमकिन हो सकती है। कभी-कभी वे ऐसी किताबें छापते हैं, जिनमें काफ़ी योग्यतापूर्ण निरीक्षण होता है और तीव्र अवलोकन-शक्ति के नमूने भी, लेकिन बीच-बीच में विलक्षण ग़लतियाँ भी होती हैं।

मुझे याद है कि जब गांधीजी १९३१ में यूरप रवाना हुए तब, उसके बाद

फ़ौरन ही, मैंने पेरिस के एक प्रसिद्ध संवाददाता का एक लेख पढ़ा था। इन दिनों वह लन्दन के एक अख़बार का संवाददाता था। उसका वह लेख हिन्दुस्तान के बारे में था। उस लेख में एक ऐसी घटना का ज़िक्र था जो उसके कहने के मुताबिक़ १६२१ में उस वक़्त हुई जब असहयोग के दौरान में प्रिंस ऑफ़ वेल्स ने यहाँ दौरा किया था। उसमें कहा गया था कि किसी जगह (शायद वह दिल्ली थी), महात्मा गांधी एकाएक, जैसे नाटक में होता है, बिना इत्तिला के ही, युवराज के सामने जा पहुँचे और उन्होंने अपने घुटने टेककर युवराज के पैर पकड़ लिये और ढाड़ मार-मारकर रोते हुए उनसे विनती की कि इस अभागे देश को शान्ति दीजिए। हम किसीने, गांधीजी ने भी, यह मज़ेदार कहानी कभी नहीं सुनी। इसलिए मैंने उस पत्रकार को एक ख़त लिखा।[1] उसने अफ़सोस ज़ाहिर किया, लेकिन साथ में यह भी लिखा कि मैंने यह कहानी बड़े विश्वस्त सूत्र से सुनी। जिस बात पर मुझे आश्चर्य हुआ वह यह थी कि उसने बिना किसी तरह की जाँच की कोशिश किये एक ऐसी कहानी पर इत्मीनान कर लिया जो ज़ाहिरा तौर पर बिलकुल ग़ैरमुमकिन थी और जिसका कोई भी शख़्स, जो गांधीजी, कांग्रेस या हिन्दुस्तान के बारे में कुछ भी जानता था, इत्मीनान नहीं कर सकता था। बदक़िस्मती से यह बात सही है कि हिन्दुस्तान में बहुत-से ऐसे अंग्रेज़ हैं जो यहाँ बहुत दिनों तक रहने के बाद भी कांग्रेस या गांधीजी या मुल्क की बाबत कुछ नहीं जानते। कहानी क़तई इत्मीनान के क़ाबिल नहीं थी। वह बिलकुल बेहूदा थी, उतनी ही बेहूदा जितनी यह कहानी होती कि केण्टरबरी के बड़े पादरी साहब एकाएक मुसोलिनी के सामने जा पहुँचे और सिर के बल खड़े होकर, हवा में अपने पैर हिलाकर, उनको सलाम करने लगे।

हाल ही में एक अख़बार में जो रिपोर्ट छपी है उसमें एक दूसरी क़िस्म की कहानी दी हुई है। उसमें कहा गया है कि गांधीजी के पास अपार दौलत है, जो कई करोड़ होगी। वह उनके दोस्तों के पास छिपी रक्खी है। कांग्रेस उस रुपये को हड़पना चाहती है। कांग्रेस को डर है कि अगर गांधीजी कांग्रेस से अलहदा हो जायँगे तो वह दौलत उसके हाथ से निकल जायगी। यह कहानी भी सरासर बेहूदा है, क्योंकि गांधीजी कभी किसी फ़ण्ड को न अपने पास रखते हैं और न छिपाकर रखते हैं। जो कुछ रुपया वह इकट्ठा करते हैं, उसे सार्वजनिक संस्थाओं को दे देते हैं। ठीक-ठीक हिसाब रखने के मामले में उनमें बनियों की-सी सहज-बुद्धि है, और उन्होंने जितने चन्दे किये उनको खुलेआम आडिट कराया है।

कांग्रेस ने सन् १६२१ में एक करोड़ का जो मशहूर चन्दा किया था, यह

---

[1] यह पत्रकार हैं 'डेली हेरल्ड' के प्रतिनिधि श्री स्लोकोम्ब। गांधीजी जब विलायत गये तब फ़्रान्स में वह उनसे मिले थे और उन्होंने गांधी से क़ुबूल किया था कि यह बात बिलकुल मनगढ़न्त थी और उसके लिए माफ़ी भी मांगी थी। अनु०

अफ़वाह शायद उसीकी कहानी पर आधार रखती है। यह रक़म वैसे तो बहुत बड़ी मालूम होती है, लेकिन अगर हिन्दुस्तान-भर पर फैलायी जाय तो ज़्यादा नहीं मालूम होगी। इस रक़म को इस्तेमाल भी विश्वविद्यालय और स्कूल क़ायम करने, घरेलू धन्धों को तरक़्क़ी देने और ख़ासतौर पर खद्दर की तरक़्क़ी के लिए, अछूतपन मिटाने के कार्यों में तथा ऐसे ही दूसरी तरह के रचनात्मक कार्यों में किया गया था। उसमें से काफ़ी तादाद ख़ास-ख़ास स्कीमों के लिए तय कर दी गयी थी। फ़ण्ड अबतक मौजूद है और जिन ख़ास कार्यों के लिए वे तय किये गये थे उन्हींमें लगाये जा रहे हैं। बाक़ी जो रुपया इकट्ठा हुआ था, वह स्थानीय कमिटियों के पास छोड़ दिया गया था और वह कांग्रेस के संगठन के काम में तथा राजनैतिक कामों में ख़र्च किया गया। असहयोग-आन्दोलन का काम इसी फ़ण्ड से चला था और कुछ साल बाद तक कांग्रेस का काम उसीसे चलता रहा। गांधीजी ने और मुल्क की ग़रीबी ने हमें यह सिखा दिया है कि बहुत थोड़े-से रुपयों से भी अपना राजनैतिक आन्दोलन कैसे चलाना चाहिए। हमारा ज़्यादातर काम तो लोगों ने अपनी ख़ुशी से बिना कुछ लिये ही किया है। और जिस किसीको कुछ देना भी पड़ा है, तो सिर्फ़ उतना ही जितना पेट भरने को काफ़ी हो। हमारे अच्छे-से-अच्छे ऐसे कार्यकर्त्ताओं को, जो विश्व-विद्यालयों के ग्रेजुएट हैं और जिन्हें अपने परिवार का पालन करना पड़ता है, जो तनख़्वाहें दी गयीं वे उस भत्ते से भी कम हैं जो इंग्लैण्ड में बेकारों को दिया जाता है। पिछले पन्द्रह सालों के दौरान में कांग्रेस का आन्दोलन जितने कम रुपये से चला है, उतने कम रुपये से बड़े पैमाने पर और कोई राजनैतिक या मज़दूरों का आन्दोलन, मुझे शक है कि, किसी भी मुल्क में शायद ही चलाया गया हो। और कांग्रेस के तमाम फ़ण्ड और उसका तमाम हिसाब खुलेआम हर साल आडिट होता रहा है, उनका कोई हिस्सा गुप्त नहीं है। हाँ, उन दिनों की बात बिलकुल दूसरी है जब सत्याग्रह की लड़ाई चल रही थी और कांग्रेस ग़ैर-क़ानूनी जमात थी।

गांधीजी गोलमेज़-परिषद् में शामिल होने के लिए कांग्रेस के एक-मात्र प्रतिनिधि की हैसियत से लन्दन गये थे। बड़ी लम्बी बहस के बाद हम लोगों ने यही तय किया था कि किसी दूसरे प्रतिनिधि की ज़रूरत नहीं। यह बात कुछ हद तक तो इसलिए की गयी कि हम यह चाहते थे कि हम ऐसे नाज़ुक वक़्त में अपने सब अच्छे आदमियों को हिन्दुस्तान ही रक्खें। उन दिनों हालात को बहुत होशियारी के साथ सम्हालते रहने की सख़्त ज़रूरत थी। हम लोग यह महसूस करते थे कि लन्दन में गोलमेज़-कान्फ्रेंस होने के बाद बावजूद आकर्षण का केन्द्र तो हिन्दुस्तान में ही था और हिन्दुस्तान में जो कुछ होगा लन्दन में उसकी प्रतिध्वनि ज़रूर होगी। हम चाहते थे कि अगर मुल्क में कोई गड़बड़ हो तो हम उसे देखें और अपने संगठन को ठीक हालत में बनाये रक्खें। लेकिन सिर्फ़ एक प्रतिनिधि भेजने का हमारा असली कारण यही न था। अगर हम वैसा

करना ज़रूरी और मुनासिब समझते तो हम बिलाशक दूसरे को भी भेज सकते थे लेकिन हम लोगों ने जान-बूझकर ऐसा नहीं किया।

हम गोलमेज़-कांफ्रेंस में इसलिए शामिल नहीं हो रहे थे कि हम विधान-सम्बन्धी छोटी मोटी बातों पर ऐसी बातें और बहस करें जिनका कभी ख़ात्मा ही न हो। उस अवस्था में हमें इन तफ़सीलों में कोई दिलचस्पी नहीं थी। उनपर तो तभी ग़ौर किया जा सकता था जब कि ख़ास ख़ास बुनियादी मामलों में ब्रिटिश-सरकार के साथ हमारा कोई समझौता हो जाता। असली सवाल तो यह था कि लोकतन्त्रीय हिन्दुस्तान को कितनी ताक़त सौंपी जाती है। यह बात तय हो जाने के बाद राज़ीनामे का मसविदा बनाने और उसकी तफ़सीलें तय करने का काम तो कोई भी वकील कर सकता था। इन मूल बातों पर कांग्रेस की स्थिति बहुत साफ़ और सीधी थी और उसपर बहस करने का भी ऐसा ज़्यादा मौक़ा न था। हम लोगों को यह मालूम होता था कि हम लोगों के लिए यही गौरवपूर्ण रास्ता है कि हमारा सिर्फ़ एक ही प्रतिनिधि जाय और वह प्रतिनिधि हमारा लीडर हो। वह वहाँ जाकर हमारी स्थिति साफ़ कर दे। यह बतावे कि हमारी स्थिति कितनी युक्तिसंगत है और किस तरह इसको मंजूर किये बिना गति नहीं है। अगर हो सके तो ब्रिटिश-सरकार को इस बात के लिए राज़ी करले कि वह कांग्रेस की बात मान ले। हम जानते थे कि यह बात तो बहुत मुश्किल है, और उस वक़्त जैसी हालत थी उसको देखते हुए तो वह बिलकुल ही सम्भव नहीं थी; लेकिन हमारे पास भी तो इसके सिवा कोई चारा न था। हम अपनी उस स्थिति को नहीं छोड़ सकते थे। न हम उन उसूलों और आदर्शों को ही छोड़ सकते थे जिनसे हम बँधे हुए थे और जिनमें हमें पूर्ण विश्वास था। अगर हमारी तक़दीर सिकन्दर हो और इन बुनियादी बातों में राज़ीनामे की कोई सूरत निकल आती तो बाक़ी बातें अपने-आप आसानी से तय हो जातीं। बल्कि सच बात तो यह है कि हम लोगों में आपस में यह तय हो गया था कि अगर किसी तरह से ऐसा राज़ीनामा हो जाय तो गांधीजी हम कुछ को या कार्य-समिति के तमाम मेम्बरों को फ़ौरन लन्दन बुला लेंगे, जिससे कि हम वहाँ जाकर समझौते की तफ़सील तय करने का काम कर सकें। हम लोगों को वहाँ जाने के लिए तैयार रहना था और ज़रूरत पड़ती तो हम लोग हवाई जहाज़ों में उड़कर भी जाते। इस तरह हम बुलाये जाने पर दस दिन के अन्दर उनके पास पहुँच सकते थे।

लेकिन अगर बुनियादी बातों में शुरू में कोई समझौता नहीं होता, तो आगे और तफ़सील में, समझौते की बातें करने का सवाल ही नहीं पैदा होता। न कांग्रेस के दूसरे प्रतिनिधियों को गोलमेज़-कान्फ्रेंस में जाने की कोई ज़रूरत पड़ती। इसीलिए हमने सिर्फ़ गांधीजी को ही वहाँ भेजना तय किया। कार्य-समिति की एक और सदस्य श्रीमती सरोजिनी नायडू भी गोलमेज़-कांफ्रेंस में शामिल हुईं, लेकिन वह वहाँ कांग्रेस की प्रतिनिधि होकर नहीं गयी थीं। उनको तो वहाँ

हिन्दुस्तानी स्त्रियों के प्रतिनिधि-स्वरूप बुलाया गया था और कार्य-समिति ने उन्हें इजाज़त दी थी कि वह इस हैसियत से उस कान्फ्रेंस में शामिल हो सकती हैं।

लेकिन ब्रिटिश-सरकार का इस तरह का कोई इरादा न था कि इस मामले में वह हमारी मर्ज़ी के मुताबिक काम करे। उसकी कार्य-पद्धति तो यह थी कि परिषद् गौण और बेमतलब की छोटी-छोटी बातों पर चर्चा करके थक जाय। तबतक मूल और असली सवालों पर विचार करने का काम टलता रहे। जब कभी बड़े-बड़े सवालों पर ग़ौर भी हुआ तब सरकार ने चुप्पी साध ली। उसने हाँ या ना करने से साफ़ इन्कार कर दिया और सिर्फ़ यह वादा किया कि सरकार अपनी राय बाद को अच्छी तरह सोच-विचार कर देगी। असल में उसके पास तुरप का पत्ता तो था साम्प्रदायिक सवाल, और उसका उसने पूरा-पूरा इस्तेमाल किया। कान्फ्रेंस में इसी सवाल का बोलबाला था।

कान्फ्रेंस के ज़्यादातर हिन्दुस्तानी मेम्बर सरकार की इन चालों के जाल में फँस गये। ज़्यादा तो राज़ी-ख़ुशी से और कुछ थोड़े-से मजबूरी से। कान्फ्रेंस क्या थी, भानमती का पिटारा था। उसमें शायद ही कोई ऐसा हो जो अपने अलावा किसी दूसरे का प्रतिनिधि हो। कुछ आदमी क़ाबिल थे और मुल्क में उनकी इज़्ज़त भी थी, लेकिन बाक़ी बहुत-से लोगों की बाबत यह बात भी नहीं कही जा सकती थी। कुल मिलाकर राजनैतिक और सामाजिक दृष्टिकोण से वे हिन्दुस्तान में राजनैतिक उन्नति के सबसे ज़्यादा विरोधी दलों के प्रतिनिधि थे। ये लोग इतने फिसड्डी और प्रगति-विरोधी थे कि हिन्दुस्तान के लिबरल, जो हिन्दुस्तान में बहुत ही माडरेट और फूँक-फूँककर क़दम रखनेवाले माने जाते हैं, इनकी जमात में वही प्रगति के बड़े भारी हामी बनकर चमके। ये लोग हिन्दुस्तान में ऐसे स्थापित स्वार्थ रखनेवालों के प्रतिनिधि थे जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद से बँधे हुए थे और तरक़्क़ी और रखवाली के लिए उसीका भरोसा रखते थे। सबसे ज़्यादा मशहूर प्रतिनिधि तो साम्प्रदायिक झगड़ों के सिलसिले में जो 'छोटी' और 'बड़ी' जातियाँ थीं उनके थे। ये टोलियाँ उन उच्च वर्गवालों की थीं जो कुछ भी मानने को तैयार न थे और जो आपस में कभी मिल ही नहीं सकते थे। राजनैतिक दृष्टि से वे हर क़िस्म की प्रगति के एकदम विरोधी थे और उनकी दिलचस्पी केवल एक बात में थी कि किसी तरह अपने फ़िरक़े के लिए कुछ फ़ायदे की बात हासिल कर लें, फिर चाहे ऐसा करने में हमें अपनी राजनैतिक प्रगति को भी छोड़ना पड़े। बल्कि सच बात तो यह है कि उन्होंने खुल्लम-खुल्ला यह ऐलान कर दिया था कि जबतक उनकी साम्प्रदायिक माँगें पूरी नहीं की जायँगी, तबतक वे राजनैतिक आज़ादी लेने को राज़ी न होंगे। यह एक असाधारण दृश्य था और उससे हमें बड़े दुःख के साथ यह बात साफ़-साफ़ दिखायी देती थी कि एक ग़ुलाम क़ौम किस हद तक गिर सकती है और वह साम्राज्यवादियों के खेल में किस तरह शतरंज का मोहरा बन सकती है। यह

सही था। हाईनेसों, लार्डों, सरों और दूसरे बड़े-बड़े उपाधिधारी लोगों की उस भीड़ की बाबत यह नहीं कहा जा सकता कि वह हिन्दुस्तान के लोगों के प्रतिनिधि हैं। गोलमेज़-कान्फ्रेंस के मेम्बर ब्रिटिश-सरकार के नामज़द थे और अपनी दृष्टि से सरकार ने जो चुनाव किया था वह बहुत अच्छा किया था। फिर भी महज़ यह बात कि ब्रिटिश-अधिकारी हम लोगों का ऐसा इस्तेमाल कर सकते हैं, यह दिखाती है कि हम लोगों में कितनी कमज़ोरियाँ हैं और हम लोग कैसी अजीब आसानी के साथ असली बातों से हटाकर एक-दूसरे की कोशिशों को बेकार करने के काम में लगाये जा सकते हैं। हमारे उच्चवर्ग के लोग अभीतक हमारे साम्राज्यवादी शासकों की विचार-धारा के असर में थे और वे उन्हींका खेल खेलते थे। क्या यह इसलिए था कि वे उनकी चालों को समझ नहीं पाते थे ? या वे उसके असली मानों को समझते हुए, जानबूझकर उसे इसलिए मंजूर कर लेते थे कि उन्हें हिन्दुस्तान में आज़ादी और लोकतन्त्र क़ायम होने से डर लगता था ?

यह तो ठीक ही था कि साम्राज्यवादी, मांडलिकवादी, महाजन, व्यवसायी, और धार्मिक तथा साम्प्रदायिक लोगों के स्थापित स्वार्थों के इस समाज में ब्रिटिश भारतीय प्रतिनिधि-मंडल का नेतृत्व हमेशा के मुताबिक़ सर आग़ाख़ाँ के हाथ में रहे; क्योंकि वह कुछ हद तक इन सब स्वार्थों से स्वयं संपन्न थे। कोई एक पुश्त से ज़्यादा ब्रिटिश साम्राज्यवाद से और ब्रिटिश शासक-श्रेणी से उनका बहुत नज़दीकी सम्बन्ध रहा है। वह ज़्यादातर इंग्लैंड में ही रहते हैं। इसलिए वह हमारे शासकों के स्वार्थों और उनके दृष्टिकोण को पूरी तरह से समझ सकते हैं और उनका प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। उस गोलमेज़-कान्फ्रेंस में साम्राज्यवादी इंग्लैण्ड के वह बहुत योग्य प्रतिनिधि हो सकते थे। लेकिन आश्चर्य तो यह था कि वह हिन्दुस्तान के प्रतिनिधि समझे जाते थे !

कान्फ्रेंस में हमारे ख़िलाफ़ पलड़ा बुरी तरह से भारी था, और यद्यपि हमें उसमें कभी कोई उम्मीद न थी फिर भी उसकी कार्रवाइयों को पढ़-पढ़कर हमें हैरत होती थी और दिन-दिन उससे हमारा जी ऊबता जाता था। हमने देखा कि राष्ट्रीय और आर्थिक समस्याओं की सतह को खरोचने की कैसी दयनीय और वाहियात ढंग से मामूली कोशिश की जा रही है ! कैसे-कैसे पैक्ट और कैसी-कैसी साज़िशें हो रही हैं ! कैसी-कैसी चालें चली जा रही हैं ! हमारे ही कुछ देश-भाई ब्रिटिश अनुदार दल के सबसे ज़्यादा प्रतिगामी लोगों से मिल गये हैं। टुच्चे-टुच्चे मामलों पर बातें चलती थीं और सो भी ख़त्म ही न होती थीं। जो असली बातें हैं उनको जानबूझकर टाला जा रहा है। ये प्रतिनिधि बड़े-बड़े स्थापित स्वार्थों के और ख़ासकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हाथ की कठपुतली बने हुए हैं। वे कभी तो आपस में लड़ते-झगड़ते हैं और कभी एक-साथ बैठकर दावतें खाते तथा एक-दूसरे की तारीफ़ करते हैं। शुरू से लेकर आख़िर तक सब मामला नौकरियों का था। छोटे ओहदे, बड़े ओहदे, हिन्दुओं के लिए कितने

नौकरियाँ और कुर्सियाँ तथा सिक्खों और मुसलमानों के लिए कितनी ? और एंग्लो-इंडियनों तथा यूरोपियनों के लिये कितनी ? लेकिन ये सब ओहदे ऊँचे दरजे के अमीर लोगों के लिए थे, जन-साधारण के लिए उनमें कुछ न था। अवसर-वादिता का दौर-दौरा था और ऐसा मालूम पड़ता था कि नये शासन-विधान में टुकड़े-रूपी जो शिकार था उसकी फ़िराक़ में भिन्न-भिन्न गिरोह भूखे भेड़ियों की तरह घात लगाये फिरते थे। उनकी आज़ादी की कल्पना ने भी तो बड़े पैमाने पर नौकरियाँ तलाश करने का रूप धारण कर लिया था। इसे ये लोग "भारतीय-करण" के नाम से पुकारते थे। फ़ौज में, मुल्की नौकरियों में और दूसरी जगहों में हिन्दुस्तानियों को ज़्यादा नौकरियाँ मिलें यही इनकी पुकार थी। कोई यह नहीं सोचता था कि हिन्दुस्तान के लिए आज़ादी की, असली स्वतन्त्रता की, भारत को लोकतन्त्री सत्ता सौंपे जाने की, हिन्दुस्तान के लोगों के सामने जो भारी और ज़रूरी आर्थिक समस्याएँ मौजूद हैं उनके हल करने की भी कोई ज़रूरत है ? क्या इसी के लिए हिन्दुस्तान में इतनी मर्दानगी से लड़ाई लड़ी गयी थी ? क्या हम सुन्दर आदर्शवाद और त्याग की दुर्लभ मलय-समीर को छोड़कर इस गन्दी हवा को ग्रहण करेंगे ?

उस राजसी महल में और इतने विभिन्न लोगों की भीड़ में गांधीजी बिलकुल अकेले मालूम होते थे। उनकी पोशाक से, या उनकी कोई पोशाक ही न होने की वजह से, बाक़ी सब लोगों में उन्हें आसानी से पहचाना जा सकता था। लेकिन उनके आसपास अच्छे सजे-धजे लोगों की जो भीड़ बैठी हुई थी उसके विचार और दृष्टि-कोण में तथा गांधीजी के विचारों और उनके दृष्टि-बिन्दु में और भी ज़्यादा फ़र्क़ था। उस कान्फ्रेंस में उनकी स्थिति बहुत ही मुश्किल थी। इतनी दूर बैठे-बैठे हम इस बात पर अचरज करते थे कि वह इसे कैसे बरदाश्त कर रहे हैं ? लेकिन आश्चर्य-जनक धीरज के साथ वह अपना काम करते रहे, और समझौते की कोई-न-कोई बुनियाद ढूँढ़ने के लिए उन्होंने कई कोशिशें कीं। एक विलक्षण बात उन्होंने ऐसी की जिसने फ़ौरन यह दिखला दिया कि किस तरह साम्प्रदायिक भाव ने दरअसल राजनैतिक प्रतिगामिता को अपनी ओट में छिपा रखा था। मुसलमान प्रतिनिधियों की तरफ़ से कान्फ्रेंस में जो साम्प्रदायिक माँगें पेश की गई थीं उनको गांधीजी पसन्द नहीं करते थे। उनका ख़याल था, और उनके साथी कुछ राष्ट्रीय विचार के मुसलमानों का भी यही ख़याल था, कि इनमें से कुछ माँगें तो आज़ादी और लोकतन्त्र के रास्ते में रोड़ा अटकानेवाली हैं। लेकिन फिर भी उन्होंने कहा कि मैं इन सब माँगों को 'बिना किसी एतराज़ के मानने को तैयार हूँ, बशर्ते कि मुसलमान प्रतिनिधि राजनैतिक माँग यानी आज़ादी के मामले में मेरा तथा कांग्रेस का साथ दें।'

उनका यह प्रस्ताव ख़ुद अपनी तरफ़ से था; क्योंकि उनकी जैसी हालत थी, उसमें कांग्रेस को वह किसी बात से नहीं बाँध सकते थे। लेकिन उन्होंने वादा किया

कि मैं कांग्रेस में इस बात के लिए ज़ोर दूँगा कि ये माँगें मान ली जायँ। और कोई भी शख़्स जो कांग्रेस में उनके असर को जानता था, इस बात में किसी तरह का शक नहीं कर सकता था कि वह कांग्रेस से उन मांगों को मनवाने में कामयाबी हासिल कर सकते थे। लेकिन मुसलमानों ने गांधीजी के इस प्रस्ताव को मंज़ूर नहीं किया। सचमुच इस बात की कल्पना करना ज़रा मुश्किल है कि आग़ाख़ाँ साहब हिन्दुस्तान की आज़ादी के हामी हो जायँगे। लेकिन इससे इतनी बात साफ़-साफ़ दिखायी दे गयी कि असली झगड़ा साम्प्रदायिक नहीं था, यद्यपि कान्फ्रेंस में साम्प्रदायिक प्रश्न की ही धूम थी। असल में तो राजनैतिक प्रतिगामिता ही सब तरह की तरक़्क़ी के रास्ते को रोक रही थी और वही साम्प्रदायिक प्रश्न की आड़ में छिपी हुई टट्टी की ओट से शिकार करती रही। कान्फ्रेंस के लिए अपने नामज़द प्रतिनिधियों का चुनाव बड़ी चालाकी से करके ब्रिटिश-सरकार ने इन उन्नति-विरोधी लोगों को वहां जमा किया था और कान्फ्रेंस की कार्रवाई की गति-विधि अपने हाथ में रखकर उसने साम्प्रदायिक सवाल को मुख्य और एक ऐसा सवाल बना दिया था जिस पर आपस में कभी न मिल सकनेवाले वहाँ पर इकट्ठे हुए लोगों में कभी कोई समझौता हो ही नहीं सकता था।

इस कोशिश में ब्रिटिश-सरकार को कामयाबी मिली और इस कामयाबी से उसने यह साबित कर दिया कि अभीतक उसमें न सिर्फ़ अपने साम्राज्य को क़ायम रखने की बाहरी ताक़त ही है, बल्कि कुछ दिनों तक और साम्राज्यवादी परम्परा को चला ले जाने के लिए चालाकी और कूटनीति भी उसके पास है। हिन्दुस्तान के लोग नाकामयाब रहे, यद्यपि गोलमेज़-कान्फ्रेंस न तो उनकी प्रतिनिधि ही थी, और न उसकी ताक़त से हिन्दुस्तान के लोगों की ताक़त का अन्दाज़ा ही लगाया जा सकता था। उनके नाकामयाब होने की ख़ास वजह यह थी कि उनके पास उनके उद्देश्य के पीछे कोई विचार-धारा न थी, इसलिए उन्हें आसानी से अपनी असली जगह से हटाया तथा गुमराह किया जा सकता था। वे इसलिए असफल हुए कि वे अपने में इतनी ताक़त नहीं महसूस करते थे कि वे उन स्थापित स्वार्थ रखनेवालों को धता बता दें जो उनकी तरक़्क़ी के लिए भार-स्वरूप बने हुए थे। वे असफल रहे, क्योंकि उनमें मज़हबीपन की अति थी और उनके साम्प्रदायिक भाव आसानी से भड़काये जा सकते थे। थोड़े में वे इसलिए असफल हुए कि अभी तक इतने आगे नहीं बढ़े हुए थे, न इतने मज़बूत ही थे, कि कामयाब होते।

असल में इस गोलमेज़-कान्फ्रेंस में तो सफलता या विफलता का सवाल ही न था। उससे तो कोई उम्मीद ही नहीं की जा सकती थी। फिर भी उसमें पहले से कुछ फ़र्क़ था। पहली गोलमेज़-कान्फ्रेंस थी तो अपने क़िस्म की सबसे पहली कान्फ्रेंस; लेकिन हिन्दुस्तान में बहुत ही कम लोगों का ख़याल उसकी तरफ़ गया, और बाहर भी यही बात रही; क्योंकि उन दिनों सब लोगों का ध्यान सविनय-अंग की लड़ाई की तरफ़ था। ब्रिटिश सरकार द्वारा जो नामज़द उम्मीदवार

१९३० में कान्फ्रेंस में शामिल होने गये, अक्सर उनके साथ-साथ काले झण्डे निकाले गये और विरोधी नारे लगाये गये। लेकिन १९३१ में सब बातें बदल गयी थीं। क्यों? इसलिए कि गांधीजी कांग्रेस के प्रतिनिधि की हैसियतसे, जिसके पीछे करोड़ों लोग चलते हैं, उसमें शामिल हुए; इस बात से कान्फ्रेंस की शान जम गयी और हिन्दुस्तान ने दिलचस्पी के साथ रोज़-बरोज़ उसकी कार्रवाइयों पर ध्यान दिया। और वजह जो कुछ भी हो, यह ज़रूर है कि इस कान्फ्रेंस में जितनी असफलता हुई उससे हिन्दुस्तान की बदनामी हुई। अब हम लोगों की समझ में यह बात साफ़-साफ़ आ गयी कि ब्रिटिश सरकार गांधीजी के उसमें शामिल होने को इतना महत्त्व क्यों देती थी।

वह कान्फ्रेंस, जहाँ साज़िशों, मौक़ापरस्ती और जाल साज़ियों का बोलबाला था, हिन्दुस्तान की विफलता नहीं कहला सकती। वह तो बनायी ही ऐसी गयी थी, जिससे असफल होती। उसकी नाकामयाबी का क़ुसूर हिन्दुस्तान के लोगों के मत्थे नहीं मढ़ा जा सकता। लेकिन उसे इस बात में ज़रूर सफलता मिली कि उसने हिन्दुस्तान के असली सवालों से दुनिया का ध्यान हटा दिया और ख़ुद हिन्दुस्तान में उसकी वजह से लोगों की आँखें खुल गयीं, उनका उत्साह मर गया तथा उन्होंने उससे अपनी ज़िल्लत-सी महसूस की। उसने प्रतिगामी लोगों को फिर अपना सिर उठाने का मौक़ा दे दिया।

हिन्दुस्तान के लोगों के लिए तो सफलता या असफलता ख़ुद हिन्दुस्तान में होनेवाली घटनाओं से हो सकती थी। हिन्दुस्तान में जो मज़बूत राष्ट्रीय आन्दोलन चल रहा था वह लन्दन में होनेवाली चालबाज़ियों से ठण्डा नहीं पड़ सकता था। राष्ट्रीयता मध्यमवर्ग के लोगों और किसानों की असली और तात्कालिक ज़रूरतों को दिखलाती थी। उसीके ज़रिये वे अपने मसलों को हल करना चाहते थे; इसलिए उस आन्दोलन की दो ही सूरतें हो सकती थीं—एक तो यह कि वह कामयाब होता, अपना काम पूरा करता और किसी ऐसे दूसरे आन्दोलन के लिए जगह ख़ाली कर देता जो लोगों को प्रगति और आज़ादी की सड़क पर और भी आगे ले जाता; दूसरी यह कि कुछ वक़्त के लिए उसे ज़बर्दस्ती दबा दिया जाता। असल में कान्फ्रेंस के बाद फ़ौरन हिन्दुस्तान में लड़ाई छिड़ने को और कुछ वक़्त के लिए बेबसी से ख़त्म हो जाने को थी। दूसरी गोलमेज़-कान्फ्रेंस का इस लड़ाई पर कोई ऐसा ज़्यादा असर नहीं पड़ सका; पर उसने कुछ हदतक हमारी लड़ाई के ख़िलाफ़ वातावरण ज़रूर बना दिया।

३९

युक्तप्रान्त के किसानों में अशान्ति

कांग्रेस के प्रधानमन्त्री और कार्य-समिति के एक सदस्य की हैसियत से अखिल भारतीय राजनीति से मेरा सम्बन्ध रहता था, और कभी-कभी मुझे कुछ दौरा भी करना पड़ता था; हालाँकि जहाँतक हो सकता मैं उसे टालता ही रहता था। जैसे-जैसे हमारा बोझ और ज़िम्मेदारियाँ ज़्यादा-ज़्यादा बढ़ने लगीं, वैसे-वैसे कार्य-समिति की बैठकें भी ज़्यादा-ज़्यादा लम्बी होने लगीं। यहाँतक कि वे लगातार दो-दो हफ़्ते तक होती थीं। अब सिर्फ़ नुकताचीनी के प्रस्ताव पास करना नहीं था, बल्कि एक बड़े भारी, और कई तरह की प्रवृत्तियोंवाले संगठन के अनेक और भिन्न-भिन्न प्रकार के रचनात्मक कार्यों का नियन्त्रण करना था, और दिन-ब-दिन मुश्किल सवालों का फ़ैसला करना था, जिनके ऊपर देशभर की व्यापक लड़ाई या शान्ति निर्भर करती थी।

मगर मेरा ख़ास काम तो युक्तप्रान्त में ही था, जहाँ कि कांग्रेस का ध्यान किसानों की समस्या पर लगा हुआ था। युक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी में डेढ़ सौ से ज़्यादा सदस्य थे, और उसकी बैठक हर दो या तीन महीने में हुआ करती थी। उसकी कार्यकारिणी कौंसिल की, जिसमें पन्द्रह सदस्य थे, बैठकें अक्सर होती रहती थीं, और उसीके हाथ में किसानों का महकमा था।

१९३१ के पिछले हिस्से में इस कौंसिल ने किसान-सम्बन्धी एक ख़ास कमिटी मुक़र्रर कर दी। यह जानने-लायक़ बात है कि इस कौंसिल और इस कमिटी में कई ज़मींदार बराबर शामिल रहे थे, और सब कार्रवाई उनकी राय से की जाती थी। वास्तव में, उस साल के हमारे प्रान्तीय कमिटी के सभापति (और इसलिए जो कार्यकारिणी कौंसिल और किसान कमिटी के अध्यक्ष भी थे) तसद्दुक़ अहमद ख़ाँ शेरवानी थे, जो एक मशहूर ज़मींदार ख़ानदान के थे। प्रधानमन्त्री श्री प्रकाशजी और कौंसिल के दूसरे भी कई बड़े-बड़े मेम्बर ज़मींदार थे, या ज़मींदार घराने के थे। बाक़ी सदस्य ऊँचा पेशा करनेवाले मध्यमवर्ग के लोग थे। हमारी प्रान्तीय कार्यकारिणी में एक भी काश्तकार या ग़रीब किसान प्रतिनिधि न था। हमारी ज़िला-कमिटियों में किसान पाये जाते थे, मगर जिन कई चुनावों में जाकर प्रान्त की कार्यकारिणी कौंसिल बनती थी उनमें वे शायद ही कभी कामयाब हो पाते थे। इस कौंसिल में मध्यमवर्ग के पढ़े-लिखे लोगों की ही तादाद बहुत ज़्यादा थी, और ज़मींदारों का भी बहुत प्रभाव था। इस तरह यह कौंसिल किसी तरह भी 'गरम' नहीं कही जा सकती थी, और किसानों के सवाल पर तो निश्चय ही नहीं।

प्रान्त में मेरी हैसियत सिर्फ़ कार्यकारिणी कौंसिल और किसान-कमिटी के

एक मेम्बर की थी, इससे ज़्यादा कुछ भी नहीं। सलाह-मशविरों या दूसरे काम-काज में मैं ख़ास हिस्सा लेता था, मगर किसी भी मानी में सबसे प्रमुख भाग नहीं लेता था। वास्तव में, किसीके भी बारे में यह नहीं कहा जा सकता था कि वह प्रमुख भाग लेता है, क्योंकि इकट्ठा सामूहिक कार्य करने की हमारी पुरानी आदत हो गयी थी, और व्यक्ति पर नहीं, संगठन पर ही हमेशा ज़ोर दिया जाता था। हमारा सभापति हमारा तात्कालिक मुखिया रहता था, और हमारा प्रतिनिधि होता था; मगर उसे भी विशेष अधिकार न थे।

मैं इलाहाबाद की ज़िला कांग्रेस कमिटी का भी सदस्य था। इस कमिटी ने, अपने अध्यक्ष श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन के नेतृत्व में, किसान-समस्या की प्रगति में महत्त्वपूर्ण हिस्सा लिया था। १९३० में इस कमिटी ने ही प्रान्त में सबसे पहले करबन्दी-आन्दोलन शुरू किया था। इसका कारण यह नहीं था कि इलाहाबाद ज़िले में किसानों की हालत, भाव की मन्दी से सबसे ज़्यादा ख़राब हो गयी थी—क्योंकि अवध के ताल्लुक़ेदारी हिस्से और भी ज़्यादा ख़राब थे—बल्कि इसलिए कि इलाहाबाद ज़िले का संगठन अच्छा था, और इसमें राजनैतिक चेतना ज़्यादा थी। क्योंकि इलाहाबाद शहर राजनैतिक हलचलों का एक केन्द्र था और आस-पास के देहात में बड़े-बड़े कार्यकर्त्ता अक्सर जाया करते थे।

मार्च १९३१ के दिल्ली-समझौते के बाद फ़ौरन ही हमने देहात में कार्यकर्त्ता और नोटिस भेज दिये थे, और किसानों को इत्तिला दे दी थी कि सविनय-भंग और उसका आन्दोलन बन्द कर दिया गया है। राजनैतिक दृष्टि से उनके लगान अदा कर देने में अब कोई रुकावट न थी, और हमने उन्हें सलाह भी दी थी कि वे अदा कर दें। मगर साथ ही हमने यह भी कह दिया कि इस भारी मन्दी को देखते हुए हमारी राय यह है कि उन्हें काफ़ी छूट हासिल करने की कोशिश करनी चाहिए। मामूली हालत में भी लगान अक्सर एक असह्य बोझ ही होता था, फिर भारी मन्दी के ज़माने में तो पूरा लगान या पूरी के क़रीब रक़म देना तो बिलकुल ही असम्भव था। हमने किसानों के प्रतिनिधियों के साथ सलाह-मशविरा किया, और अस्थायी तजवीज़ की कि आमतौर पर छूट पचास फ़ीसदी होनी चाहिए, और कहीं-कहीं तो इससे भी ज़्यादा।

हमने किसानों के सवाल को सविनय-भंग के प्रश्न से बिलकुल अलग करने की कोशिश की। कम-से-कम १९३१ में तो, हम उसपर आर्थिक दृष्टि से ही विचार करना चाहते थे, और उसे राजनैतिक क्षेत्र से अलग रखना चाहते थे। मगर यह मुश्किल था, क्योंकि दोनों किसी-न-किसी तरह एक-दूसरे से गहरे जुड़ गये थे, और पहले से दोनों का गहरा साथ हो गया था। और कांग्रेस-संगठनके रूप में, हम लोग तो निश्चितरूप से राजनैतिक थे ही। कुछ समय के लिए तो हमने कोशिश की कि हमारी संस्था एक किसान-यूनियन (जिसपर नियन्त्रण ग़ैर-किसानों और ज़मींदारों तक का था!) की तरह ही काम करे, मगर हम

अपना राजनैतिक स्वरूप नहीं छोड़ सके, और न हमने छोड़ने की ख़्वाहिश ही की और सरकार भी जो-कुछ हम करते थे उसे राजनैतिक ही समझती थी। सविनय-भंग फिर होने की सम्भावना भी हमारे सामने थी, और अगर ऐसा हुआ तो इसमें शक नहीं कि अर्थ-नीति और राजनीति दोनों साथ-साथ मिलकर चलेंगी।

इन ज़ाहिरा मुश्किलों के बावजूद, दिल्ली-समझौते के वक़्त से हमेशा हमारी यह कोशिश रही कि किसानों के सवाल को राजनैतिक लड़ाई से अलग रक्खा जाय। इसका असली सबब यह था कि दिल्ली-समझौते ने इसे बन्द नहीं किया था, और यह बात हम सरकार और आम लोगों को बिलकुल साफ़ बता देना चाहते थे। दिल्ली की बातचीतों में, मेरा ख़याल है, गांधीजी ने लार्ड इर्विन को यह भरोसा दे दिया था कि अगर वह गोलमेज़-कान्फ्रेंस में न भी गये, तो भी जबतक कान्फ्रेंस की बैठकें होती रहेंगी, तबतक सविनय-भंग फिर शुरू नहीं करेंगे; वह कांग्रेस से सिफ़ारिश करेंगे कि कान्फ्रेंस को हर तरह का मौक़ा दिया जाना चाहिए, और उसके नतीजे का इन्तज़ार करना चाहिए। मगर, तब भी गांधीजी ने यह साफ़ बता दिया था कि अगर किसी स्थानीय आर्थिक लड़ाई के लिए हमें मजबूर किया जायगा, तो उसपर यह बात लागू न होगी। युक्तप्रान्त के किसानों की समस्या उस वक़्त हम सबके सामने थी क्योंकि वहाँ संगठित कार्य किया गया था। दरअसल तो हिन्दुस्तान भर के किसानों की वैसी ही हालत थी। शिमला की बातचीतों में भी गांधीजी ने इस बात को दोहराया था और उनके प्रकाशित पत्र-व्यवहार' में भी इसका ज़िक्र किया गया था। यूरप रवाना होने

'शिमला के २७ अगस्त १९३१ के समझौते में नीचे के पत्र भी शामिल थे—

भारत-सरकार के होम सेक्रेटरी श्री इमरसन के नाम गांधीजी का पत्र

शिमला,
प्रिय श्री इमरसन, २७, अगस्त, १९३१

आपके आज की तारीख़ के ख़त के लिए, जिसके साथ नया मसविदा नत्थी है, धन्यवाद। सर कावसजी ने भी आपके बताये संशोधन भेजने की कृपा की है। मेरे साथियों ने व मैंने संशोधित मसविदे पर ख़ूब ग़ौर किया है। नीचे लिखे स्पष्टीकरण के साथ हम आपके संशोधित मसविदे को मंजूर करने को तैयार हैं—

पैराग्राफ़ ४ में सरकार ने जो स्थिति अख़्तियार की है उसे कांग्रेस की तरफ़ से मंजूर करना मेरे लिए नामुमकिन है, क्योंकि हम यह महसूस करते हैं कि जहां कांग्रेस की राय में समझौते के अमल में पैदा हुई शिकायत दूर नहीं की जाती वहां जांच करना ज़रूरी हो जाता है। क्योंकि सविनय-भंग आन्दोलन उसी वक़्त तक के लिए स्थगित किया गया है, जबतक दिल्ली का समझौता जारी है।

के ठीक पहले ही उन्होंने साफ़ कर दिया था, कि गोलमेज़-कान्फ्रेंस और राजनैतिक सवालों के बिलकुल अलावा भी कांग्रेस के लिए यह ज़रूरी हो सकता है कि वह आर्थिक लड़ाइयों में लोगों के, और ख़ासकर किसानों के, अधिकारों की रक्षा करे। ऐसी किसी लड़ाई में फँसने की उनकी इच्छा नहीं है। वह उसे टालना चाहते हैं; मगर यदि यह अनिवार्य ही हो जाय, तो उसे हाथ में लेना ही पड़ेगा। हम जनता को अकेला नहीं छोड़ सकते थे। वह यह मानते थे कि दिल्ली के समझौते में, जो सामान्य और राजनैतिक सविनय-भंग से ताल्लुक़ रखता था, इसकी रोक नहीं की गयी है।

मैं इसका ज़िक्र इसलिए कर रहा हूँ कि युक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी और उसके नेताओं पर यह दोष बार-बार लगाया जाता रहा है कि उन्होंने करबन्दी-आन्दोलन फिर शुरू करके दिल्ली का समझौता तोड़ दिया। आरोप करनेवालों को सुभीता यह था कि यह आरोप तब लगाया गया जब वे सब लोग, जिनपर यह लगाया गया और जो इसका जवाब दे सकते थे, जेल में बन्द कर दिये गये थे और हर अख़बार और प्रेस पर कड़ा सेंसर लगा हुआ था। इस हक़ीक़त के अलावा कि युक्तप्रान्तीय कमिटी ने १९३१ में कभी करबन्दी-आन्दोलन शुरू ही नहीं किया, मैं इस बात को साफ़ कर देना चाहता हूँ कि आर्थिक उद्देश्य से, सविनय-भंग से अलग रहते हुए, ऐसी लड़ाई लड़ना भी दिल्ली के समझौते का भंग नहीं होता। वह उसके कारणों को देखते हुए उचित था या नहीं, यह तो दूसरी बात

लेकिन अगर भारत-सरकार और दूसरी प्रान्तीय सरकारें जाँच कराने को तैयार नहीं हैं, तो मेरे साथी और मैं इस जुमले के रहने देने पर कोई एतराज़ न करेंगे। इसका नतीजा यह होगा कि कांग्रेस अब से उठाये गये दूसरे मामलों के बारे में जांच के लिए ज़ोर नहीं देगी, लेकिन अगर कोई शिकायत इतनी तीव्रता से महसूस की जा रही हो कि जांच के अभाव मे उसे दूर करने के लिए रक्षात्मक सीधी लड़ाई लड़ना ज़रूरी हो जाय, तो कांग्रेस, सविनय-भंग-आन्दोलन के स्थगित रहते हुए भी, उसे करने के लिए स्वतन्त्र होगी।

मैं सरकार को यह यकीन दिलाने की ज़रूरत नहीं समझता कि कांग्रेस की हमेशा यही कोशिश रहेगी कि सीधी लड़ाई से बचे और आपसी बातचीत और समझाने-बुझाने के उपायों से शिकायत दूर कराये। कांग्रेस की स्थिति का ज़िक्र करना यहाँ इसलिए ज़रूरी हो गया है कि आगे कोई सम्भावित ग़लतफ़हमी या कांग्रेस पर समझौता तोड़ने का आरोप न हो सके। मौजूदा बातचीत के सफल होने की हालत में मेरा ख़याल है कि यह विज्ञप्ति, यह पत्र और आपका जवाब एक साथ प्रकाशित कर दिये जायँ।

आपका

मो० क० गांधी

थी; लेकिन जिस तरह किसी कारख़ाने के मज़दूरों को अपने किसी आर्थिक कष्ट के कारण हड़ताल शुरू करने का हक़ होता है, उसी तरह किसानों को भी आर्थिक कारण से हड़ताल करने का अधिकार था। दिल्ली से शिमला तक बराबर हमारी यह स्थिति रही, और सरकार ने इसे समझ ही नहीं लिया था, बल्कि उसे वह ठीक भी मालूम हुई थी।

१९२९ और उसके बाद की कृषि-सम्बन्धी मन्दी से निरन्तर बिगड़ी हुई परिस्थिति हद दर्जे को पहुँच गई थी। पिछले कई वर्षों से दुनियाभर में कृषि-सम्बन्धी भाव ऊँचे की तरफ़ चढ़ते जा रहे थे, और हिन्दुस्तान की कृषि ने भी, जो दुनिया के बाज़ार से बँध चुकी थी, इस चढ़ाव में हिस्सा लिया था। दुनियाभर के कारख़ानों और खेतों की तरक़्क़ी में कोई तारतम्य न रहने के कारण सभी जगह कृषि-सम्बन्धी चीज़ों के भाव चढ़ गये थे। हिन्दुस्तान में जैसे-जैसे भाव बढ़ते गये, सरकार की मालगुज़ारी और ज़मींदार का लगान भी बढ़ता गया, जिससे कि असली खेती करनेवाले को इससे कुछ भी फ़ायदा न हुआ। कुल मिलाकर किसानों की हालत, कुछ ख़ासतौर पर अच्छे हिस्से को छोड़कर ख़राब ही हो गयी। युक्त-प्रान्त में लगान मालगुजारी की बनिस्बत बहुत तेज़ी से बढ़ा, इन दोनों की सीधी वृद्धि, इस शताब्दी के पहले तीस वर्षों में क़रीब-क़रीब (मैं अपनी याददाश्त से ही कहता हूँ) ५ : १ थी। इस तरह हालाँकि ज़मीन से सरकार की आमदनी काफ़ी

गांधीजी के नाम श्री इमरसन का पत्र

शिमला

प्रिय गांधीजी, २७ अगस्त, १९३१

आज की तारीख़ के पत्र के लिए धन्यवाद, जिसमें आपने अपने पत्र में लिखे स्पष्टीकरण के साथ विज्ञप्ति के मसविदे को मंजूर कर लिया है। कौंसिल-सहित गवर्नर-जनरल ने इस बात को नोट कर लिया है कि अब आगे से उठाये गये मामलों में जाँच पर ज़ोर देने का इरादा कांग्रेस का नहीं है। लेकिन जहाँ आप यह आश्वासन देते हैं कि कांग्रेस हमेशा सीधी लड़ाई से बचने और आपसी बातचीत, समझाने-बुझाने आदि तरीक़ों से ही अपनी शिकायत दूर करने की हमेशा कोशिश करेगी, वहाँ आप, आगे अगर कांग्रेस कोई कार्रवाई करने का निश्चय करे तो उसकी स्थिति भी साफ़ कर देना चाहते हैं। मुझे कह कहना है कि कौन्सिल-सहित गवर्नर-जनरल आपके साथ इस उम्मीद में शामिल है कि सीधी लड़ाई का कोई मौक़ा नहीं आयेगा। जहाँतक सरकार की सामान्य स्थिति की बात है मैं वाइसराय के १९ अगस्त के आपको लिखे हुए पत्र का निर्देश करता हूँ। मुझे कहना है कि उक्त विज्ञप्ति, आपका आज की तारीख़ का पत्र और यह जवाब सरकार एक-साथ प्रकाशित कर देगी।

आपका

एच० डब्ल्यू० इमरसन

बढ़ गयी, लेकिन ज़मींदार की आमदनी तो उससे भी बहुत ज़्यादा बढ़ी और काश्तकार हमेशा की तरह रोटी का मोहताज ही रहा। यदि कहीं भाव गिर भी जाते थे; या कहीं बारिश न होना, बाढ़ आ जाना, ओले और टिड्डी वग़ैरा जैसी स्थानीय मुसीबतें आ पड़तीं, तब भी मालगुज़ारी और लगानकी रक़म वही रहती थी। अगर कुछ छूट भी हुई तो बहुत हिचकिचाहट के बाद थोड़ी-सी, सिर्फ़ उस फ़सलभर के लिए। अच्छी-से-अच्छी फ़सलों के वक्त भी लगान की दर बहुत ऊँची मालूम होती थी, तब दूसरे वक्त में तो साहूकार से क़र्ज़ लिये बिना उसकी अदायगी होनी मुश्किल थी। फलतः किसानों का क़र्ज़ा बढ़ता जा रहा था।

खेती से ताल्लुक़ रखनेवाले सभी वर्ग, ज़मींदार, मालिक, किसान और काश्तकार सभी साहूकारों के, जो कि मौजूदा हालतों में गांवों की आदिम-कालीन व्यवस्था का एक आवश्यक कार्य कर रहे थे, फन्दे में फँस गये। इस काम से उन्होंने ख़ूब फ़ायदा उठाया, और उनका जाल ज़मीन पर और ज़मीन से सम्बन्ध रखनेवाले सभी लोगों पर फैल गया। उनपर कोई बन्धन नहीं था। क़ानून उनकी मदद पर था, और अपने इक़रारनामे के एक-एक-लफ़्ज़ को पकड़कर वे अपने असामियों को ज़रा भी नहीं बख़्शते थे। धीरे-धीरे छोटे ज़मींदार, और मालिक-किसान दोनों के पास से ज़मीन उनके हाथों में आने लगी, और साहूकार ही बड़े पैमाने पर ज़मीन के मालिक, बड़े ज़मींदार—ज़मींदारवर्गीय—बन गये। मालिक-किसान, जो अभी तक अपनी ही ज़मीन पर खेती करता था, अब बनिया-ज़मींदारों या साहूकारों का क़रीब-क़रीब दास-किसान बन गया; जो केवल काश्तकार था उसकी हालत तो और भी ख़राब हो गयी। वह तो साहूकार का भी दास बन गया था, या बेदख़ल किये हुए भूमि-हीन मज़दूरों की बढ़ती हुई जमात में शामिल हो गया। ऋण-दाता—लेन-देन करनेवाले व्यक्तियों—का जो अब इस तरह ज़मीन-मालिक भी बन गये, ज़मीन से या काश्तकारों से कोई सजीव सम्पर्क नहीं था। वे आमतौर पर शहर के रहनेवाले थे, जहाँ वे अपना लेन-देन करते थे, और उन्होंने लगान-वसूली का काम अपने कारिन्दों के सुपुर्द कर दिया, जो इस काम को मशीनों की-सी संग-दिली और बेरहमी से करते थे।

किसानों की बढ़ती हुई क़र्ज़दारी ही ख़ुद इस बात का सबूत थी कि ज़मीन की मिल्कियत की प्रणाली ग़लत और अस्थिर है। ज़्यादातर लोगों के पास किसी क़िस्म की बचत न था, न शारीरिक न आर्थिक, उनकी बरदाश्त करने की ताक़त बिलकुल न थी और वे हमेशा भूखे-नंगे ही रहते थे। किसी भी प्रतिकूल असाधारण घटना के सामने वे टिक नहीं सकते थे। कोई आम बीमारी आ जाती, तो लाखों मर जाते थे। १९२९ और १९३० में सरकार-द्वारा नियुक्त प्रान्तीय बैंकिंग जाँच कमिटी ने अन्दाज़ा लगाया था कि (बर्मा-सहित) हिन्दुस्तान का कृषि-सम्बन्धी क़र्ज़ा ८६० करोड़ रुपया था। इस आँकड़े में ज़मींदारों, मालिक-किसानों और काश्तकारों का क़र्ज़ा शामिल था, मगर मुख्यतः यह असली काश्त-

कारों का ही क़र्ज़ा था। सरकारी आर्थिक नीति बिलकुल साहूकारों के ही हक़ में रही है। इससे भी भारी क़र्ज़ों में और बढ़ती ही हुई है। इस तरह रुपये का अनुपात, हिन्दुस्तान का ज़बरदस्त विरोध होते हुए भी सोलह पेन्स के बजाय १८ पेन्स कर देने से किसानों का क़र्ज़ १२॥ फ़ी सदी या लगभग १०७ करोड़ बढ़ गया।'

लड़ाई के बाद के अचानक चढ़ाव के बाद भाव धीरे-धीरे लेकिन लगातार गिरते ही चले गये, और देहात की हालत और ख़राब हो गयी। और इस सब के ऊपर १६२६ और बाद के वर्षों का संकट आ गया सो अलग।

१६३१ में युक्तप्रान्त में हमारा कहना यह था कि लगान चीज़ों के भावों के मुताबिक़ रहना चाहिए। यानी, पहले जिस समय १६३१ के बराबर भाव थे, उस वक़्त के लगान के बराबर ही अब भी लगान हो जाना चाहिए। ये भाव लगभग तीस साल पहले, क़रीब १६०१ में थे। यह एक मोटी कसौटी थी, और इससे परखना भी आसान नहीं था, क्योंकि काश्तकार भी कई तरह के थे—जैसे, मौरूसी, ग़ैर-मौरूसी, शिकमी वग़ैरा, और सबसे नीचे दर्जे के काश्तकारों पर ही मन्दी का सबसे ज़्यादा असर पड़ा था। दूसरी कसौटी सिर्फ़ यही हो सकती थी, और यही सबसे मुनासिब भी थी कि खेती का ख़र्चा और निर्वाह-योग्य मज़दूरी निकालकर कितनी रक़म देने की ताक़त काश्तकार की रहती है। मगर इस पिछली कसौटी से जाँचने पर जीवन-निर्वाह के ख़र्च कितने भी कम क्यों न माने जायँ, हिन्दुस्तान में बहुत ज़्यादा खेत ऐसे निकलेंगे जो बे-मुनाफ़ा है, और जैसा कि हमने १६३१ में युक्तप्रान्त में उदाहरणों से साबित किया था, कि कई काश्तकार तो अपना लगान अदा कर ही नहीं सकते थे, जबतक कि वे, अगर उनके पास बेचने को कुछ जायदाद हो तो अपनी जायदाद न बेचें या ऊँची दरों पर क़र्ज़ न लें।

हमारी पहली और अस्थायी तजवीज़ यह थी कि सब मौरूसी काश्तकारों के लिए ५० फ़ीसदी आम छूट होनी चाहिए, और जिन काश्तकारों की हालत और

' हिन्दुस्तान की कृषि-सम्बन्धी क़र्ज़दारी ८६० करोड़ है; यह भी सम्भवतः बहुत कम अन्दाज़ा है और कम-से-कम, पिछले चार या पाँच वर्षों में, यह काफ़ी ज़्यादा बढ़ गया होगा। पंजाब प्रान्तीय बैंकिंग जांच-कमिटी ने, १६२६ में पंजाब का आंकड़ा १३५ करोड़ बताया था। लेकिन पंजाब ऋण-मुक्ति बिलकी सिलेक्ट कमिटी की रिपोर्ट में (जो १६३४ में पेश की गयी थी) लिखा है कि "कृषकों के क़र्ज़े का बोझा बहुत भारी है, बहुत ही कम अन्दाज़ लगावें तो क़रीब २०० करोड़ रुपया होगा।" यह नया आंकड़ा बैंकिंग-जांच-कमिटी की रिपोर्ट के आंकड़े से लगभग ५० फ़ीसदी ज़्यादा है। अगर दूसरे प्रान्तों के लिए भी इसी हिसाब से बढ़ती मानी जाय तो सारे भारत की मौजूदा (१६३४) कृषि-क़र्ज़दारी १२०० करोड़ से ज़्यादा होगी।

भी ख़राब है उनके लिए इससे भी ज़्यादा छूट दी जाय। जब मई १९३१ में गांधीजी युक्तप्रान्त में आये थे और गवर्नर सर मालकम हेली से मिले, तो उनमें मतभेद पाया गया, और उनकी राय एक न हो सकी। इसके बाद ही उन्होंने युक्त-प्रान्त के ज़मींदारों और काश्तकारों के नाम अपीलें निकाली थीं। पिछली अपील में उन्होंने काश्तकारों से कहा कि, उनसे जितना बन सके वे अदा कर दें। उन्होंने एक आँकड़ा भी बताया, जोकि हमारे पहले बताये आँकड़ों से कुछ ऊँचा था। हमारी प्रान्तीय कमिटी ने गांधीजी का ही आँकड़ा मंजूर कर लिया, मगर इससे मामला सुलझा नहीं, क्योंकि सरकार उसपर राज़ी नहीं हुई।

प्रान्तीय सरकार एक कठिन परिस्थिति में थी। मालगुज़ारी ही उसकी आमदनी का बड़ा ज़रिया था, और अगर वह इसे बिलकुल उड़ा देती है या बहुत कम कर देती है तो उसका दिवाला ही निकल जायगा। मगर, साथ ही उसे किसानों के उभड़ पड़ने का भी काफ़ी अन्देशा था, और जहाँतक हो सके वह उन्हें काफ़ी लगान की छूट देकर तसल्ली भी देना चाहती थी। लेकिन दोनों तरफ़ फ़ायदे में रहना आसान न था। सरकार और किसानों के बीच में ज़मींदारवर्ग खड़ा था, जोकि आर्थिक दृष्टि से बेकार और ग़ैर-ज़रूरी वर्ग था, और यदि इस वर्ग को नुक़सान पहुँचाना गवारा किया जाय तो सरकार और किसान दोनों को रक्षण और सहायता मिल सकती थी। मगर ब्रिटिश सरकार अपनी मौजूदा परिस्थिति में राजनैतिक कारणों से उस वर्ग को नाराज़ नहीं कर सकती थी, क्योंकि जो-जो वर्ग उसका पल्ला पकड़े हुए थे, उनमें वह भी एक था।

आख़िर प्रान्तीय सरकार ने ज़मींदार और काश्तकार दोनों के लिए ही छूट की घोषणा की। यह छूट कुछ बड़े पेचीदा तरीक़े पर दी गयी थी, और पहले तो यही समझना मुश्किल था कि कितनी छूट दी गयी है। मगर यह तो साफ़ ज़ाहिर था कि यह बहुत ही नाकाफ़ी थी। इसके अलावा छूट चालू क़िस्त के लिए ही घोषित की गयी, और किसानों के पिछले बक़ाया क़र्ज़े के बारे में कोई भी बात नहीं कही गयी। यह तो ज़ाहिर था, कि अगर काश्तकार मौजूदा आधे वर्ष का लगान देने में असमर्थ है, तो वह पिछला बक़ाया या क़र्ज़ा चुकाने में तो और भी ज़्यादा असमर्थ होगा। हमेशा ही ज़मींदारों का क़ायदा यह रहा था कि जितनी भी वसूली होती थी, वे पिछले बक़ाये में जमा किया करते थे। काश्त-कार की दृष्टि से यह तरीक़ा ख़तरनाक था, क्योंकि क़िस्त का कुछ-न-कुछ हिस्सा बाक़ी रह जाने की बिना पर उसके ख़िलाफ़, चाहे जब, मुक़दमा दायर किया जा सकता था, और उसकी ज़मीन जब चाहे छीनी जा सकती थी।

प्रान्तीय कांग्रेस-कार्यकारिणी बहुत ही कठिन स्थिति में पड़ गयी। हमें विश्वास था कि काश्तकारों के साथ बहुत अनुचित बर्ताव हो रहा है, मगर हम कुछ न कर सकते थे। हम किसानों से यह कहने की ज़िम्मेदारी नहीं लेना चाहते थे कि वे अदायगी न करें। हम बराबर यही कहते रहे कि उनसे जितना

बन सके उतना वे अदा कर दें, और आमतौर पर उनकी मुसीबतों में उनके साथ हमदर्दी दिखाते और उन्हें हिम्मत बँधाने की कोशिश करते रहे। हम उनकी इस बात से सहमत थे, कि छूट कम करने पर भी क़िस्त की रक़म उनकी ताक़त के बाहर है।

अब बल-प्रयोग की मशीन, क़ानूनी और ग़ैरक़ानूनी दोनों तरह से, चलने लगी। हज़ारों की तादाद में बेदख़ली के मुक़दमे दायर होने लगे; गाय, बैल और ज़ाती मिल्कियत क़ुर्क़ होने लगी; ज़मींदारों के कारिन्दे मारपीट करने लगे, बहुत से किसानों ने क़िस्त का कुछ हिस्सा जमा कर दिया। उनकी राय में, इतना ही देने की उनकी ताक़त थी। बहुत मुमकिन है कि कुछ लोग थोड़ा और दे सकते हों, लेकिन यह बिलकुल ज़ाहिर था कि ज़्यादातर किसानों के लिए तो यह भी भारी बोझ था। मगर इस थोड़ी-सी अदायगी के कारण वे बच नहीं सके। क़ानून का एंजिन तो आगे बढ़ता और रास्ते में जो कुछ आया उसे कुचलता ही गया। हालाँकि क़िस्तों का थोड़ा हिस्सा चुका दिया गया था, फिर भी इजराय डिग्री होती गयी और पशुओं और व्यक्ति-गत सम्पत्ति की क़ुर्क़ी और नीलाम जारी रहा। अगर काश्तकार कुछ भी न देते, तो भी उनकी हालत इससे ज़्यादा ख़राब न हो सकती थी। बल्कि, उतना रुपया बचा लेने से उनकी हालत कुछ अच्छी ही रहती।

वे बड़ी तादाद में हमारे पास ज़ोरदार शिकायत करते हुए आते थे, और कहते थे कि हमने आपकी सलाह मान ली और जितना हमसे बन सकता था उतना हमने अदा कर दिया, फिर भी यह नतीजा हुआ है। अकेले इलाहाबाद ज़िले में ही कई हज़ार काश्तकार बेदख़ल कर दिये गये थे, और कई हज़ारों के ख़िलाफ़ कोई-न-कोई मुक़दमा दायर कर दिया गया था। ज़िला कांग्रेस कमिटी का दफ़्तर दिनभर परेशान काश्तकारों से घिरा रहता था। मेरा घर भी इसी तरह घिरा रहता था, और अक्सर मुझे लगता था कि मैं यहाँ से भाग जाऊँ और कहीं छिप जाऊँ, जहां यह भयंकर दुर्दशा दिखाई न दे। कई काश्तकारों पर, जो हमारे यहाँ आते थे, चोट के निशान थे, जो ज़मींदारों के कारिन्दों की मार के थे। हमने उनका अस्पताल में इलाज करवाया। वे क्या कर सकते थे? और हम क्या कर सकते थे? और हमने युक्तप्रान्तीय सरकार के पास बड़े-बड़े पत्र भेजे। हमारी कमिटी ने नैनीताल या लखनऊ में प्रान्तीय-सरकार से सम्पर्क रखने के लिए श्री गोविन्द-वल्लभ पन्त को अपनी तरफ़ से मध्यस्थ बनाया था। वह सरकार को निरन्तर लिखते रहे; हमारे प्रान्तीय अध्यक्ष, तसद्दुक़ अहमदख़ाँ शेरवानी, भी लिखते रहे, और मैं भी लिखता रहा।

जून-जुलाई की बारिश नज़दीक आने से एक और कठिनाई सामने आयी। यह खेत जोतने और बोने का मौसम था। क्या बेदख़ल किसान बेकार बैठे रहें और अपने सामने अपनी ज़मीन ख़ाली पड़ी देखते रहें? किसान के लिए यह बड़ा

मुश्किल था। यह तो उसकी आदत के ख़िलाफ़ था। कई लोगों की बेदख़लियाँ सिर्फ़ क़ानूनी लिहाज़ से हो गयी थीं, उन्हें दरअसल हटा नहीं दिया गया था। सिर्फ़ अदालत का फ़ैसला हो गया था, इसके अलावा और कुछ नहीं हुआ था। इस हालत में क्या वे ज़मीन जोत डालें और इस तरह मदाख़लत बेजा का जुर्म कर लें, जिसमें शायद छोटे-मोटे दंगे की भी सम्भावना होजाय? यह देखना भी किसान के लिए मुश्किल था कि उसकी पुरानी ज़मीन को कोई दूसरा जोत ले। वे सब हमसे सलाह माँगने आते थे। हम उन्हें क्या सलाह दे सकते थे?

गरमियों में जब मैं गांधीजी के साथ शिमला गया तो मैंने यह कठिनाई भारत-सरकार के एक ऊँचे अधिकारी के सामने रक्खी, और उनसे पूछा कि अगर वह हमारी स्थिति में होते तो क्या सलाह देते? उनका जवाब आँखें खोल देनेवाला था। उन्होंने कहा कि 'अगर कोई किसान, जिसकी ज़मीन छिन गयी है, यह सवाल मुझसे पूछे तो मैं जवाब देने से इन्कार कर दूँगा!' हालाँकि ज़मीन पर से किसान का क़ब्ज़ा क़ानूनन हटाया गया था, फिर भी वह उसको सीधा यह कहने को भी तैयार नहीं थे कि वह अपनी ज़मीन न जोते। शिमला के पहाड़ पर बैठकर मिसलों पर इस तरह हुक्म देना, मानो वह गणित की किसी अमूर्त समस्या पर विचार कर रहे हों, उनके लिए तो आसान था। उन्हें या नैनीताल के प्रान्तीय आक़ाओं को आदमियों से साबक़ा नहीं पड़ता था, और न वे आदमियों की मुसीबतों को ही अपनी आँखों से देखते थे।

शिमला में हमसे यह भी कहा गया कि हम किसानों को सिर्फ़ एकही सलाह दें कि उन्हें पूरी क़िस्त दे देनी चाहिए, या वे जितनी दे सकें उतनी दे देनी चाहिए। हमें क़रीब-क़रीब ज़मींदारों के कारिन्दों के जैसे ही काम करना चाहिए। दरअसल, कुछ ऐसी ही बात हमने उनसे तभी कह दी जबकि हमने उनसे कहा था कि जितना बन सके उतना अदा कर दो। लेकिन, बेशक, हमने साथ ही यह कहा था कि उन्हें अपने पशु नहीं बेचने चाहिए, या नया क़र्ज़ा नहीं करना चाहिए। और इसका नतीजा भी जो कुछ हुआ सो हम देख चुके थे।

यह गरमी हम सबके लिए बड़ी विकट थी, और हम मुश्किल से उसे सह रहे थे। हिन्दुस्तान के किसानों में मुसीबत सहने की अद्भुत शक्ति है, और उनपर हमेशा ज़रूरत से ज़्यादा मुसीबतें आती भी रही हैं—अकाल, बाढ़, बीमारी और निरन्तर कुचलनेवाली ग़रीबी—और जब वे अधिक सह नहीं सकते, तो चुपचाप, और मानो बिना शिकायत किये, हज़ारों की तादाद में, मर जाते हैं। उनका मुसीबतों से बचने का मार्ग ही यह रहा है। उनपर समय-समय पर आनेवाली पिछली मुसीबतों से बढ़कर १९३१ में कोई नयी बात नहीं हुई थी। मगर, किसी कारण, १९३१ की घटनाएं उन्हें ऐसी न लगीं कि जो क़ुदरत की तरफ़ से आ गयी हों और जिन्हें चुपचाप बरदाश्त करना ही चाहिए। उन्होंने विचार किया कि ये तो मनुष्य की लायी हुई हैं, और इसलिए उनका उन्होंने विरोध किया।

जो नयी राजनैतिक शिक्षा उन्हें मिली थी, वह अपना असर दिखा रही थी। हमारे लिए १९३१ की ये घटनाएं ख़ासतौर पर कष्टकर थीं, क्योंकि किसी हद तक हम अपने-आपको उनके लिए ज़िम्मेदार समझते थे। क्या इस मामले में किसानों ने बहुत-कुछ हमारी सलाह नहीं मानी थी? लेकिन, फिर भी, मेरा तो पूरा विश्वास है कि अगर उन्हें हमारी निरन्तर सहायता न मिली होती तो किसानों की हालत और भी बदतर हो गयी होती। हम उनको संगठित करके रखते थे, और उनकी अपनी एक ताक़त हो गयी थी जिसकी उपेक्षा नहीं हो सकती थी और इसी कारण उन्हें इतनी छूट भी मिल गयी जितनी शायद और तरह उन्हें न मिलती, और इन अभागे लोगों पर जो मारपीट और सख़्ती की गयी वह ख़राब ज़रूर थी मगर उनके लिए कोई नयी बात न थी। हां, इस बार कुछ तो उनकी मात्रा में अन्तर था (क्योंकि इस बार पहले से अधिक मात्रा में की गयी थी), और कुछ उसका प्रकाशन भी बढ़कर हुआ था। आमतौर पर गाँवों में ज़मींदारों के कारिन्दों का काश्तकारों से दुर्व्यवहार करना या उन्हें बहुत त्रास देना भी साधारण बात समझी जाती है, और पिटनेवाले की मौत ही न हो जाय तो, वहाँ छोड़कर बाहर किसीको उसकी ख़बर तक नहीं होती। मगर हमारे संगठन और किसानों की जागृति के कारण अब ऐसा नहीं हो सकता था, क्योंकि इससे किसानों में ख़ूब एका हो गया था और वे हर बात की रिपोर्ट कांग्रेस के दफ़्तर में करते थे।

जैसे-जैसे गरमी का मौसम बीतता गया, ज़बरदस्ती वसूल करने की कोशिश कुछ ढीली हो गयी और बल-प्रयोग की कार्रवाइयाँ कम पड़ने लगीं। अब हमें बहुसंख्यक बेदख़ल किसानों की फ़िक्र थी। उनके लिए क्या करना चाहिए? हम सरकार पर ज़ोर डाल रहे थे कि वह उन्हें उनके खेत वापस दिलाने में मदद करें, जोकि ज़्यादातर ख़ाली ही पड़े थे। इससे भी ज़्यादा ज़रूरी प्रश्न भविष्य का था। जो छूट मिली थी वह पिछली फ़सल के लिए ही थी, और भविष्य के लिए अभीतक कुछ भी तय नहीं हुआ था। अक्तूबर से अगली क़िस्त की वसूली का वक़्त आ जायगा। तब क्या होगा? क्या हमें इसी भयंकर घटना-चक्र में से फिर गुज़रना पड़ेगा? प्रान्तीय सरकार ने इसपर विचार करने के लिए एक छोटी-सी कमिटी नियुक्त की, जिसमें उसीके अधिकारी और प्रान्तीय कौंसिल के कुछ ज़मींदार मेम्बर थे। उसमें किसानों की तरफ़ से कोई प्रतिनिधि न था। अन्तिम क्षण, जबकि कमिटी ने काम भी शुरू कर दिया, सरकार ने हमारी तरफ़ से गोविन्दवल्लभ पन्त से उसमें शामिल होने को कहा। उन्होंने इस आख़िरी वक़्त में उसमें शामिल होने में कुछ फ़ायदा न देखा, क्योंकि महत्त्वपूर्ण मामलों के निर्णय तो किये ही जा चुके थे।

युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमिटी ने भी किसानों सम्बन्धी पिछले और तात्कालिक कई आँकड़े इकट्ठा करने और सामयिक परिस्थिति पर अपनी रिपोर्ट देने के लिए एक छोटी-सी कमिटी बिठायी थी। इस कमिटी ने एक बड़ी रिपोर्ट पेश की जिसमें

युक्तप्रान्त के किसानों और खेती की परिस्थिति का बड़ी योग्यतापूर्ण निरीक्षण किया गया था। और भावों की भारी कमी के कारण आयी हुई दुर्दशा का विश्लेषण किया गया था। उनकी सिफ़ारिशें बड़ी व्यापक थीं। उस रिपोर्ट में जो पुस्तक-रूप में प्रकाशित की गयी थी, गोविन्दवल्लभ पन्त, रफ़ी अहमद क़िदवई और वेंकटेशनारायण तिवारी के दस्तख़त थे।

इस रिपोर्ट के निकलने के बहुत पहले ही गांधीजी गोलमेज़ परिषद् के लिए लन्दन जा चुके थे। वह बड़ी हिचकिचाहट के बाद गये थे, और इस हिचकिचाहट का एक कारण युक्तप्रान्त के किसानों की परिस्थति भी थी। वास्तव में उन्होंने प्रायः यह तय कर लिया था कि अगर वह गोलमेज़परिषद् के लिए लन्दन न गये, तो यू० पी० आयेंगे और इस पेचीदा सवाल को हल करने में जुट पड़ेंगे। सरकार के साथ शिमला में जो आख़िरी बातचीत हुई थी, उसमें और बातों के साथ युक्त-प्रान्त की बात भी शामिल थी। उनके इंग्लैण्ड रवाना हो जाने के बाद भी हम उन्हें परिस्थितियों में होनेवाले नये-नये परिवर्तनों की पूरी-पूरी सूचना देते रहते थे। पहले एक या दो महीने तक तो मैं उन्हें हर सप्ताह हवाई और मामूली, दोनों डाक से पत्र लिखा करता था। उनके प्रवास के अन्तिम समय में मैं इतने नियमितरूप से नहीं लिखता था, क्योंकि हमें आशा थी कि वह जल्दी ही लौट आयेंगे उन्होंने हमसे कहा था कि वह ज़्यादा-से-ज़्यादा तीन महीने में, यानी नवम्बर में किसी वक्त, लौट आयेंगे, और हमें उम्मीद थी कि तबतक हिन्दुस्तान में कोई संकट खड़ा न होगा। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि उनकी ग़ैर-हाज़िरी में हम सरकार के साथ संघर्ष या संकट मोल लेना नहीं चाहते थे। मगर, जब उनके आने में देर लग गयी और किसानों की समस्या तेज़ी से पेचीदा होने लगी, तब हमने उन्हें एक लम्बा तार भेजा, जिसमें ताज़ी-से-ताज़ी घटनाएँ लिखीं और उन्हें सूचित किया कि किस तरह हम कुछ-न-कुछ करने के लिए मजबूर हो रहे हैं। उन्होंने तार से जवाब दिया, कि इस मामले में मैं लाचार हूँ और इस समय कुछ नहीं कर सकता और यह भी कह दिया जैसा कि हम लोगों को ठीक मालूम हो वैसा ही करते जायँ।

प्रान्तीय कार्यकारिणी, अखिल-भारतीय कार्य-समिति को भी हर बात की इत्तिला देती रही। मैं ख़ुद उसमें अपनी जानकारी से बातें बताने को मौजूद था ही, मगर चूँकि मामला गम्भीर होता जाता था, कमिटी ने हमारे प्रान्तीय सदर तसद्दुक़ अहमदख़ाँ शेरवानी और इलाहाबाद ज़िला कमिटी के प्रेसिडेण्ट पुरुषोत्तमदास टण्डन से भी बातचीत की।

सरकार की किसान-सम्बन्धी कमिटी ने अपनी रिपोर्ट निकाली, और कुछ सिफ़ारिशें भी कीं, जो पेचीदा और गोलमोल थीं और उसमें बहुत बातें स्थानीय अफ़सरों के ऊपर छोड़ दी गयी थीं। कुल मिलाकर उसमें जिस छूटकी तजवीज़ की गयी थी, वह पिछले मौसम की छूट से ज़्यादा थी, पर यह छूट भी काफ़ी नहीं थी। जिन आधारों पर उसमें सिफ़ारिशें की गयी थीं उनपर, और सिफ़ारिशों

के स्वरूप पर भी, एतराज़ किया गया। इसके सिवा, रिपोर्ट में सिर्फ़ आगे का ही विचार किया गया था, मगर पिछले बक़ाया, क़र्ज़, और बहुसंख्यक बे-दख़ल किसानों के सवाल पर कुछ नहीं कहा गया था। अब, हम क्या करते ? जिस तरह हमने पिछले चैत-बैसाख में किसानों से कहा था कि वे जितना बने उतना अदा कर दें, क्या अब भी हम किसानों को वही सलाह दें, और फिर वही नतीजे देखें ? हमने देख लिया था कि वह सलाह सबसे ज़्यादा बेवक़ूफ़ी की थी, और फिर से नहीं दी जा सकती थी। या तो किसानों को चाहिए कि अगर वे दे सकें वो पूरी रक़म अदा करें जो अब छूट काटकर उनसे माँगी जा रही है, या वे कुछ भी न दें और देखें कि क्या होता है। रक़म का कुछ हिस्सा दे देने से वे न इधर के रहते न उधर के। काश्तकारों का जितना वे निकाल सकते हैं, सारा रुपया वग़ैरा भी चला जाता है, और उनकी ज़मीन भी छिन जाती है।

हमारी प्रान्तीय कार्यकारिणी ने परिस्थिति पर बहुत समय तक और गम्भीरता के साथ विचार किया और निश्चय किया कि सरकार की तजवीज़ें हालाँकि पिछली गरमी की छूट से ज़्यादा हैं, लेकिन इतनी मुआफ़िक़ नहीं हैं कि उन्हें इस रूप में स्वीकार कर लिया जाय। उनमें परिवर्तन करके उन्हें किसानों के लिए हितकर बनाये जाने की फिर भी सम्भावना थी, और इसलिए हमने सरकार पर ज़ोर डाला। मगर हमें महसूस हो रहा था कि अब कोई आशा नहीं है, और जिस संघर्ष को हम टालना चाहते थे, वह कुछ तेज़ी से आ रहा है। प्रान्तीय-सरकार और भारत-सरकार का कांग्रेस-संगठन की तरफ़ लगातार रुख़ बदलता और सख़्त होता जा रहा था। हमारे बड़े-बड़े पत्रों का हमें ज़रा-ज़रा-सा जवाब मिल जाया करता था, जिसमें कह दिया जाता था कि हम स्थानीय अफ़सरों से लिखा-पढ़ी करें। यह स्पष्ट था कि सरकार की नीति हमें किसी प्रकार से भी प्रोत्साहित करने की नहीं थी। सरकार की एक मुसीबत और मुश्किल यह भी थी कि अगर हम लोगों के कहने से किसानों को छूट दे दी जाती तो इससे कांग्रेस की प्रतिष्ठा बढ़ जाने की सम्भावना थी। पुरानी आदत के कारण वह सिर्फ़ प्रतिष्ठा की भाषा में ही सोच सकती थी, और यह ख़याल उसे असह्य हो रहा था कि जनता छूट दिलाने की नामवरी कांग्रेस को देने लगे, और वह इससे जहाँतक हो सके बचना चाहती थी।

इस बीच हमारे पास दिल्ली और दूसरी जगहों से ये रिपोर्टें आ रही थीं कि भारत-सरकार सारे कांग्रेस-आन्दोलन पर जल्दी ही एक ज़बरदस्त हमला शुरू करनेवाली है। उस मशहूर यहूदी कहावत के अनुसार अब सरकार की छोटी-सी अँगुली ज़्यादा ज़ोर से काम करनेवाली है, और बिच्छू के डंक हमसे तोबा करानेवाले हैं। कांग्रेस के ख़िलाफ़ क्या-क्या करने की तजवीज़ है, इसकी बहुत-सी तफ़सील भी हमें मिल गयी। मेरी समझ में शायद नवम्बर में किसी वक़्त, डाक्टर अन्सारी ने मेरे पास और कांग्रेस के सदर वल्लभभाई पटेल के पास भी

अलग से एक ख़बर भेजी, जिससे हमें पहले मिले हुए समाचार की पुष्टि होती थी, और जिसमें ख़ासकर सीमाप्रान्त और युक्तप्रान्त के लिए प्रस्तावित आर्डिनेंसों का ब्यौरा भी था। मेरा ख़याल है कि उस समय तक शायद बंगालको एक नये आर्डिनेंस की सौग़ात मिल चुकी थी, या मिलने ही वाली थी। कई हफ़्ते बाद जब नये आर्डिनेंस निकले, मानो वे किसी नई परिस्थिति का एकदम सामना करने के लिए निकले हों, तब डाक्टर अन्सारी की ख़बरें और उनकी तफ़सीलें भी बहुत हद तक सच्ची निकलीं। आमतौर से यही माना गया कि सरकार ने गोलमेज़ कान्फ्रेंस के आशा से अधिक बढ़ जाने के कारण अपना हमला रोक रक्खा था। ऐसे समय में जबकि गोलमेज़-कान्फ्रेंस के मेम्बर आपस में मीठी-मीठी बेमतलब की काना-फूसी कर रहे थे, सरकार हिन्दुस्तान में आम दमन को टालना चाहती थी।

इसलिए तनातनी बढ़ती गयी, और हम सभी को महसूस हो रहा था कि घटनाएं हम-जैसे छोटे-छोटे लोगों की उपेक्षा करती हुई अपने-आप आगे बढ़ रही हैं, और होनहार को कोई रोक न सकेगा। हम तो इतना ही कर सकते थे कि हम उनका मुक़ाबला करने के लिए, और जीवन के उस नाटक में, जो शायद दुःखान्त होनेवाला था, व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से अपना हिस्सा ठीक तरह से बँटाने के लिए अपने-आपको तैयार कर लें। मगर हमें उम्मीद थी कि परस्पर-विरोधी शक्तियों के संघर्ष का यह नाटक शुरू होने से पहले गांधीजी लौट आयेंगे और वह लड़ाई या सुलह की ज़िम्मेदारी अपने कन्धों पर उठा लेंगे। उनकी ग़ैरहाज़िरी में इस बोझ को उठाने के लिए हममें से कोई भी तैयार नहीं था।

युक्तप्रान्त में सरकार ने एक और काम किया जिससे देहाती हलकों में हलचल मच गयी। काश्तकारों को छूट की पर्चियाँ बाँट दी गयीं। जिनमें छूट की रक़म बतायी गयी थी और यह धमकी शामिल थी कि अगर इसमें दिखायी हुई रक़म एक महीने में (किसी-किसी पर्ची में इससे भी कम वक़्त दिया गया था) जमा न की जायगी तो छूट रद कर दी जायगी और पूरी रक़म क़ानूनी तरीक़े से, जिसका मतलब होता है बेदख़ली, क़ुर्क़ी वग़ैरा से, वसूल कर ली जायगी। मामूली बरसों में तो काश्तकार अपना लगान दो या तीन महीनों में क़िस्तों से अदा कर देते हैं। अबकी यह मामूली मियाद भी नहीं दी गयी। किसानों के सामने एकदम नया संकट खड़ा हो गया, और पर्चियाँ हाथ में लेकर काश्तकार इधर-उधर उसका विरोध और शिकायत करते हुए, सलाह पूछने के लिए, दौड़ने लगे। सरकार या उसके स्थानीय अफ़सरों की तरफ़ से यह मूर्खताभरी धमकी थी। बाद को हमसे कहा गया था कि इसको सचमुच अमल में लाने का कोई इरादा नहीं था। मगर इससे शान्तिपूर्ण समझौते का मौक़ा बहुत कम रह गया, और अनिवार्य संघर्ष एक के बाद दूसरा पग धरता पास आने लगा।

अब तो किसानों को और कांग्रेस को जल्दी ही फ़ैसला करना ज़रूरी था।

हम गांधीजी के लौटने तक अपना फ़ैसला नहीं रोक सकते थे। हमें अब क्या करना चाहिए ? क्या सलाह देनी चाहिए ? हम यह जानते थे कि कई किसान इस छोटी-सी मियाद में अपनी रक़म अदा नहीं कर सकते, तो क्या यह उचित बात होती कि हम उन किसानों से कह देते कि वे अपनी रक़म अदा कर दें ? और फिर जो बक़ाया उनकी तरफ़ था, उसके बारे में क्या होगा ? अगर उनसे माँगी हुई रक़म भी चुका दें, जो बक़ाया में जमा कर ली जायगी, तो भी क्या वे बेदख़ल किये जाने के ख़तरे से बच जायँगे ?

इलाहाबाद कांग्रेस कमिटी ने अपनी मज़बूत किसान-सेना के साथ लड़ाई की तैयारी की। उसने फ़ैसला किया कि उसके लिए किसानों को अदायगी करने की सलाह देना सम्भव नहीं है। मगर यह कह दिया गया कि प्रान्तीय कार्यकारिणी और अखिल-भारतीय कार्य-समिति की बाक़ायदा मंजूरी के बिना वह कोई आक्रमणात्मक कार्य नहीं कर सकती। इसलिए मामला कार्य-समिति के सामने पेश किया गया, और प्रान्त और ज़िले की तरफ़ से अपना मामला समझाने के लिए तसद्दुक़ अहमदख़ाँ शेरवानी और पुरुषोत्तमदास टण्डन दोनों ही मौजूद रहे। हमारे सामने जो सवाल था वह सिर्फ़ इलाहाबाद ज़िले से ही वास्ता रखता था और वह शुद्ध आर्थिक मामला था, मगर हम जानते थे कि उस समय जैसी राजनैतिक तनातनी हो रही थी उसमें उसका परिणाम व्यापक हो सकता था। क्या इलाहाबाद ज़िला कांग्रेस कमिटी को यह इजाज़त दे दी जाय कि वह फ़िलहाल, जबतक कि आगे समझौते की बातचीत न हो ले और ज़्यादा अच्छी शर्तें न मिल जायँ तबतक के लिए, लगान या मालगुज़ारी जमा न करने की सलाह किसानों को दे ? यह एक छोटा मामला था और हम उसकी मर्यादा में ही रहना भी चाहते थे, लेकिन क्या हम ऐसा कर सकते थे ? कार्य-समिति गांधीजी के लौटने से पहले सरकार से लड़ पड़ने की स्थिति से बचने के लिए अपनी शक्ति-भर कोशिश करना चाहती थी, और ख़ासकर वह एक ऐसी आर्थिक समस्या पर तो लड़ाई को टालना चाहती थी जिसके वर्ग-समस्या बन जाने की सम्भावना थी। कमिटी यद्यपि राजनैतिक दृष्टि से आगे बढ़ी हुई थी, लेकिन सामाजिक दृष्टि से तो आगे बढ़ी हुई नहीं थी, और उसे किसानों और ज़मींदारों का आपसी झगड़ा खड़ा होना पसन्द न था।

चूँकि मेरा झुकाव समाजवाद की तरफ़ था, मुझे आर्थिक और सामाजिक मामलों में सलाह देने के लिए अधिक भरोसे का आदमी न समझा गया। मुझे ख़ुद यह अनुभव हो रहा था कि कार्य-समिति को यह मालूम हो जाना चाहिए कि युक्तप्रान्त की परिस्थिति ही ऐसी है कि हमारे ज़्यादा नरम पक्ष के मेम्बर भी, संघर्ष करने की पूरी अनिच्छा रखते हुए भी, घटनाओं से मजबूर होकर संघर्ष करना चाहते हैं, इसलिए मैंने हमारे कमिटी की मीटिंग में हमारे प्रान्त से तसद्दुक़ अहमदख़ाँ शेरवानी और दूसरे लोगों के आने को बहुत अच्छा समझा, क्योंकि शेरवानी, जो हमारे प्रान्त के सभापति थे, किसी भी प्रकार उग्र नहीं

थे। स्वभाव से, राजनैतिक और सामाजिक दोनों रूप में वह कांग्रेस में नरम पक्ष के समझे जाते थे, और साल के शुरू में उनके विचार युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमिटी की किसानों-सम्बन्धी नीति के विरुद्ध हो गये थे। मगर जब वह ख़ुद कमिटी के सदर बन गये और उन्हें ख़ुद बोझ उठाना पड़ा, तो उन्होंने समझ लिया कि हमारे लिए दूसरा कोई चारा ही नहीं है। प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी ने बाद में जो-जो भी क़दम उठाया वह उनके घने-से-घने सहयोग के साथ, और अक्सर प्रधान की हैसियत से उन्हींकी मार्फ़त, उठाया।

इसलिए कार्य-समिति के सामने तसद्दुक़ अहमदख़ाँ शेरवानी की बहस से मेम्बरों पर बड़ा असर पड़ा—मैं जितना असर डाल सकता था, उससे कहीं ज़्यादा। बहुत हिचकिचाहट के बाद, लेकिन यह महसूस करके कि वह उससे इन्कार नहीं कर सकते हैं उन्होंने युक्तप्रान्तीय कमिटी को अधिकार दे दिया कि वह अपने किसी भी इलाक़े में लगान और मालगुज़ारी की अदायगी को स्थगित करने की इजाज़त दे सकती है। मगर साथ ही उन्होंने युक्तप्रान्त के लोगों पर ज़ोर दिया कि हो सके तो वे इस क़दम को न उठायें, और प्रान्तीय सरकार से समझौते की बातचीत चलाते रहें।

कुछ समय तक यह बातचीत चलायी भी गयी; लेकिन नतीजा कुछ भी नहीं हुआ। मेरा ख़याल है कि इलाहाबाद ज़िले की छूट में थोड़ा-सा इज़ाफ़ा कर दिया गया। साधारण परिस्थिति में शायद यह संभव था कि आपस में समझौता हो जाता या खुला संघर्ष रुक जाता। सरकार और किसानों का मत-भेद कम होता जा रहा था। मगर परिस्थिति बहुत ही असाधारण थी, और सरकार और कांग्रेस दोनों ही तरफ़ से यह भावना थी कि जल्दी ही संघर्ष होना लाज़िमी है, और हमारी निपटारे की बात-चीत की तह में कोई असलियत नहीं थी। दोनों तरफ़ से जो-जो क़दम उठाया जाता, उसमें ऐसा ही दिखता था कि यह अपने लिए अच्छी स्थिति पैदा कर लेने की इच्छा से उठाया जा रहा है। इसके लिए सरकार की तैयारियाँ तो गुप्तरूप से हो सकती थीं, और दरअसल सोलहों आना हो भी गयी थीं। लेकिन हमारी शक्ति तो बिलकुल लोगों के नैतिक बल पर ही टिकी हुई थी, और इसकी तैयारी गुप्त कार्रवाइयों से नहीं हो सकती थी। हममें से कुछ लोगों ने तो, और मैं भी उन्हीं अपराधियों में से था, सार्वजनिक भाषणों में यह बार-बार कहा था कि आज़ादी की लड़ाई हरगिज़ ख़त्म नहीं हुई है, और हमें निकट-भविष्य में कई परीक्षाओं और कठिनाइयों से गुज़रना पड़ेगा। हमने लोगों से कहा कि वे इसके लिए हमेशा तैयार रहें, और इसी कारण हमें लड़ाई छेड़नेवाला कहकर हमारी आलोचना की गयी थी। वास्तव में मध्यमवर्ग के कांग्रेसी-कार्यकर्त्ताओं में वस्तुस्थिति का मुक़ाबला करने की साफ़ अनिच्छा मालूम होती थी, और उन्हें आशा थी कि किसी-न-किसी तरह संघर्ष टल जायगा। गांधीजी का लन्दन में रहना भी अख़बार पढ़नेवाले लोगों को चक्कर में डाले हुए

था। मगर पढ़े-लिखे लोगों की इस निष्क्रियता के होते हुए भी घटनाएं आगे ही बढ़ती गयीं, ख़ासकर बंगाल, सीमाप्रान्त और युक्तप्रान्त में—और नवम्बर में कई लोगों को यह दीखने लगा कि संकट निकट आ गया है।

युक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी ने, इस डर से कि अचानक न जाने कैसी घटनाएं हो जायँ, लड़ाई शुरू होने की अवस्था के लिए कुछ आन्तरिक व्यवस्था कर डाली। इलाहाबाद-कमिटी ने एक बड़ी किसान-कान्फ्रेंस बुलायी, जिसमें एक अस्थायी प्रस्ताव पास किया गया कि अगर ज़्यादा अच्छी शर्तें न मिल सकेंगी, तो उन्हें किसानों को लगान और मालगुज़ारी रोक लेने की सलाह देनी पड़ेगी। इस प्रस्ताव से प्रान्तीय-सरकार बहुत नाराज़ हुई, और इसी को, 'लड़ाई का पर्याप्त कारण' समझकर उसने हमारे साथ आगे कोई भी बात-चीत करने से इन्कार कर दिया। इस रुख़ का प्रान्तीय कांग्रेस पर भी असर पड़ा, और उसने इसको आनेवाले तूफ़ान का इशारा समझा और जल्दी-जल्दी अपनी तैयारियाँ करनी शुरू कीं। इलाहाबाद में एक और किसान-कान्फ्रेंस हुई, जिसमें पहले से भी ज़्यादा तेज़ और निश्चित प्रस्ताव पास किया गया। इसमें किसानों से कहा गया कि वे आगे और निपटारे की बातचीत होने और ज़्यादा अच्छी शर्तें मिलने तक के लिए अदायगी रोक लें। उस समय भी, और अन्त तक, हमारी लड़ाई का रुख़ यह नहीं था कि 'लगान न दिया जाय' मगर यह था कि 'मुनासिब लगान दिया जाय'। और हम लगातार बातचीत करने की दरख़्वास्त देते ही रहे, हालाँकि दूसरा पक्ष ऐंठ में दूर हट गया था। इलाहाबाद का प्रस्ताव ज़मींदारों और काश्तकारों दोनों पर लागू होता था, मगर हम जानते थे कि अमल में वह काश्तकारों और कुछ छोटे ज़मींदारों पर ही लागू होगा।

नवम्बर १९३१ के अन्त और दिसम्बर के आरम्भ में युक्तप्रान्त में यह परिस्थिति थी। इस बीच बंगाल और सीमा-प्रान्त में भी घटनाएं सीमा तक पहुँच चुकी थीं, और बंगाल में एक नया और भयंकर रूप से व्यापक आर्डिनेंस जारी कर दिया गया था। ये सब लड़ाई के लक्षण थे, समझौते के नहीं, और प्रश्न उठता था कि गांधीजी कब लौटेंगे? सरकार ने जिस बड़े प्रहार की तैयारी बहुत अर्से से कर रक्खी थी, उसके शुरू किये जाने से पहले क्या गांधीजी हिन्दुस्तान आ पहुँचेंगे? या वह यहाँ पहुँचकर यह देखेंगे कि उनके कई साथी जेल जा चुके हैं और लड़ाई चालू हो गयी है? हमें मालूम हुआ कि वह इंगलैण्ड से चल चुके हैं और महीने के अन्तिम हफ़्ते में बम्बई आ पहुँचेंगे। हममें से हरेक मुख्य कार्यालय का या प्रान्तों का हर प्रमुख कार्यकर्त्ता, उनके लौटने तक संघर्ष को टालना चाहता था। और लड़ाई की दृष्टि से भी हमारे लिए यह उचित था कि हम उनसे मिल लें, और उनकी सलाह और हिदायतें पा लें। पर यह एक ऐसी दौड़ थी, जिसमें हम मजबूर थे। इसको रोक रखना या शुरू करना तो ब्रिटिश सरकार के हाथ में था।

४०

सुलह का खात्मा

युक्तप्रान्त में व्यस्त रहते हुए भी बहुत दिनों से मेरी यह इच्छा थी कि मैं दूसरे दोनों तूफ़ानी केन्द्रों, सीमाप्रान्त और बंगाल में भी हो आऊँ। मैं उस जगह जाकर वहाँ की परिस्थिति का अध्ययन करना, और अपने पुराने साथियों से, जिनमें अनेक को मैंने क़रीब दो साल से नहीं देखा था, मिलना चाहता था। मगर, सबसे ज़्यादा, मैं यह चाहता था कि मैं उन प्रान्तों के लोगों की भावना और हिम्मत और राष्ट्रीय संग्राम में उनकी क़ुर्बानियों के प्रति, अपनी तरफ़ से सम्मान प्रकट करूँ। सीमाप्रान्त में तो कुछ समय के लिए मैं जा ही नहीं सकता था, क्योंकि भारत सरकार यह पसन्द नहीं करती थी कि कोई प्रमुख कांग्रेसी वहाँ जाय और उसके इस रुख़ को देखते हुए हम वहाँ जाने और अड़चन पैदा करने की कोई इच्छा नहीं रखते थे।

बंगाल में स्थिति बिगड़ती जा रही थी, और हालाँकि उस प्रान्त की तरफ़ मुझे बहुत आकर्षण था, फिर भी जाने के पहले मुझे हिचकिचाहट हुई। मैं अनुभव करता था कि मैं वहाँ असहाय-सा रहूँगा, और कुछ भी फ़ायदा न पहुँचा सकूँगा। उस प्रान्त में कांग्रेसी लोगों के दो दलों के शोचनीय और दीर्घकालीन झगड़ों के सबब से अन्य प्रान्तों के कांग्रेसवाले डर गये थे; और दूर-दूर-से रह रहे थे, क्योंकि उन्हें भय था कि वे भी किसी-न-किसी दल में शामिल समझ लिये जायँगे। यह बड़ी कमज़ोर और शुतुर्मुर्ग़-जैसी नीति थी, और इससे बंगाल की समस्या के सरल या हल होने में मदद नहीं मिली। गांधीजी के लन्दन जाने के कुछ वक़्त बाद ही दो घटनाएं अचानक ऐसी हुईं जिनसे सारे हिन्दुस्तान का ध्यान बंगाल की स्थिति पर केन्द्रित हो गया। ये दोनों घटनाएं हिजली और चटगाँव में हुई थीं।

हिजली नज़रबन्दों के लिए ख़ासतौर पर बनाया हुआ एक डिटेंशन कैम्प-जेल था। सरकारी तौर पर यह घोषित किया गया कि कैम्प के अन्दर एक दंगा हो गया और नज़रबन्दों ने जेल के अधिकारियों पर हमला कर दिया, इसलिए उनपर मजबूरन जेलवालों को गोली चलानी पड़ी थी। इस गोलीकाण्ड से एक नज़रबन्द मारा गया और कई घायल हुए। स्थानीय सरकार-द्वारा की गयी जाँच में, जो उसके बाद ही फ़ौरन हुई थी, जेलवालों को इस गोलीकाण्ड और इसके नतीजों से बिलकुल बरी कर दिया। मगर इस घटना में कई विचित्र बातें हुईं, और कई तथ्य ऐसे प्रकट हो गये, जो सरकारी बयान से मेल नहीं खाते थे, और जगह-जगह से इसकी ज़्यादा जाँच करने की ज़ोरदार और ज़बरदस्त माँग की गयी। हिन्दुस्तान के आम सरकारी रिवाज के ख़िलाफ़ बंगाल-सरकार ने एक

ऐसी जाँच कमिटी बैठाई, जिसमें सब ऊँचे-ऊँचे जुडिशियल अफ़सर ही थे। वह शुद्ध सरकारी कमिटी थी, लेकिन उसने गवाहियाँ लीं और मामले पर पूरा विचार किया, और उसकी रिपोर्ट नज़रबन्दी जेल के मुलाज़िमों के ख़िलाफ़ हुई। यह मान लिया गया कि क़सूर ज़्यादातर जेल के अधिकारियों का ही था, और गोलीकाण्ड बिल्कुल अनुचित था। इस तरह सरकार की जो पहले विज्ञप्तियाँ निकली थीं वे बिलकुल झूठी साबित हुईं।

हिजली की घटना कोई बहुत असाधारण घटना नहीं थी। बदक़िस्मती से ऐसी घटनाएँ हिन्दुस्तान में कम नहीं होतीं और जेल के अन्दर दंगों के होने की और जेल में हथियार-बन्द वार्डरों और दूसरे लोगों द्वारा निहत्थे और बेबस क़ैदियों के बहादुरी से दबाये जाने की ख़बरें अक्सर पढ़ने को मिला करती हैं। हिजली में असाधारण बात यही हुई कि उसमें ऐसी घटनाओं के बारे में सरकारी विज्ञप्तियों के बिलकुल एकतर्फ़ापन और झूठेपन की पोल खुल गयी और वह भी सरकारी रिपोर्ट से ही। पहले ही सरकार की विज्ञप्तियों का कोई भरोसा नहीं किया जाता था, मगर अब तो उनका पूरा-पूरा भण्डाफोड़ ही हो गया।

हिजली-काण्ड के बाद तो जेल में दंगा, जिनमें जेलवालों-द्वारा कहीं गोली चलायी जाती थी और कहीं दूसरे प्रकार का कोई बल-प्रयोग किया जाता था, सारे हिन्दुस्तान में बड़ी तादाद में होने लगे। अजरज की बात यह है कि इन जेल के दंगों में चोट सिर्फ़ क़ैदियों को ही लगती मालूम होती थी। क़रीब-क़रीब हर मामले में एक सरकारी वक्तव्य निकलता था, जिसमें क़ैदियों पर कई बेजा हरकतों का इलज़ाम लगाया जाता था, और जेल के अधिकारियों को बचाया जाता था। बहुत ही कम उदाहरण ऐसे होंगे जिनमें जेलवालों को महकमे की तरफ़ से कोई सज़ा दी गयी होगी। पूरी जाँच करने की तमाम माँगों के लिए बिलकुल इन्कार कर दिया गया सिर्फ़ महकमे की एकतरफ़ा जाँच ही काफ़ी समझी गयी। साफ़ ज़ाहिर था कि सरकार ने हिजली से अच्छी तरह सबक़ सीख लिया था कि उचित और निष्पक्ष जाँच कराने में ख़तरा रहता है और दोष देनेवाला ही ख़ुद अपने इलज़ाम का सबसे अच्छा जज होता है। तो फिर इसमें भी क्या ताज्जुब है कि लोगों ने भी हिजली से सबक़ सीख लिया हो, कि सरकारी विज्ञप्तियों में वही बात कही जाती है जो सरकार हमसे कहना चाहती है, न कि वह जो दरअसल हुई होती है?

चटगाँव की घटना तो इससे भी ज़्यादा गम्भीर थी। एक आतंकवादी ने किसी एक मुसलमान पुलिस इन्सपेक्टर को गोली से मार डाला। इसके बाद ही एक हिन्दू-मुस्लिम दंगा हो गया, या उसे ऐसा नाम दिया गया। मगर यह तो ज़ाहिर था कि मामला इससे बहुत ज़्यादा था और वह मामूली दंगों से कुछ भिन्न था। यह साफ़ था कि आतंकवादी के काम का साम्प्रदायिकता से कोई सम्बन्ध न था; वह हमला तो हिन्दू या मुसलमान का ख़याल न रखते हुए

एक पुलिस अफ़सर पर हुआ था। फिर भी यह तो सही ही है कि बाद में हिन्दू-मुसलमानों में कुछ झगड़ा भी हो गया। यह झगड़ा कैसे शुरू हुआ, उसके होने का कारण कौन-सा था, यह साफ़ नहीं बताया गया, हालाँकि ज़िम्मेदार सार्वजनिक व्यक्तियों ने इस मामले में बहुत संगीन इलज़ाम लगाये हैं। इस दंगे की एक और विशेषता यह थी कि इसमें दूसरी जातियों के निश्चित समुदायों ने —एंग्लो-इण्डियनों ने और ख़ासकर रेलवे के मुलाज़िमों ने या दूसरे सरकारी मुलाज़िमों ने भी—जिनके बारे में कहा जाता है कि उन्होंने बड़े पैमाने पर बदला लेने के कार्य किये—हिस्सा लिया। जे० एम० सेनगुप्त और बंगाल के दूसरे मशहूर नेताओं ने चटगांव की घटनाओं के सम्बन्ध में कई निश्चित आरोप लगाये, और उन्होंने जाँच करने या मानहानि का मुक़दमा चलाने तक की चुनौती दी मगर फिर भी सरकार ने कोई कार्रवाई न करना ही मुनासिब समझा।

चटगाँव की इन कुछ असाधारण घटनाओं से दो ख़तरनाक संभावनाओं की तरफ़ विशेष ध्यान गया। आतंकवाद की कई दृष्टियों से निंदा की गई थी; और आधुनिक क्रान्तिकारी पद्धति भी उसको बुरा बताती थी। मगर उसका एक फल ऐसा भी हो सकता था, जिससे मुझे ख़ासकर भय लगता था। वह संभावना थी हिन्दुस्तान में इक्के-दुक्के और साम्प्रदायिक हिंसा-काण्डों का फैलना। हालाँकि मैं हिंसा-काण्डों को नापसन्द करता हूँ लेकिन मैं उनसे डर जानेवाला 'डरपोक हिन्दू' नहीं हूँ। मगर मैं यह ज़रूर महसूस करता हूँ कि हिन्दुस्तान में फूट फैलानेवाली ताक़तें अभीतक भी बहुत बढ़ी-चढ़ी हैं, और अगर ऐसे इक्के-दुक्के हिंसा-काण्ड होने लगेंगे तो उनसे उन ताक़तों को मदद मिल जायगी, और एक संयुक्त और अनुशासन-युक्त राष्ट्र बनाने का काम आज से भी ज़्यादा मुश्किल हो जायगा। जब लोग मज़हब के नाम पर या स्वर्ग जाने के लिए क़त्ल करते हैं, तो ऐसे लोगों को आतंककारी हिंसा का अभ्यास करा देना बड़ी ख़तरनाक बात होगी। राजनैतिक ख़ून करना बुरा है। लेकिन राजनैतिक आतंकवादी को समझाकर अपनी राय का बना लिया जा सकता है, क्योंकि शायद उसका लक्ष्य सांसारिक है, और व्यक्तिगत नहीं बल्कि राष्ट्रीय है। मगर धर्म के नाम पर ख़ून करना तो और भी बुरा है, क्योंकि उसका सम्बन्ध इस लोक से नहीं है, परलोक में सद्गति पाने से है, और ऐसे मामलों में दलील से समझाने की भी कोई कोशिश नहीं कर सकता। कभी-कभी तो दोनों के बीच का अन्तर बहुत ही बारीक रहता है और क़रीब-क़रीब मिट-सा जाता है, और राजनैतिक हत्या, एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया से, अर्द्ध-धार्मिक बन जाती है।

चटगाँव में एक आतंकवादी-द्वारा एक पुलिस-अफ़सर की हत्या किये जाने और उसके नतीजों से हरेक को बहुत साफ़-साफ़ यह अनुभव होने लगा कि आतंककारी हलचलों से बड़ी ख़तरनाक बातें पैदा हो सकती हैं और हिन्दुस्तान की एकता और आज़ादी के काम को बेहद नुक़सान पहुँच सकता है। इसके

बाद जो बदला लेने की घटनाएं हुईं उनसे भी हमें मालूम हुआ कि हिन्दुस्तान में फ़ासिस्ट तरीक़े पैदा हो चुके हैं। तब से ऐसी बदला लेने की घटनाएं,ख़ासकर बंगाल में बहुत हुई हैं और यह फ़ासिस्ट मनोवृत्ति यूरोपियन और एंग्लो-इंडियन जातियों में तो निःसन्देह फैल चुकी है। हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कई पिछलग्गुओं में भी यह मनोवृत्ति घर कर चुकी है।

पर यह एक विचित्र बात है, कि ख़ुद आतंककारियों का या उनमें से कई लोगों का भी यही फ़ासिस्ट दृष्टिकोण है। लेकिन उसकी दिशा कुछ दूसरी है। उनका राष्ट्रीय फ़ासिस्ट-वाद यूरोपियनों, एंग्लो-इण्डियनों और कुछ ऊँची श्रेणी-वाले हिन्दुस्तानियों के साम्राज्यवादी फ़ासिस्टवाद का जवाब है।

नवम्बर १९३१ में मैं कुछ दिनों के लिए कलकत्ता गया। वहाँ मेरा कार्यक्रम बहुत भरा-पूरा रहा, और निजी तौर पर लोगों और समूहों से मिलने के अलावा मैंने कई सार्वजनिक सभाओं में भाषण भी दिये। इन सब सभाओं में मैंने आतंक-वाद के प्रश्न पर भी चर्चा की और यह बताने की कोशिश की कि हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिए वह कितना ग़लत, बेकार और हानिकारक है। मैंने आतंक-वादियों को बुरा नहीं कहा, न मैंने अपने कुछ ऐसे देशवासियों की तरह उन्हें 'कायर' ही कहा, जिन्होंने शायद ही कभी पराक्रम या ख़तरे का कोई काम करने का साहस किया हो। मुझे हमेशा यह बड़ी बेवक़ूफ़ी की बात मालूम हुई है कि ऐसे स्त्री या पुरुष को, जो लगातार अपनी जान को हथेली पर लिये रहता है, 'कायर' कहा जाय। इसका असर उस आदमी पर यह होता है कि वह अपने डरपोक समालोचकों को, जो दूर खड़े रहकर ही चिल्लाते हैं लेकिन कर कुछ भी नहीं सकते, तिरस्कार की निगाह से देखने लगता है।

कलकत्ते से रवाना होने के लिए स्टेशन पर जाने से थोड़ी देर पहले वहाँ शाम को मेरे पास दो युवक आये। वे बहुत ही कम उम्र के, क़रीब बीस-बीस साल के, नौजवान थे। उनके चेहरे फीके थे और उनपर घबराहट झलक रही थी। उनकी आँखें चमकदार थीं। मुझे मालूम नहीं कि वे कौन थे, लेकिन मैं अटकल से समझ गया कि उनका काम क्या था। वे मेरे आतंकवादी हिंसा के विरुद्ध प्रचार करने के कारण मुझपर बहुत ग़ुस्सा थे। उन्होंने कहा कि उससे नवयुवकों पर बहुत बुरा असर पड़ रहा है, और इस तरह मेरा हस्तक्षेप करना वे पसन्द नहीं करते हैं। हमने थोड़ी-सी बहस भी की, लेकिन वह बड़ी जल्दी-जल्दी में हुई, क्योंकि मेरे रवाना होने का समय पास आ रहा था। मेरा ख़याल है कि उस समय हमारी आवाज़ तेज़ और हमारा मिज़ाज कुछ गरम हो गया था, और मैंने उनसे कुछ कड़ी बातें भी कह दी थीं; और जब मैं उन्हें वहीं छोड़कर चलने लगा तो उन्होंने मुझे अन्तिम चेतावनी दी कि "अगर आगे भी आपका यही रुख़ रहा तो हम आपके साथ भी वही बर्ताव करेंगे जैसा कि हमने दूसरों के साथ किया है।"

मैं कलकत्ते से चल तो दिया, मगर रात को गाड़ी में अपनी बर्थ पर लेटे-लेटे, मेरे दिमाग़ में उन्हीं दोनों लड़कों के उत्तेजित चेहरे बहुत देर तक चक्कर काटते रहे। उनमें जीवन और जोश भरा हुआ था, अगर वे ठीक रास्ते पर लग जाते तो कितने अच्छे बन सकते थे! मुझे दुःख हुआ कि मैंने उनके साथ जल्दी-जल्दी में बातें की और कुछ रूखा व्यवहार किया। काश मुझे लम्बी बातचीत करने का मौक़ा मिलता! शायद मैं उन्हें दूसरी दिशाओं में, हिन्दुस्तान की सेवा और आज़ादी के रास्ते में, जिसमें कि साहस और आत्मत्याग के मौक़ों की कमी न थी, अपने होनहार जीवन को लगाने की बात समझा सकता। उस घटना के बाद भी मैं अक्सर उन लोगों का विचार किया करता हूँ। मुझे उनके नाम मालूम न हो सके, और न उनका मुझे बाद में भी कुछ पता लगा। मैं कई बार सोचता हूँ कि न जाने वे मर चुके हैं, या अण्डमन के टापुओं की किन्हीं कोठरियों में बन्द हैं।

दिसम्बर का महीना था। इलाहाबाद में दूसरी किसान-कान्फ्रेंस हुई, और फिर मैं हिन्दुस्तानी सेवा-दल के अपने पुराने साथी डॉक्टर एन० एस० हार्डिकर को दिये अपने पिछले वादे को पूरा करने के लिए जल्दी में कर्नाटक गया। सेवा-दल राष्ट्रीय आन्दोलन का एक अंग था। वह हमेशा कांग्रेस का सहायक रहा, यद्यपि उसका संगठन बिलकुल अलग ही था। लेकिन १९३१ की गरमियों में कार्य-समिति ने उसे बिलकुल कांग्रेस में शामिल करने और उसे कांग्रेस का ही स्वयंसेवक-विभाग बना लेने का निश्चय कर लिया। ऐसा हो भी गया, और वह विभाग हार्डिकर को और मुझे सौंपा गया। दल का हेडक्वार्टर हुबली (कर्नाटक) शहर में ही रहा, और हार्डिकर ने मुझे दल सम्बन्धी कई कामों के लिए वहाँ बुलाया था। वहाँ से वह मुझे कुछ दिन के लिए कर्नाटक में दौरा करने को ले गये। वहाँ सब जगह लोगों में ज़बरदस्त जोश देखकर मैं दंग रह गया। लौटते हुए मैं शोलापुर भी गया, जिसका नाम फ़ौजी क़ानून (मार्शल लॉ) के दिनों में मशहूर हो चुका था।

कर्नाटक के उस दौरे ने मेरे लिए विदाई के समारोह का रूप धारण कर लिया। मेरे भाषण विदाई के गीत जैसे लगते थे, लेकिन उनमें संगीत के बजाय लड़ाई का सुर था। युक्तप्रान्त से जो ख़बर मिली वह निश्चित और स्पष्ट थी। सरकार ने वार कर दिया था, और सख़्त वार किया था। इलाहाबाद से कर्नाटक जाते हुए मैं कमला के साथ बम्बई गया था। वह फिर बीमार हो गयी थी। मैंने बम्बई में उसके इलाज की व्यवस्था करदी। बम्बई में ही, और लगभग हमारे इलाहाबाद से वहाँ पहुंचने के बाद ही, हमें यह पता लगा कि भारत-सरकार ने युक्तप्रान्त के लिए एक ख़ास 'आर्डिनेंस' निकाल दिया है! सरकार ने निश्चय कर लिया था कि वह गांधीजी के आने की बाट न देखेगी, हालाँकि गांधीजी जहाज़ पर चल दिये थे, और जल्दी ही बम्बई आ जानेवाले थे। कहने को तो यह आर्डिनेंस किसानों के आन्दोलन के ही लिए निकाला गया था, लेकिन वह इतना

ज़्यादा विस्तृत था कि उससे हर प्रकार की राजनैतिक या सार्वजनिक प्रवृत्ति असम्भव हो गयी। उसमें बच्चों या नाबालिग़ों के अपराधों के लिए माता-पिताओं या संरक्षकों को सज़ा देने का विधान भी किया गया। यह इंजील की प्राचीन प्रथा की ठीक उलटी आवृत्ति थी।[1]

लगभग इन्हीं दिनों हमने गांधीजी की उस बातचीत की ख़बर पढ़ी, जो रोम में 'जरनेल दि इटैलिया' के प्रतिनिधि से हुई बताई गयी थी। इसे पढ़कर हम अचम्भे में पड़ गये, क्योंकि इस तरह रोम में राह चलते 'इंटरव्यू' दे देना उनकी आदत के ख़िलाफ़ था। ज़्यादा ग़ौर से जाँच करने पर कई शब्द और वाक्य ऐसे मिले जो उनके प्रयोग में नहीं आते थे, और उसका खण्डन आने से पहले ही हमें साफ़ तौर से मालूम हो गया था कि जिस तरह की 'इंटरव्यू' प्रकाशित हुई है वह उनकी दी हुई नहीं हो सकती। हमारा ख़याल हुआ कि उन्होंने जो कुछ भी कहा होगा, उसको बहुत ज़्यादा तोड़-मरोड़कर बनाया गया है। बाद में तो गांधीजी का ज़ोरदार खण्डन भी निकला और यह वक्तव्य भी निकला कि उन्होंने रोम में कोई इंटरव्यू ही नहीं दी। हमें तो स्पष्ट मालूम था ही कि किसी ने उनके साथ यह चालाकी की है। मगर हमें आश्चर्य इस बात से हुआ कि ब्रिटिश अख़बारों और सार्वजनिक लोगों ने उनकी बात पर विश्वास नहीं किया और तिरस्कार के साथ उन्हें झूठा बतलाया। इससे हमें चोट पहुँची और ग़ुस्सा भी आया।

मैं इलाहाबाद वापस जाने और कर्नाटक का दौरा बन्द कर देने को उत्सुक था। मुझे लगा कि मुझे तो अपने सूबे में अपने साथियों के साथ रहना चाहिए, और जब अपने घर-आँगन में इतनी घटनाएं हो रही हों, तब उनसे बहुत दूर रहना मेरे लिए एक कठोर परीक्षा ही थी। फिर भी मैंने निश्चय किया कि मैं कर्नाटक के कार्यक्रम को पूरा ही कर डालूँ। मेरे बम्बई आने पर कुछ मित्रों ने मुझे सलाह दी कि मैं गांधीजी की वापसी तक ठहरा रहूँ। वे एक ही सप्ताह बाद आनेवाले थे। मगर यह असम्भव था। इलाहाबाद से पुरुषोत्तमदास टण्डन और दूसरे लोगों की गिरफ़्तारी की ख़बर आयी। इसके अलावा हमारी प्रान्तीय कान्फ़्रेंस भी इटावा में उसी हफ़्ते में होनेवाली थी। इसलिए मैंने तय किया कि मैं पहले इलाहाबाद जाऊँ और फिर एक हफ़्ते बाद, अगर आज़ाद रहा तो, गांधीजी से

---

[1] यहाँ थोड़ा व्यंग है। बाइबिल (इंजील) में एक जगह पैग़म्बर मूसा ईश्वर के दस आदेश (Ten Commandments) गिनाते हैं, जिसमें एक जगह पर वह कहते हैं--"होशियार! तुम बुरे देवों को मत पूजना क्योंकि ईश्वर तो ईर्ष्यालु देव है, दूसरे देवताओं की पूजा सहन नहीं कर सकता। माता पिताओं के पापों के फल तीसरी-चौथी पीढ़ी तक उनकी सन्तानों को भोगने पड़ते हैं (ड्युटे पृ० ६)"। इसकी उलटी आवृत्ति, अर्थात् सन्तानों के कुकर्म के फल माता-पिता भोगें। —अनु०

मिलने और कार्य-समिति की बैठक में सम्मिलित होने को बम्बई लौट आऊँ। कमला को मैंने रोग-शय्या पर बम्बई में ही छोड़ा।

मुझे इलाहाबाद पहुँचने से पहले ही, छिउकी स्टेशन पर नये आर्डिनेंस के अनुसार एक हुक्म मिला। इलाहाबाद स्टेशन पर उसी हुक्म की दूसरी नक़ल मुझे देने की कोशिश की गयी। और मेरे मकान पर भी एक तीसरे व्यक्ति ने ऐसा ही तीसरा प्रयत्न किया। ज़ाहिर था कि सरकार कोई भी जोखिम उठाना नहीं चाहती थी। उस हुक्म के मुताबिक़ मैं इलाहाबाद म्युनिसिपल हद के अन्दर नज़रबन्द कर दिया गया, और मुझसे कहा गया कि मुझे किसी भी सार्वजनिक सभा या समारोह में शामिल नहीं होना चाहिए, किसी सभा में भाषण न करना चाहिए। किसी अख़बार, पत्रिका या पर्चे में कोई लेख नहीं लिखना चाहिए। और भी कई पाबन्दियाँ लगा दी गयी थीं। मुझे मालूम हुआ कि मेरे साथियों के नाम भी, जिनमें तसद्दुक़ अहमदख़ाँ शेरवानी भी थे, इसी प्रकार के हुक्मजारी किये गये थे। दूसरे दिन सवेरे ही मैंने ज़िला-मैजिस्ट्रेट को (जिसने हुक्म जारी किये थे) लिख दिया कि मुझे क्या करना चाहिए या क्या न करना चाहिए इसकी बाबत मैं आपसे हुक्म लेना नहीं चाहता; मैं अपना साधारण काम साधारण रूप से करूँगा, और अपने काम के सिलसिले में इस हफ़्ते मैं गांधीजी से मिलने और कार्य-समिति की, जिसका मैं सेक्रेटरी हूँ, बैठक में शरीक होने बम्बई जानेवाला हूँ।

एक नयी समस्या भी हमारे सामने खड़ी हो गयी। हमारी युक्तप्रान्तीय-कान्फ्रेंस उसी हफ़्ते इटावे में होनेवाली थी। बम्बई से मैं इस कान्फ्रेंस को स्थगित करवाने की तजवीज़ पेश करने के इरादे से आया था, क्योंकि एक तो वह गांधीजी के आने के दिनों में ही होनेवाली थी, और दूसरे सरकार से अभी संघर्ष भी टालना था। लेकिन मेरे इलाहाबाद आने से पहले ही यू० पी० सरकार की तरफ़ से हमारे प्रधान शेरवानी साहब के पास एक ताकीदी ख़त आया था, जिसमें पूछा गया था कि क्या आपकी कान्फ्रेंस में किसानों की समस्या पर भी विचार किया जायेगा? क्योंकि अगर ऐसा होनेवाला हो, तो सरकार कान्फ्रेंस को ही बन्दकर देगी। यह तो साफ़ ज़ाहिर था कि कान्फ्रेंस का ख़ास उद्देश्य ही किसानों की समस्या पर विचार करना था, जिससे कि सारे प्रान्त में खलबली मच रही थी। कान्फ्रेंस करना और उसमें इस सवाल पर ग़ौर न करना तो मूर्खता की हद थी और अपने-आपकी हँसी करानी ही थी। कुछ भी हो, हमारे प्रधान को या और किसी को भी यह अख़्तियार न था कि वह कान्फ्रेंस को किसी बात के लिए पहले से बाँध दे। सरकार की धमकी के बिना भी हम कुछ लोगों का तो यह इरादा था ही कि कान्फ्रेंस स्थगित की जाय, मगर इस धमकी से तो बात ही और हो गयी। हममें से कई लोग ऐसे मामलों में तो कुछ-कुछ आग्रही थे, और सरकार-द्वारा हमें ऐसा हुक्म दिया जाना किसी को अच्छा न लगा। फिर भी, बड़ी बहस के बाद, हमने तय कर लिया कि इस वक़्त अपने स्वाभिमान को पी जाना चाहिए

और कान्फ्रेंस को स्थगित कर देना चाहिए। हमने यह फ़ैसला इसलिए किया कि हम गांधीजी के आने तक लड़ाई को, जो शुरू तो हो ही चुकी थी, किसी भी हालत में ज़्यादा बढ़ाना नहीं चाहते थे। हम उन्हें ऐसी परिस्थिति के अंदर नहीं डाल देना चाहते थे, जिसमें वह बागडोर अपने हाथ में न ले सकें। हमारे प्रान्तीय कान्फ्रेंस को स्थगित कर देने पर भी इटावा में पुलिस और फ़ौज का ख़ूब प्रदर्शन किया गया, कुछ भूले-भटके प्रतिनिधि, जो वहाँ पहुँच गये थे, गिरफ़्तार कर लिये गये, और वहाँ लगी स्वदेशी-प्रदर्शनी पर फ़ौज ने कब्ज़ा कर लिया।

शेरवानी ने और मैंने २६ दिसम्बर की सुबह को इलाहाबाद से बम्बई रवाना होना तय किया। शेरवानी को कार्य-समिति की मीटिंग में यू० पी० की स्थिति पर विचार करने के लिए ख़ासतौर पर बुलावा दिया गया था। हम दोनों को ही आर्डिनेंस के मुताबिक़ यह हुक्म मिल चुके थे कि हम इलाहाबाद शहर न छोड़ें। कहा गया था कि आर्डिनेंस यू० पी० के इलाहाबाद और दूसरे ज़िलों में लगानबन्दी की हलचलों के ख़िलाफ़ जारी किया गया है। यह समझना तो सरल था ही कि सरकार को हमारा इन देहाती हिस्सों में जाना बन्द करना ही चाहिए। मगर यह भी साफ़ था कि हम बम्बई शहर में जाकर किसानों का आन्दोलन नहीं चला सकते थे और अगर वास्तव में आर्डिनेंस किसानों की परिस्थिति का मुक़ाबला करने के लिए ही जारी किया गया था, तो हमारे प्रान्त से दूर चले जाने का तो स्वागत ही किया जाना चाहिए था। आर्डिनेंस के जारी हो जाने के समय से हमारी आम नीति उससे बचते रहने की ही रही, और हम संघर्ष को टालते ही रहे, हालाँकि बाज़-बाज़ लोगों ने हुक्म-उदूली कर दी थी। जहाँतक यू० पी० कांग्रेस का सम्बन्ध था, यह बात साफ़ थी कि वह, कम-से-कम फ़िलहाल सरकार से लड़ाई करने से बचना या उसे टालना ही चाहती थी। शेरवानी और मैं बम्बई जा रहे थे, जहाँ कि गांधीजी और कार्य-समिति इन मामलों पर ग़ौर करती, और यह किसीको मालूम नहीं था, और मुझे तो बिलकुल ही निश्चय नहीं था कि उनके आख़िरी फ़ैसले क्या होते।

इन सब विचारों से मुझे ख़याल होता था कि हमें बम्बई जाने दिया जायगा, और,कम-से-कम उस समय के लिए ही सही, हमारी शहर की नज़रबन्दी के क़ानूनी आज्ञा-भंग को सरकार सह लेगी। लेकिन, मेरा दिल कुछ और ही कह रहा था।

ज्योंही हम रेल में बैठे, हमने सवेरे के अख़बारों में नये सीमा-प्रान्तीय आर्डिनेंस और अब्दुलग़फ़्फ़ारख़ाँ तथा डॉक्टर ख़ानसाहब वग़ैरा की गिरफ़्तारी का हाल पढ़ा। बहुत जल्दी ही हमारी गाड़ी, बम्बई-मेल, रास्ते के एक छोटे-से स्टेशन इरादतगंज पर, जहाँ आमतौर पर वह नहीं ठहरा करती थी, अचानक ठहर गयी, और हमें गिरफ़्तार करने को पुलिस अफ़सर आ गये। रेलवे लाइन के पास ही एक "ब्लैक मैरिया" (जेल का मोटर) खड़ी थी, और क़ैदियों की इस लारी में मैं और शेरवानी दाख़िल हुए। वह तेज़ी से चली और हम नैनी-जेल में जा पहुँचे।

वह "बॉक्सिंग दिवस" का प्रातःकाल था और वह पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट, जो हमें गिरफ़्तार करने आया था, अंग्रेज़ था; वह दुःखी और उदास दिखयी दिया। मुझे दुःख है कि हमने उसका क्रिसमस त्यौहार बिगाड़ दिया था।

और इस तरह हम जेल में आ पहुँचे—

'एक घड़ी भर तू सारा आह्लाद भुला दे;
और, वेदना में ही अब कुछ काल बिता दे।'[1]

४१

गिरफ्तारियाँ, आर्डिनेंस और ज़ब्तियाँ

हमारी गिरफ़्तारी के दो दिन बाद ही गांधीजी बम्बई में उतरे, और तभी उन्हें यहाँ की नयी और ताज़ी घटनाओं का हाल मालूम हुआ। उन्होंने लन्दन में ही बंगाल-आर्डिनेंस की ख़बर सुन ली थी, और वह उससे बहुत दुःखी हुए थे। अब उन्हें मालूम हुआ कि उनके लिए यू० पी० और सीमा-प्रान्तीय और आर्डिनेंसों के रूप में बड़े दिन की भेंट तैयार थी, और सीमा-प्रान्त और यू०पी० में उनके कुछ सबसे घनिष्ट साथी गिरफ़्तार हो चुके थे। अब तो पासा पड़ चुका दीखता था, और शान्ति की सारी आशा मिट चुकी थी, फिर भी उन्होंने रास्ता ढूँढ़ने की कोशिश की; और इसके लिए वाइसराय लॉर्ड विलिंग्डन से मुलाक़ात चाही। उन्हें नयी दिल्ली से बताया गया कि मुलाक़ात कुछ ख़ास शर्तों पर ही हो सकेगी। वे शर्तें ये थीं कि वह बंगाल, युक्तप्रान्त और सीमा-प्रान्त की ताज़ी घटनाओं, और नये आर्डिनेंसों और उनके मुताबिक हुई गिरफ़्तारियों के बारे में बातचीत न करें। (यह बात मैं अपनी याद से लिख रहा हूँ, क्योंकि मेरे सामने वाइसराय के जवाब की नक़ल नहीं है।) यह समझ में नहीं आता कि सरकार इन विषयों के अलावा, जो कि देश में खलबली मचा रहे थे, और जिनपर बात करने का निषेध कर दिया गया था, और किन विषयों पर गांधीजी या कांग्रेस के अन्य किसी नेता से बातचीत करने की आशा करती थी। अब यह बिलकुल साफ़ प्रकट हो गया कि भारत-सरकार ने कांग्रेस को कुचल डालने का निश्चय कर लिया है और वह उससे कोई नाता नहीं रखना चाहती। कार्य-समिति के पास सविनय आज्ञा-भंग फिर चालू कर देने के सिवा और कोई रास्ता न रहा। कार्य-समितिवालों को किसी भी समय अपने गिरफ़्तार हो जाने की आशंका गयी थी, और बरबस बिदा होने के पहले वे देश का आगे के लिए मार्ग-प्रदर्शन कर देना चाहते थे। इसी दृष्टि से अस्थायी तौर पर सविनय-भंग का प्रस्ताव

[1] शेक्सपियर के अंग्रेज़ी पद्य का भावानुवाद।

पास किया गया, और गांधीजी ने वाइसराय से मुलाक़ात करने की दुबारा कोशिश की। उन्होंने वाइसराय को बिना शर्त के मुलाक़ात देने के लिए तार दिया। सरकार का जवाब गांधीजी और कांग्रेस के सभापति सरदार पटेल की गिरफ्तारी के रूप में मिला और साथ ही वह बटन भी दबा दिया गया जिससे सारे देश में भयंकर दमन का दौर शुरू हो गया। यह तो स्पष्ट ही था, कि चाहे दूसरा कोई लड़ाई चाहता हो, या न चाहता हो, लेकिन सरकार तो लड़ाई के लिए बेचैन थी और पहले से ही ज़रूरत से ज़्यादा तैयार बैठी थी।

हम तो जेल में ही थे और ये सारी ख़बरें हमारे पास गोलमोल और तितर-बितर होकर आयीं। हमारा मुक़द्दमा नये साल के लिए स्थगित कर दिया गया, इसलिए हमें हवालाती क़ैदी होने के कारण सज़ायाफ़्ता क़ैदियों की अपेक्षा ज़्यादा मुलाक़ातें करने का मौक़ा मिला। हमने सुना कि वाइसराय को मुलाक़ात मंजूर करनी चाहिए थी या नहीं, इसपर अखबारों में बहुत वाद-विवाद चल रहा है, मानो इससे कोई बड़ा फ़र्क़ पड़नेवाला था। यह मुलाक़ात का प्रश्न ही और सब बातों से बढ़कर चर्चा का विषय हो रहा था। यह कहा गया कि अगर लॉर्ड इर्विन होते तो वह मुलाक़ात ज़रूर मंजूर कर लेते, और अगर उनसे और गांधीजी से मुलाक़ात हुई होती तो निश्चय ही सब कुछ ठीक हो जाता। मुझे अचरज हुआ कि परिस्थिति के बारे में हिन्दुस्तान के अख़बार कितनी ज़्यादा सरसरी निगाह से काम लेते हैं, और असलियत की ओर कैसे आँख उठाकर नहीं देखते हैं। क्या हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता और ब्रिटेन के साम्राज्यवाद का, जिनमें सूक्ष्म विचार करने से मालूम होगा कि कभी मेल नहीं हो सकता, न रुकनेवाला संघर्ष किन्हीं व्यक्तियों की व्यक्तिगत इच्छाओं पर ही निर्भर है? क्या इतिहास की दो विरोधी शक्तियों का संघर्ष मीठी मुसकान और आपसी शिष्टता दिखाने-मात्र से हट सकता है? गांधीजी को एक ख़ास दिशा में ही जाना पड़ा, इसलिए कि हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता अपने ही सिद्धान्तों का त्याग करके अपनी आत्म-हत्या नहीं कर सकती थी, और न महत्त्वपूर्ण मामलों में विदेशी फ़रमानों के सामने खुशी से झुक सकती थी। तथा हिन्दुस्तान के ब्रिटिश वाइसराय को दूसरी ही विशेष दिशा में जाना पड़ा, क्योंकि उन्हें इस राष्ट्रीयता का सामना करना था, और ब्रिटिश स्वार्थों की रक्षा करनी थी, और उस समय वाइसराय कोई भी हो इस बात में ज़रा भी फ़र्क़ नहीं पड़ सकता था। लॉर्ड इर्विन भी ठीक वही काम करते जो लॉर्ड विलिंग्डन ने किया, क्योंकि दोनों ही ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति के अस्त्र थे, और वे निर्धारित दिशा में कुछ बहुत ही मामूली-सा फ़र्क़ कर सकते थे। और, बाद में तो लॉर्ड इर्विन भी ब्रिटिश शासन-तन्त्र के सदस्य हो गये, और हिन्दुस्तान में जो-जो सरकारी कार्रवाइयां की गयीं उन सबमें उन्होंने पूरा-पूरा साथ दिया। हिन्दुस्तान में प्रचलित ब्रिटिश नीति के लिए किसी ख़ास वाइसराय की तारीफ़ या बुराई करना मुझे तो बिलकुल ही अनुचित बात मालूम होती है, और हमारे ऐसा करने की

आदत का कारण सिर्फ यही हो सकता है कि या तो हम असली सवालों को नहीं समझते, या उन्हें जान-बूझकर टालना चाहते हैं।

४ जनवरी सन् १९३२ एक महत्त्वपूर्ण दिन था। उसने बातचीत और बहस का अन्त कर दिया। उस दिन सवेरे ही गांधीजी और कांग्रेस के अध्यक्ष वल्लभभाई गिरफ़्तार कर लिये गये और, बिना मुक़दमा चलाये, राजबन्दी बना लिये गये। चार नये आर्डिनेंस जारी कर दिये गये जिसके द्वारा मैजिस्ट्रेटों और पुलिस अफ़सरों को व्यापक-से-व्यापक, अधिकार मिल गये। नागरिक स्वतन्त्रता की हस्ती मिट गयी और जन और धन दोनों पर ही अधिकारी चाहे जब क़ब्ज़ा कर सकते थे। सारे देश पर मानो क़ब्ज़ा कर लेने की हालत की घोषणा कर दी गयी और इसको किस-किसपर और कितना-कितना लागू किया जाय, यह स्थानीय अफ़सरों की मर्ज़ी पर छोड़ दिया गया।[1]

४ जनवरी को ही नैनी-जेल में यू० पी० इमर्जेंसी पावर्स आर्डिनेंस के मुताबिक़ हमारा मुक़दमा हुआ। शेरवानी को छः महीने की सख़्त क़ैद और १५० रुपये जुर्माने की सज़ा हुई; मुझे दो साल की सख़्त क़ैद और ५०० रुपये जुर्माने (या बदले में छः महीने की क़ैद और) की सज़ा दी गयी। दोनों के अपराध बिलकुल एक-से थे। हम दोनों को इलाहाबाद शहर में नज़रबन्दी के एक-से हुक्म दिये गये थे। हम दोनों ने ही बम्बई जाने की कोशिश करके उनका एक ही तरह से भंग किया था। हम दोनों को एक ही धारा में गिरफ़्तार किया गया, और दोनों का एक साथ ही मुक़दमा चला। फिर भी हमारी सज़ाओं में बड़ा अन्तर था। लेकिन एक फ़र्क़ जरूर हुआ था। मैंने ज़िला मैजिस्ट्रेट को लिखकर सूचना दी थी कि मैं हुक्म तोड़कर बम्बई जाना चाहता हूँ; शेरवानी ने ऐसी कोई बाक़ायदा नोटिस नहीं दी थी, लेकिन वह भी जाना चाहते हैं यह बात भी समानरूप से सब जानते थे और इसकी ख़बर अख़बारों में भी छपी थी। सज़ा सुनाने के बाद ही शेरवानी ने मैजिस्ट्रेट से पूछा कि मुसलमान होने के ख़याल से तो मुझे कम सज़ा नहीं दी गयी है? उनके इस सवाल से वहां उपस्थित लोगों को बड़ी हँसी आयी और मैजिस्ट्रेट कुछ परेशानी में पड़ गया।

उस स्मरणीय दिन, ४ जनवरी को देशभर में बहुत-सी घटनाएं हुईं। इलाहाबाद शहर में, हमारे स्थान के पास ही, बड़ी-बड़ी भीड़ों की पुलिस और फौज से मुठभेड़ हो गयी, और सदा की भांति लाठी-प्रहार हुए, जिसमें कुछ लोग मरे और कुछ घायल हुए। सविनय आज्ञा-भंग के क़ैदियों से जेलें भरने लगीं।

---

[1]भारत-मन्त्री सर सैम्युअल होर ने २४ मार्च १९३२ को कामन-सभा में कहा था कि, "मैं मंजूर करता हूं कि जिन आर्डिनेंसों का हमने समर्थन कर दिया है वे बड़े व्यापक और सख़्त हैं; वे हिन्दुस्तान के जीवन की लगभग हरेक प्रवृत्ति पर असर डालते हैं।"

पहले तो ये क़ैदी ज़िला-जेलों में भेजे जाते, और जब वहाँ जगह न रहती तब ही नैनी आदि सेण्ट्रल जेलों में आते थे। बाद में सभी जेलें भर गयीं, और बड़ी-बड़ी स्थायी कैम्प-जेलें क़ायम करनी पड़ीं।

नैनी के हमारे छोटे-से अहाते में बहुत थोड़े लोग आये। मेरे पुराने साथी नर्मदाप्रसाद हमारे पास आ गये। रणजित पंडित और मेरे चचेरे भाई मोहनलाल नेहरू भी आ गये। बैरक नं० ६ की हमारी छोटी-सी मित्र-मण्डली में लंका के युवक-मित्र बर्नार्ड एलूविहारे भी अचानक आ गये, जो कि बैरिस्टर बनने के बाद इंगलैण्ड से अभी-अभी लौटे थे। मेरी बहिन ने उससे कहा था कि आप हमारे जुलूस आदि में शामिल न हों। लेकिन जोश में आकर वह कांग्रेस के एक जुलूस में शरीक हो ही गये, और एक 'ब्लैक मैरिया' गाड़ी उन्हें जेल में ले आयी।

कांग्रेस, जिसमें सबसे ऊपर कार्य-समिति और फिर प्रान्तीय कमेटियाँ और अनगिनती स्थानिक कमेटियाँ शामिल थीं, ग़ैर क़ानूनी घोषित कर दी गयी थीं। कांग्रेस के साथ-साथ सब तरह से सम्बन्धित या सहानुभूति रखनेवाले या प्रगतिशील संगठन—जैसे, किसान-सभाएं, किसान-संघ, युवक-संघ, विद्यार्थी-मण्डल, प्रगतिशील राजनैतिक-संगठन, राष्ट्रीय विश्व-विद्यालय और स्कूल, अस्पताल, स्वदेशी दुकानें, पुस्तकालय आदि भी—ग़ैर-क़ानूनी क़रार दे दिये गये। इनकी सूचियाँ बड़ी लम्बी-लम्बी थीं, प्रत्येक बड़े प्रान्त के सैकड़ों नाम इनमें शामिल थे; सारे हिन्दुस्तान का जोड़ कई हज़ार तक पहुँच गया होगा। इन ग़ैर-क़ानूनी घोषित संस्थाओं की यह संख्या ही मानो कांग्रेस और राष्ट्रीय आन्दोलन का महत्त्व और प्रभाव दिखाती थी।

बम्बई में कमला रोग-शय्यापर पड़ी थी और आन्दोलन में हिस्सा न ले सकने के कारण छटपटा रही थी। मेरी माँ और दोनों बहिनें बड़े उत्साह के साथ आन्दोलन में कूद पड़ीं। उनको जल्दी ही एक-एक साल की सज़ा मिल गयी और वे जेल पहुँच गयीं। नये आनेवालों के ज़रिये या हमें मिलनेवाले स्थानीय साप्ताहिक पत्र द्वारा हमें कुछ अनोखी ख़बरें मिल जाया करती थीं। जो कुछ हो रहा था उसकी हम ज़्यादातर कल्पना कर लिया करते थे, क्योंकि सेंसर की बड़ी सख़्ती थी, और समाचार-पत्रों और समाचार एजेंसियों को भारी-भारी जुर्मानों का डर हमेशा बना रहता था। कुछ प्रान्तों में तो गिरफ्तारशुदा या सज़ा पाये हुए व्यक्ति का नाम छापना भी जुर्म था।

इस तरह हम नैनी-जेल में बाहर के झगड़ों से अलग पड़े हुए, फिर भी उनमें सैकड़ों तरह से उलझे हुए, रह रहे थे। हमने अपने को सूत कातने, पढ़ने या दूसरे कामों में लगाये रक्खा था, और कभी-कभी हम दूसरे मामलों पर भी बातचीत करते थे, लेकिन हम लोग हमेशा यही सोचते रहते थे कि जेल की चहारदीवारी के बाहर क्या हो रहा है? उससे हम अलग भी थे और फिर भी उसमें शामिल थे। कभी-कभी किसी काम की उम्मीद करते-करते बहुत थक जाते थे और कभी-कभी

किसी काम के बिगड़ जाने पर गुस्सा आता था, और किसी [कमजोरी या भद्दे पन पर तबीयत झुँझला उठती थी। लेकिन कभी-कभी हम अजीब ढंग से तटस्थ-से हो जाते थे और सारे दृश्य को शान्ति और अनासक्ति से देखा करते थे, और यह अनुभव करते थे कि जब बड़ी-बड़ी ताक़तें अपना काम कर रही हैं और दैवी तन्त्र लोगों को पीस रहा है, तब व्यक्तियों की छोटी-छोटी ग़लतियाँ या कमज़ोरियाँ कोई महत्त्व नहीं रखतीं। हम सोचा करते थे कि इस झगड़े और शोर-गुल का और इस पराक्रमपूर्ण उत्साह, निर्दयताभरे दमन और घृणित कायरता का भविष्य क्या होनेवाला है? इसका क्या नतीजा होगा? हम किस तरफ़ जा रहे हैं? भविष्य हमारी आंखों से छिपा हुआ था; और अच्छा ही था कि वह छिपा हुआ था; और जहांतक हमसे सम्बन्ध था, वर्तमान भी एक परदे से कुछ-कुछ छिपा हुआ था। लेकिन हम एक बात जानते थे कि हमारा रास्ता तो आज भी और कल भी, संघर्ष, कष्ट-सहन और बलिदान में से होकर ही जाता है—

"कल फिर से आरम्भ युद्ध का हो जायेगा,
सारा ज़ेन्थस[1] अहो रक्त से रँग जायेगा,
हेक्टर[2] तथा अज़ेक्स[3] पुनः होंगे समुपस्थित
हेलन[4] भी ख़ुद दृश्य लखेंगी हो उच्चस्थित।
तब हम या परदे में होंगे या चमकेंगे रण में,
अन्धी आश-निराशाओं में झूलेंगे क्षण-क्षण में;
तब सोचा हमने यह जीवन-बल ला होमा सारा,
किन्तु न जाना आत्मा का क्या होगा हाल हमारा।"[5]

४२

ब्रिटिश शासकों की छेड़छाड़

१९३२ के उन शुरू के महीनों में, और बातों के अलावा, ख़ास बात यह हुई, कि ब्रिटिश हाकिमों ने अपनी ख़ुशी का ख़ूब प्रदर्शन किया। छोटे और बड़े, सभी हाकिम चिल्ला-चिल्लाकर यह कहने लगे कि देखो, हम कितने भले और शान्ति-प्रिय हैं और कांग्रेसवाले कितने बुरे और झगड़ालू हैं। हम लोग लोकतन्त्र के हामी हैं जबकि कांग्रेस को डिक्टेटरशिप भाती है। वह देखो कांग्रेस का सभा-

---

[1][2][3][4] अजेक्स, हेक्टर, और हेलन यूनानी कवि होमर के 'ईलियड' काव्य के पात्र हैं। (यूनान की सुन्दरी) के हरण होने पर यूनान ने ट्रॉय पर चढ़ाई की थी और दस वर्ष तक ट्रॉय का घेरा चलता रहा। हेक्टर ट्रॉय का योद्धा था और अजेक्स यूनान का। जेन्थस ट्रॉय की एक नदी है।

[5] मेथ्यू एरनॉल्ड के अंग्रेज़ी पद्य का भावानुवाद। —अनु०

पति डिक्टेटर के नाम से पुकारा जाता है। एक धर्म-कार्य के लिए अपने इस जोश में हाकिम आर्डिनेंसों, तमाम आज़ादी का दमन, अख़बारों और छापेख़ानों की मुंहबन्दी, बिना मुकदमा चलाये लोगों की जेल-बन्दी, जायदाद और रुपयों की ज़ब्ती और रोज़-ब-रोज़ होनेवाली बहुत-सी दूसरी अद्भुत चीज़ों-जैसी न-कुछ-बातों को भूल गये थे। इसके अलावा वे, हिन्दुस्तान में ब्रिटिश राज का जो मूल स्वरूप है, उसको भी भूल गये। सरकार के वे मिनिस्टर, जो हमारे ही देशभाई थे, इस विषय पर बड़े धारा-प्रवाह व्याख्यान देने लगे, कि जेलों में बन्द कांग्रेसी किस तरह अपना मतलब गाँठ रहे हैं जबकि हम कुछ हज़ार रुपये महीने की न-कुछ-सी मज़दूरी पर पब्लिक की भलाई में दिन-रात जुटे रहते हैं। छोटे छोटे मजिस्ट्रेट हम लोगों को भारी-भारी सज़ाएं तो देते ही थे, लेकिन सज़ा देते वक़्त हमें उपदेश भी देते थे, और उन उपदेशों के साथ-साथ कभी-कभी वे कांग्रेस और कांग्रेस में काम करनेवाले लोगों को गालियाँ भी देते थे। भारत-मन्त्री के ऊँचे ओहदे की गम्भीर प्रतिष्ठावाले पद से सर सैम्युअल होर तक ने यह ऐलान किया कि "हाँ, कुत्ते भोंक रहे हैं, मगर हमारा कारवाँ चला जा रहा है।" उस वक़्त वह यह भूल गये थे कि कुत्ते जेलों में बन्द थे, वहाँ से वे आसानी से भोंक नहीं सकते थे और जो कुत्ते बाहर रह गये थे उनके मुँह बिलकुल बन्द कर दिये गये थे।

सबसे ज़्यादा अचरज की बात तो यह थी कि कानपुर के हिन्दू-मुस्लिम दंगे का दोष कांग्रेस के माथे मढ़ा जा रहा था। यह दंगा सचमुच बहुत ही वीभत्स था, लेकिन उसकी वीभत्सता बार-बार जतलाई गई और बराबर ही यह बताया गया कि उसके लिए कांग्रेस ज़िम्मेदार थी, जबकि असली बात यह थी कि उस दंगे में कांग्रेस ने अत्यन्त गौरवपूर्ण कार्य किया; यहां तक कि कांग्रेस के एक सर्वश्रेष्ठ सेवक श्री० गणेशशंकर विद्यार्थी उसमें बलि चढ़ गये, जिनकी मौत पर कानपुर की हर क़ौम और दल ने आँसू बहाकर शोक प्रकट किया। दंगों की ख़बर पाते ही कांग्रेस ने अपने कराची के अधिवेशन में फ़ौरन ही एक जाँच-कमिटी बिठा दी और इस कमिटी ने एक बहुत विस्तृत जाँच की। कई महीने मेहनत के बाद कमिटी ने एक बड़ी रिपोर्ट छपाई। सरकार ने फ़ौरन ही इस रिपोर्ट को ज़ब्त कर लिया। उसकी छपी हुई कापियां उठा ली गयीं, और मेरी समझ में वे नष्ट कर दी गयीं। जाँच के नतीजों को इस तरह दबा देने के बाद भी हमारे सरकारी आलोचक और वे अख़बार जिनके मालिक अंग्रेज़ हैं, हर बार यह बात दुहराते नहीं थकते कि दंगा कांग्रेस की वजह से हुआ। इसमें कोई शक नहीं कि इस मामले में ही नहीं, दूसरे और मामलों में भी, अन्त में जीत सचाई की होगी; लेकिन कभी-कभी झूठ बहुत दीर्घजीवी हो जाता है। एक कवि के शब्दों में—

"यह असत्य निश्चय ही जग में नष्ट एक दिन होगा,
पर तब तक वह बुरी तरह से क्षत-विक्षत कर देगा।

सत्य महान्, उसीकी जग में विजय अन्त में होगी,
पर उस क्षण तक उसे देखने बैठा कौन रहेगा ?"[1]

मेरा ख़याल है कि हिस्टीरिया-जैसी युद्ध-मनोवृत्ति का यह प्रदर्शन बिलकुल स्वाभाविक था। और ऐसी हालत में कोई भी इस बात की उम्मीद नहीं कर सकता था कि सचाई या संयम का पालन होगा। लेकिन फिर भी ऐसा मालूम पड़ता था कि उस समय आशातीत झूठ से काम लिया गया, उस झूठ की गहराई को देखकर अचम्भा होता था। इससे हमें इस बात का पता चल जाता है कि हिन्दुस्तान के शासक-दल की प्रवृत्ति कैसी थी और पिछले दिनों में वे अपने को कितना दबाये रखते थे। सम्भवतः उनको यह गुस्सा हमारे किसी काम पर या हमारी किसी बात की वजह से नहीं आया, बल्कि इस विचार से आया कि अपने साम्राज्य से हाथ धो बैठने का उन्हें जो डर पहले था वह सच होता दीखता है। जिन शासकों को अपनी ताक़त का भरोसा होता है वे इस तरह हिम्मत नहीं हारते। शासकों की इस मनोवृत्ति में और उधर दूसरी तरफ़ की तस्वीर में ज़मीन—आसमान का फ़र्क़ था। क्योंकि कांग्रेस की तरफ़ बिलकुल ख़ामोशी छायी हुई थी। मगर यह ख़ामोशी संयम की—स्वेच्छा-पूर्वक और गौरवपूर्ण संयम की—सूचक नहीं थी, बल्कि इसलिए थी कि कांग्रेसवाले जेलों में बन्द थे और बाक़ी लोग डरे हुए थे तथा अख़बारवालों को भी सर्व-व्यापी सेंसर का डर था। इसमें कोई शक नहीं कि अगर कांग्रेसवालों का मुँह इस तरह मजबूरी से बन्द न होता तो वे भी मनमानी बकवास करते, बढ़ा-चढ़ाकर बातें कहते और गालियाँ देने में शासकों को मात करते। मगर, हाँ, कांग्रेसवालों के लिए भी एक रास्ता तो था—वह था ग़ैर-क़ानूनी अख़बारों का, जो कई शहरों में समय-समय पर निकाले जाते थे।

हिन्दुस्तान में अधगोरों के जो अख़बार निकलते हैं और जिनके मालिक अंग्रेज़ हैं, वे भी बड़े रस के साथ इस हर्ष-प्रदर्शन में शामिल हुए और उन्होंने ऐसे बहुत-से विचार प्रकट किये और फैलाये जो शायद बहुत दिनों से उनके दिलों में दबे हुए पड़े थे। यों आमतौर पर उन्हें अपनी बात कुछ समझ-बूझकर कहनी पड़ती है, क्योंकि बहुत-से हिन्दुस्तानी उनके अख़बारों के ग्राहक हैं; लेकिन जब नाज़ुक वक़्त आगया तब यह सब संयम बह गया और हमें अंग्रेज़ और हिन्दुस्तानी दोनों ही के मन की झलक मिल गयी। अब हिन्दुस्तान में अधगोरे अख़बार बहुत कम रह गये हैं, वे एक-एक करके बन्द हो गये हैं, लेकिन जो बाक़ी बचे हैं; उनमें कई ऊँचे दरजे के हैं—ख़बरों के लिहाज़ से भी और आकार-प्रकार की सुन्दरता के लिहाज़ से भी। दुनिया की समस्याओं पर उनके जो अग्रलेख होते हैं, यद्यपि वे हमेशा अनुदार लोगों के दृष्टिकोण से लिखे जाते हैं, फिर भी, उनमें लिखने-

[1] अंग्रेज़ी पद्य का भावानुवाद।

वालों की योग्यता झलकती है, और इस बात का पता चलता है कि उन्हें अपने विषय का ज्ञान है और उसपर पूरा अधिकार है। इसमें कोई शक नहीं है कि अख़बारों की दृष्टि से सम्भवत. वे हिन्दुस्तान में सबसे अच्छे हैं; लेकिन हिन्दुस्तान के राजनैतिक मामलों में वे अपने उस गौरव से गिर जाते हैं। उनके एकपक्षी विचारों को देखकर ताज्जुब होता है। और जब कभी आन-बान का मौक़ा आता है तब तो उनकी वह हिमायत प्रायः बकवास और गँवारूपन का रूप धारण कर लेती है। वे सचाई के साथ भारत-सरकार की राय को प्रकट करते हैं और इस सरकार के हक़ में वे लगातार जो प्रचार करते हैं उसमें अपनी बात किसी पर ज़बरदस्ती न थोपने का गुण नहीं होता।

इन कुछ गिने-चुने अधगोरे अख़बारो के मुक़ाबले हिन्दुस्तानी अख़बार नीचे दरजे के हैं। उनके पास आर्थिक साधन बहुत कम होते हैं और उनके मालिक उनकी तरक़्क़ी करने की बहुत कम कोशिश करते हैं। वे अपनी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी मुश्किल से चला पाते हैं और बेचारे दुःखी सम्पादकीय विभाग को बड़ी मुसीबत का सामना करना पड़ता है। उनका आकार-प्रकार भद्दा है, उनमें छपनेवाले विज्ञापन अक्सर बहुत आपत्तिजनक होते हैं और क्या राजनीति और क्या सामान्य जीवन, दोनों में वे बहुत बढ़ी-चढ़ी भावुकता का परिचय देते हैं। मैं समझता हूँ कि कुछ तो इसकी वजह यह है कि हमलोगों की जाति ही भावुकतामय है और कुछ यह कि जिस भाषा में (यानी अंग्रेज़ी में) वे निकलते हैं वह विदेशी भाषा है और उसमें सरलता से और साथ ही ज़ोर के साथ लिखना आसान नहीं है। लेकिन असली कारण तो यह है कि हम सब लोगों के मन में दीर्घकालीन दमन और गुलामी की वजह से कई प्रकार की गाँठें पड़ गई हैं, इसलिए अपने भावों को बाहर निकालने की हमारी प्रत्येक विधि भावुकता से भरी हुई होती है।

अंग्रेज़ी में निकलनेवाले हिन्दुस्तानी मालिकों के अख़बारों में जहाँतक बहिरंग सुन्दरता और समाचार-सम्पादन से सम्बन्ध है, मदरास का 'हिन्दू' सम्भवतः सबसे अच्छा है। उसे पढ़कर मुझे हमेशा किसी अविवाहित वृद्धा की याद आ जाती है, जो हमेशा मर्यादा और औचित्य को पसन्द करती है और अगर उसके सामने बेअदबी का एक हरूफ़ भी कह दिया जाय तो उसे बहुत बुरा मालूम होता है। यह अख़बार ख़ासतौर पर मध्यम श्रेणीवालों का अख़बार है, जिनकी ज़िन्दगी चैन से गुज़रती है। जीवन के संघर्षों और उसकी धक्का-मुक्की का, उसको कोई पता नहीं। नरम-दल के और भी कई अख़बारों का स्टैंडर्ड भी यही अविवाहित वृद्धाओं का-सा है। इस स्टैंडर्ड तक तो वे पहुँच जाते हैं, लेकिन उनमें वह ख़ूबी नहीं आ पाती जो 'हिन्दू' में है और इसलिए वे हर लिहाज़ से बहुत नीरस हो जाते हैं।

यह साफ़ था कि सरकार ने वार करने की तैयारी बहुत पहले से कर रक्खी थी और वह यह चाहती थी कि शुरू ही में उसकी चोट जहाँतक हो सके पूरी कसकर

बैठे और उसे खानेवाला चक्कर खाकर गिर पड़े। १९३० में वह हमेशा इस कोशिश में रहती थी कि दिन-पर-दिन जो हालत बिगड़ती जा रही है उसे नये-नये आर्डिनेंसों से सम्हाले। उन दिनों वार का सूत्रपात हमेशा कांग्रेस की तरफ़ से होता था; लेकिन १९३२ की पद्धति बिलकुल दूसरी थी। १९३२ में सरकार ने सब तरफ़ से हमला करके लड़ाई शुरू की। अखिल-भारतीय और प्रान्तीय आर्डिनेंसों के द्वारा हाकिमों को जितने अधिकार सोचे जा सकते थे सभी दे दिये गये। संस्थाएं ग़ैरक़ानूनी क़रार दे दी गयीं। इमारतों पर, जायदाद पर, सवारियों, मोटरों वग़ैरा पर और बैंकों में जमा रुपयों पर क़ब्ज़ा कर लिया गया। आम जलसों और जुलूसों की मनाही कर दी गई और अख़बारों और छापेख़ानों पर पूरी तरह नियन्त्रण कर लिया गया। दूसरी तरफ़, १९३० के बिलकुल विरुद्ध, गांधीजी निश्चितरूप से यह चाहते थे कि उस वक़्त सत्याग्रह न किया जाय। कार्य-समिति के ज़्यादातर मेम्बरों की भी यही राय थी। उनमें से कुछ, जिनमें से मैं भी एक था, यह समझते थे कि हम कितना ही नापसन्द करें लेकिन लड़ाई हुए बिना नहीं रहेगी और हमें उसके लिए तैयार रहना चाहिए। इसके अलावा संयुक्तप्रांत में और सीमा-प्रांत में जो तनातनी बढ़ रही थी उससे लोगों का ध्यान भावी लड़ाई की तरफ़ लग रहा था। लेकिन कुल मिलाकर मध्यम श्रेणी के और पढ़े-लिखे लोग लड़ाई की बात नहीं सोच रहे थे, हालाँकि वे लड़ाई की सम्भावना की पूरी उपेक्षा नहीं कर सकते थे। किसी तरह हो, उन्हें यह उम्मीद थी कि गांधीजी के आने पर यह लड़ाई टल जायगी और ज़ाहिर है कि इस मामले में उनकी लड़ाई से बचने की इच्छा ने ही उनके हृदयों में यह आशा पैदा कर दी थी।

इस तरह १९३२ के शुरू में निश्चित रूप से पहला हमला सरकार की तरफ़ से होता था और कांग्रेस हमेशा अपना बचाव करने में लगी रहती थी। आर्डिनेंसों को और सत्याग्रह-संग्राम को पैदा करनेवाली जो घटनाएं अचानक हो गईं उनकी वजह से कई जगह के स्थानिक नेता तो भौंचक्के रह गये। लेकिन इन सब बातों के होते हुए भी कांग्रेस की पुकार का लोगों ने जो जवाब दिया वह ऐसा-वैसा नहीं था। सत्याग्रहियों की कमी नहीं रही। बल्कि सच बात तो यह है और मेरे ख़याल से इस बात में कोई शक नहीं हो सकता कि १९३२ में ब्रिटिश सरकार का जो मुक़ाबला किया गया वह १९३० में किये जानेवाले मुक़ाबले से बहुत कड़ा और भारी था। १९३० में ख़ासतौर पर बड़े-बड़े शहरों में धूमधाम और शोरग़ुल ज़्यादा था, पर १९३२ में लोगों ने सहन-शक्ति पहले से ज़्यादा दिखायी और वे पूरी तरह शान्त रहे। इन बातों के होते हुए भी स्फूर्ति की प्रारम्भिक लहर का ज़ोर १९३० से इस बार बहुत कम था। ऐसा मालूम होता था मानो हम अनिच्छा से लड़ाई में शामिल हुए थे। १९३० में अपनी लड़ाई में हम एक तरह का गौरव महसूस करते थे जो दो साल बाद अब कुछ-कुछ मुरझा गया था। इधर सरकार ने उसके पास जितनी ताक़त थी सब लगाकर कांग्रेस का मुक़ाबला किया। उन

दिनों हिन्दुस्तान एक तरह से फ़ौजी क़ानून के अधीन रहा और कांग्रेस असल में कभी भी पहला हमला न कर सकी, और न उसे काम करने की आज़ादी ही मिली। वह पहले ही प्रहार में बेहोश हो गयी। उसके उन धनी-मानी हमदर्दों में से, जो पिछले दिनों में उसके ख़ास मददगार रहे थे, बहुत से इस बार घबरा गये। उनके धन-माल पर आ बनी। यह बात साफ़ दीखती थी कि जो लोग सत्याग्रह-संग्राम में शामिल होंगे या और किसी तरह से उसकी मदद करेंगे, न सिर्फ़ उनकी आज़ादी ही छीन ली जा सकती थी बल्कि शायद उनकी सारी जायदाद भी ज़ब्त कर ली जा सकती थी। इस बात का हम लोगों पर युक्तप्रांत में तो कोई ख़ास असर नहीं पड़ा, क्योंकि यहाँ तो कांग्रेस ग़रीबों ही की थी। लेकिन बम्बई जैसे बड़े शहरों में इस बात का बड़ा भारी असर पड़ा। व्यापारियों के लिए तो इसका अर्थ था पूरा सत्यानाश। पेशेवर लोगों (जैसे वकीलों-डॉक्टरों) को भी उससे भारी नुक़सान पहुँचता था। इसकी धमकी भर से—कभी-कभी तो वह धमकी पूरी करके भी दिखायी गयी—शहर के अमीर श्रेणी के लोगों को लक़वा-सा मार गया। पीछे मुझे मालूम हुआ कि एक डरपोक मालदार व्यापारी को पुलिस ने यह धमकी दी थी कि तुम्हें लम्बी क़ैद की सज़ा देने के साथ तुम पर पाँच लाख का जुर्माना किया जायगा। इस व्यापारी का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं था, सिवा इसके कि कभी-कभी राजनैतिक कामों के लिए चन्दा दे दिया करता था। ऐसी धमकियाँ एक आम बात हो गयी थीं, और ये कोरी बातों की धमकियाँ ही न थीं; क्योंकि उन दिनों पुलिस सर्वशक्तिमान थी और लोगों को हर रोज़ इन धमकियों के पूरे होने के उदाहरण मिलते रहते थे।

मेरा विचार है कि किसी कांग्रेसी को इस बात का अधिकार नहीं है कि सरकार ने जो तरीक़ा अख़्तियार किया उसपर एतराज़ करे—यद्यपि एक सोलहों आने अहिंसात्मक आन्दोलन का दमन करने के लिए सरकार ने जिस ज़ोर-ज़बरदस्ती से काम लिया वह किसी भी शाइस्ता पैमाने से बहुत आपत्तिजनक थी। अगर हम लोग सीधी लड़ाई के क्रान्तिकारी साधनों से काम लेते हैं तो हमें हर तरह के विरोध के लिए तैयार रहना चाहिए, फिर चाहे हमारे साधन कितने भी अहिंसात्मक क्यों न हों। हम लोग अपने बैठकख़ाने में बैठे-बैठे क्रान्ति का खेल नहीं खेल सकते, यद्यपि कुछ लोग इन दोनों का फ़ायदा साथ-साथ ही उठाना चाहते हैं। अगर कोई क्रान्ति की ओर क़दम बढ़ाना चाहता है, तो उसे उसके पास जो कुछ है उस सबको खो बैठने के लिए तैयार रहना चाहिए। इसीलिए धन-दौलत और पैसेवाले अमीर लोगों में से तो बिरले ही क्रान्तिकारी मिलेंगे। हाँ, उन व्यक्तियों की बात दूसरी है जो व्यवहार-चतुर लोगों की दृष्टि में मूर्ख और अपनी श्रेणी के लोगों के लिए विश्वासघाती बनते हैं।

लेकिन आम लोगों के पास न तो मोटरें थीं, न बैंकों में उनका कोई हिसाब था, न ज़ब्त करने लायक़ जायदाद; और उन्हीं लोगों पर लड़ाई का असली बोझ

था। इसलिए अवश्य ही उनके लिए सरकार ने दूसरे तरीक़े अख़्तियार किये। सरकार ने चारों तरफ़ जिस बेरहमी से काम लिया उसका एक मज़ेदार नतीजा यह हुआ कि ऐसे बहुत-से लोग क्रियाशील हो उठे, जिनको (हाल ही में छपी एक किताब के अनुसार) 'सरकार-परस्त' के नाम से पुकारा जा सकता है। इन लोगों को यह तो पता नहीं था कि भविष्य में क्या होनेवाला है, इसलिए ये लोग कांग्रेस के आगे-पीछे चक्कर काटने लगे थे। लेकिन सरकार इस बात को बरदाश्त करने को तैयार न थी। वह निष्क्रिय राजभक्ति को काफ़ी नहीं समझती थी। ग़दर के समय में मशहूर हुए फ्रेडरिक कूपर के शब्दों में शासक लोग, 'पूरी क्रियाशीलता और प्रत्यक्ष वफ़ादारी से कम किसी बात को सह नहीं सकते। सरकार इतना नीचे उतरने को तैयार नहीं हो सकती थी कि वह अपनी रिआया के सद्भाव मात्र पर क़ायम रहे।' अपने पुराने साथियों, ब्रिटिश-लिबरल (उदार) दल के उन नेताओं के विषय में, जो राष्ट्रीय सरकार में जा मिले थे, एक साल पहले श्री लॉयड जार्ज ने कहा था कि "वे उन गिरगिटों के नमूने हैं जो अपने देश-काल की अवस्था देखकर अपना रंग बदल लेते हैं।" हिन्दुस्तान की नयी देशकालावस्था में अलग-अलग रंगों के लिए गुंजाइश नहीं थी, इसलिए हमारे कुछ देश-भाई सरकार की पसन्द के अत्यन्त चमकीले रंग में रँगकर बाहर निकले और दावतें खाते तथा गीत गाते हुए वे शासकों के प्रति अपना प्रेम और आदर प्रदर्शित करने लगे। जो आर्डिनेंस जारी किये गये थे उनसे, तरह-तरह की जो पाबन्दियाँ, मनाहियाँ और रोकें लगी हुई थीं उनसे, और दिन छिपे बाद घरों से बाहर न निकलने के हुक्म जारी किये गये थे उनसे उन्हें डरने की कोई ज़रूरत न थी, क्योंकि सरकार की ओर से यह बात कह दी गयी थी कि यह सब तो राजद्रोहियों और अराजभक्तों ही के लिए है, राजभक्तों के लिए उनसे डरने का कोई कारण नहीं है। इसलिए जिस डर ने हमारे बहुत से देश-भाइयों को जकड़ रक्खा था वह उनके पास तक नहीं फटका और वे अपने चारों तरफ़ चलनेवाले आन्दोलन और संघर्ष को समदृष्टि से देखते थे। 'पतिव्रता ग्वालिन' नाम की कविता में शायद वे भी कवि से सहमत होते, जब उनसे यह कहा कि—

"भय क्यों हो, सर्वथा मुक्त हूँ मैं तो भय से,
बलात्कार क्यों, राज़ी हूँ जब स्वयं हृदय से?"[1]

न जाने कैसे सरकार को यह ख़याल हो गया कि कांग्रेस जेलों को औरतों से भरकर अपनी लड़ाई में उनका लाभ उठाना चाहती है। क्योंकि कांग्रेसवाले समझते होंगे कि औरतों के साथ अच्छा बर्ताव किया जायगा या उनको थोड़ी सज़ा दी जायगी। यह धारणा बिलकुल निराधार थी। ऐसा कौन है जो यह चाहता हो कि हमारे घर की औरतें जेलों में ढकेली जायें? मामूली तौर पर

[1] फ्लेचर कवि के एकप्रहसन से।

लड़कियों और स्त्रियों ने हमारी लड़ाई में क्रियात्मक भाग अपने पिताओं और भाइयों या पतियों की इच्छा के विरुद्ध ही लिया। किसी भी हालत में उन्हें अपने घर के पुरुषों का पूरा सहयोग नहीं मिला। फिर भी सरकार ने यह तय किया कि लम्बी-लम्बी सज़ाएं देकर और जेलों में बुरा बरताव करके स्त्रियों को जेल जाने से रोका जाये। मेरी बहिनों की गिरफ़्तारी के बाद शीघ्र ही कुछ युवती लड़कियाँ, जिनमें से अधिकांश पन्द्रह या सोलह वर्ष की थीं, इलाहाबाद में इस बात पर ग़ौर करने के लिए इकट्ठी हुई कि अब क्या करना चाहिए। उन्हें कोई अनुभव तो था ही नहीं। हां, उनमें जोश था और वे यह सलाह लेना चाहती थीं कि हम क्या करें। लेकिन जब वे एक प्राइवेट घर में बैठी हुई बातें कर रही थीं, गिरफ़्तार कर ली गईं और हरेक को दो-दो साल की सख़्त क़ैद की सज़ा दी गयी। यह तो उन बहुत-सी छोटी-छोटी घटनाओं में से एक थी, जो उन दिनों आये-दिन हिन्दुस्तान भर में हो रही थीं। जिन लड़कियों व स्त्रियों को सज़ा मिली उनमें से ज़्यादातर को बहुत कठिनाई उठानी पड़ी। उन्हें मर्दों से भी ज़्यादा तकलीफ़ें भुगतनी पड़ीं। यों मैंने ऐसी कई दुःखदायी मिसालें सुनीं, लेकिन मीरा बहन (मिस मेडलीन स्लेड) ने बम्बई की एक जेल में अपने तथा अपने साथी क़ैदी, दूसरी सत्याग्रही स्त्रियों, के साथ होनेवाले जिस व्यवहार का वर्णन किया वह उन सबको मात करनेवाला था।

संयुक्तप्रान्त में हमारी लड़ाई का केन्द्र देहाती क्षेत्रों में ही रहा। किसानों प्रतिनिधि की हैसियत से कांग्रेस ने जो लगातार ज़ोर डाला उसकी वजह से सरकार ने काफ़ी छूट देने का वादा किया लेकिन हम उसे भी काफ़ी नहीं समझते थे। हमारी गिरफ़्तारी के बाद फ़ौरन ही और भी छूट का ऐलान किया गया। विचित्र बात तो यह थी कि इस छूट का ऐलान पहले से नहीं किया गया; क्योंकि अगर यह पहले हो जाता तो हालत में काफ़ी अन्तर पड़ जाता। हम लोगों के लिए यह मुश्किल हो जाता कि हम उसे यों ही ठुकरा दें। लेकिन उस वक़्त तो सरकार को यह चिन्ता थी कि इस छूट को नामवरी कांग्रेस को न मिलने पावे। इसलिए एक तरफ़ तो वह कांग्रेस को कुचलना चाहती थी और दूसरी तरफ़ किसानों को जितनी छूट वह दे सकती थी उतनी देती थी कि जिससे वे चुपचाप अपने घर बैठे रहें। यह बात तो साफ़ तौर पर दिखाई देती थी कि जहाँ-जहाँ कांग्रेस का ज़ोर ज़्यादा था वहीं-वहीं ज़्यादा छूट मिली थी।

यद्यपि ये छूटें ऐसी-वैसी न थीं, फिर भी उनसे किसानों की समस्या हल न हुई। हाँ, उनसे स्थिति बहुत-कुछ सँभल ज़रूर गयी। इन छूटों ने किसानों की लड़ाई की तेज़ी कम कर दी और हमारी व्यापक लड़ाई की दृष्टि से इन छूटों ने उस समय हमें कमज़ोर कर दिया। उस लड़ाई से युक्तप्रान्त में बीसियों हज़ार किसानों को दुःख झेलने पड़े। उनमें से कई तो उसकी वजह से बिलकुल बर्बाद हो गये। लेकिन उस लड़ाई के ज़ोर से लाखों किसानों को मौजूदा प्रणाली में

ज़्यादा-से-ज़्यादा जितनी छूट सम्भव हो सकती थी क़रीब-क़रीब उतनी मिल गयी और उस लड़ाई ने (सत्याग्रह-संग्राम की वजह से बहुतों को जो तकलीफ़ उठानी पड़ती वह छोड़कर) तरह-तरह की परेशानियों से भी उनकी जान बचा दी। किसानों को कभी-कभी जो ये थोड़े से फ़ायदे हो गये वे ऐसे कुछ थे नहीं, लेकिन इस बात में कोई शक नहीं है कि वे जैसे कुछ थे प्रायः उस लगातार कोशिश के फल थे जो युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमिटी ने किसानों की तरफ़ से की थी। और किसानों को उस लड़ाई से कुछ दिनों के लिए फ़ायदा ही हुआ, लेकिन उनमें जो सबसे अधिक बहादुर थे, वे उस लड़ाई में काम आ गये।

दिसम्बर १९३१ में जब युक्तप्रान्त का विशेष आर्डिनेंस जारी हुआ तब उसके साथ-साथ एक विवरणात्मक वक्तव्य निकाला गया था। इस बयान में और दूसरे आर्डिनेंसों के साथ-साथ जो बयान निकाले गये, उनमें बहुत सी असत्य और अर्द्ध-सत्य बातें भरी हुई थीं जो प्रचार के मतलब के लिए कही गयी थीं। यह सब शुरू-शुरू के हर्ष-प्रदर्शन का एक अंग था और हमें उसका जवाब देने या उनकी स्पष्ट ग़लतियों के खंडन करने का कोई मौक़ा नहीं मिला। शेरवानी के मत्थे ख़ासतौर पर एक झूठा दोष मढ़ने की कोशिश की गयी थी। यह झूठ साफ़-साफ़ चमकता था और शेरवानी ने गिरफ़्तारी से कुछ ही पहले उसका खंडन कर दिया था। ये तरह-तरह के बयान और सरकार की सफ़ाइयाँ बड़ी अजीब होती थीं। उनसे मालूम होता था कि सरकार कितनी बकवास करती थी और कितनी हड़बड़ा गयी थी। उस दिन जब मैं वह आज्ञापत्र पढ़ रहा था, जो स्पेन के बोरबन चार्ल्स तीसरे ने अपने राज्य से जुयुइट्स को निकालते हुए जारी किया था, तो उसे पढ़ते-पढ़ते मुझे उन हुक्मनामों और आर्डिनेंसों की तथा उन्हें निकालने के लिए दिये गये कारणों की याद आये बिना न रही जो ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुस्तान में प्रकाशित किये। चार्ल्स का वह हुक्मनामा फ़रवरी १७६७ को निकला था। बादशाह ने यह कहकर अपने हुक्म को ठीक ठहराया था कि इसको निकालने के लिए हमारे पास "अपनी प्रजा में अपना शासन, शान्ति और न्याय की रक्षा करने के लिए मेरा जो कर्त्तव्य है उससे सम्बंध रखनेवाले बहुत ही गम्भीर कारण हैं और इन कारणों को छोड़कर दूसरे बहुत ज़रूरी उचित और आवश्यक कारण भी हैं, जिन्हें मैं अपने दिल में सुरक्षित रख रहा हूँ।"

तो आर्डिनेंस निकालने के जो असली कारण थे वे तो वाइसराय के दिल में या उनके सलाहकारों के साम्राज्यवादी दिलों में ही बन्द रहे, यद्यपि वे साफ़-साफ़ दीख पड़ते थे। सरकार की तरफ़ से आर्डिनेंसों को निकालने के लिए जो कारण बताये गये, उनसे हमें सरकारी प्रचार की उस विद्या को समझने का मौक़ा मिला जिसे ब्रिटिश सरकार हिन्दुस्तान में पूर्णता पर पहुँचा रही थी। कुछ महीने बाद हमें यह भी मालूम हुआ कि कुछ अर्द्ध-सरकारी परचे व पैम्फ़लेट हज़ारों की तादाद में सब गाँवों में बाँटे जा रहे हैं, और जिनमें ग़लत बातों की तादाद काफ़ी आश्चर्य-

जनक हैं और जिनमें ख़ासतौर पर यह बात भी कही गयी थी कि किसानों को नाज की जिस मन्दी से नुक़सान पहुँचा है, वह कांग्रेस ने ही करायी है। कांग्रेस की ताक़त की इससे ज़्यादा तारीफ़ और क्या हो सकती है कि वह संसारव्यापी संकट पैदा कर सकती लेकिन यह झूठ काफ़ी होशियारी के साथ इस आशा से लगातार फैलाया गया कि उससे कांग्रेस की धाक को धक्का लगेगा।

इन सब बातों के होते हुए भी युक्तप्रान्त के कुछ ख़ास-ख़ास ज़िलों के किसानों ने सत्याग्रह की लड़ाई में जो हिस्सा लिया था, वह प्रशंसनीय था। सत्याग्रह की यह लड़ाई लाज़िमी तौर पर उचित लगान और छूट की लड़ाई में मिल गयी थी। इस लड़ाई में किसानों ने १९३० की लड़ाई से कहीं ज़्यादा तादाद में और ज़्यादा अनुशासन के साथ हिस्सा लिया। शुरू-शुरू में इस लड़ाई में कुछ विनोद भी हुआ। हम लोगों को एक मज़ेदार कहानी यह सुनायी गयी कि पुलिस की एक पार्टी रायबरेली ज़िले के बाकुलिया गाँव में गयी। वे लोग लगान अदा न होने पर माल कुर्क़ करने के लिए गये थे। इस गाँव के लोग दूसरे लोगों को देखते हुए कुछ ख़ुशहाल और जीवट के आदमी थे। उन्होंने माल और पुलिस के अफ़सरों का ख़ूब स्वागत-सत्कार किया और अपने-अपने घरों के किवाड़ खोलकर उनसे कहा कि चले जाइए और जो चाहे उठा लाइए। इन लोगों ने मवेशी वग़ैरा कुर्क़ किये। इसके बाद गाँववालों ने पुलिस और माल-विभाग के हाकिमों को पान-सुपारी नज़र की। वे बेचारे निहायत शर्मिन्दा होकर नीची निगाह करके वहाँ से चले गये। लेकिन यह तो एक छोटी-सी और ग़ैर-मामूली घटना थी। लेकिन बाद को फ़ौरन ही यह चुहलबाज़ी या उदारता या मनुष्योचित दया कहीं भी न दिखायी दी। चुहलबाज़ी की वजह से बेचारा बाकुलिया गाँव उस सज़ा से नहीं बच सका जो उसे ऐसा जीवट दिखाने के लिए मिली।

इन कई ख़ास-ख़ास ज़िलों में कई महीनों तक किसानों ने लगान रोक रक्खा था। उसकी अदायगी शायद गरमी के शुरू में होने लगी। इसमें कोई शक नहीं कि बहुत से लोग गिरफ़्तार किये गये लेकिन ये गिरफ़्तारियाँ तो सरकार को अपनी कार्य-नीति के ख़िलाफ़ करनी पड़ीं। साधारणतौर पर गिरफ़्तारियाँ तो ख़ास-ख़ास कार्यकर्त्ताओं तथा गाँवों के नेताओं की ही की जाती थीं। दूसरों को तो केवल मार-पीटकर छोड़ दिया जाता था। मार-पीट की यह पद्धति जेल में ले जाने और गोली मारने से अच्छी पायी गयी। क्योंकि लोगों को जब जी चाहे तभी मारा-पीटा जा सकता है और दूर देहात में होनेवाली मार-पीट की तरफ़ वहाँ से दूर के लोगों का ध्यान प्रायः नहीं जाता है। इसके अलावा उससे क़ैदियों की तादाद भी नहीं बढ़ती, जोकि वैसे ही बढ़ती जाती थी। हाँ बेदख़लियाँ, कुर्क़ियाँ और ढोरों तथा जायदाद की नीलामियाँ बहुत हुईं। किसान तकलीफ़ से तड़पते हुए यह देखते थे कि उनके पास जो कुछ थोड़ा-सा बचा-खुचा था वह भी उनसे छीनकर मिट्टी के मोल बेचा जा रहा है।

देशभर में जिन बहुत-सी इमारतों पर सरकार ने अपना क़ब्ज़ा कर लिया था उनमें स्वराज-भवन भी था। स्वराज-भवन में कांग्रेस का जो अस्पताल काम कर रहा था उसका भी क़ीमती सामान और माल सरकार के क़ब्ज़े में ले लिया गया। कुछ दिनों तक तो अस्पताल बिलकुल ही बन्द हो गया, लेकिन उसके बाद पड़ोस में एक पार्क की खुली जगह में ही दवाख़ाना खोल दिया गया। इसके बाद वह अस्पताल—या कहना चाहिए दवाख़ाना—स्वराज-भवन से लगे हुए एक छोटे-से मकान में रक्खा गया और वहीं वह कोई ढाई बरस तक चलता रहा।

हमारे रहने के घर 'आनन्द-भवन' की बाबत भी कुछ बात चली कि सरकार उसपर भी अपना क़ब्ज़ा कर लेना चाहती है, क्योंकि मैंने इन्कम-टैक्स की एक बड़ी बक़ाया रक़म अदा करने से इनकार कर दिया था। यह टैक्स १९३० में पिताजी की आमदनी पर लगाया गया था और उन्होंने सत्याग्रह की लड़ाई की वजह से उसे जमा नहीं किया। दिल्ली-पैक्ट के बाद १९३१ में उस टैक्स के बारे में इन्कम-टैक्स के हाकिमों से मेरी बहस हुई लेकिन अन्त में मैं उसे देने को राजी हो गया और उसकी एक क़िस्त दे भी दी। ठीक इसी समय आर्डिनेंस जारी हुए और मैंने तय कर लिया कि अब मैं टैक्स नहीं दूँगा। मुझे अपने लिए यह बात बहुत ही बुरी, बुरी ही क्यों, अनीतिपूर्ण भी, मालूम हुई कि मैं किसानों से तो यह कहूँ कि तुम लगान और मालगुज़ारी देने से रुक जाओ और ख़ुद अपना इन्कम-टैक्स जमा कर दूँ। इसलिए मैं यह आशा करता था कि सरकार हमारे मकान को क़ुर्क़ कर लेगी। मुझे अपने मकान की क़ुर्क़ी की बात बहुत ही बुरी लगती थी। क्योंकि उसका अर्थ यह होता है कि मेरी माँ उससे निकाल दी जातीं और हमारी किताबें, काग़ज़ात तथा जानवर और बहुत-सी ऐसी वस्तुएँ जिनका, निजी उपयोग तथा ममत्व के कारण हमारी दृष्टि में महत्त्व था, पराये लोगों के हाथों में चली जातीं और उनमें से कई तो कदाचित खो भी जातीं। हमारा राष्ट्रीय झंडा उतार दिया जाता और उसकी जगह यूनियन जैक फहरा दिया जाता। इसके साथ ही, मकान को खो बैठने का विचार मुझे बहुत अच्छा भी मालूम होता। क्योंकि मैं अनुभव करता था कि मेरा मकान क़ुर्क़ हो जाने पर मैं उन किसानों के ज़्यादा नज़दीक आ जाऊँगा, जो अपनी चीज़ें खो बैठे हैं और इससे उनके दिल भी बढ़ेंगे। हमारे आन्दोलन की दृष्टि से तो सचमुच यह बात बहुत ही अच्छी होती। लेकिन सरकार ने दूसरी ही बात तय की। उसने मकान पर हाथ नहीं डाला; शायद इसलिए कि उसे मेरी माँ का ख़याल था, या शायद इसलिए कि उसने ठीक-ठीक यह बात जान ली कि मेरे मकान को क़ुर्क़ करने से सत्याग्रह-आन्दोलन की तेज़ी बढ़ जायगी। कई महीने बाद मेरे कुछ रेलवे के शेयरों (हिस्सों) का इसे पता लगा और इन्कम-टैक्स वसूल करने के लिए उन्हें ज़ब्त कर लिया गया। सरकार ने मेरी और मेरी बहिन की मोटर तो पहले ही क़ुर्क़ करके बेच डाली थी।

इन शुरू के महीनों की एक बात से तो मुझे बहुत ज़्यादा तकलीफ़ हुई।

वह बात थी कई म्युनिसिपैलिटियों और सार्वजनिक संस्थाओं-द्वारा हमारे राष्ट्रीय झंडे का उतार डालना, खासकर कलकत्ता कार्पोरेशन-द्वारा, जिसके मेम्बरों में कांग्रेसियों का बहुमत बताया जाता था। झंडे सरकार और पुलिस के दबाव से लाचार होकर उतारे गये थे, क्योंकि यह धमकी दी गयी थी कि अगर वे न उतारे गये तो सरकार सख़्ती से पेश आयेगी। यह सख़्ती सम्भवतः म्युनिसिपैलिटी को तोड़ने या उसके मेम्बरों को सज़ा देने के रूप में होती। जो संस्थाएं स्थापित स्वार्थ रखती हैं वे अक्सर डरपोक होती हैं और शायद उनके लिए यह अनिवार्य था कि वे झंडे उतार डालतीं। फिर भी इस बात से बड़ा दुःख हुआ। हमारे लिए वह झंडा जिन बातों को हम बहुत प्यार करते हैं उनका प्रतीक हो गया था और उसकी छाया में हमने उसके गौरव की रक्षा करने की अनेक प्रतिज्ञाएं ली थीं। ख़ुद अपने ही हाथों उसे उतार फेंकना या अपने हुक्म से उसे उतरवाना सिर्फ़ अपनी प्रतिज्ञाओं का तोड़ना ही नहीं बल्कि एक पाप-कर्म-सा मालूम होता था। यह अपनी आत्मा को दबाकर अपने भीतर की सचाई की अवहेलना करना था—अधिक शारीरिक बल के सामने झूठ को क़ुबूल करना था। और जो लोग इस तरह दब गये उन्होंने क़ौम की बहादुरी को बट्टा लगाया और उसकी की इज़्ज़त को हलका किया।

यह बात नहीं है कि हम उनसे यह उम्मीद करते थे कि वे वीरों की तरह काम करते और आग में कूद पड़ते। किसीको इसलिए दोष देना कि वह अगली पंक्ति में नहीं है या जेल नहीं जाता या दूसरी तरह की तकलीफ़ें या नुक़सान नहीं सह सकता, ग़लत और व्यर्थ है। हरेक को बहुत से कर्त्तव्य पूरे करने पड़ते हैं और कई प्रकार की ज़िम्मेदारियाँ उठानी पड़ती हैं। और दूसरों को इस बात का कोई हक़ नहीं है कि वे उनके जज बनकर बैठें। लेकिन पीछे घरों में बैठे रहना या काम न करना एक बात है और सचाई से या जिसे हम सचाई समझते हैं उसे न मानना बिलकुल दूसरी बात है—और बहुत ही बुरी बात है। जब म्युनिसिपैलिटी के मेम्बरों से कोई ऐसी बात करने के लिए कही गयी जो राष्ट्रीय हितों के खिलाफ़ थी तब उनके लिए यह रास्ता खुला हुआ था कि वे अपनी मेम्बरी से इस्तीफ़ा दे देते। मगर, इन लोगों ने तो मेम्बर बने रहना ही पसन्द किया। टॉमस मूर ने कहा है—

पुष्पासन पाकर मधु-मक्खी तज देती गुंजन सुन्दर,
त्यों कौंसिल-कुर्सी पाते ही चुप हो जाते हैं मेम्बर।[1]

शायद उस काम के लिए किसी की आलोचना करना अन्याय है जो उन्होंने एक ऐसे आकस्मिक संकट में किया जिससे वे बुरी तरह दब गये थे। जैसा कि पिछला संसारव्यापी युद्ध कई बार दिखा चुका है, कभी-कभी बड़े-से-बड़े बहादुरों

[1] टॉमस मूर के अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

के भी छक्के छूट जाते हैं। उससे भी पहले १९१२ में 'टाइटैनिक'[1] जहाज़ सम्बन्धी जो भारी दुर्घटना हुई थी उसमें ऐसे-ऐसे नामी आदमियों ने, जिनकी बाबत कभी भी यह ख़याल नहीं किया जा सकता था कि वे कायर हैं, जहाज़ के कर्मचारियों को रिश्वत देकर अपनी जान बचायी और दूसरे लोगों को डूबता छोड़ दिया। अभी हाल में 'मॉरो कैसिल' पर जो आग लगी उससे बहुतही शर्मनाक हालात मालूम हुए। कोई नहीं कह सकता कि ऐसाही संकट आने पर जबकि प्रवृत्तियाँ बुद्धि और संयम को दबा लेती हैं तब वह खुद क्या करेगा? इसलिए हमें किसी को दोष नहीं देना चाहिए। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि हम इस बात पर ग़ौर न करें कि हमने जो कुछ किया वह ठीक नहीं था और भविष्य में इस बात का ख़याल रक्खें कि क़ौम की नैया की पतवार ऐसे लोगों के हाथ में न दी जाय, जो ऐसे वक़्त पर, जब सबसे ज़्यादा धीरज की ज़रूरत होती है, काँपने लगें और बेकार हो जायँ। अपनी इस असफलता को उचित ठहराने की कोशिश करना और उसे ठीक काम बताना तो और भी बुरा है। सचमुच यह तो इस असफलता से भी ज़्यादा बड़ा अपराध है।

लड़नेवाली ताक़तों की हरेक कश्मकश ज़्यादातर दिलेरी और धीरज पर निर्भर रहती है। खूनी-से-खूनी लड़ाई भी इन्हीं दो गुणों पर निर्भर रहती है। मार्शल फोक ने कहा था—"अन्त में जाकर लड़ाई वही जीतता है जो कभी घबड़ाता नहीं और हमेशा धीरज धरे रहता है।" अहिंसात्मक लड़ाई में तो कर्त्तव्य पर डटे रहने और धीरज रखने की और भी ज़्यादा ज़रूरत है। और जो कोई अपने आचरण से राष्ट्र के इस स्वत्त्व को नुकसान पहुँचाता है तथा उसका धीरज छुटाता है वह अपने उद्देश्य को भयंकर हानि पहुँचाता है।

महीने बीतते गये, और हमें हर रोज़ कुछ अच्छी खबरें मिलती गयीं और कुछ बुरी। हम लोग जेल की अपनी नीरस और एकसी ज़िन्दगी के आदी हो गये। ६ अप्रैल से १३ अप्रैल तक राष्ट्रीय सप्ताह आया। हम लोग यह जानते थे कि इस सप्ताह में बहुत-सी नयी-नयी घटनाएँ घटेंगी। सचमुच उस हफ़्ते में बहुत-सी बातें हुईं भी। लेकिन मेरे लिए एक घटना के सामने बाक़ी सब बातें फीकी पड़ गयीं। इलाहाबाद में मेरी माँ उस जुलूस में थीं जिसे पुलिस ने पहले तो रोका और फिर लाठियों से मारा। जिस वक़्त जुलूस रोक दिया गया था उस वक़्त किसी ने मेरी माताजी के लिए एक कुर्सी ला दी। वह जुलूस के आगे उस कुर्सी पर सड़क पर बैठी हुई थीं; कुछ लोग, जिनमें मेरे सेक्रेटरी वग़ैरा शामिल थे और जो खासतौर पर उनकी देखभाल कर रहे थे, गिरफ़्तार

---

[1] एक अंग्रेजी स्टीमर अपनी अमेरिका की पहली ही यात्रा में एक बरफीली चट्टान से टकराकर टूट गया था (१४ अप्रैल १९१२)। उसके २००० यात्रियों में से केवल ७०६ ही बच पाये थे। —अनु०

करके उनसे अलग कर दिये गये और इसके बाद पुलिस ने हमला किया। मेरी माँ को धक्का देकर कुर्सी से नीचे गिरा दिया गया और उनके सिर पर लगातार बेंत मारे गये जिससे उनके सर में घाव हो गया और खून बहने लगा और वह बेहोश होकर सड़क पर गिर गयीं। सड़क पर से उस वक़्त तक जुलूसवाले तथा दूसरे लोग भगा दिये गये थे। कुछ देर के बाद किसी पुलिस अफ़सर ने उन्हें उठाया और अपनी मोटर में बिठाकर आनन्द-भवन पहुंचा गया।

उस रात को इलाहाबाद में यह अफ़वाह उड़ गयी कि मेरी माँ का देहान्त हो गया है। यह सुनते ही क्रुद्ध जनता की भीड़ ने इकट्ठे होकर पुलिस पर हमला कर दिया। वे शान्ति और अहिंसा की बात भूल गये। पुलिस ने उनपर गोली चलायी जिससे कुछ लोग मर गये।

इस घटना के कुछ दिन बाद जब इन सब बातों की ख़बर मेरे पास पहुँची (क्योंकि हमें उन दिनों एक साप्ताहिक अख़बार मिला करता था) तो अपनी कमज़ोर बूढ़ी माँ के ख़ून से लथपथ धूलभरी सड़क पर पड़े रहने का ख़याल मुझे रह-रहकर सताने लगा। मैं यह सोचने लगा कि अगर मैं वहाँ होता तो क्या करता? मेरी अहिंसा कहाँ तक मेरा साथ देती? मुझे डर है कि वह ज़्यादा हद तक मेरा साथ नहीं देती। क्योंकि वह दृश्य शायद मुझे उस पाठ को बिलकुल भुला देता जिसे सीखने की कोशिश मैंने बारह बरस से भी ज़्यादा समय से की थी और उसका मुझपर या मेरे राष्ट्र पर क्या असर होता इसकी रत्तीभर भी परवा न करता।

धीरे-धीरे वह चंगी हो गयीं और जब वह दूसरे महीने बरेली जेल में मुझसे मिलने आयीं तब उनके सिर पर पट्टी बँधी थी। लेकिन उन्हें इस बात की बड़ी भारी ख़ुशी और महान् गर्व था कि वह हमारे स्वयंसेवकों और स्वयंसेविकाओं के साथ बेंतों और लाठियों की मार खाने के सम्मान से वंचित न रहीं। लेकिन उनका स्वास्थ्य-लाभ उतना वास्तविक नहीं था जितना दिखावटी, और ऐसा मालूम होता है कि इतनी बड़ी उमर में इन्हें जो भारी झकझोरे सहने पड़े उनसे उनका शरीर जर्जर हो गया और उन गहरी तकलीफ़ों को उभाड़ दिया जिन्होंने एक साल बाद भीषण रूप धारण कर लिया।

४३

बरेली और देहरादून जेलों में

छः हफ़्ते नैनी-जेल में रहने के बाद मेरा तबादला बरेली ज़िला जेल में कर दिया गया। मेरी तन्दुरुस्ती फिर गड़बड़ रहने लगी। मुझे रोज़ बुख़ार हो आता था, जो मुझे बहुत नागवार मालूम होता था। चार महीने बरेली जेल में बिताने के बाद, जब गरमी बहुत सख़्त हुई तब फिर मेरा तबादला कर दिया गया।

श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू

लेकिन इस मर्तबा मुझे बरेली की अपेक्षा एक ठंडी जगह, हिमालय की छाया में देहरादून जेल में भेजा गया। मैं वहाँ लगातार कोई साढ़े चौदह महीने, लगभग अपनी दो साल की सज़ा के अख़ीर तक रहा। इस बीच मेरा तबादला किसी और दूसरी जगह नहीं हुआ। इसमें कोई शक नहीं कि जो लोग मुझसे मिलने आते थे उनसे और ख़तों तथा उन गिने-चुने अख़बारों के ज़रिये, जो मुझे पढ़ने को दिये जाते थे, मेरे पास ख़बरें पहुँच जाती थीं, फिर भी बाहर जो कुछ हो रहा था उससे ज़्यादातर मैं अपरिचित ही रहा और ख़ास-ख़ास घटनाओं के बारे में मेरी धारणा बहुत धुँधली थी।

इसके बाद जब मैं छूटा तब अपने निजी कामों में और उस समय जो राजनैतिक परिस्थिति थी उसे ठीक करने में लगा रहा। कोई पाँच महीने से कुछ ज़्यादा की आज़ादी के बाद मैं फिर जेल में बन्द कर दिया गया और अबतक यहीं हूँ। इस तरह पिछले तीन सालों में मैं ज़्यादातर जेल में ही—और इसीलिए घटनाओं से बिलकुल दूर, अलग—रहा हूँ। इस बीच में जो कुछ हुआ उस सबका ब्योरेवार परिचय प्राप्त करने का मुझे बहुत ही कम, नहीं के बराबर, मौक़ा मिला है। जिस दूसरी गोलमेज़-कान्फ्रेंस में गांधीजी शरीक हुए थे उसमें परदे के पीछे क्या-क्या हुआ इसकी बाबत मेरी जानकारी अबतक बहुत ही धुँधली है। इस मामले पर गांधीजी से बातचीत करने का अबतक मुझे कोई मौक़ा ही नहीं मिला और न इसी बात का मौक़ा मिला कि अबतक जो-कुछ हुआ है उसके बारे में उनके या दूसरे साथियों के साथ बैठकर विचार कर लूँ।

१९३२ और १९३३ के सालों के बारे में मेरी जानकारी इतनी काफ़ी नहीं है कि मैं अपने राष्ट्रीय संग्राम के विकास का इतिहास लिख सकूँ। लेकिन चूँकि मैं रंगमंच को, उसकी पृष्ठभूमि को और अभिनेताओं को अच्छी तरह जानता था, इसलिए जो बहुत-सी छोटी-छोटी बातें भी हुईं उनको मैं अपने सहज ज्ञान से अच्छी तरह समझ सका। इस तरह मैं उस संग्राम की साधारण प्रगति के विषय में ठीक राय क़ायम कर सकता हूँ। पहले चार महीने के क़रीब तो सत्याग्रह की लड़ाई काफ़ी ज़ोर और हल्ले के साथ चली लेकिन उसके बाद धीरे-धीरे वह गिरती गई। बीच-बीच में वह फिर भड़क उठती थी। सीधी मार की लड़ाई क्रान्तिकारी पराकाष्ठा पर तो थोड़ी देर के लिए ही ठहर सकती है। वह एक जगह स्थिर नहीं रह सकती, वह या तो तेज़ होगी या नीचे गिरेगी। पहले आवेश के बाद सत्याग्रह-संग्राम धीरे-धीरे ढीला पड़ता गया, लेकिन उस हालत में भी वह बहुत काल तक चलता रहा। यद्यपि कांग्रेस ग़ैर-कानूनी क़रार दे दी गयी थी, फिर भी अखिल-भारतीय कांग्रेस का संगठन काफ़ी सफलता के साथ अपना काम करता रहा। अपने-अपने प्रान्त के कार्यकर्ताओं के साथ उसका नाता बना रहा। वह अपनी सूचनाएँ भेजता रहा, सूबों से रिपोर्ट हासिल करता रहा और कभी-कभी उसने सूबों को आर्थिक मदद भी दी।

सूबे के संगठन भी कम-ज्यादा कामयाबी के साथ अपना काम चलाते रहे। जिन सालों में मैं जेल में बन्द था उनमें दूसरे सूबों में क्या हुआ इस बात का मुझे ज़्यादा पता नहीं, लेकिन अपने छूटने के बाद मुझे संयुक्तप्रान्त के काम की बाबत बहुत-सी बातें मालूम हो गयीं। युक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी का दफ़्तर १९३२ में पूरे सालभर और १९३३ के बीच तक नियमित रूप से अपना काम करता रहा। यानी वह उस वक़्त तक अपना काम चलाता रहा जब गांधीजी की सलाह मानकर कांग्रेस के तत्कालीन कार्यवाहक सभापति ने पहली बार सत्याग्रह को स्थगित किया। इस डेढ़ साल में ज़िलों को अक्सर हिदायतें भेजी जाती रहीं। छपी हुई या साइक्लोस्टाइल से लिखी हुई पत्रिकाएं नियम से जारी होती रहीं। समय-समय पर ज़िलों के काम की निगरानी होती रही और राष्ट्र-सेवा-संघ के कार्य-कर्त्ताओं को भत्ता मिलता रहा। इसमें से अधिकांश काम अनिवार्यतया गुप्त रूप से किया गया था। लेकिन प्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी के जो सेक्रेटरी दफ़्तर आदि को सँभाले हुए थे, वह खुलेआम सेक्रेटरी की हैसियत से उस वक़्त तक काम करते रहे, जबतक उन्हें गिरफ़्तार करके हटा न दिया गया। उनके बाद दूसरे ने उनकी जगह ले ली।

१९३० और १९३२ के अपने अनुभव से हमने जाना कि हिन्दुस्तान भर में छिपे-छिपे ख़बरें लेने-देने के लिए संगठन का जाल-सा बिछाने का काम आसानी से किया जा सकता है। कुछ विरोध होते हुए भी, बिना किसी ख़ास कोशिश के बहुत अच्छा परिणाम निकला। लेकिन हममें से बहुतों को इस बात का भी ख़याल था कि छिपे-छिपे काम करने की बात सत्याग्रह की भावना से मेल नहीं खाती और सार्वजनिक जागृति पर उसका निराशाजनक असर पड़ता है। बड़े और खुले जन-आन्दोलन के एक छोटे-से अंश के तौर पर यह काम उपयोगी था, लेकिन उसमें हर वक़्त यह ख़तरा बना रहता था कि कहीं छोटे और प्रायः व्यर्थ के गुप्त काम ही जन-आन्दोलन की जगह न ले लें। यह ख़तरा उस समय ख़ास-तौर पर बढ़ जाता था जब आन्दोलन गिर रहा हो। जुलाई १९३३ में गांधीजी ने सब तरह के छिपे कार्य को बुरा बताया।

किसानों की लगानबन्दी की लड़ाई युक्तप्रान्त के अलावा, कुछ समय तक गुजरात और कर्नाटक में भी चलती रही। गुजरात और कर्नाटक, दोनों प्रान्तों में ऐसे बहुत-से किसान थे जिन्होंने अपनी धरती के मालिक होते हुए भी सरकार को मालगुज़ारी देने से इन्कार कर दिया और इसकी वजह से काफ़ी नुकसान उठाया। बेदख़लियों और जायदाद की ज़ब्तियों से किसानों को जो तकलीफ़ पहुँची उसे कम करने और पीड़ितों की मदद करने के लिए कांग्रेस की तरफ़ से कुछ कोशिश की गयी लेकिन वह अवश्य ही नाकाफ़ी रही। युक्तप्रान्त में तो यहां की कांग्रेस-कमिटी ने इस तरह संकटग्रस्त किसानों की मदद करने के लिए कोई कोशिश नहीं की। यहां की समस्या वहां से कहीं ज़्यादा बड़ी थी। असामी

किसानों की तादाद किसान-ज़मींदारों से कहीं ज्यादा है। यहाँ का रक़बा भी बहुत बड़ा था, और सूबे की कमिटी के आर्थिक साधन भी दूसरे सूबों के मुक़ाबले बहुत ही संकुचित थे। लड़ाई की वजह से जिन बीसियों हज़ार किसानों को नुक़सान पहुँचा उनकी मदद करना हमारे लिए बिलकुल असम्भव था और इसके अलावा हमारे लिए यह तय करना भी बहुत मुश्किल था कि हम इन्हीं लोगों की मदद करें और इन लोगों में तथा उन लाखों-लोगों में भेद-भाव कैसे करें जिन्हें हमेशा भूखों मरने का डर बना रहता है। सिर्फ़ कुछ हज़ार लोगों की मदद करने से मुसीबत और आपसी रंजिश खड़ी हो जाती। इसलिए हम लोगों ने यही तय किया कि हम किसीको रुपये-पैसे की मदद न दें। हमने आन्दोलन के शुरू में ही यह बात सबको बता दी थी और किसान लोग हमारी बात के महत्त्व को अच्छी तरह समझते थे। किसी प्रकार की शिकायत या आपत्ति किये बिना उन्होंने जितनी तकलीफ़ें सहीं उन्हें देखकर आश्चर्य होता था। जहाँतक हमसे हो सका वहाँतक हमने कुछ व्यक्तियों की अलबत्ते मदद करने की कोशिश की—ख़ासतौर पर उन कार्यकर्त्ताओं की पत्नियों और बच्चों की, जो जेल गये थे। इस दुःखी देश की दरिद्रता का यह हाल है कि एक रुपये महीने की मदद भी इन लोगों के लिये ईश्वरीय देन थी।

इस लड़ाई के दौरान में युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमिटी, यद्यपि वह ग़ैर-क़ानूनी क़रार दे दी गयी थी फिर भी, अपने वैतनिक कार्यकर्त्ताओं को जो थोड़ी बहुत वृत्ति देती थी बराबर देती रही, और जब वे जेल चले गये—जेल तो अपनी-अपनी बारी आने पर सभी गये थे—तब उनके परिवारों की मदद करती रही। हमारे बजट में इस मद का ख़र्च बहुत बड़ा था। इसके बाद परचों और पत्रिकाओं को छापने और उनकी कई हज़ार कापियाँ निकालने का ख़र्च था। यह ख़र्च भी बहुत बड़ा था। सफ़रख़र्च भी ख़र्च की एक ख़ास मद थी। इसके अलावा जो ज़िले ज़्यादा ग़रीब थे उन्हें भी कुछ मदद दी जाती थी। एक ज़बरदस्त और सब तरह से मोरचाबन्द सरकार के ख़िलाफ़ जनता की घमासान लड़ाई के इस काल में इन सब ख़र्चों के और दूसरे ख़र्चों के होते हुए युक्तप्रान्त की कांग्रेस-कमिटी का जनवरी १९३२ से लेकर १९३३ के अगस्त के आख़ीर तक का यानी बीस महीने का कुल ख़र्च सिर्फ़ ६३००० रुपया था; यानी क़रीब-क़रीब ३१५० रुपया महीना। इस रक़म में वह ख़र्च शामिल नहीं है जो इलाहाबाद, आगरा, कानपुर, लखनऊ जैसी ज़्यादा साधनसम्पन्न और ज़्यादा मज़बूत ज़िलों की कमेटियों ने अलग किया। प्रान्त की हैसियत से १९३२ और १९३३ भर युक्तप्रान्त लड़ाई के मैदान में आगे ही रहा और मेरे विचार से हमने जो-कुछ कर दिखाया उसे देखते हुए यह बात विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है कि उसने बहुत कम ख़र्च किया। इस छोटी-सी रक़म की तुलना उस रक़म से करना बड़ा दिलचस्प होगा जो सूबे की सरकार ने सत्याग्रह को कुचलने के लिए ख़ासतौर पर ख़र्च की। यद्यपि मुझे ठीक-ठीक तो

नहीं मालूम है फिर भी मेरा ख़याल है कि कांग्रेस के कुछ दूसरे बड़े-बड़े सूबों ने हमारे सूबे से कहीं ज़्यादा ख़र्च किया। लेकिन बिहार तो, कांग्रेस की दृष्टि में, अपने पड़ोसी युक्तप्रांत से भी ज़्यादा ग़रीब सूबा था; फिर भी लड़ाई में उसने जो हिस्सा लिया वह बहुत ही शानदार था।

अस्तु, धीरे-धीरे सत्याग्रह-आन्दोलन कमज़ोर पड़ता गया, फिर भी वह चलता रहा और वह भी बिना विशेषताओं के नहीं। ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये त्यों-त्यों वह सर्वसाधारण का आन्दोलन नहीं रहा। सरकारी दमन की सख़्ती के अलावा इस आन्दोलन पर सबसे पहला ज़बरदस्त प्रहार उस वक़्त हुआ जब सितम्बर १९३२ में गाँधीजी ने पहले-पहल हरिजनों की समस्या पर अनशन किया। इस अनशन ने जनता में जागृति ज़रूर पैदा की, लेकिन उसने उसे दूसरी तरफ़ मोड़ दिया। जब मई १९३३ में सत्याग्रह की लड़ाई स्थगित की गयी तब तो व्यावहारिक रूप में आख़िरी तौर पर उसका अन्त हो गया। यों उसके बाद वह जारी तो रही लेकिन प्रायः विचार में ही, आचार में नहीं। इसमें कोई शक नहीं कि अगर वह स्थगित न की जाती तो भी वह धीरे-धीरे समाप्त हो जाती। हिन्दुस्तान दमन की उग्रता और कठोरता के कारण सुन्न हो गया था। कम-से-कम उस वक़्त तो तमाम राष्ट्र का धैर्य चला गया था और नये उत्साह का संचार नहीं हो रहा था। व्यक्तिगत रूप में तो अब भी ऐसे बहुत से लोग थे जो सत्याग्रह करते रह सकते थे। लेकिन उन लोगों को कुछ-कुछ बनावटी वातावरण में काम करना पड़ता था।

हम लोगों को जेल में रहते हुए यह बात रुचिकर नहीं लगती थी कि हमारा महान् आन्दोलन इस तरह धीरे-धीरे गिरता जाय। फिर भी हममें से शायद ही कोई यह समझता हो कि हमें झट कामयाबी हो जायगी। यह ज़रूर है कि इस बात का कुछ-न-कुछ अवसर हमेशा ही था कि अगर आमलोग इस तरह उठ खड़े हों कि उन्हें कोई दबा ही न सके तो चमत्कारिक विजय हो जाती। लेकिन हम ऐसे दैवयोग पर भरोसा नहीं कर सकते थे। इसलिए हम लोग तो एक ऐसी लम्बी लड़ाई के लिए ही तैयार थे जो कभी तेज़ होती, कभी धीमी पड़ती और बीच-बीच में जिच में पड़ जाती। इस लड़ाई से जनता को अनुशासन का पाठ पढ़ाने तथा उसमें एक विचारधारा का लगातार प्रचार करने में ज़्यादा सफलता हुई। १९३२ के उन शुरू के दिनों में तो मैं कभी-कभी इस विचार से डर जाता था कि कहीं हमें फ़ौरन ही दिखावटी सफलता न मिल जाय, क्योंकि अगर ऐसा होता तो उसमें अनिवार्यतः कोई राज़ीनामा होता जिससे राज की बागडोर सरकार-पक्षी और अवसरवादी (मौक़ापरस्त) लोगों के हाथ में पहुँच जाती। १९३१ के अनुभव ने हमारी आँखें खोल दी थीं। कामयाबी तो तभी काम की हो सकती है जब वह ऐसे वक़्त पर आवे जबकि लोग प्रायः काफ़ी समर्थ हों और उसके बारे में उनके विचार स्पष्ट हों जिससे उस विजय का लाभ उठा

सकें। यदि ऐसा न होगा तो सर्वसाधारण तो लड़ेंगे और क़ुरबानी करेंगे और जब कामयाबी का वक़्त आवेगा तब ऐन मौक़े पर दूसरे लोग बड़ी ख़ूबी से आकर जीत के लाभ हड़प लेंगे। इस बात का भारी ख़तरा था क्योंकि ख़ुद कांग्रेस के इस बारे में निश्चित विचार नहीं थे कि हम लोगों को किस तरह की सरकार या समाज स्थापित करना चाहिए। न इस बारे में लोगों को साफ़-साफ़ कुछ सूझता ही था। सचमुच कुछ कांग्रेसी तो कभी यह सोचते ही न थे कि सरकार की मौजूदा प्रणाली में कोई ज़्यादा हेर-फेर किया जाय। वे तो केवल यह चाहते थे कि मौजूदा सरकार में ब्रिटिश या विदेशी अंश को निकालकर उसकी जगह 'स्वदेशी' छाप दे दी जाय।

एकदम 'सरकार-परस्त' लोगों से तो हमें कुछ डर नहीं था। क्योंकि उनके धर्म की सबसे पहली बात यह थी कि राजशक्ति जिस किसीके हाथ में हो उसीके सामने सिर झुकाया जाय। लेकिन यहाँ तो लिबरलों (मध्यमार्गियों) और प्रति-सहयोगियों तक ने ब्रिटिश सरकार की विचार-धारा को लगभग सोलहों-आने मंज़ूर कर लिया था। समय-समय पर वे जो थोड़ा-बहुत छिद्रान्वेषण कर देते थे वह इसीलिए बिलकुल बेकार और दो कौड़ी का होता था। यह बात सबको अच्छी तरह मालूम थी कि ये लोग तो हर हालत में क़ानून के पोषक थे और उसकी वजह से वे कभी सत्याग्रह का स्वागत नहीं कर सकते थे। लेकिन वे तो इससे कहीं ज़्यादा आगे बढ़ गये और बहुत-कुछ सरकार की ओर जा खड़े हुए। हिन्दुस्तान में सब प्रकार की नागरिक स्वतन्त्रता का जो दमन हो रहा था उसे प्रायः चुप-चाप खड़े हुए और यों कहिए कुछ-कुछ डरे हुए दर्शकों की तरह दूर से देख रहे थे। असल में दमन का यह सवाल महज़ सरकार-द्वारा सत्याग्रह का मुक़ाबला किया जाने और उसके कुचले जाने का ही सवाल नहीं था। वह तो तमाम राजनैतिक जीवन और सार्वजनिक हलचलों को बन्द करने का सवाल था। लेकिन उसके ख़िलाफ़ शायद ही किसीने कोई आवाज़ उठायी हो। जो लोग मामूली तौर पर इन आज़ादियों के हामी थे, वे सबके सब लड़ाई में जुटे हुए थे और उन लोगों ने राज की ज़बरदस्ती के सामने सिर झुकाने से इन्कार करके उसकी सज़ा भोगी। लेकिन बाक़ी लोग तो बुरी तरह दब गये। उन्होंने सरकार की नुक्ताचीनी में चूँ तक नहीं की। जब कभी उन्होंने बहुत ही नरम टीका-टिप्पणी की भी तो ऐसे लहजे से मानो अपने क़ुसूर की माफ़ी माँग रहे हों और उसके साथ-साथ वे कांग्रेस की और उन लोगों की भी जो सत्याग्रह की लड़ाई लड़ रहे थे, कड़ी निन्दा कर देते थे।

पश्चिमी देशों में नागरिक स्वतन्त्रता के पक्ष में मज़बूत लोकमत बन गया है। इसलिए वहाँ ज्योंही इनमें कमी की जाती है त्योंही लोग बिगड़कर उसका विरोध करने लगते हैं। (शायद अब यह वहाँ भी इतिहास की पुरानी बात हो गयी है।) उन देशों में ऐसे लोगों की तादाद बहुत काफ़ी है जो ख़ुद तो बड़ी और सीधी लड़ाई में हिस्सा लेने को तैयार नहीं होते लेकिन इस बात का बहुत काफ़ी

ध्यान रखते हैं कि बोलने और लिखने की स्वतंत्रता में, सभा और संगठन स्थापित करने की स्वतन्त्रता में, तथा व्यक्तिगत और छापेखानों की स्वतन्त्रता में किसी तरह की कमी न होने पावे। इनके लिए वे निरन्तर आन्दोलन करते रहते हैं और इस तरह सरकार द्वारा उनके भंग किये जाने की कोशिशों को रोकने में सहायक होते हैं। हिन्दुस्तान के लिबरलों का दावा है कि वे लोग कुछ हद तक ब्रिटिश लिबरलों की परम्परा पर चल रहे हैं (हालाँकि इन दोनों में नाम के अलावा और किसी बात में समानता नहीं है)। फिर भी उनसे यह उम्मीद की जा सकती थी कि इन आज़ादियों के इस तरह दबाये जाने पर वे कम-से-कम कुछ बौद्धिक विरोध तो ज़रूर करेंगे क्योंकि दमन का असर उनपर भी पड़ता था। लेकिन उन्होंने ऐसी कोई बात नहीं की। उन्होंने वॉल्टेयर की तरह यह नहीं कहा कि "आप जो कुछ कहते हैं उससे मैं बिलकुल सहमत नहीं हूँ, लेकिन आपको अपनी बात कहने का हक़ है और आपके इस हक़ को मैं अपनी जान पर खेलकर बचाऊँगा।"

शायद उनको इस बात के लिए दोष देना भी मुनासिब नहीं है क्योंकि उन लोगों ने लोकतन्त्र या आज़ादी के रक्षक होने का दावा कभी नहीं किया और उन्हें एक ऐसी हालत का सामना करना पड़ा जिसमें एक शब्द ऐसा-वैसा कहने पर वे मुसीबत में फँस सकते थे। हिन्दुस्तान में होनेवाले दमन का स्वतन्त्रता के उन पुराने प्रेमियों यानी ब्रिटिश लिबरलों और ब्रिटिश मज़दूर-दल के नये साम्यवादियों पर जो असर पड़ा उसे देखना ज़्यादा मुनासिब मालूम होता है। हिन्दुस्तान में जो कुछ हो रहा था वह काफ़ी तकलीफ़देह था। लेकिन वे उस सबको काफ़ी मज़े के साथ देखते रहे और कभी-कभी तो "मैंचेस्टर गार्जियन" के संवाददाता के शब्दों में हिन्दुस्तान में "दमन के वैज्ञानिक प्रयोग" की कामयाबी पर उनकी ख़ुशी ज़ाहिर हो जाती। हाल में ही ग्रेटब्रिटेन की राष्ट्रीय सरकार ने एक राज-द्रोह-बिल पास करने की कोशिश की है। ख़ासतौर पर लिबरलों और मज़दूर दलवालों ने इस बिल के ख़िलाफ़ और बातों के साथ इस आधार पर बहुत बावेला मचाया है कि वह बोलने की आज़ादी को नष्ट करता है और मैजिस्ट्रेटों को यह अधिकार देता है कि वे तलाशी के वारण्ट निकालें। जब-जब मैं इन टीका-टिप्पणियों को पढ़ता तो मैं उनके साथ सहानुभूति करता था, लेकिन साथ ही मेरी आँखों के सामने हिन्दुस्तान की तस्वीर नाच उठती और मुझे यह दिखायी देता की यहाँ तो जो क़ानून जारी हैं वे क़रीब-क़रीब उस क़ानून से सौ गुने ज़्यादा बुरे हैं जिसे 'ब्रिटिश-राजद्रोह-बिल' बनाने की कोशिश कर रहा है। मुझे इस बात पर बड़ा आश्चर्य होता था कि जिन अंग्रेज़ों के गले में इंग्लैण्ड में पतिंगा भी अटक जाता है वे हिन्दुस्तान में बिना चीं-चपड़ किये ऊँट को किस तरह निगल जाते हैं। सचमुच मुझे ब्रिटिश लोगों की इस अद्भुत ख़ूबी पर हमेशा आश्चर्य हुआ है कि किस प्रकार वे अपने नैतिक पैमानों को अपने भौतिक स्वार्थों के अनुकूल बना लेते हैं और जिन कामों से उनके साम्राज्य बढ़ाने के इरादों को मदद मिलती

है उन सब में उन्हें गुण-ही-गुण दिखाई देता है। आज़ादी और लोकतन्त्र के ऊपर मुसोलिनी और हिटलर जो कुछ हमला कर रहे हैं उसपर उन्हें बड़ा क्रोध आता है और वे निहायत ईमानदारी के साथ उनकी निन्दा करते हैं लेकिन उतनी ही ईमानदारी के साथ वे हिन्दुस्तान में आज़ादी का छीना जाना ज़रूरी समझते हैं और इस बात के लिए ऊँचे-से-ऊँचे नैतिक कारण पेश करते हैं कि इस आज़ादी के छीनने के काम में उनका अपना कोई स्वार्थ नहीं है।

जब हिन्दुस्तान में चारों तरफ़ आग लग रही थी और पुरुषों तथा स्त्रियों की अग्नि-परीक्षा हो रही थी तब यहां से बहुत दूर लन्दन में छँटे-चुने हज़रात हिन्दुस्तान के लिए एक शासन-विधान बनाने को इकट्ठे हुए। १९३३ में तीसरी गोलमेज़-कान्फ्रेंस हुई और उसके साथ-साथ कई कमिटियाँ बनीं। यहाँ असेम्बली के बहुत से मेम्बरों ने इन कमिटियों की मेम्बरी के लिए डोरे डाले जिससे वे निजी तौर पर आनन्द मनाने के साथ-साथ सार्वजनिक कर्तव्य का भी पालन कर सकें। सार्वजनिक ख़र्चे से हिन्दुस्तान से लन्दन को काफ़ी भीड़ गयी। बाद को १९३३ में संयुक्त पार्लमेण्टरी कमिटी बैठी जिसमें हिन्दुस्तानियों ने असेसरों की तरह काम किया। इस बार भी जो लोग गवाह बनकर गये उनको दयालु सरकार ने सफ़र ख़र्च अपने ख़ज़ाने से दिया। बहुत से लोग फिर, हिन्दुस्तान की सेवा करने के सच्चे भावों से प्रेरित होकर सार्वजनिक ख़र्च पर समुद्र पार गये और कहा जाता है कि इनमें से कुछ ने तो ज़्यादा सफ़र ख़र्च मिलने के लिए कोशिश भी की।

हिन्दुस्तान के जन-आन्दोलन का क्रियात्मक स्वरूप देखकर डरे हुए स्थापित स्वार्थों के इन प्रतिनिधियों को, साम्राज्यवाद की छत्रछाया में, लन्दन में इकट्ठा देखकर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। लेकिन हमारे अन्दर जो राष्ट्रीयता है उसको यह देखकर ज़रूर वेदना हुई कि जब मातृभूमि इस तरह के जीवन और मरण के संघर्ष में लगी हुई हो तब कोई हिन्दुस्तानी इस तरह की हरकत करे। लेकिन एक दृष्टि से हममें से बहुतों को यह जान पड़ा कि यह अच्छा ही हुआ, क्योंकि उसने हिन्दुस्तान में प्रगति-विरोधी लोगों को हमेशा के लिए प्रगतिशील लोगों से अलग कर दिया। (उस समय हम यही सोचते थे लेकिन अब मालूम पड़ता है कि हमारा यह ख़याल ग़लत था।) इस छँटनी से जनता को राजनैतिक शिक्षा देने में मदद मिलेगी और सब लोगों के लिए यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी कि सिर्फ़ आज़ादी के द्वारा ही हम सामाजिक समस्याओं को हल कर सकते हैं और जनता के सिर का बोझ हटा सकते हैं।

लेकिन इस बात को देखकर अचरज होता था कि इन लोगों ने अपनी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में ही नहीं, बल्कि नैतिक और बौद्धिक दृष्टि से भी अपने को हिन्दुस्तान की जनता से कितना अलग कर दिया है। ऐसी कोई कड़ी न थी जो इनको जनता से जोड़ती। ये न तो जनता को ही समझते थे न उसकी उस भीतरी प्रेरणा को ही, जो उसे क़ुर्बानी करने और तकलीफ़ें झेलने के लिए स्फूर्ति दे रही थी। इन

नामी राजनीतिज्ञों की राय में असलियत सिर्फ़ एक बात में थी। वह थी ब्रिटिश साम्राज्य की वह ताक़त जिससे लड़कर उसे हराना ग़ैर-मुमकिन है और इसलिए, उसके सामने हमें ख़ुशी से या बेबसी से अपना सिर झुका देना चाहिए। इन लोगों को यह बात सूझती ही न थी कि भारत की जनता के सद्भाव के बिना हिन्दुस्तान के प्रश्न को हल करना या उसके लिए कोई वास्तविक जीवित विधान बनाना बिलकुल असम्भव था। मि० जे० ए० स्पेंडर ने हाल ही में "हमारे समय का संक्षिप्त इतिहास" (Short History of Our Times) नामक जो किताब लिखी है उसमें १९१० की उस आयरिश ज्वॉइंट कान्फ्रेंस की असफलता की चर्चा की गयी है जिसने वैधानिक संकट को मिटाने की कोशिश की थी। उनका कहना है कि जो राजनैतिक नेता संकट-काल के बीच में विधान तलाश करने की कोशिश करते हैं, उनकी दशा उन लोगों की-सी होती है, जो, जब मकान में आग लगी हुई है तब, उनका बीमा कराने की कोशिश करते हैं। १९३२ और १९३३ में हिन्दुस्तान में जो आग लगी हुई थी वह उस आग से कहीं ज़्यादा थी जो आयलैंड में १९१० में लगी हुई थी और यद्यपि उस आग की ज्वालाएं भले ही बुझ जायँ फिर भी उसके धधकते हुए अंगारे बहुत दिन तक रहेंगे और वे हिन्दुस्तान में स्वाधीनता के संकल्प की तरह गरम और कभी न बुझनेवाले होंगे।

हिन्दुस्तान के शासकवर्ग में हिंसा-भाव की जो बढ़ती हो रही थी उसे देखकर आश्चर्य होता था। इस हिंसा की परम्परा पुरानी थी, क्योंकि ब्रिटिश लोगों ने हिन्दुस्तान पर राज ज़्यादातर पुलिस-राज की तरह किया है। सिविल हाकिमों का भी ख़ास दृष्टिकोण फ़ौजी ही रहा है। उनकी हुकूमत में वह प्रवृत्ति प्रायः हमेशा रही है जो विजित देश पर कब्ज़ा करके पड़ी हुई शत्रु की फ़ौज की हुकूमत में रहती है। अपनी मौजूदा व्यवस्था को गम्भीर चुनौती मिलते ही उनकी यह मनोवृत्ति और भी ज़्यादा बढ़ गयी। बंगाल में और दूसरी जगह आतंकवादियों ने जो काण्ड किये उनसे इस हिंसा को और भी ख़ुराक मिली और शासकों को अपने हिंसात्मक कार्यों के लिए थोड़ा बहुत बहाना मिल गया। सरकार की नीति ने और तरह-तरह के आर्डिनेंसों ने सरकारी अफ़सरों और पुलिस को इतने असीम अधिकार दे दिये कि हिन्दुस्तान में एक तरह का 'पुलिस राज' ही हो गया, जिसमें पुलिस के लिए न कोई रोक थी न पूछ।

थोड़ी-बहुत मात्रा में हिन्दुस्तान के सभी प्रान्तों को इस भीषण दमन की आग में होकर निकलना पड़ा, लेकिन सीमाप्रान्त और बंगाल को सबसे ज़्यादा तकलीफ़ें झेलनी पड़ीं। सीमाप्रान्त तो हमेशा से ख़ासकर फ़ौजी सूबा रहा है। उसका इन्तज़ाम अर्द्ध-फ़ौजी क़ायदों के मुताबिक़ होता है। युद्ध-कार्य की दृष्टि से उसका बहुत महत्त्व पहले ही से था। अब लालकुर्ती-आन्दोलन से तो सरकार एकदम घबड़ा गयी। इस सूबे में 'शान्तिस्थापन करने के लिए' और 'तूफ़ानी गाँवों को' ठीक करने के लिए फ़ौज की टुकड़ियाँ भेजी गयी थीं। हिन्दुस्तान-भर

में यह आम रिवाज हो गया था कि सरकार गाँव-के-गाँवों पर जुर्माना ठोंक देती थी और कभी-कभी (ख़ासतौर पर बंगाल में) नगरों पर भी सज़ा के तौरपर पुलिस बैठा दी जाती थी। और जब पुलिस को अनाप-शनाप अधिकार मिले हुए थे और उन्हें रोकनेवाला कोई न था तब पुलिस की ओर से ज़्यादतियाँ होना लाज़िमी था। हम लोगों को क़ानून और व्यवस्था के नाम पर अनियमितता और अव्यवस्था के आदर्श उदाहरण ख़ूब देखने को मिले।

बंगाल के कुछ हिस्सों में तो बहुत ही असाधारण बातें दिखायी देती थीं। सरकार तमाम आबादी के—सही बात तो यह है कि हिन्दुओं की आबादी के—साथ दुश्मनों का-सा बर्ताव करती और बारह से लेकर पचीस बरस तक के हर शख़्स को, फिर चाहे वह मर्द हो या औरत, लड़का हो या लड़की, 'शनाख़्त' का कार्ड लेकर चलना पड़ता था। लोगों के झुंड-के-झुंड को देश-निकाला दिया जाता था या नज़रबन्द कर दिया जाता था। उनकी पोशाक पर बन्धन था और उनके स्कूलों का नियमन सरकार करती थी या जब चाहती स्कूलों को बन्द कर देती थी। साइकिलों पर चढ़ने की मनाही थी और कहीं आते-जाते वक़्त पुलिस को अपने आने-जाने की इत्तिला देनी पड़ती थी। इसके अलावा दिन-छिपे बाद घर से न निकलने के लिए और रात के लिए तथा दूसरी बातों के लिए क़ायदे और क़ानूनों की भरमार थी। फ़ौजें गश्त लगाती थीं। ताज़ीरी पुलिस तैनात कर दी जाती थी और गाँव-भर पर जुर्माने होते थे। बड़े-बड़े क्षेत्र ऐसे मालूम पड़ते थे मानो उनपर हमेशा के लिए घेरा डाल दिया गया हो। इन क़सबों में रहनेवाले स्त्री-पुरुषों की ऐसी कड़ी निगरानी होती थी कि उनकी हालत उन लोगों से बेहतर न थी जो छुट्टी के टिकिट लिये बिना आ-जा नहीं सकते। इस बात का निर्णय देना मेरा काम नहीं है कि आया ब्रिटिश सरकार के दृष्टिकोण से यह सब अद्भुत क़ायदे-क़ानून जरूरी थे या नहीं। अगर वे ज़रूरी नहीं थे तो सरकार पर यह भारी इलज़ाम आता है कि उसने सारे प्रदेश की स्वतन्त्रता को अपमानित करने, उसपर पर ज़ुल्म करने और उसे भारी नुक़सान पहुँचाने का महान् अपराध किया। अगर वे ज़रूरी थे तो निस्सन्देह हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन की बाबत यह अन्तिम फ़ैसला है, जिससे उसकी नींव का पता लग जाता है।

सरकार की इस हिंसावृत्ति ने जेलों में भी हम लोगों का पीछा किया। क़ैदियों का अलग-अलग श्रेणियों में बँटवारा एक मज़ाक़-सा था और अक्सर उन लोगों को बड़ी तकलीफ़ होती थी जो ऊँचे दर्जों में रक्खे जाते थे। यह ऊँचे दर्जे बहुत ही कम लोगों को मिले और बहुत से मानी तथा मृदुल स्वभाव के पुरुषों और स्त्रियों को ऐसी हालत में रहना पड़ा जो लगातार एक यन्त्रणा थी। ऐसा मालूम पड़ता है कि सरकार की यह निश्चित नीति थी कि वह राजनैतिक क़ैदियों को मामूली क़ैदियों से भी ज़्यादा बुरी तरह रक्खे। जेलों के इन्सपेक्टर जनरल ने तो यहाँ तक किया कि सब जेलों के नाम एक गुप्त गश्ती-चिट्ठी जारी की जिसमें यह

कहा गया कि सत्याग्रही क़ैदियों के साथ 'कड़ाई का बर्ताव' होना चाहिए ।[1]

बेंतों की सज़ा जेल को आम सज़ा हो गयी। २७ अप्रैल १९३३ को भारत के उप-सचिव ने कामन-सभा में कहा कि "सर सेम्युअल होर को यह बात मालूम है कि हिन्दुस्तान में १९३२ के सत्याग्रह से सम्बन्धित जुर्मों के सिलसिले में कोई पाँचसौ व्यक्तियों के बेंत लगे हैं।" इसमें यह बात साफ़ नहीं है कि उसमें वे लोग भी शामिल हैं या नहीं जिनको जेलों में जेल के क़ायदे तोड़ने के लिए बेंतों की सज़ा दी गयी। १९३२ में जेलों में बेंत लगने की ख़बरें जब हमारे पास अक्सर आने लगीं, तब मुझे याद आया कि हम लोगों ने दिसम्बर १९३० में बेंतों की सज़ा की एक या दो फुटकर मिसालों के विरोध में तीन दिन तक उपवास किया था। उस वक़्त इस सज़ा की पाशविकता से मुझे भारी चोट पहुँची थी और इस वक़्त भी मुझे बार-बार चोट पहुँचती थी और मेरे दिल में बड़ी टीस उठती थी, लेकिन मुझे यह नहीं सूझा कि इस बार फिर उसके विरोध में अनशन करना चाहिए, क्योंकि मैंने इस बार इस मामले में अपनेको पहले से ही कहीं ज़्यादा बेबस पाया। कुछ समय के बाद मन पाशविकता के प्रति जड़-सा हो जाता है। किसी बुरी बात को आप ज़्यादा देर तक जारी रखिए और दुनिया उसकी आदी हो जायगी।

हमारे आदमियों को जेल में कड़ी-से-कड़ी मशक़्क़त दी गयी—जैसे चक्की, कोल्हू वग़ैरा, और उनसे माफ़ी मँगवाकर तथा सरकार के सामने यह प्रण कराकर कि हम आगे ऐसा नहीं करेंगे, उन्हें छूटने को प्रेरित करने के लिए, जहाँतक हो सका वहाँतक उनकी ज़िन्दगी भाररूप करने की कोशिश की गयी। क़ैदियों से इस तरह माफ़ी मँगवाना जेल के हाकिमों के लिए बड़े गौरव की बात मानी जाती थी। जेल में ज़्यादातर सज़ाएं उन लड़कों और नौजवानों को भोगनी पड़ीं जो धौंस, दबाव और बेइज़्ज़ती बरदाश्त करने को तैयार न थे। ये लड़के निहायत अच्छे और जीवटवाले थे। स्वाभिमान, ज़िन्दादिली तथा साहसीवृत्ति से भरे हुए इंग्लैंड के पब्लिक स्कूलों में इस तरह के लड़कों की बेहद्द तारीफ़ें होतीं, उन्हें हर तरह की शाबाशी दी जाती। लेकिन यहाँ हिन्दुस्तान में उनकी युवकोचित आदर्शवादिता और उनके स्वाभिमान के कारण उनको हथकड़ियाँ पहनाई गयीं, उन्हें काल-कोठरियों में बन्द किया गया और बेंत लगवाये गये।

जेलों में हमारी महिलाओं की ज़िन्दगी तो ख़ासतौर पर दु:खमय थी—ऐसी

---

[1] इस गश्ती-चिट्ठी पर ३० जून १९३३ की तारीख़ पड़ी थी और उसमें यह लिखा हुआ था—"जेल के सुपरिण्टेण्डेण्टों और उसके मातहत कर्मचारियों के लिए इन्सपेक्टर जनरल इस बात पर जोर देते हैं कि सत्याग्रही क़ैदियों के साथ उनके महज सत्याग्रही होने की वजह से रिआयती बर्ताव करने की कोई वजह नहीं है। इस दर्जे के कैदियों को अपनी-अपनी जगहों में रखना चाहिए और उनके साथ खूब सख़्ती से पेश आना चाहिए।"

दुःखमय कि उसका ख़याल करने में भी तकलीफ़ होती है। ये स्त्रियाँ ज़्यादातर मध्य-श्रेणी की थीं जो रक्षित जीवन बिताने की आदी थीं और पुरुषों द्वारा अपने आधिपत्यवाले समाज में अपने फ़ायदे के लिए बनाये गये नीतिनियमों और रिवाजों द्वारा सतायी हुई थीं। इन स्त्रियों के लिए आज़ादी की पुकार हमेशा दुहरे मानी रखती थी और इस बात में कोई शक नहीं कि जिस जोश और जिस दृढ़ता के साथ वे आज़ादी की लड़ाई में कूदीं उनका मूल उस धुँधली और लगभग अज्ञात, लेकिन फिर भी उत्कट आकाँक्षा में था जो उनके मन में घर की गुलामी से अपने को मुक्त करने के लिए बसी हुई थी। इनमें से बहुत कमको छोड़कर बाकी सबको मामूली क़ैदियों के दर्जे में रखा गया और उनको बहुत ही पतित स्त्रियों के साथ और अक्सर उन्हीं की-सी भयानक हालत में रखा गया। एक बार मैं एक ऐसी बैरक में रखा गया जो औरतों की बैरक से सटी हुई थी। दोनों के बीच में एक दीवार ही थी। औरतों के अहाते में, दूसरी क़ैदिनों के साथ-साथ कुछ राजनैतिक क़ैदिनें भी थीं और इनमें एक महिला ऐसी भी थी जिसके घर में मैं एक बार ठहरा था और जिसने मेरा आतिथ्य-सत्कार किया था। यद्यपि एक ऊँची दीवार हमें एक दूसरे से अलग कर रही थी तो भी वह उन बातों और गालियों को सुनने से नहीं रोक पाती थी, जो हमारी बहिनों को क़ैदी-नम्बरदारिनों से सुननी पड़ती थीं। इन्हें सुनकर मुझे बड़ा रंज होता था।

यह बात ख़ासतौर पर ध्यान देने लायक़ है कि १९३२ और १९३३ के राजनैतिक क़ैदियों के साथ जो बर्ताव किया गया वह उससे कहीं ज़्यादा बुरा था, जो दो बरस पहले सन् १९३० में किया गया था। यह बात केवल जेल-हाकिमों की धुन की वजह से ही नहीं हो सकती थी। इसलिए इसके सम्बन्ध में एकमात्र उचित परिणाम यही निकलता है कि यह सब सरकार की निश्चित नीति की वजह से हुआ। राजनैतिक क़ैदियों के प्रश्न को छोड़कर भी युक्तप्रान्तीय सरकार के जेल के महकमे की यह तारीफ़ थी कि वह क़ैदियों के साथ मनुष्यों का-सा बर्ताव करने की हर बात के सख़्त ख़िलाफ़ होने के लिए प्रसिद्ध था। इस बात की हमें एक ऐसी मिसाल मिली जिसके बारे में कोई शक हो ही नहीं सकता। एक मर्तबा एक बहुत नामी जेल-निरीक्षक हम लोगों के पास जेल में आये। यह महाशय बाग़ी या हम लोगों की तरह राजद्रोह फैलानेवाले न थे बल्कि 'सर' थे। उनको सरकार ने ख़ुश होकर ख़िताब बख़्शा था। उन्होंने हमसे कहा कि "कुछ महीने पहले मैंने एक दूसरी जेल का निरीक्षण किया था; और अपने निरीक्षण के नोट में यह लिख दिया था कि जेलर हुकूमत रखते हुए भी इन्सानियत से काम लेता है। उस जेलर ने मुझसे प्रार्थना की कि मेरी इन्सानियत की बाबत कुछ न लिखिए क्योंकि सरकार की मण्डली में 'इन्सानियत' अच्छी निगाह से नहीं देखी जाती। लेकिन मैं अपनी बात पर अड़ा रहा, क्योंकि मैं कभी यह ख़याल ही नहीं कर सकता था कि इस बात के पीछे जेलर को कुछ नुक़सान

पहुँच सकता है । नतीजा क्या हुआ ? फ़ौरन ही एक बहुत दूर कहीं कोने में पड़ी हुई एक जेल में उस जेलर का तबादला कर दिया गया, जो उसके लिए एक क़िस्म की सज़ा ही थी ।''

कुछ जेलर ख़ासतौर पर ख़ूँख़्वार थे और न्याय-नीति की परवा न करते थे । उनको ख़िताब दिये गये तथा उनकी तरक़्क़ी की गयी । जेलों में बेईमानी और रिश्वतख़ोरी तो इतनी चलती है कि शायद ही कोई उससे पाक-साफ़ रहता हो । लेकिन मेरा अपना और मेरे बहुत से दोस्तों का तजुर्बा है कि जेल के कर्मचारियों में वही लोग सबसे ज़्यादा बेईमान और रिश्वतख़ोर होते हैं जो आमतौर पर अनुशासन के बहुत ज़बरदस्त और सख़्त हामी बनते हैं ।

मैं ख़ुशक़िस्मत रहा हूँ कि जेल में और जेल से बाहर और जितने लोगों से मेरा वास्ता पड़ा उन सबने मेरे साथ इज़्ज़त व शराफ़त का बर्ताव किया, उस हालत में भी जब कि शायद मैं उसका पात्र न था । लेकिन जेल की एक घटना से मुझे और मेरे स्वजनों को बहुत दुःख हुआ । मेरी माँ, कमला और मेरी लड़की इन्दिरा इलाहाबाद ज़िला जेल में मेरे बहनोई रणजित पण्डित से मिलने के लिए गयीं और वहाँ बिना क़ुसूर ही जेलर ने उनका अपमान किया और उन्हें जेल से बाहर ढकेल दिया । जब मैंने यह बात सुनी तो मुझे बड़ा रंज हुआ और जब मुझे यह मालूम हुआ कि प्रान्तीय सरकार का रुख़ भी इस मामले में अच्छा नहीं है तब मुझे भारी धक्का लगा । अपनी माँ को जेल-अधिकारियों द्वारा अपमानित किये जाने की सम्भावना से बचाने के लिए मैंने तय कर लिया था कि किसीसे मुलाक़ात नहीं करूँगा । और क़रीब सात महीने तक, जबतक मैं देहरादून जेल में रहा, मैंने किसीसे मुलाक़ात नहीं की ।

४४

जेल में मानसिक उतार-चढ़ाव

हममें से दो का, मेरा और गोविन्दवल्लभ पन्त का, तबादला बरेली-जेल से देहरादून को साथ-साथ किया गया । कोई प्रदर्शन न होने पावे, इस बात का ध्यान रखने के लिए हम लोगों को बरेली में गाड़ी पर नहीं बिठाया गया । बल्कि वहां से ५० मील की दूरी पर एक छोटे-से स्टेशन पर ले जाकर वहाँ गाड़ी में बिठाया गया । हम लोग रात को चुपचाप मोटर में ले जाये गये । कई महीने तक अलग जेल में बन्द रहने के बाद रात की उस ठंडी हवा में मोटर के सफ़र से हमें अनोखा आनन्द आया ।

बरेली-जेल से जाने के पहले एक छोटी-सी घटना हुई, जिसने उस वक़्त तो मेरे हृदय पर असर डाला ही था लेकिन अबतक भी वह मेरी याद में तरोताज़ा है । बरेली-पुलिस का सुपरिण्टेण्डेण्ट, जो कि एक अंग्रेज़ था, वहाँ मौजूद था

और ज्योंही मैं कार में बैठा त्योंही उसने कुछ-कुछ सकुचाते हुए मुझे एक पैकेट दिया जिसमें, उसने मुझे बताया कि, वे जर्मनी के पुराने सचित्र मासिक पत्रों की कापियाँ थीं। उसने कहा कि मैंने सुना है कि आप जर्मन सीख रहे हैं, इसलिए मैं कुछ मासिक पत्र आपके लिए ले आया हूँ। इससे पहले मेरी उसकी मुलाक़ात कभी नहीं हुई थी और न उस दिन के बाद मैं आजतक उससे कभी मिला। मैं उसका नाम भी नहीं जानता। लेकिन मेरे दिल पर उसके स्वेच्छा-प्रेरित सौजन्य का और उस कृपा-भाव का, जिसने उसे इसकी प्रेरणा की, बहुत असर पड़ा और अपने मन में मैं उसके प्रति बहुत ही कृतज्ञ हुआ।

आधी-रात के उस लम्बे सफ़र में मैं अंग्रेज़ों और हिन्दुस्तानियों के, शासकों और शासितों के, सरकारी और ग़ैर-सरकारी लोगों के, तथा सत्ताधारियों और उनकी आज्ञाओं का पालन करनेवालों के आपसी सम्बन्धों के बारे में तरह-तरह की बातें सोचता रहा। इन दोनों वर्गों के बीच में कैसी गहरी खाई है, और ये दोनों एक-दूसरे पर कितना शक करते हैं तथा एक-दूसरे को कितना नापसन्द करते हैं। लेकिन इस अविश्वास और अरुचि से भी ज़्यादा बड़ी बात एक-दूसरे की बाबत अज्ञान है। इसी अज्ञान की वजह से दोनों एक दूसरे से डरते हैं और एक-दूसरे की मौजूदगी में हर वक़्त चौकन्ने रहते हैं। हरेक को दूसरा शख़्स कुछ अनमना, खिंचा हुआ और मित्र-भाव से हीन मालूम होता है और दोनों में से एक भी यह नहीं अनुभव करता कि इस आवरण के अन्दर शिष्टता और सौजन्य भी है। अंग्रेज़ हिन्दुस्तान पर राज करते हैं और लोगों को सहायता तथा सहारा देने के साधनों की उन्हें कमी नहीं है। इसलिए उनके पास अवसरवादी और नौकरियों की तलाश में गिड़गिड़ाते फिरनेवाले लोगों की भीड़ पहुँचा करती है। हिन्दुस्तान के बारे में अपनी राय वे इन्हीं भद्दे नमूनों को लेकर बनाते हैं। हिन्दुस्तानियों ने अंग्रेज़ों को सिर्फ़ हाकिमों की ही हैसियत से काम करते देखा है और इस हैसियत से काम करते हुए उनमें सोलहों आने मशीन की-सी हृदयहीनता होती है और वे सब मनोविकार होते हैं जो स्थापित स्वार्थ रखनेवालों में अपनी रक्षा करने की कोशिश करते समय होते हैं। एक व्यक्ति की हैसियत से और अपनी इच्छा के मुताबिक़ काम करनेवाले व्यक्ति के बरताव में और उस बरताव में, जिसे एक शख़्स, हाकिम की या सेना की एक इकाई की हैसियत से, करता है, कितना फ़र्क़ होता है? फ़ौजी जवान तो अकड़कर अटेंशन होते ही अपनी मनुष्यता को दूर धर देता है और एक मशीन की तरह काम करते हुए उन लोगों पर निशाना ताककर उन्हें मार गिराता है, जिन्होंने उसका कभी कोई नुक़सान नहीं किया। मैंने सोचा कि यही हाल उस पुलिस अफ़सर का है, जो एक शख़्स की हैसियत से बेरहमी का कोई काम करते हुए झिझकेगा लेकिन दूसरे ही दिन निरपराध लोगों पर लाठी-चार्ज करा देगा। उस वक़्त वह अपने को एक व्यक्ति के रूप में नहीं देखता और न वह उस भीड़ को ही व्यक्तियों की शक्ल में देखता

है जिन्हें वह डंडों से मारता है या जिनपर वह गोली चलाता है।

ज्योंही कोई व्यक्ति दूसरे पक्ष को भीड़ या समूह के रूप में देखने लगता है, त्योंही दोनों को जोड़नेवाली मनुष्यता की कड़ी ग़ायब हो जाती है। हम लोग यह भूल जाते हैं कि भीड़ में वही शख़्स, मर्द और औरत और बच्चे होते हैं, जिनमें प्रेम और नफ़रत के भाव होते हैं, तथा जो कष्ट अनुभव करते हैं। एक औसत अंग्रेज़ अगर साफ़-साफ़ बात कहे तो यह मंजूर करेगा कि हिन्दुस्तानियों में कुछ आदमी काफ़ी भले भी हैं; लेकिन वे लोग तो अपवाद-स्वरूप हैं, और कुल मिलाकर तो हिन्दुस्तानी एक घृणास्पद लोगों की भीड़-भर हैं। औसत हिन्दुस्तानी भी यह मंजूर करेगा कि कुछ अंग्रेज़ जिन्हें वह जानता है तारीफ़ के क़ाबिल हैं, लेकिन इन थोड़े से लोगों को छोड़कर बाक़ी अंग्रेज़ बड़े ही घमंडी, पाशविक और सोलहों आने बुरे आदमी हैं। यह बात कैसी अजीब है कि हर शख़्स दूसरी क़ौम की बाबत अपनी राय किस तरह बनाता है! उन लोगों के आधार पर नहीं जिनके वह संसर्ग में आता है, बल्कि उन दूसरे लोगों के आधार पर जिनके बारे में या तो वह कुछ नहीं जानता या 'कुछ नहीं' के बराबर ही जानता है।

व्यक्तिगत रूप से तो मैं बड़ा सौभाग्यशाली रहा हूँ और लगभग हमेशा ही मेरे प्रति सब लोग सौजन्य दिखाते रहे हैं, फिर चाहे वे अंग्रेज़ हों या मेरे अपने ही देश-भाई। मेरे जेलरों और पुलिस के उन सिपाहियों ने भी, जिन्होंने मुझे गिरफ़्तार किया या जो मुझे क़ैदी के रूप में एक जगह से दूसरी जगह ले गये, मेरे साथ मेहरबानी का बर्ताव किया और इस इन्सानियत की वजह से मेरे जेल-जीवन के संघर्ष की कटुता और तीव्रता बहुत कुछ कम हो गयी थी। यह कोई अचरज की बात नहीं है कि मेरे अपने देश-भाइयों ने मेरे साथ अच्छा बर्ताव किया, क्योंकि उनमें तो एक हद तक मेरा नाम हो गया था और मैं उनमें लोकप्रिय था। पर अंग्रेज़ों के लिए भी मैं एक व्यक्ति था, भीड़ में से एक इकाई नहीं। मेरा ख़याल है कि इस बात ने कि मैंने अपनी शिक्षा इंग्लैण्ड में पायी और ख़ासतौर पर इस बात ने कि मैं इंग्लैण्ड के एक पब्लिक स्कूल में रहा, मुझे उनके नज़दीक ला दिया और इन कारणों से वे मुझे कम-बढ़ अपने ही नमूने का सभ्य आदमी समझे बिना नहीं रह सकते थे, फिर चाहे उन्हें मेरे सार्वजनिक काम कैसे ही उलटे क्यों न मालूम पड़ें। जब मैं अपने इस बर्ताव की तुलना उस ज़िन्दगी से करता हूँ जो मेरे ज़्यादातर साथियों को भोगनी पड़ती थी, तब मुझे अपने साथ होनेवाले इस विशेष अच्छे बर्ताव पर कुछ शर्म और ज़िल्लत-सी मालूम होती है।

ये जितने सुभीते मुझे मिले हुए थे उन सबके होते हुए भी जेल तो आख़िर जेल ही थी और कभी-कभी तो उसका दुःखद वातावरण प्रायः असह्य हो उठता था। उसका वातावरण ख़ुद हिंसा, कमीनेपन, रिश्वतख़ोरी और झूठ से भरा हुआ था। वहाँ कोई गालियाँ देता था तो कोई गिड़गिड़ाता था। नाज़ुक मिज़ाजवाले हर शख़्स को वहाँ लगातार मानसिक सन्ताप में रहना पड़ता था, कभी-कभी

ज़रा-ज़रा-सी बातों से ही लोग उखड़ जाते। चिट्ठी में कोई ख़राब ख़बर आ-जाती या अख़बार में ही कोई बुरी ख़बर निकलती तो हम लोग कुछ देर के लिए ग़ुस्से या फ़िक्र से बड़े परेशान हो जाते थे। बाहर तो हम लोग हमेशा काम में लगकर अपने दुःखों को भूल जाते थे। वहाँ तो तरह-तरह की दिलचस्प बातों और कामों की वजह से शरीर और मन का साम्य बना रहता था। जेल में ऐसा कोई रास्ता नहीं था। हम लोग ऐसा महसूस करते थे मानो हम बोतल में बन्द कर दिये गये हों और दबाकर रख दिये गये हों और इसलिए जो कुछ होता उसकी बाबत लाज़िमीतौर पर हमारी राय एकांगी और कुछ हद तक तोड़ी-मरोड़ी हुई होती थी। जेल में बीमारी ख़ासतौर से दुःखदायी होती है।

फिर भी मैंने अपने को जेल-जीवन की दिनचर्या का आदी बना लिया, और शारीरिक कसरत तथा कड़ा मानसिक काम करके मैंने अपने को ठीक-ठीक रक्खा। काम और कसरत की बाहर कुछ भी क़ीमत हो, जेल में तो वे लाज़िमी थे। क्योंकि उनके बिना वहाँ कोई अपने मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य को क़ायम नहीं रख सकता। मैंने अपना एक कार्यक्रम बना लिया था, जिसका मैं कड़ाई के साथ पालन करता था। मिसाल के लिए, अपने को बिलकुल ठीक रखने के लिए, मैं रोज़ हजामत बनाता था (हजामत के लिए मुझे सेफ़्टी रेज़र मिला हुआ था) मैंने इस छोटी-सी बात का ज़िक्र इसलिए किया है कि आमतौर पर लोगों ने इन आदतों को छोड़ दिया और वे कई बातों में ढीले पड़ गये थे। दिन भर कड़ा काम करने के बाद शाम को मैं ख़ूब थक जाता और मज़े से नींद का स्वागत करता।

इस तरह दिन-पर-दिन, हफ़्ते-पर-हफ़्ते और महीने-पर-महीने निकल गये। कभी-कभी ऐसा मालूम पड़ता था कि महीना बुरी तरह चिपक गया है और वह ख़त्म ही नहीं होना चाहता। और कभी-कभी तो मैं हर चीज़ और हर शख़्स से ऊब जाता, सबपर ग़ुस्सा करता, सबसे खीझ उठता, फिर वे चाहे जेल के मेरे साथी हों और चाहे जेल के कर्मचारी। ऐसे वक़्त पर मैं बाहर के लोगों पर भी इस-लिए खीझ उठता था कि उन्होंने यह काम क्यों किया या यह काम क्यों नहीं किया। ब्रिटिश-सल्तनत से तो हमेशा ही खीझा रहता था। लेकिन ऐसे वक़्त पर औरों के साथ-साथ और सबसे ज़्यादा, मैं अपने ऊपर भी खीझ उठता था। इन दिनों मैं बहुत चिड़चिड़ा भी हो जाता, और जेल की ज़िन्दगी में होनेवाली ज़रा-ज़रा-सी बातों पर बिगड़ उठता था। ख़ुशक़िस्मती यह थी कि मेरा मिज़ाज ज़्यादा दिनों तक ऐसा नहीं रहता था।

जेल में मुलाक़ात का दिन बड़े उल्लास का दिन होता था। हम लोग मुला-क़ात के दिनों के लिए कैसे तरसते थे। उनके लिए कैसी प्रतीक्षा करते थे तथा दिन गिना करते थे! लेकिन मुलाक़ात की ख़ुशी के बाद उसकी लाज़िमी प्रति-क्रिया भी होती और फिर सूनेपन और अकेलेपन का राज हमारे दिल में आ जाता। अगर, जैसा कि कभी-कभी होता था, मुलाक़ात कामयाब नहीं हुई, इस-

लिए कि मुझे कोई ऐसी ख़बर मिली जिससे मैं बिगड़ गया या और कोई अन्य ऐसी ही बात हुई, तो मैं बाद को बहुत ही दुखी हो जाता था। मुलाक़ात के वक़्त जेल के कर्मचारी तो मौजूद रहते ही थे। लेकिन बरेली में तो दो या तीन मर्तबा उनके साथ-साथ सी० आई० डी० का आदमी भी हाथ में काग़ज़ और पेन्सिल लिये मौजूद रहा, जो हमारी बातचीत के क़रीब-क़रीब हरेक हर्फ़ को बड़े उत्साह से लिख रहा था। इस बात से मुझे बहुत ही चिढ़ होती थी और ऐसी मुलाक़ातें बिलकुल बेकार जातीं।

पहले इलाहाबाद-जेल में मुलाक़ात करते हुए और उसके बाद सरकार की तरफ़ से मेरी माँ और पत्नी के साथ जो दुर्व्यवहार हुआ था उसकी वजह से मैंने मुलाक़ातें करना बन्द कर दिया था। क़रीब करीब सात महीने तक मैंने किसी से मुलाक़ात नहीं की। मेरे लिए यह वक़्त बहुत ही मनहूस रहा और जब इस वक़्त के बाद मैंने यह तय किया कि मुझे मुलाक़ात करना शुरू कर देना चाहिए और उसके फलस्वरूप जब लोग मुझसे मिलने आये तब मैं आनन्द से झूमने लगा था। मेरी बहिन के छोटे-छोटे बच्चे भी मुझसे मिलने को आये थे। उनमें से एक छोटे से बच्चे को मेरे कन्धों पर चढ़ने की आदत थी। यहाँ भी जब उसने मेरे कन्धे पर चढ़ना चाहा तो मेरे भावों का बाँध टूट गया। मानवी संसर्ग के लिए एक लम्बी चाह के बाद गृह-जीवन के इस स्पर्श से मैं अपने को सम्हाल न सका।

जब मैंने मुलाक़ात करना बन्द कर दिया था तब घर से या दूसरी जेलों से आनेवाले ख़त (क्योंकि मेरी दोनों बहिनें जेल में थीं) जो हमें हर पन्द्रहवें दिन मिलते थे और भी क़ीमती हो गये, और मैं उनकी बाट बड़ी उत्सुकता से देखा करता था। निश्चित तारीख़ को कोई ख़त न आता तो मुझे बड़ी चिन्ता हो जाती। लेकिन साथ ही जब ख़त आते तब मुझे उन्हें खोलते हुए डर-सा लगता था। मैं उनके साथ उसी तरह खिलवाड़ करता जिस तरह कोई इत्मीनान के साथ आनन्द की चीज़ से करता है। साथ ही मेरे मन में कुछ-कुछ यह डर भी रहता था कि कहीं ख़त में कोई ऐसी ख़बर या बात न हो कि मुझे दुःख हो। जेल में ख़तों का आना या जेल में ख़त लिखना दोनों ही वहाँ के शान्तिमय और स्थिर जीवन में बाधा डालते थे। वे मन में भावों को जगाकर बेचैनी पैदा करते थे और उसके बाद एक या दो दिन तक मन अस्तव्यस्त होकर भटकने लग जाता और उसे रोज़मर्रा के काम में जुटाना मुश्किल हो जाता था।

नैनी और बरेली जेल में तो मेरे बहुत-से साथी थे। देहरादून में शुरू-शुरू में हम सिर्फ़ तीन ही थे। मैं, गोविन्दवल्लभ पन्त और काशीपुर के कुँवर आनन्दसिंह। लेकिन पन्तजी तो कोई दो महीने बाद छोड़ दिये गये, क्योंकि उनकी छः महीने की सज़ा ख़त्म हो गयी थी। इसके बाद हमारे दो और साथी हमसे आ मिले थे। लेकिन जनवरी १९३३ के शुरू में मेरे सब साथी चले गये

और मैं अकेला ही रह गया। अगस्त के आख़ीर में जेल से छूटने तक, क़रीब-क़रीब आठ महीने तक, देहरादून जेल में मैं बिलकुल अकेला रहता था। हर रोज़ कुछ मिनट तक किसी जेल कर्मचारी के अलावा कोई ऐसा न था जिससे मैं बातचीत भी कर सकता। क़ानून के अनुसार तो यह एकान्त सज़ा न थी, लेकिन उससे मिलती-जुलती ही थी। इसलिए ये बड़ी मनहूसी के दिन रहे। सौभाग्य से इन दिनों मैंने मुलाक़ात करना शुरू कर दिया था। उनसे मेरा दुःख कुछ हलका हो गया था। मेरा ख़याल है कि मेरे साथ यह ख़ास रिआयत की गयी थी कि मुझे बाहर से भेजे हुए ताज़े फूल लेने की और कुछ फ़ोटो रखने की इजाज़त थी। इन बातों से मुझे काफ़ी तसल्ली मिलती थी। मामूली तौर पर क़ैदियों को फूल या फ़ोटो रखने की इजाज़त नहीं है। कई मौक़ों पर मुझे वे फूल नहीं दिये गये जो बाहर से मेरे लिए लाये गये थे। अपनी कोठरियों को ख़ुशनुमा बनाने की हमारी कोशिशें रोकी जाती थीं। मुझे याद है कि मेरे एक साथी ने, जो मेरे पड़ोस की कोठरी में रहता था, अपने शीशे, कंघे वग़ैरा चीज़ों को जिस तरह सजाकर रक्खा था उस पर जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट ने एतराज़ किया था। उनसे कहा गया कि वह अपनी कोठरी को आकर्षक और 'विलासितापूर्ण' नहीं बना सकते। और वे विलासिता की चीज़ें क्या थीं?—दाँतों का एक ब्रश, दाँतों का एक पेस्ट, फाउण्टेनपेन की स्याही, सिर में लगाने के तेल की शीशी, एक ब्रश और कंघी, शायद एक या दो छोटी-छोटी चीज़ें और।

जेल में हम लोग ज़िन्दगी की छोटी-छोटी चीज़ों की क़ीमत समझने लगे थे। वहाँ हमारा सामान इतना कम होता था और उसे हम न तो आसानी से बढ़ा ही सकते थे न उसकी जगह दूसरी चीज़ें ही मँगा सकते थे, इसलिए हम उसे बड़ी होशियारी से रखते थे, और ऐसी इक्की-दुक्की छोटी-छोटी चीज़ों को बटोर कर रखते थे जिन्हें जेल से बाहर की दुनिया में हम रद्दी की टोकरी में फेंका करते थे। इस प्रकार जब हमारे पास सम्पत्ति के नाम पर रखने की कोई चीज़ नहीं होती तब भी तो सम्पत्ति जोड़ने की भावना हमारा पीछा नहीं छोड़ती!

कभी-कभी ज़िन्दगी की कोमल वस्तुओं के लिए शरीर अकुला उठता, शारीरिक सुख-भोग, आनन्दप्रद वातावरण, मित्रों के साथ दिलचस्प बातचीत और बच्चों के साथ खेलने की इच्छा ज़ोर पकड़ उठती थी। किसी अख़बार में किसी तस्वीर या फ़ोटो को देखकर पुराना ज़माना सामने आ खड़ा होता—उन दिनों की बातें सामने आ जातीं जब जवानी में किसी बात की फ़िक्र न थी। ऐसे वक़्त पर घर की याद की बीमारी बुरी तरह जकड़ लेती और वह दिन बड़ी बेचैनी के साथ कटता।

मैं हर रोज़ थोड़ा-बहुत सूत काता करता था, क्योंकि मुझे हाथ का कुछ काम करने से तसल्ली मिलने के साथ-साथ बहुत ज़्यादा दिमाग़ी काम से कुछ छुट्टी भी मिल जाती थी। लेकिन मेरा ख़ास काम लिखना और पढ़ना ही था।

मैं जिन-जिन किताबों को पढ़ना चाहता था वे सब तो मुझे मिल नहीं पाती थीं, क्योंकि उनपर रोक थी और वे सेंसर होती थीं। किताबों को सेंसर करनेवाले लोग हमेशा अपने काम के योग्य नहीं होते थे। स्पैंगलर की Decline of the West (पश्चिम का पतन) नामक किताब इसलिए रोक ली गयी थी कि उसका नाम ख़तरनाक और राजद्रोहात्मक मालूम हुआ था। लेकिन मुझे इस सम्बन्ध की किसी प्रकार की शिकायत नहीं करनी चाहिए क्योंकि कुल मिलाकर मुझे तो सभी क़िस्म की किताबें मिल जाती थीं। ऐसा मालूम पड़ता है कि इस मामले में भी मेरे साथ ख़ास रिआयत होती थी, क्योंकि मेरे बहुत से साथियों को, जो 'ए' क्लास में रखे गये थे, सामयिक विषयों पर किताबें मँगाने में बड़ी मुश्किलों का सामना करना पड़ता था। मुझसे कहा गया है कि बनारस की जेल में तो सरकार का श्वेत-पत्र (White paper) भी नहीं दिया गया, जिसमें ख़ुद सरकार की विधान-सम्बन्धी योजनाएं थीं, क्योंकि उसमें राजनैतिक बातें थी। ब्रिटिश अधिकारी धार्मिक पुस्तकों और उपन्यासों की तहेदिल से सिफ़ारिश करते थे। यह बात आश्चर्यजनक है कि धर्म का विषय ब्रिटिश सरकार को कितना प्यारा लगता है और वह हर तरह से मज़हब को कितनी निष्पक्षता के साथ आगे बढ़ाती है।

हिन्दुस्तान में जब कि मामूली-से-मामूली नागरिक स्वतन्त्रता भी छीन ली गयी हो तब क़ैदियों के हक़ों की बात करना बिलकुल अनुचित मालूम होता है। फिर भी यह मामला ऐसा है जिसपर ग़ौर किया जाना चाहिए। अगर कोई अदालत किसी आदमी को क़ैद की सज़ा दे देती है तो क्या उसके मानी यह हैं कि उसका शरीर ही नहीं उसका मन भी जेल में ठूँस दिया जाय? चाहे क़ैदियों के शरीर भले ही आज़ाद न रहें पर क्या वजह है कि उनका दिमाग़ भी आज़ाद न रहे? हिन्दुस्तान की जेलों का इन्तज़ाम जिन लोगों के हाथ में है वे तो अवश्य ही इस बात को सुनकर घबरा जावेंगे, क्योंकि नये विचारों को जानने और लगातार विचार करने की उनकी शक्ति साधारणतया सीमित हो जाती है। यों तो सेंसर का काम हर वक़्त बुरा होता है और साथ ही पक्षपातपूर्ण तथा बेहूदा भी, लेकिन हिन्दुस्तान में तो वह बहुत-से आधुनिक साहित्य और आगे बढ़ी हुई पत्र-पत्रिकाओं से हमें वंचित रखता है। ज़ब्त की हुई किताबों की सूची बहुत बड़ी है और वह दिन-पर-दिन बढ़ती ही जा रही है। इन सबके अलावा क़ैदी को तो एक और सेंसरशिप का भी सामना करना पड़ता है। और इस तरह उसके पास वे बहुत-सी किताबें तथा अख़बार भी नहीं पहुँच पाते जिन्हें वह क़ानून के मुताबिक़ बाहर ख़रीदकर पढ़ सकता है।

कुछ दिनों पहले यह प्रश्न संयुक्तराज्य अमेरिका के न्यूयॉर्क नगर की मशहूर सिंगसिंग-जेल के सिलसिले में उठा था। वहाँ कुछ कम्युनिस्ट अख़बार रोक दिये गये थे। अमेरिका के शासकवर्ग में कम्युनिस्टों के ख़िलाफ़ बहुत ज़ोर के

भाव हैं, लेकिन यह सब होते हुए भी वहाँ के जेल के अधिकारी इस बात के लिए राज़ी हो गये कि जेल-निवासी जिस किताब व अख़बार को चाहें मँगाकर पढ़ सकते हैं, चाहे ये अख़बार व पत्रिकाएं कम्युनिस्ट मत की ही क्यों न हों ? वहाँ के जेल के वार्डन ने सिर्फ़ व्यंगचित्रों को रोका, जिन्हें वह भड़कानेवाला समझता था।

हिन्दुस्तान की जेलों में मानसिक स्वतन्त्रता पर ग़ौर करने का यह सवाल कुछ हद तक बेहूदा मालूम होता है जब कि, जैसा कि हो रहा है, ज़्यादातर क़ैदियों को कोई भी अख़बार या लिखने की सामग्री नहीं दी जाती। यहाँ तो सवाल सेंसरशिप या देख-भाल का नहीं है बल्कि बिल्कुल इनकारी का है। क़ायदों के मुताबिक़ तो सिर्फ़ 'ए' क्लास के और बंगाल में पहले डिवीज़न के क़ैदियों को ही लिखने की सामग्री दी जाती है। इनमें से भी सब को रोज़ाना अख़बार नहीं दिया जाता। जो रोज़ाना अख़बार दिया जाता है वह भी सरकार की पसन्द का। 'बी' और 'सी' क्लास के क़ैदियों के लिए लिखने के सामान की कोई ज़रूरत नहीं समझी जाती, चाहे वे राजनैतिक हों या ग़ैर-राजनैतिक। 'बी' क्लास वालों को कभी-कभी बहुत ख़ास रिआयत दिखाकर लिखने का सामान दे दिया जाता है और यह रिआयत अक्सर वापस ले ली जाती है। शायद दूसरे क़ैदियों की तुलना में 'ए' क्लास के क़ैदियों की तादाद हज़ार पीछे एक बैठेगी। इसलिए हिन्दुस्तान में क़ैदियों की तकलीफ़ों पर ग़ौर करते हुए उनका ख़याल न किया जाय तब भी कोई हर्ज़ नहीं। लेकिन यह बात याद रखनी चाहिए कि इन ख़ास रिआयत-वाले 'ए' क्लास के क़ैदियों को भी किताबों और अख़बारों के मामले में उतने हक़ नहीं मिले हुए हैं जितने कि ज़्यादातर सभ्य देशों में मामूली क़ैदियों को प्राप्त हैं।

बाक़ी लोगों को, १००० में ९९९ को, एक वक़्त में दो या तीन किताबें ही दी जाती हैं, लेकिन हालत ऐसी है कि वे इस रिआयत से भी पूरा-पूरा फ़ायदा नहीं उठा पाते। कुछ लिखना या जो-कुछ किताब पढ़ी जाय उसके नोट लेना तो ऐसा ख़तरनाक मन-बहलाव समझा जाता है जो उन्हें हरगिज़ न करना चाहिए। मानसिक उन्नति का इस तरह जान-बूझकर रोका जाना एक अजीब और मज़ेदार बात है। किसी क़ैदी को सुधारने और योग्य नागरिक बनाने के ख़याल से तो उसके दिमाग़ पर ध्यान देकर उसे दूसरी तरफ़ लगाना उचित है। पढ़ा-लिखाकर उसे कोई धन्धा सिखा देना चाहिए। लेकिन शायद हिन्दुस्तान में जेल के हाकिमों को यह बात सूझी ही नहीं और युक्तप्रान्त में तो उसका ख़ासतौर पर अभाव ही दिखायी देता है। हाल में जेलों में लड़कों और नौजवानों को थोड़ा लिखना-पढ़ना सिखाने की कुछ कोशिशें की गयी हैं। लेकिन वे बिलकुल व्यर्थ हैं और जिन लोगों के सुपुर्द यह काम किया गया है वे उसे पूरा करने के बिलकुल अयोग्य हैं। कभी-कभी यह कहा जाता है कि क़ैदी लोग लिखना-पढ़ना पसन्द नहीं करते। लेकिन मेरा अपना अनुभव इसके बिलकुल ख़िलाफ़ है और कई लोग जो मेरे पास लिखने-पढ़ने की ग़रज़ से आते थे उनमें मैंने पढ़ने-लिखने का पूरा-पूरा चाव देखा।

जो क़ैदी हमारे पास आ पाते थे उन्हें हम पढ़ाते थे। वे लोग बड़ी मेहनत से पढ़ते थे, और जब कभी मैं रात में जग पड़ता तो यह देखकर आश्चर्य करता कि उनमें से एक या दो अपनी बैरक की धुँधली लालटेन के पास बैठे हुए अगले दिन के अपने पाठ को याद कर रहे हैं।

मैं अपनी किताबों में ही जुटा रहा। कभी एक प्रकार की किताबें पढ़ता तो कभी दूसरे क़िस्म की। लेकिन आमतौर पर मैं ठोस विषय की किताबें पढ़ता था। उपन्यास पढ़ने से दिमाग़ में एक ढीलापन-सा मालूम होने लगता है। इसलिए मैंने ज़्यादातर उपन्यास नहीं पढ़े। जब-कभी पढ़ते-पढ़ते मेरा जी ऊब उठता तब मैं लिखने बैठ जाता। अपनी सज़ा के दो सालों में तो मैं उस 'ऐतिहासिक पत्रमाला'[1] में लगा रहा, जो मैंने अपनी पुत्री (इन्दिरा) के नाम लिखी। उन्होंने मुझे अपने दिमाग़ को ठीक-ठीक रखने में बहुत मदद दी। कुछ हद तक तो मैं उस पुराने ज़माने में रहने लगा, जिसकी बाबत मैं लिख रहा था और इसलिये इन दिनों क़रीब-क़रीब यह भूल-सा गया कि मैं जेल के भीतर रह रहा हूँ।

यात्रा-सम्बन्धी पुस्तकों का मैं हमेशा स्वागत करता था, ख़ासतौर पर पुराने यात्रियों के यात्रा-वर्णन का—जैसे ह्यूएनत्सांग, मार्कोपोलो और इब्नबतूता वग़ैरा। आजकल के यात्रियों की यात्राओं का वर्णन भी अच्छा मालूम होता था—जैसे स्वेन हेडन ने मध्य-एशिया के जंगलों में जो सफ़र किया उसका और रोरिक को तिब्बत में जो अजीब बातें मिलीं उनका वर्णन। चित्रों की पुस्तकें भी—ख़ासकर पहाड़ों, हिम-प्रपातों और मरुस्थलों की तस्वीरें—अच्छी लगती थीं, क्योंकि जेल में विशाल मैदानों और समुद्र और पहाड़ों को देखने की चाह बढ़ जाती है। मेरे पास माउण्ट ब्लैंक, आल्प्स पर्वत, और हिमालय की कुछ सुन्दर चित्रोंवाली पुस्तकें थीं और अक्सर मैं उन्हें देखा करता था। जब मेरी कोठरी या बैरक की गरमी एक सौ पन्द्रह डिग्री या उससे भी ज़्यादा होती थी, तब मैं हिम-प्रपातों को एकटक होकर देखता। एटलस को देखकर तो बड़ा जोश पैदा होता था। उसे देखकर सब तरह की पुरानी बातों की याद आ जाती थी—उन जगहों की याद जहाँ हम हो आये हैं और उन जगहों की भी जहाँ हम जाना चाहते थे। और कभी-कभी मन में यह उत्कण्ठा पैदा होती कि पिछले दिनों जिन जगहों को हम देख आये हैं उन्हें फिर देखें। एटलस में बड़े-बड़े शहरों को बतानेवाले जितने निशान हैं वे ऐसे लगते मानो हमको बुला रहे हों और हमें वहाँ जाने की स्वाभाविक इच्छा होती थी। एटलस में पहाड़ों को और समुद्र के नीले रंग को देखकर भी उनपर चढ़ने और उन्हें पार करने की इच्छा होती। दुनिया के सौन्दर्य को देखने की, परिवर्तनशील मनुष्य-जाति के संघर्षों और संग्रामों

---

[1] हिन्दी में यह 'विश्व-इतिहास की झलक' के नाम से 'सस्ता साहित्य मंडल' से प्रकाशित हो चुकी है। —अनु०

को देखने की, और ख़ुद भी इन सब कामों को करने की उमंगें हमको तंग करतीं और हमारा पल्ला पकड़ लेतीं और हम बड़े दुःख के साथ झटपट एटलस को उठाकर रख देते और अच्छी तरह जानी-पहचानी हुई उन दीवारों को देखने लग जाते, जो हमें घेरे हुए थीं, और रोज़मर्रा के नीरस ढर्रे में जुत जाते।

४५

जेल में जीव-जन्तु

कोई साढ़े चौदह महीने तक मैं देहरादून-जेल की अपनी छोटी-सी कोठरी में रहा और मुझे ऐसा लगने लगा जैसे मैं उसी का एक हिस्सा हूँ। उसके प्रत्येक अंश से मैं परिचित हो गया। उसकी सफ़ेद दीवारों और खुरदरी फ़र्श पर हरेक निशान और गड्ढे और उसके शहतीरों पर लगे घुन के छेदों तक से मैं परिचित हो गया था। बाहर के छोटे-से आँगन में उगे घास के छोटे-छोटे गुच्छे और पत्थर के टेढ़े-मेढ़े टुकड़े मेरे पुराने दोस्त-से लगते थे। मैं अपनी कोठरी में अकेला था सो बात नहीं। क्योंकि वहाँ कितने ही ततैयों और बर्रों के छत्ते थे और कितनी ही छिपकलियों ने शहतीरों के पीछे अपना घर बना लिया था, जो शाम को अपने शिकार की तलाश में बाहर निकला करती थीं। यदि विचार और भावनाएँ भौतिक चीज़ों पर अपने चिह्न छोड़ सकती हैं, तो इस कोठरी की हवा का एक-एक कण उनसे ज़रूर भरा हुआ था और उस सँकरी जगह में जो-जो भी चीज़ें थीं उन सबपर वे अंकित हुए बिना न रहे होंगे।

कोठरियाँ तो मुझे दूसरे जेलों में इससे अच्छी मिली थीं, मगर देहरादून में मुझे एक विशेष लाभ मिला था, जो मेरे लिए बेशक़ीमत था। असली जेल एक बहुत छोटी जगह थी और हम जेल की दीवारों के बाहर एक पुरानी हवालात में रखे गये थे। लेकिन थी यह अहाते में ही। यह इतनी छोटी थी कि उसमें आस-पास घूमने की कोई जगह न थी और इसलिए हमको सुबह-शाम फाटक के सामने कोई सौ गज़ तक घूमने की छुट्टी थी। हम रहते तो थे जेल के अहाते में ही, लेकिन उन दीवारों के बाहर आ जाने से पर्वतमालाओं, खेतों और कुछ दूर पर आम सड़क के दृश्य दिखाई पड़ जाते थे। यह विशेष लाभ ख़ास मुझे अकेले ही को नहीं मिला था, बल्कि देहरादून के हरेक 'ए' क्लास के क़ैदी को मिलता था। इसी तरह जेल की दीवार के बाहर लेकिन अहाते के अन्दर एक और छोटी इमारत थी जिसे यूरोपियन हवालात कहते थे। इसके चारों ओर कोई दीवार न थी जिससे कोठरी के अन्दर का आदमी पर्वत-श्रेणियों और बाहरी जीवन के सुन्दर दृश्य देख सकता था। इसमें जो यूरोपियन क़ैदी या दूसरे लोग रखे जाते थे उन्हें भी जेल के फाटक के पास सुबह-शाम घूमने की इजाज़त थी।

केवल एक क़ैदी ही, जो लम्बे अर्से तक ऊँची-ऊँची दीवारों के अन्दर क़ैद रहा हो, बाहर सैर करने और इन मुक्त दृश्यों के देखने के असाधारण मानसिक मूल्य को समझ सकता है। मैं इस तरह बाहर घूमने का बड़ा शौक़ रखता था और बारिश में भी मैंने इस सिलसिले को नहीं छोड़ा था, जबकि ज़ोर से पानी की झड़ी लगती थी और मुझे टखने-टखने तक पानी में चलना पड़ता था। यों तो किसी भी जगह बाहर सैर करने का मैंने सदा ही स्वागत किया होता, लेकिन यहाँ तो अपने पड़ोसी गगनचुम्बी हिमालय का मनोहर दृश्य और भी ख़ुशी को बढ़ानेवाला था, जिससे कि जेल की उदासी बहुत-कुछ दूर हो जाती थी। यह मेरी बहुत बड़ी ख़ुशक़िस्मती थी कि जब लम्बे अर्से तक मैंने कोई मुलाक़ात नहीं की थी और जब कितने ही महीने तक अकेला रहा, तब मैं इन प्यारे सुहावने पहाड़ों को एक-टक निहार सकता था। अपनी कोठरी से तो मैं गिरिराज के दर्शन नहीं कर सकता था, मगर मेरे मन में सदैव ही उसका ध्यान रहता था और वह हमेशा समीप ही मालूम होता था और जान पड़ता था कि मानो अन्दर-ही-अन्दर हम दोनों के बीच एक घनिष्ठता बढ़ रही थी।

पक्षी-गण ये उड़-उड़ ऊँचे निकल गये हैं कितनी दूर !
जलद-खंड भी इसी तरह वह नभ-पथ से हो गया विलीन ;
एकाकी मैं, सम्मुख मेरे पर्वतशृङ्ग खड़ा है शान्त—
मैं उसको, वह मुझे देखता दोनों ही हम थके कभी न।[1]

मैं समझता हूँ कि इस कविता के रचयिता कवि ली ताई पो की तरह मैं यह तो नहीं कह सकता कि मैं पर्वतराज को देखते हुए कभी नहीं थकता था। फिर भी यह एक असाधारण दृश्य था; और साधारणतया तो मैं उसकी निकटता से सदा बहुत सुख अनुभव करता था। पर्वतराज की दृढ़ता और स्थिरता मानो लाखों वर्षों के ज्ञान और अनुभव के साथ मुझे तुच्छ दृष्टि से देखती थी और मेरे मन के तरह-तरह के उतार-चढ़ाव की दिल्लगी उड़ाती थी और मेरे अशान्त मन को सान्त्वना देती थी।

देहरादून में वसन्त-ऋतु बड़ी सुहावनी लगी और नीचे के मैदानों की बनिस्बत ज़्यादा समय तक रही। जाड़े ने प्रायः सब पेड़ों के पत्ते झाड़ दिये थे और वे बिलकुल नंग-धड़ंग हो गये थे। जेल के फाटक के सामने जो चार विशाल पीपल के पेड़ थे, उन्होंने भी, आश्चर्य तो देखिए, अपने क़रीब-क़रीब सब पत्ते गिरा दिये थे और पत्रविहीन तथा उदास होकर खड़े थे। परन्तु अब वसन्त-ऋतु आयी और उसकी जीवनदायिनी वायु ने उन्हें अनुप्राणित कर दिया, उनके एक-एक परमाणु को जीवन-सन्देश दिया। क्या पीपल और क्या दूसरे पेड़ों में, एक हलचल मच गयी और उनके आसपास एक रहस्यमय वातावरण छा गया, जैसे परदे के अन्दर

---

[1] अंग्रेज़ी पद्य का भवानुवाद।

छिपे-छिपे कोई प्रक्रिया हो रही हो, और एक दिन सहसा मैं तमाम पेड़ों पर हरे-हरे अंकुरों और कोंपलों को उझक-उझककर झाँकते हुए देखकर चकित रह गया। वह बड़ा ही उल्लासमय और आनन्ददायी दृश्य था। फिर बड़ी तेज़ी के साथ उन पेड़ों में लाखों पत्ते निकल आये और वे सूर्य की किरणों में चमकने और हवा के साथ अठखेलियाँ करने लगे। एक अँखुए से लेकर पत्ते तक का यह रूपान्तर कितना जल्दी और कितना आश्चर्यजनक होता है!

मैंने इससे पहले कभी नहीं देखा था कि आम के कोमल पत्ते पहले सुर्ख़ी लिये गेहुँए रंग के होते हैं, ठीक वैसे ही जैसे कश्मीर के पहाड़ों पर शरदऋतु में हलके रंग की छाया छा जाती है, लेकिन जल्दी ही वे अपना रंग बदलकर हरे हो जाते हैं।

बारिश का वहाँ हमेशा ही स्वागत होता था, क्योंकि उससे ग्रीष्मकाल की गर्मी का अन्त आ जाता था। लेकिन अच्छी चीज़ की भी आख़िर हद होती है। बाद में वह भी अखरने लगती है। और देहरादून को तो मानो इन्द्र देवता की प्रिय लीला-भूमि ही समझिए। बरसात शुरू होते ही पाँच हफ़्तों तक ऐसी झड़ी लगती है कि कोई पचास-साठ इंच पानी बरस जाता और उस छोटी-सी तंग जगह में खिड़कियों से आती हुई बौछार से अपने को बचाते हुए सिकुड़-मुकुड़ कर बैठे रहना अच्छा नहीं लगता था।

हाँ, शरद्ऋतु में फिर आनन्द उमड़ने लगता है और इसी तरह शिशिर में भी, उन दिनों को छोड़कर जबकि मेंह बरसता हो। एक तरफ़ बिजली कड़क रही है, दूसरी तरफ़ वर्षा हो रही है और तीसरी तरफ़ चुभती हुई ठण्डी हवा बह रही है। ऐसी हालत में हर आदमी को उत्कण्ठा होती है कि रहने को एक अच्छी जगह हो, जिसमें सर्दी से बचाव हो सके और ज़रा आराम मिले। कभी-कभी बरफ़ का तूफ़ान आता और बड़े-बड़े ओले गिरते और वे टीन की छतों पर गिरते हुए बड़े ज़ोर की आवाज़ करते, मानो दनादन तोपें छूट रही हों।

एक दिन मुझे ख़ासतौर पर याद है। वह २४ दिसम्बर १९३२ का दिन था। बड़े ज़ोर की बिजली कड़क रही थी और दिन-भर पानी बरसता रहा। जाड़ा इतना सख़्त कि कुछ मत पूछिए। शारीरिक कष्ट की दृष्टि से अपने सारे जेल-जीवन में मुझे बहुत कम ऐसे बुरे दिन देखने पड़े हैं। लेकिन शाम को बादल एकाएक बिखर गये और जब मैंने देखा कि पर्वतश्रेणियों पर और पहाड़ियों पर बरफ़-ही-बरफ़ जमी हुई है तो मेरा सारा कष्ट न जाने कहाँ चला गया। दूसरा दिन—बड़ा दिन—बड़ा मनोरम और स्वच्छ था और बरफ़ के आवरण में पर्वत-श्रेणियाँ बहुत ही सुन्दर दिखायी देती थीं।

जब साधारण रोज़मर्रा के कामों से हम रोक दिये गये तो हमारा ध्यान प्राकृतिक लीला के दर्शन की ओर ज़्यादा गया। जो-जो जीवधारी या कीड़े-मकोड़े हमारे सामने आते उनको हम ध्यान से देखते थे। अधिक ध्यान जाने पर मैंने देखा कि मेरी कोठरी में और बाहर के छोटे-से आँगन में हर तरह के जीव-

जन्तु रहते हैं। मैंने मन में कहा कि एक ओर मुझे देखो जिसे अकेलेपन की शिकायत है, और दूसरी ओर उस आँगन को देखो जो ख़ाली और सुनसान मालूम होता है, लेकिन जिसमें जीवन उमड़ा पड़ता है। ये तमाम क़िस्म के रेंगनेवाले सरकनेवाले और उड़नेवाले जीवधारी मेरे काम में ज़रा भी दख़ल दिये बिना अपना जीवन बिताते थे, तो मुझे क्या पड़ी थी कि मैं उनके जीवन में बाधा पहुँचाता? लेकिन हाँ खटमलों, मच्छरों और कुछ-कुछ मक्खियों से मेरी लड़ाई बराबर रहती थी। ततैयों और बर्रों कोतो मैं सह लेता था। मेरी कोठरी में वे हज़ारों की तादाद में थे। हाँ, एक बार उनकी मेरी झड़प हो गयी थी, जब कि एक ततैये ने, शायद अनजान में, मुझे काट खाया था। मैंने गुस्सा होकर उन सबको निकाल देना चाहा, कोशिश भी की, लेकिन अपने चन्दरोज़ा घरों को भी बचाने के लिए उन्होंने ख़ूब डटकर सामना किया। छतों में शायद उनके अंडे थे। आख़िर को मैंने अपना इरादा छोड़ दिया और तय किया कि अगर वे मुझे न छेड़ें तो मैं भी उन्हें आराम से रहने दूँगा। कोई एक साल तक उसके बाद मैं उन बर्रों और ततैयों के बीच रहा। मगर उन्होंने फिर कभी मुझपर हमला नहीं किया और हम दोनों एक-दूसरे का आदर करते रहे।

हाँ, चमगादड़ों को मैं पसन्द नहीं करता था; लेकिन उन्हें मैं मन मसोसकर बर्दाश्त करता था। वे संध्या के अन्धकार में चुपचाप उड़ जाते और आसमान की अँधेरी नालिमा में उड़ते दिखायी पड़ते। वे बड़े मनहूस जीव लगते थे और मुझे उनसे बड़ी नफ़रत और कुछ भय-सा मालूम होता था। वे मेरे चेहरे के एक इंच दूरी से उड़ते और हमेशा मुझे डर मालूम होता कि कहीं मुझे झपट्टा न मार दें।

मैं चींटियों, दीमकों और दूसरे कीड़ों को घंटों देखता रहता था। और छिपकलियों को भी। वे शाम को अपने शिकार चुपके से पकड़ लेतीं और अपनी दुम एक अजीब हँसी आने लायक ढँग से हिलाती हुई एक-दूसरे को लपेटतीं। मामूली तौर पर वे ततैयों को नहीं पकड़ती थीं; लेकिन दो बार मैंने देखा कि उन्होंने निहायत होशियारी और सावधानी से मुँह की तरफ़ से उनको चुपके से झपटकर पकड़ा। मैं नहीं कह सकता कि उन्होंने जान-बूझकर उनके डंक को बचाया था या वह एक दैवयोग था।

इसके बाद, अगर कहीं आसपास पेड़ हों तो, झुण्ड-की-झुण्ड गिलहरियाँ होती थीं; वे बहुत ढीठ और निःशंक होकर हमारे बहुत पास आ जातीं। लखनऊ जेल में मैं बहुत देर तक एक आसन बैठे-बैठे पढ़ा करता था। कभी-कभी कोई गिलहरी मेरे पैर पर चढ़कर मेरे घुटने पर बैठ जाती और चारों तरफ़ देखती। फिर वह मेरी आँखों की ओर देखती, तब समझती कि मैं पेड़ या जो कुछ उसने समझा हो वह नहीं हूँ। एक क्षण के लिए तो वह सहम जाती फिर दुबककर भाग जाती। कभी-कभी गिलहरियों के बच्चे पेड़ से नीचे गिर पड़ते। उनकी माँ उनके पीछे पीछे आती, लपेटकर उनका एक गोला बनाती और उनको

ले जाकर सुरक्षित जगह में रख देती। कभी-कभी बच्चे खो जाते। मेरे एक साथी ने ऐसे तीन खोये हुए बच्चे सम्हालकर रक्खे थे। वे इतने नन्हें-नन्हें थे कि यह एक सवाल हो गया था कि उन्हें दाना कैसे दें? लेकिन यह सवाल बड़ी तरकीब से हल किया गया। फ़ाउण्टेनपेन के फिलर में ज़रा सी रुई लगा दी। यह उनके लिए बढ़िया 'फीडिंग बोतल' हो गयी।

अल्मोड़ा की पहाड़ी जेल को छोड़कर और सब जेलों में जहाँ-जहाँ मैं गया कबूतर खूब मिले। और हज़ारों की तादाद में वे शाम को उड़कर आकाश में छा जाते थे। कभी-कभी जेल के कर्मचारी उनका शिकार करके उनसे अपना पेट भी भरते थे। और हाँ, मैनाएँ भी थीं। वे तो सब जगह मिलती हैं। देहरादून में उनके एक जोड़े ने मेरी कोठरी के दरवाजे के ऊपर ही अपना घोंसला बनाया था। मैं उन्हें दाना दिया करता। वे बहुत पालतू हो गयी थीं और जब कभी उनके सुबह या शाम के दाने में देर हो जाती तो वे मेरे नज़दीक आकर बैठ जातीं और ज़ोर-ज़ोर से चीं-चीं करके खाना माँगतीं। उनके वे इशारे और उनकी वह अधीर पुकार देखते और सुनते ही बनती थी।

नैनी में हज़ारों तोते थे। उनमें से बहुतेरे तो मेरी बैरक की दीवार की दरारों में रहते थे। उनकी प्रणय-लीला आकर्षक वस्तु होती थी। वह देखने-वाले को मोहित कर लेती थी। कभी-कभी दो तोतों में एक तोती के लिए ज़ोर की लड़ाई होती। तोती शान्ति के साथ उनके झगड़े के नतीजे का इन्तज़ार करती और विजेता-पर अपनी प्रणयवृष्टि करने के लिए प्रस्तुत रहती थी।

देहरादून में तरह-तरह के पक्षी थे और उनके कलरव, ज़ोर ज़ोर से चिंचियाने, चहचहाने और टें-टें करने से एक अजीब समा बँध जाता था। और सबसे बढ़कर कोयल की दर्दभरी कूक का तो पूछना ही क्या? बारिश में और उसके ठीक पहले पपीहा आता। सचमुच उसका लगातार 'पियू-पियू' रटना सुनकर दंग रह जाना पड़ता था। चाहे दिन हो चाहे रात, चाहे धूप हो चाहे मेंह, उसकी रटन नहीं टूटती थी। इनमें से बहुतेरे पक्षियों को हम देख नहीं पाते थे; सिर्फ़ उनकी आवाज़ सुनायी पड़ती थी, क्योंकि हमारे छोटे से आंगन में कोई पेड़ नहीं था। लेकिन गिद्ध और चीलें बड़ी धज के साथ आसमान में ऊँची उड़तीं और उन्हें मैं देख सकता था। वे कभी एकदम झपट्टा मारकार नीचे उतर आतीं और फिर हवा के झोंके के साथ ऊपर चढ़ जातीं। कभी-कभी जंगली बतख़ भी हमारे सिर पर मँडराया करते थे।

बरेली-जेल में बन्दरों की आबादी खासी थी। उनकी कूद-फाँद, मुँह बनाना आदि हरकतें देखने लायक़ होती थीं। एक घटना का असर मेरे दिल पर रह गया है। एक बन्दर का बच्चा किसी तरह हमारी बैरक के घेरे के अन्दर आ गया। वह दीवार की ऊँचाई तक उछल नहीं सकता था। वार्डर, कुछ नम्बरदारों और दूसरे क़ैदियों ने मिलकर उसे पकड़ा और उसके गले में एक छोटी-सी रस्सी बाँध

दी। दीवार पर से उसके (मैं समझता हूँ) माँ-बाप ने यह देखा और वे गुस्से से लाल हो गये। अचानक उनमें से एक बड़ा बन्दर नीचे कूदा और सीधा भीड़ में उस जगह गिरा जहाँ कि वह बच्चा था। निस्सन्देह यह बड़ी बहादुरी का काम था, क्योंकि वार्डर वग़ैरा सबके पास डण्डे और लाठियाँ थीं, और वे उन्हें चारों तरफ़ घुमा रहे थे और उनकी संख्या भी काफ़ी थी। लेकिन साहस को विजय हुई और मनुष्यों की वह भीड़ मारे डर के भाग निकली। उनके डण्डे और लाठियाँ वहीं पड़ी रह गयीं और बन्दर अपना बच्चा छुड़ा ले गया।

अक्सर ऐसे जीव-जन्तु भी दर्शन देते थे जिनसे हम दूर रहना चाहते थे। बिच्छू हमारी कोठरियों में बहुत आया-जाया करते थे। ख़ासकर तब, जब बिजली ज़ोरों से कड़का करती। ताज्जुब है कि मुझे किसीने भी नहीं काटा, क्योंकि वे अक्सर बेढ़ब जगह मिल जाया करते थे—मेरे बिछौने पर या कोई किताब उठायी उसपर भी। मैंने ख़ासतौर पर एक काले और ज़हरीले-से बिच्छू को कुछ दिन तक एक बोतल में रख छोड़ा था और मक्खियाँ वग़ैरा उसको खिलाया करता था। फिर मैंने उसे एक डोरे से बाँधकर दीवार पर लटका दिया। लेकिन वह किसी तरह भाग निकला। मुझे यह ख़्वाहिश नहीं थी कि वह फिर कहीं घूमता-फिरता मुझसे मिलने आ जाय, इसलिए मैंने अपनी कोठरी को ख़ूब साफ़ किया और चारों ओर उसे ढूँढ़ा, मगर कुछ पता न चला।

तीन-चार साँप भी मेरी कोठरी में या उसके आस पास निकले थे। एक की ख़बर जेल के बाहर चली गयी और अख़बारों में मोटी-मोटी लाइनों में छापी गयी। मगर सच पूछिए तो मैंने उस घटना को पसन्द किया था। जेल-जीवन यों ही काफ़ी रूखा और नीरस होता है और जब भी किसी तरह उसकी नीरसता को कोई चीज़ भंग करती है तो वह अच्छी ही लगती है। यह बात नहीं कि मैं साँपों को अच्छा समझता हूँ या उनका स्वागत करता हूँ। मगर हाँ, औरों की तरह मुझे उनसे डर नहीं लगता। बेशक, उनके काटने का तो मुझे डर रहता है और यदि किसी साँप को देखूँ तो उससे अपने को बचाऊँ भी, लेकिन उन्हें देखकर मुझे अरुचि नहीं होती और न उनसे डरकर भागता ही हूँ। हाँ, कनखजूरे से मुझे बहुत नफ़रत और डर लगता है। डर तो इतना नहीं मगर उसे देखकर स्वाभाविक नफ़रत होती है। कलकत्ते के अलीपुर-जेल में कोई आधीरात को मैं सहसा जग पड़ा। ऐसा जान पड़ा कि कोई चीज़ मेरे पाँव पर रेंग रही है। मैंने अपनी टार्च दबाई तो क्या देखा कि एक कनखजूरा बिस्तर पर है। एकाएक और बड़ी तेज़ी से बिना आगा-पीछा सोचे मैंने बिस्तर से ऐसे ज़ोर की छलाँग मारी कि कोठरी की दीवार से टकराते हुए बचा। उस समय मैंने अच्छी तरह जाना कि रूस के प्रसिद्ध जीव-शास्त्री पेवलोव के 'रिफ़्लेक्सेस'—स्वयं-स्फूर्त क्रियाएं क्या होती हैं।

देहरादून में एक नया जन्तु देखा; या यों कहूँ कि ऐसा जन्तु देखा जो मेरे

लिए अपरिचित था। मैं जेल के फाटक पर खड़ा हुआ जेलर से बातचीत कर रहा था कि इतने में बाहर से एक आदमी आया जो एक अजीब जन्तु लिये हुए था। जेलर ने उसे बुलवाया। मैंने देखा कि वह एक गोह और मगर के बीच का कोई जानवर है जो दो फ़ीट लम्बा था। उसके पंजे थे और छिलकेदार चमड़ी। वह भद्दा और कुडौल था और बहुत कुछ जीवित था। वह एक अजीब तरह से कुंडलाकार बना हुआ था और लानेवाला उसे एक बाँस में पिरोकर बड़ी खुशी से उठाता हुआ लाया था। वह उसे 'बो' कहता था। जब जेलर ने उससे पूछा कि इसका क्या करोगे? तो उसने ज़ोर से हँसकर कहा भुज्जी—सालन—बनायेंगे। वह जंगली आदमी था। बाद को एफ़० डबल्यू० चेंपियन की 'दि जंगल इन सनलाइट ऐण्ड शैडो' (धूप-छाँह में जंगल) पढ़ने से मुझे पता लगा कि वह पेंगोलिन था।

क़ैदियों की, ख़ासकर लम्बी सज़ावाले क़ैदियों की, भावनाओं को जेल में कोई भोजन नहीं मिलता। कभी-कभी वे जानवरों को पाल-पोसकर अपनी भावनाओं को तृप्त किया करते हैं। मामूली क़ैदी कोई जानवर नहीं रख सकता। नम्बरदारों को उनसे ज़्यादा आज़ादी रहती है और जेल के कर्मचारी उनके लिए एतराज़ नहीं करते। आमतौर पर वे गिलहरियाँ पालते हैं और, सुनकर ताज्जुब होगा कि, नेवले भी। कुत्ते जेल में नहीं आने दिये जाते, मगर बिल्ली को, जान पड़ता है, उत्साहित किया जाता है। एक छोटी पूसी ने मुझसे दोस्ती कर ली थी। वह एक जेल-अफ़सर की थी, जब उसका तबादला हुआ तो वह उसे अपने साथ ले गया। मुझे उसका अभाव खलता रहा। हालाँकि जेल में कुत्तों की इजाज़त नहीं है, लेकिन देहरादून में इत्तिफ़ाक़ से कुत्तों के साथ भी मेरा नाता हो गया था। एक जेल-अफ़सर एक कुतिया लाये थे। बाद को उनका तबादला हो गया और वह उसे वहीं छोड़ गये। बेचारी बे-घर की होकर इधर-उधर घूमती रही और पुलों और मोरियों में रहती हुई वार्डरों के दिये टुकड़े खाकर अपने दिन काटती थी। वह प्रायः भूखों मरती थी। मैं जेल के बाहर हवालात में रहता था। वह मेरे पास रोटी के लिए आया करती। मैं उसे रोज़ खाना खिलाने लगा। उसने एक मोरी में बच्चे दिये। कुछ तो और लोग ले गये मगर तीन बच रहे और मैं उन्हें खाना देता रहा। इसमें से एक पिल्ली बीमार हो गयी। बुरी तरह छटपटाती थी। उसे देखकर मुझे बड़ी तकलीफ़ होती थी। मैंने बड़ी चिन्ता के साथ उसकी शुश्रूषा की और रात को कभी-कभी तो १०-१२ बार मुझे उठकर उसको सम्हालना पड़ता था। वह बच गयी और मुझे इस बात पर ख़ुशी हुई कि मेरी तीमारदारी काम आ गयी।

बाहर की अपेक्षा जेल में जानवरों से मेरा ज़्यादा साबक़ा पड़ा। मुझे कुत्तों का बड़ा शौक़ रहा है और घर पर कुछ कुत्ते पाले भी थे, मगर दूसरे कामों में लगे रहने की वजह से उनकी अच्छी तरह सम्हाल न कर सका। जेल में मैं उनके

सार के लिए उनका कृतज्ञ था। हिन्दुस्तानी आमतौर पर घर में जानवर नहीं पालते। यह ध्यान देने लायक़ बात है कि जीव-दया के सिद्धान्त के अनुयायी होते हुए भी वे अक्सर उनकी अवहेलना करते हैं। यहाँतक कि गाय के साथ भी, जो हिन्दुओं को बहुत प्रिय और पूज्य है और जो अक्सर दंगों का कारण बनती है, दया का बर्ताव नहीं होता। मानो पूजाभाव और दयाभाव दोनों का साथ नहीं हो सकता।

भिन्न-भिन्न देशवालों ने भिन्न-भिन्न पशु-पक्षियों को अपनी महत्त्वाकांक्षा या अपने चारित्र्य का प्रतीक बनाया है। उक़ाब संयुक्तराज्य अमेरिका और जर्मनी का, सिंह और 'बुलडॉग' इंग्लैण्ड का, लड़ते हुए मुर्ग़े फ्रांस का और भालू पुराने रूस का प्रतीक है। सवाल यह है कि ये संरक्षक पशु-पक्षी राष्ट्रीय चारित्र्य को किस तरफ़ ले जायँगे? इनमें से ज़्यादातर तो आक्रमणकारी, लड़ाकू और शिकारी जानवर हैं। ऐसी दशा में यह कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि जो लोग इन नमूनों को सामने रखकर अपना जीवन-निर्माण करते हैं वे, जान-बूझकर अपना स्वभाव वैसा ही बनाते हैं, आक्रामक रुख़ अख्तियार करते हैं, दूसरों पर गुर्राते हैं, गरजते हैं और झपट पड़ते हैं। और यह भी आश्चर्य की बात नहीं है कि हिन्दू नरम और अहिंसक हैं क्योंकि उनका आदर्श पशु है गाय।

४६
संघर्ष

बाहर संघर्ष चलता रहा, और वीर पुरुष और स्त्रियाँ, यह जानते हुए भी कि वर्तमान में या निकट-भविष्य में सफलता पाना उनके भाग्य में नहीं है, एक ताक़तवर और सुसज्जित सरकार का शान्ति के साथ मुक़ाबला करते रहे। निरन्तर तथा अधिकाधिक तीव्र होता हुआ दमन हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी शासन के आधार का प्रदर्शन कर रहा था। अब इसमें कोई धोखा-धड़ी नहीं थी, और कम-से-कम यही हमारे लिए कुछ सन्तोष की बात थी। संगीनें कामयाब हुईं, लेकिन एक बड़े योद्धा ने एक बार कहा था कि—"तुम संगीनों से सब कुछ कर सकते हो, लेकिन उन्हींके ऊपर (आधार पर) बैठ नहीं सकते।" हमने सोचा कि इसके बजाय कि हम अपनी आत्माओं को बेचें और आत्मिक व्यभिचार करें, यही अच्छा है कि हम इसी तरह शासित होना पसन्द करें। जेल में हमारा शरीर बेबस था, लेकिन हम समझते थे कि वहाँ रहकर भी हम अपने कार्य से सेवा ही कर रहे हैं और बाहर रहनेवाले कई लोगों से ज़्यादा अच्छी सेवा कर रहे हैं। तो क्या हमें, अपनी कमज़ोरी के कारण, भारत के भविष्य का बलिदान कर देना चाहिए—इसलिए कि हमारी जान बची रहे? यह तो सच था कि इन्सान की ताक़त और सहन-शक्ति की भी हद होती है, और कई व्यक्ति शरीर से

बेकार हो गये, या मर गये, या काम से अलग हो गये, ग़द्दारी तक कर गये, मगर इन बाधाओं के होते हुए भी कार्य आगे बढ़ता ही गया। लेकिन अगर आदर्श स्पष्ट दीखता रहता और हिम्मत ज्यों-की-त्यों बनी रहती तो हार नहीं हो सकती थी। असली असफलता तो है अपने सिद्धान्तों को छोड़ देना, अपने हक़ से इन्कार कर देना, और बेइज़्ज़ती के साथ अन्याय के आगे झुक जाना। अपने-आप लगाये हुए ज़ख़्म दुश्मन के लगाये हुए ज़ख़्मों से ज़्यादा देर में अच्छे होते हैं।

कभी-कभी अपनी कमज़ोरियों पर और भटक जानेवाली दुनिया पर हमारा मन उदास हो जाया करता था, मगर फिर भी हमें जितनी सफलता मिली थी उसपर हमें कुछ अभिमान था। क्योंकि हमारे लोगों ने बहुत ही वीरतापूर्ण काम किया था, और उस बहादुर सेना में हम भी शामिल हैं, इस ख़याल से मन में आनन्द होता था।

सविनय-भंग के उन बरसों में कांग्रेस के खुले अधिवेशन करने की दो बार कोशिश की गयी, एक दिल्ली में और दूसरी कलकत्ते में। यह ज़ाहिर था, कि ग़ैरक़ानूनी संस्था मामूली ढंग और शान्ति से अधिवेशन नहीं कर सकती थी, और खुला अधिवेशन करने की कोशिश का अर्थ था पुलिस के संघर्ष में आना। वस्तुतः दोनों सम्मेलनों को पुलिस ने लाठियों के बल, ज़बरदस्ती, तितर-बितर कर दिया, और बहुत-से लोग गिरफ़्तार कर लिये गये। इन सम्मेलनों की विशेषता यह थी कि इन क़ानून-विरुद्ध सम्मेलनों में प्रतिनिधि बनकर शामिल होने के लिए हिन्दुस्तान के तमाम हिस्सों से हज़ारों की गिनती में लोग आये थे। मुझे यह जानकर बड़ी ख़ुशी हुई कि इन दोनों अधिवेशनों में युक्तप्रान्त के लोगों ने एक प्रमुख भाग लिया था। मेरी माँ ने भी मार्च १९३३ के कलकत्ता-अधिवेशन में जाने का आग्रह किया। लेकिन वह कलकत्ता जाते हुए, रास्ते में मालवीयजी और दूसरे लोगों के साथ, गिरफ़्तार कर ली गयीं और आसनसोल-जेल में कुछ दिनों तक बन्द रक्खी गयीं। उन्होंने जो आन्तरिक उत्साह और जीवन-शक्ति दिखलायी उसे देखकर मैं दंग रह गया, क्योंकि वह कमज़ोर और बीमार थीं। वह जेल की परवा नहीं करती थीं, वह तो उससे भी ज़्यादा कड़ी अग्नि-परीक्षा में से गुज़र चुकी थीं। उनका लड़का, उनकी दोनों लड़कियाँ, और दूसरे भी कई लोग जिन्हें वह बहुत चाहती थीं, जेल में लम्बे-लम्बे अर्से तक रह चुके थे, और वह सूना घर जिसमें वह रह रही थीं, उनके लिए एक डरावनी जगह हो गयी थी।

जैसे-जैसे हमारी लड़ाई धीमी पड़ने लगी, और उसकी रफ़्तार हलकी हो गयी, वैसे-वैसे उसमें जोश और उत्साह की कमी आती गयी—हाँ, बीच-बीच में लम्बे अर्से के बाद कुछ उत्तेजना हो जाया करती थी। मेरे ख़यालात दूसरे मुल्कों की तरफ़ ज़्यादा जाने लगे, और जेल में जितना भी हो सका, मैं विश्व-व्यापी मन्दी से ग्रस्त दुनिया की हालत का निरीक्षण और अध्ययन करने लगा। इस विषय की जितनी भी किताबें मुझे मिलीं उन्हें मैं पढ़ता गया, और मैं जितना

ही पढ़ता जाता था उतना ही उसकी तरफ़ आकर्षित होता जाता था। मुझे दिखायी दिया कि हिन्दुस्तान अपनी ख़ास समस्याओं और संघर्षों को लेकर भी इस ज़बरदस्त विश्व-नाटक का, राजनैतिक और आर्थिक शक्तियों की उस लड़ाई का, जो कि आज सब राष्ट्रों के अन्दर और सब राष्ट्रों में परस्पर हो रही है, सिर्फ़ एक हिस्सा ही है। उस लड़ाई में मेरी अपनी सहानुभूति कम्युनिज़्म (साम्यवाद) की तरफ़ ही ज़्यादा-ज़्यादा होती गयी।

समाजवाद और कम्युनिज़्म की तरफ़ मेरा बहुत समय से आकर्षण था, और रूस मुझे बहुत पसन्द आता था। रूस की बहुत-सी बातें मुझे नापसन्द भी हैं—जैसे सब तरह की विरोधी राय का निरंकुशता से दमन कर देना, सबको सैनिक बना डालना और अपनी कई व्यवस्थाओं को अमल में लाने के लिए (मेरे मतानुसार) अनावश्यक बल-प्रयोग करना वग़ैरा। मगर पूँजीवादी दुनिया में भी तो बल-प्रयोग और दमन कम नहीं है, और मुझे ज़्यादा-ज़्यादा यह अनुभव होने लगा कि हमारे संग्रहशील समाज का और हमारी सम्पत्ति का तो आधार और बुनियाद ही बल-प्रयोग है। बल-प्रयोग के बिना वह ज़्यादा दिन टिक नहीं सकता। जबतक भूखों मरने का डर सब जगह अधिकांश जनता को, थोड़े लोगों की इच्छा के अधीन होने के लिए, हमेशा मजबूर कर रहा है, जिसके फलस्वरूप उन थोड़े लोगों का ही धन-मान बढ़ता जाता है; तबतक राजनैतिक स्वतन्त्रता होने का भी वास्तव में कुछ अर्थ नहीं है।

दोनों व्यवस्थाओं में बल-प्रयोग मौजूद है। पूंजीवादी व्यवस्था का बल-प्रयोग तो उसका अनिवार्य अंग ही मालूम होता है। लेकिन रूस के बल-प्रयोग का, यद्यपि वह बुरा ही है, लक्ष्य यह है कि शान्ति और सहयोग पर अवलम्बित जनता को असली स्वतन्त्रता देनेवाली नयी व्यवस्था क़ायम हो जाय। सोवियट रूस ने कितनी भी भयंकर भूलें की हों, तो भी वह भारी-भारी कठिनाइयों पर विजय पा चुका है और इस नयी व्यवस्था की तरफ़ लम्बे-लम्बे डग रखता हुआ बहुत आगे बढ़ गया है। जब संसार के दूसरे मुल्क मन्दी में जकड़े हुए थे, कई दशाओं में पीछे की तरफ़ जा रहे थे, तब सोवियट देश में, हमारी आँखों के सामने, एक नयी ही दुनिया बनाई जा रही थी। महान् लेनिन के पदचिह्नों पर चलते हुए रूस की निगाह भविष्य पर थी, और उसे केवल इसी बात का विचार था कि आगे क्या होना है। लेकिन संसार के दूसरे देश तो भूतकाल के प्रहार से सुन्न हुए पड़े थे, और बीते हुए युग के निरर्थक स्मृति-चिह्नों को अक्षुण्ण रखने में ही अपनी ताक़त लगा रहे थे। अपने अध्ययन में मुझपर उन विवरणों का बड़ा असर पड़ा, जिनमें सोवियट शासन के पिछड़े हुए मध्य-एशियाई प्रदेशों की बड़ी भारी तरक्क़ी का हाल दिया गया था। इसलिए कुल मिलाकर मेरी राय तो सब तरह से रूस के पक्ष में ही रही; और मुझे सोवियट-तन्त्रों की मौजूदगी और मिसाल अँधेरी और दुःखपूर्ण दुनिया में, एक प्रकाशमय और उत्साह देनेवाली चीज़ मालूम हुई।

हालाँकि कम्युनिस्ट राज्य स्थापित करने के व्यावहारिक प्रयोग के रूप में सोवियट रूस की सफलता या असफलता का बहुत बड़ा महत्त्व है, फिर भी उससे कम्युनिज़्म के सिद्धान्त के ठीक होने या न होने पर कोई असर नहीं पड़ता। राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय कारणों से बोलशेविक लोग बड़ी-बड़ी ग़लतियाँ कर सकते हैं, या असफल भी हो सकते हैं, लेकिन फिर भी कम्युनिज़्म का सिद्धान्त सही हो सकता है। उस सिद्धान्त के आधार पर रूस में जो-कुछ हुआ है उसकी अन्धे की तरह नक़ल करना भी मूर्खता ही होगी, क्योंकि उसका प्रयोग तो प्रत्येक देश में उसकी ख़ास परिस्थितियों और उसके ऐतिहासिक विकास की अवस्था पर निर्भर है। इसके अलावा, हिन्दुस्तान या दूसरा कोई देश बोलशेविकों की सफलताओं से और अनिवार्य ग़लतियों से भी सबक़ ले सकता है। शायद बोलशेविकों ने ज़रूरत से ज़्यादा तीव्र गति से जाने की कोशिश की, क्योंकि उनके चारों तरफ़ दुश्मन-ही-दुश्मन थे, और उन्हें बाहरी आक्रमण का भी डर था। शायद इससे धीमी चाल से चला जाता तो गाँवों में हुई बहुत-सी तकलीफ़ें नहीं आतीं। लेकिन प्रश्न यह उठता था, कि क्या परिवर्तन की गति कम कर देने से वास्तव में मौलिक परिणाम निकल भी सकते थे या नहीं? किसी नाज़ुक वक़्त पर, जबकि आधार-भूत बुनियाद ढाँचा ही बदलना हो, किसी आवश्यक समस्या को सुधारवाद से हल करना असम्भव होता है, और बाद में रफ़्तार चाहे कितनी ही धीमी रहे लेकिन पहला क़दम तो ऐसा उठाना ही चाहिए जिससे कि तत्कालीन व्यवस्था से, जो अपना उद्देश्य पूरा कर चुकी हो और अब भविष्य की प्रगति के लिए बाधक बन रही हो, कोई नाता न रह जाय।

हिन्दुस्तान में भूमि और कल-कारख़ाने दोनों से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नों का और देश की हर बड़ी समस्या का हल सिर्फ़ किसी क्रान्तिकारी योजना से ही हो सकता है। जैसा कि 'युद्ध के संस्मरणों' में श्री० लॉयड जार्ज कहते हैं—"किसी खाई को दो छलाँगों में कूदने से बढ़कर कोई ग़लती नहीं हो सकती।"

रूस को छोड़ भी दें तो मार्क्सवाद के सिद्धान्त और तत्त्वज्ञान ने मेरे दिमाग़ के कई अँधेरे कोनों को प्रकाशित कर दिया। मुझे इतिहास में बिलकुल नया ही अर्थ दिखायी पड़ने लगा। मार्क्सवाद की अर्थ-शैली ने उस पर बड़ी रोशनी डाली, और वह मेरे लिए एक के बाद दूसरा दृश्य प्रस्तुत करनेवाला एक नाटक हो गया, जिसके घटना-चक्र की बुनियाद में कुछ-न-कुछ व्यवस्था और उद्देश्य मालूम हुआ, फिर चाहे वह कितना ही अज्ञात क्यों न हो। यद्यपि भूतकाल में और वर्तमान समय में समय और शक्ति की भयंकर बरबादी और तकलीफ़ें रही हैं और हैं, लेकिन भविष्य तो आशापूर्ण ही है, चाहे उसके बीच में कितने ही ख़तरे आते रहें। मार्क्सवाद में मौलिक रूप से किसी रूढ़-मत का न होना और उसका वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही मुझे पसन्द आया। लेकिन यह सही है कि रूस में और दूसरे देशों में प्रचलित कम्युनिज़्म में बहुत से रूढ़-मत हैं, और अक्सर, 'काफ़िरों' वाली

मिथ्या-मतवादियों पर संगठित रूप से धावा बोला जाता है। मुझे यह निन्दनीय मालूम हुआ, हालाँकि सोवियट प्रदेशों में जब भारी-भारी परिवर्तन बड़ी तेजी से हो रहे हों और विरोधी लोगों के कारण बड़ी मुसीबतों और असफलताओं के हो जाने की आशंका हो तब ऐसी बात का होना आसानी से समझ में आ सकता है।

संसार-व्यापी महान् संकट और मन्दी से भी मुझे मार्क्सवादी विश्लेषण सही मालूम हुआ। जबकि दूसरी सब व्यवस्थाएँ और सिद्धान्त सिर्फ़ अपनी अटकल लगा रहे थे, तब अकेले मार्क्सवाद ने ही बहुत-कुछ सन्तोषजनक रूप से उसका कारण बताया और उसका असली हल सामने रखा।

जैसे-जैसे मुझमें यह विश्वास जमता गया, वैसे-वैसे मुझ में नया उत्साह भरता गया और सविनय-भंग की असफलता से पैदा हुई मेरी उदासी बहुत कम हो गयी। क्या दुनिया तेज़ी से इस वाञ्छनीय लक्ष्य की तरफ़ नहीं जा रही है? हाँ, महायुद्ध और घोर आपत्ति के बड़े-बड़े ख़तरे मौजूद हैं, लेकिन हर हालत में हम आगे ही बढ़ रहे हैं। हम एक ही जगह में पड़े हुए सड़ नहीं रहे हैं। मुझे मालूम हुआ कि हमारे इस बड़े सफ़र के रास्ते में हमारी राष्ट्रीय लड़ाई तो एक पड़ाव मात्र है, और यह अच्छा है कि दमन और कष्ट-सहन से हमारे लोग आगामी लड़ाइयों के लिए तैयार हो रहे हैं और उन विचारों पर ग़ौर करने के लिए मजबूर हो रहे हैं जिससे दुनिया में खलबली मची हुई है। कमजोर लोगों के निकल जाने से हम और भी ज़्यादा मज़बूत, ज़्यादा अनुशासन-युक्त और ज़्यादा ठोस बन जायेंगे। ज़माना हमारे पक्ष में है।

इस तरह मैंने रूस, जर्मनी, इंग्लैण्ड, अमेरिका, जापान, चीन, फ्रांस, इटली, और मध्य-यूरप में क्या-क्या हो रहा है, इसका अध्ययन किया, और सामूहिक घटनाओं को समझने की कोशिश की। मुसीबत से पार पाने के लिए हरेक देश अलग-अलग और सब मिलकर एकसाथ क्या कोशिशें कर रहे हैं, इसको भी मैंने दिलचस्पी से पढ़ा। राजनैतिक और आर्थिक बुराइयों को दूर करने और निःशस्त्रीकरण की समस्या हल करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेंस की बार-बार असफलता होती देखकर मुझे अपने यहाँ की साम्प्रदायिक समस्या की--जोकि छोटी-सी लेकिन काफ़ी कष्टप्रद है--बरबस याद आ गयी। अधिक से-अधिक सद्भावना के होते हुए भी हम अभीतक इस समस्या को हल नहीं कर सके हैं और यह व्यापक विश्वास होते हुए भी कि अगर हम अपनी समस्याओं को सुलझाने में विफल होंगे तो एक संसार-व्यापी आपत्ति आजायगी, यूरप और अमेरिका के राजनीतिज्ञ उन्हें हिलमिल कर नहीं सुलझा पाये हैं। दोनों उदाहरणों में समस्या को सुलझाने का तरीक़ा ग़लत रहा है, और सम्बन्धित लोग सही रास्ते जाने से डरते रहे हैं।

संसार की मुसीबतों और संघर्षों का विचार करते हुए, मैं किसी हद तक अपनी व्यक्तिगत और राष्ट्रीय मुसीबतों को भी भूल गया। कभी-कभी मुझे

इस बात पर बड़ी खुशी होती थी कि संसार के इतिहास के इस क्रान्तिकारी युग में मैं भी जीवित हूँ। शायद दुनिया के इस कोने में, जहाँ मैं हूँ, मुझे भी इन आनेवाली क्रान्तियों में कुछ थोड़ा-सा हिस्सा लेना पड़ेगा। कभी-कभी मुझे सारी दुनिया में संघर्ष और हिंसा का वातावरण बड़ा उदास बना देता था। इससे भी ख़राब यह दृश्य था कि पढ़े-लिखे स्त्री-पुरुष भी मानवी पतन और गुलामी को देखते-देखते उसके इतने आदी हो गये हैं कि उनके दिमाग़ अब कष्ट-सहन, ग़रीबी और अमानुषिकता का विरोध भी नहीं करते। दम घोंटनेवाले इस नैतिक वातावरण में अत्यन्त मुखर ओछापन और संगठित पाखण्ड फल-फूल रहा है, और भले लोग चुप्पी साधे बैठे हैं। हिटलर की विजय और उसके अनुयायियों के 'आतंकवाद' ने मुझे बड़ा आघात पहुँचाया, हालाँकि मैंने अपने दिल को तसल्ली दे ली कि यह सब क्षणिक ही हो सकता है। यह देखकर मन में ऐसी भावना आ जाती थी, कि इन्सान की कोशिशें बेकार हैं। जबकि मशीन अन्धाधुन्ध चल रही हो, तब उसमें पहिये का एक छोटा-सा दाँत बेचारा क्या कर सकता है?

फिर भी, जीवन-सम्बन्धी कम्युनिस्ट तत्त्वज्ञान से मुझे शान्ति और आशा मिली। तो इसका हिन्दुस्तान में कैसे प्रयोग हो सकता है? हम तो अभीतक राजनैतिक स्वतन्त्रता की समस्या को भी हल नहीं कर पाये हैं, और हमारे दिमाग़ों में राष्ट्रवाद ही बैठा हुआ है। क्या हम इसके साथ-ही-साथ आर्थिक स्वतन्त्रता की तरफ़ भी कूद पड़ें, या इन दोनों को बारी-बारी से हाथ में लें, फिर चाहे इनके बीच में अन्तर कितने ही थोड़े समय का क्यों न हो? संसार की घटनाएं और हिन्दुस्तान के भी वाक़यात सामाजिक समस्या को सामने ला रहे हैं और, मुझे लगा कि अब राजनैतिक आज़ादी उससे अलग नहीं रखी जा सकती।

हिन्दुस्तान में ब्रिटिश सरकार की नीति का यह नतीजा हुआ है कि राजनैतिक आज़ादी के विरोध में सामाजिक-प्रतिगामी-वर्ग खड़े हो गये हैं। यह अनिवार्य ही था, और हिन्दुस्तान में भिन्न-भिन्न वर्गों और समुदायों के ज़्यादा साफ़तौर पर अलग अलग दिखाई दे जाने को मैंने पसन्द किया। लेकिन मैं सोचता था कि क्या इसको दूसरे लोग भी अच्छा समझते हैं? स्पष्ट है कि बहुत लोग नहीं समझते। यह सही है कि कई बड़े शहरों में मुट्ठीभर कट्टर कम्युनिस्ट लोग हैं, और वे राष्ट्रीय आन्दोलन के विरोधी हैं और उसकी कड़ी आलोचना करते हैं। ख़ासकर बम्बई में, और कुछ हदतक कलकत्ते में, संघटित मज़दूर भी समाजवादी थे मगर ढीले-ढाले ढंग के। उनमें भी फूट पड़ी हुई थी, और वे मन्दी से दुःखी थे। कम्युनिज़्म के और समाजवाद के धुँधले-से विचार पढ़े-लिखे लोगों में, और समझदार सरकारी अफ़सरों तक में, फैल चुके हैं। कांग्रेस के नौजवान स्त्री और पुरुष, जो पहले लोकतन्त्र पर ब्राइस आर मॉरले, कीथ और मैजिनी के विचार पढ़ा करते थे, अब अगर उन्हें किताबें मिल जाती हैं तो कम्युनिज़्म और रूस पर लिखा साहित्य पढ़ते हैं। मेरठ-षड्यन्त्र-केस ने लोगों का ध्यान इन नये

विचारों की तरफ़ फेरने में बड़ी मदद दी, और संसारव्यापी संकट-काल ने इस तरफ़ ध्यान देने की मजबूरी पैदा कर दी। हर जगह प्रचलित संस्थाओं के प्रति शंका, जिज्ञासा और चुनौती की नयी भावना दिखाई देती है। इससे साधारण मनोदिशा तो साफ़ प्रकट हो रही है, लेकिन फिर भी हलका-सा झोंका ही है जिसको अपने-आप पर अभी कोई विश्वास नहीं है। कुछ लोग फ़ासिस्ट विचारों के आसपास मँडराते हैं। लेकिन कोई भी साफ़ और निश्चित आदर्श नहीं है। अभीतक तो राष्ट्रीयता ही यहाँ की प्रमुख विचार-धारा है।

मुझे यह तो साफ़ मालूम हुआ, कि जबतक किसी अंश तक राजनैतिक आज़ादी न मिल जायगी तबतक राष्ट्रीयता ही सबसे बड़ी प्रेरकभावना रहेगी। इसी कारण कांग्रेस हिन्दुस्तान में सबसे ज़्यादा शक्तिशाली संस्था होने के साथ ही सबसे आगे बढ़ी हुई संस्था भी रही है, और अब भी (कुछ ख़ास मज़दूर-क्षेत्रों को छोड़कर) है। पिछले तेरह बरसों में, गांधीजी के नेतृत्व में इसने जनता में आश्चर्यजनक जाग्रति पैदा कर दी है और इसके अस्पष्ट मध्यम-वर्गी आदर्श के होते हुए भी इसने एक क्रान्तिकारी काम किया है। अबतक भी इसकी उपयोगिता नष्ट नहीं हुई है; और हो भी नहीं सकती, जबतक कि राष्ट्रवादी प्रेरणा की जगह समाजवादी प्रेरणा न आ जाय। भविष्य की प्रगति—आदर्श-सम्बन्धी भी और कार्य-सम्बन्धी भी—अब भी कांग्रेस के द्वारा ही होगी, हालाँकि दूसरे मार्गों से भी काम लिया जा सकेगा।

इस तरह मुझे कांग्रेस को छोड़ देना राष्ट्र की आवश्यक प्रेरक-शक्ति से अलग हो जाना, अपने पास के सबसे ज़बरदस्त हथियार को कुन्द कर देना और एक निरर्थक साहस में अपनी शक्ति बरबाद करना मालूम हुआ। लेकिन फिर भी, क्या कांग्रेस, अपनी मौजूदा स्थिति को रखते हुए, कभी भी वास्तव में मौलिक सामाजिक हल को अपना सकेगी? अगर उसके सामने ऐसा सवाल रख दिया जाय, तो उसका नतीजा यही होगा कि उसके दो या ज़्यादा टुकड़े हो जायँगे, या कम-से-कम बहुत लोग उससे अलग हो जायँगे। ऐसा हो जाना भी अवाञ्छनीय या बुरा न होगा, अगर समस्याएँ ज़्यादा साफ़ हो जायँ, और कांग्रेस में एक मज़बूत-संगठित दल, चाहे वह बहुमत में हो या अल्पमत में हो, एक मौलिक समाजवादी कार्यक्रम को लेकर खड़ा हो जाये।

लेकिन इस समय तो कांग्रेस का अर्थ है गांधीजी। वह क्या करना चाहेंगे? विचार-धारा की दृष्टि से कभी-कभी वह आश्चर्यजनक रूप से पिछड़े हुए रहे हैं, लेकिन फिर भी व्यवहार में वह हिन्दुस्तान में इस वक्त के सबसे बड़े क्रान्तिकारी रहे हैं। वह एक अनोखे व्यक्ति हैं, और उन्हें मामूली पैमानों से नापना या उनपर तर्कशास्त्र के मामूली नियम लगाना भी मुमकिन नहीं है। लेकिन चूँकि वह हृदयमें क्रान्तिकारी हैं और हिन्दुस्तान की राजनैतिक स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा किये हुए हैं, इसलिए जबतक वह स्वतन्त्रता मिल नहीं जाती तबतक तो वह इसपर अटल

रहकर ही अपना काम करेंगे और इसी तरह कार्य करते हुए वह जनता की प्रचण्ड कार्य-शक्ति को जगा देंगे, और, मुझे आधी उम्मीद है कि वह ख़ुद भी सामाजिक ध्येय की तरफ़ एक-एक क़दम आगे बढ़ते चलेंगे।

हिन्दुस्तान के और बाहर के कट्टर कम्यूनिस्ट पिछले कई बरसों से गांधीजी और कांग्रेस पर भयंकर हमले करते रहे हैं, और उन्होंने कांग्रेस-नेताओं पर सब तरह की दुर्भावनाओं के आरोप लगाये हैं। कांग्रेस की विचार-धारा पर उनकी बहुत-सी सैद्धान्तिक समालोचना योग्यतापूर्ण और स्पष्ट थी और बाद की घटनाओं से वह किसी अंश तक सही भी साबित हुई। हिन्दुस्तान की साधारण राजनैतिक हालत के बारे में कम्युनिस्टों के शुरू के कुछ विश्लेषण बहुत-कुछ सही निकले। मगर जब वे साधारण सिद्धान्तों को छोड़कर तफ़सीलों में आते हैं, और ख़ासकर जब वे देश में कांग्रेस के महत्त्व पर विचार करते हैं, तो वे बुरी तरह भटक जाते हैं। हिन्दुस्तान में कम्युनिस्टों की संख्या और असर कम होने का एक कारण यह भी है कि कम्युनिज़्म का वैज्ञानिक ज्ञान फैलाने और लोगों के दिमाग़ में उसका विश्वास जमाने की कोशिश करने के बदले उन्होंने दूसरों को गालियां देने में ही ज़्यादातर अपनी ताक़त लगायी है। इसका उन्हीं पर उलटा असर पड़ा है, और उन्हें नुक़सान पहुंचा है। इनमें से अधिकांश लोग मज़दूरों के हलक़ों में काम करने के आदी हैं, जहां मज़दूरों को अपनी तरफ़ मिला लेने के लिए सिर्फ़ थोड़े-से नारे ही काफ़ी होते हैं। लेकिन बुद्धिमान लोगों के लिए तो सिर्फ़ नारे ही काफ़ी नहीं हो सकते और उन्होंने इस बात को अनुभव नहीं किया है कि आज हिन्दुस्तान में मध्यम-वर्ग का पढ़ा-लिखा दल ही सबसे ज़्यादा क्रान्तिकारी दल है। कट्टर कम्युनिस्टों के इच्छा न करने पर भी कई पढ़े-लिखे लोग कम्युनिज़्म की तरफ़ खिंच आये हैं, लेकिन फिर भी उनके बीच में एक खाई है।

कम्युनिस्टों की राय के मुताबिक़, कांग्रेस के नेताओं का मक़सद रहा है, सरकार पर जनता का दबाव डालना और हिन्दुस्तान के पूंजीवादियों और ज़मींदारों के हित के लिए कुछ औद्योगिक और व्यापारिक सुविधाएं पा लेना। उनका मत है कि कांग्रेस का काम है—"किसानों, निम्न मध्यम-वर्ग और कारख़ानों के मज़दूर-वर्ग के आर्थिक और राजनैतिक असन्तोष को उभाड़कर बम्बई, अहमदाबाद और कलकत्ते के मिल-मालिकों और धनपतियों को लाभ पहुंचाना।" यह ख़याल किया जाता है कि हिन्दुस्तानी पूंजीपति टट्टी की ओट में कांग्रेस-कार्य-समिति को हुक्म देते हैं कि पहले तो वह सार्वजनिक आन्दोलन चलावे और जब वह बहुत व्यापक और भयंकर हो जाय तब उसे स्थगित कर दें, या किसी छोटी-मोटी बात पर बन्द कर दे। और, कांग्रेस के नेता सचमुच अंग्रेज़ों का चला जाना पसन्द नहीं करते, क्योंकि भूखी जनता का शोषण करने के लिए आवश्यक नियन्त्रण करने को उनकी ज़रूरत है, और मध्यम-वर्ग अपने में यह काम करने की ताक़त नहीं मानता।

यह अचरज की बात है कि कम्युनिस्ट इस अजीब विश्लेषण पर भरोसा रखते हैं। लेकिन चूँकि प्रकट रूप से उनका विश्वास इसी पर है, इसीलिए, आश्चर्य नहीं कि, वे हिन्दुस्तान में इतनी बुरी तरह से असफल हुए हैं। उनकी बुनियादी ग़लती यह मालूम होती है कि वे हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय आन्दोलन को यूरोपियन मज़दूरों के पैमानों से नापते हैं, और चूँकि उन्हें यह देखने का अभ्यास है कि बार-बार मज़दूर-नेता मज़दूर-आन्दोलन के साथ विश्वासघात करते रहे हैं, इसलिए वे उसी मिसाल को हिन्दुस्तान पर लगाते हैं। यह तो स्पष्ट है कि हिंदुस्तान का राष्ट्रीय आन्दोलन कोई मज़दूरों या श्रमिकों का आन्दोलन नहीं है। जैसा कि उसके नाम ही से ज़ाहिर होता है, वह एक मध्यमवर्गी जनता का आन्दोलन है और अभीतक उसका उद्देश्य समाज-व्यवस्था को बदलना नहीं बल्कि राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करना ही रहा है। इसपर कहा जा सकता है कि यह ध्येय काफ़ी दूरगामी नहीं है, और राष्ट्रीयता भी आजकल के ज़माने की चीज़ कहला सकती है। लेकिन आन्दोलन के मौलिक आधार को मानते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि नेता लोग भूमि-प्रणाली या पूंजीवादी प्रणाली को उलट देने की कोशिश ही नहीं करते। इसलिए वे जनता के साथ विश्वासघात करते हैं, क्योंकि उन्होंने ऐसा करने का कभी दावा ही नहीं किया। हाँ, कांग्रेस में कुछ लोग ऐसे ज़रूर हैं, और उनकी गिनती बढ़ती जा रही है, जो भूमि-प्रणाली और पूँजीवादी व्यवस्था को बदल देना चाहते हैं, लेकिन वह कांग्रेस के नाम पर नहीं बोल सकते।

यह सच है कि हिन्दुस्तान के पूँजीवादी वर्गों ने (बड़े-बड़े ज़मींदारों या ताल्लुक़ेदारों ने नहीं) ब्रिटिश और दूसरे विदेशी माल के बहिष्कार और स्वदेशी के प्रचार के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन से बड़ा फ़ायदा उठाया है। लेकिन, यह तो लाज़िमी ही था; क्योंकि हर राष्ट्रीय आन्दोलन देश के उद्योग-धन्धों को बढ़ावा देता है, और दूसरों का बहिष्कार कराता है। लेकिन, असल में, बम्बई के मिल-मालिकों ने तो सविनय-भंग के चालू रहने के वक़्त ही और जब कि हम ब्रिटिश माल के बहिष्कार का प्रचार करते रहे थे तभी एक ग़ैरवाजिब तरीक़े से लंकाशायर से एक समझौता करने का भी दुःसाहस कर डाला था। कांग्रेस की निगाह में यह राष्ट्र के साथ भारी विश्वासघात था, और यही नाम उसको दिया भी गया था। बड़ी धारासभा में बम्बई के मिल-मालिकों के प्रतिनिधियों ने, जब कि हममें से ज़्यादातर लोग जेल में थे, लगातार कांग्रेस और गरम दल के लोगों की निन्दा की थी।

पिछले कुछ बरसों में कई पूँजीपति-दलों ने हिन्दुस्तान में जो-जो काम किये हैं वे कांग्रेस की और राष्ट्रीय दृष्टि से भी कलंक-रूप हैं। ओटावा के समझौते से शायद कुछ लोगों को फ़ायदा हो गया होगा, लेकिन हिन्दुस्तान के सारे उद्योग-धन्धों की दृष्टि से वह बुरा था, और उससे वे ब्रिटिश पूँजी और कारख़ानों की ज़्यादा अधीनता में आगये। वह समझौता जनता के लिए हानिकर था, और

लब किया गया था जबकि हमारी लड़ाई चालू थी और कई हज़ार लोग जेलों में थे। हर उपनिवेश ने इंग्लैण्ड से अपनी कड़ी-से-कड़ी शर्तें मनवा लीं, लेकिन हिन्दुस्तान को तो मानो उसमें अपने को क़रीब-क़रीब लुटा देने का सौभाग्य ही मिल गया। पिछले कुछ बरसों में कुछ बड़े धनिकों ने हिन्दुस्तान को नुक़सान में डालकर भी सोने और चांदी का व्यापार किया है।

और बड़े-बड़े ज़मींदार ताल्लुक़ेदार तो गोलमेज़-कान्फ्रेन्स में कांग्रेस के बिलकुल ख़िलाफ़ खड़े हो गये थे, और ठीक सविनय भंग के बीचों-बीच उन्होंने खुले तौर पर और आगे बढ़कर अपने-आपको सरकार के पक्ष का घोषित कर दिया था। इन्हीं लोगों की मदद से सरकार ने भिन्न-भिन्न प्रान्तों में उन दमनकारी क़ानूनों को पास किया, जो आर्डिनेन्सों में आ जाते थे और युक्तप्रान्त की कौंसिल में ज़्यादातर ज़मींदार मेम्बरों ने सविनय-भंग के क़ैदियों की रिहाई के विरोध में राय दी थी।

यह ख़याल भी बिलकुल ग़लत है कि, गांधीजी ने १६२१ और १६३० में तीव्र दीखनेवाले आन्दोलन जनता के आग्रह से मजबूर होकर ही किये थे। आम जनता में हलचल बेशक थी। लेकिन दोनों आन्दोलनों में क़दम गांधीजी ने ही आगे बढ़ाया था। १६२१ में तो उन्होंने क़रीब-क़रीब अकेले ही सारी कांग्रेस को अपने साथ कर लिया और उसे असहयोग के पथ पर ले गये। १६३० में भी अगर उन्होंने किसी तरह भी विरोध किया होता, तो कोई भी आक्रामक और प्रभावशाली आन्दोलन कभी नहीं उठ सकता था।

यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि मूर्खतापूर्ण और बिना जानकारी के व्यक्तिगत नुक़्ताचीनी की जाती है, क्योंकि उससे ध्यान असली सवालों से दूसरी तरफ़ हट जाता है। गांधीजी की ईमानदारी पर हमला करने से तो अपने-आपका और अपने काम का ही नुक़सान होता है, क्योंकि हिन्दुस्तान के करोड़ों आदमियों के लिए तो वह सत्य के ही मूर्त रूप हैं और उन्हें जो भी पहचानते हैं, वे जानते हैं कि वह हमेशा सत्य के मार्ग पर चलने के लिए कितने व्याकुल रहते हैं।

हिन्दुस्तान में कम्युनिस्टों का ताल्लुक़ बड़े शहरों के कारख़ानों के मज़दूरों के साथ ही रहा है। देहाती हलक़ों की जानकारी या सम्पर्क उनके पास नहीं है। हालाँकि कारख़ानों के मज़दूरों का भी एक महत्त्व है, और भविष्य में और भी उनका ज़्यादा महत्त्व होगा, लेकिन उनका किसानों के सामने दूसरा ही दर्जा रहेगा, क्योंकि हिन्दुस्तान में आज तो किसानों की समस्या ही मुख्य है। इधर कांग्रेसी कार्यकर्त्ता इन देहाती हलक़ों में सर्वत्र फैल चुके हैं, और समय पर अपने-आप कांग्रेस किसानों का एक बड़ा संगठन बन जायगी। अपना निकटलक्ष्य प्राप्त करने के बाद किसान कभी भी क्रान्तिकारी नहीं रह जाते और यह मुमकिन है कि भविष्य में किसी समय शहर बनाम देहात और मज़दूर बनाम किसान का आम मसला हिन्दुस्तान में भी खड़ा हो जाय।

मुझे कांग्रेस के बहुत-से नेताओं और कार्यकर्त्ताओं के गहरे सम्पर्क में आने का मौक़ा मिला है, और इनसे ज़्यादा अच्छी श्रेणी के स्त्री-पुरुष मुझे और कहीं नहीं मिल सकते थे। लेकिन फिर भी जीवित समस्याओं के सम्बन्ध में मेरा उनसे मत-भेद रहा है, और कई बार मैं यह देखकर उकता गया हूँ कि जो बात मुझे साफ़-सी दिखायी देती है उसकी वे क़द्र भी नहीं कर सकते या उसे समझ भी नहीं सकते। इसका कारण समझ की कमी नहीं है, बल्कि इसका मतलब यह है कि हम विचारों की अलग-अलग पगडण्डियों पर चल रहे हैं। मैंने महसूस किया कि इन सीमाओं को अचानक पार कर जाना कितना मुश्किल है। इन विभेदों का कारण जीवन-सम्बन्धी तत्त्वज्ञान में विभेद होना है, जिन्हें हम धीरे-धीरे और अनजान में ग्रहण कर लेते हैं। परस्पर एक-दूसरे दल को दोष देना बेकार है। समाजवाद के लिए जीवन और उसकी समस्याओं पर एक ख़ास मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण होने की ज़रूरत है। वह केवल युक्तिवाद से कुछ अधिक है। इसी तरह, दूसरे दृष्टि-कोण भी परम्परा, शिक्षण और भूत और वर्तमान परिस्थितियों के अज्ञात प्रभाव पर निर्भर हैं। जीवन की कठिनाइयाँ और उसके कड़ुवे अनुभव ही हमें नये रास्तों से चलने को मजबूर करते हैं, और अन्त में यद्यपि यह बहुत कठिन काम है—हमारा दृष्टिकोण बदल देते हैं। सम्भव है इस प्रक्रिया में हम भी थोड़े सहायक हो सकें और शायद मशहूर फ्रेंच लेखक ला फोंतेन के शब्दों में —

"मनुष्य अपने भवितव्य पर उसी रास्ते से पहुँच जाता है जिस पर वह उससे बचने के लिए चलता है।"

४७

धर्म क्या है?

हमारे शान्त और एक-ढर्रे के जेल-जीवन में सितम्बर १९३२ के बीच में मानो अचानक एक वज्र-सा गिरा। एक खलबली मच गयी। खबर मिली कि मि० रेम्ज़े मैकडॉनल्ड के साम्प्रदायिक 'निर्णय' में यहाँ की दलित जातियों को अलग चुनाव के अधिकार दिये जाने के विरोध में गांधीजी ने 'आमरण-अनशन' करना तय किया है। लोगों पर अचानक चोट पहुँचाने की उनमें कितनी अद्भुत क्षमता है! सहसा सभी तरह के विचार मेरे दिमाग़ में उत्पन्न होने लगे; सब तरह की भावी सम्भावनाओं के चित्र मेरे सामने आने लगे, और उन्होंने मेरे स्थिर चित्त को बिलकुल उद्विग्न कर दिया। दो दिन तक मुझे बिलकुल अँधेरा-ही-अँधेरा दिखायी दिया, और कोई रास्ता नहीं सूझा। जब मैं गांधीजी के इस काम के कुछ नतीजों का खयाल करता तो मेरा दिल बैठ जाता था। उनके प्रति मेरा व्यक्तिगत प्रेम काफी प्रबल था, और मुझे ऐसा लगता था कि अब शायद मैं उन्हें नहीं देख सकूँगा। इस ख़याल से मुझे बहुत ही पीड़ा होती थी। पिछली

बार लगभग एक साल से कुछ ज़्यादा हुए मैंने उन्हें इंग्लैण्ड जाते समय जहाज़ पर देखा था। क्या वही मेरा उनका अंतिम दर्शन रहेगा?

और फिर मुझे उनपर झुँझलाहट भी आयी कि उन्होंने अपने अंतिम बलिदान के लिए एक छोटा-सा, सिर्फ़ चुनाव का, मामला लिया है। हमारे आज़ादी के आन्दोलन का क्या होगा? क्या अब, कम-से-कम थोड़े वक़्त के लिए ही सही, बड़े सवाल पीछे नहीं पड़ जायंगे? और, अगर वह अपनी अभी की बात पर कामयाब भी हो जायँगे, और दलित जातियों के लिए सम्मिलित चुनाव प्राप्त भी कर लेंगे, तो क्या इससे एक प्रतिक्रिया न होगी, और यह भावना न फैल जायगी कि कुछ-न-कुछ तो प्राप्त कर ही लिया गया है, और कुछ दिन तक अब कुछ भी न करना चाहिए? और क्या उनके इस काम का यह अर्थ नहीं हुआ कि वह साम्प्रदायिक 'निर्णय' को मानते और सरकार की तैयार की हुई आम तजवीज़ को किसी अंश तक मंजूर करते हैं? क्या यह असहयोग और सविनय-भंग से मेल खाता है? इतने बलिदान और साहसपूर्ण प्रयत्न के बाद क्या हमारा आन्दोलन इस नगण्य प्रश्न पर आकर अटक जायगा?

वह राजनैतिक समस्या को धार्मिक और भावुकतापूर्ण दृष्टि से देखते हैं और समय-समय पर ईश्वर को बीच में लाते हैं, यह देखकर मुझे उनपर गुस्सा भी आया। उनके वक्तव्य से तो ऐसी ध्वनि निकलती थी कि शायद ईश्वर ने उन्हें अनशन की तारीख़ तक सुझा दी थी। ऐसी मिसाल पेश करना कितना भयंकर होगा।

और अगर बापू मर गये! तो हिन्दुस्तान की क्या हालत हो जायगी? और उसकी राजनैतिक प्रगति का क्या होगा? मुझे भविष्य सूना और भयंकर दीखने लगा, और जब मैं उसपर विचार करता था तो मेरे दिल में एक निराशा छा जाती थी।

इस तरह मैं लगातार इन विचारों में डूबता-उतराता रहा। मेरे दिमाग़ में गड़बड़ी मच गयी, और गुस्सा, निराशा और जिस व्यक्ति ने इतनी बड़ी उथल-पुथल पैदा कर दी उसके प्रति प्रेम से वह सराबोर हो गया। मुझे नहीं सूझता था कि मैं क्या करूँ, और सबसे ज़्यादा अपने प्रति मैं चिड़चिड़ा और बद मिज़ाज हो गया।

और फिर मुझमें एक अजीब तब्दीली हुई। मैं शुरू शुरू में भावनाओं के एक तूफ़ान में बह गया था; पर अन्त में मुझे कुछ शान्ति मालूम हुई, और भविष्य भी इतना अन्धकार-पूर्ण दिखाई नहीं दिया। बापू में ऐन मौक़े पर ठीक काम कर डालने की अजीब सूझ है, और मुमकिन है कि उनके इस काम के भी—जो मेरे दृष्टि-बिन्दु से बिलकुल अयोग्य ठहरता था—कोई बड़े नतीजे निकलें, केवल उसी काम के छोटे-से सीमित क्षेत्र में नहीं बल्कि हमारी राष्ट्रीय लड़ाई के व्यापक स्वरूपों में भी। और अगर बापू मर भी गये, तो हमारी स्वतन्त्रता की लड़ाई

चलती रहेगी। इसलिए, कुछ भी नतीजा हो, इन्सान को हर हालत के लिए कटिबद्ध और मुस्तैद रहना चाहिए। गांधीजी की मृत्यु तक को बिना हिचकिचा-हट के सह लेने का संकल्प करके मैंने शान्ति, और धीरज धारण किया, और दुनिया और दुनिया की हर घटना का सामना करने को तैयार हो गया।

इसके बाद सारे देश में एक भयंकर उथल पुथल मचने और हिन्दू-समाज में उत्साह की एक जादूभरी लहर आजाने की ख़बरें आयीं, और मालूम होने लगा कि छुआछूत का अब अन्त ही होनेवाला है। मैं सोचने लगा कि यरवडा-जेल में बैठा हुआ यह छोटा-सा आदमी कितना बड़ा जादूगर है! और लोगों के हृदयों के तारों को झंकृत करना वह कितनी अच्छी तरह जानता है!

उनका एक तार मुझे मिला। मेरे जेल आने के बाद यह उनका पहला ही संदेश था, और इतने लम्बे अर्से के बाद उनका संदेश पाना मुझे बहुत अच्छा लगा। इस तार में उन्होंने लिखा—

"इन वेदना के दिनों में मुझे हमेशा तुम्हारा ध्यान रहा है। तुम्हारी राय जानने को मैं बहुत ज्यादा उत्सुक हूं। तुम्हें मालूम है मैं तुम्हारी राय की कितनी कद्र करता हूँ! इन्दु और स्वरूप के बच्चे मिले। इन्दु खुश और कुछ तगड़ी दीखती थी। तबीयत बहुत ठीक है। तार से जवाब दो। स्नेह।"

यह एक असाधारण बात थी, लेकिन उनके स्वभाव के अनुसार ही थी, कि उन्होंने अपने अनशन की पीड़ा और अपने काम-काज के बीच भी मेरी लड़की और मेरी बहिन के बच्चों के आने का ज़िक्र किया, और यह भी लिखा कि इन्दिरा तगड़ी हो गयी है। उस समय मेरी बहिन भी पूना के जेल में थी, और ये सब बच्चे पूना के स्कूल में पढ़ते थे। वह जीवन में छोटी दीखनेवाली बातों को कभी नहीं भूलते, जिनका असल में बड़ा महत्त्व भी होता है।

ठीक उसी वक़्त मुझे यह ख़बर भी मिली कि चुनाव के मामले पर कोई सम-झौता भी हो गया है। जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट ने कृपा करके मुझे गांधीजी को जवाब देने की इजाज़त दे दी, और मैंने उन्हें यह तार भेजाः—

"आपके तार और यह संक्षिप्त समाचार मिलने से कि कोई समझौता हो गया है, मुझे बड़ी राहत और खुशी हुई। पहले तो आपके अनशन के निश्चय से मानसिक क्लेश और बड़ी दुविधा पैदा हुई पर आखिर में आशावाद की विजय हुई और मुझे मानसिक शान्ति मिली। दलित वर्गों के लिए बड़े-से-बड़ा बलिदान भी कम ही है। स्वतन्त्रता की कसौटी सबसे छोटे की स्वतन्त्रता से करनी चाहिए, लेकिन भय है कि कहीं हमारे एक-मात्र लक्ष्य को दूसरी समस्याएँ ढक न लें। मैं धार्मिक दृष्टिकोण से निर्णय करने में असमर्थ हूँ। यह भी भय है कि दूसरे लोग आपके तरीकों का दुरुपयोग करेंगे। लेकिन एक जादूगर को मैं कैसे सलाह दे सकता हूं? सप्रेम।"

पूना में जमा हुए भिन्न-भिन्न लोगों ने एक समझौते पर दस्तखत किये और

ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने उसे चटपट मंजूर कर लिया और उसके अनुसार अपना पिछला 'निर्णय' बदल दिया। अनशन भी तोड़ दिया गया। मैं ऐसे समझौतों और इक़रारनामों को बहुत नापसन्द करता हूँ, लेकिन पूना के समझौते में क्या-क्या तय हुआ इसका खयाल न करते हुए भी मैंने उसका स्वागत किया।

उत्तेजना खत्म हो चुकी थी, और हम जेल के अपने मामूली कार्यक्रम में लग गये। हरिजन-आन्दोलन और जेल में से गांधीजी की प्रवृत्तियों की खबरें हमें मिलती रहती थीं। लेकिन उनसे मुझे खुशी नहीं होती थी। इसमें शक नहीं कि छुआछूत के भाव को मिटाने और दुःखी दलित जातियों को उठाने के आन्दोलन को उससे बड़े ग़ज़ब का बढ़ावा मिला, लेकिन वह समझौते के कारण नहीं, बल्कि देशभर में जो एक जिहादी जोश फैल गया था उसके कारण। यह तो अच्छी बात थी। लेकिन इसीके साथ-साथ यह भी स्पष्ट था कि इससे सविनय-भंग आन्दोलन को नुक़सान पहुँचा। देश का ध्यान दूसरे सवालों पर चला गया, और कांग्रेस के कई कार्यकर्त्ता हरिजन-कार्य में लग गये। शायद उनमें से ज़्यादातर तो कम ख़तरे के कामों में लगने का बहाना चाहते ही थे, जिनमें जेल जाने, या इससे भी ज़्यादा लाठी खाने और सम्पत्ति ज़ब्त कराने का डर न हो। यह स्वाभाविक ही था, और हमारे हज़ारों कार्यकर्त्ताओं में से हरेक से यह उम्मीद करना ठीक भी न था कि वह घोर कष्ट सहने और अपने परिवार के भंग और नाश के लिए हमेशा तैयार रहे। लेकिन फिर भी हमारे बड़े आन्दोलन का इस तरह धीरे-धीरे पतन होना देखकर दिल में दर्द होता था। फिर भी, सविनय भंग तो चलता ही रहा, और मौक़े-मौक़े पर मार्च-अप्रैल १९३३ की कलकत्ता-कांग्रेस-जैसे बड़े-बड़े प्रदर्शन हो ही जाते थे। गांधीजी यरवडा-जेल में थे, मगर उन्हें लोगों से मिलने और हरिजन-आन्दोलन के लिए हिदायतें भेजने की कुछ सुविधायें मिल गई थीं। कुछ भी हो, इससे उनके जेल में रहने के कारण लोगों के मन में हुई टीस का तीखापन कम हो गया था। इन सब बातों से मुझे बड़ी निराशा हुई।

कई महीने बाद, मई १९३३ में, गांधीजी ने फिर अपना इक्कीस दिन का उपवास शुरू किया। पहले तो इसकी खबर से भी मुझे फिर बड़ा धक्का लगा, लेकिन होनहार ऐसा ही था, यह समझकर मैंने उसे मंजूर कर लिया और अपने दिल को समझा लिया। वास्तव में मुझे उन लोगों पर ही झुँझलाहट आयी, जो उनके उपवास का संकल्प कर लेने और घोषित कर देने के बाद उसे छोड़ देने का ज़ोर उनपर डाल रहे थे। उपवास मेरी तो समझ के बाहर था और निश्चय कर लेने के पहले अगर मुझसे पूछा जाता तो मैं उसके विरोध में ज़ोर की राय देता, लेकिन मैं गांधीजी की प्रतिज्ञा का बड़ा महत्त्व समझता था, और किसी भी व्यक्ति के लिए मुझे यह गलत मालूम होता था कि वह किसी भी व्यक्तिगत मामले में, जिसे वह सबसे ज़्यादा महत्त्वपूर्ण समझते थे, उनकी प्रतिज्ञा को तुड़वाने की

कोशिश करे। इस तरह यद्यपि मैं खिन्न था, फिर भी मैंने उसे सहन कर लिया।

अपना उपवास शुरू करने से कुछ दिन पहले उन्होंने मुझे अपने खास ढंग का एक पत्र भेजा, जिससे मेरा दिल बहुत हिल गया। चूँकि उन्होंने जवाब माँगा था, इसलिए मैंने नीचे लिखा तार भेजाः—

"आपका पत्र मिला। जिन मामलों को मैं नहीं समझता उनके बारे में मैं क्या कह सकता हूँ ? मैं तो एक विचित्र देश में अपने को खोया हुआ-सा अनुभव करता हूँ जहाँ आप ही एक-मात्र दीपस्तम्भ हैं; अँधेरे में मैं अपना रास्ता टटोलता हूँ; लेकिन ठोकर खाकर गिर जाता हूँ। नतीजा जो कुछ हो, मेरा स्नेह और मेरे विचार हमेशा आपके साथ होंगे।"

एक ओर तो मैं उनके कार्य को बिलकुल नापसन्द करता था, और दूसरी ओर उन्हें चोट न पहुँचाने की भी मेरी इच्छा बलवती थी। मैं इस संघर्ष में पड़ा हुआ था। मैंने अनुभव किया कि मैंने उन्हें प्रसन्नता का सन्देश नहीं भेजा है, और अब जबकि वह अपनी भयंकर अग्नि-परीक्षा में से, जिसमें उनकी मृत्यु भी हो सकती थी, पार होने का निश्चय कर ही चुके हैं, तो मुझे चाहिए कि मुझसे जितना बन सके उतना मैं उन्हें प्रसन्न रखूँ। छोटी-छोटी बातों का भी मन पर बड़ा असर होता है, और उन्हें अपना जीवन-दीप बुझने न देने के लिए अपना सारा मनोबल लगा देना पड़ेगा। मुझे ऐसा भी लगा कि अब जो कुछ भी हो, चाहे दुर्भाग्य से उनकी मृत्यु भी हो जाय, तो भी उसे दृढ़ हृदय से सह लेना चाहिए। इसलिए मैंने उन्हें दूसरा तार भेजा.—

"अब तो जब आपने अपना महान् तप शुरू कर ही दिया है, मैं फिर अपना स्नेह और अभिनन्दन आपको भेजता हूँ, और मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि अब मुझे यह ज्यादा स्पष्ट दिखायी देता है कि जो कुछ होता है अच्छा ही होता है, और परिणाम कुछ भी हो आपकी विजय ही है।"

उनका उपवास सकुशल पूरा हुआ। उपवास के पहले ही दिन वह जेल से रिहा कर दिये गये, और उनके कहने से छः हफ़्तों के लिए सविनय-भंग स्थगित कर दिया गया।

मैंने देखा कि उपवास के बीच में देश में भावना का फिर एक उभाड़ आया। मैं अधिकाधिक सोचने लगा कि क्या राजनीति में यह उचित मार्ग है ? मुझे तो लगने लगा, कि यह केवल पुनरुद्धार-वाद है और इसके सामने स्पष्ट विचार करने का तरीक़ा बिलकुल नहीं ठहर सकता। सारा हिन्दुस्तान, या उसका अधिकांश श्रद्धा से महात्माजी की तरफ़ निगाह गड़ाये हुए था, और उनसे उम्मीद करता था कि वह चमत्कार-पर-चमत्कार करते चले जायँ, अस्पृश्यता का नाश कर दें, और स्वराज्य हासिल कर लें, इत्यादि, और आप कुछ भी न करे। गांधीजी भी दूसरों को विचार करने के लिए बढ़ावा नहीं देते थे, उनका आग्रह पवित्रता और बलि-

दाम पर था। मुझे लगा कि हालाँकि मैं गांधीजी पर बड़ी आसक्ति रखता हूँ फिर भी मानसिक दृष्टि से मैं उनसे दूर होता जा रहा हूँ। अक्सर वह अपनी राजनैतिक हलचलों में अपनी कभी न चूकनेवाली, सहज आत्मप्रेरणा से काम लेते थे। श्रेयस्कर और लाभप्रद काम करने का उनमें स्वभावसिद्ध गुण है; लेकिन क्या राष्ट्र को तैयार करने का रास्ता श्रद्धा का ही है? कुछ वक़्त के लिए तो यह लाभदायक हो सकता है, मगर अन्त में क्या होगा?

मेरी समझ में नहीं आता था कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को, जिसकी नींव हिंसा और संघर्ष पर है, वह कैसे स्वीकार कर लेते हैं, जैसा कि ऊपर से मालूम पड़ता था। मुझमें ज़ोर से संघर्ष चलने लगा, और मैं दो प्रतिस्पर्द्धी निष्ठाओं (व्यक्ति-निष्ठा और तत्त्व-निष्ठा) की चक्की में पिसने लगा। मैंने जान लिया कि जब मैं जेल की चहारदीवारी से बाहर निकलूँगा, तब भविष्य में मेरे सामने मुसीबत ही खड़ी मिलेगी। मुझे प्रतीत होने लगा कि मैं अकेला और निराश्रय हूँ, और हिन्दुस्तान, जिसे मैंने प्यार किया और जिसके लिए मैंने इतना परिश्रम किया, मुझे एक पराया और किंकर्त्तव्यविमूढ़ कर देनेवाला देश मालूम होने लगा। क्या यह मेरा दोष था कि मैं अपने देशवासियों की भावना और विचार-प्रणाली से अपना मेल न बैठा सका। मुझे मालूम हुआ कि अपने अंतरंग साथियों और मेरे बीच एक अप्रत्यक्ष दीवार खड़ी हो गयी है, और उसको पार करने में अपने-आपको असमर्थ पाकर मैं दुखी हो गया और मन मसोस कर बैठ गया। उन सब को मानो पुरानी दुनिया ने, पुरानी विचार-धाराओं, पुरानी आशाओं और पुरानी इच्छाओं की दुनिया ने घेर रक्खा था। नयी दुनिया तो अभी बहुत दूर थी।

दो लोकों के बीच भटकता
आश्रय की कुछ आस नहीं;
मरी पड़ी है एक, दूसरे में,
उठने की शक्ति नहीं।[1]

हिन्दुस्तान, सब बातों से ज़्यादा, धार्मिक देश समझा जाता है, और हिन्दू और मुसलमान और सिक्ख और दूसरे लोग अपने-अपने मतों का अभिमान रखते हैं, और एक-दूसरे के सिर फोड़कर उनकी सच्चाई का सबूत देते हैं। हिन्दुस्तान में और दूसरे देशों में मज़हब के, और कम-से-कम मौजूदा रूपमें संगठित मज़हब के, दृश्य ने मुझे भयभीत कर दिया है, मैंने उसकी कई बार निन्दा की है, और उसको जड़-मूल से मिटा देने तक की इच्छा की है। मुझे तो लगभग हमेशा यही मालूम हुआ कि अन्ध-विश्वास और प्रगति-विरोध, जड़ (प्रमाण-रहित) सिद्धान्त और कट्टरपन, अन्धश्रद्धा और शोषणनीति और (न्याय

[1] अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

अथवा अन्याय से) स्थापित स्वार्थों के संरक्षण का ही नाम 'धर्म' है। मगर यह भी मुझे अच्छी तरह मालूम है कि धर्म में और भी कुछ है, उसमें कुछ ऐसी चीज़ भी है जो मनुष्यों की गहरी आन्तरिक आकांक्षा भी पूरा करती है। नहीं तो उसका इतनी ज़बरदस्त शक्ति बनना, जैसा कि बना हुआ है, कैसे सम्भव था, और उससे अनगिनती पीड़ित आत्माओं को सुख और शान्ति कैसे मिल सकती थी ? क्या वह शान्ति केवल अन्ध-विश्वास को शरण देने और शंकाओं पर परदा डालनेवाली ही थी ? क्या वह वैसी ही शान्ति थी जैसी खुले समुद्र के तूफ़ानों से बचकर किसी बन्दरगाह में मिलती है, या उससे कुछ ज़्यादा थी ? कुछ बातों में तो सचमुच वह इससे कुछ ज़्यादा ही थी।

लेकिन इसका भूतकाल कैसा भी रहा हो, आजकल का संगठित धर्म तो ज़्यादा-तर एक ख़ाली ढोल ही रह गया है, जिसके अन्दर कोई तथ्य और तत्त्व नहीं है। श्री जी० के० चेस्टरटन[1] ने इसकी (स्वयं अपने विशेष धर्म की नहीं, मगर दूसरों के धर्म की) उपमा भूगर्भ में पाये जानेवाले किसी ऐसे जानवर या प्राणी के पाषाण-खचित ढाँचे से दी है जिसके अन्दर से उसका अपना जीवन-तत्त्व तो पूरी तरह से निकल चुका है, लेकिन ऊपरी पंजर इसलिए रह गया है कि उसके अन्दर कोई बिलकुल दूसरी ही चीज़ चीज़ भर दी गयी थी। और, अगर किसी धर्म में कोई महत्त्वपूर्ण चीज़ रह भी गयी है तो, उसपर और दूसरी हानिकर चीज़ों का लेप चढ़ गया है।

मालूम होता है कि यही बात हमारे पूर्वीय धर्मों में, और पश्चिमी धर्मों में भी, हुई है। चर्च आफ़ इंग्लैण्ड ऐसे धर्मों का एक स्पष्ट उदाहरण है, जो किसी भी अर्थ में मज़हब नहीं है। किसी हद तक, यही बात सारे संगठित प्रोटेस्टेण्ट धर्मों के बारे में सही है; लेकिन इसमें सबसे आगे बढ़ा हुआ चर्च आफ़ इंग्लैण्ड ही है, क्योंकि वह बहुत अर्से से एक सरकारी राजनैतिक महकमा बन चुका है।[2]

---

[1] यह कैथलिक सम्प्रदाय का था। —अनु०

[2] हिन्दुस्तान में चर्च आफ़ इंग्लैण्ड तो प्रायः सरकार से अलग मालूम ही नहीं होता है। जिस तरह ऊँचे सरकारी नौकर साम्राज्यवादी सत्ता के प्रतीक हैं उसी तरह (हिन्दुस्तान के खज़ाने से) सरकार की तरफ़ से तनख्वाह पानेवाले पादरी और चेपलेन भी हैं। हिन्दुस्तान की राजनीति में चर्च कुल मिलाकर एक रूढ़िवादी और प्रतिगामी शक्ति रही है और आमतौर पर सुधार या प्रगति के विरुद्ध रही है। सामान्य ईसाई मिशनरी हिन्दुस्तान के पुराने इतिहास और संस्कृति से आमतौर पर बिलकुल नावाकिफ़ होते हैं और वे यह जानने की ज़रा भी तकलीफ़ नहीं उठाते कि वह कैसी थी या कैसी है। वे ग़ैर-ईसाइयों के पापों और कमज़ोरियोंको को दिखाते रहने में ज़्यादा दिलचस्पी लेते हैं। बेशक, कई लोग इनमें बहुत ऊँचे अपवाद-रूप हुए हैं। चार्ली एण्डरूज़ से बढ़कर हिन्दुस्तान का दूसरा सच्चा मित्र नहीं हुआ, जिनमें प्रेम और सेवा की भावना और उमड़ती

उसके बहुत-से अनुयायियों का चारित्र्य बेशक ऊँचे-से-ऊँचा है मगर यह मार्के की बात है कि किस तरह इस चर्च ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के उद्देश्य को पूरा किया है, और पूँजीवाद और साम्राज्यवाद दोनों को किस तरह नैतिक और ईसाई जामा पहना दिया है। इस धर्म ने एशिया और अफ्रीका में अंग्रेज़ों की लुटेरी नीति का समर्थन करने को कोशिश की है, और अंग्रेज़ों में एक असाधारण और ईर्ष्या करने-योग्य भावना भर दी है कि हम हमेशा ठीक और सही काम करते हैं। इस बड़प्पन-भरी सत्कार्य-भावना को इस चर्च ने पैदा किया है या वह ख़ुद उससे पैदा हुई है, यह मैं नहीं जानता। यूरोपियन महाद्वीप के और अमेरिका के दूसरे देश, जो इंग्लैण्ड के बराबर भाग्यशाली नहीं हुए हैं, अक्सर कहते हैं कि अंग्रेज़ मक्कार हैं। "विश्वासघाती इंग्लैण्ड" यह एक पुराना ताना है। लेकिन शायद यह इलज़ाम तो अंग्रेज़ों की कामयाबी से उत्पन्न हुई ईर्ष्या से लगाया जाता है, और निश्चय ही कोई दूसरा देश भी इंग्लैण्ड के दोष नहीं निकाल सकता क्योंकि उसके भी कारनामे इतने ही ख़राब हैं। जो राष्ट्र जान-बूझकर मक्कारी करता है, उसके पास हमेशा इतना शक्ति-संग्रह नहीं रह सकता, जैसा कि अंग्रेज़ों ने बार-बार कर दिखलाया है; और इसमें ख़ास तरह के 'धर्म'

हुई मैत्री ख़ूब लबालब भरी हुई थी। पूना के क्राइस्ट सेवा-संघ में भी कुछ अच्छे अंग्रेज़ हैं जिनके मज़हब ने उन्हें दूसरों को समझना और उनकी सेवा करना, न कि अपना बड़प्पन दिखाना, सिखलाया है और वे अपनी सारी योग्यताओं के साथ हिन्दुस्तान की जनता की सेवा में लग गये हैं। दूसरे भी कई अंग्रेज़ पादरी हुए हैं, जिनको हिन्दुस्तान याद करता है।

१२ दिसम्बर १६३४ को लार्ड-सभा में बोलते हुए केण्टरबरी के धर्माध्यक्ष ने १६१६ के माण्टेगु-चेम्सफ़ोर्ड-सुधारों की प्रस्तावना का ज़िक्र किया था और कहा था कि "कभी-कभी मुझे ख़याल होता है कि यह महान् घोषणा कुछ जल्दबाज़ी से कर दी गयी है, और मेरा अनुमान है कि महायुद्ध के बाद एक उतावलेपन का और उदारता का प्रदर्शन कर दिया गया है, लेकिन जो ध्येय निश्चित कर दिया गया है उसे वापस नहीं लिया जा सकता।" यह ग़ौर करने लायक़ बात है कि इंग्लिश चर्च का धर्माध्यक्ष हिन्दुस्तान की राजनीति के बारे में ऐसा अनुदार दृष्टिकोण रखता है। जो चीज़ भारतीय लोकमत के अनुसार बिलकुल ही नाकाफ़ी समझी गयी, और इसी कारण जिसके लिए असहयोग और बाद की तमाम घटनाएं हुईं, उसको धर्माध्यक्ष साहब 'उतावलेपन का और उदारता का' प्रदर्शन कहते हैं। इंग्लैण्ड के शासकवर्ग के दृष्टिकोण से यह एक सन्तोष-प्रद सिद्धान्त है, और इसमें शक नहीं कि अपनी उदारता के सम्बन्ध में उनका यह विश्वास, जो कि अविवेक की हद तक पहुँच जाता है, उनके अन्दर सन्तोष की एक सात्विक ज्योति जगाये बिना न रहता होगा।

ने, स्वार्थ-साधन के समय नीति-अनीति की चिन्ता करने की भावना कुण्ठित करके, मदद पहुँचाई है। दूसरी जातियों और राष्ट्रों ने अक्सर अंग्रेज़ों से भी बहुत ख़राब काम किये हैं, लेकिन अंग्रेज़ों के बराबर वे अपना स्वार्थ साधनेवाले कार्यों को सत्कार्य समझने में सफल नहीं हुए हैं। हम सभी के लिए यह बहुत आसान है कि हम दूसरों के 'ज़र्रे' के बराबर दोष को 'पहाड़' के बराबर बता दें और ख़ुद अपने 'पहाड़' के बराबर दोष को 'ज़र्रे' के बराबर समझें लेकिन शायद इस करतब में भी अंग्रेज़ ही सबसे ज़्यादा बढ़कर हैं।[1]

प्रोटेस्टेण्ट-मत ने नयी परिस्थिति के अनुकूल बन जाने की कोशिश की, और लोक-परलोक दोनों का ही ज़्यादा-से-ज़्यादा फ़ायदा उठाना चाहा। जहाँतक इस दुनिया का सम्बन्ध था वहाँतक तो वह ख़ूब ही सफल रहा, लेकिन धार्मिक दृष्टि से वह संगठित धर्म के रूप में 'न घर का रहा न घाट का।' और धीरे-धीरे धर्म की जगह भावुकता और व्यवसाय आ गया। रोमन कैथलिक मत इस दुष्परिणाम से बच गया, क्योंकि वह पुरानी जड़ को ही पकड़े रहा और जबतक वह जड़ क़ायम रहेगी तबतक वह भी फूलता-फलता रहेगा। पश्चिम में आज वही एक अपने सीमित अर्थ में 'जीवित धर्म' रह गया है। एक रोमन कैथलिक मित्र ने जेल में मेरे पास कैथलिक-मत पर कई पुस्तकें और धार्मिक पत्र भेज दिये थे, और मैंने उन्हें बड़ी दिलचस्पी से पढ़ा था। उन्हें पढ़ने पर मुझे मालूम हुआ कि लोगों पर उसका कितना बड़ा प्रभाव है। इस्लाम और प्रचलित हिन्दू-धर्म की तरह ही उससे भी सन्देह और मानसिक द्वन्द्व से राहत मिल जाती है और भावी जीवन के बारे में एक आश्वासन मिल जाता है, जिससे इस जीवन की कसर पूरी हो जाती है।

मगर, मेरी समझ में इस तरह की सुरक्षा चाहना मेरे लिए तो असम्भव है। मैं खुले समुद्र को ही ज़्यादा चाहता हूँ, जिसमें चाहे जितनी आँधियाँ और तूफ़ान हों। मुझे परलोक की या मृत्यु के बाद क्या होता है इसके बारे में कोई दिलचस्पी नहीं है। इस जीवन की समस्याएँ ही मेरे दिमाग़ को व्यस्त करने

---

[1] चर्च आफ़ इंग्लैण्ड हिन्दुस्तान की राजनीति पर किस तरह अपना अप्रत्यक्ष असर डालता है, इसकी एक मिसाल हाल ही में मेरे देखने में आई है। ७ नवम्बर १९३४ को कानपुर में युक्तप्रान्तीय हिन्दुस्तानी ईसाई कान्फ्रेंस में स्वागताध्यक्ष श्री ई० डी० डेविड ने कहा था कि "ईसाई की हैसियत से, हमारा यह धार्मिक कर्तव्य है कि हम सम्राट के राजभक्त रहें, जो कि हमारे धर्म के 'संरक्षक' हैं।" लाज़िमी तौर पर इसका अर्थ हुआ हिन्दुस्तान में ब्रिटिश-साम्राज्यवाद का समर्थन। श्री डेविड ने आई० सी० एस०, पुलिस, और समस्त प्रस्तावित विधान के बारे में, इंग्लैण्ड के 'कट्टर' अनुदार लोगों की इस राय के साथ भी अपनी सहानुभूति प्रकट की थी कि इससे हिन्दुस्तान के ईसाई मिशन ख़तरे में पड़ सकते हैं।

के लिए क़ाफ़ी मालूम होती हैं। मुझे तो चीनियों की परम्परा से चली आयी जीवन-दृष्टि, जो कि मूल में नैतिक है लेकिन फिर भी अधार्मिकता या नास्तिकता का रंग लिये हुए है, पसन्द आती है, हालाँकि जिस तरह वह व्यवहार में लायी जा रही है, वह मुझे पसन्द नहीं है। मुझे तो 'ताओ' यानी जिस मार्ग पर चलना चाहिए और जीवन की जो पद्धति होनी चाहिए उसमें रुचि है; मैं चाहता हूँ कि जीवन को समझा जाय, इसको त्यागा नहीं बल्कि उसको अंगीकार किया जाय, इसके अनुसार चला जाय, और उसको उन्नत बनाया जाय। मगर आम धार्मिक दृष्टिकोण इस लोक में नाता नहीं रखता। मुझे वह स्पष्ट विचार का दुश्मन मालूम होता है, क्योंकि वह सिर्फ़ कुछ स्थिर और न बदलनेवाले मतों और सिद्धान्तों को बिना चूँ-चपड़ किये स्वीकार कर लेने पर ही नहीं, बल्कि भावुकता और मनोवेग पर भी आधारित है। मैं जिन्हें आध्यात्मिकता और आत्मा-सम्बन्धी बातें समझता हूँ, उनसे वह बहुत दूर है, और वह, जान-बूझकर या अनजान में इस डर से कि शायद वास्तविकता पूर्व-निश्चित विचारों से मेल न खाय, वास्तविकता से भी आँखें बन्द कर लेता है। वह संकीर्ण है, और अपने से भिन्न रायों या विचारों को सहन नहीं करता। वह स्वार्थपरता और अहंकार से पूर्ण है, और अक्सर स्वार्थी और अवसरवादी लोगों को अपने से अनुचित फ़ायदा उठाने देता है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि धर्मभीरु व्यक्ति अक्सर ऊँचे-से-ऊँचे नैतिक और आध्यात्मिक कोटि के लोग नहीं हुए हैं, या अभी भी नहीं हैं। लेकिन इसका यह अर्थ ज़रूर है कि अगर नैतिकता और आध्यात्मिकता को दूसरे लोक के पैमाने से न नापकर इसी लोक के पैमाने से नापना हो तो धार्मिक दृष्टिकोण अवश्य ही राष्ट्रों की नैतिक और आध्यात्मिक प्रगति में सहायता नहीं देता, बल्कि अड़चन तक डालता है। आमतौर पर, धर्म ईश्वर या परमतत्त्व की अ-सामाजिक या व्यक्तिगत खोज का विषय बन जाता है, और धर्मभीरु व्यक्ति समाज की भलाई की अपेक्षा अपनी मुक्ति की ज़्यादा फ़िक्र करने लगता है। रहस्यवादी अपने अहंकार से छुटकारा पाने की कोशिश करता है, और इस कोशिश में अक्सर अहंकार की ही बीमारी उसके पीछे लग जाती है। नैतिक पैमानों का सम्बन्ध समाज की आवश्यकताओं से नहीं रहता, बल्कि पाप के अत्यन्त गूढ़ आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर वे आधारित रहते हैं। और, संगठित धर्म तो हमेशा स्थापित स्वार्थ ही बन जाता है, और इस तरह लाज़िमी तौर पर वह परिवर्तन और प्रगति के लिए एक विरोधी (प्रतिगामी) शक्ति होता है।

यह सुप्रसिद्ध है कि शुरू के दिनों में ईसाई मज़हब ने ग़ुलाम लोगों को अपना सामाजिक दर्जा उठाने में मदद नहीं दी थी। ये ग़ुलाम ही यूरप के मध्य-कालीन युग में, आर्थिक परिस्थितियों के कारण भू-स्वामियों के क्रीतदास बन गये। मज़हब का रुख़ दो सौ वर्ष पहले तक (१७२७ तक) क्या रहा था, यह अमेरिका के दक्खिनी उपनिवेशों के दास-स्वामियों को लिखे हुए बिशप आफ़-

लन्दन के पत्र से मालूम पड़ सकता है।[1]

बिशप ने लिखा था कि "ईसाई-धर्म और बाइबिल को मान लेने से नागरिक सम्पत्ति या नागरिक सम्बन्धों से उत्पन्न हुए कर्त्तव्यों में ज़रा भी तबदीली नहीं आती; वरन् इन मामलों में 'व्यक्ति' उसी 'अवस्था' में रहते हैं जिस अवस्था में वह पहले थे। ईसाई धर्म जो मुक्ति देता है, वह मुक्ति 'पाप' और 'शैतान के बन्धन से' और मनुष्यों के 'काम', 'विचार' और तीव्र 'वासना' के बन्धन से है। मगर, उनकी बाहरी हालत, बपतिस्मा—'ईसाई-धर्म की दीक्षा'—दिये जाने और ईसाई बनाने से पहले, जैसी ग़ुलामी या आज़ादी की थी उसमें वह किसी भी तरह का परिवर्तन नहीं करता।"

आज कोई भी संगठित धर्म इतने साफ़ ढंग से अपने ख़यालात ज़ाहिर न करेगा, लेकिन सम्पत्ति और मौजूदा समाज-व्यवस्था की तरफ़ उसका रुख़ ख़ास-कर यही होगा।

यह सभी जानते हैं कि शब्द तो अर्थ-बोध कराने के बहुत ही अपूर्ण साधन हैं, और उनके कई तरह के अर्थ लगाये जाते हैं। किसी भी भाषा में 'धर्म' शब्द का (या दूसरी भाषाओं के इसी अर्थवाले शब्दों का) जितने भिन्न-भिन्न अर्थ भिन्न-भिन्न लोग लगाते हैं, उतना शायद ही किसी दूसरे शब्द का अर्थ लगाया जाता हो। 'मज़हब' शब्द को पढ़ने या सुनने से शायद किन्हीं भी दो मनुष्यों के मन में एक ही से विचार या कल्पनाएँ पैदा नहीं होंगी। इन विचारों या कल्पनाओं में, कर्मकाण्डों और रस्म-रिवाजों के, धर्म ग्रन्थों के, मनुष्यों के एक समुदाय-विशेष के, कुछ निश्चित सिद्धान्तों के और नीति-नियमों, श्रद्धा, भक्ति, भय, घृणा, दया, बलिदान, तपस्या, उपवास, भोज, प्रार्थना, पुराने इतिहास, शादी, ग़मी, परलोक, दंगों और सिर-फुटौवल, इत्यादि अनेक बातों के विचार और भाव शामिल हैं। इन असंख्य प्रकार की कल्पनाओं और अर्थों के कारण दिमाग़ में ज़बरदस्त गड़बड़ी तो पैदा हो ही जायगी, लेकिन हमेशा एक तेज़ भावुकता भी उमड़ पड़ेगी, जिससे अलिप्त और अनासक्त रूप से विचार करना नामुमकिन हो जायगा। जब 'धर्म' शब्द का ठीक और निश्चित अर्थ (अगर कभी था तो) बिलकुल नहीं रहा है, और अक्सर बिलकुल ही भिन्न-भिन्न अर्थों में उसका प्रयोग होता है तब तो वह सिर्फ़ गड़बड़ी ही उत्पन्न करता है और उससे वाद-विवाद और तर्क का कभी अन्त ही नहीं हो सकता। बहुत ज़्यादा अच्छा यह हो कि इस शब्द का प्रयोग ही बिलकुल बन्द कर दिया जाय, और उसके स्थान पर ज़्यादा सीमित अर्थवाले शब्द इस्तेमाल किये जायँ; जैसे ईश्वर-विज्ञान, दर्शन-विज्ञान, आचार-

[1] यह पत्र राईन-होल्ड नाईबर की लिखी हुई पुस्तक 'मॉरल मैन एण्ड इम्मॉरल सोसाइटी' (पृष्ठ ७८) में उद्धृत हुआ है। यह किताब बड़ी ही रोचक और विचार-प्रेरक है।

शास्त्र, नीति-शास्त्र, आत्म-वाद, आध्यात्मिक-शास्त्र, कर्तव्य, लोकाचार वग़ैरा। यों तो ये शब्द भी काफ़ी अस्पष्ट हैं, लेकिन ये 'धर्म' की अपेक्षा बहुत परिमित अर्थ रखते हैं। इससे बड़ा लाभ होगा, क्योंकि अभीतक इन शब्दों के साथ उतनी भावुकता नहीं जुड़ पायी है जितनी कि 'धर्म' के साथ जुड़ चुकी है।

तो, 'धर्म' (इस शब्द से स्पष्ट हानि होने पर भी इसी का प्रयोग कर रहा हूँ) चीज़ क्या है? शायद वह है व्यक्ति की आन्तरिक उन्नति, एक ख़ास दिशा में, जो अच्छी समझी जाती है, उसकी चेतना का विकास। वह दिशा कौन-सी होनी चाहिए यह भी एक बहस की बात ही होगी। लेकिन जहाँतक मैं समझता हूँ, धर्म इसी भीतरी परिवर्तन पर ज़ोर देता है, और बाहरी परिवर्तन को इस भीतरी विकास का ही एक अंग या रूपमात्र मानता है। इसमें शक नहीं हो सकता कि इस आन्तरिक उन्नति का बाहरी हालत पर बड़ा ज़बरदस्त असर पड़ता है। मगर, इसके साथ ही यह भी साफ़ है कि बाहरी हालत का आन्तरिक प्रगति पर भी भारी असर पड़ता है। दोनों का एक-दूसरे पर प्रभाव पड़ता है और प्रतिक्रिया भी होती रहती है। यह सब जानते हैं कि पश्चिम के आधुनिक औद्योगिक देशों में आन्तरिक विकास की अपेक्षा बाहरी विकास बहुत ज़्यादा हुआ है; लेकिन इससे यह नतीजा नहीं निकलता, जैसा कि पूर्वीय देशों के कई लोग शायद समझते हैं, कि चूँकि हम कल-कारख़ानों के उद्योग में पीछे हैं और हमारा बाहरी विकास धीमा रहा है, इसलिए हमारा आन्तरिक विकास उनसे ज़्यादा हो गया है। यह एक भ्रम है, जिससे हम अपने को तसल्ली दे लेते हैं, और अपनी हीनता की भावना को दबाने की कोशिश करते हैं। यह हो सकता है कि कुछ व्यक्ति अपनी परिस्थितियों और हालतों से ऊपर उठ सकें, और ऊँचे आन्तरिक विकास पर पहुँच सकें। लेकिन बड़े-बड़े दलों और राष्ट्रों के लिए तो, आन्तरिक विकास हो सकने से पहले किसी अंश तक बाहरी विकास का होना आवश्यक है। जो आदमी आर्थिक परिस्थितियों का शिकार है, और जो जीवन-संघर्ष के बन्धनों और बाधाओं से घिरा हुआ है, वह शायद ही किसी ऊँची कोटि की आत्म-चेतना प्राप्त कर सके। जो वर्ग पद-दलित और शोषित होता है, वह आन्तरिक रूप से कभी प्रगति नहीं कर सकता। जो राष्ट्र राजनैतिक और आर्थिक रूप से पराधीन है और बन्धनों में पड़ा परिस्थितियों से मजबूर और शोषित हो रहा है, वह कभी आन्तरिक उन्नति में सफल नहीं हो सकता। इस तरह आन्तरिक उन्नति के लिए भी बाहरी आज़ादी और अनुकूल परिस्थिति की ज़रूरत होती है। इस बाहरी आज़ादी को पाने, और परिस्थिति ऐसी बनाने के लिए, कि जिससे आन्तरिक प्रगति की सब रुकावटें दूर हो जायँ, यह आवश्यक है कि साधन ऐसे मिलें जिनसे असली उद्देश्य ही न मिट जाय। मैं समझता हूँ कि जब गांधीजी कहते हैं कि उद्देश्य से साधन ज़्यादा महत्त्वपूर्ण हैं, तो उनका भाव कुछ ऐसा ही जान पड़ता है। मगर साधन ऐसे ज़रूर होने चाहिए जो उस उद्देश्य

तक पहुँचा दें, नहीं तो सारा प्रयत्न व्यर्थ होगा, और उसके फलस्वरूप शायद, भीतरी और बाहरी दोनों दृष्टि से, और अधिक पतन हो जाय।

गांधीजी ने कहीं लिखा है—"कोई भी आदमी धर्म के बिना जीवित नहीं रह सकता। कुछ ऐसे लोग हैं जो अपनी बुद्धि के घमंड में कहते कि हमें धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। मगर यह ऐसी बात हुई कि कोई आदमी साँस तो लेता हो लेकिन कहता हो कि मेरे नाक नहीं है।" एक दूसरी जगह कहते हैं—"सत्य के प्रति मेरी तपस्या ने मुझे राजनीति के मैदान में ला खींचा है। और मैं बिना किसी हिचकिचाहट के, लेकिन पूरी नम्रता के साथ, कह सकता हूँ, कि वे लोग जो यह कहते हैं कि 'धर्म' का राजनीति से कोई नाता नहीं है, यह समझते ही नहीं कि 'धर्म' का क्या अर्थ है।" यदि वह यों कहते कि वे लोग जो जीवन और राजनीति में से 'धर्म' को निकाल डालना चाहते हैं, 'धर्म' शब्द का मेरे आशय से बहुत भिन्न कोई दूसरा ही आशय समझते हैं, तो शायद यह अधिक सही होता। यह स्पष्ट है कि गांधीजी 'धर्म' शब्द को उसके भाष्यकारों से भिन्न अर्थ में, शायद और किसी अर्थ की अपेक्षा नैतिक अर्थ में अधिक ले रहे हैं। एक ही शब्द को भिन्न-भिन्न अर्थों में इस तरह प्रयोग करने से एक-दूसरे को समझना और भी मुश्किल हो जाता है।

धर्म की एक बहुत ही आधुनिक परिभाषा, जिससे कि धर्मभीरु व्यक्ति सहमत न होंगे, प्रोफ़ेसर जॉन डेवी ने की है। उनकी राय में धर्म "वह चीज़ है जो लोक-जीवन के खण्ड-खण्ड और परिवर्तनशील दृश्यों को समझने की शुद्धदृष्टि देता है"; या फिर "जो प्रवृत्ति व्यक्तिगत हानि होने की आशंका होने पर भी, और बाधाओं के विरोध में भी, किसी आदर्श लक्ष्य को पाने के लिए जारी रक्खी जाती है, और जिसके पीछे यह विश्वास हो कि वह सामान्य और स्थायी उपयोगितावाली है वही स्वरूप में धार्मिक है।" अगर धर्म यही चीज़ है, तब तो निश्चय ही उसपर किसी को भी कुछ एतराज़ नहीं हो सकता।

रोमाँ रोलाँ ने भी धर्म का ऐसा अर्थ निकाला है जिससे शायद संगठित मज़हब के कट्टर लोग भयभीत हो जायँगे। अपने 'रामकृष्ण परमहंस' के जीवन-चरित्र में वह लिखते हैं—

"....बहुत-से व्यक्ति ऐसे हैं जो सभी तरह के धार्मिक विश्वासों से दूर हैं, या उनका ख़याल है कि वे दूर हैं, लेकिन वास्तव में उनमें एक अति-बौद्धिक चेतना व्याप्त रहती है, जिसे वे समाजवाद, साम्यवाद, मानवहितवाद, राष्ट्रवाद या बुद्धिवाद भी कहते हैं। विचार का लक्ष्य क्या है, इसकी अपेक्षा विचार किस कोटि का है, यह देखकर हम निर्णय कर सकते हैं कि वह धर्म-प्रसू है या नहीं। अगर वह विचार हर तरह की कठिनाई सहकर एकनिष्ठ लगन और हर तरह के बलिदान की तैयारी के साथ, सत्य की खोज की तरफ़ निर्भयता-पूर्वक ले जाता है, तो मैं उसे धर्म ही कहूँगा। क्योंकि धर्म के अन्दर यह विश्वास

शामिल है कि मानवीय पुरुषार्थ का ध्येय मौजूदा समाज के जीवन से ऊँचा, बल्कि सारे मानव-समाज के जीवन से भी ऊँचा है। नास्तिकता भी, जब वह सर्वांशतः सच्ची बलवती प्रकृतियों से निकलती है, और जब वह निर्बलता की नहीं बल्कि शक्ति की एक मूर्तरूप होती है, तो वह भी धार्मिक आत्मा की महान् सेना के प्रयाण में शामिल हो जाती है।"

मैं नहीं कह सकता कि मैं रोमाँ रोलाँ की इन शर्तों को पूरा करता ही हूँ, लेकिन इन शर्तों पर तो इस महान् सेना का एक तुच्छ सैनिक बनने को मैं तैयार हूँ।

४८

ब्रिटिश सरकार की 'दो-रुखी' नीति

यरवडा-जेल से, और बाद में बाहर से, गांधीजी के नेतृत्व में हरिजन-आन्दोलन चल रहा था। मन्दिर-प्रवेश का प्रतिबन्ध दूर करने के लिए बड़ा भारी आन्दोलन खड़ा हो गया था, और इसी उद्देश्य का एक बिल असेम्बली (बड़ी धारा-सभा) में भी पेश किया गया था। और फिर एक अनोखा दृश्य दिखायी दिया कि कांग्रेस के एक बड़े नेता दिल्ली में असेम्बली के मेम्बरों के घर-घर जाकर मन्दिर-प्रवेश बिल के पक्ष में मत दिलाने का प्रयत्न कर रहे थे। खुद गांधीजी ने भी उनके द्वारा असेम्बली के मेम्बरों के नाम एक अपील भेजी थी। फिर भी सविनय-भंग तो चल ही रहा था और लोग जेल जा रहे थे। कांग्रेस ने असेम्बली का बहिष्कार कर रक्खा था और हमारे मेम्बर उसमें से निकलकर चले आये थे। जो मेम्बर वहाँ बच गये थे, उन्होंने और उन लोगों ने जो खाली हुई जगहों में आ गये थे, इस संकट-काल में कांग्रेस का विरोध करके और सरकार का साथ देकर नाम कमा लिया था। आर्डिनेन्सों की असाधारण धाराओं को कुछ काल के लिए स्थायी दमनकारी क़ानून के रूप में पास कर देने में इन लोगों के बहुमत ने सरकार को मदद दी थी। उन्होंने ओटावा का समझौता पचा लिया था; और दिल्ली, शिमला और लन्दन में महाप्रभुओं के साथ दावतें उड़ायी थीं। वे हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ों की हुकूमत की प्रशंसा करने में शामिल हो गये थे, और हिन्दुस्तान में 'दो-रुखी' नीति की विजय की उन्होंने प्रार्थना की थी।

उस समय की परिस्थिति में गांधीजी के अपील निकालने पर मैं अचम्भे में पड़ गया। और इससे भी ज़्यादा मैं राजगोपालाचार्य की भारी कोशिशों से चकित हुआ, जो कि कुछ ही हफ़्ते पहले कांग्रेस के स्थानापन्न प्रेसीडेण्ट थे। निश्चय ही इन कामों से सविनय-भंग को धक्का पहुँचा, लेकिन मुझे तो नैतिक दृष्टि से ज़्यादा चोट पहुँची। मेरी निगाह में गांधीजी या किसी भी कांग्रेस के नेता का ऐसी कार्रवाई करना अनैतिक था, और जो बहुत-से लोग जेल में थे या

बढ़ाई चला रहे थे, उनके साथ क़रीब-क़रीब विश्वासघात ही था। लेकिन मैं जानता था कि उनका दृष्टिकोण दूसरा है।

उस समय और बाद में मन्दिर-प्रवेश-बिल के साथ सरकार का रुख आँखें खोल देनेवाला था। उसने उसके समर्थकों के रास्ते में हर तरह की कठिनाइयाँ डालीं। वह उसको स्थगित करती चली गयी, और उसके विरोधियों को प्रोत्साहन देती गयी, और अख़ीर में उसपर अपना विरोध ज़ाहिर करके उसका ख़ात्मा कर दिया। हिन्दुस्तान में सामाजिक सुधार के सभी प्रयत्नों की तरफ़ किसी-न-किसी अंश में उसका यही रुख रहा है, और धर्म में हस्तक्षेप न करने के बहाने उसने सामाजिक उन्नति को रोका है। मगर यह कहने की ज़रूरत नहीं कि इससे वह हमारी सामाजिक बुराइयों की नुक़्ताचीनी करने या इसके लिए दूसरों को बढ़ावा देने से बाज़ नहीं आयी। एक इत्तफ़ाक़ से शारदा-बाल-विवाह-विरोधक बिल क़ानून बन गया था, लेकिन इस अभागे क़ानून के बाद के इतिहास से ही सबसे ज़्यादा यह मालूम हो गया कि इस तरह के क़ानूनों की पाबन्दी कराने में सरकार कितनी अनिच्छा रखती है। जो सरकार रातों-रात आर्डिनेंस पैदा कर सकती थी, जिनमें अजीब-अजीब अपराध ईजाद किये गये थे और एक के क़ुसूरों के लिए दूसरों को सजाएँ दी जा सकती थीं और उन आर्डिनेंसों को भंग करने के कारण वह हज़ारों लोगों को जेल भेज सकती थी, वही सरकार 'शारदा-ऐक्ट' सरीखे अपने क़ायदे के क़ानून की पाबन्दी कराने से स्पष्टतः दुबकने लगी। इस क़ानून का नतीजा पहले तो यह हुआ कि वह जिस बुराई की रोक के लिए बनाया गया था वही बुराई बेहद बढ़ गयी, क्योंकि लोगों ने छः महीने की मिली हुई मोहलत से, जो कि क़ानून में बहुत ही बेवक़ूफ़ी से रख दी गयी थी, फ़ायदा उठाने की एक-दम जल्दी की। और फिर तो यह मालूम हो गया कि क़ानून तो बहुत कुछ एक मज़ाक़ ही है और आसानी से उसका भंग हो सकता है और सरकार उसमें कोई भी कार्रवाई न करेगी। सरकार की तरफ़ से उसके प्रचार की ज़रा भी कोशिश नहीं की गयी, और देहात के ज़्यादातर लोगों को यह भी पता न लगा कि यह क़ानून क्या है? उन्होंने हिन्दू और मुसलमान प्रचारकों से, जो ख़ुद भी हक़ीक़त शायद ही जानते हों, उसका तोड़ा-मरोड़ा हुआ हाल सुना।

स्पष्ट है कि हिन्दुस्तान में सामाजिक बुराइयों के प्रति सहिष्णुता की जो यह असाधारण प्रवृत्ति ब्रिटिश सरकार ने दिखायी है, वह उन बुराइयों के लिए किसी पक्षपात के कारण नहीं है। यह तो सही है कि वह बुराइयों को दूर करने की ज़्यादा चिन्ता नहीं करती, क्योंकि ये बुराइयां उसके हिंदुस्तान पर हुकूमत करने और सब तरह शोषण करने के कार्य में रुकावट नहीं डालतीं। लेकिन सुधारों की योजना करने से भिन्न-भिन्न समुदाय के नाराज़ हो जाने का भी डर रहता है, और राजनैतिक क्षेत्र में काफी रोष और क्रोध का सामना होते रहने के कारण ब्रिटिश सरकार की यह इच्छा नहीं है कि वह अपनी मुसीबतों को और

बढ़ा है। मगर इधर समाज-सुधारकों की दृष्टि से स्थिति और भी ख़राब होती जा रही है, क्योंकि अंग्रेज़ लोग इन बुराइयों के अधिक-से-अधिक मौन आश्रयदाता होते जा रहे हैं। यह उनके हिन्दुस्तान के सबसे प्रतिगामी लोगों के गहरे सम्बन्ध में आने के कारण हो रहा है। ज्यों-ज्यों उनकी हुकूमत के प्रति विरोध बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उन्हें अजीब-अजीब साथी ढूँढ़ने पड़ते हैं। आज हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी शासन के सबसे ज़बरदस्त हिमायती उग्र सम्प्रदायवादी और मज़हबी-प्रतिगामी और जागृति-विरोधी लोग हैं। मुस्लिम साम्प्रदायिक संगठन तो राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, हर दृष्टि से प्रतिगामी मशहूर ही है। उसकी बराबरी हिन्दू-महासभा करती है; लेकिन इस पीछे की तरफ़ दौड़ लगाने में हिन्दू-महासभा को मात करनेवाले सनातनी हैं, जिनमें बहुत तेज़ मज़हबी दकियानूसीपन है, और इसके साथ-ही-साथ तीव्र हुई या कम-से-कम बुलन्द आवाज़ से प्रकट की जानेवाली ब्रिटिश-राजभक्ति भी है।

अगर ब्रिटिश सरकार बैठी रही, और उसने शारदा क़ानून को लोक-प्रिय करने और उसकी पाबन्दी कराने की कोई कार्रवाई नहीं की, तो कांग्रेस या दूसरी ग़ैर-सरकारी संस्थाओं ने उसके पक्ष में प्रचार क्यों नहीं किया? अंग्रेज़ और दूसरे विदेशी समालोचकों ने बार-बार यह सवाल किया है। जहाँतक कांग्रेस का सम्बन्ध है, वह तो पिछले पन्द्रह साल से, खासकर १९३० से, ब्रिटिश हुकूमत से राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए जीवन मरण की भीषण लड़ाई लड़ रही है। दूसरी संस्थाओं में असली ताकत या जनता तक पहुँच नहीं है। आदर्श चरित्रबल और जनता पर असर रखनेवाले स्त्री-पुरुष तो कांग्रेस में खिंच आये थे, और ब्रिटिश जेलखानों में जीवन बिता रहे थे।

दूसरी संस्थाएँ कुछ चुने हुए लोगों द्वारा, जो जनता के सम्पर्क से डरते थे, प्रस्ताव पास कर देने से आगे प्रायः बढ़ीं नहीं। वे शरीफ़ाना तरीक़े से, या अखिल-भारतीय महिला-संघ की तरह ज़नाने तरीक़े से ही, काम करती थीं, और उनमें उग्र प्रचार की वृत्ति नहीं थी। इसके अलावा, वे भी आर्डिनेंसों और उनके बाद के क़ानूनों-द्वारा सब तरह की सार्वजनिक प्रवृत्तियों के भयंकर दमन के कारण निष्प्राण होकर कुछ भी नहीं कर सकती थीं। फ़ौजी क़ानून क्रान्तिकारी प्रवृत्ति को कुचल सकता है, लेकिन उसके साथ ही वह सहृदयता को और अत्यन्त सभ्य प्रवृत्तियों को भी निर्जीव-सा कर देता है।

मगर कांग्रेस और दूसरे ग़ैर-सरकारी संगठन क्यों ज़्यादा समाजिक सुधार नहीं कर सकते, इसका मूल कारण और भी गहरा है। हमारे अन्दर राष्ट्रीयता की बीमारी हो गयी है, और उसीमें हमारा सारा ध्यान लग जाता है, और जब तक हमें राजनैतिक आज़ादी न मिलेगी तबतक वह उसी में लगता भी रहेगा। जैसा कि बर्नार्ड शॉ ने कहा है—''पराजित राष्ट्र नासूर के रोगी की तरह होता है; वह और किसी बात का ख़याल नहीं कर सकता....। वास्तव में किसी भी राष्ट्र

में राष्ट्रीय आन्दोलन से बढ़कर कोई अभिशाप नहीं होता, जोकि स्वाभाविक प्रवृत्ति के दमन का एक दुःखदायी लक्षण मात्र होता है। पराजित राष्ट्र दुनिया की दौड़ में पीछे रह जाते हैं, क्योंकि वे इसके सिवा और कुछ नहीं कर सकते कि अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को प्राप्त करके अपने राष्ट्रीय आन्दोलनों से छुटकारा पाने की कोशिश करें।''

पिछला अनुभव हमें बताता है कि चुने हुए मिनिस्टरों के हाथ में ज़ाहिरा तौर पर कुछ महकमों के दे दिये जाने पर भी वर्तमान परिस्थिति में प्रायः हम कुछ भी सामाजिक प्रगति नहीं कर सकते। सरकार की ज़बरदस्त अकर्मण्यता रूढ़ि-प्रेमियों के लिए हमेशा मददगार होती है, और पिछली पीढ़ियों से ब्रिटिश सरकार ने लोगों के नये काम शुरू करने की शक्ति को कुचल दिया है, और वह सर्वाधिकारी की तरह, या जैसा कि वह अपने-आप कहती है, माँ-बाप की तरह हुकूमत करती है। ग़ैर-सरकारी व्यक्तियों द्वारा किसी भी बड़े व्यवस्थित काम का किया जाना वह पसन्द नहीं करती, और उसमें छिपे इरादों का शक करती है। हरिजन-आन्दोलन के संगठनकर्त्ता, यद्यपि उन्होंने हर तरह सावधानी से काम लिया है, समय-समय पर सरकारी कर्मचारियों के संघर्ष में आ ही गये हैं। मुझे तो यक़ीन है कि अगर कांग्रेस साबुन ज़्यादा इस्तेमाल करने का भी राष्ट्र-व्यापी आन्दोलन उठाये, तो वह भी कई जगहों पर सरकार के संघर्ष में आ जायगा।

मेरी समझ में अगर सरकार सामाजिक सुधार के प्रश्न को हाथ में ले ले, तो जनता के मत को उसके मुआफ़िक़ बना लेना मुश्किल नहीं है। मगर विदेशी हाकिमों पर हमेशा ही शक किया जाता है, और दूसरों को अपनी राय का बनाने में वे ज़्यादा सफल नहीं हो सकते। अगर विदेशी तत्त्व दूर कर दिया जाय, और आर्थिक परिवर्तन पहले कर दिये जायँ, तो एक उत्साही और क्रियाशील शासन आसानी से बड़े-बड़े सामाजिक सुधार जारी कर सकता है।

लेकिन जेल में हमारे दिमाग़ों में सामाजिक सुधार और शारदा-क़ानून और हरिजन-आन्दोलन के विचार नहीं भरे हुए थे, सिवा इसी हद तक कि मैं हरिजन-आन्दोलन के सविनय-भंग के रास्ते में आ जाने के कारण उससे कुछ चिढ़ गया था। मई १९३३ के शुरू में सविनय भंग छः हफ़्तों के लिए स्थगित कर दिया गया था और आगे क्या होता है यह देखने की उत्सुकता में हम थे। इसके स्थगित होने से तो आन्दोलन पर आख़िरी प्रहार ही हो गया, क्योंकि राष्ट्रीय लड़ाई के साथ आँख-मिचौनी का खेल नहीं खेला जा सकता, न वह जब मन आवे तब चालू और जब मन आवे तब बन्द ही की जा सकती है। स्थगित होने से पहले भी आन्दोलन के नेतृत्व में बहुत ही कमज़ोरी और प्रभाव-हीनता आ गयी थी। कई छोटी-छोटी कान्फ्रेंसें हो रही थीं, और तरह-तरह की अफ़वाहें फैल रही थीं, जिनसे सक्रिय कार्य होने में रुकावट पड़ती थी। कांग्रेस के कई स्थानापन्न प्रेसीडेंट बड़े सम्मानित लोग थे, लेकिन उनको सक्रिय लड़ाई के सेनापति बनाना उनके साथ ज़्यादती करना

उनके लिए बार-बार इस बात का इशारा किया जाता था कि वे थक गये और इस कठिन स्थिति से निकलना चाहते हैं। इस अस्थिरता और अनिश्चय में कांग्रेस के ऊँचे हलक़ों में कुछ असन्तोष था, लेकिन उसको संगठित रूप से ज़ाहिर नहीं किया जा सकता था, क्योंकि सभी कांग्रेसी संस्थाएं ग़ैर-क़ानूनी थीं।

इसके बाद गांधीजी का इक्कीस दिन का उपवास करना, उनका जेल से छूटना, और छः हफ़्ते तक सविनय-भंग का रोक लेना, यह सब हुआ। उपवास समाप्त हो गया, और बहुत धीरे-धीरे वह फिर अच्छे हुए। जून के मध्य में सविनय-भंग के स्थगित होने की अवधि छः हफ़्ते के लिए और बढ़ा दी गयी। इस बीच सरकार ने अपना दमन कुछ भी कम न किया। अण्डमान के टापुओंमें राजनैतिक क़ैदी (बंगाल में जिन्हें क्रान्तिकारी हिंसा के लिए सज़ा दी गयी, वे वहाँ भेजे गये थे) जेल-बर्ताव के प्रश्न पर भूख-हड़ताल कर रहेथे, और उनमेंसे एक या दो तो भूखे रह-रहकर मर भी गये थे। कई मृत्युशय्या पर थे। हिन्दुस्तान में जिन लोगों ने, अण्डमान में जो कुछ हो रहा था उसके विरुद्ध सभाओं में भाषण दिये थे, वे भी खुद गिरफ़्तार कर लिये गये और उन्हें सज़ाएँ दे दी गईं। हम (क़ैदी) केवल कठिनाइयाँ ही नहीं सहें, लेकिन हम शिकायत भी न करें, चाहे हम भूख-हड़ताल को छोड़कर विरोध बतलाने का दूसरा उपाय न मिलने पर भूख की भयंकर अग्नि-परीक्षा में मर भी जायँ! कुछ महीने बाद, सितम्बर १९३३ में (जबकि मैं जेल से बाहर था), एक अपील निकली थी, जिसमें अण्डमान के क़ैदियों के साथ ज़्यादा मनुष्योचित बर्ताव करने और उनको हिन्दुस्तान की जेलों में बदल दिये जाने की प्रार्थना की गई थी, और जिसमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सी० एफ़० एण्डरूज़ और दूसरे कई मशहूर लोगों के भी दस्तख़त थे, जिनमें अधिकांश कांग्रेस से कुछ भी सम्बन्ध न रखनेवाले लोग ही थे। इस वक्तव्य पर भारत-सरकार के होम मेम्बर ने बड़ी नाराज़गी ज़ाहिर की, और क़ैदियों के साथ सहानुभूति बतलाने के लिए उसपर दस्तख़त करनेवालों की बड़ी कड़ी समालोचना की। बाद में, जहाँ तक मुझे याद आता है, बंगाल में ऐसी हमदर्दी ज़ाहिर करना भी एक जुर्म क़रार दे दिया गया।

सविनय-भंग छः हफ़्ते स्थगित करने की दूसरी अवधि पूरी होने से पहले देहरादून-जेल में, हमें ख़बर मिली कि गांधीजी ने पूना में एक अनियमित कान्फ्रेंस बुलाई है। वहाँ दो-तीन सौ व्यक्ति इकट्ठा हुए, और गांधीजी की सलाह से सामूहिक सविनय-भंग बिलकुल स्थगित कर दिया गया, किन्तु व्यक्तिगत सविनय-भंग की छूट दी गयी, और सब तरह की गुप्त प्रवृत्तियाँ बन्द कर दी गयीं। ये निश्चय कोई बहुत स्फूर्तिदायक नहीं थे, लेकिन इनके स्वरूप को देखते हुए मुझे इनपर ख़ास एतराज़ नहीं हुआ। सामूहिक सविनय-भंग को बन्द करना तो मौजूदा हालत को स्वीकार कर लेना और स्थिर कर देना ही था, क्योंकि वास्तव में उन दिनों सामूहिक सविनय-भंग था ही नहीं। और, गुप्त काम भी इस बात का एक

बहाना-मात्र था कि हम अपना काम जारी रख रहे हैं, और अक्सर उससे आन्दोलन के रूप को देखते हुए साहस-हीनता भी पैदा होती थी। किसी हद तो, हिदायतें भेजने और सम्पर्क बनाये रखने के लिए वह जरूरी भी था, लेकिन खुद सविनय-भंग तो गुप्त कैसे रक्खा जा सकता था।

मुझे जिस बात से अचरज और दुःख हुआ, वह यह थी कि पूना में मौजूदा परिस्थिति और हमारे लक्ष्य के बारे में कोई असली चर्चा नहीं हुई। कांग्रेसवाले क़रीब दो साल की भीषण लड़ाई और दमन के बाद एक जगह इकट्ठे हुए थे, और इस बीच सारी दुनिया में और हिन्दुस्तान में बहुत-सी घटनाएँ हुई थीं, जिनमें श्वेत पत्र ('व्हाइट पेपर') का प्रकाशित होना भी शामिल था, जिसमें ब्रिटिश सरकार की वैधानिक सुधार-सम्बन्धी योजना थी। इस अर्से में हमें तो मजबूरन चुप रहना पड़ा था और दूसरी तरफ़ असली सवालों को छिपाने के लिए लगातार झूठा प्रचार होता रहा था। न सिर्फ़ सरकार के हिमायतियों ने ही, बल्कि लिबरलों और दूसरे लोगों ने भी, कई बार यह कहा था कि कांग्रेस ने अपना स्वाधीनता का लक्ष्य छोड़ दिया है। मेरी समझ में हमें कम-से-कम इतना तो करना ही चाहिये था कि हम अपने राजनैतिक ध्येय पर ज़ोर देते, उसे फिर स्पष्ट कर देते, और अगर हो सकता तो उसके साथ सामाजिक और आर्थिक लक्ष्य भी जोड़ देते। इसके बदले बहस शायद सिर्फ़ इसी बात पर होती रही कि सामूहिक सविनय-भंग अच्छा है या व्यक्तिगत, गुप्तता रखना ठीक है या नहीं। सरकार से 'सुलह' करने की भी कुछ विचित्र चर्चा हुई थी। जहाँतक मुझे याद है, गांधीजी ने वाइसराय से मुलाक़ात करने के लिए एक तार भेजा, जिसके जवाब में वाइसराय की तरफ़ से 'नहीं' आया, और फिर गांधीजी ने एक दूसरा तार भेजा जिसमें 'सम्मान-युक्त सुलह' की कोई बात कही गयी थी। लेकिन जिस मायाविनी सुलह को लोग चाहते थे वह थी कहाँ, जबकि सरकार राष्ट्र को कुचलने में विजयिनी हो रही थी और अण्डमान में लोग भूखे रहकर अपनी जानें दे रहे थे? लेकिन मैं जानता था, कि नतीजा कुछ भी हो, गांधीजी का यह तरीक़ा रहा है कि वह हमेशा अपनी ओर से समझाते का पूरा मौक़ा देते हैं।

दमन पूरे ज़ोरों पर चल रहा था, और सार्वजनिक वृत्तियों को दबानेवाले सारे विशेष क़ानून लागू थे। फरवरी १९३३ में मेरे पिताजी की सालाना यादगार में की जानेवाली एक सभा पुलिस ने रोक दी, हालाँकि वह ग़ैर-कांग्रेसी मीटिंग थी और उसका सभापतित्व करनेवाले थे सर तेजबहादुर सप्रू जैसे सुप्रसिद्ध मॉडरेट। और मानों भविष्य में मिलनेवाले उपहारों की झाँकी हमें श्वेत-पत्र में दी जा रही थी।

यह एक अनोखा 'पत्र' था, जिसको पढ़कर चकित रह जाना पड़ता था। इसके अनुसार हिन्दुस्तान एक बड़ी-चढ़ी हिन्दुस्तानी रियासत बना दी जायगी, और 'संघ' में देशी-राज्यों के प्रतिनिधियों का ही ज़्यादा बोलबाला रहेगा, लेकिन

यासतों में कोई भी बाहरी हस्तक्षेप बरदाश्त न किया जायगा, और पूरी से एकतन्त्री सत्ता वहाँ जारी रहेगी। साम्राज्य की असली कड़ियाँ, कर्ज़ें ज़ंजीरें, हमें हमेशा लन्दन शहर के साथ बाँधे रहेंगी और एक रिज़र्व बैंक के करेंसी मुद्रा सम्बन्धी एवं आर्थिक नीति भी बैंक आफ़ इंग्लैण्ड के नियन्त्रण में रहेगी। स्थापित स्वार्थों की रक्षा के लिए अटूट दीवारें खड़ी हो जायेंगी, और भी नये स्थापित स्वार्थों की सृष्टि हो जायगी। इन स्थापित स्वार्थों के लाभ के लिए हमारी सारी राष्ट्रीय आय पूरी तरह से रेहन रक्खी जायगी। हमें स्व-शासन की अगली किस्तों के योग्य बनाने के लिए साम्राज्य के ऊँचे पदों पर जिनको हम इतना चाहते हैं, हमारा कोई नियन्त्रण न रहेगा. उन्हें हम छू भी न सकेंगे। प्रान्तीय स्वाधीनता तो मिलेगी, लेकिन गवर्नर हमको व्यवस्था में रखनेवाला एक दयालु और सर्व-शक्तिमान डिक्टेटर रहेगा। और सबसे ऊपर रहेगा सबसे बड़ा डिक्टेटर वाइसराय, जिसे जो मन में आवे सो करने और जिस बात को चाहे उसे रोकने की पूरी-पूरी सत्ता होगी। सच है, उपनिवेशों की हुकूमत के लिए अंग्रेज़ शासक-वर्ग ने इतनी प्रतिभा का परिचय कभी नहीं दिया था। अब तो हिटलर और मुसोलिनी जैसे लोग उनकी भी खूब तारीफ़ कर सकते हैं, और हिन्दुस्तान के वाइसराय को भी हसरत की निगाह से देख सकते हैं।

ऐसा विधान उपजाकर भी, जिसमें हिन्दुस्तान के हाथ पाँव अच्छी तरह से बाँध दिये गये थे, उसमें 'खास ज़िम्मेदारियाँ' और 'संरक्षण' के रूप में कुछ और ज़ंजीरें बाँध दी गयी थीं, जिससे यह अभागा राष्ट्र एक ऐसा क़ैदी हो गया जो ज़रा भी हिल-डुल न सके। जैसा कि श्री० नेवाईल चेम्बरलेन ने कहा था, "उन्होंने सारी ताक़त लगाकर योजना में ऐसे सब 'संरक्षण' रख दिये थे जिनकी कल्पना मनुष्य के दिमाग़ में आ सकती थी।"

इसके बाद, हमें यह भी बतलाया गया कि इन उपहारों के लिए हमें भारी ख़र्चा देना पड़ेगा—शुरू में एकदम कुछ करोड़ और फिर सालाना कुछ रक़म। हमें स्वराज्य का तोहफ़ा काफ़ी रक़म दिये बिना कैसे मिल सकता था? हम तो इस धोखे में ही पड़े हुए थे कि हिन्दुस्तान एक दरिद्र देश है और अब भी उसपर बहुत भारी बोझा रक्खा हुआ है, और इसे कम करने के लिए ही हम आज़ादी की तलाश में थे। आज़ादी के लिए जनता इसी प्रेरणा से तैयार हुई थी। लेकिन अब मालूम हुआ कि वह बोझा तो और भी भारी होने को है।

हिन्दुस्तानी समस्या का यह अण्टशण्ट हल हमें सच्ची अंग्रेज़ों-जैसी शालीनता के साथ दिया गया, और हमसे कहा गया कि हमारे शासक कितने उदार-हृदय हैं। किसी भी साम्राज्यवादी हुकूमत ने इससे पहले अपनी प्रजा के लिए अपनी खुशी से ऐसे अधिकार और अवसर नहीं दिये हैं। और इंग्लैण्ड में इसके देनेवालों में और इसपर आपत्ति उठानेवालों में जो इस भारी उदारता से डर रहे थे, बड़ा

भारी वादविवाद हुआ। तीन साल तक हिन्दुस्तान और इंग्लैण्ड के बीच बहुत लोगों के आने और जाने का, तीन गोलमेज़-कान्फ्रेंसों का, और अनगिनत कमिटियों और मशविरों का यह नतीजा हुआ !

मगर, इंग्लैण्ड की यात्राएँ तो अब भी ख़त्म नहीं हुई थीं। ब्रिटिश पार्लमेण्ट की ज्वाइण्ट सिलेक्ट कमिटी श्वेतपत्र पर फ़ैसला देने के लिए बैठी हुई थी, और हिन्दुस्तानी उसमें असेसर या गवाह बनकर गये। लन्दन में और भी कई तरह की कमिटियाँ बैठ रही थीं, और इन कमिटियों की मेम्बरी, जिसका अर्थ था इंग्लैण्ड जाने और साम्राज्य के हृदय (लन्दन) में ठहरने का मुफ़्त ख़र्चा, जिसके लिए भीतर-ही भीतर बड़ी भद्दी छीना-झपटी हुई थी। बड़े-बड़े पराक्रमी लोगों ने, जिनके हौसले श्वेतपत्र की निराशापूर्ण तजवीज़ों से भी ठण्डे नहीं पड़े थे, अपनी सारी वक्तृत्व-कला और लोगों को लुभा लेने की शक्ति से श्वेतपत्र की तजवीज़ों को बदलवाने की कोशिश करने के लिए, समुद्र-यात्रा या आकाश-यात्रा के संकटों को और लन्दन शहर में ठहरने के और भी ज़्यादा जोखिमों को सहने के लिए कमर कस ली। वे जानते थे कि प्रयत्न में कुछ दम तो दिखायी नहीं देता, लेकिन वे हिम्मत हारनेवाले नहीं थे, और चाहे हमारी कोई न सुने तो भी हम अपनी बात तो बराबर कहते ही रहेंगे इसमें विश्वास करनेवाले थे। उनमें से एक व्यक्ति, जो कि प्रति-सहयोगियों के एक नेता थे, सबके चले आने पर भी ठेठ अन्त तक टिके ही रहे और शायद यह असर डालने के लिए कि वह क्या-क्या राजनैतिक परिवर्तन चाहते हैं, वह लन्दन के सत्ताधीशों से मुलाक़ात-पर-मुलाक़ात करते रहे, और उनके साथ दावत-पर-दावत उड़ाते रहे। और आख़िरकार जब वह अपने देश में लौटे तब प्रतीक्षा करनेवाले लोगों से उन्होंने कहा कि "मराठों की सुप्रसिद्ध दृढ़ता के साथ मैंने अपना काम-धंधा छोड़ा नहीं और बिलकुल अन्त तक अपनी बात कह लेने के लिए मैं लन्दन में डटा रहा।"

मुझे याद है कि मेरे पिताजी अक्सर शिकायत करते थे कि उनके प्रति-सहयोगी मित्रों में मज़ाक़ का माद्दा नहीं है। अपनी कुछ विनोद-भरी बातों पर, जो प्रति-सहयोगियों को बिलकुल पसन्द नहीं आती थीं, उनका उनसे (प्रति-सहयोगियों से) अक्सर झगड़ा हो जाता था, और फिर उन्हें उनको समझाना पड़ता था और तसल्ली देनी पड़ती थी। यह बड़ा थका देनेवाला काम था। मैंने सोचा कि मराठों में लड़ने की कितनी तीव्र भावना रही है, जो सिर्फ़ भूतकाल में ही नहीं बल्कि वर्तमान में भी हमारी राष्ट्रीय लड़ाइयों में प्रकट हो रही है; और महान् तथा निर्भीक तिलक की भी मुझे याद आई, जो टुकड़े-टुकड़े भले ही जायँ लेकिन झुकना न जानते थे।

लिबरल श्वेतपत्र को बिलकुल नापसन्द करते थे। हिन्दुस्तान में दिन-पर-दिन जो दमन हो रहा था उसे भी वे पसन्द नहीं करते थे, और कभी-कभी, हालाँकि

कम बार उन्होंने इसका विरोध भी किया था; लेकिन साथ-साथ वे यह स्पष्ट कर देते थे कि हम कांग्रेस और उसके सारे कार्य की भी निन्दा करते। सरकार को मौक़े-बेमौक़े वे यह भी सुझाते रहते थे कि वह अमुक कांग्रेसी नेता को जेल से रिहा कर दे। वे तो जिन-जिन व्यक्तियों को जानते थे उन्हींके विषय में सोच सकते थे। लिबरलों और प्रति-सहयोगी लोगों की दलील यह होती थी कि चूँकि अब सार्वजनिक शान्ति के लिए कोई ख़तरा नहीं है इसलिए अब अमुक-अमुक व्यक्ति को छोड़ देना चाहिए और अगर फिर भी वह व्यक्ति अनुचित काम करे तो सरकार उसको गिरफ़्तार कर ही सकती है, और फिर सरकार का उसे गिरफ़्तार करना अधिक उचित माना जायगा। इंग्लैण्ड में भी कुछ भले लोग इसी दलील पर कार्य-समिति के कुछ मेम्बरों या ख़ास व्यक्तियों की रिहाई की पैरवी करते थे। जब हम जेलों में पड़े हुए थे तब हमारे मामलों में जिन्होंने दिलचस्पी ली, उनके प्रति हम अहसानमन्द हुए बिना नहीं रह सकते। लेकिन कभी-कभी हमें यह भी महसूस होता था कि अगर इन भले आदमियों से हम बचे ही रहें तो अच्छा हो। उनकी सद्भावना में हमें शक न था, लेकिन यह ज़ाहिर था कि उन्होंने ब्रिटिश सरकार की विचार-धारा ही ग्रहण कर रक्खी थी और उनके और हमारे बीच बहुत चौड़ी खाई थी।

हिन्दुस्तान में जो कुछ हो रहा था वह लिबरलों को ज़्यादा पसन्द न था। उससे उन्हें दुःख होता था लेकिन फिर भी वे क्या कर सकते थे? सरकार के ख़िलाफ़ कोई भी कारगर क़दम उठाने की तो वे कल्पना तक नहीं कर सकते थे। सिर्फ़ अपने समुदाय को अलग बनाये रखने के लिए उन्हें जनता से और उसके बीच काम करनेवाले लोगों से दूर-ही-दूर हटना पड़ा; उन्हें नरम बनते-बनते इतना पीछे हटना पड़ा कि उनकी और सरकार की विचार-धारा में फ़र्क़ जानना मुश्किल हो गया। तादाद में कम और जनता पर असर न होने के कारण, उनकी वजह से आम लड़ाई में कोई फ़र्क़ न पड़ सका। मगर उनमें कुछ प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध लोग भी थे, जिसकी व्यक्तिगतरूप से इज़्ज़त होती थी। लेकिन इन्हीं नेताओं ने, और लिबरल और प्रति-सहयोगी दलों ने भी सामूहिक रूप से सरकारी नीति को नैतिक समर्थन देकर कठिन संकट के समय में ब्रिटिश सरकार की अमूल्य सेवा की। प्रभावकारी आलोचनाएँ न होने और समय-समय पर लिबरलों के द्वारा दी गई मान्यता और समर्थन से सरकार को दमन और अनीति में प्रोत्साहन मिला। इस तरह ऐसे समय में जब कि सरकार को अपने भीषण और अभूतपूर्व दमन को मुनासिब बताना मुश्किल मालूम हो रहा था, उसको लिबरलों और प्रति-सहयोगियों ने नैतिक बल दे दिया।

लिबरल नेतागण कहते थे कि श्वेतपत्र ख़राब है—बहुत ही ख़राब है; लेकिन अब उसके लिए करे क्या? अप्रैल १९३३ में कलकत्ता में लिबरल फ़ेडरेशन का जो जलसा हुआ उसमें श्री० श्रीनिवास शास्त्री ने, जो कि लिबरलों के

सबसे प्रमुख नेता हैं, समझाया कि वैधानिक परिवर्तन कितने भी अस..
जनक क्यों न हों, हमें उनको काम में लाना ही चाहिए। उन्होंने कहा कि '
ऐसा वक़्त नहीं है जबकि हम एक ओर खड़े रहें और अपने सामने सब कुछ यं
हो जाने दें।'' ज़ाहिर है कि, उनके ख़याल में सिर्फ़ यही 'कार्य' आ सकता था।
जो कुछ भी मिले उसे ले लिया जाय और उसी को काम में लाया जाय। अग
यह न हो तो, दूसरा कार्य था चुपचाप बैठे रहना। आगे उन्होंने कहा—"अ
हममें समझदारी, अनुभव, नरमी, दूसरे को क़ायल करने और चुपचाप अस
डालने की शक्ति और वास्तविक कार्यदक्षता है—अगर हममें ये गुण हैं, तो उन्हे
पूरी तरह दिखलाने का यही अवसर है।'' इस भावपूर्ण अपील पर कलकत्ता के
'स्टेट्समैन' की राय थी कि ये बड़े 'सुन्दर शब्द' थे।

श्री० शास्त्री हमेशा भावपूर्ण भाषण देते हैं, और वक्ताओं की तरह सुन्दर शब्दों और उनके अलंकारपूर्ण उपयोग का उन्हें शौक़ है। मगर वह अपने उत्साह में बह भी जाते हैं, और शब्दों का जो मोहक जाल वह खड़ा करते हैं उससे उनका मतलब दूसरोंके लिए और शायद ख़ुद उनके लिए भी धुंधला होजाता है। उन्होंने अप्रैल १९३३ में, कलकत्ता में सविनय-भंग के चालू रहते हुए, यह जो अपील की थी उस पर विचार कर लेना सार्थक होगा। मौलिक सिद्धान्त और लक्ष्य की बात जाने भी दें, तो भी उसमें दो बातें ध्यान देने-योग्य दिखायी देती हैं। पहली बात तो यह कि कुछ भी क्यों न हो, ब्रिटिश सरकार के द्वारा हमारा कितना भी अपमान, दमन और शोषण क्यों न होता हो, हमें उसको सह लेना ही चाहिए। ऐसी कोई मर्यादा नहीं बनाई जा सकती जिसके बाहर हम हरगिज़ न जावें। एक ज़रा-सा कीड़ा भले ही एक बार मुक़ाबला करने पर उतारू हो जाय, लेकिन श्री० शास्त्रीकी सलाह पर चलें तो हिन्दुस्तानी ऐसा कभी नहीं कर सकते। उनकी राय के मुताबिक़ इसके सिवा कोई रास्ता ही नहीं है। इसका मतलब यह है कि जहाँतक उनका ताल्लुक़ है ब्रिटिश सरकार के फ़ैसले के सामने झुक जाना और उसे मंज़ूर कर लेना उनका धर्म (अगर मैं इस अभागे शब्द का प्रयोग कर सकूँ) हो गया है। यही हमारी क़िस्मत में बदा है, और उसे हम चाहें या न चाहें, लेकिन उसके सामने हमें सिर झुकाना ही चाहिए।

यह ग़ौर करने की बात है कि वह किसी निश्चित और ज्ञात परिस्थिति पर अपनी राय नहीं देरहे थे। 'वैधानिक परिवर्तन' तो अभी बन ही रहे थे, हालाँकि सबको यह स्पष्ट मालूम था कि वे बहुत बुरे होंगे। अगर उन्होंने यह कहा होता कि, "यद्यपि श्वेतपत्र की तजवीज़ें ख़राब हैं, लेकिन सारी परिस्थिति को देखते हुए अगर इन्हींको क़ानून का रूप दे दिया जाय तो मैं उनको काम में लाने के हक़ में हूँ," तो उनकी सलाह चाहे अच्छी होती या बुरी, पर मौजूदा घटनाओं से सम्बद्ध तो होती। लेकिन श्री० शास्त्री तो बहुत आगे बढ़ गये और उन्होंने कहा कि भावी वैधानिक परिवर्तन चाहे कितने भी असन्तोष-जनक हों, फिर भी

मेरी सलाह तो यही होगी। राष्ट्र की दृष्टि में जो सबसे ज़्यादा महत्त्व की बात थी, उसके बारे में वह ब्रिटिश सरकार को बिलकुल कोरा चेक देने को तैयार थे। मेरे लिए यह समझना ज़रा मुश्किल है कि कोई भी व्यक्ति या पार्टी या दल जबतक कि वह किसी भी सिद्धान्त या नैतिकता या राजनैतिक आदर्श से बिलकुल ख़ाली न हो और शासकों के फ़रमानों की हमेशा ताबेदारी करना ही उसका ध्येय और-नीति न हो, तबतक वह अज्ञात भविष्य के लिए कोई वचन कैसे दे सकता है?

दूसरी जिस बात की तरफ़ मेरा ध्यान जाता है, वह है शुद्ध युक्ति-कौशल की। नये सुधारों के क़ानून बनने की लम्बी मंज़िल में 'श्वेतपत्र' तो सिर्फ़ एक सीढ़ी ही था। सरकार की निगाह में वह एक ज़रूरी सीढ़ी थी. लेकिन अभी तो कई सीढ़ियाँ बाक़ी थीं, और मंज़िले मक़सूद तक जाते-जाते सम्भव था उसमें आगे, अच्छी या बुरी, कई तब्दीलियाँ हो जातीं। इन तब्दीलियों का आधार स्पष्ट ही यह था कि ब्रिटिश सरकार और पार्लमेण्ट पर भिन्न-भिन्न स्वार्थ अपना कितना-कितना दबाव डाल सकते थे। इस रस्साकशी में यह कल्पना हो सकती थी कि सरकार शायद हिन्दुस्तान के लिबरलों को अपनी तरफ़ मिलाने की इच्छा करे और वह उन योजनाओं को शायद कुछ और उदार बना दे या कम-से-कम उन सुधारों में कोई कमी तो न करे। लेकिन नये सुधारों की मंज़ूरी या नामंज़ूरी, या उन्हें काम में लाने या न लाने का सवाल उठने से बहुत पहले ही श्री शास्त्री की ज़ोरदार घोषणा ने सरकार को यह साफ़ बता दिया कि उसे हिन्दुस्तान के लिबरलों की परवा नहीं करनी चाहिए। अब उन्हें अपनी तरफ़ मिलाने का सवाल ही नहीं रहा। चाहे उन्हें धक्का देकर भी बाहर निकाल दिया जाय, तो भी वे सरकार का साथ न छोड़ेंगे। इस मामले में, भरसक लिबरल दृष्टिकोण से ही विचार करने पर भी, मुझे तो यही मालूम होता है कि श्री० शास्त्री का कलकत्तेवाला भाषण अत्यन्त भद्दे युक्ति-कौशल का परिचायक और लिबरल-पक्ष के हितों के लिए हानिकर था।

मैंने श्री० शास्त्री के पुराने भाषण पर इतना ज़्यादा इस कारण नहीं लिखा है कि वह भाषण या लिबरल फ़ेडरेशन का जलसा कोई महत्त्वपूर्ण था, लेकिन इसलिए कि मैं लिबरल नेताओं की मनोवृत्ति और उनके विचार समझना चाहता था। वे सुयोग्य और आदरणीय व्यक्ति हैं, फिर भी (उनके लिए जितना भी सद्भाव हो सकता है उतना होते हुए भी) मैं यह नहीं समझ पाया हूँ कि वे ऐसे काम क्यों करते हैं। श्री० शास्त्री के एक और भाषण का भी, जिसे मैंने जेल में पढ़ा था, मुझपर बहुत बुरा असर पड़ा। यह भाषण उन्होंने जून १९३३ में पूना में भारत-सेवक-समिति (सर्वेन्ट्स ऑफ़ इण्डिया सोसायटी) के जलसे पर दिया था। कहा जाता है कि उन्होंने वहाँ संकेत किया कि अगर हिन्दुस्तान से अचानक अंग्रेज़ी प्रभाव हट जाय, तो यह ख़तरा हो सकता है कि राजनैतिक आन्दोलन में एक पार्टी दूसरी पार्टी के प्रति तीव्र घृणा रक्खे, उसे सतावे और उसपर ज़ुल्म करे। इसके

विपरीत ब्रिटिश राजनैतिक जीवन में सदा से सहिष्णुता की विशेषता रही है। इसलिए हिन्दुस्तान का भविष्य जितना ही अधिक ब्रिटेन के साथ सहयोग से बनाया जायगा, उतना ही अधिक हिन्दुस्तान में सहिष्णुता बनी रहने की सम्भावना रहेगी। जेल में रहने के कारण श्री० शास्त्री के भाषण का जो सारांश कलकत्ता के 'स्टेट्समैन' द्वारा मिला है मुझे तो इसीको मानना पड़ता है। 'स्टेट्समैन' ने उस पर आगे लिखा है, कि "यह सुन्दर सिद्धान्त है, और हम देखते हैं कि डाक्टर मुंजे के भाषणों में भी यही भाव रहा है।" कहा जाता है श्री० शास्त्री ने बताया कि रूस, इटली और जर्मनी में भी स्वतंत्रता का दमन हो रहा है, और वहां बड़ी अमानुषिकता और जंगलीपन से काम लिया जाता है।

जब मैंने यह भाषण पढ़ा तो मुझे ध्यान आया कि ब्रिटेन और हिन्दुस्तान के सम्बन्ध में ब्रिटेन के किसी 'कट्टर' अनुदार व्यक्ति से श्री० शास्त्री का दृष्टिकोण कितना मिलता-जुलता है। दोनों में तफ़सील के बारे में बेशक फ़र्क़ है, लेकिन मूलतः विचार-धारा एक ही है। श्री० विन्स्टन चर्चिल भी, अपने विश्वासों का किसी प्रकार अतिक्रमण न करते हुए, ठीक ऐसी ही भाषा में अपने विचार प्रकट कर सकते थे। फिर भी, श्री० शास्त्री लिबरल-पार्टी में उग्र विचार के समझे जाते हैं, और उसके सबसे ज़्यादा-योग्य नेता हैं।

श्री० शास्त्री के इतिहास के अध्ययन या संसार के प्रश्नों पर उनकी राय से मैं सहमत नहीं हूँ, ख़ासकर ब्रिटेन और हिन्दुस्तान-विषयक उनकी सम्मति को मानने में मैं बिलकुल असमर्थ हूँ। शायद कोई विदेशी भी, अगर वह अंग्रेज़ नहीं है, तो उससे सहमत न होगा। और शायद उन्नत विचारों के कई अंग्रेज़ भी उनकी राय को न मानेंगे। अंग्रेज़ी शासकों के रंगीन चश्मों से दुनिया और अपने देश को देखना, उनकी एक विशेषता है। फिर भी यह ध्यान देने-योग्य बात है कि पिछले अठारह महीनों से जो असाधारण घटनाएँ हिन्दुस्तान में रोज़ाना हो रही थीं और जो उनके भाषण के वक़्त भी हो रही थीं उनका उन्होंने इसमें ज़िक्र तक नहीं किया। उन्होंने रूस, इटली, जर्मनी का नाम तो लिया, लेकिन उनके देश में ही जो भयंकर दमन और स्वतंत्रता का अपहरण हो रहा था उसको वह एकदम नज़र-अन्दाज़ कर गये। मुमकिन है उन्हें वे सारी भयानक घटनाएँ मालूम न हुई हों जो सीमाप्रान्त में और बंगाल में हुई थीं—जिनको राजेन्द्र बाबू ने हाल में कांग्रेस के अपने अध्यक्ष-पद से दिये गये भाषण में 'बंग-भूमि पर बलात्कार' कहा है—क्योंकि सेन्सर के घने परदे ने सब घटनाओं को छिपा रक्खा था। लेकिन क्या उन्हें भारत-भूमि का दुःख और जबरदस्त प्रतिद्वन्द्वों के मुक़ाबले में हिन्दुस्तान के लोग जीवन और स्वतन्त्रता की जो लड़ाई लड़ रहे थे वह भी याद न रही? क्या उन्हें पुलिस-राज का, जो बड़े-बड़े हिस्सों में छाया हुआ था, फ़ौजी क़ानून जैसी परिस्थिति का, आर्डिनेन्सों, भूख-हड़तालों और जेल के दूसरे कष्टों का हाल मालूम न था? क्या वह

३ महसूस नहीं करते थे कि जिस सहिष्णुता और स्वतंत्रता के लिए वह ब्रिटेन की तारीफ़ करते थे, उसीको ब्रिटेन ने हिन्दुस्तान में कुचल डाला है ?

वह कांग्रेस से सहमत थे या नहीं, इसकी चिन्ता नहीं। उन्हें कांग्रेस की नीति की समालोचना और निन्दा करने का पूरा अख़्तियार था। लेकिन एक हिन्दुस्तानी के नाते, एक स्वाधीनता-प्रेमी के नाते, एक भावुक व्यक्ति के नाते, उनके देशवासी स्त्री और पुरुष जो अद्‌भुत साहस और बलिदान का भाव दिखा रहे थे, उसके प्रति उनके क्या विचार थे ? जब हमारे शासक हिन्दुस्तान के कलेजे पर छुरी चला रहे थे, तब क्या उन्हें वेदना और कष्ट नहीं मालूम होता था ? लाखों आदमी एक घमण्डी साम्राज्य की पाशविक शक्ति के सामने झुकने से इन्कार कर रहे थे, और अपनी आत्मा के कुचल जाने के बदले अपने शरीरों का कुचला जाना, अपने घर-बार का बरबाद हो जाना, और अपने प्रियजनों का कष्ट उठाना ज़्यादा पसन्द कर रहे थे ? क्या वह इसका महत्त्व कुछ भी नहीं समझते थे ? हम जेलों में और बाहर हिम्मत न हारे थे, हम मुस्कराते थे और हँसते थे, लेकिन अक्सर हमारी मुस्कराहट तो आंसुओं में झलकती थी और हमारा हँसना कभी-कभी रोने के बराबर था।

एक बहादुर और उदार अंग्रेज़ श्री० वेरियर एलविन हमें बताते हैं कि उनके दिल पर इसका क्या असर हुआ। १९३० के बारे में वह कहते हैं कि "वह एक अद्‌भुत दृश्य था जब सारा राष्ट्र ग़ुलामी के दिमाग़ी बन्धनों को दूर कर रहा था, और अपनी सच्ची शान से निडर निश्चय प्रकट करता हुआ उठ रहा था।" और फिर "सत्याग्रह की लड़ाई में ज़्यादातर कांग्रेसी स्वयं-सेवकों ने आश्चर्यजनक अनुशासन दिखाया था, ऐसा अनुशासन कि जिसकी एक प्रान्तीय गवर्नर ने भी उदारता के साथ तारीफ़ की है......।"

श्री० श्रीनिवास शास्त्री एक योग्य और सहृदय आदमी हैं। उनकी देश में बड़ी इज़्ज़त है, और यह नामुमकिन मालूम होता है कि ऐसी लड़ाई में उनके भी ऐसे ही विचार न हों और उन्हें भी अपने देशवासियों से सहानुभूति न हो। उनसे यह उम्मीद हो सकती थी कि वह सरकार द्वारा सब तरह की नागरिक स्वतन्त्रता और सार्वजनिक प्रवृत्तियों के दमन की निन्दा में अपनी आवाज़ उठाते। उनसे यह भी उम्मीद हो सकती थी कि वह और उनके साथी सबसे ज़्यादा दबाये गये प्रान्तों—बंगाल और सीमा-प्रान्त—में ख़ुद जाते, इसलिए नहीं कि वे किसी भी तरह कांग्रेस या सविनय-भंग में मदद दें, बल्कि अधिकारियों और पुलिस की ज़्यादतियों को ज़ाहिर करने और इस तरह उन्हें रोकने के लिए। दूसरे देशों में आज़ादी और नागरिक स्वतन्त्रता के प्रेमी अक्सर ऐसा करते हैं। लेकिन, ऐसा करने के बजाय, सरकार जब हिन्दुस्तान के नर-नारियों को पैरों तले रौंद रही थी, और जब उसने रोज़मर्रा की आज़ादी को भी कुचल दिया था, तब उसको रोकने के बजाय, और क्या घटनाएं घट रही हैं, कम-से-कम यही छान-बीन करने के बजाय

उन्होंने ठीक ऐसे वक़्त में अंग्रेज़ों को सहिष्णुता और आज़ादी का प्रमाण-पत्र दिया जबकि हिन्दुस्तान के अंग्रेज़ी शासन में ये दोनों गुण बिलकुल ही नहीं रह गये थे। उन्होंने सरकार को अपना नैतिक सहारा दे दिया, और दमन के कार्य में उसका हौसला बढ़ाया और प्रोत्साहन दिया।

मुझे पूरा यक़ीन है कि उनका यह तात्पर्य नहीं रहा होगा, या उन्हें यह ख़याल नहीं रहा होगा कि इसका क्या परिणाम हो सकता है। मगर उनके भाषण का यही असर हुआ होगा, इसमें तो शक नहीं हो सकता। तो, उन्हें इस तरह से विचार और कार्य करना चाहिए था ?

मुझे इस सवाल का ठीक जवाब सिवा इसके और नहीं मिला है कि लिबरल नेताओं ने अपने-आपको अपने देशवासियों और समस्त आधुनिक विचारों से बिलकुल दूर कर लिया है। जिन पुराने ढंग की किताबों को वे पढ़ते हैं, उन्होंने उनकी निगाह से हिन्दुस्तान की जनता को ओझल कर दिया है और उनमें एक तरह से अपनी ही ख़ूबियों पर फ़िदा होने की आदत पैदा हो गयी है। हम लोग जेलों में गये और हमारे शरीर कोठरियों में बन्द रहे, लेकिन हमारे दिमाग़ आज़ाद फिरते थे और हमरा हौसला दबा नहीं था। लेकिन उन्होंने तो अपने ढंग का दिमाग़ी क़ैदख़ाना ख़ुद ही बना लिया था, जहाँ वे अन्दर-ही-अन्दर चक्कर काटा करते थे और उससे निकल नहीं सकते थे। वे 'मौजूदा हालात' की रट लगाया करते थे; और जब मौजूदा हालात बदल गये, जैसा कि इस परिवर्तनशील दुनिया में होता ही रहता है, तो उनके पास न पतवार रहा न कम्पास; उनके दिमाग़ और शरीर दोनों ही बेकार हो गये, न उनके पास आदर्श रहे, न नैतिक नाप। इन्सान को या तो आगे जाना पड़ेगा या पीछे हटना पड़ेगा। हम इस प्रगतिशील संसार में एक ही जगह खड़े नहीं रह सकते। परिवर्तन और प्रगति से डरने के कारण लिबरल अपने-अपने आस-पास के तूफ़ानों को देखकर भयभीत हो गये; हाथ-पैरों से कमज़ोर होने के कारण आगे न बढ़ सके; और इसलिए वे लहरों में इधर-उधर उछलते रहे, और जो भी तिनका उन्हें मिल जाता था उसीका सहारा लेने की वे कोशिश करते रहे। वे हिन्दुस्तान की राजनीति के हैमलेट बन गये; तरह-तरह के विचारों की चिन्ता से पीले और बीमार से पड़ गये; हमेशा सन्देह, हिचकिचाहट और अनिश्चय में पड़े रहे।

> ओ ईर्ष्यारत दुष्ट ! मेल का समय कहाँ अब;
> लगा सदा मैं रहा ठीक ही करने में सब ![1]

---

[1] शेक्सपियर के 'हेमलेट' नाटक की मूल अंग्रेज़ी की इन पंक्तियों का यह अनुवाद है—

"The time is out of joint O cursed spite!
That ever I was born to set it right."

निरन्तर तर्कग्रस्त, कार्य में असमर्थ हेमलेट की मध्यम-मार्गियों से तुलना की गई है! स्वयं हेमलेट कहता है कि—मुझ-जैसे कुकर्मी को सुधारने में इसे कैसे सफलता मिली ? —अनु०

'सर्वेंट आफ़ इण्डिया' नामक एक लिबरल अख़बार ने सविनय-भंग-आन्दोलन के बाद के दिनों में कांग्रेसी लोगों पर यह आरोप लगाया था कि वे पहले तो जेल जाना चाहते हैं, और जब वहाँ पहुँच जाते हैं तब फिर बाहर आना चाहते हैं। उसने कुछ चिढ़ते हुए कहा था कि एकमात्र यही कांग्रेस की नीति है। स्पष्ट ही इनके बदले में लिबरलों का रास्ता होता ब्रिटिश मन्त्रियों की सेवा में इंग्लैण्ड डेपुटेशन भेजना, या इंग्लैण्ड में शासकदलों के परिवर्तन का इन्तज़ार करना और उनके लिए दुआएँ माँगना।

किसी हद तक यह सच था कि उन दिनों कांग्रेस की नीति खासकर यही थी कि आर्डिनेन्स और दूसरे दमनकारी क़ानूनों को तोड़ा जाय और इसकी सज़ा जेल थी। यह भी सच था कि कांग्रेस और राष्ट्र, लम्बी लड़ाई के बाद थक गये थे, और सरकार पर कोई कारगर दबाव नहीं डाल सकते थे। लेकिन हमारे सामने एक व्यावहारिक और नैतिक दृष्टि थी।

नग्न बल-प्रयोग, जैसा कि हिन्दुस्तान में किया जा रहा था शासकों के लिए बड़ा ख़र्चीला मामला होता है। उनके लिए भी यह एक दुःखदाई और घबरा देनेवाली अग्नि-परीक्षा होती है, और वे अच्छी तरह जानते हैं कि अन्त में इससे उनकी नींव कमज़ोर पड़ जाती है। इससे जनता के सामने और सारी दुनिया के सामने उनकी हुकूमत का असली रूप बराबर प्रकट होता रहता है। इसकी बनिस्बत वह यह बहुत ज़्यादा पसन्द करते हैं कि अपने फ़ौलादी पंजे को छिपाने के लिए हाथ पर मख़मली दस्ताना पहने रहें। जो लोग सरकार की इच्छाओं के सामने झुकना नहीं चाहते, फिर चाहे उसका परिणाम कुछ भी हो, उनसे मुक़ाबला करने से बढ़कर रोषोत्पादक और अन्त में हानिकर बात किसी भी शासन के लिए दूसरी नहीं है। इसलिए दमनकारी क़ानूनों का कभी कभी भंग होते रहना भी एक महत्त्व रखता था। उससे जनता की ताक़त बढ़ती थी, और सरकार के नैतिक बल की बुनियाद ढहती थी।

नैतिक दृष्टि तो इससे भी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण थी। एक प्रसिद्ध स्थान पर 'थोरो' ने लिखा है कि, "ऐसे समय में जब कि स्त्री और पुरुष अन्याय-पूर्वक जेल में डाले जाते हों, न्यायी स्त्री-पुरुषों का स्थान भी जेल में ही है।" यह सलाह शायद लिबरल और दूसरे लोगों को न जँचे, लेकिन हममें से कई ऐसा महसूस करते हैं कि मौजूदा हालत में, जबकि सविनय-भंग के अलावा भी, हमारे कितने साथी हमेशा जेल में रक्खे जाते हैं, और जबकि सरकार का दमन-यन्त्र निरन्तर हमारा दमन और अपमान कर रहा है और हमारे लोगों के शोषण में मदद दे रहा है, तब किसी के लिए नैतिक जीवन बिताना सम्भव नहीं है। अपने ही देश में हम संदिग्ध की भाँति आते-जाते हैं। हम पर निगरानी रक्खी जाती है और हमारा पीछा किया जाता है। हमारे शब्दों को नोट किया जाता है कि वे कहीं राजद्रोह के व्यापक क़ानून को तो नहीं तोड़ते हैं, हमारा पत्र-व्यवहार खोला और पढ़ा

जाता है, और हमेशा यह सम्भावना बनी रहती है कि सरकार हम पर किसी तरह का बन्धन लगा देगी या हमें गिरफ़्तार कर लेगी। ऐसी हालत में हमारे सामने दो ही रास्ते हैं—या तो सरकारी ताक़त के आगे हमारे सिर बिलकुल झुक जायँ, हमारा आत्मिक पतन हो जाय, हमारे अन्दर जो सचाई है उसकी उपेक्षा कर दी जाय, और जिन प्रयोजनों को हम बुरा समझते हैं उनके लिए हमारा नैतिक दुरुपयोग हो; या फिर उसका मुक़ाबला किया जाय; और उसका जो कुछ नतीजा हो वह बरदाश्त किया जाय। कोई भी शख़्स यों ही जेल जाना या मुसीबत बुलाना नहीं चाहता। मगर, अक्सर दूसरे रास्तों की बनिस्बत जेल जाना ही ज़्यादा अच्छा होता है। जैसा कि बर्नार्ड शॉ ने लिखा है—

"जीवन में सबसे दुःखदायी बात तो सिर्फ़ यही है कि जिन उद्देशों को हम सब निन्दनीय समझते हैं उन्हीं के लिए स्वार्थी लोगों द्वारा मनुष्य का उपयोग किया जाता है। इसके सिवा और जो कुछ है वह अधिक-से-अधिक बदक़िस्मती या मृत्यु है। यही तो मुसीबत, ग़ुलामी और दुनिया का नरक है।"

४६

लम्बी सज़ा का अन्त

मेरी रिहाई का वक़्त नज़दीक आ रहा था। साधारणतः मुझे 'नेकचलनी' की जितनी छूट मिलनी चाहिए थी उतनी मिल गयी और इससे मेरी दो साल की मियाद में से साढ़े तीन महीने कम हो गये थे। मेरी मानसिक शान्ति या यों कहिए कि जेल-जीवन से जो मानसिक जड़ता पैदा हो जाती है उसमें रिहाई का ख़याल ख़लल डाल रहा था। बाहर जाकर मुझे क्या करना चाहिए? यह एक मुश्किल सवाल था, और इसके जवाब की हिचकिचाहट ने बाहर जाने की मेरी ख़ुशी कम कर दी। लेकिन वह भी एक क्षणिक भाव था, और लम्बे अर्से से दबी हुई क्रियाशीलता मेरे अन्दर फिर उमड़ने लगी और मैं बाहर निकलने को उत्सुक हो गया।

जुलाई १९३३ के अन्त में एक बहुत ही दुःखद और बेचैनी पैदा करनेवाली ख़बर मिली—जे० एम० सेनगुप्त की अचानक मृत्यु हो गई! हम दोनों कई साल तक कार्य-समिति में सिर्फ़ अन्तरंग साथी ही नहीं रहे थे; उनसे मेरा सम्बन्ध मेरे केम्ब्रिज में पढ़ने के शुरू के दिनों से ही था। दोनों सबसे पहले केम्ब्रिज में ही मिले थे—मैं तो नया दाख़िल हुआ था और उन्होंने उसी समय अपनी डिग्री पायी थी।

सेनगुप्त का देहान्त उनकी नज़रबन्दी की हालत में हुआ। १९३२ के शुरू में जब वह यूरप से लौटे थे, तो बम्बई में जहाज़ पर ही वह राजबन्दी बना लिये गये थे। तभी से वह नज़रबन्द रहे, और उनकी तन्दुरुस्ती ख़राब हो गयी।

सरकार ने उन्हें कई तरह की सहूलियतें दीं लेकिन वह बीमारी की रफ़्तार को न रोक सकी। कलकत्ता में उनकी अन्त्येष्टि के समय जनता ने खूब प्रदर्शन किया और उनके प्रति सम्मान प्रकट किया; ऐसा दिखायी देता था कि बंगाल की एक लम्बे अर्से से क़ैद और कष्ट पाती हुई आत्मा को, कम से-कम थोड़ी देर के लिए, अपने को व्यक्त करने का मार्ग मिल गया है।

इस तरह सेनगुप्त चल बसे। दूसरे राजबन्दी सुभाष बोस को, जिनकी तन्दुरुस्ती भी बरसों की नज़रबन्दी से बरबाद हो गयी थी, आख़िरकार सरकार ने इलाज के लिए यूरप जाने की इजाज़त दे दी। विट्ठलभाई पटेल भी यूरप में रोग-शय्या पर थे। और भी कितने ही लोग जेल-जीवन और बाहर की लगातार हलचलों के फलस्वरूप शारीरिक थकावट को सहन न कर सकने के कारण तन्दुरुस्ती खो बैठे थे, या मर चुके थे। और कितने लोगों में हालाँकि ऊपर से बड़ी तब्दीली दिखायी न देती थी, लेकिन जेलों में उन्हें जो असाधारण जीवन बिताना पड़ा था, उसके फलस्वरूप उनके दिमाग़ गड़बड़ा गये थे और उनमें अनेक मानसिक अव्यवस्था और विषमताएं पैदा हो गयी थीं।

सेनगुप्त की मृत्यु ने बहुत साफ़ तौर पर दिखा दिया है कि सारे देश में कितना भयंकर और मौन कष्ट-सहन हो रहा है, और मैं निराश और उदास-सा होगया। यह सब किसलिए हो रहा है? आख़िर किसलिए?

अपनी तन्दुरुस्ती के बारे में मैं खुशक़िस्मत था, और कांग्रेस के कार्य में भारी मेहनत पड़ने और अनियमित जीवन बीतने पर भी मैं कुल मिलाकर अच्छा ही रहा। मेरे ख़याल से, इसका कुछ कारण तो यह भी था कि जन्म से ही मैं हृष्ट-पुष्ट था, और दूसरे मैं अपने शरीर की सँभाल रखता था। एक तरफ़ बीमारी और कमज़ोरी और दूसरी तरफ़ ज़्यादा मुटापे से भी मुझे नफ़रत थी, और काफ़ी कसरत, ताज़ी हवा और सादे भोजन की आदत रहने से मैं दोनों बातों से बचा रहा। मेरा अपना तजरबा यह है कि हिन्दुस्तान के मध्यम वर्गों की बहुत-सी बीमारियाँ तो ग़लत भोजन से होती हैं। वे तरह-तरह के पक्वान्न, और सो भी अधिक मात्रा में, खाते हैं। (यह बात उन्हीं पर लागू होती है जिनकी ऐसी फ़ज़ूल-ख़र्च आदतें रखने की हैसियत होती है।) लाड़-प्यार करनेवाली माताएं बच्चों को मिठाइयाँ और दूसरी बढ़िया कही जानेवाली चीज़ें ज़्यादा खिला-खिलाकर ज़िन्दगी भर के लिए उनकी बदहज़मी की पक्की नींव डाल देती हैं। बच्चों पर कपड़े भी बहुत से लाद दिये जाते हैं। हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ लोग भी बहु[illegible] खाते हैं, हालाँकि उनके खाने में इतने पक्वान्न नहीं होते। शायद उन्होंने पिछली पीढ़ी की अपेक्षा, जो गरम-गरम और गरिष्ठ भोजन अधिक मात्रा में किया करती थी, अब कुछ सुधार कर लिया है।

मैंने भोजन-सम्बन्धी शौक़िया प्रयोग करनेवाले लोगों की तरफ़ कोई ध्यान

नहीं दिया है, और सिर्फ़ अधिक परिमाण में भोजन करने और पक्वान्नों से बचता रहा हूँ। क़रीब-क़रीब सभी कश्मीरी ब्राह्मणों की तरह हमारा परिवार भी मांसाहारी परिवार था, और बचपन से मैं हमेशा मांस खाता रहा था, हालाँकि मुझे उसका बहुत शौक़ कभी नहीं रहा। पर १९२० में असहयोग के समय से मैंने मांस छोड़ दिया, और मैं शाकाहारी बन गया। इसके छः साल बाद यूरप जाने पर मैं फिर माँस खाने लगा था पर हिन्दुस्तान आने पर फिर शाकाहारी हो गया, और तब से मैं बहुत-कुछ शाकाहारी ही रहा हूँ। मांसाहार मुझे ठीक-ठीक मुआफ़िक़ पड़ता है, लेकिन मुझे उनसे अरुचि हो गयी है, और उसे खाने में कुछ कठोरता की भावना मन में पैदा होती है।

अपनी बीमारियों के समय में, ख़ासकर १९३२ में जेल में, जबकि कई महीनों तक रोज़ाना मुझे हरारत हो आया करती थी मैं झुँझला-उठता था, क्योंकि उससे मेरी अच्छी तन्दुरुस्ती के गर्व को ठेस पहुँचती थी। मुझमें असीम जीवन-शक्ति और स्फूर्ति है, अपनी इस सदा की धारणा के विरुद्ध, मैं पहली बार सोचने लगा कि मेरी तन्दुरुस्ती धीरे-धीरे गिरती जा रही है और मैं घुलता जा रहा हूँ, और इससे मैं भयभीत हो गया। मेरा ख़याल है कि मैं मौत से डरता नहीं हूँ। लेकिन शरीर और मस्तिष्क का धीरे-धीरे घुलते जाना तो दूसरी ही बात थी। मगर मेरा डर ज़रूरत से ज़्यादा था और मैं नीरोग होने और अपने शरीर पर अधिकार कर लेने में सफल हो गया। जाड़े में बड़ी देर तक धूप में बैठे रहने से मैं फिर अपने को तन्दुरुस्त महसूस करने लगा। जबकि जेल के मेरे साथी कोट और दुशाले में लिपटे हुए काँपा करते थे, मैं खुले बदन धूप में बैठकर गरमी का आनन्द लिया करता था। ऐसा जाड़े के दिनों में सिर्फ़ उत्तर हिन्दुस्तान में ही हो सकता था, क्योंकि दूसरी जगहों पर तो धूप अक्सर बहुत तेज़ होती है।

अपनी कसरतों में मुझे ख़ासकर शीर्षासन—पंजे बाँधकर हथेलियों से सिर के पिछले हिस्से को सहारा देते हुए कुहनियों को धरती पर टिकाये हुए सिर के बल उलटा खड़ा होने में—बहुत आनन्द आता था। मेरी समझ में शारीरिक दृष्टि से यह कसरत बड़ी अच्छी है, और इसका मानसिक प्रभाव भी मेरे ऊपर अच्छा पड़ता था, जिससे मैं इसे और पसन्द करता था। इस कुछ-कुछ विनोद-पूर्ण आसन से मेरी तबीयत ख़ुश हो जाती, और इसने जीवन की विचित्रताओं के प्रति मुझे अधिक सहनशील बना दिया।

उदासी के क्षणों को, जो कि जेल-जीवन में लाज़िमी तौर पर होते ही हैं, दूर करने में मेरी आम तौर पर अच्छी तन्दुरुस्ती ने और तन्दुरुस्ती होने की शारीरिक अनुभूति ने, मेरी बड़ी सहायता की। इन दोनों बातों से मुझे जेल की या बाहर की बदलती हुई हालतों के मुताबिक़ अपने-आपको बना लेने में भी मदद मिली। मेरे दिल को कई बार धक्के लगे हैं, जिनसे उस वक़्त तो मैं बहुत ही बेहाल हो जाता था, लेकिन मुझे ताज्जुब हुआ कि मैं अपनी उम्मीद से भी जल्दी प्रकृतिस्थ हो जाता

था। मेरी राय में, मेरी मूलभूत संयमित तथा स्वस्थ प्रकृति का एक सबूत यह है कि मुझे कभी तेज़ सिर-दर्द नहीं हुआ और न मुझे कभी नींद न आने की शिकायत हुई। मैं सभ्यता की इन आम बीमारियों से और आँख की कमज़ोरी से भी बच गया हूँ, हालाँकि मैं पढ़ने और लिखने में और कभी-कभी तो जेल की ख़राब रोशनी में भी आँखों से बहुत ज़्यादा काम लेता रहा। पिछले साल एक आँख के डाक्टर ने मेरी अच्छी दृष्टि-शक्ति पर बड़ा आश्चर्य प्रकट किया था। आठ साल पहले उसने भविष्यवाणी की थी कि मुझे एक या दो साल में ही चश्मा लगाना पड़ेगा। उसका कहना बहुत ग़लत निकला, और मैं अब भी बग़ैर ऐनक के अच्छी तरह काम चला रहा हूँ। हालाँकि इन बातों से मैं संयमी और स्वस्थ होने की नामवरी पा सकता हूँ, लेकिन मैं यह भी कह देना चाहता हूँ कि मैं उन लोगों से बहुत ख़ौफ़ खाता हूँ जो जब देखो तब हमेशा ही गम्भीर बने रहते हैं और उनकी मुख-मुद्रा पर कभी कोई परिवर्तन नहीं लक्षित होता।

जब मैं जेल से अपनी रिहाई का इन्तज़ार कर रहा था, उस समय बाहर व्यक्तिगत सविनय-भंग का नया स्वरूप शुरू हो रहा था। गांधीजी ने इसमें सबसे पहले मिसाल पेश करने का फ़ैसला किया, और अधिकारियों को पूरी तरह नोटिस देने के बाद वह एक अगस्त को गुजरात के किसानों में सविनय-भंग का प्रचार करने के लिए रवाना हुए। वह फ़ौरन गिरफ़्तार कर लिये गये, उन्हें एक साल की सज़ा दे दी गयी और वह यरवडा की अपनी कोठरी में फिर भेज दिये गये। मुझे ख़ुशी हुई कि वह वापस वहाँ चले गये। लेकिन जल्दी ही एक नई पेचीदगी पैदा हो गई। गांधीजी ने जेल से हरिजन-कार्य करने की वही सहूलियतें माँगीं जो उन्हें पहले मिली थीं। सरकार ने उन्हें देने से इन्कार कर दिया। अचानक हमने सुना कि गांधीजी ने फिर इसी बात पर उपवास शुरू कर दिया है। ऐसी ज़बरदस्त कार्रवाई के लिए हमें वह बहुत ही छोटा कारण मालूम हुआ। उनके निर्णय के रहस्य को समझना मेरे लिए बिलकुल नामुमकिन था, चाहे सरकार के सामने उनकी दलील बिलकुल सही भी हो। मगर हम कुछ नहीं कर सकते थे। असमंजस में पड़े हुए हम यह सब देखते रहे।

उपवास के एक हफ़्ते बाद उनकी हालत तेज़ी से गिरने लगी। वह एक अस्पताल में पहुँचा दिये गये, लेकिन वह क़ैदी ही रहे और सरकार हरिजन-कार्य के लिए सहूलियतें देने के मामले में न झुकी। उन्होंने अपने जीवन की आशा (जोकि पिछले उपवासों में क़ायम रही थी) छोड़ दी, और अपनी तन्दुरुस्ती को गिरने दिया। उनका अन्त नज़दीक दीखने लगा। उन्होंने आसपास के लोगों से विदाई ले ली, और अपने पास पड़ी हुई अपनी थोड़ी-सी चीज़ों को भी इस-उसको बाँट देने का इन्तज़ाम कर लिया, जिनमें से कुछ नर्सों को भी दे दीं। लेकिन सरकार यह नहीं चाहती थी कि उनकी मौत की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ले, इसलिए उसी शाम को वह अचानक रिहा कर दिये गये। इससे वह मरते-मरते बच गये।

एक दिन और बीत जाता, तो फिर उनका बचना मुश्किल था। इस प्रकार उन्हें बचाने का बहुत कुछ श्रेय सम्भवतः श्री० सी० एफ़ एण्ड्रयूज़ को है जो गांधीजी के मना करने पर भी जल्दी से हिन्दुस्तान आगये थे।

इस बीच (२३ अगस्त को) मैं देहरादून-जेल बदल दिया गया; और दूसरे जेलों में क़रीब-क़रीब डेढ़ साल रहने के बाद फिर नैनी जेल में आ गया। ठीक उसी वक़्त मेरी माताजी के अचानक बीमार हो जाने और अस्पताल ले जाये जाने की ख़बर मिली। ३० अगस्त १९३३ को मैं नैनी से रिहा कर दिया गया, क्योंकि मेरी माँ की हालत गम्भीर समझी गयी। मामूली तौर पर मैं अपनी मियाद ख़तम होने पर ज़्याद-से-ज़्यादा १२ सितम्बर को रिहा हो जाता। इस तरह मुझे प्रान्तीय सरकार ने तेरह दिन की छूट और दे दी।

५०

गाँधीजी से मुलाक़ात

जेल से रिहा होते ही मैं अपनी माँ को रोग-शय्या के पास लखनऊ पहुँचा और कुछ दिन उनके पास रहा। मैं काफ़ी लम्बे अर्से के बाद जेल से बाहर निकला था और मुझे लगा कि मैं आस-पास के हालात से बिलकुल अपरचित और अलग-सा हो गया हूं। मैंने यह अनुभव किया और उससे मेरे दिल को धक्का भी लगा, जैसा कि आमतौर पर होता है, कि जब मैं जेल में पड़ा-पड़ा सड़ रहा था, तो दुनिया आगे बढ़ती जा रही थी और बदलती जा रही थी। बच्चे और लड़कियाँ और लड़के बड़े होते जा रहे थे, शादियाँ, पैदाइशें और मौतें हो रही थीं। प्रेम और घृणा, काम और खेल, दुःख और सुख सब चल रहा था। जीवन में दिलचस्पी पैदा करनेवाली नई-नई बातें हो गयी थीं, बातचीत के विषय नये हो गये थे; मैं जो कुछ देखता और सुनता था, सब पर मुझे कुछ-न-कुछ आश्चर्य होता था। मुझे लगा कि मुझे एक खाड़ी में छोड़कर ज़िन्दगी का जहाज़ कितना आगे बढ़ गया था! यह भावना कुछ ख़ुश करनेवाली नहीं थी। जल्दी ही इस स्थिति के अनुकूल मैं अपने को बना सकता था, लेकिन ऐसा करने की मुझे प्रेरणा नहीं होती थी। मेरे दिल ने कहा कि "जेल के बाहर सैर करने का तुम्हें यह थोड़ा-सा मौक़ा मिला है और जल्दी ही फिर तुम्हें जेल में जाना पड़ेगा; इसलिए जिस जगह से जल्दी ही चल देना है, उसके अनुकूल अपने को बनाने की झंझट क्यों मोल ली जाय?"

राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान कुछ शान्त था। सार्वजनिक प्रवृत्तियों का ज़्यादातर सरकार ने नियन्त्रण और दमन कर रक्खा था और गिरफ़्तारियाँ कभी-कभी हो जाया करती थीं। मगर हिन्दुस्तान की उस वक़्त की ख़ामोशी बहुत महत्व रखती थी। वह वैसी मनहूस ख़ामोशी थी जैसी कि भयंकर दमन के अनुभव के बाद थक जाने से आ जाती है; वह ख़ामोशी अक्सर बहुत वाचाल
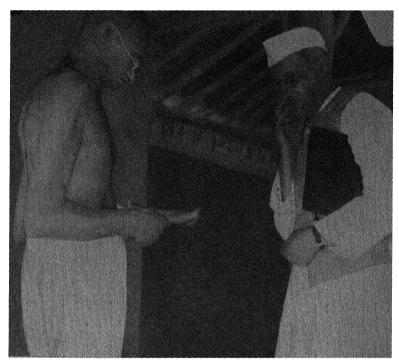
गांधीजी और जवाहरलालजी

होती है, लेकिन उसे दमन करनेवाली सरकार इसे नहीं सुन सकती। सारा हिन्दुस्तान एक आदर्श पुलिस-राज्य बन गया था और शासन के सब कामों में पुलिस-मनोवृत्ति व्याप्त हो गयी थी। ज़ाहिरा तौर पर हर तरह की कार्रवाई, जो सरकार की इच्छा के मुआफ़िक़ न हो, दबा दी जाती थी और देशभर में ख़ुफ़िया और छिपे कारिन्दों की बड़ी भारी फ़ौज फैली हुई थी। लोगों में आमतौर पर पस्तहिम्मती आ गयी थी और चारों ओर आतंक छा गया था। कोई भी राजनैतिक कार्य, ख़ासकर गाँवों में, फ़ौरन कुचल दिया जाता था और भिन्न-भिन्न प्रान्तीय सरकारें म्युनिसिपैलिटियों और लोकल बोर्डों में से ढूँढकर-ढूँढकर कांग्रेस-वालों को निकालने की कोशिश कर रही थीं। हर शख़्स, जो सविनय क़ानून-भंग करके जेल गया था, सरकार की राय में म्युनिसिपल स्कूलों में पढ़ाने या म्युनिसिपैलिटी में और भी कोई काम करने के अयोग्य था। म्युनिसिपैलिटियों आदि पर बड़ा भारी दबाव डाला गया और धमकियाँ दी गयीं कि अगर कांग्रेसवाले निकाले न जायँगे तो सरकारी मदद बन्द कर दी जायगी। इस बल-प्रयोग की सबसे बदनाम मिसाल कलकत्ता-कार्पोरेशन में देखने में आई। मेरा ख़याल है कि आख़िकार सरकार ने एक क़ानून ही बना दिया कि कार्पोरेशन ऐसे व्यक्तियों को नौकर नहीं रख सकता जो राजनैतिक अपराधों में सज़ा पा चुके हों।

जर्मनी में नाज़ियों की ज़्यादतियों की ख़बरों का हिंदुस्तान के ब्रिटिश अफ़सरों और उनके अख़बारों पर एक विचित्र प्रभाव पड़ा। उन्हें उन ज़्यादतियों से हिन्दुस्तान में उन्होंने जो कुछ किया था, उस सबको उचित बताने का कारण मिल गया और उन्होंने मानों अपनी इस भलाई के अभिमान के साथ हमें बताया, कि अगर यहाँ नाज़ियों की हुकूमत होती तो हमारा हाल कितना ज़्यादा ख़राब हुआ होता। नाज़ियों ने तो बिलकुल नये पैमाने क़ायम कर दिये हैं, और नये कारनामे कर दिखाये हैं और उनका मुक़ाबला करना निश्चय ही आसान नहीं था। सम्भव है कि हमारा हाल ज़्यादा ख़राब हुआ होता; लेकिन इसका निर्णय करना मेरे लिए मुश्किल है, क्योंकि पिछले पाँच वर्षों में हिन्दुस्तान में क्या-क्या हुआ, इसके सारे हालात मेरे पास नहीं हैं। हिन्दुस्तान की ब्रिटिश सरकार इस नीति में विश्वास रखती है कि बायें हाथ से जो पुण्य-काम किया जाय उसका पता दाहिने हाथ को भी न लगना चाहिए, और इसलिए उसने निष्पक्ष जाँच कराने की हर तजवीज़ को नामंजूर कर दिया, हालाँकि ऐसी जाँचों का पलड़ा हमेशा सरकारी पक्ष की तरफ़ झुका रहता है। मेरे ख़याल से, यह सच है कि औसत अंग्रेज़ बर्बरता से नफ़रत करता है और मैं कल्पना नहीं कर सकता कि अंग्रेज़ लोग नाज़ियों की तरह 'ब्रूतैलितात' (बर्बरता) शब्द को खुले तौर से गौरवपूर्ण मानकर उसे प्रेम से दोहरा सकते हैं। जब वे कोई बर्बर काम कर भी डालते हैं, तो उससे कुछ-कुछ शर्मिन्दा होते हैं। लेकिन चाहे जर्मन हों, अंग्रेज़ हों, या हिन्दुस्तानी हों, मेरा

ख़याल है कि सभ्यतापूर्ण व्यवहार का हमारा आवरण इतना पतला है कि जब हमें रोष आता है तो वह भंग हो जाता है और उसके भीतर से हमारा वह स्वरूप प्रकट होता है जिसे देखना अच्छा नहीं लगता। महायुद्ध ने मनुष्य-जाति को भयंकर रूप से पाशविक बना दिया है, और उसके बाद ही हमने यह दृश्य देखा कि सन्धि हो जाने के बाद भी जर्मनी का भयंकर घेरा डाला जाकर उसे भूखों मारा गया। एक अंग्रेज़ लेखक ने लिखा है कि "यह एक सबसे अधिक निरर्थक, पाशविक और घृणित अत्याचार था, जैसा कि शायद ही किसी राष्ट्र ने कभी किया हो।" १८५७ और १८५८ की घटनाएँ हिन्दुस्तान भूला नहीं है। जब हमारे स्वार्थ ख़तरे में पड़ जाते हैं, तब हम अपने सारे सभ्य-व्यवहार और सारी शराफ़त भूल जाते हैं और झूठ ही 'प्रचार' का रूप धारण कर लेता है, बर्बरता ही 'वैज्ञानिक दमन' और 'क़ानून और व्यवस्था' की स्थापना बन जाती है।

यह किन्हीं व्यक्तियों या किसी ख़ास जाति का दोष नहीं है। वैसी ही परिस्थितियों में थोड़ा-बहुत हर कोई वैसा ही बर्ताव करता है। हिन्दुस्तान में, और विदेशी शासन के अधीन हर देश में, शासन करनेवाली शक्ति के ख़िलाफ़ हमेशा एक गुप्त चुनौती रहती है और समय-समय पर वह अधिक प्रकट और तेज़ होती रहती है। इस चुनौती से शासकवर्ग में हमेशा फ़ौजी गुण और दोष पैदा हो जाया करते हैं। पिछले कुछ सालों में हिन्दुस्तान में हमें इन फ़ौजी गुण-दोषों का दृश्य बहुत ही ज़्यादा अंश में देखने को मिला, क्योंकि हमारी चुनौती ज़ोरदार और कारगर हो गयी थी। लेकिन हिन्दुस्तान में हमें तो हमेशा ही फ़ौजी मनोवृत्ति (या उसके अभाव) को सहन करना पड़ता है। साम्राज्य की स्थापना का यह एक नतीजा है और इससे दोनों पक्षों का पतन होता है। हिन्दुस्तान का पतन तो साफ़ दीखता ही है, लेकिन दूसरे पक्ष का ज़्यादा सूक्ष्म है; संकट-काल में वह प्रकट हो जाता है। और एक तीसरा पक्ष भी है, जिसे बदक़िस्मती से दोनों तरह का पतन भोगना पड़ता है।

जेल में मुझे ऊँचे-ऊँचे अफ़सरों के भाषण, असेम्बली और कौंसिलों में उनके जवाब और सरकारी बयान पढ़ने की काफ़ी फ़ुरसत मिली। पिछले तीन सालों में, मैंने देखा कि उनमें एक स्पष्ट तब्दीली हो रही है, और यह तब्दीली अधिकाधिक प्रकट होती गयी है। उनमें डराने और धमकाने का रुख़ ज़्यादा-से-ज़्यादा बढ़ता गया है और वह रुख़ ऐसा हो गया था मानों कोई सार्जेण्ट-मेजर अपने मातहतों से बोल रहा हो। इसकी एक ध्यान देने योग्य मिसाल थी, नवम्बर या दिसम्बर १९३३ में, शायद बंगाल के मिदनापुर डिवीज़न के कमिश्नर का भाषण। इन सारे भाषणों में "पराजितों का सत्यानाश हो! हम विजयी हैं, हम जो चाहें सो करेंगे" की भावना लगातार रहती थी। ग़ैर-सरकारी यूरोपियन तो, ख़ासकर बंगाल में, सरकारी लोगों से भी आगे बढ़ जाते हैं और अपने भाषणों और कार्यों दोनों में उन्होंने बहुत निश्चित फ़ासिस्ट मनोवृत्ति दिखलाई है।

इसके भी अलावा, पाशविकता की एक और नंगी मिसाल थी, हाल में ही सिन्ध में कुछ अपराधी पाये गये व्यक्तियों को खुली तौर पर फाँसी देना। क्योंकि सिन्ध में जुर्म बढ़ रहे थे, इसलिये अधिकारियों ने तय किया कि इन मुजरिमों को सबके सामने फाँसी दी जाय, ताकि दूसरों पर भी इसका आतंक छा जाय। इस भयंकर दृश्य को आकर देखने के लिए पब्लिक को हर तरह की सहूलियतें दी गयीं और, कहा जाता है कि, इसे देखने कई हज़ार लोग गये भी थे।

तो जेल से रिहा होने के बाद, मैंने हिन्दुस्तान की राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों का अध्ययन किया और मुझे उन्हें देखकर ज़रा भी उत्साह नहीं मालूम हुआ। मेरे कई साथी जेल में थे, नई गिरफ़्तारियाँ जारी थीं, सारे आर्डिनेन्स अमल में आ रहे थे, सेन्सर से अख़बारों का गला घुटा हुआ था और हमारे पत्र-व्यवहार की व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गयी थी। मेरे एक साथी रफ़ी अहमद क़िदवई को अपने पत्रों के बुरी तरह सेन्सर किये जाने पर बड़ा गुस्सा आया। उनके ख़त रोक लिये जाते थे, देर से आते थे या गुम हो जाते थे और इससे उनके काम-काज में बड़ी रुकावट हो जाती थी। वह सेन्सर से अपने पत्रों के बारे में ज़्यादा एहतियात से काम लेने की अपील करना चाहते थे, लेकिन वह लिखते किसको? सेन्सर करनेवाला कोई सार्वजनिक अधिकारी नहीं था। शायद वह कोई सी० आई० डी० अफ़सर था जो अपना काम गुप्तरूप से करता था, जिसका अस्तित्व और कार्य प्रकट रूप से मंजूर भी नहीं किया गया था। रफ़ी अहमद ने इस मुश्किल को ख़ास तरह हल किया। उन्होंने 'सेन्सर' के नाम एक ख़त लिखा, लेकिन उस पर ख़ुद अपना पता लिखकर डाक में डाल दिया। निश्चय ही ख़त अपने ठीक मुक़ाम पर पहुँच गया और बाद में रफ़ी अहमद के पत्र-व्यवहार के बारे में कुछ सुधार हो गया।

मैं फिर जेल नहीं जाना चाहता था। उससे मेरा मन काफ़ी भर गया था। लेकिन मुझे यह नहीं सूझता था कि मैं उससे कैसे बच सकता था, जब तक कि मैं सब तरह की राजनैतिक प्रवृत्ति ही न छोड़ दूँ। ऐसा करने का तो मेरा इरादा नहीं था, इसलिए मुझे लगा कि मुझे सरकार के संघर्ष में आना ही पड़ेगा। किसी वक़्त भी मुझको ऐसा हुक्म मिल सकता था कि मैं कोई ख़ास काम न करूँ, और मेरी सारी प्रकृति किसी ख़ास काम के लिए मजबूर किये जाने के ख़िलाफ़ बग़ावत किया करती है। हिन्दुस्तान के लोगों को डराने और दबाने की कोशिश की जा रही थी। मैं लाचार था और बड़े क्षेत्र में कुछ नहीं कर सकता था, लेकिन कम-से-कम मैं व्यक्तिगत रूप से डराये और दबाये जाने से इन्कार तो कर ही सकता था।

वापस जेल जाने से पहले मैं कुछ कामों को निबटा भी डालना चाहता था। सबसे पहले तो मुझे अपनी माँ की बीमारी की तरफ़ ध्यान देना था। उनकी हालत बहुत धीरे-धीरे सुधर रही थी; इतनी धीरे कि कोई एक साल तक वह चारपाई पर ही रहीं। मैं गांधीजी से भी मिलने को उत्सुक था, जो कि पूना में अपने हाल

के ही उपवास से स्वास्थ्य-लाभ कर रहे थे। दो साल से ज़्यादा हुए मैं उनसे नहीं मिला था। मैं अपने सूबे के अधिक-से-अधिक साथियों से भी मिलना चाहता था, ताकि उनसे न सिर्फ़ हिन्दुस्तान की मौजूदा राजनैतिक स्थिति पर ही बल्कि संसार की परिस्थिति पर, और उन सब विचारों पर भी बातचीत करूँ, जो मेरे दिमाग़ में भरे हुए थे। उस वक़्त मेरा ख़याल था कि दुनिया बड़ी तेज़ी से एक महान् राजनैतिक और आर्थिक विपत्ति की तरफ़ जा रही है और अपने राष्ट्रीय कार्यक्रमों को बनाते वक़्त हमें इसका ध्यान रखना चाहिए।

अपने घरू मामलों की तरफ़ भी मुझे ध्यान देना था। अभी तक मैंने उनकी तरफ़ क़तई ध्यान नहीं दिया था और पिताजी की मृत्यु के बाद मैंने उनके काग़ज़-पत्रों की देख-भाल भी नहीं की थी। हमने अपना ख़र्चा बहुत कम कर दिया था, फिर भी वह हमारी शक्ति से बहुत अधिक था। लेकिन हम जबतक उस मकान में रहते हैं, तब तक उसे और कम करना मुश्किल था। हम मोटर नहीं रख रहे थे, क्योंकि उसका ख़र्च हम उठा नहीं सकते थे, और एक सबब यह भी कि सरकार उसे कभी भी ज़ब्त कर सकती थी। इन आर्थिक कठिनाइयों के बीच, मेरे पास आर्थिक सहायता माँगनेवाले बहुत पत्र आते थे, जिनसे मेरा ध्यान उधर भी खिंच जाता था। (सेन्सर इन पत्रों का ढेर-का-ढेर मेरे पास भेज देता था।) एक बड़ा आम और ग़लत ख़याल, ख़ासकर दक्षिण भारत में, यह फैला हुआ था कि मैं कोई बड़ा धनी आदमी हूँ।

मेरी रिहाई के बाद फ़ौरन ही मेरी छोटी बहिन कृष्णा की सगाई हो गई और मैं चिन्तित था कि जल्दी ही शादी हो जाय, मुझे फिर कहीं जेल न चला जाना पड़े इस ख़याल से। कृष्णा ख़ुद भी एक साल तक जेल काटकर कुछ महीने पहले छूटी थी।

जैसे ही माँ की बीमारी से मैंने छुट्टी पाई, मैं गांधीजी से मिलने पूना चला गया। उनसे मिलकर और यह देखकर मुझे ख़ुशी हुई, कि हालाँकि वह कमज़ोर थे, लेकिन वह अच्छी रफ़्तार से स्वास्थ्य-लाभ कर रहे थे। हमारे बीच लम्बी-लम्बी बातचीतें हुईं। यह साफ़ ज़ाहिर था कि जीवन, राजनीति और अर्थशास्त्र के हमारे दृष्टिकोणों में काफ़ी फ़र्क़ था। लेकिन मैं उनका कृतज्ञ हूँ कि उनसे जहाँतक बना उन्होंने उदारता-पूर्वक मेरे दृष्टिकोण के अधिक-से-अधिक नज़दीक आने की कोशिश की। हमारे पत्र-व्यवहार में, जो बाद में प्रकाशित भी हो गया था, मेरे दिमाग़ में भरे हुए कुछ अधिक व्यापक प्रश्नों पर विचार किया गया था, और हालाँकि उनका ज़िक्र कुछ गोलमोल भाषा में हुआ था, लेकिन दृष्टिकोण का सामान्य भेद साफ़ दीखता था। मुझे ख़ुशी हुई कि गांधीजी ने यह घोषित कर दिया कि स्थापित स्वार्थों को हटा देना चाहिए, हालाँकि उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि यह काम बल-प्रयोग से नहीं, बल्कि हृदय-परिवर्तन से होना चाहिये। चूँकि मेरे ख़याल से, उनके हृदय-परिवर्तन के कुछ तरीक़े नम्रता और विश्वास-

पूर्ण बल-प्रयोग से अधिक भिन्न नहीं हैं, इसलिए मुझे मतभेद ज़्यादा न लगा। उस वक़्त, पहले की ही तरह, मेरी उनके विषय में यह धारणा थी कि यद्यपि वह गोलमोल सिद्धान्तों पर विचार नहीं किया करते, तो भी घटनाओं के तर्कपूर्ण परिणामों को देखकर, धीरे-धीरे करके, वह आमूल सामाजिक परिवर्तन की अनिवार्यता मान लेंगे। वह एक विचित्र व्यक्ति हैं। श्री० वेरियर एलविन के शब्दों में वह 'मध्यकालीन कैथलिक साधुओं के ढंग के आदमी हैं'—लेकिन साथ ही, वह एक व्यावहारिक नेता भी हैं और हिन्दुस्तान के किसानों की नब्ज़ हमेशा उनके हाथ में रहती है। संकट-काल में वह किस दिशा में मुड़ जायँगे, यह कहना मुश्किल है; लेकिन दिशा कोई भी हो, उसका परिणाम ज़बरदस्त होगा। सम्भव है कि हमारे विचारों से वह ग़लत रास्ते जावें लेकिन हमेशा वह रास्ता सीधा ही होगा। उनके साथ काम करना तो अच्छा ही था, लेकिन अगर आवश्यकता हो, तो अलग-अलग रास्तों से भी जाना पड़ेगा।

उस वक़्त मेरा ख़याल था कि अभी तो यह सवाल नहीं उठता। हम अपनी राष्ट्रीय लड़ाई के मध्य में थे। अभी तक सविनय-भंग ही सिद्धान्ततः कांग्रेस का कार्यक्रम था, हालाँकि व्यक्तियों तक ही उसकी सीमा बाँध दी गयी थी। हमारी लड़ाई जारी रहे और साथ ही समाजवादी विचार लोगों में और ख़ासकर राजनैतिक दृष्टि से अधिक जाग्रत कांग्रेस कार्यकर्ताओं में फैलाने की कोशिश करनी चाहिये, ताकि जब नीति की घोषणा का दूसरा मौक़ा आवे तो हम काफ़ी आगे क़दम बढ़ाने को तैयार मिलें। इस बीच कांग्रेस तो ग़ैर-क़ानूनी संगठन थी ही और ब्रिटिश सरकार उसे कुचलने की कोशिश कर रही थी। हमें उस हमले का सामना करना था।

गांधीजी के सामने जो ख़ास समस्या थी वह थी व्यक्तिगत। उन्हें ख़ुद क्या करना चाहिए? वह बड़ी उलझन में थे। अगर वह फिर जेल गये, तो हरिजन-कार्य की सहूलियतों का वही सवाल फिर उठेगा, और बहुत मुमकिन था कि सरकार न झुके और वह फिर उपवास करें। तो क्या वही सारा क्रम फिर दोहराया जायगा? ऐसी चूहे-बिल्ली वाली नीति के सामने उन्होंने झुकने से इन्कार कर दिया, और कहा "अगर मुझे उन सहूलियतों के लिए उपवास करना पड़ा, तो रिहा कर दिये जाने पर भी मैं उपवास जारी रखूँगा।" इसका अर्थ था आमरण उपवास।

दूसरा रास्ता उनके सामने यह था कि वह अपनी सज़ा की मियाद तक (जिसमें से अभी साढ़े दस महीने बाक़ी थे) अपनी गिरफ़्तारी न करवायें और सिर्फ़ हरिजन-कार्य में ही आपने-आपको लगा दें; लेकिन साथ ही, उनका कांग्रेस-कार्यकर्ताओं से मिलते रहना, और जब ज़रूरत हो तब उन्हें सलाह भी देना ज़रूरी ही था।

उन्होंने मुझे एक तीसरा रास्ता भी सुझाया कि वह कुछ अर्से के लिए कांग्रेस से बिलकुल अलग हो जायँ और उसे (उनके ही शब्दों में) 'नई पीढ़ी' के हाथों में छोड़ दें।

पहले रास्ते की, जिसका अन्त उपवास-द्वारा प्राणान्त कर देना मालूम होता था, हममें से कोई भी सिफ़ारिश नहीं कर सकता था। तीसरा रास्ता भी, जब कि कांग्रेस एक ग़ैरक़ानूनी संस्था थी, ठीक मालूम नहीं हुआ। इस रास्ते का नतीजा यह होता कि सविनय-भंग और सब तरह की 'सीधी लड़ाई' फ़ौरन् वापस ले ली जाती और फिर क़ानूनी और वैध प्रवृत्ति पर लौटना पड़ता या कांग्रेस ग़ैर-क़ानूनी होकर और सबसे, अब तो गांधीजी तक से, विलग होकर सरकार-द्वारा और भी ज़्यादा कुचली जाती। इसके अलावा, एक ग़ैर-क़ानूनी संस्था पर, जो मीटिंग करके किसी नीति पर विचार नहीं कर सकती थी, किसी दल का क़ब्ज़ा कर लेने का कोई सवाल ही नहीं उठता था। इस तरह और रास्तों को छोड़ते हुए हम उनके सुझाये दूसरे उपाय पर आ गये। हममें से ज़्यादातर लोग उसे नापसन्द करते थे और हम जानते थे कि उससे बचे-खुचे सविनय-भंग को एक भारी आघात पहुँचेगा। अगर नेता ही लड़ाई में से हट जायगा, तो यह सम्भव नहीं था कि उत्साही कांग्रेसी-कार्यकर्ता लोग आग में कूद पड़ेंगे; लेकिन उलझन में से निकलने का और कोई रास्ता ही न था, और इसीके अनुसार गांधीजी ने अपनी घोषणा कर दी।

गांधीजी और मैं, दोनों इस बात पर सहमत थे, हालाँकि हमारे कारण अलग-अलग थे, कि सविनय-भंग को वापिस लेने का अभी वक़्त नहीं आया है और चाहे आन्दोलन धीरे-धीरे चले, लेकिन उसे जारी रखना ही चाहिए। और, कुछ भी हो, मैं लोगों का ध्यान समाजवादी सिद्धान्तों और संसार की परिस्थिति की ओर भी खींचना चाहता था।

लौटते हुए मैंने कुछ दिन बम्बई में बिताये। ख़ुशक़िस्मती से उदयशंकर उन दिनों वहीं थे। मैंने उनका नृत्य देखा। मैंने इस मनोरंजन से, जिसका पहले से कोई ख़याल नहीं था, बड़ा आनन्द उठाया। नाटक, संगीत, सिनेमा, टॉकी, रेडियो, ब्राडकास्टिंग—यह सब पिछले कई वर्षों से मेरी पहुँच के बाहर थे, क्योंकि स्वतन्त्र रहने के वक़्त भी मैं दूसरे कार्यों में बहुत ज़्यादा लगा रहता था। अभी तक मैं सिर्फ़ एक बार ही टॉकी देख पाया हूं, और बड़े-बड़े अभिनेताओं के मैं सिर्फ़ नाम ही सुनता हूं। मुझे नाटक देखने का अभाव ख़ासतौर पर अखरता है और विदेशों में नये-नये खेलों के तैयार होने का वर्णन मैं बड़े रश्क से पढ़ता रहता हूँ। उत्तर हिन्दुस्तान में, जेल से बाहर होने की हालत में भी, अच्छे खेल देखने का कोई मौक़ा न था, क्योंकि मैं मुश्किल से उनतक पहुँच पाता था। मेरा ख़याल है कि बंगाली, गुजराती और मराठी नाटक साहित्य ने कुछ प्रगति की है, लेकिन हिन्दुस्तानी रंगमंच ने—जो कि निहायत भद्दा और कला-हीन है, या था, क्योंकि मुझे हाल की प्रगति का हाल नहीं मालूम—कुछ भी प्रगति नहीं की। मैंने यह भी सुना है कि हिन्दुस्तानी फ़िल्म, मूक और सवाक्, दोनों में कला का प्रायः अभाव ही रहता है। उनमें आमतौर पर सुरीले गानों या ग़ज़लों की ही प्रधानता रहती है और उनका कथाभाग हिन्दुस्तान के पुराने इतिहास या पुराणों

से लिया होता है।

मेरे ख़याल से, उनमें वह सब चीज़ मिल जाती है जिसकी शहर के लोग क़द्र करते हैं। इन भद्दे और दुःखदायी प्रदर्शनों में और देश में अब भी बचे-खुचे लोग-गीतों, नृत्य और देहाती नाटकों तक की कला में अन्तर साफ़ दिखाई देता है। बंगाल में, गुजरात में और दक्षिण में कभी-कभी यह देखकर बड़ा आश्चर्य और आनन्द होता है, कि मूलतः लेकिन अनजान में, देहात के लोग कितने कलामय हैं। लेकिन मध्यमवर्ग वालों का हाल ऐसा नहीं है। वे मानो अपनी जड़ों से टूट गये हैं, और उन के पास सौन्दर्य या कला की कोई परम्परा नहीं रही है, जिससे वे चिपके रहें। वे जर्मनी और आस्ट्रिया में बहुतायत से बने हुए सस्ते और वीभत्स चित्रों को रखने में ही अपनी शान समझते हैं, और ज़्यादा किया तो कभी-कभी रवि वर्मा के चित्र रख लेते हैं। संगीत में उनका प्यारा बाजा हारमोनियम है। (मुझे आशा है कि स्वराज्य-सरकार के प्रारम्भिक कामों में एक यह भी होगा कि वह इस भयानक वाद्य पर प्रतिबन्ध लगा दे।) लेकिन दुःखदायी भद्देपन और कला के सब सिद्धान्तों की अवहेलना की पराकाष्ठा तो शायद लखनऊ और दूसरी जगह के बड़े-बड़े ताल्लुक़ेदारों के घरों में दिखायी देती है। उनके पास ख़र्च करने को पैसा होता है और दिखावे की इच्छा; और वे ऐसा ही करते भी हैं, और जो लोग उनके यहाँ जाते हैं, उन्हें उनकी इस इच्छा-पूर्ति का दुःखी गवाह बनना पड़ता है।

हाल में ही प्रतिभाशाली ठाकुर-परिवार के नेतृत्व में कुछ कला-जागृति हुई है और उसका प्रभाव सारे हिन्दुस्तान पर दिखायी देता है; लेकिन जबकि देश के लोगों पर तरह-तरह की रुकावटें और बन्धन हैं, उन्हें दबाया जाता है और वे आतंक के वातावरण में रहते हैं, तब कोई भी कला किसी बड़े पैमाने पर कैसे फल-फूल सकती है?

बम्बई में मैं कई दोस्तों और साथियों से मिला, जिनमें से कुछ तो हाल में ही जेल से निकले थे। समाजवादी लोगों की तादाद वहाँ ज़्यादा थी और कांग्रेस के ऊँचे हल्कों में जो हाल में घटनाएँ घटी थीं उन पर उन्हें बड़ा रोष था। गांधीजी राजनीति में जो आध्यात्मिक दृष्टिकोण लगाया करते थे, उसकी सख़्त आलोचना हो रही थी। अधिकांश आलोचना से मैं सहमत था, लेकिन मेरी साफ़ राय थी कि हमारी उस वक़्त की परिस्थिति में और कोई चारा न था और हमें अपना काम जारी ही रखना था। सविनय-भंग को वापस लेने की कोशिश भी की जाती, तो उसमें भी हमें कोई राहत न मिलती, क्योंकि सरकार का आक्रमण तो जारी रहता और कुछ भी कारगर काम किया जाता तो उसका नतीजा जेलखाना ही होता। हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन ऐसी हालत में पहुँच गया था कि सरकार को उसे दबा ही देना पड़ता, वरना ब्रिटिश सरकार को हमारी इच्छा माननी पड़ती। इसके मानी यह थे कि वह ऐसी हालत में आ गया था कि जब उसका हमेशा ही ग़ैर-

क़ानूनी क़रार दिया जाना मुमकिन था और आन्दोलन, चाहे सविनय-भंग भी बन्द कर दिया जाय तो भी, अब पीछे नहीं जा सकता था। असल में, सविनय-भंग के जारी रहने से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता था, असली महत्त्व नैतिक विरोध का था। लड़ाई के बीच नये विचारों का फैलाना उस वक़्त की बनिस्बत आसान था, जबकि लड़ाई बन्द कर दी गयी हो और लोगों का हौसला पस्त पड़ने लगा हो। लड़ाई के अलावा दूसरा रास्ता सिर्फ़ यही था कि ब्रिटिश ताक़त के साथ समझौते की मनोवृत्ति रक्खी जाय और कौंसिलों में जाकर वैध काम किया जाय।

वह एक कठिन स्थिति थी, लेकिन कोई भी रास्ता ढूँढ़ना आसान न था। अपने साथियों के मानसिक संघर्षों को मैं समझ सकता था, क्योंकि ख़ुद मुझे भी उनका सामना करना पड़ा था। लेकिन, जैसा कि हिन्दुस्तान में दूसरी जगह भी पाया गया है, वहाँ मुझे ऐसे भी लोग दिखायी दिये, जो ऊँचे समाजवादी सिद्धान्त के बहाने कुछ भी नहीं करना चाहते थे। इस बात से मुझे कुछ चिढ़ होती थी कि जो लोग ख़ुद कुछ न करें, वे उन दूसरे लोगों को, जिन्होंने सब प्रकार के कष्ट सहते हुए लड़ाई का सारा भार उठाया, प्रतिगामी बताकर उनकी आलोचना करें। ये आराम-कुरसीवाले समाजवादी लोग गांधीजी पर ख़ासतौर पर ज़ोर का वार करते हुए उन्हें प्रतिगामियों का सिरताज बताते हैं और ऐसी-ऐसी दलीलें देते हैं, जिनमें तर्क की दृष्टि से कोई कसर नहीं रहती है; लेकिन सीधी-सी बात तो यह है कि यह 'प्रतिगामी' व्यक्ति हिन्दुस्तान को जानता और समझता है और किसान-हिन्दुस्तान का क़रीब-क़रीब मूर्तिमान् स्वरूप बन गया है और इसने इस तरह हिन्दुस्तान को हिला दिया है जैसा क्रान्तिकारी कहे जानेवाले किसी भी व्यक्ति ने नहीं किया है। उनके सबसे ताज़े हरिजन-सम्बन्धी कार्यों ने भी, हलके-हलके लेकिन अबाध रूप से हिन्दू कट्टरता कम कर दी है और उसकी बुनियाद हिला दी है। सारे कट्टर-पन्थी लोग उनके ख़िलाफ़ उठ खड़े हुए हैं और उन्हें सबसे ख़तरनाक दुश्मन समझते हैं, हालाँकि वह उनके साथ सोलहों आना शिष्टता और सौजन्य ही का व्यवहार करते हैं। अपने ख़ास-ढंग से ज़बरदस्त ताक़तों को जाग्रत कर देने का उनमें स्वभावसिद्ध गुण है, जो कि पानी की लहरों की तरह चारों ओर फैल जाती हैं और लाखों आदमियों पर अपना असर डालती हैं। चाहे वह प्रतिगामी हों या क्रान्तिकारी, उन्होंने हिन्दुस्तान का स्वरूप बदल दिया है। उस जनता में, जो हमेशा हाथ जोड़ती और डरती रहती थी, स्वाभिमान और चरित्र-बल भर दिया है। उन्होंने आम लोगों में शक्ति और चेतना पैदा की है और हिन्दुस्तान की समस्या संसार की समस्या बना दी है। इस बात को दूर रखते हुए कि अहिंसात्मक असहयोग या सविनय-भंग के आध्यात्मिक परिणाम क्या-क्या हैं, यह सही है कि वह हिन्दुस्तान और संसार के लिए उनकी एक अद्वितीय और शक्तिशाली देन है और इसमें कोई शक नहीं हो सकता कि वह हिन्दुस्तान की परिस्थिति के लिए ख़ासतौर पर उपयुक्त सिद्ध हुआ है।

मेरे ख़याल से यह ठीक है कि हम सच्ची आलोचना को प्रोत्साहित करें और अपनी समस्याओं पर जितना भी सार्वजनिक वाद-विवाद कर सकें करें। दुर्भाग्य से गांधीजी की सर्वोपरि स्थिति के कारण भी किसी हदतक इस प्रकार के वाद-विवाद में रुकावट पड़ गयी है। उनके ऊपर अवलम्बित रहने और निर्णय का काम उन्हीं पर छोड़ देने की प्रवृत्ति हमेशा रही है। स्पष्टतः यह ग़लत बात है और राष्ट्र तो उद्देश्यों और साधनों को बुद्धिपूर्वक ग्रहण करके ही आगे बढ़ सकता है और जब इन्हींके आधार पर, न कि अन्ध आज्ञा-पालन पर, सहयोग और अनुशासन स्थापित होगा, तभी देश की प्रगति होगी। कोई व्यक्ति कितना भी बड़ा क्यों न हो, आलोचना से परे नहीं होना चाहिए; लेकिन जब आलोचना निष्क्रियता का आश्रयरूप बन जाती है, तो उसमें कुछ-न-कुछ बिगाड़ समझना चाहिए। इस प्रकार की आलोचनाएँ करने पर समाजवादी लोग जनता की निन्दा के पात्र बन जायँगे, क्योंकि जनता तो काम से आदमी की परख करती है। लेनिन ने कहा है कि "जो आदमी भविष्य के आसान कामों के स्वप्नों के ऊपर वर्तमान के कठिन कामों को करना छोड़ देता है, वह अवसरवादी बन जाता है। सिद्धान्त-रूप से इसका तात्पर्य है असली वास्तविक जीवन में इस समय होनेवाली घटनाओं पर अपना आधार रखने में विफल होना, और स्वप्नों के नाम पर उनसे अलग पड़ जाना।"

हिन्दुस्तान के समाजवादी और कम्युनिस्ट लोग अपने विचार अधिकतर औद्योगिक मज़दूर-वर्ग-सम्बन्धी साहित्य से बनाते हैं। कुछ ख़ास हलकों में, जैसे बम्बई या कलकत्ते के पास, कारख़ानों के मज़दूर बड़ी तादाद में हैं, लेकिन हिन्दुस्तान का बाक़ी हिस्सा तो किसानों का ही है और कारख़ानों के मज़दूरों के दृष्टिकोण से हिन्दुस्तान की समस्या का कारगर हल नहीं मिल सकता। यहाँ तो राष्ट्रीयता और ग्रामीण सुव्यवस्था ही सबसे बड़े सवाल हैं और यूरप के समाजवाद का इनसे शायद ही कुछ सम्बन्ध हो। रूस में महायुद्ध से पहले की हालत हिन्दुस्तान से बहुत-कुछ मिलती-जुलती थी, मगर वहाँ तो बहुत ही असाधारण घटनाएं हो गयीं और वैसी ही घटनाएं फिर दूसरी जगह होंगी यह उम्मीद करना बेवक़ूफ़ी होगी। लेकिन इतना मैं ज़रूर जानता हूँ कि कम्युनिज़्म के तत्त्वज्ञान से किसी भी देश की मौजूदा परिस्थिति को समझने और उसका विश्लेषण करने में मदद मिलती है और आगे प्रगति का रास्ता मालूम होता है; लेकिन उस तत्त्वज्ञान के साथ यह ज़बरदस्ती और बेइन्साफ़ी होगी कि उसे वस्तुस्थिति और परिस्थिति का मुनासिब ख़याल न रखते हुए आँख मूँदकर हर जगह लागू कर दिया जाय।

कुछ भी हो, जीवन एक बड़ी जटिल समस्या है और जीवन के संघर्षों और विरोधों से कभी-कभी आदमी निराश-सा हो जाता है। इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं कि लोगों में मतभेद पैदा हो जाय या वे साथी, जो समस्याओं को एक ही दृष्टिकोण से देखते हैं, अलग-अलग नतीजों पर पहुँचें; लेकिन वह

आदमी, जो अपनी कमज़ोरी को बड़े-बड़े वाक्यों और ऊँचे-ऊँचे उसूलों के पर्दे में छिपाता है, ज़रूर सन्देह का पात्र बन सकता है। जो शख़्स सरकार को इक़रारनामे और वादे लिखकर या और किसी सन्देहास्पद व्यवहार से जेल जाने से अपने-आपको बचाता है और फिर दूसरों की आलोचना करने का दुःसाहस करता है, वह अपने कार्य को नुक़सान पहुँचाने की सम्भावना पैदा करता है।

बम्बई बड़ा शहर है और उसमें सब जगह के और सब तरह के लोग रहते हैं। लेकिन एक प्रमुख नागरिक ने तो अपने राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक दृष्टिकोण में बड़ी मार्के की सर्वग्रहणशीलता दिखायी। मज़दूर की हैसियत से वह समाजवादी थे; राजनीति में वह आमतौर पर अपने को डिमोक्रेट (लोकतन्त्रवादी) कहते थे; हिन्दू-सभा भी उन्हें बहुत चाहती थी। उन्होंने वादा किया कि मैं पुराने धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाजों की रक्षा करूँगा और उनमें कौंसिल को दख़ल न देने दूँगा, मगर चुनाव के वक़्त में वह सनातनियों की तरफ़ से उम्मीदवार हुए, जो कि प्राचीनता के महान् पुजारी हैं। इन विविध और सतत परिवर्तनशील प्रवृत्तियों से भी जब वह न थके, तो उन्होंने अपनी शेष शक्ति कांग्रेस की आलोचना करने और गांधीजी को प्रतिगामी बताने में लगायी। कुछ और लोगों के सहयोग से उन्होंने कांग्रेस डिमोक्रेटिक (लोकतन्त्रात्मक) पार्टी खड़ी की, जिसका लोकतन्त्रवाद से कोई भी ताल्लुक़ न था और जो कांग्रेस से इतना ही सम्बन्ध रखती थी कि उस महान् संस्था पर दोषारोपण करे। और भी नये-नये क्षेत्रों में विजयी होने की आकांक्षा से, वह मज़दूरों के प्रतिनिधि बनकर जेनेवा मज़दूर-कान्फ्रेंस में भी शरीक हुए। इससे किसी के मन में यह ख़याल हो सकता है कि शायद वह इंग्लैण्ड की परम्परा पर हिन्दुस्तान की 'राष्ट्रीय' सरकार के प्रधानमन्त्री बनने की योग्यता प्राप्त कर रहे हैं।

इतने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों और कार्यों का अनुभव बहुत ही थोड़े लोगों को होगा। फिर भी कांग्रेस के समालोचकों में ऐसे कई लोग थे, जिन्होंने भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में प्रयोग किया था, और जो हर जगह अपनी टाँग अड़ाते थे। इनमें से कुछ लोग अपने-आपको समाजवादी कहते थे और उनके कारण समाजवाद उलटा बदनाम होता था।

५१

लिबरल दृष्टिकोण

गांधीजी से मिलने जब मैं पूना गया था, तो एक दिन शाम को मैं उनके साथ 'सर्वेण्ट्स आफ़ इण्डिया सोसाइटी' के भवन में चला गया। क़रीब एक घण्टे तक सोसाइटी के कुछ सदस्य उनसे राजनैतिक मामलों पर सवाल करते रहे और वह उनका जवाब देते रहे। न तो उस वक़्त वहाँ श्री श्रीनिवास शास्त्री

थे और न पण्डित हृदयनाथ कुंजरू ही, जो शायद बाक़ी के सदस्यों में सबसे ज़्यादा क़ाबिल हैं, लेकिन कुछ सीनियर मेम्बर मौजूद थे। हममें से कुछ लोग, जो उस वक़्त वहाँ उपस्थित थे, बड़े अचरज से सब कुछ सुनते रहे, क्योंकि सवाल बिलकुल ही छोटी-छोटी घटनाओं के बारे में पूछे जा रहे थे, वे ज़्यादातर गांधीजी की वाइसराय से मुलाक़ात की पुरानी दरख़्वास्त और वाइसराय के इन्कार के बारे में थे। क्या ऐसे समय में जब कि ख़ुद उनका ही देश आज़ादी की अच्छी करारी लड़ाई लड़ रहा था और सैकड़ों संस्थाएं ग़ैर-क़ानूनी क़रार दी जा रही थीं, अनेक समस्याओं से भरी हुई दुनिया में यही एक विषय उनकी चर्चा के लिए रह गया था? किसान नाज़ुक वक़्त से गुज़र रहे थे और औद्योगिक मन्दी चल रही थी, जिससे कि व्यापक बेकारी फैल रही थी। बंगाल, सीमा-प्रान्त और हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सों में भयंकर घटनाएं घट रही थीं; विचार, भाषण, लेखन और सभाओं की स्वतन्त्रता दबाई जा रही थी और दूसरी भी कई राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएं मौजूद थीं। लेकिन सवाल सिर्फ़ महत्त्वशून्य घटनाओं तथा, यदि गांधीजी वाइसराय से मिलना चाहें तो वाइसराय और भारत-सरकार पर इसकी क्या प्रतिक्रिया होगी, तक सीमित रहे।

मुझे बड़े ज़ोरों से कुछ ऐसा महसूस होने लगा मानो मैं किसी धर्म-मठ में आ घुसा हूँ, जिसके निवासियों का अर्से से बाहरी दुनिया के साथ किसी तरह का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहा है। फिर भी हमारे दोस्त क्रियाशील राजनीतिज्ञ थे, और उनके साथ सार्वजनिक सेवा और क़ुर्बानी की लम्बी सूची जुड़ी थी। वे तथा कुछ और लोग लिबरल पार्टी के मेरुदंड थे। पार्टी के बाक़ी लोग तो अस्पष्ट विचारों वाले चित्र-विचित्र आदमी थे, जो राजनीतिक हलचल में भाग लेने की अनुभूति का कभी-कदास उपभोग कर लेना चाहते थे। इनमें से कुछ लोग तो—ख़ासकर बम्बई और मद्रास में—ऐसे थे, जिनमें और सरकारी अधिकारियों में फ़र्क़ ही नज़र नहीं आता था।

जिस तरह का प्रश्न एक देश पूछा करता है, उसी हद तक उसकी राजनैतिक प्रगति मालूम होती है। अक्सर उस देश की नाकामयाबी का कारण भी यही होता है कि उसने अपने-आपसे ठीक तरह का सवाल नहीं पूछा। जिस हदतक हम कौंसिलों की सीटों के बँटवारे पर अपना वक़्त, अपनी ताक़त और अपना मिज़ाज बिगाड़ा करते हैं, या जिस हदतक हम साम्प्रदायिक निर्णय पर पार्टियाँ बनाया करते हैं और उसपर फ़िजूल का इतना वाद-विवाद करते हैं कि उससे ज़रूरी सवाल ही छूट जाते हैं, उसी हदतक हमारी पिछड़ी हुई राजनैतिक हालत मालूम हो जाती है। इसी तरह उस दिन गांधीजी से 'सर्वेण्ट्स आफ़ इण्डिया सोसाइटी' के भवन में जो-जो सवाल पूछे गये थे, उनमें उस सोसाइटी और लिबरल-पार्टी की अजीब मनोदशा प्रतिबिम्बित होती थी। ऐसा मालूम होता था कि उनके न तो कोई राजनैतिक या आर्थिक सिद्धान्त हैं, न

कोई व्यापक दृष्टि है। उनकी राजनीति तो रईसों के दीवानख़ानों या दरबारों की-सी चीज़ दिखायी देती थी। मानो इनकी यही जानने की इच्छा रहा करती थी कि हमारे उच्च अधिकारी क्या करेंगे या क्या नहीं करेंगे।

'लिबरल-पार्टी' नाम से भी धोखा हो सकता है। दूसरे मुल्कों में और ख़ासकर इंग्लैण्ड में, इस शब्द से एक ख़ास आर्थिक नीति का--मुक्त व्यापार आदि--और व्यक्तिगत आज़ादी तथा नागरिक स्वतन्त्रताओं के एक ख़ास आदर्शवाद का मतलब समझा जाता था। इंग्लैण्ड की लिबरल-परम्परा की बुनियाद आर्थिक थी। व्यापार में आज़ादी और राजा के एकाधिकारों और मनमाने टैक्सों से छुटकारा मिलने की इच्छा से ही राजनैतिक स्वतन्त्रता की ख़्वाहिश पैदा हुई। मगर हमारे हिन्दुस्तान के लिबरलों का ऐसा कोई आधार नहीं है। मुक्त व्यापार में उनका विश्वास नहीं, क्योंकि वे क़रीब-क़रीब सभी संरक्षणवादी हैं और जैसा कि हाल की घटनाओं ने बता दिया है वे नागरिक स्वतन्त्रताओं का भी कोई महत्त्व नहीं समझते। अर्ध-माण्डलिक और एकतन्त्री देशी रियासतों से उनका गहरा सम्बन्ध और सामान्यरूप से समर्थन साबित करता है कि वे यूरोपियन ढंग के लिबरलों से बहुत भिन्न हैं। सचमुच हिन्दुस्तान के लिबरल किसी मानी में भी लिबरल नहीं हैं, या वे सिर्फ़ दिखावे के लिबरल हैं। वे ठीक-ठीक क्या हैं, यह कहना मुश्किल है। उनके विचारों का कोई एक निश्चित दृढ़ आधार नहीं है, और हालाँकि उनकी तादाद थोड़ी ही है, लेकिन आपस में भी उनके विचार जुदा-जुदा हैं। वे नकारात्मक रूप में ही दृढ़ता दिखाते हैं। हर जगह उन्हें ग़लती-ही-ग़लती दिखायी देती है। उससे बचने की वे कोशिश करते रहते हैं और आशा यह करते हैं कि इसी तरह वे सचाई को हासिल कर लेंगे। उनकी निगाह में सचाई सिर्फ़ दो पराकाष्ठाओं के बीच हो हुआ करती है। हर ऐसी चीज़ की निन्दा करके, जिसे वे पराकाष्ठा मानते हैं, वे समझते हैं कि वे निष्ठावान, मध्यम-मार्गी और नेक आदमी हैं। इस तरीक़े से वे विचार करने के कष्ट-प्रद और कठिन कार्य से तथा रचनात्मक विचारों को पेश करने की आफ़त से बच जाते हैं। उनमें से कुछ लोग अस्पष्ट रूप से महसूस करते हैं कि पूँजीवाद यूरप में पूरी तरह कामयाब नहीं हुआ है और संकट में पड़ा हुआ है, और दूसरी तरफ़ समाजवादी तो ज़ाहिरा तौर पर ही ख़राब है, क्योंकि उससे स्थापित स्वार्थों पर हमला होता है। शायद भविष्य में कोई रहस्यवादी हल, कोई मध्यममार्ग मिल ही जायगा, इस बीच, स्थापित स्वार्थों की रक्षा होनी चाहिए। अगर इस बाबत बातचीत की जाय कि पृथ्वी चपटी है या गोल, तो शायद वह इन दोनों ही पराकाष्ठाओं के विचारों की निन्दा करेंगे और थोड़ी देर को यही सुझायेंगे कि वह शायद चौकोर या अण्डाकार होगी।

बहुत छोटे-छोटे और महत्त्वशून्य मामलों पर भी वे बहुत भड़क जाते हैं और इतना हो-हल्ला और शोर-गुल मचा देते हैं कि कुछ पूछिए नहीं। जान में या अनजान

में वे मौलिक सवालों को हाथ नहीं लगाते, क्योंकि ऐसे सवालों के लिए तो मौलिक उपायों की, और साहसपूर्ण विचार और कार्यक्रम की ज़रूरत होती है। इसलिए लिबरलों की विजय या पराजय का कोई नतीजा नहीं होता। उनका किसी सिद्धान्त से सम्बन्ध नहीं होता। इस पार्टी की बड़ी विशेषता और ख़ास लक्षण, अगर उसे लक्षण कहा जा सके, यह है कि हर अच्छी और बुरी बात में नरम रहना। यही इनके जीवन का दृष्टिकोण है और इनका पुराना नाम—मॉडरेट—ही शायद सबसे ठीक था।

"मॉडरेट होने में ही हम फूले नहीं समाते हैं,
नरम गरम हमको कहते, औ' गरम नरम बतलाते हैं !"[1]

लेकिन मॉडरेट-वृत्ति कितनी भी प्रशंसनीय क्यों न हो, वह कोई तेजोमय गुण नहीं है। यह वृत्ति तेज-हीनता पैदा करती है और इसलिए हिन्दुस्तान के लिबरल बदक़िस्मती से एक 'तेज-हीन-दल' बन गये हैं—वे चेहरे से गुरु-गम्भीर, लेखों और बातचीत में तेजोहीन और विनोद-प्रियता से ख़ाली होते हैं। निश्चय ही इनमें कुछ अपवाद भी हैं और एक सब से बड़े अपवाद हैं सर तेजबहादुर सप्रू, जिनका व्यक्तिगत जीवन निश्चय ही नीरस और विनोद-रहित नहीं है, बल्कि वे अपने विरुद्ध किये गये मज़ाक़ में भी रस लेते हैं। लेकिन कुल मिलाकर लिबरल-दल मध्यम-वर्गशाही का साकार रूप है। इलाहाबाद के 'लीडर' ने, जो प्रमुख लिबरल अख़बार है, पिछले साल अपने एक अग्रलेख में लिबरल मनोवृत्ति को बहुत स्पष्टता से प्रकट कर दिया था। उसने बताया था कि बड़े और असाधारण लोगों ने दुनिया को हमेशा ही मुसीबतों में डाला है। इसलिए उसकी राय थी कि मामूली मध्यम दरजे के लोग ही ज़्यादा अच्छे होते हैं। बड़े सुन्दर और साफ़ ढंग से इस अख़बार ने मध्यता के ऊपर अपना झंडा गाड़ दिया है।

'नरमी', रूढ़ि-प्रियता और ख़तरों तथा अचानक परिवर्तनों से बचने की इच्छा बुढ़ापे के अनिवार्य साथी हैं। ये बातें नौजवानों को बिलकुल नहीं शोभा देतीं। लेकिन हमारा तो देश भी पुरातन और बूढ़ा है; कभी-कभी इसके बच्चे भी कमज़ोर और थके हुए पैदा होते मालूम होते हैं और उनमें तेज-हीनता और बुढ़ापे के चिह्न होते हैं ! लेकिन परिवर्तन की शक्तियों से यह बूढ़ा देश भी अब हिल उठा है और नरम दृष्टिकोण रखनेवाले लोग घबरा-से गये हैं। पुरानी दुनिया गुज़र रही है, और लिबरल लोग कितनी भी योग्यता से बुद्धिमत्तापूर्ण काम करने की मीठी सलाह दें, उससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। तूफ़ान या बाढ़ या भूकम्प को समझा-बुझा कर कहीं रोका जा सकता है ? उनकी पुरानी धारणाएँ काम नहीं देतीं और नये-नये तरह के विचार और काम करने की उनमें हिम्मत नहीं। यूरोपियन परम्परा के बारे में डाक्टर ए० एन० व्हाइटहेड कहते हैं—"यह सारी परम्परा इस दूषित धारणामें पड़ी है कि हर पीढ़ी बहुत-कुछ उन्हीं परिस्थितियों

[1] एलेक्ज़ेण्डर पोप के अंग्रेज़ी पद्य का भावानुवाद।

में जीवन बितायेगी, जिनमें उनके पुरखों के जीवन का निर्माण हुआ था और वही परिस्थितियाँ आगे भी उतने ही बल से उनकी सन्तानों का जीवन-निर्माण करेंगी। हम मनुष्य-जाति के इतिहास में ऐसे प्रथम युग में रह रहे हैं, जिसके लिए यह धारणा बिलकुल ग़लत है।'' डा० व्हाइटहेड ने भी अपने इस विश्लेषण में थोड़ी नरमी दिखलाने की ग़लती की है, क्योंकि शायद वह धारणा हमेशा ही ग़लत रही है। अगर यूरप की परम्परा रूढ़िवादी रही है, तो हमारी परम्परा तो और भी अधिक रही है। लेकिन जब परिवर्तन का युग आता है तब इतिहास इन परम्पराओं की तरफ़ ज़रा भी ध्यान नहीं देता। हम लाचारी से देखते रह जाते हैं और अपनी योजनाओं की असफलताओं का दोष दूसरों के मत्थे मढ़ देते हैं। और जैसा कि श्री जेराल्ड हर्ड बतलाते हैं, ''सबसे विनाशकारी यही भ्रम है, कि मनुष्य दिल में यह मान बैठे कि उसकी योजना उसकी विचार-पद्धति की ग़लती से नहीं, बल्कि किसी दूसरे के जानबूझ कर बाधा डालने से असफल हुई है।''

इस भयंकर भ्रम के शिकार हम सभी हैं। मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि गांधीजी भी इससे बरी नहीं हैं। मगर हम कम-से-कम कुछ-न-कुछ काम तो करते ही हैं; जीवन के सम्पर्क में तो आने की कोशिश करते हैं और तजर्बे और ग़लतियों के ज़रिये भी हम कभी-कभी इस भ्रम का भान कर लेते हैं, और लुढ़कते हुए भी किसी तरह आगे बढ़ते तो जाते हैं; लेकिन लिबरल सबसे ज़्यादा दुःख उठाते हैं। क्योंकि इस डर से कि कहीं हमसे कोई ग़लत काम न हो जाय, वे काम ही नहीं करते, और गिर या फिसल जाने के डर से वे आगे क़दम ही नहीं बढ़ाते। जनता के साथ वे हार्दिक सम्पर्क स्थापित करने से दूर ही रहते हैं, और अपने ही विचारों की तंग कोठरियों में मोहित और समाधिस्थ से बैठे रहते हैं। डेढ़ साल पहले श्री श्रीनिवास शास्त्री ने अपने संगी-साथी लिबरलों को चेतावनी दी थी कि उन्हें चुपचाप खड़े देखते न रहना चाहिए और सब कुछ यों ही गुजरने न देना चाहिए। उस चेतावनी में वह जितनी सचाई समझते थे, उससे कहीं ज्यादा सचाई थी। सरकार क्या कर रही है, इस बात का ही हमेशा विचार करते रहने का कारण, वह उन विधान-सम्बन्धी परिवर्तनों की तरफ इशारा कर रहे थे, जिन्हें भिन्न-भिन्न सरकारी कमिटियां बना रही थीं। लेकिन लिबरलों की बदकिस्मती यह थी कि जब उनके ही देशवासी आगे बढ़ रहे थे, तब वे चुपचाप खड़े-खड़े तमाशा देख रहे थे और घटनाओं को यों ही गुज़रने दे रहे थे। वे अपने ही लोगों से डरते थे और हमारे शासकों से तिनका तोड़ने के बजाय उन्होंने इन आम लोगों से दूर रहना ही ज्यादा अच्छा समझा। फिर इसमें आश्चर्य ही क्या था कि वे अपने ही देश में अजनबी से बन गये। दुनिया आगे बढ़ गई और उन्हें वहीं-का-वहीं छोड़ गयी। जब लिबरलों के देशवासी ज़िन्दगी और आज़ादी के लिए भयंकर लड़ाइयां

लड़ रहे थे, तब इसमें कोई शक नहीं रह गया था कि लिबरल किस पक्ष में खड़े हैं। प्रतिपक्षी की तरफ़ जाकर वे हमें नेक सलाहें देते थे और बड़ी-बड़ी नैतिक बातें करते थे। गोलमेज़-कान्फ्रेन्सों और कमिटियों में जो सहयोग उन्होंने सरकार को दिया, वह उसके हक़ में बड़ी महत्त्वपूर्ण नैतिक लाभ की चीज़ थी। अगर यह सहयोग न दिया जाता, तो बड़ा फ़र्क़ पड़ जाता। यह ध्यान देने की बात है कि एक कान्फ्रेन्स में ब्रिटिश मज़दूर-पार्टी तक अलग रही, लेकिन हमारे लिबरल लोग तो उससे भी अलग नहीं रहे और कुछ अंग्रेज़ सज्जनों ने उनसे न जाने की अपील की, तो भी वे वहां चले ही गये।

यों तो अपने जुदे-जुदे उद्देश्यों के लिहाज से हम सब नरम या गरम हैं। फ़र्क़ सिर्फ़ मात्रा का है। जिस बात के बारे में हमें अधिक चिन्ता हो उसके विषय में हमारी भावना भी उतनी ही तीव्र होजाती है, और हम उसके सम्बन्ध में 'गरम' हो जाते हैं; नहीं तो हम उदारतापूर्ण सहनशीलता धारण कर लेते हैं, एक प्रकार की दार्शनिक सौम्यता ग्रहण कर लेते हैं, जो कि, असल में कुछ हद तक हमारी उदासीनता को ढक लेती है। मैंने नरम-से-नरम मॉडरेटों को बहुत उग्र और गरम होते हुए देखा है, जब उनके सामने देश से कुछ स्थापित स्वार्थों को उड़ा देने की बात रक्खी गयी। हमारे लिबरल मित्र कुछ हद तक धनीमानी और समृद्ध लोगों का प्रतिनिधित्व करते हैं। स्वराज के लिए उन्हें बहुत दिनों तक इन्तज़ार करना पुसा सकता है और इससे उसके लिए उन्हें व्यग्र या उत्तेजित हो उठने की जरूरत नहीं। लेकिन जहां कोई आमूल सामाजिक परिवर्तन का प्रश्न आया कि उनमें खलबली मची। तब वे न तो उसके विषय में मॉडरेट ही रह जाते हैं और न उनकी वह सुन्दर समझदारी ही क़ायम रहती है। इस तरह इनकी नरमी ब्रिटिश सरकार के प्रति उनके रुख तक ही मर्यादित है और वे यह आशा लगाये बैठे हैं, कि यदि वे काफ़ी आदर-भाव दिखाते रहे और समझौते से काम लेते रहे, तो मुमकिन है कि उनके इस आचरण के पुरस्कार में उनकी बात सुन ली जाय। इसलिए वे ब्रिटिश दृष्टिकोण से देखे बिना रह ही नहीं सकते। 'ब्ल्यू बुक' (सरकारी रिपोर्ट) उनके गम्भीर अध्ययन की वस्तु होती है। आर्स्किन मे की 'पार्लमेण्टरी प्रेक्टिस' और ऐसी ही किताबें उनकी जीवन-संगिनी होती हैं। नई सरकारी रिपोर्ट उनके तैश और तर्क-वितर्क का विषय बनती है। इंग्लैण्ड से लौटनेवाले लिबरल नेता ह्वाइट-हॉल की विभूतियों के कारनामों के बारे में रहस्यमय वक्तव्य देते रहते हैं, क्योंकि, ह्वाइट-हॉल लिबरलों, प्रतिसहयोगियों और ऐसे ही दूसरे दलों की दृष्टि में वैकुण्ठ है! पुराने ज़माने में यह कहा जाता था कि जब कोई भद्र अमेरिकन मर जाता, तो उसकी आत्मा पेरिस जाती थी। इसी तरह यह कहा जा सकता है कि अच्छे लिबरलों की प्रेतात्मा ह्वाइट-हॉल की चहारदीवारी का चक्कर लगाती रहती है।

यहां लिखा तो मैंने लिबरलों के बारे में है, लेकिन यही बात बहुतेरे कांग्रेसियों पर भी लागू होती है और प्रतिसहयोगियों पर तो और भी ज्यादा लागू होती है; क्योंकि नरमी में तो उन्होंने लिबरलों को भी मात कर दिया है। औसत दर्जे के लिबरल और औसत दर्जे के कांग्रेसी में बड़ा फ़र्क़ है। मगर इस सम्बन्ध मे विभाजक रेखा न तो साफ़ ही है, न निश्चित ही। जहां तक विचार-धारा से सम्बन्ध है, आगे बढ़े हुए लिबरल और नरम कांग्रेसी में कोई ज़्यादा फ़र्क़ मालूम नहीं होता। मगर भला हो गांधीजी का, जो हरेक कांग्रेसी ने अपने देश और देश के लोगों के साथ थोड़ा-बहुत सम्पर्क रक्खा है और वह काम भी करता रहता है और इसी की बदौलत वह एक धुँधली और अधूरी विचार-धारा के परिणामों से बच गया है। मगर लिबरलों की बात ऐसी नहीं है। उन्होंने पुराने और नये दोनों ही विचार के लोगों से अपना नाता तोड़ लिया है। एक दल के रूप में वे उन लोगों के प्रतिनिधि हैं, जो मिटते जा रहे हैं।

मैं ख़याल करता हूँ कि हममें से बहुतों की वह पुरानी अन्धश्रद्धा तो नष्ट हो चुकी है; लेकिन नई अन्तर्दृष्टि प्राप्त नहीं हुई है। न तो हमें समुद्र से उछलते हुए प्रोटियस[1] के दर्शन सुलभ हैं और न हमारे कान बूढ़े ट्रायटन[2] की पुष्पमाला-विभूषित शृंगी की मधुर ध्वनि ही सुन पाते हैं। हममें से बहुत कम लोग इतने भाग्यशाली हैं जो—

'पिंड में ब्रह्माण्ड को अवलोकते,
　　वन-सुमन में स्वर्ग-शोभा देखते;
अंजली में बांधते निस्सीम को,
　　एक पल से नापते चिरसीम को।'[3]

दुर्भाग्य से, हममें से बहुतेरे प्रकृति के रहस्यपूर्ण जीवन की अनुभूति से, उसका मन्द स्वर अपने कानों के पास सुनने से तथा उसके स्पर्श के मधुर कम्पन का सुख उठाने से अब दूर हैं। वे दिन अब चले गये। लेकिन चाहे अब हम पहले की तरह प्रकृति की दिव्यता का दर्शन न कर सकें, तो भी मानवजाति के गौरवपूर्ण तथा करुण इतिहास में, उसके बड़े-बड़े स्वप्नों और आन्तरिक तूफ़ानों में, उसकी पीड़ाओं और विफलताओं में, उसके संघर्षों और

---

[1]प्रोटियस—प्राचीन काल का एक जलदेवता, जो चाहे जब अपना मन-चाहा रूप धारण कर सकता था। बदलती रहनेवाली किसी चीज या व्यक्ति के लिए भी, अक्सर इस शब्द का प्रयोग होता है।

[2]ट्रायटन—पोसिडन का पुत्र और एक ऐसा जलदेवता, जो अर्द्ध-मनुष्य और अर्द्ध-मत्स्य था। इसका खास काम शंख-ध्वनि द्वारा सागर-तरंगों को कम-ज्यादा करते हुए उन पर नियन्त्रण रखना था।

[3] अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।　　—अनु०

विपत्तियों में, और इन सबसे बढ़कर एक महान् उज्ज्वल भविष्य की आशा में तथा उन महत्त्वाकांक्षाओं की प्राप्ति में, हमने उसका दर्शन करने का प्रयत्न किया है। और जो कष्ट और क्लेश इस खोज में हमें उठाने पड़े हैं, उसका पुरस्कार हमें इसी प्रयत्न में मिल गया है। इस खोज ने समय-समय पर हमें जीवन की तुच्छता से ऊँचा उठाया है। लेकिन बहुतों ने इस शोध का प्रयत्न ही नहीं किया; उन्होंने अपने को पुराने मार्ग से तो,अलग कर लिया है, लेकिन वर्तमान में चलने के लिए उनके पास कोई मार्ग ही नहीं है। न तो उनकी भावनाएं ही ऊँची हैं, न कुछ वे करते ही हैं। वे फ्रांस की महान् राज्य-क्रांति या रूसी राज्यक्रांति-जैसे मानवी उथलपुथल का मर्म नहीं समझते। चिरकाल से दबी हुई मानवी अभिलाषाओं के जटिल, तेज और निठुर विस्फोटों से भय-भीत हो जाते हैं। उनके लिए बेस्तील (फ्रांस) के किला का अभी पतन नहीं हुआ है।

बड़े रोष के साथ अक्सर यह, कहा जाता है कि "देश-भक्ति का ठेका कुछ कांग्रेसवालों ने ही नहीं ले रक्खा है।" यही शब्द बारबार दोहराये जाते हैं, जिनमें कोई नवीनता नहीं रह गयी है, जिससे कुछ-कुछ दुःख होता है। मैं समझता हूँ, अपने लिए इस भावना के एक अंश का भी कभी किसी कांग्रेसी ने दावा नहीं किया होगा। अवश्य ही, मैं नहीं समझता कि कांग्रेस ने ही इसका ठेका ले रक्खा है। और मैं बड़ी खुशी के साथ जिस किसी को चाह हो उसे इसकी भेंट करने को तैयार हूँ। यह तो अवसरवादियों और सुखी एवं निश्चिन्त जीवन की कामना करनेवालों के लिए अक्सर एक ढाल का काम देता है और हर तरह की रुचियों, स्वार्थों और वर्गों के अनुकूल इसके कई रूप हैं। अगर आज जूडस[1] जीवित होता तो वह भी, इसमें कोई शक नहीं, इसीके नाम पर काम करता। लेकिन अब तो देश-भक्ति ही काफ़ी नहीं है; अब तो हमें कोई उससे ज़्यादा ऊँची, व्यापक और श्रेष्ठ चीज़ चाहिये।

और नरमी स्वतः ऐसी कोई चीज़ नहीं है, जो काफ़ी समझी जाय। हाँ,संयम एक अच्छी चीज़ है और वह हमारी संस्कृति का एक पैमाना है; मगर कोई चीज़ भी तो हो, जिसपर हम संयम और निग्रह करें। मनुष्य सदा से पंचतत्त्वों पर शासन करता आ रहा है, बिजली पर सवारी गाँठता आ रहा है, लपलपाती आग और वेगवान जलधारा को अपने काम में लाता रहा है और अब भी लाता है; लेकिन उसके लिए इन सब से ज़्यादा मुश्किल हुआ है अपने को खा डालने-वाले मनोविकारों का निग्रह करना या उनपर संयम रखना। जबतक वह इन्हें अपने नियन्त्रण में नहीं कर लेता, तबतक वह अपनी मनुष्यता की विरासत पूरी

---

[1]ईसा के मुख्य बारह शिष्यों में एक था जिसने दग़ा करके ईसा को यहूदियों के हाथ पकड़ा दिया था। —अनु०

तरह नहीं पा सकता। पर क्या हम उन पैरों को रोक रक्खें, जो हिलते ही नहीं हैं या उन हाथों को, जिन्हें लक़वा मार गया है ?

इस प्रसंग पर मैं रॉय केम्पबेल की चार पंक्तियाँ देने का लोभ नहीं रोक सकता, जो उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के किसी उपन्यासकार के सम्बन्ध में लिखी थीं :

"लोक आपके दृढ़ संयम का गाता है यश-गान
मैं भी उसमें देता उसका साथ आज, मतिमान !
ख़ूब जानते आप खींचना और मोड़ना बाग,
पर कमबख़्त कहाँ वह घोड़ा, है इसका कुछ ध्यान ?"[1]

हमारे लिबरल मित्र हमसे कहते हैं कि वे सर्वोत्तम सँकरे मध्यम मार्ग पर चलते हैं और एक तरफ़ कांग्रेस और दूसरी तरफ़ सरकार दोनों की पराकाष्ठाएँ बचाकर अपना रास्ता निकालते हैं। वे दोनों की कमियाँ बतानेवाले मुंसिफ़ बनते हैं और इस बात के लिए अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनते हैं कि वे इन दोनों की बुराइयों से बरी हैं। मेरी समझ में वे न्यायमूर्ति की तरह हाथ में तराज़ू लिए हुए आँख बन्द कर या पट्टी बाँधकर निष्पक्ष बनने की कोशिश करते हैं। कहीं यह मेरी ख़ब्त ही तो नहीं है जो, आज मेरे कानों में सदियों पुरानी वह मशहूर पुकार आ रही है—"हे धर्मशास्त्रियो और कर्मठो! ओ अन्धे पथ-प्रदर्शको, तुम हाथी को तो निगल जाते हो और दुम से परहेज़ करते हो!"[2]

५२

औपनिवेशिक स्वराज और आज़ादी

पिछले सत्रह वर्षों से जिन लोगों ने कांग्रेस की नीति का निर्माण किया है उनमें से ज़्यादातर मध्यम-श्रेणी के लोग हैं। चाहे वे लिबरल हों चाहे कांग्रेसी, आये सब उसी श्रेणी से और एक-सी परिस्थितियों में उन सबका विकास हुआ है। उनका सामाजिक जीवन, उनकी रहन-सहन, उनके मेल-मुलाक़ाती और इष्ट-मित्र सब एक-से रहे हैं और शुरू में जिन दो क़िस्मों के मध्यमवर्गी आदर्शों का वे प्रतिपादन करते थे, उनमें ऐसा कोई कहने लायक़ अन्तर न था। स्वभावगत और मानसिक भेदों ने उनको जुदा करना शुरू किया और वे अलग-अलग दिशाओं में देखने लगे। एक दल तो सरकार और धनी लोगों—ऊपरी मध्यम-वर्ग के लोगों—की तरफ़ और दूसरा निम्न मध्यमवर्गियों की तरफ़। विचार-धारा अब भी दोनों की एक-सी थी और ध्येय में भी कोई फ़र्क़ नहीं था। लेकिन इस दूसरे दल के पीछे अब ग़रीब, साधारण पेशेवर और बेकार पढ़े-लिखे लोगों का

---

[1]केम्पबेल के अंग्रेज़ी पद्य का भावानुवाद।
[2]बाइबिल का प्रसिद्ध वाक्य —अनु०

समुदाय आने लगा । इससे उसका स्वर बदल गया। उसमें वह अदब और नम्रता न रही, बल्कि वह कठोर और आक्रामक हो गया। कारगर ढंग से काम करने की ताक़त तो थी नहीं, सो कड़ी ज़बान में उसे कुछ राहत मिल गयी। इस नई परिस्थिति को देखकर डर के मारे मॉडरेट लोग कांग्रेस से खिसक गये और अकेले रहने में ही उन्होंने अपने को सुरक्षित समझा। फिर भी ऊपरी मध्यमवर्गियों का कांग्रेस में ज़ोर था, हालाँकि, तादाद में निम्न मध्यमवर्गियों की प्रधानता थी। वे अपने राष्ट्रीय संग्राम में महज़ कामयाबी की इच्छा से ही नहीं आये थे; बल्कि इसलिए कि उस संग्राम में ही उन्हें सच्चा सन्तोष मिल जाता था। वे इसके द्वारा अपने खोये हुए स्वाभिमान और आत्म-सम्मान को फिर से प्राप्त करना और अपने नष्ट गौरव को फिर से पूर्व पद पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे। यों तो एक राष्ट्रवादी के मन में सदा से ही ऐसी प्रेरणा उठती आयी है और हालाँकि सभी के मन में उठती है, तो भी यहीं से नरम और गरम दोनों की स्वभावगत भिन्नता सामने आ गयी। धीरे-धीरे कांग्रेस में निम्न मध्यमवर्गियों की प्रधानता होती गयी और आगे चलकर किसानों ने भी उसे प्रभावित किया।

ज्यों-ज्यों कांग्रेस ग्रामीण जनता की अधिकाधिक प्रतिनिधि बनती गयी त्यों-त्यों उसके और लिबरलों के बीच की खाई और-और चौड़ी होती गयी, यहाँ तक कि लिबरलों के लिए कांग्रेस के दृष्टिकोण को समझना या उसकी क़दर करना नामुमकिन हो गया। उच्चवर्ग के दीवानख़ाने के लिए छोटी कुटिया या कच्चे झोंपड़े को समझना आसान नहीं है। फिर भी, इन मतभेदों के रहते हुए भी, दोनों की विचार-धारा राष्ट्रीय और मध्यमवर्गीय थी, जो कुछ फ़र्क़ था वह मात्रा का था, प्रकार का नहीं। कांग्रेस में आख़ीर तक कितने ही ऐसे लोग रहे जो नरम-दल में बड़े मज़े से खपते और रहते।

कई पीढ़ियों से ब्रिटिश लोग हिन्दुस्तान को अपने ख़ास मौज वं आराम का घर समझते आये हैं। वे ठहरे भद्र कुल के और उस घर के मालिक, उसके अच्छे हिस्सों पर अपना क़ब्ज़ा किये हुए—इधर हिन्दुस्तानियों के हवाले नौकरों की कोठरियाँ, सामान-घर और रसोई-घर वग़ैरा किये गये। एक सुव्यवस्थित घर की तरह यहाँ भी नौकरों के कई दर्जे बँधे हुए थे—ख़ानसामा, जमादार, रसोइया, कहार, वग़ैरा-वग़ैरा, और उनमें छोटे बड़े का पूरा-पूरा ख़याल रक्खा जाता था। लेकिन मकान के ऊपर और नीचे के हिस्सों में एक ऐसी ज़बरदस्त सामाजिक और राजनैतिक आड़ लगा दी गई थी जिसे पार करके कोई इधर-से-उधर जा नहीं सकता था। ब्रिटिश सरकार का इस व्यवस्था को हमारे सिर पर लादे रहना तो किसी तरह आश्चर्यजनक नहीं है मगर यह ज़रूर आश्चर्य की बात है कि हम या हममें से बहुतों ने ख़ुद उसके सामने इस तरह से सिर झुका दिया है, गोया वह हमारे जीवन या भाग्य की कोई स्वाभाविक और अवश्यम्भावी व्यवस्था हो। हमने मकान के एक अच्छे नौकर का-सा अपना दिमाग़ बना लिया।

कभी-कभी हमारी बड़ी इज़्ज़त कर दी जाती है—दीवानख़ाने में चाय का एक प्याला हमें दे दिया जाता है। हमारी सबसे ऊँची महत्वाकांक्षा सम्माननीय बनने तथा व्यक्तिगत रूप से ऊँचे दर्जे में चढ़ा दिये जाने की थी। सचमुच हथियारों और कूटनीति के द्वारा प्राप्त की गयी विजय से ब्रिटिशों की हिन्दुस्तान पर यह मानसिक विजय कहीं बढ़कर है। पुराने समझदारों ने कहा ही है कि 'गुलाम गुलाम की-सी ही बात सोचने लगता है।'

अब ज़माना बदल गया और अब न इंग्लैण्ड में और न हिन्दुस्तान में मालिक और नौकर वाली वह सभ्यता राज़ी-ख़ुशी से मानी जाती है। मगर फिर भी हममें ऐसे लोग हैं जो उन्हीं नौकरों की कोठरियों में पड़े रहने की ख़्वाहिश रखते हैं और अपनी सुनहरी चपरासों, पट्टों, वर्दियों और बिल्लों पर नाज़ करते हैं। दूसरे कुछ लोग लिबरलों की तरह, उस सारे भवन को तो ज्यों-का-त्यों क़ायम रहने देना चाहते हैं, उसकी कारीगरी और उसकी सारी रचना की स्तुति करते हैं, लेकिन इस बात के लिए उत्सुक हैं कि धीरे-धीरे उसके मालिकों की जगह ख़ुद उन्हें मिल जाय। वे इसे 'भारतीयकरण' कहते हैं। उनके लिए शासकों का रंग बदल जाना या अधिक-से-अधिक नये शासक-मण्डल का बन जाना काफ़ी है। वे एक नयी राज्य-व्यवस्था की भाषा में कभी नहीं सोचते।

इनके लिए स्वराज के मानी हैं—और सब बातें ज्यों-की-त्यों चलती रहें, सिर्फ़ उसका काला रंग और गहरा कर दिया जाय। वे तो महज़ ऐसे ही भविष्य की कल्पना कर सकते हैं, जिसमें वे या उनके जैसे लोग सूत्र-संचालक रहें और अंग्रेज़ हाकिमों की जगह ले लें—जिसमें कि उसी तरह की नौकरियाँ, महकमे, धारा-सभाएं, व्यापार, उद्योग और सिविल सर्विस अपना काम करती रहें। राजा-महाराजा अपनी जगह सुरक्षित रहें, कभी-कभी भड़कीली पोशाक और जवाहरात से सजधज कर रिआया पर रौब गाँठते हुए दर्शन दिया करें, ज़मींदार एक तरफ़ विशेष रूप से अपना रक्षण चाहें और दूसरी तरफ़ काश्तकारों को परेशान करते रहें, साहूकार की तिजोरी भरी रहे, जो ज़मींदार और काश्तकार दोनों को तंग करता रहे, वकील अपना मेहनताना पाते रहें और ईश्वर अपने स्वर्गधाम में विराजता रहे।

उनका दृष्टिकोण मुख्यतया इसी बात पर टिका है कि वर्तमान व्यवस्था चलती रहे। जो कुछ तब्दीलियाँ वे चाहते हैं वे व्यक्तिगत परिवर्तन कहे जा सकते हैं; और वे इन परिवर्तनों को ब्रिटिशों की सद्भावना से धीरे-धीरे करके कराना चाहते हैं। इनकी सारी राजनीति और अर्थनीति की बुनियाद ब्रिटिश-साम्राज्य के स्थिर और दृढ़ रहने पर है। वे देखते हैं कि इस साम्राज्य की नींव हिल नहीं सकती, कम-से-कम बहुत समय तक, इसलिए वे उसके मुआफ़िक़ अपने को बनाते हैं और न केवल उसकी राजनैतिक और आर्थिक विचार-धारा को ही ग्रहण करते हैं, बल्कि बहुत हद तक उसके उन नैतिक आदर्शों को भी

अपनाते हैं, जो कि ब्रिटिश प्रभुत्व को क़ायम रखने के लिए बनाये गये हैं।

लेकिन कांग्रेस का रुख़ मूल से ही भिन्न है, क्योंकि वह एक नई राज्य-व्यवस्था का निर्माण करना चाहती है, न कि महज़ एक दूसरा शासक-मण्डल बनाना। उस नई व्यवस्था का क्या स्वरूप होगा इसकी स्पष्ट धारणा एक औसत कांग्रेसी के दिमाग़ में आज नहीं है और इसके बारे में रायें भी अलग-अलग हो सकती हैं। मगर कांग्रेस में शायद मॉडरेट विचार के सब लोग इस बात को मानते हैं, कुछ इने-गिने लोगों को छोड़कर, कि मौजूदा अवस्था और तरीक़े क़ायम नहीं रह सकते और न रहने चाहिए और बुनियादी तब्दीलियाँ लाज़िमी हैं। यही फ़र्क़ है डोमिनियन स्टेटस (औपनिवेशिक स्वराज्य) और पूर्ण स्वाधीनता में। पहला उसी पुराने ढाँचे को दृष्टि में रखता है, जो हमें ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष बहुतेरे बन्धनों से बाँधे हुए है, और दूसरा हमें अपनी परिस्थितियों के अनुकूल एक नया ढाँचा खड़ा करने की स्वतन्त्रता देता है, या उसे देना चाहिए।

यह इंग्लैण्ड या अंग्रेज़ लोगों से अटल शत्रुता रखने का या हर तरह से उनसे सम्बन्ध हटा लेने का सवाल नहीं है। परन्तु जो कुछ हो चुका है उसके बाद अगर इंग्लैण्ड और हिन्दुस्तान में वैमनस्य रहे तो यह स्वाभाविक होगा। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर कहते हैं कि "सत्ता की कुरूपता ताले की कुञ्जी तो बिगाड़ देती है और फिर उसकी जगह गैंती से काम लेती है।" हाँ, हमारे दिलों की कुञ्जी तो कभी की टूट-फूट चुकी है और गैंतियों का जो भरपूर उपयोग हम पर किया गया है उसने हमें अंग्रेज़ों का तरफ़दार नहीं बनाया। लेकिन यदि हम भारतवर्ष और मानव-जाति के व्यापक हितों की सेवा करने का दावा करते हैं, तो हम अपने को क्षणिक विकारों में नहीं बहने दे सकते। और यदि हम उन क्षणिक विकारों की तरफ़ झुकें भी तो गांधीजी ने १५ साल तक हमको जो कड़ी तालीम दी है वह हमें रोक लेगी। यह मैं एक ब्रिटिश जेलख़ाने में बैठकर लिख रहा हूँ, महीनों से मेरा दिमाग़ चिन्ताकुल है और इधर मुफ़्तर जेल में जो कुछ बीती है, उससे कहीं ज़्यादा कष्ट मैंने इस तनहाई में सहा है। कई घटनाओं पर विरोध और नाराज़गी से मेरा दिल अक्सर भर गया है; लेकिन फिर भी यहाँ बैठा हुआ जब मैं अपने दिल और दिमाग़ की गहराई को टटोलता हूँ तो उसमें कहीं भी इंग्लैण्ड या अंग्रेज़ों के प्रति रोष या द्वेष नहीं दिखाई पड़ता। हाँ, मैं ब्रिटिश साम्राज्यवाद को नापसन्द करता हूँ और हिन्दुस्तान पर उसके लाद दिये जाने से मैं नाराज़ हूँ। मुझे पूँजीवादी प्रणाली नापसन्द है। ब्रिटेन के शासक वर्ग हिन्दुस्तान का जिस तरह शोषण कर रहे हैं, उसे मैं ज़रा भी पसन्द नहीं करता और उसपर मुझे रोष है। मगर मैं कुल मिलाकर इंग्लैण्ड या अंग्रेज़ों को इसके लिए ज़िम्मेदार नहीं ठहराता, और अगर मैं ऐसा करूँ भी तो उससे कोई ज़्यादा फ़र्क़ नहीं पड़ता, क्योंकि सारी जाति पर नाराज़ होना

या उसकी निन्दा करना बेवक़ूफ़ी की ही बात है। वे भी उसी तरह परिस्थितियों के शिकार बन गये हैं जैसे कि हम।

मैं खुद तो अपनी मनोरचना के लिए इंग्लैण्ड का बहुत ऋणी हूँ; इतना कि उसके प्रति ज़रा भी परायेपन का भाव नहीं रख सकता। और मैं चाहे जितनी कोशिश करूँ, लेकिन मैं अपने मन के उन संस्कारों से और दूसरे देशों तथा सामान्यतया जीवन के बारे में विचार करने की उन पद्धतियों और आदर्शों से, जो मैंने इंग्लैण्ड के स्कूल और कालेजों में प्राप्त किये हैं, मुक्त नहीं हो सकता। राजनैतिक योजना को छोड़ दें, तो मेरा सारा पूर्वानुराग इंग्लैण्ड और अंग्रेज़ लोगों की ओर दौड़ता है, और अगर मैं हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी शासन का 'कट्टर विरोधी' बन गया हूँ तो मेरी अपनी स्थिति ऐसी होते हुए भी ऐसा हुआ है।

हम जिसपर एतराज़ करते हैं और जिसके साथ हम कभी राज़ी-खुशी से समझौता नहीं कर सकते वह अंग्रेज़ों का शासन है, आधिपत्य है, न कि अंग्रेज़ लोग। हम शौक़ से अंग्रेज़ों से और दूसरे विदेशियों से घनिष्ट सम्पर्क बाँधें। हम हिन्दुस्तान में ताज़ी हवा चाहते हैं, नवीन और चेतनामय विचार और स्वास्थ्यकर सहयोग चाहते हैं, क्योंकि हम ज़माने से बहुत पीछे पड़ गये हैं। लेकिन अगर अंग्रेज़ शेर बनकर यहाँ आते हैं, तो वे हमसे दोस्ती या सहयोग की कोई उम्मीद नहीं रख सकते। साम्राज्यवाद के शेर का तो यहाँ प्राण-पण से मुक़ाबला किया जायगा और आज हमारे देश का उसी महान् क्रूर पशु से पाला पड़ा है। जंगल के उस क्रुद्ध शेर को पाल लेना और वशीभूत कर लेना सम्भव हो सकता है लेकिन पूँजीवाद और साम्राज्यवाद को, जब कि ये दोनों मिलकर एक अभागे देश पर टूट पड़े हैं, पालतू बना लेना किसी भी तरह मुमकिन नहीं है।

किसीका यह कहना कि वह या उसका देश किसी से समझौता नहीं करेगा, एक तरह से बेवक़ूफ़ी की बात है, क्योंकि जीवन हमेशा हमसे समझौता करवाता है। और जब दूसरे देश या वहां के लोगों पर यह बात लागू की जाती है तब तो यह बिलकुल ही बेवक़ूफ़ी की बात हो जाती है। लेकिन जब यह किसी प्रणाली या किन्हीं ख़ास हालतों के लिए कहा जाता है तो उसमें कुछ सचाई होती है और ऐसी दशा में समझौता करना मनुष्य की शक्ति के बाहर हो जाता है। भारतीय स्वाधीनता और ब्रिटिश साम्राज्यवाद ये दोनों परस्पर बेमेल हैं और न तो फ़ौजी क़ानून और न दुनियाभर की ऊपरी चिकनी-चुपड़ी बातें ही उन्हें एक साथ मिला सकती हैं। सिर्फ़ ब्रिटिश-साम्राज्यवाद का हिन्दुस्तान से हट जाना ही एक ऐसी चीज़ है जिससे सच्चे भारत-ब्रिटिश-सहयोग के अनुकूल अवस्थाएं पैदा हो सकेंगी।

हमसे कहा जाता है कि आज की दुनिया में स्वाधीनता एक संकुचित ध्येय

है; क्योंकि दुनिया अब दिन-दिन परस्पराश्रित होती जा रही है। इसलिए पूर्ण स्वाधीनता की माँग करके हम घड़ी का काँटा पीछे घुमा रहे हैं। लिबरल और शान्तिवादी, यहाँ तक कि ब्रिटेन के समाजवादी कहलानेवाले भी, यह दलील पेश करके हमें अपने संकुचित उद्देश्य पर लताड़ते हैं और यह कहते हैं कि पूर्ण राष्ट्रीय जीवन का मार्ग तो 'ब्रिटिश राष्ट्र-संघ' में से होकर गुज़रता है। यह अजीब-सी बात है कि इंग्लैण्ड में तमाम रास्ते, लिबरलवाद, शान्तिवाद, समाजवाद वग़ैरा, साम्राज्य को क़ायम रखने की ओर ही ले जाते हैं। ट्राटस्की कहता है—"शासक-राष्ट्र की प्रचलित व्यवस्था को क़ायम रखने की अभिलाषा अक्सर 'राष्ट्रवाद' से श्रेष्ठ होने का जामा पहन लेती है; ठीक उसी तरह, जैसे विजेता राष्ट्र की अपनी लूट के माल को न छोड़ने की अभिलाषा आसानी से शान्तिवाद का रूप धारण कर लेती है। इस तरह मैकडानल्ड गांधी के आगे ऐसा महसूस करता है मानो वह कोई अन्तर्राष्ट्रीयता का हामी है।"

मैं नहीं जानता हूँ कि हिन्दुस्तान जब राजनैतिक दृष्टि से आज़ाद हो जायगा तो किस तरह का होगा और वह क्या करेगा? लेकिन मैं इतना ज़रूर जानता हूं कि उसके लोग जो आज राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के हामी हैं, वे व्यापक-से-व्यापक अन्तर्राष्ट्रीयता के भी हिमायती हैं। एक समाजवादी के लिए राष्ट्रीयता का कोई अर्थ नहीं है, लेकिन बहुतेरे आगे बढ़े हुए कांग्रेसी, जो समाजवादी नहीं हैं, अन्तर्राष्ट्रीयता के पक्के उपासक हैं। स्वाधीनता हम इसलिए नहीं चाहते कि हमें सबसे कटकर अलग-अलग रहने की ख्वाहिश है। इसके विरुद्ध हम तो बिलकुल राज़ी हैं कि और देशों के साथ-साथ अपनी स्वाधीनता का भी कुछ हिस्सा छोड़ दें जिससे सच्ची अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था बन सके। कोई भी साम्राज्य-प्रणाली चाहे उसका नाम कितना ही बड़ा रख दिया जाय ऐसी व्यवस्था की दुश्मन ही है और ऐसी प्रणाली के द्वारा विश्वव्यापी सहयोगिता या शान्ति कभी स्थापित नहीं हो सकती।

इधर हाल में जो घटनाएं हुई हैं उन्होंने सारी दुनिया को बता दिया है कि कैसे विभिन्न साम्राज्यवादी प्रणालियाँ स्वाश्रयी सत्ता और आर्थिक साम्राज्यवाद के द्वारा अपने-आपको सबसे जुदा कर रही हैं। अन्तर्राष्ट्रीयता की बढ़ती के बजाय हम उसका उलटा ही देख रहे हैं। इसके कारणों का खोजना मुश्किल नहीं है। वे मौजूदा अर्थव्यवस्था की बढ़ती हुई कमज़ोरी ज़ाहिर करती हैं। इस नीति का एक नतीजा यह हुआ है कि एक ओर जहां वह स्वाश्रयी सत्ता के क्षेत्र के अन्दर ज़्यादा सहयोग पैदा करती है वहाँ दूसरी ओर वह दुनिया के दूसरे हिस्सों से अपने को अलग कर लेती है। हिन्दुस्तान को ही लीजिए। हमने ओटावा-सम्बन्धी तथा दूसरे निर्णयों से यह देख लिया है कि दूसरे देशों से हमारा सम्पर्क और रिश्ता दिन-दिन कम होता चला जा रहा है। हम पहले से भी ज़्यादा ब्रिटिश उद्योग-धन्धों के आश्रित हो रहे हैं और, इससे कई बातों

में जो तात्कालिक नुक़सान हुए हैं उनको अलग रख दें, तो भी इस नीति से पैदा होनेवाले ख़तरे स्पष्ट हैं। इस प्रकार 'डोमीनियम स्टेटस' हमें व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क की ओर ले जाने के बजाय दुनिया से अलग पटकता हुआ दिखायी देता है।

लेकिन हमारे हिन्दुस्तानी लिबरल दोस्त दुनिया को और ख़ास करके खुद अपने देश को असली नीले रंग के ब्रिटिश चश्मे से देखने की एक विलक्षण सहज शक्ति रखते हैं। इस बात को समझने की कोशिश किये बग़ैर ही कि कांग्रेस क्या कहती है और वह ऐसा क्यों कहती है, वे उसी पुरानी ब्रिटिश दलील को दोहराते रहते हैं कि औपनिवेशिक स्वराज की अपेक्षा पूर्ण स्वाधीनता का आदर्श कहीं संकीर्ण और नैतिक उत्थान की दृष्टि से कम हितकारी है। उनके नज़दीक तो अन्तर्राष्ट्रीयता के मानी ह्वाइट-हॉल होते हैं, क्योंकि उनको दूसरे देशों का तो कुछ पता ही नहीं है। इसका कुछ कारण तो भाषा-सम्बन्धी दिक़्क़त है; मगर उससे भी ज़्यादा कठिनाई यह है कि उन्हें उनकी उपेक्षा करने में ही सन्तोष है। और हिन्दुस्तान में तो वे किसी भी क़िस्म की उग्र राजनीति या 'सीधे हमले' के ख़िलाफ़ हैं। मगर यह देखकर कुतूहल होता है कि उनके कुछ नेताओं को, अगर दूसरे देशों में ये तरीक़े अख़्तियार किये जायँ, तो कोई एतराज़ नहीं होता। वे दूर रहकर ही उनकी क़दर और इज़्ज़त कर सकते हैं और पश्चिमी देशों के कुछ मौजूदा डिक्टेटरों की तो वे मन-ही-मन प्रशंसा करते हैं।

नामों से धोखा हो सकता है, मगर हमारे सामने हिन्दुस्तान में तो असली सवाल है कि हम एक नई राज्य-रचना करना चाहते हैं, या सिर्फ़ एक नया शासक-मण्डल बनाना चाहते हैं। लिबरलों का जवाब स्पष्ट है। वे नये शासक-मण्डल से अधिक कुछ नहीं चाहते और वह भी उनके लिए तो एक दूरवर्ती और क्रमशः प्राप्त होनेवाला आदर्श है। 'औपनिवेशिक स्वराज्य' (डोमिनियम स्टेटस) का ज़िक्र अब तक कई बार किया गया है, मगर वे अपना असली उद्देश्य फ़िलहाल तो 'केन्द्रीय उत्तरदायित्व'—इन गूढ़ शब्दों में प्रकट करते हैं। सत्ता, स्वाधीनता, आज़ादी, स्वतन्त्रता आदि ज़ोरदार शब्द उनके लिए नहीं है। उन्हें तो ये ख़तरनाक मालूम होते हैं। एक वकील की भाषा और तरीक़े उन्हें ज़्यादा जँचते हैं—चाहे भले ही जन-समाज को वे उत्साहित न करते हों। इतिहास में ऐसी अनगिनती मिसालें मिलती हैं जहाँ व्यक्तियों और समूहों ने अपने सिद्धान्तों और अपनी आज़ादी के लिए ख़तरों का मुक़ाबला किया है और अपनी जान जोखिम में डाली है। मगर यह सन्देहास्पद दिखाई देता है कि 'केन्द्रीय उत्तरदायित्व' या ऐसे किसी दूसरे क़ानूनी शब्दों के लिए कोई जान-बूझकर एक बार खाना छोड़ देगा या अपनी नींद हराम करेगा।

यह तो है उनका लक्ष्य, और इसको भी पाना है 'सीधे हमले' या और

किसी उग्र उपाय से नहीं, मगर जैसा कि श्री श्रीनिवास शास्त्री ने कहा है—"समझदारी, अनुभव, नरमी, समझाने-बुझाने की शक्ति, चुपचाप प्रभाव और असली कार्य-दक्षता" का परिचय देकर। यह आशा की जाती है कि अपने सद्व्यवहार और सत्कार्य के द्वारा हम अन्तमें शासकों को इस बात के लिए राज़ी कर सकेंगे कि वे अपने अधिकार छोड़ दें। दूसरे शब्दों में वे आज हमारा विरोध इसीलिए करते हैं कि या तो वे हमारे आक्रमणात्मक रुख से चिढ़े हुए हैं या उन्हें हमारी क्षमता पर शक है, या इन दोनों कारणों से। साम्राज्यवाद और हमारी मौजूदा स्थिति का यह कैसा भोला-भाला विश्लेषण है। मगर प्रोफ़ेसर आर० एच० टॉनी नामक एक विद्वान् अंग्रेज़ लेखक ने क्रम-क्रम से और शासक-वर्ग के सहयोग से सत्ता पाने के विचार के सम्बन्ध में बहुत उचित और हृदयाकर्षक भाषा में अपने भाव प्रकाशित किये हैं। उन्होंने तो ब्रिटिश लेबरपार्टी को ध्यान में रखकर लिखा है, लेकिन उनके शब्द हिन्दुस्तान पर और भी ज़्यादा लागू होते हैं, क्योंकि इंग्लैण्ड में कम-से-कम लोकतन्त्रात्मक संस्थाएँ तो हैं जहाँ बहुमत की इच्छा, सिद्धान्तरूप में तो, अपना प्रभाव डाल सकती है। प्रोफ़ेसर टॉनी लिखते हैं—

"प्याज़ का एक-एक छिलका उतारकर खाया जा सकता है, लेकिन आप एक ज़िन्दा शेर के एक-एक पंजे की खाल नहीं उतार सकते। चीड़-फाड़ करना उसका काम है और खाल को पहले उतारने वाला वह होता है......

"अगर कोई ऐसा देश है कि जहाँ के विशेषाधिकार पाये हुए वर्ग निरे बुद्धू हों तो कम-से-कम इंग्लैण्ड वह नहीं है। यह ख़याल ग़लत है कि लेबरपार्टी यदि चतुराई और सौजन्य से अपना पक्ष उपस्थित करे तो इससे वे धोखे में आ जायँगे कि वह उनका भी पक्ष है। यह उतना ही निरर्थक है जितना कि किसी चलते-पुरजे क़ानून-दाँ को झाँसा देकर उस मिलकियत को हथिया लेना, जिसका कि हक़नामा उसके नाम है। श्रीमन्तशाही में ऐसे व्यवहार-प्रिय, चालाक, प्रभावशाली, आत्मविश्वासी, और बहुत दब जाने पर न्याय-नीति की परवा न करनेवाले लोग हैं, जो अच्छी तरह जानते हैं कि रोटी पर किधर से घी चुपड़ा जाता है और वे अपने चुपड़ने के घी में कभी कमी होने देना नहीं चाहते। अगर उनकी स्थिति को गहरा धक्का लगने की आशंका होती है तो वे शतरंज के हरेक राजनैतिक और आर्थिक मोहरे से काम लेने पर उतारू हो जाते हैं। हाउस आफ़ लार्ड्स, राजदरबार, अख़बार, फ़ौज, आर्थिक प्रणाली—इनमें से प्रत्येक साधन का उचित-अनुचित उपयोग किये बिना वे न रहेंगे। आवश्यकता पड़ने पर वे अन्तर्राष्ट्रीय उलझनें भी पैदा कर सकते हैं और जैसा कि १६३१ में पौण्ड की विनिमय दर गिराने के लिए की गई चेष्टाओं से साबित होता है, वे अन्य देश की शरण लेनेवाले राज-नैतिक भगोड़ों की तरह अपनी जेब की रक्षा करने के लिए अपने देश का भी गला कटवा सकते हैं।"

ब्रिटिश लेबरपार्टी का संगठन ज़ोरदार है। उसके पीछे कई मज़दूर संस्थाएं, जिनके लाखों चन्दा देनेवाले मेम्बर हैं, सहयोग-समितियों का एक बहुत समुन्नत संगठन तथा पेशेवर वर्गों के बहुत-से मेम्बर और हमदर्द लोग हैं। ब्रिटेन में बालिग़ मताधिकार पर आधार रखनेवाली कई लोक-तन्त्री पार्लमेण्टरी संस्थाएं हैं और वहां बरसों से नागरिक स्वतन्त्रता की परम्परा चली आ रही है। लेकिन इन सब बातों के होते हुए भी मि० टॉनी की यह राय है—और हाल की घटनाओं ने उसको सही साबित कर दिया है—कि लेबर पार्टी ख़ाली मुस्कराकर और समझा-बुझाकर असली हुकूमत पाने की उम्मीद नहीं कर सकती, हालाँकि इन दोनों साधनों का प्रयोग लाभप्रद और वाञ्छनीय ज़रूर है। टॉनी साहब तो यहाँ तक कहते हैं कि अगर कॉमन-सभा में मज़दूर-दल का बहुमत हो जाय तो भी विशेषाधिकार-प्राप्त वर्गों के मुक़ाबले में वह कोई भी आमूल परिवर्तन नहीं कर सकेगा; क्योंकि उनके हाथ में आज कितनी ही राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, फ़ौजी तथा राजस्व-सम्बन्धी ज़बरदस्त ताकतें अपनी हिफ़ाज़त के लिए हैं। यह बताने की ज़रूरत नहीं है कि हिन्दुस्तान में परिस्थितियाँ बिलकुल दूसरी तरह की हैं। न तो यहाँ लोकतन्त्रात्मक संस्थाएं ही हैं और न ऐसी परम्पराएं ही। उसके बजाय, यहाँ आर्डिनेन्सों और तानाशाही हुकूमत का, और बोलने, लिखने, सभा करने और अख़बारों की आज़ादी को कुचलने का ख़ासा रिवाज पड़ा हुआ है, और न लिबरलों का यहाँ कोई ख़ास मज़बूत संगठन है। ऐसी हालत में उन्हें अपनी मधुर मुस्कान का ही सहारा रह जाता है।

लिबरल लोग अवैध या 'ग़ैरक़ानूनी' कार्रवाइयों के सख़्त ख़िलाफ़ हैं, लेकिन जिन देशों का विधान लोकतन्त्रात्मक है वहाँ 'वैध' शब्द का व्यापक अर्थ होता है। वहाँ विधान क़ानून बनाने पर नियन्त्रण करता है, वह स्वतन्त्रताओं की रक्षा करता है, कार्यकारिणी को बन्दिश में रखता है, उसके अन्दर राजनैतिक और आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन करने के लिए लोकतन्त्रात्मक साधनों की गुंजाइश रहती है। लेकिन हिन्दुस्तान में ऐसा कोई विधान नहीं है, और इस तरह की कोई बातें नहीं हैं।[1] उसका यहाँ इस्तेमाल करना एक ऐसे भाव को ला बिठाना है जिसके लिए आज के हिन्दुस्तान में कोई जगह नहीं है। और आश्चर्य के साथ कहना पड़ता है कि यहाँ 'वैध' शब्द का प्रयोग अक्सर कार्यकारिणी के बहुत-कुछ मनमाने कार्यों के समर्थन में किया जाता है। या दूसरी तरह उसका

[1] श्री० सी० वाई० चिन्तामणि ने, जो कि एक नामी लिबरल नेता और 'लीडर' के प्रधान सम्पादक हैं, युक्तप्रान्तीय कौन्सिल में पार्लमेण्टरी ज्वाइण्ट सिलेक्ट कमेटी की रिपोर्ट पर टीका करते हुए ख़ुद इस बात पर ज़ोर दिया था कि हिन्दुस्तान में किसी भी क़िस्म के वैध शासन का अभाव है—"भविष्य में अधिक प्रतिगामी और उससे भी ज़्यादा अवैध सरकार को मंज़ूर करने की बनिस्बत तो बेहतर है कि हम मौजूदा अवैध सरकार को ही लिये बैठे रहें।"

'क़ानूनी' के भाव में व्यवहार किया जाता है। इससे तो यह कहीं बेहतर है कि हम क़ानूनी और ग़ैर-क़ानूनी शब्दों का ही व्यवहार करें, हालाँकि वे काफ़ी गोलमोल हैं, और समय-समय पर उनका अर्थ बदलता रहता है।

नये-नये आर्डिनेन्स या नये-नये क़ानून नये-नये जुर्मों को पैदा करते हैं। उनके अनुसार किसी सभा में जाना जुर्म हो सकता है; इसी तरह साइकिल पर सवार होना, ख़ास क़िस्म के कपड़े पहनना, शाम के बाद घर के बाहर निकलना, पुलिस को रोज़ अपनी रिपोर्ट न देना, ये सब तथा दूसरी कई बातें आज हिन्दुस्तान के कुछ हिस्से में जुर्म समझी जाती हैं। एक काम देश के एक हिस्से में जुर्म समझा जा सकता है और दूसरे में नहीं। जब एक ग़ैर-ज़िम्मेदार कार्यकारिणी के द्वारा ऐसे क़ानून थोड़े-से-थोड़े नोटिस पर बना दिये जा सकते हैं, तब 'क़ानूनी' शब्द के मानी कार्यकारिणी की इच्छा के सिवा और क्या हो सकता है? मामूली तौर पर तो इस इच्छा का पालन ही किया जाता है, चाहे राज़ी से, चाहे बेमन से, क्योंकि उसके भंग करने का परिणाम दुखदायी होता है। पर किसी शख़्स का यह कहना कि मैं सदा ही उनका पालन करता रहूँगा, मानो तानाशाही या ग़ैरज़िम्मेदार हुकूमत के सामने सब तरह से सिर झुका देना है, अपनी आत्मा को बेच देना है और अपने कार्यों से कभी आज़ादी पाना असम्भव बना देना है।

हरेक लोकतन्त्रात्मक देश में महज़ इस बात पर विवाद खड़ा हो रहा है कि मौजूदा वैधानिक तन्त्र के द्वारा मामूली तौर पर आमूल आर्थिक परिवर्तन किये जा सकते हैं या नहीं? बहुत-से लोगों की राय है कि ऐसा नहीं हो सकता, इसके लिए कोई-न-कोई असाधारण और क्रान्तिकारी उपाय काम में लाने होंगे। लेकिन जहाँतक हमारे हिन्दुस्तान का ताल्लुक़ है, इस प्रश्न पर बहस करना कोई अर्थ नहीं रखता। ऐसा कोई वैधानिक साधन ही नहीं है जिसके बल पर हम अपनी इच्छा का परिवर्तन करा सकें। यदि श्वेत-पत्र या वैसी ही कोई चीज़ क़ानून बन गयी तो बहुत-सी दिशाओं में वैधानिक प्रगति बिलकुल रुक जायगी। ऐसी दशा में सिवा क्रान्ति या ग़ैरक़ानूनी कार्रवाई के और कोई चारा ही नहीं रह जाता। तब हमें करना क्या चाहिए? क्या परिवर्तन की सब आशाओं को तिलांजलि देकर भाग्य के भरोसे बैठे रहें?

हिन्दुस्तान में तो आज परिस्थिति और भी विषम हो गई है। कार्यकारिणी हर क़िस्म के सार्वजनिक कामों पर रोक या बन्दिश लगा सकती है और लगाती है। उसकी राय में जो भी काम उसके लिए ख़तरनाक है, वह मना कर दिया जाता है। इस तरह हरेक कारगर सार्वजनिक काम बन्द कर दिया जा सकता है, जैसा कि पिछले तीन साल तक बन्द कर दिया गया था। इसको मानने के मानी हैं तमाम सार्वजनिक कामों को छोड़ देना। और इस स्थिति को सह लेना किसी तरह मुमकिन नहीं है।

कोई यह नहीं कह सकता कि वह हमेशा और बिना नाग़ा क़ानून के मुताबिक़ ही काम करेगा। लोकतन्त्रीय-राज्य में भी ऐसे मौक़े पैदा हो सकते हैं जब किसीको उसकी अन्तरात्मा उस क़ानून के ख़िलाफ़ चलने के लिए मज़बूर करदे। फिर उस देश में तो, जहाँ स्वेच्छाचारी या निरंकुश शासन हो, ऐसे मौक़े और भी बार-बार आ सकते हैं। वास्तव में ऐसे राज्य में क़ानून के लिए कोई नैतिक आधार नहीं रह जाता है।

लिबरल लोग कहते हैं—"सीधा हमला तानाशाही से मेल खाता है, न कि लोकतन्त्र से; और जो लोकतन्त्र की विजय चाहते हैं उन्हें सीधे हमले से दूर ही रहना चाहिए।" यह तो एक प्रकार का ग़लत सोचना और ग़लत लिखना हुआ। बाज़ वक़्त सीधा हमला—जैसे मज़दूरों की हड़ताल—भी क़ानूनी हो सकता है। मगर यहाँ उनकी मन्शा शायद राजनैतिक काम से है। जर्मनी में, जहाँ कि हिटलर का बोलबाला है, आज क्या किया जा सकता है! या तो चुपचाप सिर झुका दो, या ग़ैरक़ानूनी और क्रान्तिकारी काम करो। वहाँ लोकतन्त्र से काम कैसे चल सकता है?

हिन्दुस्तानी लिबरल अक्सर लोकतन्त्र का नाम तो लिया करते हैं, लेकिन उनमें से अधिकांश उसके पास फटकने तक की इच्छा नहीं रखते। सर पी० एस० शिवस्वामी ऐयर ने, जो एक बहुत बड़े लिबरल नेता हैं, मई १९३४ में कहा था—"विधान-निर्मात्री सभा की पैरवी करते हुए कांग्रेस जन-समूह की समझदारी पर ज़रूरत से ज़्यादा भरोसा रखती है और उन लोगों की सचाई और योग्यता के साथ बहुत कम न्याय करती है, जिन्होंने भिन्न-भिन्न गोलमेज़-कान्फ्रेंसों में भाग लिया है। मुझे तो इस बात में बड़ा शक है कि विधान-निर्मात्री सभा का नतीजा इससे अच्छा हुआ होता।" इस तरह सर शिवस्वामी ऐयर की लोकतन्त्र-सम्बन्धी धारणा 'जन-समूह' से कुछ अलग है, और ब्रिटिश सरकार के नामज़द 'सच्चे और योग्य' लोगों के जमघट में ज़्यादा अच्छी तरह समा जाती है। आगे चलकर वह श्वेतपत्र को अपना आशीर्वाद देते हैं; क्योंकि, यद्यपि वह उससे "पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं हैं", "तो भी देश को उसका सोलहों आना विरोध करना समझदारी का काम न होगा।" तो अब ऐसा कोई सबब नहीं दिखाई देता कि क्यों न ब्रिटिश सरकार और सर पी० एस० शिवस्वामी ऐयर में पूरा-पूरा सहयोग हो।

कांग्रेस के द्वारा सविनय-भंग के वापस लिये जाने का स्वागत लिबरलों की ओर से होना स्वाभाविक ही था। और इसमें भी कोई ताज्जुब की बात नहीं है जो वे इस बात में अपनी समझदारी मानें कि उन्होंने इस "मूर्खतापूर्ण और ग़लत आन्दोलन" से अपने को अलग रक्खा। वे हमसे कहते हैं—"हमने पहले ही ऐसा कहा था न?" लेकिन यह एक अजीब दलील है। क्योंकि जब हम कमर कसकर खड़े हुए, एक करारी लड़ाई लड़ी और हम गिर पड़े; इसलिए

हमें यह नसीहत दी जाती है कि खड़ा होना ही ग़लत था। पेट के बल रेंगना ही अच्छी और निरापद बात है। क्योंकि, उस पड़े रहने की हालत से गिरना या गिरा दिया जाना बिलकुल नामुमकिन है।

५३

हिन्दुस्तान—पुराना और नया

यह स्वाभाविक और अनिवार्य बात थी कि हिन्दुस्तान में राष्ट्रवाद विदेशी हुकूमत का विरोधी हो। मगर फिर भी यह कितने कुतूहल की बात है कि हमारे बहुसंख्यक पढ़े-लिखे लोग १९वीं सदी के अन्त तक जान में या अनजान में, साम्राज्य के ब्रिटिश आदर्श में विश्वास करते थे। वही आदर्श उनकी दलीलों का आधार होता था और उसके कुछ बाहरी लक्षणों पर ही वे नुक्ताचीनी करके सन्तुष्ट हो जाते थे। स्कूलों और कॉलेजों में इतिहास, अर्थशास्त्र या जो भी दूसरे विषय पढ़ाये जाते थे वे ब्रिटिश साम्राज्य के दृष्टिकोण से लिखे होते थे और उनमें हमारी पिछली और मौजूदा बहुतेरी बुराइयों और अंग्रेज़ों के सद्गुणों और उज्वल भविष्य पर ज़ोर दिया रहता था। हमने उनके इस तोड़े-मरोड़े वर्णन को ही कुछ हद तक मान लिया और अगर कहीं हमने उसका सहज स्फूर्ति से प्रतीकार किया तो भी उसके असर से हम न बच सके। पहले-पहल तो हमारी बुद्धि उसमें से निकल ही नहीं सकती थी; क्योंकि हमारे पास न तो दूसरी घटनाएँ थीं और न दलीलें। इसलिए हमने धार्मिक राष्ट्रवाद और इस विचार की शरण ली, कि कम-से-कम धर्म और तत्वज्ञान के क्षेत्र में कोई जाति हमसे बढ़कर नहीं है। हमने अपने दुर्भाग्य और पतन पर इस बात से सन्तोष कर लिया कि यद्यपि हमारे पास पश्चिम की बाहरी चमक-दमक नहीं है तो भी अन्दर की वास्तविक चीज़ है जो उससे कहीं ज़्यादा क़ीमती और रखने लायक़ निधि है। विवेकानन्द और दूसरों ने तथा पश्चिमी विद्वानों ने हमारे पुराने दर्शनशास्त्रों में जो दिलचस्पी ली उसने हमें कुछ स्वाभिमान प्रदान किया और अपने भूतकाल के प्रति अभिमान का जो भाव मुरझा गया था उसे फिर से लहलहा दिया।

धीरे-धीरे हमारी पुरानी और मौजूदा अवस्था के सम्बन्ध में अंग्रेज़ों के बयानों पर हमें शक होने लगा और हम बारीकी से उनकी छान-बीन करने लगे। मगर तब भी हम उसी ब्रिटिश विचार-श्रेणी के घेरे में ही सोचते और काम करते थे। अगर कोई चीज़ ख़राब होती तो वह अब्रिटिश कहलाती थी। यदि किसी अंग्रेज़ ने हिन्दुस्तान में ख़राब बर्ताव किया तो वह उसका क़सूर समझा जाता था, उस प्रणाली का नहीं। लेकिन इस छान-बीन के द्वारा हिन्दुस्तान में ब्रिटिश-शासन-सम्बन्धी जो आलोचनात्मक सामग्री हाथ लगी उसने, लेखकों

का दृष्टिकोण मॉडरेट रहते हुए भी, एक क्रान्तिकारी हेतु को सिद्ध किया और हमारे राष्ट्रवाद को राजनैतिक और आर्थिक पाये पर खड़ा कर दिया। इस तरह दादाभाई नौरोजी की 'पावर्टी एण्ड अन-ब्रिटिश रूल इन इण्डिया' (भारत में ग़रीबी और अब्रिटिश शासन) और रमेशचन्द्र दत्त, विलियम डिग्बी आदि की किताबों ने हमारे राष्ट्रीय विचारों के विकास में एक क्रान्तिकारी काम किया। भारत के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में आगे चलकर जो और खोज हुई उसने तो बहुत प्राचीन-काल की उच्च सभ्यता के उज्ज्वल युगों का वर्णन हमारे सामने ला दिया और हम बड़े सन्तोष के साथ उन्हें पढ़ते हैं। हमें यह भी पता लगा कि अंग्रेज़ों के लिखे इतिहासों से हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ों के कारनामों के बारे में हमारे मन में जो धारणा बन गयी थी उससे उलटे ही उनके कारनामे हैं।

हम इतिहास, अर्थशास्त्र और भारत में उनकी शासन-व्यवस्था-सम्बन्धी उनके वर्णनों को उत्तरोत्तर चुनौती देने लगे। मगर फिर भी हम काम तो उन्हीं की विचारधारा के घेरे में करते थे। उन्नीसवीं सदी के आख़िर तक हिन्दुस्तानी राष्ट्रवाद की कुल मिलाकर यही हालत रही। आज लिबरल दल का, दूसरे और छोटे-छोटे दलों का और कुछ नरम कांग्रेसियों का भी, जो भावुकता में कभी-कभी आगे बढ़ जाते हैं लेकिन विचार की दृष्टि से अभी भी उन्नीसवीं सदी में रह रहे हैं, यही हाल है। यही सबब है कि एक लिबरल हिन्दुस्तान की आज़ादी के भाव ग्रहण करने में असमर्थ है, क्योंकि ये दोनों चीज़ें मूलतः अन-मेल हैं। वह सोचता है कि क़दम-ब-क़दम में ऊँचे पदों पर पहुँचता चला जाऊँगा और बड़ी-बड़ी तथा महत्त्व की फ़ाइलों पर कार्रवाई करूँगा। सरकारी मशीन पहले की ही तरह आराम से चलती रहेगी, सिर्फ़ वह उसका एक धुरा बन जायेगा और ब्रिटिश फ़ौज ज़रूरत के वक्त उसकी रक्षा करने के लिए, बिना ज़्यादा दख़ल दिये, किसी कोने में पड़ी रहेगी। साम्राज्यान्तर्गत औपनिवेशिक स्वराज्य (डोमीनियन स्टेटस) से उसका यही मतलब है। यह एक बिलकुल वाहियात बात है जो कभी पूर्ण नहीं हो सकती; क्योंकि अंग्रेज़ों द्वारा रक्षित होने की क़ीमत है हिन्दुस्तान की ग़ुलामी। यदि यह मान भी लिया जाय कि ग़ुलामी एक महान देश के आत्म-सम्मान को गिराने वाली नहीं है तो भी हम दही और मही दोनों एक साथ नहीं खा सकते। सर फ़्रेडरिक ह्वाइट, जिन्हें भारतीय राष्ट्रवाद का पक्षपाती नहीं कह सकते, अपनी एक नई किताब 'दी फ़्यूचर ऑफ़ ईस्ट एण्ड वेस्ट' (पूर्व तथा पश्चिम का भविष्य) में लिखते हैं—"वह (हिन्दुस्तानी) अब भी यह मानता है कि जब कभी सर्वनाश का दिन आयेगा तो इंग्लैण्ड उसके और सर्वनाश के बीच में आकर खड़ा हो जायेगा; और जबतक वह इस धोखे में है तबतक वह ख़ुद अपने स्वराज की भी बुनियाद नहीं डाल सकता।" ज़ाहिर है कि उनकी मंशा उन लिबरल या दूसरे प्रतिगामी और साम्प्रदायिक ढंग के हिन्दुस्तानियों से है जिनसे उनका साबक़ा हिन्दुस्तान की

असेम्बली के अध्यक्ष की हैसियत से पड़ा होगा। कांग्रेस का ऐसा विश्वास नहीं है। तब और आगे बढ़ी हुई दूसरी जमातों का तो ज़रूर ही नहीं हो सकता। मगर हाँ, वे सर फ्रेडरिक की इस बात से सहमत हैं कि, जबतक यह भ्रम हिन्दुस्तान में मौजूद है और हिन्दुस्तान अपने सर्वनाश का सामना करने के लिए अकेला नहीं छोड़ दिया जाता. यदि सर्वनाश ही उसके भाग्य में बदा है—तबतक वह आज़ाद नहीं हो सकता। जिस दिन हिन्दुस्तान से ब्रिटिश फ़ौज का नियन्त्रण पूर्णरूप से हट जायगा उसी दिन हिन्दुस्तान की आज़ादी का श्रीगणेश होगा।

यह कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि १९वीं सदी के पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानी ब्रिटिश विचार-धारा के प्रभाव में आ जायँ, लेकिन बड़े ताज्जुब की बात तो यह है कि बीसवीं सदी के परिवर्तनों और दिल दहला देनेवाली घटनाओं के होने पर भी कुछ लोग अभीतक उसी भ्रम में पड़े हुए हैं। १९वीं सदी में ब्रिटिश शासकवर्ग दुनिया के उन उच्च वर्गों में था, जिनके पास काफ़ी धन-दौलत, हुकूमत और सफलताएँ थीं। इस लम्बी सफलता और शिक्षा ने उनमें कुछ श्रीमन्तशाही के सद्गुण भी पैदा किये और कुछ दुर्गुण भी। हम हिन्दुस्तानी इस बात से अपने को सान्त्वना दे सकते हैं कि हमने पिछले लगभग पौने दो सौ बरसों में उन्हें इस उच्च स्थिति पर पहुँचाने और ऐसी तालीम दिलाने की साधन-सामग्री जुटाने में उन्हें काफ़ी मदद दी। वे अपने को—जैसा कि कितनी ही जातियों और राष्ट्रों ने किया है—ईश्वर के लाडले और अपने साम्राज्य को पृथ्वी पर का स्वर्ग समझने लगे। यदि आप उनके इस ख़ास दर्जे और रुतबे को मानते रहें और उनकी उच्चता को चुनौती न दी जाय तो वे बड़े मेहरबान रहेंगे और आपकी ख़ातिर करेंगे, बशर्तेकि उससे उनका कुछ नुक़सान न हो। लेकिन उनका विरोध करना मानो ईश्वरीय व्यवस्था का विरोध करना है और इसलिए वह ऐसा पाप है जिसको हर तरह से दबाना ही उचित है।

एम० आंद्रे सीगफ़्रीद ने ब्रिटिश मनोविज्ञान के इस पहलू पर मज़ेदार प्रकाश डाला है—

"परम्परा से शक्ति के साथ-साथ धन पर भी अधिकार रखने की जो आदत पड़ी हुई थी उसने अन्त में (अंग्रेज़ जाति में) रहन-सहन का ऐसा ढंग पैदा कर दिया जो रईसाना था और जिसपर अपने-आपको दैवी अधिकार-प्राप्त मनुष्य जाति समझने के भावों का एक अजीब-सा रंग पड़ा हुआ था। यहां तक कि ब्रिटिश सत्ता को चुनौती दिये जाने पर भी यह ढंग वास्तव में अधिकाधिक स्पष्ट रूप से प्रकट होने लगा। सदी के अन्त का नवयुवक समुदाय शुरू से ही यह विश्वास करने लगा कि यह सफलता उसका हक़ है।

"घटनाओं (के रहस्य) को समझने के इस ढंग पर ज़ोर देना इसलिए दिलचस्पी की बात है कि इन घटनाओं के द्वारा, ख़ासकर इस नाज़ुक विषय में, ब्रिटिश मनोवृत्ति की प्रतिक्रियाएँ स्पष्ट हो जाती हैं। कोई भी व्यक्ति इस नतीजे

पर पहुंचे बिना नहीं रह सकता कि अंग्रेज़ जाति इन कठिनाइयों का कारण बाहरी घटनाओं में ही ढूँढने का प्रयत्न करती है। उसके मतानुसार शुरूआत सदा किसी दूसरे के क़ुसूर से होती है और अगर यह (क़ुसूरवार) व्यक्ति अपना सुधार करने के लिए राज़ी हो जाय तो इंग्लैण्ड फिर अपने नष्ट वैभव को प्राप्त करले... (अंग्रेज़ जाति की) सदा यह प्रवृत्ति रही है कि वह ख़ुद तो न बदले, लेकिन दूसरे बदल जायँ।''

सारे जगत के प्रति अंग्रेज़ों का यदि यह आम रवैया है तो हिन्दुस्तान में तो यह और भी ज़्यादा प्रकट है। अंग्रेज़ लोग हिन्दुस्तान के मामलों को जिस तरह हल करना चाहते हैं, वह कुछ आकर्षक तो है, मगर है भड़काने वाला। शान्ति के साथ आश्वासन देते हुए उनका यह कहना कि हमने जो कुछ किया है वह सही किया है और हमने अपनी ज़िम्मेदारी बहुत योग्यता के साथ निबाही है, अपनी जाति की भवितव्यता और अपने तर्ज़ के साम्राज्यवाद पर श्रद्धा, और यदि कोई उस श्रद्धा की बुनियाद पर सवाल उठाये तो ऐसे नास्तिकों और पापियों पर क्रोध और घृणा—इन भावों की तह में एक क़िस्म का धार्मिक जोश दिखाई देता था। मध्यकालीन रोमन कैथोलिक धर्म-विचारकों की तरह वे हमारी इच्छा या अनिच्छा की परवा न करते हुए हमारे उद्धार के लिए तुले हुए थे। भलाई के इस व्यापार में रास्ते चलते उनको भी कुछ लाभ हो गया और इस तरह वे 'ईमानदारी ही सबसे अच्छी व्यवहार-नीति है' इस पुरानी कहावत को चरितार्थ कर दिखाने लगे। हिन्दुस्तान की उन्नति का अर्थ, देश को ब्रिटिश योजनाओं के अनुकूल बनाना और कुछ चुने हुए हिन्दुस्तानियों को ब्रिटिश साँचे में ढालना हो गया। जितना ही ज़्यादा हम ब्रिटिश आदर्शों और ध्येयों को मानते जायेंगे उतना ही ज़्यादा हम स्वशासन के अधिक योग्य समझ लिये जायेंगे। ज्योंही हम इस बात की गारण्टी दे दें और यह दिखलादें कि हम अंग्रेज़ों की इच्छा के अनुसार ही अपने को मिली हुई आज़ादी का उपयोग करेंगे, त्योंही आज़ादी हमारे पास आ जायगी।

लेकिन मुझे भय है कि हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन के इस कच्चे चिट्ठे पर हिन्दुस्तानी और अंग्रेज़ एकमत न होंगे। और शायद यह स्वाभाविक भी है। जब बड़े-बड़े ब्रिटिश अफ़सर यहांतक कि भारतमन्त्री भी, हिन्दुस्तान के भूत और वर्तमान का कल्पित चित्र खींचते हैं और ऐसी बातें कहते हैं जिनकी वास्तव में कोई बुनियाद ही नहीं होती, तो एक बड़ा धक्का लगता है। यह कितने असाधारण आश्चर्य की बात है कि कुछ विशेषज्ञों और दूसरे लोगों को छोड़कर अंग्रेज़ लोग हिन्दुस्तान के बारे में बेख़बर हैं। जबकि हक़ीक़तें ही उनकी पहुंच के बाहर हैं तब हिन्दुस्तान की आत्मा तो उनकी पहुंच के कितने परे होगी? उन्होंने हिन्दुस्तान के शरीर पर अधिकार कर तो लिया पर वह अधिकार बलात्कार का था। वे न तो उसकी आत्मा को ही समझते हैं और न समझने

की कोशिश ही करते हैं। उन्होंने कभी उसकी आँख मे आँख नहीं मिलाई। वह मिलाते भी कैसे? क्योंकि उनकी तो आंखें फिरी हुई थीं और उसकी शर्म व ज़िल्लत से झुकी हुई थीं। सदियों के इतने सम्पर्क के बाद भी जब वे एक-दूसरे के सामने आते हैं, तो अब भी अजनबी-से बने हुए हैं और दोनों के मन में एक-दूसरे के प्रति अरुचि के भाव भरे हुए हैं।

घोर अधःपतन और दरिद्रता होते हुए भी हिन्दुस्तान में काफ़ी शालीनता और महानता है। और हालाँकि वह पुरानी परम्परा और मौजूदा मुसीबतों से काफ़ी दबा हुआ है और उसकी पलकें थकान से कुछ भारी मालूम होती हैं, फिर भी अन्दर से निखरती हुई सौन्दर्य-कान्ति उसके शरीर पर चमकती है। उसके अणु-परमाणु में अद्‌भुत विचारों, स्वच्छन्द कल्पनाओं और उत्कृष्ट मनोभावों की झलक दिखायी देती है। उसके जीर्ण-शीर्ण शरीर में अब भी आत्मा की भव्यता झलकती है। अपनी इस लम्बी यात्रा में वह कई युगों से होकर गुज़रा है, और रास्ते में उसने बहुत ज्ञान और अनुभव संचित किया है, दूसरे देश-वासियों से देन-लेन किया है, उन्हें अपने बड़े कुटुम्ब में मिला लिया है, उत्थान और पतन, समृद्धि और ह्रास के दिन देखे हैं, बड़ी-बड़ी ज़िल्लतें उठायी हैं, महान् दुःख झेले हैं और कई अद्‌भुत दृश्य देखे हैं; लेकिन अपनी इस सारी लम्बी यात्रा में उसने अपनी अति प्राचीन संस्कृति को नहीं छोड़ा है। उससे उसने बल और जीवन-शक्ति प्राप्त की है और दूसरे देश के लोगों को उसका स्वाद भी चखाया है। घड़ी के काँटे की तरह वह कभी ऊपर गया और कभी नीचे आया है। अपने साहसिक विचारों से स्वर्ग और ईश्वर तक पहुँचने की उसने हिम्मत की है, उसके रहस्य खोलकर प्रकट किये हैं और उसे नरक-कुण्ड में गिरने का भी कटु अनुभव हुआ है। दुःखदायी अन्धविश्वासों और पतन-कारी रस्म-रिवाजों के बावजूद, जो कि उसमें घुस आये हैं और जिन्होंने उसे नीचे गिरा दिया है, उसने उस आदर्श को अपने हृदय से कभी नहीं भुलाया जो उसकी कुछ ज्ञानी सन्तानों ने इतिहास के उषा-काल में उसके लिए उपनिषदों में संचित कर दिया था। उसके ऋषियों की कुशाग्रबुद्धि सदा खोज में लीन रहती थी, नवीनता को पाने की कोशिश करती थी और सत्य की शोध में व्याकुल रहती थी। वह जड़ सूत्रों को पकड़कर नहीं बैठी रही और न लुप्तप्राय विधि-विधानों, ध्येय-वचनों और निरर्थक कर्म-काण्डों में ही डूबी रही। न तो उन्होंने इस लोक में खुद अपने लिए कष्टों से छुटकारा चाहा, न उस लोक में स्वर्ग की इच्छा की। बल्कि उन्होंने ज्ञान और प्रकाश माँगा। 'मुझे असत् से सत् की ओर ले जा; मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जा; मुझे मृत्यु से अमरता की ओर ले जा।'[1] अपनी सबसे प्रसिद्ध प्रार्थना—गायत्री मन्त्र—में

---

[1] 'असतो मा सद्‌गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय।'
—बृहदारण्यक उपनिषद् १-३-२७।

जिसका लाखों लोग आज भी नित्य जप करते हैं, ज्ञान और प्रकाश के लिए ही प्रार्थना की गयी है।

हालाँकि राजनैतिक दृष्टि से अक्सर उसके टुकड़े-टुकड़े होते रहे हैं, लेकिन उसकी आध्यात्मिकता ने सदा ही उसकी सर्व-सामान्य संस्कृति की रक्षा की है और उसकी विविधताओं में हमेशा एक विलक्षण एकता रही है।[1] सभी पुराने देशों की तरह इसमें भी अच्छाई और बुराई का एक अजीब मिश्रण था। मगर अच्छाई तो छिपी हुई थी और उसे खोजना पड़ता था; लेकिन सड़ायन्ध ज़ाहिर थी और सूरज की कड़ी और निठुर धूप ने उसे दुनिया के सामने प्रकट कर दिया।

इटली और भारतवर्ष से कुछ समता है। दोनों प्राचीन देश हैं और दोनों की संस्कृति भी पुरानी है, हालाँकि हिन्दुस्तान के मुक़ाबले में इटली ज़रा नया है और हिन्दुस्तान उससे बहुत विशाल। राजनैतिक दृष्टि से दोनों के टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं। लेकिन इटैलियनों की यह भावना कि हम 'इटैलियन' हैं, हिन्दुस्तानियों की तरह कभी कहीं मिटी और उसकी तमाम विविधता और विरोधों में एकता ही मुख्य रही। इटली में वह एकता अधिकांश रोमन एकता थी, क्योंकि उस विशाल नगर का उस देश में बहुत प्रभुत्व रहा और वह एकता का स्रोत और प्रतीक रहा है। हिन्दुस्तान में ऐसा कोई एक केन्द्र या प्रधान नगर नहीं रहा। हालांकि काशी को पूर्व की मोक्षपुरी कह सकते हैं--हिन्दुस्तान के ही लिए नहीं बल्कि पूर्वी एशिया के लिए भी; लेकिन रोम की तरह काशी ने कभी साम्राज्य या लौकिक सत्ता के फेर में पड़ने की कोशिश नहीं की। सारे हिन्दुस्तान में भारतीय संस्कृति इतनी फैली हुई थी कि किसी भी एक भाग को संस्कृति का केन्द्र नहीं कह सकते। कन्याकुमारी से लेकर हिमालय में अमरनाथ और बदरीनाथ तक और द्वारिका से जगन्नाथपुरी तक एक ही विचारों का प्रचार था और यदि किसी एक जगह में विचारों का विरोध होता तो उसकी प्रतिध्वनि देश के दूर-दूर हिस्सों तक पहुंच जाती थी।

---

[1] "हिन्दुस्तान मे सबसे बड़ी परस्पर-विरोधी बात यह है कि इस विविधता के अन्दर एक भारी एकता समायी हुई है। यों सरसरी तौर पर वह नहीं दिखाई देती, क्योंकि किसी राजनैतिक एकता के द्वारा सारे देश को एक सूत्र में बाँधने के रूप में इतिहास में उसने अपने को प्रकट नही किया, लेकिन वास्तव मे यह एक ऐसी असलियत है और इतनी शक्तिशाली है कि हिन्दुस्तान की मुस्लिम दुनिया को भी यह क़ुबूल करना पड़ता है कि उसके प्रभाव मे आने मे उसपर भी गहरा असर हुए बिना नहीं रहा है"—'दि फ़्यूचर आफ़ ईस्ट और वेस्ट' मे सर फ़्रेडरिक व्हाइट।

इटली ने जिस प्रकार पश्चिमी यूरप को धर्म और संस्कृति की भेंट दी उसी प्रकार हिन्दुस्तान ने पूर्वी एशिया को संस्कृति और धर्म प्रदान किया, हालाँकि चीन भी उतना ही पुराना और आदरणीय है जितना कि भारतवर्ष। और तब, जबकि इटली राजनैतिक दृष्टि से निर्बल होकर चित्त पड़ गया था, उसीकी संस्कृति का यूरप में बोलबाला था।

मेटर्निख[1] ने कहा था कि इटली तो एक 'भौगोलिक शब्द' है; कितने ही भावी मेटर्निखों ने इसी शब्द का व्यवहार हिन्दुस्तान के लिए भी किया है। यह भी एक अजीब-सी बात है कि दोनों देशों की भौगोलिक स्थिति में भी समता है। लेकिन इंग्लैण्ड और आस्ट्रिया की तुलना तो इससे भी ज़्यादा दिलचस्प है। क्योंकि बीसवीं सदी के इंग्लैण्ड की तुलना उन्नीसवीं सदी के मग़रूर, हठी और प्रतापी उस आस्ट्रिया के साथ की गयी है जो था तो प्रतापी, मगर जिन जड़ों ने उसे ताक़त दी थी वे सिकुड़ रही थीं और उस ज़बरदस्त वृक्ष में पतन के कीटाणु घुसकर उसे खोखला बना रहे थे।

यह एक अजीब बात है कि देश को मानव-रूप में मानने की प्रवृत्ति को कोई रोक ही नहीं सकता। हमारी आदत ही ऐसी पड़ गयी है और पहले के संस्कार भी ऐसे ही हैं। 'भारत-माता' हो जाती है—एक सुन्दर स्त्री, बहुत ही वृद्ध होते हुए भी देखने में युवती, जिसकी आँखों में दुःख और शून्यता भरी हुई विदेशी और बाहरी लोगों के द्वारा अपमानित और प्रपीड़ित और अपने पुत्र-पुत्रियों को अपनी रक्षा के लिए आर्त्तस्वर से पुकारती हुई। इस तरह का कोई चित्र हज़ारों लोगों की भावनाओं को उभाड़ देता और उनको कुछ करने और उनको क़ुर्बान हो जाने के लिए प्रेरित करता है। लेकिन हिन्दुस्तान तो मुख्तत उन किसानों और मज़दूरों का देश है, जिनका चेहरा ख़ूबसूरत नहीं है; क्योंकि ग़रीबी ख़ूबसूरत नहीं होती। क्या वह सुन्दर स्त्री जिसका हमने काल्पनिक चित्र खड़ा किया है, नंगेबदन और झुकी हुई कमरवाले, खेतों और कारख़ानों में काम करनेवाले किसानों और मज़दूरों का प्रतिनिधित्व करती है? या वह उन थोड़े से लोगों के समूह का प्रतिनिधित्व करती है, जिन्होंने युगों से जनता को कुचला और चूसा है, उनपर कठोर-से-कठोर रिवाज लाद दिये हैं और मेंउन से बहुतों को अछूततक क़रार दे दिया है? हम अपनी काल्पनिक सृष्टि से सत्य को ढकने की कोशिश करते हैं और असलियत से अपने को बचाकर सपने की दुनिया में विचरने का प्रयत्न करते हैं।

---

[1]मेटर्निख १८०७ से १८४८ तक आस्ट्रिया का प्रधान मन्त्री था। यह प्रगति-विरोधी और अराष्ट्रीयता की प्रत्यक्ष मूर्ति था और अपनी चाणक्य-नीति से जर्मनी और इटली को आस्ट्रिया के पंजे में इसने बहुत दिनोंतक रखा था। नेपोलियन के पतन के बाद कोई २० साल तक मेटर्निख का डंका यूरप में बजता था। १८४८ में जब जगह-जगह बलवे हुए तब उसका अन्त हुआ।

मगर इन अलग-अलग जात-पाँत और उनके आपसी संघर्षों के होते हुए भी उन सबमें एक ऐसा सूत्र था जो हिन्दुस्तान में सब को एक साथ बाँधे हुए था, और उसकी दृढ़ता और शक्ति देखकर दाँतों अँगुली दबानी पड़ती है। इस शक्ति का क्या कारण था? वह केवल निष्क्रिय शक्ति, जड़ता और परम्परा का प्रभाव ही नहीं था, हालाँकि यों तो इनकी भी महत्ता कुछ कम नहीं थी। वह तो एक सक्रिय और पोषक तत्त्व था, क्योंकि उसने ज़ोरदार बाहरी प्रभावों का सफलतापूर्वक प्रतीकार किया है और जो-जो भीतरी ताक़तें उसके मुक़ाबले के लिए उठ खड़ी हुईं उन्हें आत्मसात् कर लिया। और फिर भी, इस सारी ताक़त के रहते हुए भी, वह राजनैतिक सत्ता को क़ायम न रख सका या राजनैतिक एकता को सिद्ध करने की कोशिश न कर सका। ऐसा जान पड़ता है कि ये दोनों बातें इतना परिश्रम करने योग्य नहीं जान पड़ीं। उनके महत्त्व की मूर्खतापूर्ण अवहेलना की गयी और इससे हमें बड़ी हानि उठानी पड़ी है। सारे इतिहास में भारत के प्राचीन आदर्श में कहीं भी राजनैतिक या सैनिक विजय का गुणगान नहीं किया गया। वह धन-सम्पत्ति को धन कमानेवाले वर्गों को घृणा की दृष्टि से देखता था; सम्मान और धन-सम्पत्ति दोनों एकसाथ नहीं रहते थे, और सम्मान तो, कम-से-कम सिद्धान्त में, उसको मिलता था जो जाति की सेवा करता था और वह भी आर्थिक पुरुस्कार की आशा न रखते हुए।

यों तो पुरानी संस्कृति ने बहुतेरे भीषण तूफ़ानों और बवण्डरों में भी अपने को जीवित रक्खा है, लेकिन यद्यपि उसने अपना बाहरी रूप क़ायम रख छोड़ा है फिर भी वह अपना भीतरी असली सत्त्व खो चुकी है। आज वह चुपचाप और जी-जान लगाकर एक नई और सर्वशक्तिमान् प्रतिद्वन्द्विनी पश्चिम की बनिया संस्कृति से लड़ रही है। वह इस नवागन्तुका संस्कृति से परास्त हो जायगी, क्योंकि पश्चिम के पास विज्ञान है और विज्ञान लाखों भूखों को भोजन देता है। मगर पश्चिम इस एक दूसरे का गला काटनेवाली सभ्यता की बुराइयों का इलाज भी अपने साथ लाया है—साम्यवाद का, सहयोग का, सबके हित के लिए जाति या समाज की सेवा करने का सिद्धान्त। यह भारत के पुराने ब्राह्मणोचित सेवा के आदर्श से बहुत भिन्न नहीं है; लेकिन इसका अर्थ है तमाम जातियों, और वर्गों और समूहों को ब्राह्मण बना देना (अवश्य ही धार्मिक अर्थ में नहीं) और जाति-भेद को मिटा देना। हो सकता है कि जब भारत इस लिबास को पहनेगा, और वह ज़रूर पहनेगा, क्योंकि पुराना लिबास तो चिथड़े-चिथड़े हो गया है, तो उसे उसमें इस तरह काट-छाँट करनी पड़ेगी जिससे वह मौजूदा अवस्थाएँ और पुराने विचार दोनों का मेल साध सके। जिन विचारों को वह ग्रहण करे वे अवश्य उसकी भूमि के समरस हो जाने चाहिए।

५४

ब्रिटिश शासन का कच्चा चिट्ठा

हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन का इतिहास कैसा रहा ? मुझे यह सम्भव नहीं मालूम होता कि कोई भी हिन्दुस्तानी या अंग्रेज़ इस लम्बे इतिहास पर निष्पक्ष और निर्लिप्त रूप से विचार कर सकता हो। और यह सम्भव भी हो तो मनोवैज्ञानिक तथा अन्य सूक्ष्म घटनाओं को तौलना और जाँचना तो और भी कठिन होगा। हमसे कहा जाता है कि ब्रिटिश शासन ने "भारतवर्ष को वह चीज़ दी है जो सदियों में भी उसे हासिल नहीं हुई—अर्थात् ऐसी सरकार, जिसकी सत्ता इस उप-महाद्वीप के कोने-कोने में मानी जाती है;"[1] इसने क़ानून का राज्य और एक न्यायोचित तथा निपुणतापूर्ण शासन-व्यवस्था स्थापित की है; इसने हिन्दुस्तान को पार्लमेण्टरी शासन की कल्पना तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्रदान की है; और "ब्रिटिश भारत को एक संगठित एकछत्र राज्य में परिवर्तित करके भारतवासियों में परस्पर राजनैतिक एकता की भावना को जन्म दिया है"[2] और इस प्रकार राष्ट्रीयता के अंकुर का पोषण किया है। अंग्रेज़ों का यही दावा है और इसमें बहुत-कुछ सचाई भी है, हालाँकि न्याय-युक्त शासन और व्यक्तिगत स्वातंत्र्य बहुत वर्षों से नज़र नहीं आ रहे हैं।

इस युग का भारतीय सिंहावलोकन अन्य कई बातों को महत्त्व देता है और उस आर्थिक तथा आध्यात्मिक क्षति का दिग्दर्शन कराता है जो विदेशी शासन के कारण हमको पहुँची है। दोनों के दृष्टिकोण में इतना अन्तर है कि कभी-कभी जिस बात की अंग्रेज़ लोग तारीफ़ करते हैं उसी बात की हिन्दुस्तानी लोग निन्दा करते हैं। जैसा कि डॉक्टर आनन्दकुमार स्वामी ने लिखा है—"भारत में अंग्रेज़ी राज्य की एक सबसे ज़्यादा विलक्षण बात यह रही है कि हिन्दुस्तानियों को पहुँचाई जानेवाली बड़ी-से-बड़ी हानि भी बाहर से भलाई ही मालूम होती है।"

सच तो यह है कि पिछले सौ या कुछ ज़्यादा बरसों में हिन्दुस्तान में जो परिवर्तन हुए हैं वे संसारव्यापी हैं, और वे पूर्व और पश्चिम के अधिकांश देशों में समान रूप से हुए हैं। पश्चिमी यूरप में, और इसके बाद बाक़ी के देशों में भी, उद्योगवाद के विकास के परिणामस्वरूप सब जगह राष्ट्रीयता और सुदृढ़ एकछत्र राज्य-सत्ता का उदय हुआ। अंग्रेज़ लोग इस बात का श्रेय ले सकते हैं कि उन्होंने पहली बार भारतवर्ष का द्वार पश्चिम के लिए खोला और उसे पश्चिमी उद्योगवाद तथा विज्ञान का एक हिस्सा प्रदान किया। परन्तु इतना कर चुकने पर वे इस देश के अधिकतर औद्योगिक विकास का गला घोंटते रहे,

[1]-[2] ये उद्धरण भारतीय शासन-सुधार सम्बन्धी ज्वाइण्ट पार्लमेण्टरी कमिटी (१९३४) की रिपोर्ट से लिये गये हैं।

जबतक कि परिस्थिति ने इससे बाज़ आने के लिए उन्हें मजबूर नहीं कर दिया। हिन्दुस्तान तो पहले ही दो संस्कृतियों का सम्मिलन-क्षेत्र था; एक तो पश्चिमी एशिया से आई हुई इस्लाम की संस्कृति और दूसरी स्वयं उसकी पूर्वी संस्कृति जो सुदूर-पूर्व तक फैल गयी थी। और सुदूर-पश्चिम से एक तीसरी और अधिक ज़ोरदार लहर आयी, और भारतवर्ष भिन्न-भिन्न पुराने तथा नये विचारों का आकर्षण-केन्द्र तथा युद्धक्षेत्र बन गया। इसमें शक नहीं कि यह तीसरी लहर विजयी हो जाती और हिन्दुस्तान के बहुत-से पुराने सवालों को हल कर देती, लेकिन अंग्रेज़ों ने, जो खुद इस लहर को लाने में सहायक हुए थे, इसकी प्रगति रोकने का प्रयत्न किया। उन्होंने हमारी औद्योगिक उन्नति रोक दी और इस तरह हमारी राजनैतिक उन्नति में बाधा डाल दी, और जितनी पुरानी मांडलिकशाही या दूसरी पुरानी रूढ़ियाँ उन्हें यहाँ मिलीं उन सबका उन्होंने पोषण किया। [illegible]न्होंने हमारे परिवर्तन-शील, और कुछ हद्तक प्रगतिशील, क़ानूनों और रिवाजों [illegible]ो भी जिस स्थिति में पाया उसी स्थिति में जमा दिया और हमारे लिए [illegible]ीरों से छुटकारा पाना मुश्किल कर दिया। हिन्दुस्तान में मध्यमवर्ग [illegible]ई इन लोगों की सद्भावना या सहायता से नहीं हुआ। परन्तु रेल [illegible]ाद के दूसरे उपकरणों का प्रचार करने के बाद वे परिवर्तन की गति [illegible]हीं कर सके; वे तो उसे केवल रोकने और धीमी करने में ही समर्थ [illegible] इससे उन्हें स्पष्ट रूप से लाभ हुआ।

"भारतीय-शासन की शाही इमारत इसी पुख्ता नींव पर खड़ी की गई है और बड़े निश्चय के साथ यह दावा किया जा सकता है कि १८५८ से, जबकि ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के सारे प्रदेश पर सम्राट् की हुकूमत मानी गई, आजतक हिन्दुस्तान की शिक्षा-सम्बन्धी और भौतिक उन्नति उससे कहीं ज़्यादा हुई है जितनी अपने लम्बे और उतार-चढ़ाव के इतिहास के किसी भी काल में हासिल करना उसके लिए सम्भव था।"[1] लेकिन यह बात इतनी सही नहीं मालूम होती जैसी कि ऊपर से मालूम होती है और यह बार-बार कहा गया है कि अंग्रेज़ी राज्य का उदय होने से साक्षरता में तो दरअसल कमी आ गयी है। लेकिन यह कथन बिलकुल सच भी हो तो उसका मतलब है आधुनिक औद्योगिक युग की प्राचीन युगों से तुलना करना। विज्ञान और उद्योगवाद के कारण दुनिया के क़रीब-क़रीब सभी देशों में, पिछली सदी में, बहुत अधिक शिक्षा-सम्बन्धी और भौतिक उन्नति हुई है, और ऐसे किसी भी देश के बारे में यह यक़ीनन् कहा जा सकता है कि इस तरह की उन्नति "उससे कहीं ज़्यादा हुई है जितनी अपने लम्बे और उतार-चढ़ाव के इतिहास के किसी भी काल में हासिल करना उसके लिए सम्भव था।" हालाँकि शायद उस देश का इतिहास भारत के इतिहास

[1] ज्वाइण्ट पार्लमेण्टरी कमिटी (१९३४) की रिपोर्ट।

से पुराना न हो। अगर हम यह कहें कि इस तरह की उन्नति हमको इस औद्योगिक युग में ब्रिटिश शासन के न होने पर भी हासिल हो सकती थी, तो क्या यह फ़िज़ूल का ही झगड़ा या ज़िद है? और सचमुच अगर हम बहुत-से दूसरे देशों की हालत से अपनी हालत का मुक़ाबला करें तो क्या हम यह कहने का साहस न करें कि इस प्रकार की उन्नति और भी ज़्यादा होती? क्योंकि हमें अंग्रेज़ों के उस प्रयत्न का भी तो सामान करना पड़ा है जो उन्होंने इस उन्नति का गला घोटने के लिए किया। रेल, तार, टेलीफ़ोन, बेतार के तार आदि अंग्रेज़ी राज्य की अच्छाई और भलाई की कसौटी नहीं माने जा सकते। ये वाञ्छनीय और आवश्यक थे, और चूँकि अंग्रेज़ लोग संयोगवश इनको सबसे पहले लेकर आये, इसलिए हमें उनका अहसानमन्द होना चाहिए। लेकिन उद्योगवाद के ये चोबदार जो हमारे पास ख़ासतौर पर ब्रिटिश राज्य को मज़बूत करने के लिए लाये गये। ये तो नसें और नाड़ियाँ थीं जिनमें होकर राष्ट्र के ख़ून को बहना चाहिए था, जिससे व्यापार की तरक़्क़ी होती, पैदावार एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाई जाती, और करोड़ों मनुष्यों को नई ज़िन्दगी और धन हासिल होता। यह सही है कि आख़िरकार इस तरह का कोई-न-कोई नतीजा निकलता ही, लेकिन इन्हें जमाने और काम में लाने का मक़सद ही दूसरा था—साम्राज्य के पंजे को मज़बूत करना और अंग्रेज़ी माल का बाज़ार पर क़ब्ज़ा जमाना—जिसके पूरा करने में ये लोग कामयाब भी हो गये। मैं औद्योगीकरण और माल को दिसावर भेजने के नये-से-नये तरीक़ों के बिलकुल पक्ष में हूँ, लेकिन कभी-कभी, हिन्दुस्तान के मैदान में सफ़र करते हुए, मुझे यह जीवनदायी रेल भी लोहे के बन्धनों के समान मालूम पड़ी है, जो भारतवर्ष को जकड़े और बन्दी बनाये हुए हैं।

हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ों ने अपने शासन का आधार पुलिस-राज्य की कल्पना पर रक्खा है। शासन का काम तो सिर्फ़ सरकार की रक्षा करना था और बाक़ी सब काम दूसरों पर थे। उसके सार्वजनिक राजस्व का सम्बन्ध फ़ौज़ी ख़र्च, पुलिस, शासन-व्यवस्था और क़र्ज़े के व्याज से था। नागरिकों की आर्थिक ज़रूरतों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था और वे ब्रिटिश हितों पर क़ुर्बान कर दी जाती थीं। जनता की सांस्कृतिक और दूसरी आवश्यकताएँ, कुछ थोड़ी-सी को छोड़कर, सब ताक़ पर रख दी जाती थीं। सार्वजनिक स्वराज्य की परिवर्तनशील धारणाएँ, जिनके फलस्वरूप अन्य देशों में निःशुल्क और देशव्यापी शिक्षा, जनता के स्वास्थ्य की उन्नति, निर्धन और जर्जर व्यक्तियों का पालन, श्रमजीवियों की बीमारी, बुढ़ापे तथा बेकारी के लिए बीमा आदि बातें जारी हुईं, लगभग सरकार की कल्पना से बाहर की बातें थीं। वह इन ख़र्चीले कामों में नहीं पड़ सकती थी, क्योंकि उसकी कर-प्रणाली अत्यन्त प्रगति-विरोधी थी, जिसके द्वारा अधिक आमदनीवालों की बनिस्बत कम आमदनीवालों से अनुपात

में अधिक कर वसूल किया जाता था, और रक्षा और शासन के कामों पर उसका इतना अधिक ख़र्च था कि यह क़रीब-क़रीब सारी आमदनी को चट कर जाता था।

अंग्रेज़ी शासन की सबसे मुख्य बात यह थी कि सिर्फ़ ऐसी ही बातों पर ध्यान दिया जाय जिनसे मुल्क पर उनका राजनैतिक और आर्थिक क़ब्ज़ा मज़बूत हो। बाक़ी सब बातें गौण थीं। अगर उन्होंने एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन-व्यवस्था और एक होशियार पुलिस-दल की रचना कर डाली तो इस सफलता के लिए वे श्रेय ले सकते हैं, लेकिन भारतवासी इसके लिए अपने-आपको भाग्यशाली शायद ही कह सकें। एकता चीज़ अच्छी है, लेकिन पराधीनता की एकता कोई गर्व करने की वस्तु नहीं है। एक स्वेच्छाचारी शासन का बल ही जनता के ऊपर एक बड़ा भारी बोझ बन सकता है; और पुलिस की शक्ति, अनेक दिशाओं में निस्सन्देह उपयोगी होते हुए भी, जिन लोगों की वह रक्षक मानी जाती है उन्हींके ख़िलाफ़ खड़ी की जा सकती है, और बहुत बार की भी गयी है। बर्ट्रण्ड रसल ने आधुनिक सभ्यता की तुलना यूनान की प्राचीन सभ्यता से करते हुए हाल ही में लिखा है--"हमारी सभ्यता के मुक़ाबले यूनान की सभ्यता की ख़ाली यही विचारणीय श्रेष्ठता थी कि उसकी पुलिस अयोग्य थी, जिसके कारण ज़्यादातर भले आदमी अपने-आपको उसके चंगुल से बचा सकते थे।"

भारत में अंग्रेज़ों के आधिपत्य से हमें शान्ति मिली है। हिन्दुस्तान को मुग़ल-साम्राज्य के भंग होने के पश्चात् होनेवाले कष्टों और संकटों के बाद शान्ति की ज़रूरत भी थी, इसमें शक नहीं। शान्ति एक बड़ी मूल्यवान वस्तु है, जो किसी भी तरह की उन्नति के लिए आवश्यक है, और जब वह हमको मिली तो हमने उसका स्वागत किया। लेकिन उसके मूल्य की भी एक सीमा होनी चाहिए। अगर वह किसी भी मूल्य पर ख़रीदी जायगी तो हमें जो शान्ति मिलेगी वह श्मशान-शान्ति होगी। और उसके ज़रिये हमें जो हिफ़ाज़त मिलेगी वह होगी पिंजरे या जेलख़ाने की हिफ़ाज़त। या वह शान्ति ऐसे लोगों की विवश निराशा हो सकती है जो अपनी उन्नति करने के क़ाबिल न रहे हों। विदेशी विजेता की स्थापित की हुई शान्ति में वे विश्रामप्रद और सुख-दायक गुण मुश्किल से पाये जाते हैं जो सच्ची शान्ति में होते हैं। युद्ध बड़ा भयंकर चीज़ है और इससे बचना चाहिए, लेकिन मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स के कथनानुसार यह निस्सन्देह कुछ गुणों को प्रोत्साहन देता है, जैसे एकनिष्ठा, संगठन, शक्ति, दृढ़ता, वीरता, आत्मविश्वास, शिक्षा, शोधक बुद्धि, मितव्ययता, शारीरिक आरोग्य और पौरुष। इसी कारण जेम्स ने युद्ध का एक ऐसा नैतिक रूपान्तर तलाश करने की कोशिश की जो युद्ध की भयंकरता के बिना ही किसी जाति में इन गुणों को उत्तेजना दे। अगर उन्हें असहयोग और सविनय-भंग का ज्ञान होता तो शायद उनको मनोवाञ्छित वस्तु, अर्थात् युद्ध का नैतिक और

शान्तिमय रूपान्तर मिल गया होता।

इतिहास की 'अगर-मगर' और सम्भावनाओं पर विचार करना फ़िज़ूल है। मेरा विश्वास है कि हिन्दुस्तान का विज्ञानशील और उद्योगवान यूरप के सम्पर्क में आना अच्छा ही हुआ। विज्ञान पश्चिम की एक बड़ी भारी देन है और हिन्दुस्तान में इसकी कमी थी, इसके बिना उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी भी थी। लेकिन जिस तरह हमारा उससे सम्बन्ध स्थापित हुआ वह दुर्भाग्यपूर्ण था। मगर फिर भी, शायद सिर्फ़ ज़ोर-ज़ोर की लगातार टक्करें ही हमें गहरी नींद से जगा सकती थीं। इस दृष्टि से प्रोटेस्टेण्ट, व्यक्तिवादी, ऐंग्लो-सेक्सन अंग्रेज़ लोग इस काम के लिए उपयुक्त थे, क्योंकि अन्य पश्चिमी जातियों की बनिस्बत उनमें और हमारे में बहुत ज़्यादा फ़र्क़ था और वे हमें अधिक ज़ोर की टक्कर लगा सकते थे।

उन्होंने हमें राजनैतिक एकता दी, जो एक वांछनीय वस्तु थी, पर हमारे अन्दर यह एकता होती या न होती तो भी भारतीय राष्ट्रीयता तो बढ़ती ही और इस प्रकार की एकता का तक़ाज़ा भी करती। आजकल अरब बहुत-सी मुख़्तलिफ़ रियासतों में बँटा हुआ है जो स्वतन्त्र, परतन्त्र, रक्षित इत्यादि हैं। लेकिन उन सबमें एक अरबी राष्ट्रीयता की भावना दौड़ रही है। इसमें कोई शक नहीं कि अगर पश्चिमी साम्राज्यवादी शक्तियां उसके मार्ग में बाधक न हों तो राष्ट्रीयता बहुत हद तक इस एकता को प्राप्त कर ले। लेकिन जैसा कि हिन्दुस्तान में किया जा रहा है, इन शक्तियों का इरादा यही रहता है कि झगड़ालू प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दिया जाय और अल्प-मत की समस्यायें पैदा कर दी जायँ जिससे राष्ट्रीयता का जोश ठंडा पड़ जाय और कुछ अंश तक रुक जाय, तथा साम्राज्यवादी शक्ति को बने रहने और निष्पक्ष पंच होने का दावा करने का बहाना मिल जाय।

हिन्दुस्तान की राजनैतिक एकता गौण रूप से साम्राज्य की वृद्धि के घुणाक्षर-न्याय से प्राप्त हुई है। बाद में जब यह एकता राष्ट्रीयता के साथ मिल गई और विदेशी राज्य को चुनौती देने लगी तो हमारे सामने फूट डालने और साम्प्रदायिकता के जान-बूझकर बढ़ाये जाने के दृश्य आने लगे जो हमारी भावी उन्नति के मार्ग में ज़बरदस्त रोड़े हैं।

अंग्रेज़ों को यहाँ आये हुए कितना लम्बा अर्सा हो गया, उन्हें अपना प्रभुत्व स्थापित किये पौने दो सौ वर्ष हो गये! स्वेच्छाचारी शासकों की भांति वे मन-चाही करने में स्वतन्त्र थे, और हिन्दुस्तान को अपनी मर्ज़ी के मुताबिक़ ढालने का उनके पास काफ़ी सुन्दर मौक़ा था। इन वर्षों में संसार इतना बदल गया है कि पहचाना नहीं जा सकता—इंग्लैण्ड, यूरप, अमेरिका, जापान आदि सब बदल गये हैं। अठारहवीं सदी के अटलांटिक महासागर के किनारे पर स्थित छोटे-मोटे अमेरिकन उपनिवेश आज मिलकर सबसे धनवान्, सबसे शक्तिशाली और

कला-विज्ञान में सबसे अधिक उन्नत राष्ट्र बन गये हैं; जापान में थोड़े-से ही समय में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया है; रूस के विशाल प्रदेश में, जहाँ अभी कल तक ही ज़ार के शासन का फ़ौलादी पंजा सब प्रकार की उन्नतियों का गला दबा रहा था, आज नवजीवन लहलहा रहा है और हमारे सामने एक नई दुनिया खड़ी हो गयी है। हिन्दुस्तान में भी बड़े भारी परिवर्तन हुए हैं और अठारहवीं शताब्दी की अपेक्षा आज का देश उससे बहुत भिन्न है—रेलें, नहरें, कारख़ाने, स्कूल और कॉलेज, बड़े-बड़े सरकारी दफ़्तर आदि बन गये हैं।

और फिर भी, इन परिवर्तनों के बावजूद आज हिन्दुस्तान की क्या अवस्था है? वह एक ग़ुलाम देश है, जिसकी महान् शक्ति पिंजड़े में बन्द कर दी गयी है; जो खुलकर साँस लेने की भी हिम्मत नहीं कर सकता; जो बहुत दूर रहनेवाले विदेशियों द्वारा शासित है; जिसके निवासी नितान्त निर्धन, थोड़ी उम्र में मरनेवाले और रोगों तथा महामारियों से अपने-आपको बचाने में असमर्थ हैं; जहाँ अशिक्षा चारों ओर फैली हुई है; जहाँ के बहुत बड़े-बड़े प्रदेश हर तरह की सफ़ाई या चिकित्सा के साधनों से रहित हैं; जहाँ मध्यमवर्ग और सर्वसाधारण दोनों में बड़े भारी पैमाने पर बेकारी है। हमसे कहा जाता है कि 'स्वाधीनता', 'जनसत्तावाद', 'समाजवाद', 'साम्यवाद' आदि अव्यावहारिक आदर्शवादियों, सिद्धान्तवादियों अथवा धोखेबाज़ों की पुकार है; असली कसौटी तो समस्त जनता की भलाई होनी चाहिए। यह वास्तव में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कसौटी है; लेकिन इस कसौटी पर भी आज हिन्दुस्तान बहुत ही हलका उतरता है। हम अन्य देशों में बेकारी कम करने तथा कष्टों को दूर करने की बड़ी-बड़ी योजनाओं की बातें पढ़ते हैं; लेकिन हमारे यहाँ के करोड़ों बेकारों और चारों ओर स्थायी रूप से फैले हुए घोर कष्टों को कौन पूछता है? हम दूसरे देशों की गृह-योजनाओं के विषय में भी सुनते हैं; लेकिन हमारे यहाँ के करोड़ों मनुष्यों के पास, जो कच्ची झोंपड़ियों में रहते हैं या जिनके पास रहने तक को जगह नहीं, मकान कहाँ हैं? क्या हमें दूसरे देशों की हालत से ईर्ष्या न होगी जहाँ शिक्षा, सफ़ाई, चिकित्सा-प्रबन्ध, सांस्कृतिक सुविधाएँ, और पैदावार बड़ी शीघ्रता से उन्नति कर रही है, जब कि हम लोग जहाँ थे वहीं खड़े हुए हैं या बड़ी दिक़्क़त के साथ चींटी की तरह रेंग रहे हैं? रूस ने बारह साल के थोड़े-से समय में ही आश्चर्यजनक प्रयत्नों से अपने विशाल देश की अशिक्षा का क़रीब-क़रीब अन्त कर दिया है, और शिक्षा की एक सुन्दर और आधुनिक प्रणाली का विकास किया है जो जनता के जीवन से सम्पर्क रखती है। पिछड़े हुए टर्की ने अतातुर्क मुस्तफ़ा कमाल के नेतृत्व में देशव्यापी शिक्षा-प्रसार के मार्ग में बहुत लम्बा क़दम बढ़ाया है। फ़ासिस्ट इटली ने अपने जीवन के आरम्भ में ही ज़ोरों से अशिक्षा पर आक्रमण किया। शिक्षा-सचिव जेण्टाइल ने आवाज़ उठाई कि "निरक्षरता पर सामने से हमला होना चाहिए। यह प्लेग का फोड़ा, जो हमारे राजनैतिक शरीर को

सड़ा रहा है, गरम लोहे से दाग़ दिया जाना चाहिये।" ड्राइंग रूम में बैठकर बातें करने में ये शब्द भले ही कठोर मालूम हों, लेकिन इनके द्वारा इस विचार की तह में रहने वालीदृढ़ता और शक्ति प्रकट होती है। हम लोग अधिक विनम्र हैं और बहुत चिकने-चुपड़े वाक्यों का प्रयोग करते हैं। हम लोग ख़ूब फूँक-फूँककर क़दम रखते हैं और अपनी तमाम शक्तियों को कमीशनों और कमिटियों में बरबाद कर देते हैं।

हिन्दुस्तानियों पर यह दोषारोप किया जाता है कि वे बातें तो बहुत ज़्यादा करते हैं पर काम ज़रा भी नहीं। यह आरोप ठीक भी है। लेकिन क्या हम अंग्रेज़ों की ऐसी कमेटियों और कमीशनों की अथक क्षमता पर आश्चर्य प्रकट न करें जिनमें से हरेक, बड़े परिश्रम के बाद एक विद्वत्तापूर्ण रिपोर्ट—"एक महान् सरकारी ख़रीता"—तैयार करता है, जो बाक़ायदा तारीफ़ किये जाने के बाद दाख़िल-दफ़्तर कर दी जाती है। और इस तरह से हमको आगे बढ़ने का, प्रगति का, भास तो होता है लेकिन हम रहते वहीं के वहीं हैं। सम्मान भी रह जाता है और हमारे स्थापित स्वार्थ भी अछूते और सुरक्षित बने रहते हैं। दूसरे देश यह सोचते हैं कि किस तरह आगे बढ़ें; हम रुकावटों, अटकावों और संरक्षणों का विचार करते हैं कि कहीं ज़रूरत से ज़्यादह तेज़ न चलने लगें।

"शाही शान-शौक़त रिआया की ग़रीबी का पैमाना बन गयी" मुग़ल साम्राज्य के बारे में यह बात हमको (ज्वाइण्ट पार्लमेण्टरी कमिटी १९३४ के द्वारा) बतलायी जाती है। यह बात ठीक है, लेकिन क्या हम उसी नाप को आज काम में नहीं ला सकते? आज यह वाइसराय की शान-शौक़त और तड़क-भड़क सहित नई दिल्ली और प्रान्तीय गवर्नर और उनकी नुमायशी टीम-टाम आख़िर क्या हैं? और इन सबके पीछे है हैरत में डालनेवाली हद दरजे की ग़रीबी। यह परस्पर-विरोध दिल को चोट पहुंचाता है और यह कल्पना करना कठिन है कि कोमल हृदय के लोग इसको किस तरह बर्दाश्त कर सकते हैं। तमाम शाही वैभव के पीछे आज हिन्दुस्तान में एक बड़ा दैन्यपूर्ण और शोकमय दृश्य है। शाही शान-शौक़त पेबन्द लगाकर दिखावट के लिए खड़ी कर दी गयी है, लेकिन इसके पीछे निम्न मध्यमवर्ग के दुखी लोग हैं, जो ज़माने की हालतों से पिसते ही चले जा रहे हैं। इनके भी पीछे मज़दूर लोग हैं, जो पीस डालने-वाली ग़रीबी में कमबख़्ती की ज़िन्दगी बसर कर रहे हैं और इनके बाद जो हिन्दुस्तान के प्रतीक—किसान लोग हैं जिनके भाग्य में "अनन्त अन्धकार में रहना" ही लिखा है।

"आह! पीठ पर ले कितनी सदियों का भारी भार,
झुका खड़ा अपने हल पर धरती को रहा निहार!!
युग-युग का सूनापन उसके ही मुँह पर लो देख,
सिर पर उसके और बोझ बन बैठा है संसार!!!

झाँक रही ठठरी से युग-युग की पीड़ा दुर्दान्त,
झुकना है या महाकाल का यह इतिहास दुखान्त
रोती है स्रष्टा से दुखड़ा--यही भविष्यद्‌वाक्‌ !
ठगी-लुटी, पीड़ित-अपमानित मानवता आक्रान्त !''[1]

हिन्दुस्तान की सारी तकलीफ़ों का दोष अंग्रेज़ों के सिर मढ़ना ठीक नहीं होगा। इसकी ज़िम्मेदारी तो हमको अपने ही कन्धों पर लेनी पड़ेगी और उससे हम बच भी नहीं सकते; अपनी कमज़ोरियों के अनिवार्य परिणामों के लिये दूसरों को दोष देना अच्छा नहीं मालूम होता। एक हाकिमाना शासन-प्रणाली, ख़ासकर एक विदेशी शासन-प्रणाली ज़रूर गुलाम मनोवृत्ति को प्रोत्साहन देगी और रिआया के दृष्टिकोण और दृष्टि-क्षेत्र को सीमित रखने का प्रयत्न करेगी। उसे तो नवयुवकों की सबसे उत्तम प्रवृत्तियों—उद्योग, जोखिम उठाने की भावना, मौलिकता, तेजस्विता—को पीस डालना, और काम से जी चुराना, लकीर के फ़क़ीर बने रहना और अफ़सरों की क़दमबोसी और चापलूसी करने की इच्छा आदि को प्रोत्साहन देना ही अभीष्ट है। इस प्रकार की प्रणाली से सच्ची सेवा-वृत्ति, सार्वजनिक सेवा या आदर्श की लगन, उत्पन्न नहीं होती; यह तो ऐसे लोगोंको छाँट लेती है जिनमें सेवा के भाव बहुत कम हों और जिनका एकमात्र उद्देश्य मौज से ज़िन्दगी बसर करना हो। हम देखते हैं कि हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ लोग कैसे व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं! इनमें से कुछ तो कुशाग्रबुद्धि और अच्छा काम करने लायक़ होते हैं। ये लोग दूसरी जगह मौक़ा न मिलने के कारण सरकारी या अर्द्ध सरकारी नौकरियों में पड़कर धीरे-धीरे नरम हो जाते हैं और उस बड़ी मशीन के पुर्ज़ेमात्र बन जाते हैं; उनके दिमाग़ काम के सुस्त ढर्रे में क़ैद हो जाते हैं। वे नौकरशाही के गुण—"क्लर्की करने का ख़ूब अच्छा ज्ञान और दफ़्तर चलाने का कौशल"—प्राप्त कर लेते हैं। सार्वजनिक सेवा में ज़्यादा-से-ज़्यादा उनकी मौखिक भक्ति होती है। उबलता हुआ जोश वहाँ न तो होता है और न हो सकता है। विदेशी सरकार के राज्य में यह सम्भव ही नहीं है।

लेकिन इनके अलावा, अधिकतर छोटे-मोटे अफ़सर भी किसी तारीफ़ के क़ाबिल नहीं होते, क्योंकि उन्होंने तो सिर्फ़ अपने बड़े अफ़सरों की क़दमबोसी करना और अपने मातहतों को डाँटना ही सीखा है; इसमें उनका क़ुसूर नहीं है। यह शिक्षा तो उन्हें शासन-प्रणाली से मिलती है। अगर चापलूसी और रिश्तेदारों के साथ रिआयत फूलती-फलती है, जैसा कि अक्सर होता है, तो इसमें ताज्जुब ही क्या है? नौकरी में उनका कोई आदर्श नहीं रहता; उनके पीछे तो बेकारी और उसके परिणामस्वरूप भूखों मरने के डर का भूत लगा रहता है,

---

[1] अमेरिका के कवि ई० मारखम की The man with the Hoe" फावड़ेवाला आदमी नामक कविता के एक अंश का भावानुवाद।

और उनकी ख़ास नीयत यह रहती है कि अपनी नौकरी से चिपके रहें और अपने रिश्तेदारों और दोस्तों के लिए और दूसरी नौकरियाँ प्राप्त करें। जहाँ भेदिया, और सबसे ज़्यादा घृणित जीव, मुख़बिर, हमेशा पीछे-पीछे लगे फिरते रहते हैं, वहाँ लोगों में अधिक वाञ्छनीय गुणों की वृद्धि होना कठिन है।

हाल की घटनाओं ने तो भावुक और सार्वजनिक सेवा के भावोंवाले व्यक्तियों के लिए सरकारी नौकरी में घुसना और भी मुश्किल कर दिया है। सरकार तो उनको चाहती ही नहीं और वे भी उससे उस समय तक घनिष्ट सम्बन्ध रखना नहीं चाहते जब तक कि वे आर्थिक परिस्थिति से मजबूर न हो जायँ।

लेकिन, जैसा कि सारी दुनिया जानती है, साम्राज्य का भार गोरों पर है, कालों पर नहीं। साम्राज्य की परम्परा जारी रखने के लिए तरह-तरह की शाही नौकरियाँ और उनके विशेष अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए संरक्षणों की हमारे यहाँ भरमार है, और कहा जाता है कि ये सब हैं हिन्दुस्तान के ही हित के लिए। यह ताज्जुब की बात है कि हिन्दुस्तान का हित किस तरह से इन ऊँची नौकरियों के स्पष्ट हितों और उन्नति के साथ बँधा हुआ है। हमसे कहा जाता है कि अगर भारतीय सिविल सर्विस का कोई अधिकार या कोई ऊँचा ओहदा छीन लिया गया तो उसका नतीजा बदइन्तजामी और रिश्वतख़ोरी आदि होगा। अगर भारतीय मेडिकल सर्विस की रिज़र्व की हुई नौकरियाँ कम कर दी गईं तो यह बात "हिन्दुस्तान की तन्दुरुस्ती के लिए ख़तरनाक" हो जाती है! और हाँ, अगर फ़ौजों में अंग्रेज़ों की संख्या पर हाथ लगाया गया तो दुनियाभर के भयंकर ख़तरे हमारे सामने आ जाते हैं।

मेरा ख़याल है कि इस बात में कुछ सचाई है कि अगर ऊँचे अफ़सर यकायक चले गये और अपने महकमों को मातहतों के भरोसे छोड़ गये तो इन्तज़ाम में कमी ज़रूर आयेगी। लेकिन यह तो इसलिए होगा कि सारी प्रणाली ही इस तरह की बनायी गई है, और मातहत लोग किसी हालत में भी कोई बहुत लायक़ नहीं हैं, न उनके कन्धों पर कभी ज़िम्मेदारी का बोझ डाला गया है। मुझे विश्वास है कि हिन्दुस्तान में अच्छी सामग्री बहुतायत से पड़ी हुई है और वह थोड़े ही समय में मिल भी सकती है, बशर्ते कि ठीक-ठीक उपाय काम में लाये जायँ। लेकिन इसका अर्थ है हमारे शासन और समाज-सम्बन्धी दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन, जिसका अर्थ होता है एक नई राज्य-व्यवस्था।

अभी तो हमसे यही कहा जाता है कि शासन-विधान में चाहे जो परिवर्तन हमारे सामने आवें, हमारी देखरेख करनेवाला और हमें आश्रय देनेवाला बड़ी-बड़ी नौकरियों का मज़बूत ढाँचा ज्यों-का-त्यों बना रहेगा। सरकारी मन्दिर के गूढ़तम रहस्यों को जानने और दूसरों को उनका अधिकारी बनानेवाले ये पण्डे लोग उनकी रक्षा करेंगे और अनधिकारी लोगों को उस पवित्र प्रांगण में न घुसने देंगे। क्रम-क्रम से जैसे-जैसे हम अपने को उसके योग्य बनाते जायँगे,

वैसे-वैसे वे एक के बाद दूसरे परदे ने हमारे सामसे उठाते जायँगे, और :
तरह अन्त में किसी सुदूर भविष्य में अन्तर्कपाट खुलेंगे और हमारी आश्चर्य
तथा श्रद्धायुक्त आंखों के सामने वह पवित्रतम देवमूर्ति खड़ी दिखायी देगी।

इन शाही नौकरियों में सबसे ऊँचा स्थान भारतीय सिविल सर्विस का
और हिन्दुस्तान की सरकार के ठीक-ठीक चलते रहने की शाबाशी या ला
ज़्यादातर इसीको मिलनो चाहिए। हमको अक्सर इस सर्विस के अनेक
बतलाये जाते हैं। साम्राज्य की योजना में इसका महत्त्व एक सिद्धान्त-सा
गया है। हिन्दुस्तान में इसकी सर्वमान्य अधिकारपूर्ण स्थिति और उससे उत
स्वेच्छाचारिता और पर्याप्त परिमाण में मिलनेवाली तारीफ़ और वाहवाही,
सब किसी भी व्यक्ति या समुदाय के दिमाग़ को स्थिर रखने के लिए ब
अच्छी चीज़ें नहीं हो सकतीं। इस सर्विस के लिए प्रशंसा के भाव रखते हुए
मुझे संकोच के साथ स्वीकार करना पड़ता है कि व्यक्तिगत और सामूहिक दो
ही तरह, यह उस पुरानी लेकिन कुछ-कुछ नवीन बीमारी, अपनी महत्ता
उन्माद की विलक्षण रूप से शिकार हो सकती है।

इण्डियन सिविल सर्विस की अच्छाइयों से इन्कार करना फ़िजूल है, क्यों
हमें इनको भूलने ही नहीं दिया जाता। लेकिन इस सर्विस के बारे में इत
निरर्थक बातें कही गईं और कही जाती हैं कि मुझे कभी-कभी लगता है
उसकी थोड़ी-सी क़लई खोल देना भी हितकर होगा। अमेरिकन अर्थशास्
वेबलेन ने विशेष अधिकार-प्राप्त वर्गों को 'सुरक्षित वर्ग' कहा है। मेरे ख़य
से, इण्डियन सिविल सर्विस और दूसरी शाही नौकरियों को भी 'सुरक्षि
नौकरियाँ' कहना उतना ही युक्ति-युक्त होगा। यह एक बड़ी ख़र्चीं
ऐयाशी है।

मेजर डी० ग्रेहम पोल ने, जो पहले ब्रिटिश पार्लमेण्ट के लेबर मेम्बर
चुके हैं और हिन्दुस्तान के मामलों में बहुत दिलचस्पी लेते हैं, कुछ दिन हु
'माडर्न रिव्यू' में एक लेख लिखा था, जिसमें उन्होंने बताया था कि "अभी त
इस बात पर किसीने आपत्ति नहीं की कि इण्डियन सिविल सर्विस एक ब
योग्य और होशियार कारगर चीज़ है।" चूँकि इसी प्रकार की बातें इंग्लैं
में अक्सर कही जाती हैं और उन पर विश्वास किया जाता है, इसलिए इस
परीक्षा करना लाभकर होगा। ऐसे पक्के और निश्चयात्मक बयान देना, जो सह
ही में काटे जा सकें, हमेशा ख़तरनाक होता है और मेजर ग्रेहम पोल की य
कल्पना बिलकुल ग़लत है कि इस बात पर कभी किसी ने एतराज़ नहीं किय
इसको तो बार-बार चुनौती दी गयी है और ठीक नहीं माना गया है, और का
अर्सा हुआ जब श्री गोपालकृष्ण गोखले तक ने इण्डियन सिविल सर्विस
बारे में बहुत-सी कड़ुवी बातें कही थीं। औसत दर्जे का हिन्दुस्तानी—
कांग्रेसमैन हो या न हो—मेजर ग्रेहम पोल से इस विषय पर निश्चय ही कदा

सहमत नहीं हो सकता। फिर भी यह सम्भव है कि दोनों कुछ अंश तक ठीक हों और भिन्न-भिन्न गुणों को दृष्टि में रखकर सोचते हों। आख़िर योग्यता और होशियारी का पैमाना क्या है ? अगर यह योग्यता और होशियारी हिन्दुस्तान में ब्रिटिश राज्य को मज़बूत बनाये रखने और देश को चूसने में उसे सहायता देने की दृष्टि से नापी जाय, तो इण्डियन सिविल सर्विस ज़रूर बहुत अच्छा काम करने का दावा कर सकती है । लेकिन अगर भारतीय जनता की भलाई की कसौटी पर रखकर देखा जाय, तो कहना होगा कि ये लोग बुरी तरह से नाकामयाब हुए हैं, और इनकी नाकामयाबी तब और भी ज़्यादा ज़ाहिर हो जाती है जबकि हम उस बड़े भारी अन्तर को देखते हैं जो आमदनी और रहन-सहन के ढंग के लिहाज़ से इनको उस जनता से अलग कर देता है जिसकी सेवा करना इनका फ़र्ज़ है और दरअसल जिसके पास से इसकी इतनी लम्बी-चौड़ी तनख़्वाह आदि निकलती है ।

यह बिलकुल ठीक है कि आमतौर पर इस सर्विस ने अपना एक ख़ास स्टैण्डर्ड बना लिया है, हालाँकि वह स्टैण्डर्ड लाज़िमी तौर पर बहुत नीचे दर्जे का रहा है । कभी-कभी इसमें से असाधारण व्यक्ति भी निकले हैं। ऐसी किसी सर्विस से ज़्यादा उम्मीद भी नहीं की जा सकती। इसके अन्दर लाज़िमी तौर पर अन्दर से अपनी अच्छाइयों और बुराइयों को लिये हुए इंग्लैण्ड के पब्लिक स्कूलों की भावना भरी हुई थी (हालाँकि इण्डियन सिविल सर्विस के बहुत-से अफ़सर इन पब्लिक स्कूलों में पढ़े हुए नहीं हैं)। हालाँकि यह एक अच्छा स्टैण्डर्ड बनाये रही, फिर भी इसने अपनी लीक छोड़ना कभी पसन्द नहीं किया, और व्यक्तिगत रूप से इसके मेम्बरों के ख़ास गुण रोज़मर्रा के नीरस काम-काजों में, और कुछ इस डर में कि कहीं दूसरों से भिन्न न नज़र आने लगें, विलीन हो गये। इसमें बहुत से उत्साही लोग भी थे, और बहुत-से ऐसे भी थे जिनमें सेवा के भाव थे, लेकिन वह सेवा सबसे पहले साम्राज्य की थी और हिन्दुस्तान तो गिरते-पड़ते कहीं दूसरे नम्बर में आता था। जिस तरह की तालीम उन्हें मिली थी और जैसी उनकी परिस्थिति थी उसके अनुसार तो वे सिर्फ़ ऐसा ही कह सकते थे। चूँकि उनकी तादाद कम थी और वे एक विदेशी और अक्सर बे-मेल वातावरण से घिरे रहते थे, इसलिए वे अपने ही में रमे रहते और अपना एक ख़ास स्टैण्डर्ड बनाये रखते थे। जाति और पद की प्रतिष्ठा का यही तक़ाज़ा था। और चूँकि उनको मनमानी करने के ख़ूब अधिकार थे, इसलिए वे आलोचना से नाराज़ होते थे और उसे बड़ा भारी पाप समझते थे। वे दिन-पर-दिन असहिष्णु तथा स्कूल मास्टर की मनोवृत्तिवाले होते जाते थे, और ग़ैर-ज़िम्मेदार राज्य-शासकों के बहुत-से दुर्गुण उनके अन्दर भरते जाते थे। वे अपने ही में सन्तुष्ट रहते और किसी दूसरे की कुछ आवश्यकता नहीं समझते थे। उनके दिमाग़ संकीर्ण और गड़े-गड़ाये थे, जो परिवर्तनशील संसार में भी

अपरिवर्तित रहते तथा प्रगतिशील वातावरण के बिलकुल अनुपयुक्त थे। जब उनसे अधिक योग्यता और बुद्धि रखनेवाले व्यक्ति हिन्दुस्तान की समस्या को हल करने की कोशिश करते, तो वे लोग नाराज़ होते, उन्हें खरी-खोटी सुनाते, उनको दबाते और उनके मार्ग में सब तरह के रोड़े अटकाते। जब यूरोपीय महायुद्ध के बाद होनेवाले परिवर्तनों ने गतिशील परिस्थिति उत्पन्न कर दी, तो ये लोग एकदम बौखला गये और अपने-आपको उसके अनुकूल न बना सके। उनकी परिमित और संकीर्ण शिक्षा ने उन्हें ऐसी संकटापन्न और नवीन परिस्थितियों के योग्य नहीं बनाया था। लम्बे अर्से तक ग़ैर-ज़िम्मेदारी के साथ काम करते-करते वे बिगड़ चुके थे। समुदाय-रूप से तो उनको क़रीब-क़रीब बिलकुल निरंकुश प्रभुता मिली हुई थी, जिस पर सिर्फ़ सिद्धान्त-रूप से ब्रिटिश पार्लमेण्ट का नियन्त्रण था। लार्ड एक्टन ने लिखा है—"प्रभुता हमें बिगाड़ देती है, और पूर्ण प्रभुता तो पूर्णरूप से बिगाड़ देती है।"

मामूली तौर से, ये लोग अपने परिमित दायरे में विश्वासपात्र अफ़सर होते थे, जो अपना रोज़मर्रा का काम काफ़ी होशियारी के साथ करते, लेकिन उसमें प्रवीणता नहीं होती थी। उनकी को तालीम ही ऐसी होती थी कि कोई बिलकुल अचानक हो जानेवाली घटना उन्हें घबरा देती थी। हालाँकि उनका आत्म-विश्वास, उनकी क़ायदे के साथ काम करने की आदतें और उनकी आन्तरिक एकता उनको तात्कालिक कठिनाइयों पर विजय पाने में सहायता देती थीं। मेसोपोटामिया में की गयी मशहूर गड़बड़ ने भारतीय ब्रिटिश सरकार की अयोग्यता और जड़ता का भण्डा-फोड़ कर दिया था, लेकिन ऐसी बहुत-सी गड़बड़ें ज़ाहिर ही नहीं होने पाती हैं। सविनय-भंग के प्रति इन्होंने जो वृत्ति दिखलायी वह कुढंगी थी। गोली चलाने और लाठी मारने से थोड़ी देर के लिए दुश्मनों से छुटकारा भले ही मिल जाय, लेकिन इससे कोई मसला हल नहीं होता। और श्रेष्ठता की जिस भावना की रक्षा करने के लिए यह काम किया जाता है उसीकी जड़ पर इससे कुठाराघात होता है। अगर उन्होंने एक बढ़नेवाले और तेज़-तर्रार राष्ट्रीय आन्दोलन का मुक़ाबला करने के लिए हिंसा का सहारा लिया तो इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं थी, यह तो अनिवार्य ही था, क्योंकि साम्राज्यों का आधार हिंसा ही है और विरोध का मुक़ाबला करने के लिए उन्हें दूसरा तरीक़ा ही नहीं सिखाया गया था। लेकिन अतिशय और अनावश्यक रूप से हिंसा का प्रयोग किया जाना ही इस बात का सबूत था कि स्थिति पर उनका बिलकुल क़ाबू नहीं रहा था, और उनमें वह आत्म-संयम और निग्रह नहीं रह गया था जो साधारण अवस्थाओं में उनमें रहता था। अक्सर उनके हाथ-पैर फूल जाते थे और उनके सार्वजनिक वक्तव्यों में भी फ़िज़ूल बकवास नज़र आती थी। और बहुत दिनों तक रहनेवाला गहरा विश्वास जाता रहा था। ख़तरा बड़ी बेरहमी से हम सबकी पोल खोल देता है और हमारी अन्दरूनी

कमज़ोरियों का भण्डाफोड़ कर देता है। सविनय-भंग एक ऐसा ही ख़तरा और ऐसी ही परीक्षा थी और लड़नेवाले दोनों दलों—कांग्रेस या सरकार—में से कोई भी इस परीक्षा में पूरा नहीं उतरा। मि० लायड जार्ज कहते हैं कि ख़तरे के समय में ऊँचे दर्जे की दिमाग़ी ताक़त रखनेवाले पुरुष और स्त्रियों की संख्या बहुत कम मिलती है, और "बाक़ी लोगों की ख़तरे में कोई गिनती नहीं। छोटी-छोटी पहाड़ियाँ, जो सूखे मौसम में उभरी हुई-सी दिखायी पड़ती हैं, ज़ोर की बाढ़ में फ़ौरन डूब जाती हैं, जबकि सिर्फ़ उससे ऊँची चोटियाँ ही पानी की सतह के ऊपर नज़र आती हैं।"

जो कुछ भी हुआ, उसके लिए इण्डियन सिविल सर्विस के लोग दिल और दिमाग़ से तैयार न थे। उनमें से बहुतों की आरम्भिक शिक्षा पुराने ज़माने की थी, जिसकी वजह से उनमें कुछ संस्कृति और कुछ व्यवहार-प्रियता बनी हुई थी। उनका पुरानी दुनिया का रुख़ था, जो विक्टोरियन युग के उपयुक्त था, लेकिन आधुनिक अवस्थाओं में उसका कोई स्थान न था। वे लोग स्वनिर्मित एक संकुचित और परिमित 'ऐंग्लो-इण्डियन' संसार में निवास करते थे, जो न इंग्लैण्ड था और न हिन्दुस्तान। तात्कालिक समाज में जो शक्तियाँ काम कर रही थीं उनकी क़दर वे कर ही नहीं सकते थे। भारतीय जनता के अभिभावक और ट्रस्टी होने की अपनी मज़ेदार धारणा के बावजूद वे इसके बारे में कुछ नहीं जानते थे, और नये उग्रमतवादी मध्यमवर्ग के बारे में तो इससे भी कम जानते थे। वे हिन्दुस्तानियों की योग्यता का अन्दाज़ा उन चापलूसों और नौकरी के उम्मीदवारों से करते थे जो उनको घेरे रहते थे, और बाक़ी लोगों को वे आन्दोलनकारी और धोखेबाज़ कहकर उड़ा देते थे। लड़ाई के बाद होनेवाले संसार-व्यापी और ख़ासकर आर्थिक क्षेत्र के परिवर्तनों का उन्हें बहुत थोड़ा ज्ञान था और वे ऐसी गहरी लीक में फँसे हुए थे कि परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुकूल अपने को बना नहीं सकते थे। वे इस बात को महसूस नहीं करते थे कि जिस श्रेणी के वे प्रतिनिधि थे वह मौजूदा हालतों में पुरानी पड़ चुकी थी, और वे समुदाय-रूप से धीरे-धीरे उस श्रेणी के निकट पहुंच रहे थे जिसका वर्णन टी० एस० ईलियट ने अपने 'दि हॉलो मैन' (खोखला आदमी) नामक पुस्तक में किया है।

लेकिन इतने पर भी यह वर्ग जब तक ब्रिटिश साम्राज्यवाद है तब तक कायम रहेगा और यह अभी तक काफ़ी शक्तिशाली है और अब भी इसमें योग्य और कुशल नेता हैं। भारत में अंग्रेजी-राज्य एक सड़ते हुए दांत के समान है जो अभी तक मजबूती से जमा हुआ है। वह दर्द करता है, लेकिन आसानी से निकाला नहीं जा सकता। यह दर्द सम्भवतः जारी रहेगा और बढ़ता भी रहेगा, जबतक कि दांत निकाला न जाय या खुद गिर न पड़े।

पब्लिक स्कूल टाइप के लोगों के दिन इंग्लैण्ड में भी पूरे हो गये और अब

उनकी वैसी प्रतिष्ठा नहीं है जैसी पहले थी, हालांकि सार्वजनिक मामलों में वे अब भी प्रमुख हैं। हिन्दुस्तान में तो ये और भी ज्यादा अनुपयुक्त हैं और उग्र राष्ट्रीयता के साथ न तो उनका मेल बैठ सकता है और न उनके साथ सहयोग ही हो सकता है; सामाजिक परिवर्तन के लिए कोशिश करनेवालों का साथ देना तो बहुत दूर की बात है।

इण्डियन सिविल सर्विस में अनेक बढ़िया आदमी भी हैं, अंग्रेज़ भी और हिन्दुस्तानी भी, लेकिन जबतक मौजूदा शासन-प्रणाली कायम है तबतक उनकी प्रवीणता ऐसे उद्देश्यों को पूरा करने में खर्च होती रहेगी जिनसे हिन्दुस्तानियों को कुछ फ़ायदा नहीं है। सर्विस के कुछ हिन्दुस्तानी अफ़सर इस पब्लिक स्कूल की भावना के इतने गुलाम हैं कि वे अपने को सम्राट से भी ज्यादा राजभक्त समझते हैं। मुझे याद है कि मेरी मुलाकात सिविल सर्विस के एक ऐसे नौजवान अफ़सर से हुई थी जो अपने लिए बड़ी ऊंची राय रखता था लेकिन जिससे दुर्भाग्यवश मैं सहमत नहीं हो सकता था। उसने मेरे सामने अपनी सर्विस के बहुत से गुण गाये और अन्त में ब्रिटिश साम्राज्य के पक्ष में यह ला-जवाब दलील पेश की कि क्या यह रोमन साम्राज्य और चंगेज़ख़ां तथा तैमूर के साम्राज्यों से बेहतर नहीं है ?

इण्डियन सिविल सर्विसवालों की मुख्य भावना यह है कि वे अपना कर्त्तव्य बड़ी होशियारी के साथ पूरा करते हैं, इसलिए वे अपने दावों पर ज़ोर दे सकते हैं, और उनके दावे भी बहुत-से और तरह-तरह के हैं। अगर हिन्दुस्तान गरीब है तो यह क़ुसूर उसके सामाजिक रीति-रिवाजों का, महाजनों और रुपया उधार देनेवालों का, और सबसे ज्यादा उसकी बड़ी भारी आबादी का है। लेकिन सबसे बड़ी 'बनिया' ब्रिटिश सरकार को आसानी से भुला दिया जाता है। और इस आबादी के बारे में वे क्या करना चाहते हैं, यह मैं नहीं जानता, क्योंकि अकालों, महामारियों और आमतौर पर बड़ी तादाद में मौतों से बहुत-कुछ मदद मिलने पर भी यहां की आबादी अभीतक बहुत ज्यादा है। संतति-निग्रह की सलाह दी जाती है, और मैं तो यद्यपि बिलकुल इसके पक्ष में हूं कि संतति-निग्रह के ज्ञान और तरीक़ों का प्रचार किया जाय, लेकिन खुद इन तरीकों का प्रयोग ही जनता की रहन-सहन का एक काफ़ी ऊँचा ढंग, कुछ हद तक साधारण शिक्षा और सारे देश में असंख्य चिकित्सालयों की अपेक्षा रखता है। मौजूदा हालत में संतति-निग्रह के तरीक़े साधारण जनता की पहुँच से बिलकुल बाहर हैं। मध्यमवर्ग के लोग इनसे फ़ायदा उठा सकते हैं और मैं समझता हूं कि वे लोग अधिकाधिक परिमाण में फ़ायदा उठा भी रहे हैं।

लेकिन ज़रूरत से ज़्यादा जन-वृद्धि-सम्बन्धी यह दलील और भी गौर किये जाने के काबिल है। आज सारी दुनिया में सवाल यह नहीं है कि खाने की या दूसरी ज़रूरी चीजों की कमी है, बल्कि दरअसल कमी है खानेवालों की

या दूसरे शब्दों में, कमी है उन लोगों में खाना वग़ैरा ख़रीदने की शक्ति की जो भूखों मर रहे हैं। हिन्दुस्तान में भी खाने की कोई कमी नहीं है, और हालांकि आबादी बढ़ गयी है, फिर भी खाने का सामान भी बढ़ गया है, और आबादी के मुकाबले में ज़्यादा परिमाण में बढ़ाया जा सकता है। फिर हिन्दुस्तान की आबादी की वृद्धि का जिस कदर ढिंढोरा पीटा जाता है उसकी गति (सिवा पिछले दस वर्षों के) ज़्यादातर पश्चिमी देशों से बहुत कम है। यह सच है कि भविष्य में यह फ़र्क़ बढ़ता जायगा, क्योंकि पश्चिमी देशों में आबादी की वृद्धि को कम करने या रोक तक देने के लिए तरह-तरह की शक्तियां काम कर रही हैं। लेकिन हिन्दुस्तान में भी सीमित करनेवाले कारण शायद जल्दी ही आबादी की वृद्धि को रोक देंगे।

जब कभी भारत स्वतन्त्र होगा और कभी इस स्थिति में होगा कि वह अपने को जिस तरह बनाना चाहे बना सके तो इस काम के लिए उसे ज़रूर अपने सबसे अच्छे पुत्रों और पुत्रियों की आवश्यकता होगी। ऊँचे दर्जे के मनुष्य हमेशा बड़ी मुश्किल से मिलते हैं और हिन्दुस्तान में तो मिलना और भी मुश्किल है, क्योंकि हमें ब्रिटिश राज्य में उन्नति करने का मौक़ा ही नहीं मिला। हमें सार्वजनिक कार्यों के अनेक विभागों में विदेशी विशेषज्ञों की सहायता की आवश्यकता होगी, ख़ासकर ऐसे कामों के लिए, जिनमें ख़ासतौर पर औद्योगिक और वैज्ञानिक ज्ञान की ज़रूरत हो। जो लोग इण्डियन सिविल सर्विस या दूसरी शाही नौकरियों में रह चुके हैं उनमें बहुत-से हिन्दुस्तानी और विदेशी होंगे जिनकी ज़रूरत नई व्यवस्था के लिए होगी और उनका स्वागत किया जायगा। लेकिन एक बात का तो मुझे पूरा यक़ीन है कि जब तक हमारे राज्य-शासन और सार्वजनिक नौकरियों में सिविल सर्विस की भावना समाई रहेगी, तबतक हिन्दुस्तान में किसी नई व्यवस्था की रचना नहीं को जा सकती। यह शासन-मनोवृत्ति साम्राज्यवाद की पोषक है और स्वतन्त्रता और इसका साथ-साथ निबाह नहीं हो सकता। या तो यह मनोवृत्ति स्वतन्त्रता को पीस डालने में सफल होगी, या स्वयं उखाड़ फेंकी जायगी। सिर्फ़ एक तरह की राज्य-प्रणाली में इसकी दाल गल सकती है, और वह है फ़ासिस्ट-प्रणाली। इसलिए मुझे यह बहुत ज़रूरी मालूम देता है कि पहले सिविल सर्विस और इस तरह की दूसरी शाही सर्विसों का अन्त हो जाना चाहिए और इसके बाद ही नई व्यवस्था का वास्तविक कार्य शुरू हो सकेगा। इन सर्विसों के अलग-अलग व्यक्ति, अगर वे नई नौकरियों के लिए राज़ी हों और योग्य हों, ख़ुशी के साथ आवें, लेकिन सिर्फ़ नई शर्तों पर। यह तो कल्पना ही नहीं की जा सकती कि उनको वही फ़िज़ूल की मोटी-मोटी तनख़्वाहें और भत्ते मिलेंगे जो आज उन्हें दिये जा रहे हैं। नवीन हिन्दुस्तान को ऐसे सच्चे और योग्य कार्यकर्ताओं की सेवाएँ चाहिएँ जिन्हें अपने कार्य में लगन हो, जो सफलता प्राप्त करने पर तुले हों, और जो बड़ी-बड़ी तनख़्वाहों के

लोभ से नहीं, बल्कि सेवा-जनित आनन्द और गौरव के लिए काम करते हों। रुपया मिलने की नीयत को घटाकर कम-से-कम कर देना होगा। विदेशी सहायकों की बहुत ज़्यादा ज़रूरत पड़ेगी, लेकिन मेरे ख़याल से औद्योगिक ज्ञान न रखनेवाले सिविलियनों की ज़रूरत सबसे कम होगी; ऐसे आदमियों का तो हिन्दुस्तान में ज़रा भी अभाव न होगा।

मैं पहले लिख चुका हूँ कि भारत के नरम दलवालों और उनके समान अन्य दलवालों ने किस प्रकार भारत के शासन के विषय में अंग्रेज़ी विचार-प्रणाली को स्वीकार कर लिया है। सर्विसों के सम्बन्ध में तो यह बात और भी साफ़ ज़ाहिर हो जाती है, क्योंकि उनकी पुकार 'भारतीयकरण' के लिए है, सर्विसों के रूप और भावना और राज्य-व्यवस्था की रचना में आमूल परिवर्तन के लिए नहीं। यह एक ऐसा मौलिक तत्त्व है जिसपर कोई समझौता हो ही नहीं सकता, क्योंकि भारत की स्वतन्त्रता न केवल ब्रिटिश फ़ौज और सर्विसों के वापस हटा लिये जाने पर ही अवलम्बित है, बल्कि उसके लिए उनके दिमाग़ों में घुसी हुई स्वेच्छाचारी-मनोवृत्ति के निकाले जाने और उनकी मोटी-मोटी तनख़्वाहों और रिआयतों को समता पर लाने की भी आवश्यकता है। शासन-विधान-रचना के इस काल में संरक्षणों की बहुत बातचीत हो रही है। अगर ये संरक्षण हिन्दुस्तान के हित में रक्खे जायँ, तो उनमें दूसरी बातों के अलावा यह विधान होना चाहिए कि सिविल सर्विस वग़ैरा के वर्तमान रूप का तथा उनको मिली हुई शक्तियों और विशेष अधिकारों का अन्त हो जाय, और नये विधान से उनका कुछ भी सरोकार न रहे।

हमारी रक्षा के नाम पर स्थापित फ़ौजी सर्विसों का हाल तो और भी रहस्यमय और भयंकर है। हम न तो उनकी आलोचना कर सकते हैं, न उनके बारे में कुछ कह ही सकते हैं, क्योंकि ऐसे मामलों में हम समझते ही क्या हैं? हमारा काम तो बिना कोई चीं-चपड़ किये सिर्फ़ मोटी-मोटी तनख़्वाह चुकाते रहने का है। कुछ दिन हुए (सितम्बर १९३४ में,) हिन्दुस्तान के प्रधान सेनापति (कमाण्डर-इन-चीफ़) सर फिलिप चेटवुड ने शिमला में कौंसिल-आफ़-स्टेट में बोलते हुए चुभती हुई फ़ौजी भाषा में हिन्दुस्तान के राजनीतिज्ञों से कहा था कि वे लोग अपने काम से काम रक्खें, हमारे काम में दख़ल न दें। किसी प्रस्ताव पर एक संशोधन पेश करनेवाले की ओर इशारा करते हुए उन्होंने कहा था—"क्या वह और उनके मित्र यह ख़याल करते हैं कि बहुत-सी लड़ाइयाँ जीती हुई और रणपटु अंग्रेज़-जाति, जिसने अपना साम्राज्य तलवार के ज़ोर से जीता है और तलवार के ही ज़ोर से जिसकी अबतक रक्षा की है, अनुभव से प्राप्त किये हुए अपने युद्ध-सम्बन्धी ज्ञान को कुर्सियाँ तोड़नेवाले आलोचकों से सीखेगी?" उन्होंने और भी बहुत-सी मज़ेदार बातें कही थीं, और कहीं हम यह ख़याल न करने लगें कि उन्होंने तैश में आकर ऐसा कह डाला था, इसलिए हमें बतलाया

गया था कि उन्होंने अपना भाषण बड़े विचारपूर्वक लिखा था; उसी हस्तलिपि को पढ़कर सुनाया था।

किसी साधारण आदमी का फ़ौजी मामलों पर एक प्रधान सेनापति से भिड़ पड़ना दरअसल गुस्ताख़ी है, लेकिन शायद एक कुरसी तोड़नेवाला आलोचक भी कुछ कहने का अधिकारी हो सकता है। यह बात समझ में आ सकती है कि जिन्होंने साम्राज्य को तलवार के ज़ोर से क़ब्ज़े में कर रक्खा है और जिनके सिर के ऊपर यह चमचमाता हुआ हथियार हमेशा लटका रहता है, उनके हित शायद एक-दूसरे से भिन्न हों। यह सम्भव है कि हिन्दुस्तानी फ़ौज हिन्दुस्तान के हितों अथवा साम्राज्य के हितों के लिए काम में लाई जाय और इन दोनों हितों में भिन्नता ही नहीं, बल्कि परस्पर-विरोध भी हो। एक राजनीतिज्ञ और कुरसी तोड़नेवाले आलोचक को यह भी आश्चर्य हो सकता है कि यूरोपीय महायुद्ध के अनुभवों के बाद भी प्रमुख सेनानायकों का यह दावा कि उनके कामों में दख़ल न दिया जाय कहाँतक जायज़ है। उस समय उनको बहुत अंशों तक स्वतन्त्र क्षेत्र मिला था और, जहाँतक मालूम हुआ है, उन्होंने सारी अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी, जर्मन, आस्ट्रियन और रूसी सेनाओं में क़रीब-क़रीब तमाम बातों में एक बड़ी भयंकर गड़बड़ पैदा कर दी थी। मशहूर अंग्रेज़ फ़ौजी इतिहासज्ञ और युद्ध-विद्या-विशारद कैप्टन लिडैल हार्ट ने अपनी 'हिस्ट्री आफ़ दी वर्ल्ड वार' (विश्वव्यापी युद्ध का इतिहास) में लिखा है कि महायुद्ध में एक समय जब अंग्रेज़ सिपाही दुश्मनों से लड़ रहे थे, उसी समय अंग्रेज़ फ़ौजी अफ़सर आपस में लड़ रहे थे। ऐसे राष्ट्रीय संकट के वक़्त में भी लोग विचारों और कार्यों में एकता न ला सके। वह फिर लिखते हैं, "महायुद्ध ने, अपने आराध्य-देवों के प्रति हमारे श्रद्धा और आदर के इन भावों को नष्ट कर दिया है कि महान् पुरुष उस मिट्टी के बने हुए नहीं होते जिसके साधारण मनुष्य होते हैं। नेताओं की अब भी आवश्यकता है, और शायद ज़्यादा आवश्यकता है, लेकिन हममें इस भाव का पैदा हो जाना कि वे भी साधारण मनुष्यों की तरह हैं, हमको उनसे बहुत ज़्यादा आशा रखने या उनपर बहुत ज़्यादा विश्वास करने के ख़तरों से बचा लेगा।"

महान् राजनीतिज्ञ मि० लॉयड जार्ज ने अपनी 'वार-मेमॉयर्स' (महायुद्ध की स्मृतियाँ) नामक पुस्तक में महायुद्ध के जल और स्थल सेनानायकों की ग़लतियों का—ऐसी ग़लतियों का, जिनके कारण लाखों आदमियों की जानें गईं—बड़ा भयंकर चित्र खींचा है। इंग्लैण्ड और उसके सहायकों ने महायुद्ध में विजय तो प्राप्त की, लेकिन यह "विजय पर एक रक्त-रंजित प्रहार था।" ऊँचे अफ़सरों-द्वारा फ़ौजों और लड़ाइयों के मूर्खतापूर्ण और अविवेकयुक्त संचालन ने इंग्लैंड को लगभग सर्वनाश के किनारे ला पटका था और उसकी तथा उसके मित्रों की रक्षा अधिकतर उनके शत्रुओं की अविश्वसनीय मूर्खताओं के कारण हुई।

इंग्लैण्ड के महायुद्ध के समय के महान् प्रधानमन्त्री इस प्रकार लिखते हैं और वह बतलाते हैं कि किस प्रकार उन्हें लार्ड जेलीको के दिमाग़ में कुछ बातें बिठाने के लिए, खासकर व्यापारी जहाज़ों के संरक्षण के लिए साथ में जंगी जहाज़ भेजने के प्रस्ताव के बारे में, उनके साथ माथापच्ची करनी पड़ी थी। फ्रांसीसी मार्शल जॉफ़र के बारे में तो उनका यह विचार मालूम होता है कि उसका सबसे बड़ा गुण उसकी दृढ़ मुखमुद्रा थी जो हृदय में शक्ति की भावना को पैदा करती थी। "यही चीज़ है जो त्रस्त लोग संकट के समय में खोजते हैं। वे यह समझने की भूल करते हैं कि बुद्धिमत्ता किसी की ठोड़ी में निवास करती है।"

लेकिन मि० लॉयड जार्ज का मुख्य आरोप तो ख़ास ब्रिटिश सेना के नायक पर ही, कमाण्डर-इन-चीफ़ फ़ील्ड-मार्शल हेग पर है। उन्होंने यह सिद्ध किया है कि किस प्रकार लार्ड हेग ने अपने ख़्वामख़्वाह के घमण्ड और राजनीतिज्ञों इत्यादि की बातें सुनने से इन्कार करके ख़ास ब्रिटिश मन्त्रि-मण्डल से ही महत्वपूर्ण बातों को छिपाया, जिसके कारण फ्रांस में अंग्रेज़ी फ़ौज को बड़ी भारी हानि उठानी पड़ी और इतने पर भी, जब कि असफलता सामने नज़र आरही थी, वे आख़िर तक अपनी ज़िद पर अड़े रहे, और अपने मूर्खतापूर्ण युद्ध को पैसशाण्डेल तथा कैम्ब्राई की भयंकर दलदलों में कई महीने तक चलाते रहे, यहां तक कि सत्रह हज़ार तो अफसर ही वहां काम आ गये और चार लाख वीर अंग्रेज़ सिपाही हताहत हो गये। सन्तोष की बात इतनी ही है कि आज भी 'अज्ञात सिपाही' का उसकी मृत्यु के बाद सम्मान किया जाता है, जब कि उसके जीवन-काल में उसका जीवन बहुत सस्ता था और उसकी कोई पूछ नहीं थी।

अन्य लोगों की तरह राजनीतिज्ञ भी अक्सर ग़लतियां करते हैं, लेकिन जनसत्तावादी राजनीतिज्ञ को जनता के रुख़ और घटनाओं पर ध्यान देकर उनसे प्रभावित होना पड़ता है, और वे आमतौर पर अपनी ग़लतियों को स्वीकार करके उन्हें दुरुस्त करने की कोशिश करते हैं। पर सिपाही का निर्माण एक भिन्न वातावरण में होता है, जहां हुकूमत का साम्राज्य होता है और आलोचना के लिए कोई स्थान नहीं होता। इसलिए वह दूसरों की सलाह से बुरा मानता है और अगर वह ग़लती करता है तो पूरी तरह से करता है और उस ग़लती को किये ही जाता है। उसके लिए दिल और दिमाग़ की बनिस्बत कठोर मुख-मुद्रा अधिक महत्त्वपूर्ण है। हिन्दुस्तान में हमें एक मिश्रित श्रेणी उत्पन्न करने का मौक़ा मिला है, क्योंकि स्वयं नागरिक शासन ही हुकूमत और स्वाश्रय के अर्द्ध सैनिक वातावरण में पला और निवास करता है और इस कारण बहुत अंशों तक फ़ौजी रौबदाब आदि विशेषताएं उसमें मौजूद हैं।

हमसे कहा जाता है कि सेना का 'भारतीयकरण' आगे बढ़ाया जा रहा है और अगले तीस या अधिक वर्षों में एक हिन्दुस्तानी जनरल भी शायद हिन्दु-

स्तान में पैदा हो जाय। यह मुमकिन है कि सौ वर्ष से कुछ ही ज़्यादा बरसों में भारतीय-करण बहुत-कुछ उन्नति कर ले। यह सुनकर आश्चर्य हो सकता है कि ख़तरे के समय में इंग्लैंण्ड ने किस तरह एक-दो साल के अर्से में ही लाखों की फ़ौज खड़ी कर दी। अगर उसके पास ऐसे ही सलाहकार होते, जैसे कि हमको मिले हुए हैं, तो शायद वह बड़ी चौकसी और होशियारी से फूँक-फूँककर आगे क़दम बढ़ाता और यह बिलकुल सम्भव था कि उस दशा में इस शिक्षित सेना के तैयार होने के बहुत पहले ही युद्ध ख़तम हो जाता। हमको रूस की सोवियट सेनाओं का भी विचार आता है, जो बिना किसी प्रकार के पूर्व-साधनों के ही अकस्मात् तैयार हो गईं और शत्रु की प्रचण्ड सेनाओं से लोहा लेती हुई उन्हें हराने लगीं। आज इन सेनाओं की संसार की सबसे अधिक कुशल युद्धशक्तियों में गणना की जाती है। इनके पास तो सलाह देने के लिए 'संग्राम में लड़े हुए और युद्ध-प्रवीण' सेनापति नहीं थे!

हमारे यहाँ देहरादून में एक फ़ौजी शिक्षणालय है, जहाँ शिक्षार्थियों को फ़ौजी अफ़सर बनने की तालीम दी जाती है। कहा जाता है कि वे बड़ी चतुरता से परेड करते हैं और बेशक वे बड़े अच्छे अफ़सर बनकर निकलेंगे। लेकिन मेरी समझ में नहीं आता है कि इस तालीम से क्या फ़ायदा है जबतक कि उसके साथ युद्ध की कुछ व्यावहारिक शिक्षा न दी जाय। पैदल और घुड़सवार सेनाएं आजकल उतने ही काम की हैं जितनी रोमन फ़ौजें होतीं; और हवाई युद्ध, गैस के बम, टैंक और प्रचण्ड तोपों के युग में बन्दूक, तीर-कमान से ज़्यादा कारगर नहीं है। इसमें शक नहीं कि उनके शिक्षक और सलाहकार इस बात को महसूस करते हैं।

हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी राज्य का इतिहास कैसा रहा है? हम उसकी ख़ामियों के बारे में शिकायत करनेवाले होते कौन हैं, जबकि ये ख़ामियाँ हमारी ही कमज़ोरियों के फलस्वरूप हैं? अगर हम परिवर्तन की धारा से सम्बन्ध छोड़ दें और दलदल में फँस जायँ, एकांगी और स्वयं-सन्तोषी बन जायँ और शुतुर्मुर्ग़ की तरह अपने चारों ओर की घटनाओं से आँख मूँद लें, तो इसमें हमारा ही नुक़सान है। अंग्रेज़ लोग हमारे यहाँ संसार-सागर की एक नये जोश की लहर के साथ आये और ऐसी महान् ऐतिहासिक शक्तियों को लाये जिनका ख़ुद उनको भी अनुभव न था। क्या हम उस तूफ़ान की शिकायत करें जो हमें उखाड़कर इधर-उधर फेंक देता है, या उस ठंडी हवा की जो हमें कँप-कँपा देती है? हमें तो भूतकाल और उसके झगड़े-टंटों को तिलांजलि ही दे देनी चाहिए और भविष्य का मुक़ाबला करना चाहिए। हमें एक महान् भेंट के लिए अंग्रेज़ों का कृतज्ञ होना चाहिए, जिसे कि वे लेकर आये। यह भेंट है विज्ञान और उसके सुन्दर फल। साथ ही, ब्रिटिश सरकार के उन प्रयत्नों को भी भूल जाना या शान्ति के साथ बर्दाश्त करना मुश्किल है जो उन्होंने देश के झगड़ालू, प्रति-

क्रियावादी, विरोधक जातिगत तथा अवसरवादी लोगों को प्रोत्साहन देने के लिए किये । शायद यह भी हमारे लिए एक ज़रूरी परीक्षा और चुनौती है, और इसके पहले कि हिन्दुस्तान नया जन्म धारण करे, उसे बार-बार उस आग में तपना पड़ेगा जो शुद्ध और दृढ़ बनाती है और जो दुर्बल, पतित और आचार-भ्रष्टों को जलाकर ख़ाक कर देती है ।

५५

अन्तर्जातीय विवाह और लिपि का प्रश्न

सितम्बर १९३३ के बीच में क़रीब एक हफ़्ता बम्बई और पूना में रहने के बाद मैं लखनऊ लौट आया । मेरी माँ अभी तक अस्पताल में थीं, और उनकी हालत धीरे-धीरे सुधर रही थी । कमला भी लखनऊ में, ख़ुद तन्दुरुस्त न होते हुए भी, माताजी की सेवा करने में लगी थी । हर सप्ताह के आख़िरी दिनों में मेरी बहनें भी इलाहाबाद से आती रहती थीं । लखनऊ में मैं दो-तीन हफ़्ते रहा । वहाँ इलाहाबाद के मुक़ाबले में ज़्यादा फ़ुरसत मिली थी । मेरा ख़ास काम दिन में दो बार अस्पताल जाना था । मैंने अपना यह फ़ुरसत का समय अख़बार के लिए लेख लिखने में लगाया और ये सब लेख देश के लगभग सभी अख़बारों में छपे । 'हिन्दुस्तान किधर ?' शीर्षक लेखमाला पर जनता का काफ़ी ध्यान गया । इस लेखमाला में मैंने दुनिया की हलचलों पर, हिन्दुस्तान की परिस्थिति के साथ उनके सम्बन्ध को ध्यान में रखकर, विचार किया था । मुझे बाद में मालूम हुआ कि इन लेखों का फ़ारसी तर्जुमा तेहरान और काबुल में भी छापा गया था । आजकल के पश्चिमी विचारों और हलचलों से जानकारी रखने-वालों के लिए इन लेखों में कोई ऐसी नई या अद्‌भुत बात नहीं थी । मगर हिन्दुस्तान में लोग अपने घरेलू मामलों में ही इतने व्यस्त रहते हैं कि दूसरी जगह क्या हो रहा है इसपर वे ज़्यादा ध्यान नहीं दे सकते । मेरे लेखों का जो स्वागत हुआ उससे और दूसरे आसारों से मालूम पड़ा कि लोगों का दृष्टिकोण विस्तृत हो रहा है ।

माताजी अस्पताल में पड़ी-पड़ी ऊबती जा रही थीं, इसलिए हमने उन्हें इलाहाबाद वापस ले जाने का निश्चय कर लिया । वापस लाने के दूसरे कारणों में से एक कारण मेरी बहिन कृष्णा की सगाई हो जाना भी था, जो इन्हीं दिनों में पक्की की गई थी । हम चाहते थे कि मेरे फिर से जेल चले जाने से पहले जल्दी-से-जल्दी विवाह हो जाय । मुझे कुछ पता न था कि मैं कितने समय तक बाहर रहने दिया जाऊँगा । क्योंकि सविनय-भंग कांग्रेस का बाक़ायदा कार्यक्रम था और ख़ुद कांग्रेस और दूसरी बीसियों संस्थाएँ ग़ैरक़ानूनी थीं ।

हमने अक्तूबर के तीसरे सप्ताह में इलाहाबाद में विवाह करने का निश्चय किया। यह विवाह 'सिविल मैरिज एक्ट' के मुताबिक़ होने वाला था। मैं इस बात से ख़ुश था, हालाँकि सच पूछो तो इसके सिवाय हमारे पास और कोई उपाय भी न था, क्योंकि वह विवाह दो भिन्न जातियों, ब्राह्मण और अ-ब्राह्मण, में होनेवाला था, और ब्रिटिश भारत के मौजूदा क़ानून के अन्तर्गत ऐसा विवाह कैसी भी धार्मिक विधि से क्यों न किया जाय, जायज़ नहीं हो सकता। ख़ुश-क़िस्मती से उन्हीं दिनों में पास हुआ 'सिविल मैरिज एक्ट' हमारी मदद को मिल गया। इस तरह के दो क़ानून थे, जिनमें से दूसरा क़ानून, जिससे मेरी बहिन की शादी हुई, हिन्दुओं और हिन्दू-धर्म से सम्बद्ध दूसरे मतवालों के लिए था—जैसे सिक्ख, जैन, बौद्ध। लेकिन वर-वधू में से कोई एक भी जन्मतः या बाद में धर्म-परिवर्तन करके इन धर्मों में से किसी एक को भी माननेवाला न हो, तो यह दूसरा क़ानून उसपर लागू नहीं होता। ऐसी हालत में पहले कानून का ही आश्रय लेना पड़ता है। इस पहले क़ानून के अनुसार दोनों को सभी मुख्य धर्मों का परित्याग करना पड़ता है, या उन्हें कम-से-कम यह तो कहना ही पड़ता है कि हममें से कोई किसी भी धर्म को नहीं मानता है। इस प्रकार का अनावश्यक परित्याग बड़ा वाहियात है। बहुत-से ऐसे लोगों को भी, जिनका कि मज़हब की तरफ़ कोई रुझान नहीं है, इस बात पर एतराज़ है और इस तरह वे इस क़ानून से फ़ायदा नहीं उठा सकते। जुदे-जुदे मज़हबों के कट्टर लोग ऐसे सब परिवर्तनों का विरोध करते हैं जिनसे अन्तर्जातीय विवाहों के होने में आसानी हो। इससे जो लोग इस क़ानून के अन्तर्गत विवाह करना चाहें, उन्हें या तो धर्म-परित्याग का ऐलान करना पड़ता है, या जिन धर्मवालों को उसके मुताबिक़ अन्तर्जातीय विवाह करने की छूट है उनमें से किसी धर्म को झूठ-मूठ के लिए अपनाना पड़ता है। मैं स्वयं अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन देना पसन्द करूँगा; लेकिन उन्हें प्रोत्साहन दिया जाय या नहीं, ऐसी अनुमति देनेवाले एक अन्तर्जातीय-विवाह-क़ानून का बनना तो निहायत ज़रूरी है जो आमतौर पर सब धर्मवालों पर लागू हो और जिससे विवाह करने के लिए उन्हें धर्म छोड़ने या बदलने की ज़रूरत न पड़े।

मेरी बहिन की शादी में कोई धूमधाम नहीं हुई; सारा काम बड़ी सादगी से हुआ। हिन्दुस्तानी विवाहों में जो धूमधाम हुआ करती है, मामूली तौरपर, वह मुझे पसन्द भी नहीं है। फिर माताजी की बीमारी के कारण और उससे भी अधिक इस बात से कि सविनय-भंग अभी भी जारी था और हमारे बहुत-से साथी जेलों में पड़े सड़ रहे थे, दिखावे के रूप में कोई भी बात करना था भी बिलकुल अनुचित। इसलिए सिर्फ़ थोड़े रिश्तेदारों और स्थानीय मित्रों को ही निमन्त्रित किया गया। पिता जी के बहुत से पुराने मित्रों को इससे सदमा भी

पहुँचा, क्योंकि उन्हें यह लगा, हालाँकि वह था ग़लत, कि मैंने जान-बूझकर उनकी उपेक्षा की है।

विवाह के लिए जो छोटा-सा निमन्त्रण-पत्र हमने भेजा था वह लैटिन अक्षरों व हिन्दुस्तानी भाषा में छपाया गया था। यह एक बिलकुल नई बात थी। अब तक इस तरह के निमन्त्रण-पत्र आमतौर पर नागरी या फ़ारसी लिपि में ही लिखे जाते थे। फ़ौज या ईसाई मिशनवालों के सिवाय कहीं भी हिन्दुस्तानी भाषा लैटिन अक्षरों में नहीं लिखी जाती थी। मैंने रोमन लिपि का इस्तेमाल केवल यह देखने के लिए किया था कि इसका मुख़्तलिफ़ क़िस्म के लोगों पर क्या असर होता है। इसे कुछ ने पसन्द किया, कुछ ने नहीं। ज़्यादा संख्या नापसन्द करनेवालों की ही थी। बहुत कम लोगों के पास यह निमन्त्रण भेजा गया था, और, अगर ज़्यादा लोगों के पास भेजा जाता तो इसका असर और भी ज़्यादा ख़िलाफ़ होता। गांधीजीने भी इसे पसन्द नहीं किया।

मैंने रोमन लिपि इसलिए इस्तेमाल नहीं कि थी की मैं उसके पक्ष में हो गया था, हालाँकि उसने मुझे बहुत दिनों से अपनी ओर आकर्षित कर रक्खा था। टर्की और मध्य-एशिया में रोमन लिपि की सफलता ने मुझे प्रभावित किया था। रोमन के पक्ष में जो दलीलें हैं उसमें काफ़ी वज़न है, फिर भी मैं भारतवर्ष के लिए रोमन लिपि के पक्ष में नहीं हो गया था। अगर मैं उसके पक्ष में हो भी जाता तो भी मैं अच्छी तरह जानता था कि वर्तमान भारत में उसके अपनाये जाने की रत्तीभर भी सम्भावना न थी। राष्ट्रीय, धार्मिक, हिन्दू, मुस्लिम, नये, पुराने सब दलों की ओर से इसका बहुत सख़्त विरोध होता, और यह मैं मानता हूँ कि यह विरोध महज़ भावुकतावश ही नहीं होता। किसी भी भाषा के लिए, जिसका प्राचीन काल उज्ज्वल रहा हो, लिपि का बदलना बहुत बड़ी क्रान्ति है, क्योंकि लिपि का उस साहित्य से बहुत गहरा सम्बन्ध रहता है। लिपि बदल दीजिए तो सामने कुछ और ही शब्द-चित्र नज़र आयेंगे, ध्वनि बदल जायगी, भाव बदल जायेंगे। पुराने और नये साहित्य के बीच एक अटूट दीवार उठ खड़ी होगी। पुराना साहित्य एकदम किसी विदेशी भाषा में लिखा हुआ-सा जान पड़ेगा, ऐसी भाषा में जो मर चुकी हो। लिपि बदलने का जोखिम उसी भाषा में लेना चाहिए, जिसका कोई उल्लेखनीय साहित्य न हो। हिन्दुस्तान में तो मैं ऐसे रद्दो-बदल का ख़याल भी नहीं कर सकता हूँ, क्योंकि हमारा साहित्य केवल सम्पन्न और अमूल्य ही नहीं, बल्कि हमारे इतिहास और विचार-परम्परा से सम्बद्ध है और हमारी सर्व-साधारण जनता के जीवन के साथ उसका बड़ा गहरा नाता रहा है। हमारे देश पर इस तरह का परिवर्तन लाद देना एक क्रूर विच्छेद के समान होगा और सार्वजनिक शिक्षा के रास्ते में बाधक होगा।

लेकिन आज तो हिन्दुस्तान में रोमन लिपि का प्रश्न सार्वजनिक चर्चा का विषय ही नहीं है। मेरी समझ में लिपि-सुधार की दृष्टि से जो अगला क़दम

होना चाहिए, वह है संस्कृत भाषा से उत्पन्न चारों सहोदरा—हिन्दी, बँगला, मराठी, गुजराती—भाषाओं के लिए एक-सी लिपि बनाना। इन चारों भाषाओं की लिपियों का उद्गम एक ही है और इनमें एक-दूसरे से भिन्नता भी विशेष नहीं है और इसलिए इन सबके लिए एक ही लिपि ढूंढ निकालने में कोई ख़ास दिक़्क़त न होनी चाहिए। इससे ये चारों भाषाएं एक-दूसरे के नज़दीक आ जायँगी।

हमारे अंग्रेज़ी शासकों ने हमारे देश के बारे में जो दन्तकथाएं संसारभर में फैला रक्खी हैं, उनमें से एक यह भी है कि हिन्दुस्तान में कई-सौ भाषाएं बोली जाती हैं। मुझे उनकी ठीक तादाद याद नहीं है। प्रमाण के लिए मर्दुमशुमारी को लिया जाता है। यह एक विचित्र बात है कि इन कई-सौ भाषाओं के देश में सारा जीवन बिताने पर भी बहुत कम अंग्रेज़ एक भाषा से भी मामूली जानकारी हासिल कर पाते हैं। इन सब भाषाओं को 'वर्नाक्युलर' के नाम से पुकारते हैं, जिसका अर्थ है गुलामों की भाषा (लैटिन 'वर्ना' का अर्थ घर में पैदा हुआ गुलाम है)। हममें से बहुतों ने बिना समझे-बूझे इस नामकरण को स्वीकार कर लिया है। यह एक आश्चर्य की बात है कि सारी ज़िन्दगी इस देश में रहकर भी अंग्रेज़ लोग यहाँ की भाषा सीखे बिना किस तरह अपना काम चला लेते हैं। अपने ख़ान-सामा व आयाओं की मदद से उन्होंने एक कर्णकटु काम-चलाऊ नई हिन्दुस्तानी खिचड़ी भाषा ईजाद कर ली है, जिसको वे असली भाषा समझ बैठे हैं। जैसे वे भारतीय जीवन के हालात अपने नौकरों व जी-हुज़ूरों से मालूम करते हैं, उसी तरह वे हिन्दुस्तानी भाषा के बारे में अपने विचार अपने उन घरू नौकरों से बनाते हैं जो 'साहब लोगों' से अपनी इस 'काम-चलाऊ खिचड़ी भाषा' में ही बोलते हैं, क्योंकि उन्हें डर है कि वे और कोई भाषा समझेंगे भी नहीं। वे इस बात से बिलकुल अपरिचित मालूम पड़ते हैं कि हिन्दुस्तानी और दूसरी भारतीय भाषाओं का साहित्य बहुत ऊँचा और बहुत विस्तृत है।

अगर मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट हमें यह बताती है कि हिन्दुस्तान में दो सौ या तीन सौ भाषाएँ हैं, तो जर्मनी की मर्दुमशुमारी भी यह बताती है कि वहाँ पर भी लगभग ५०-६० भाषाएँ हैं। मुझे ख़याल नहीं कि कभी किसी ने इसके कारण ही जर्मनी में असमानता या आपसी फूट साबित करने की कोशिश की हो। सच तो यह है कि मर्दुमशुमारी में सब प्रकार की छोटी-मोटी भाषाओं का भी ज़िक्र किया जाता है, चाहे इन भाषाओं के बोलनेवाले कुछ हज़ार ही व्यक्ति क्यों न हों, और अक्सर थोड़ा-थोड़ा भेद होने पर भी वैज्ञानिक भेद बताने के लिए बोलियों को अलग-अलग भाषा मान लिया जाता है। हिन्दुस्तान के क्षेत्र-फल को देखते हुए इतनी थोड़ी भाषाओं का होना ताज्जुब की बात मालूम होती है। यूरप के इतने भाग को लेकर मुक़ाबला करें तो भाषा की दृष्टि से हिन्दुस्तान में इतने भेद नहीं मिलेंगे। लेकिन हिन्दुस्तान में आम जनता में

शिक्षा का प्रसार न होने के कारण यहाँ भाषाओं का समान स्टैण्डर्ड नहीं बन पाया और कई बोलियाँ बन गईं। बरमा को छोड़कर हिन्दुस्तान की मुख्य भाषाएँ ये हैं—हिन्दुस्तानी (हिन्दी और उर्दू जिसकी दो क़िस्में हैं), बँगला, गुजराती, मराठी, तामिल, तेलुगु, मलयालम और कन्नड़। इनमें अगर आसामी, उड़िया, सिन्धी, पश्तो और पंजाबी को भी शामिल कर दिया जाय, तो सिवा कुछ पहाड़ी और जंगली हिस्सों को छोड़कर सारे देश की भाषाएँ इनमें आ जाती हैं। इनमें से भारतीय आर्य भाषाएँ जो उत्तर, मध्य और पश्चिम भारत में प्रचलित हैं, आपस में बहुत मिलती-जुलती हैं और दक्षिणी द्राविड़ी भाषाएँ भिन्न होते हुए भी संस्कृत से काफ़ी प्रभावित हुई हैं और उनमें संस्कृत शब्दों की बहुतायत है।

इन मुख्य आठ भाषाओं में पुराना बहुमूल्य साहित्य है और ये भाषाएँ देश के काफ़ी बड़े हिस्से में बोली जाती हैं। इनका क्षेत्र निश्चित और स्पष्ट है। इस तरह बोलनेवालों की संख्या की दृष्टि से देखें तो ये भाषाएँ संसार की प्रमुख भाषाओं में आ जाती हैं। बँगला बोलनेवालों की संख्या साढ़े पाँच करोड़ है। जहाँतक हिन्दुस्तानी से सम्बन्ध है, मेरे पास यहाँ आँकड़े नहीं हैं; लेकिन मेरे ख़याल में वह अपने सभी रूपों सहित १४ करोड़ भारतवासियों मे बोली जाती है। इसके अलावा हिन्दुस्तान-भर के अन्य भाषा बोलनेवाले लोग भी हिन्दुस्तानी समझ लेते हैं।[१] साफ़तौर पर ऐसी भाषा की उन्नति की आशा बहुत

---

[१]हिन्दुस्तानी के समर्थक नीचे दिये आँकड़े पेश करते हैं। मैं नहीं कह सकता कि ये संख्याएँ १९३१ की मर्दुमशुमारी के मुताबिक़ हैं या १९२१ की। मेरे खयाल मे तो १९२१ की गणना के मुताबिक़ हैं। इसलिए १९३१ की सख्या तो ज़रूर इससे कहीं ज़्यादा होगी।

भाषा	संख्या
१ हिन्दुस्तानी (जिसमें पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी, और राजस्थानी शामिल है)	१३,१३,००,०००
२ बँगला	४,९३,००,०००
३ तेलुगू	२,३६,००,०००
४ मराठी	१,८८,००,०००
५ तामिल	१,८८,००,०००
६ कन्नड	१,०३,००,०००
७ उड़िया	१,०१,००,०००
८ गुजराती	९६,००,०००
	२७,९८,००,०००

पश्तो, आसामी, बर्मी आदि कुछ भाषाएं जो भाषा-विज्ञान तथा क्षेत्र के लिहाज़ से बिलकुल अलग है, इस सूची में शामिल नहीं की गई है।

अधिक है, वह संस्कृत की मज़बूत नींव पर जमी हुई है और फ़ारसी का भी उसपर काफ़ी असर है। इस तरह वह दो सम्पन्न स्रोतों से अपना शब्द-कोष ले सकती है और पिछले कुछ वर्षों से वह अंग्रेज़ी से भी शब्द ले रही है। दक्षिण का द्राविड़ी प्रदेश ही एक ऐसा हिस्सा है जहाँ हिन्दुस्तानी एक विदेशी भाषा के समान नज़र आती है लेकिन वहाँ के निवासी इसे सीखने की पूरी कोशिश कर रहे हैं। दो बरस पहले १६३२ में, मैंने एक संस्था के आँकड़े देखे थे। यह संस्था दक्षिण में हिन्दी-प्रचार करने के लिए कुछ मित्रों ने खोली थी। उसका काम शुरू करने के बाद से अबतक, पिछले १४ बरसों में अकेली उस संस्था की कोशिश से मद्रास प्रान्त में लगभग ५५,००० लोगों ने हिन्दी सीख ली है। एक ऐसी संस्था के लिए, जिसे सरकारी मदद कुछ भी नहीं मिलती, यह सफलता अनोखी है। वहाँ हिन्दी सीखनेवालों में से अधिकतर स्वयं इस कार्य के प्रचारक बन जाते हैं।

मुझे इसमें कुछ भी शक नहीं है कि हिन्दुस्तानी ही भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा बनेगी। दरअसल रोज़मर्रा के काम-काज के लिए वह एक बड़ी हदतक आज भी राष्ट्रभाषा-सी बनी हुई है। लिपि नागरी हो या फ़ारसी इस निरर्थक वाद-विवाद ने इसकी तरक़्क़ी को रोक दिया है और दोनों दलों की इस कोशिश ने भी इसकी प्रगति में रुकावट खड़ी कर दी है कि भाषा को संस्कृत-प्रधान बनाया जाय या फ़ारसी-प्रधान। लिपि का प्रश्न उठते ही इतने झगड़े पैदा हो जाते हैं कि इस कठिनाई को हल करने का इसके सिवा और कोई उपाय ही नहीं मालूम होता कि दोनों लिपियों को अधिकारी रूप से मान लिया जाय और लोगों को इनमें से किसी को भी काम में लाने की छूट दे दी जाय। संस्कृत व फ़ारसी के शब्दों को ज़्यादा काम में लाने की जो बेजा प्रवृत्ति चल पड़ी है, उसे रोकने के लिए पूरी कोशिश करनी चाहिए, और सामान्य व्यवहार में बोली जानेवाली सरल भाषा के ढंग पर एक साहित्यिक भाषा बना लेनी चाहिए। जनता में जैसे-जैसे शिक्षा बढ़ती जायगी, वैसे-वैसे अपने आप ऐसा होता जायगा। इस समय मध्यम श्रेणी के छोटे-छोटे दल साहित्यिक रुचि और शैली के निर्णायक बने हुए हैं और ये लोग अपने-अपने ढंग से बहुत ही संकुचित हृदय के अनुदार और अपरिवर्तनवादी हैं। ये अपनी भाषाओं के पुराने निर्जीव रूप से चिपटे रहना चाहते हैं और अपने देश की साधारण जनता और संसार के साहित्य से इनका बहुत ही कम सम्पर्क है।

हिन्दुस्तानी की वृद्धि और प्रसार को, भारत की दूसरी बड़ी भाषाओं बँगला, गुजराती, मराठी, उड़िया और दक्षिण की द्राविड़ी—के सतत व्यवहार और समृद्धि में, न तो बाधक बनना चाहिए और न वह बनेगा। इनमें से कुछ भाषाएँ तो अब भी हिन्दुस्तानी की बनिस्बत बहुत अधिक जागरूक और बौद्धिक दृष्टि से सतर्क हैं। और इसलिए अपने-अपने क्षेत्र में शिक्षा के माध्यम और अन्य

व्यवहारों के लिए अधिकारी रूप से अवश्य स्वीकार कर लेनी चाहिए। सिर्फ़ इन्हींके ज़रिये साधारण जनता में शिक्षा और संस्कृति तेज़ी के साथ फैल सकती है।

कुछ लोगों का ख़याल है कि बहुत करके अंग्रेज़ी ही भारत की राष्ट्र-भाषा हो जायगी; लेकिन ऊँचे दर्जे के गिने-चुने पढ़े-लिखों को छोड़कर साधारण जनता इसे अपनायेगी, यह धारणा मुझे एक असम्भव कल्पना के समान दिखाई देती है। साधारण जनता की शिक्षा और संस्कृति के प्रश्न के साथ इसका कोई सरोकार नहीं है। यह हो सकता है, जैसा कि आजकल कुछ हद तक है भी, कि औद्योगिक, वैज्ञानिक और व्यापारी कामों में, विशेषकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों में, अंग्रेज़ी ज़्यादा काम में आने लगे। हममें से बहुतों के लिए विदेशी भाषाओं का सीखना व जानना बहुत ज़रूरी है, ताकि संसार के विचारों व प्रगतियों से हमारी जानकारी होती रहे, और इस बात को ध्यान में रखते हुए मैं तो पसन्द करूँगा कि हमारी यूनिवर्सिटियों में अंग्रेज़ी के अलावा फ्रेंच, जर्मन, रशन, स्पेनिश और इटैलियन भाषाएँ सीखने के लिए विद्यार्थियों को प्रोत्साहित किया जाय। इसका यह मतलब नहीं है कि अंग्रेज़ी की अवहेलना की जाय, लेकिन अगर हमें संसार की हलचलों को निष्पक्ष दृष्टि से देखना है तो हमें अपने को अंग्रेज़ी सीखने तक ही सीमित नहीं रखना चाहिए। केवल अंग्रेज़ी शिक्षा ने हमारी मानसिक दृष्टि एकांगी और संकुचित कर दिया है। इसका कारण हमारे विचारों का एक ही दृष्टि और विचार-धारा की ओर झुका रहना है। हमारे कट्टर-से-कट्टर राष्ट्रवादी भी शायद ही इस बात का अन्दाज़ा लगा सकते हैं कि अपने देश के सम्बन्ध में उनके दृष्टि-बिन्दु पर अंग्रेज़ी विचार-धारा का कितना गहरा असर है।

लेकिन हम विदेशी भाषाओं को सीखने के लिए कितना ही प्रोत्साहन क्यों न दें, बाहरी दुनिया से हमारा सम्बन्ध अंग्रेज़ी भाषा द्वारा ही रहेगा। इसमें कोई हर्ज भी नहीं है। हम कई पीढ़ियों से अंग्रेज़ी सीखने की कोशिश कर रहे हैं और इसमें हमें काफ़ी कामयाबी मिली है। इस सब किये-कराये को मिटा देना सरासर बेवकूफ़ी होगी। इतने अर्से की मेहनत से हमें लाभ उठाना चाहिए। निस्सन्देह अंग्रेज़ी आज संसार की सबसे ज़्यादा व्यापक और महत्त्वपूर्ण भाषा है, और दूसरी भाषाओं पर वह अपना सिक्का जमाती जा रही है। यह सम्भव है कि अब अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों में और रेडियो आदि के लिए वह माध्यम बन जाय, बशर्ते कि 'अमेरिकन' उसकी जगह न ले ले। इसलिए हमें अंग्रेज़ी भाषा के ज्ञान का प्रसार अवश्य जारी रखना चाहिए। अंग्रेज़ी को जितनी अच्छी तरह सीख सकें उतना ही अच्छा है, लेकिन मुझको इसकी ज़रूरत नहीं मालूम होती कि अंग्रेज़ी की बारीकियों को सीखने में हम लोग अपना वक़्त लगायें, जैसा कि आजकल हममें से बहुत से करते हैं। कुछ व्यक्ति तो ऐसा कर सकते हैं, लेकिन बहुसंख्यक लोगों के सामने इस बात को आदर्श रूप में रखना उनपर अनावश्यक बोझ डालना और दूसरी दिशाओं में प्रगति करने से रोकना होगा।

इधर कुछ दिनों से 'बेसिक अंग्रेज़ी'[1] (Basic English) ने मुझे अपनी ओर काफ़ी आकर्षित किया है और ऐसा मालूम होता है कि ज़्यादा-से-ज़्यादा सरल बनाई हुई इस अंग्रेज़ी का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। स्टैण्डर्ड अंग्रेज़ी तो विशेषज्ञों तथा कुछ ख़ास विद्यार्थियों के लिए छोड़ देनी चाहिए और हिन्दुस्तान की सर्वसाधारण जनता में इस बेसिक अंग्रेज़ी का ही व्यापक प्रचार करना चाहिये।

मैं ख़ुद इस बात को पसन्द करूँगा कि हिन्दुस्तानी अंग्रेज़ी व दूसरी विदेशी भाषाओं से बहुत-से शब्द अपने में ले लें। इस बात की ज़रूरत है, क्योंकि आजकल जो नई-नई चीज़ें निकलती हैं हमारी भाषा में उनके अर्थ-द्योतक शब्द नहीं मिलते, इसलिए यही बेहतर है कि संस्कृत, फ़ारसी या अरबी से नये और मुश्किल शब्द गढ़ने के बजाय हम उन्हीं सुप्रचलित शब्दों को काम में लावें। भाषा की पवित्रता के हामी विदेशी शब्दों के इस्तेमाल का विरोध करते हैं, लेकिन मेरा ख़्याल है कि वे ग़लती करते हैं। वास्तव में किसी भाषा को समृद्ध बनाने का तरीक़ा यही है कि वह इतनी लचीली रखी जाय, कि दूसरी भाषाओं के भाव और शब्द उसमें शामिल होकर उसी के हो जायँ।

अपनी बहिन की शादी के बाद ही मैं अपने पुराने दोस्त और साथी श्री शिवप्रसाद गुप्त से मिलने के लिए बनारस गया। गुप्तजी एक बरस से भी ज़्यादा अर्से से बीमार थे। जब वह लखनऊ जेल में थे, अचानक उनको लक़वा मार गया और अब वह धीरे-धीरे अच्छे हो रहे थे। बनारस की इस यात्रा के अवसर पर मुझे हिन्दी साहित्य की एक छोटी-सी संस्था की ओर से मानपत्र दिया गया और वहाँ उसके सदस्यों से दिलचस्प बातचीत करने का मुझे मौक़ा मिला। मैंने उनसे कहा कि जिस विषय का मेरा ज्ञान बहुत अधूरा है, उसपर उसके विशेषज्ञों से बोलते हुए मुझे हिचक होती है; लेकिन फिर भी मैंने उन्हें थोड़ी-सी सूचनायें दीं। आजकल हिन्दी में जो क्लिष्ट और अलंकारिक भाषा इस्तेमाल की जाती है, उसकी मैंने कुछ कड़ी आलोचना की। उसमें कठिन, बनावटी और पुरानी शैली के संस्कृत शब्दों की भरमार रहती है। मैंने यह कहने का भी साहस किया कि यह थोड़े-से लोगों के काम में आनेवाली दरबारी शैली अब छोड़ देनी चाहिये और हिन्दी लेखकों को यह कोशिश करनी चाहिए कि वे हिन्दुस्तान की आम जनता के लिए लिखें और ऐसी भाषा में लिखें जिसे लोग समझ सकें। आम जनता के संसर्ग से भाषा में नया जीवन और असली सच्चापन आजायगा। इससे स्वयं लेखकों को जनता की भाव-व्यंजनाशक्ति मिलेगी और वे अधिक

---

[1] 'बेसिक अंग्रेजी' का 'मूल अंग्रेजी' अर्थ होने के अलावा एक और भी अर्थ है, वह है पाँच प्रकार की भाषाओं का—BASIC [British (अंग्रेज़ी), American (अमेरिकन), Scientific (वैज्ञानिक), International (अन्तर्राष्ट्रीय) और Commercial (व्यापारिक)] का—सम्मिश्रण।—अनु०

अच्छा लिख सकेंगे। साथ ही मैंने यह भी कहा कि हिन्दी लेखक पश्चिमी विचारों व साहित्य का अध्ययन करें तो उससे उन्हें बड़ा लाभ होगा। यह और भी अच्छा होगा कि यूरप की भाषाओं के पुराने साहित्य और नवीन विचारोंके ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद कर डाला जाय। मैंने यह भी कहा कि सम्भव है कि आज का गुजराती, बंगला और मराठी साहित्य इन बातों में आजकल के हिन्दी-साहित्य से अधिक उन्नत हो, और यह तो मानी हुई बात है कि पिछले वर्षों में हिन्दी की अपेक्षा बँगला में कहीं अधिक रचनात्मक साहित्य लिखा गया है।

इन विषयों पर हम लोग मित्रतापूर्ण बातचीत करते रहे और उसके बाद मैं चला गया। मुझे इस बात का ज़रा भी ख़याल न था कि मैंने जो कुछ कहा वह अख़बारों में दे दिया जायगा, लेकिन वहाँ उपस्थित लोगों में से किसी ने हमारी उस बातचीत को हिन्दी पत्रों में प्रकाशित करवा दिया।

फिर क्या था, हिन्दी अख़बारों में मुझपर और हिन्दी-सम्बन्धी मेरी इस धृष्टता पर ख़ासतौर से हमले शुरू हुए कि मैंने हिन्दी को वर्तमान बँगला, गुजराती और मराठी से हलका क्यों कहा। मुझे अनजान—इस विषय में मैं सचमुच था भी अनजान—कहा गया। मेरे विचारों की टीका में बहुत कठोर शब्द काम में लाये गये। मुझे तो इस वाद-विवाद में पड़ने की फ़ुरसत ही न थी, लेकिन मुझे बताया गया है कि यह झगड़ा कई महीनों चलता रहा—उस समय तक जबतक कि मैं फिर जेल में नहीं चला गया।

यह घटना मेरे लिए आँख खोलने वाली थी। उसने बतलाया कि हिन्दी के साहित्यिक और पत्रकार कितने ज़्यादा तुनकमिज़ाज हैं। मुझे पता लगा कि वे अपने शुभचिन्तक मित्र की सद्भावनापूर्ण आलोचना भी सुनने को तैयार नहीं थे। साफ़ ही यह मालूम होता था कि इस सबकी तह में अपने को छोटा समझने की भावना ही काम कर रही थी। आत्म-आलोचना की हिन्दी में पूरी कमी है, और आलोचना का स्टैण्डर्ड बहुत ही नीचा है। एक लेखक और उसके आलोचक के बीच एक-दूसरे के व्यक्तित्व पर गाली-गलौज होना हिन्दी में कोई असाधारण बात नहीं है। यहाँ का सारा दृष्टिकोण बहुत संकुचित और दरबारी-सा है और ऐसा मालूम होता है, मानो हिन्दी का लेखक और पत्रकार एक-दूसरे के लिए और एक बहुत ही छोटे-से दायरे के लिए लिखते हों। उन्हें आम जनता और उसके हितों से मानो कोई सरोकार ही नहीं है। हिन्दी का क्षेत्र इतना विशाल और आकर्षक है कि उसमें इन त्रुटियों का होना मुझे अत्यन्त खेदजनक और हिन्दी-लेखकों का प्रयत्न शक्ति का अपव्यय-सा जान पड़ा।

हिन्दी-साहित्य का भूतकाल बड़ा गौरवमय रहा है, लेकिन वह सदा के लिए इसीके बल पर तो ज़िन्दा नहीं रह सकता। मुझे पूरा यक़ीन है कि उसका भविष्य भी काफ़ी उज्वल है, और मैं यह भी जानता हूँ कि किसी दिन देश में हिन्दी

के अख़बार एक ज़बरदस्त ताक़त बन जायँगे, लेकिन जबतक हिन्दी के लेखक और पत्रकार पुरानी रूढ़ियों व बन्धनों से अपने-आपको बाहर नहीं निकालेंगे और आम जनता के लिए लिखना न सीखेंगे तबतक उनकी अधिक उन्नति न हो सकेगी।

५६

साम्प्रदायिकता और प्रतिक्रिया

मेरी बहिन की शादी के क़रीब, यूरप से श्री विट्ठलभाई पटेल की मृत्यु की ख़बर आई। वह बहुत दिनों से बीमार थे और स्वास्थ्य ख़राब होने की वजह से ही वह यहाँ की जेल से छोड़े गये थे। उनकी मृत्यु एक दुःखद घटना थी। हमारे बुज़ुर्ग नेताओं का इस तरह हमारे बीच से, लड़ाई के बीच में ही, एक के बाद एक उठकर चले जाना हमारे लिए असाधारण निराशाजनक बात थी। विट्ठलभाई को बहुत-सी श्रद्धाञ्जलियाँ दी गईं जिनमें से ज़्यादातर में उनके कुशल पार्लमेण्टेरियन होने और उस सफलता पर, जो असेम्बली के प्रेसीडेण्ट की हैसियत से उन्होंने पाई थी, ज़ोर दिया गया था। यह बात थी तो बिलकुल उचित, मगर इस बात के बार-बार दोहराये जाने से मुझे कुछ चिढ़-सी मालूम होने लगी। क्या हिन्दुस्तान में कुशल पार्लमेण्टेरियन लोगों की कमी थी, या ऐसे लोगों की कमी थी जो स्पीकर (असेम्बली के अध्यक्ष) का आसन योग्यता के साथ सुशोभित कर सकें? केवल यही तो एक काम है जिसके लायक वकालत की शिक्षा ने हमें बनाया है। लेकिन इसके अलावा विट्ठलभाई में और भी कहीं अधिक गुण थे। वह हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई के एक महान् और निडर योद्धा थे।

जब नवम्बर में मैं बनारस गया तो उस मौक़े पर मुझे हिन्दू-विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के सामने व्याख्यान देने के लिए निमन्त्रित किया गया। मैंने बड़ी ख़ुशी से इस निमन्त्रण को मंजूर कर लिया और एक बड़ी सभा में मैंने भाषण दिया, जिसके सभापति यूनिवर्सिटी के वाइस-चान्सलर पण्डित मदनमोहन मालवीय थे। अपने व्याख्यान में मैंने, साम्प्रदायिकता के बारे में बहुत-कुछ कहा और ज़ोरदार शब्दों में उसकी निन्दा की, ख़ासकर हिन्दू-महासभा के काम की तो मैंने कड़ी निन्दा की। ऐसा हमला करने का मेरा पहले से ही इरादा रहा हो सो बात नहीं; बल्कि सच बात तो यह थी कि सभी फ़िरक़ों के सम्प्रदायवादी लोगों की बढ़ती हुई सुधार-विरोधी हरकतों के लिए मुद्दत से मेरे दिमाग में ग़ुस्सा भरा हुआ था और जब मैं अपने विषय पर ज़रा जोश से बोलने लगा तो इस ग़ुस्से का कुछ भाग उफनकर बाहर निकल पड़ा। मैंने जान-बूझकर सम्प्रदायवादी हिन्दुओं के दक़ियानूसीपन पर ज़ोर दिया, क्योंकि हिन्दू श्रोताओं के सामने मुसलमानों पर टीका-टिप्पणी करने का कोई अर्थ नहीं था। उस वक़्त यह बात तो मेरे ध्यान

ही में नहीं आई कि जिस सभा के सभापति मालवीयजी बहुत दिनों हिन्दू-महासभा के स्तम्भ रहे हों उसमें हिन्दू-महासभा पर टीका-टिप्पणी करना बहुत मुनासिब न था। पर उस समय मैंने इस बात का विचार ही नहीं किया, क्योंकि मालवीयजी का कुछ दिनों से हिन्दू-महासभा से बहुत सम्बन्ध नहीं था और क़रीब-क़रीब ऐसा मालूम होता था कि महासभा के नये कट्टर नेताओं ने मालवीयजी—जैसे व्यक्ति के लिए उसमें कोई स्थान ही नहीं रहने दिया था। जबतक महासभा की बागडोर उनके हाथ में रही तबतक साम्प्रदायिकता के रहते हुए भी वह राजनैतिक दृष्टि से उन्नति के मार्ग में रोड़ा अटकानेवाली नहीं थी। लेकिन कुछ दिनों से यह नई प्रवृत्ति बहुत उग्र हो गई थी और मुझे यक़ीन था कि मालवीयजी का उससे कोई सम्बन्ध नहीं होगा, बल्कि उन्होंने उसको नापसन्द भी किया होगा। फिर भी मेरे लिए यह बात ज़रा अनुचित तो थी ही कि मैंने ऐसे विचार प्रकट करके, जिससे उनकी स्थिति अटपटी हो, उनके निमन्त्रण का अनुचित लाभ उठाया। इस बात का मुझे पीछे जाकर अनुभव हुआ और मुझे इसके लिए अफ़सोस भी हुआ।

एक और मूर्खतापूर्ण भूल के लिए भी मुझे खेद है जिसका मैं शिकार हो गया था। किसीने हमको डाक से एक ऐसे प्रस्ताव की नक़ल भेजी जो अजमेर में हिन्दू युवकों की एक सभा में पास हुआ बतलाया गया था। वह प्रस्ताव बहुत आपत्तिजनक था, जिसका मैंने अपने बनारस के भाषण में ज़िक्र किया था। असल में ऐसा प्रस्ताव किसी संस्था द्वारा पास ही नहीं हुआ था और हमें चकमा ही दिया गया था।

मेरे बनारस के भाषण की रिपोर्ट संक्षेप में प्रकाशित हुई। इसपर बड़ा हो-हल्ला मचा। हालाँकि मैं ऐसे हमलों का आदी था, फिर भी, हिन्दू-महासभा के नेताओं के ज़बरदस्त हमलों से मैं चकित हो गया। ये हमले ज़्यादातर व्यक्तिगत थे और असली विषय से तो प्रायः सम्बन्ध ही नहीं रखते थे। वे हद से बाहर चले गये और मुझे इस बात से ख़ुशी हुई कि उनकी वजह से मुझे भी उस विषय पर अपनी बात कह लेने का मौक़ा मिल गया। इस बात पर तो मैं कई महीनों से यहाँ तक कि जेल में भी, भरा हुआ बैठा था, लेकिन मेरी समझ में नहीं आता था कि उस विषय को किस तरह छेड़ूँ। वह एक बर्र का छत्ता था और हालाँकि मुझे बर्र के छत्ते में हाथ डालने की आदत है लेकिन मुझे ऐसे विवादों में पड़ना पसन्द नहीं था जो बाद में तू-तू मैं-मैं पर आ जावें। लेकिन अब मेरे सामने दूसरा कोई रास्ता नहीं रह गया और फिर मैंने हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता पर एक तर्कपूर्ण लेख लिखा, जिसमें मैंने यह बताया कि दोनों ओर की साम्प्रदायिकता सच्ची साम्प्रदायिकता नहीं थी, बल्कि साम्प्रदायिक आवरण में ढकी हुई ठेठ सामाजिक और राजनैतिक संकीर्णता थी। इत्तिफ़ाक़ से मेरे पास कई अख़बारों के कटिंग थे, जो मैंने जेल में इकट्ठे किये थे। इनमें साम्प्रदायिक नेताओं के हर तरह के भाषण और वक्तव्य थे। मेरे पास इतना मसाला इकट्ठा हो गया था कि मेरे लिए यह

मुश्किल हो गया कि मैं किस तरह एक लेख में उसका उपयोग करूं।

मेरे इस लेख की हिन्दुस्तान के अख़बारों में ख़ूब प्रसिद्धि हुई। यद्यपि उसमें हिन्दू और मुसलमान सम्प्रदायवादियों के सम्बन्ध में बहुत कुछ बातें थीं, फिर भी आश्चर्य है कि उसका हिन्दू-मुसलमान दोनों की ओर से कोई उत्तर न मिला। हिन्दू-महासभा के जितने नेताओं ने मुझे बड़ी ज़ोरदार और तरह-तरह की भाषा में आड़े हाथों लिया था, वे भी बिलकुल चुप्पी साधे रहे। मुसलमानों की तरफ़ से सर मुहम्मद इक़बाल[1] ने गोलमेज़-परिषद् सम्बन्धी मेरी बातों में सुधार करने की कोशिश की; लेकिन मेरी दलीलों के सम्बन्ध में तो उन्होंने कुछ भी नहीं कहा। उनको दिये गये अपने जवाब ही में मैंने यह मत प्रकट किया था कि विधान-सभी (कन्स्टीट्यूएण्ट असेम्बली) द्वारा ही राजनैतिक और साम्प्रदायिक दोनों विषयों का निर्णय होना चाहिए। इसके बाद मैंने सम्प्रदायवाद पर एक या दो लेख और भी लिखे।

इन लेखों का जैसा स्वागत हुआ और समझदार व्यक्तियों पर प्रकट रूप से जो कुछ उनका प्रभाव पड़ा, उससे मेरा उत्साह बहुत कुछ बढ़ गया। असल में मैंने इस बात का तो अनुमान ही नहीं किया था कि साम्प्रदायिक भावना की तह में जो जोश छिपा रहता है मैं उसे हटा सकूंगा। मेरा उद्देश्य तो यह बताना था कि किस तरह साम्प्रदायिक नेता हिन्दुस्तान और इंग्लैंड के घोर प्रतिक्रियावादी फ़िरक़ों से मिले रहते हैं और वे असल में राजनैतिक और उससे भी अधिक सामाजिक प्रगति के विरोधी होते हैं। उनकी सभी माँगों का जन-साधारण से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। उनका उद्देश्य यही रहता है कि सार्वजनिक क्षेत्र में आगे आये हुए कुछ छोटे-छोटे दलों का भला हो जाय।

मेरा इरादा था कि इस तर्कपूर्ण हमले को जारी रक्खूँ, लेकिन जेल ने फिर मुझे खींच लिया। हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिये आये दिन जो अपील होती रहती है, उसके निस्सन्देह फ़ायदेमन्द होते हुए भी वह मुझे तबतक बिलकुल ही फ़िज़ूल मालूम होती है, जबतक कि मतभेद के कारणों को समझने के लिये कुछ कोशिश न की जाय। मगर कुछ लोगों का यह ख़याल मालूम होता है कि इस मन्त्र को बार-बार रटने से अन्त में एकता जादू की तरह आ टपकेगी।

सन् १८५७ के ग़दर से अब तक साम्प्रदायिक प्रश्न पर अंग्रेज़ों की जो नीति रही है उसपर सिलसिलेवार नज़र डालना दिलचस्प बात होगी। मूलतः और अनिवार्य रूप से ब्रिटिश नीति यही रही है कि हिन्दू-मुसलमान मिलकर न चलें, और आपस में एक-दूसरे से लड़ते रहें। सन् १८५७ के बाद अंग्रेज़ों का वार हिन्दुओं की बनिस्बत मुसलमानों पर गहरा रहा। मुसलमानों का कुछ ही समय पहले हिन्दुस्तान पर राज्य था। इस बात की याददाश्त उनमें ताज़ी थी। इस

[1] २१ अप्रैल १९३८ को इनका देहावसान हो गया। —अनु०

वजह से अंग्रेज़ उनको ज़्यादा उग्र, लड़ाकू और ख़तरनाक समझते थे। फिर मुसलमान नई तालीम से भी दूर-दूर रहे और सरकारी नौकरियों में भी उनकी तादाद कम थी। इन सब कारणों से अंग्रेज़ लोग उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखते थे। हिन्दुओं ने अंग्रेज़ी भाषा और सरकारी नौकरियों को बहुत अधिक तत्परता से अपना लिया और अंग्रेज़ों को ये ज़्यादा सुसाध्य मालूम हुए।

इसके बाद नई राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न हुई। इसका उदय उच्चवर्ग के अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे शिक्षितों में हुआ। इस भावना का हिन्दुओं तक सीमित रहना स्वाभाविक ही था था, क्योंकि मुसलमान लोग शिक्षा के लिहाज़ से बहुत पिछड़े हुए थे।

यह राष्ट्रीयता बड़ी विनम्र और दीन भाषा में प्रकट की जाती थी, फिर भी सरकार को यह सहन नहीं हुई और उसने यह निश्चय किया कि मुसलमानों की पीठ ठोंकी जाय और उनको इस नई राष्ट्रीयता को लहर से दूर रक्खा जाय। मुसलमानों के लिए तो अंग्रेज़ी शिक्षा का न होना ही एक काफ़ी रुकावट थी। लेकिन इस रुकावट का धीरे-धीरे दूर होना लाज़िमी था। अंग्रेज़ों ने बड़ी दूरंदेशी से आगे के लिए इन्तज़ाम कर लिया और इस काम में उन्हें सर सैयद अहमदख़ाँ की ज़ोरदार हस्ती से बहुत बड़ी मदद मिली।

सर सैयद इस बात से दुःखी थे कि उनकी जाति पिछड़ी हुई है, ख़ासकर शिक्षा के क्षेत्र में, और इस बात से उनके दिल में दर्द होता था कि उनकी जाति पर न तो अंग्रेज़ों की कृपा-दृष्टि थी और न उनकी नज़रों में मुसलमानों का कुछ प्रभाव ही था। उस ज़माने के बहुत-से दूसरे लोगों की तरह वह भी अंग्रेज़ों के बहुत बड़े प्रशंसक थे और मालूम होता है कि उनपर यूरप-यात्रा का और भी ज़बरदस्त असर पड़ा था।

उन्नीसवीं सदी के आख़िरी ज़माने में यूरप, या यों कहो कि, पश्चिमी यूरप की सभ्यता का सितारा बहुत बुलन्द था। यूरप उस समय संसार का एकछत्र अधिपति था और उसमें वे सब गुण भलीभाँति प्रकट हो रहे थे जिनके कारण उसे महत्ता प्राप्त हुई थी। उच्चवर्ग के लोग अपनी सम्पत्तिको सुरक्षित समझते थे और उसे बढ़ा रहे थे, क्योंकि उनको यह डर नहीं था कि कोई उनसे मुकाबला करके कामयाब हो सकेगा। वह सुधारवाद का युग था, जिसे अपने उज्ज्वल भविष्य में दृढ़ विश्वास था। इसलिए कोई ताज्जुब नहीं कि जो हिन्दुस्तानी यूरप गये वे वहाँ का शानदार नज़ारा देख कर मोहित हो गये। शुरू-शुरू में हिन्दू लोग ही ज़्यादा गये, और वे यूरप और इंग्लैंड के प्रशंसक बनकर वापस लौटे। धीरे-धीरे वे इस तड़क-भड़क और चमक-दमक के आदी होगये और जो ताज्जुब पहले-पहल उनको होता था वह दिल से निकल गया। लेकिन सर सैयद अहमद को पहली ही बार वहाँ की तड़क-भड़क से जो विस्मय और आकर्षण हुआ, वह साफ़ ज़ाहिर है। वह सन् १८६९ में इंग्लैंड गये थे। उस समय उन्होंने घर जो पत्र लिखे,

उनमें उन्होंने वहाँ के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये थे। इनमें से एक पत्र में उन्होंने लिखा था—"इस सबका नतीजा यह निकलता है कि हालाँकि अंग्रेज़ लोग जिस तरह हिन्दुस्तान में शिष्टता का व्यवहार नहीं करते और हिन्दुस्तानियों को जानवरों के समान हलका, नीच और घृणित समझते हैं इसके लिए उनको मुआफ़ नहीं किया जा सकता; फिर भी मेरा ख़याल है कि वे इस तरह का बर्ताव इसीलिए करते हैं कि वे हम लोगों को समझ नहीं पाते हैं। और मुझे डरते-डरते यह बात माननी पड़ती है कि उन्होंने जो राय हमारे बारे में क़ायम की है वह ज़्यादा ग़लत नहीं है। मैं अंग्रेज़ों की झूठी तारीफ़ नहीं कर रहा हूँ, यदि मैं सचमुच यह कहूँ कि हिन्दुस्तान के लोग चाहे वे ऊँचे हों या नीच, बड़े व्यापारी हों या छोटे दूकानदार, पढ़े-लिखे हों या अपढ़, अंग्रेज़ों की तालीम, तमीज़ और ईमानदारी के मुक़ाबले में ऐसे हैं जैसे किसी क़ाबिल और ख़ूबसूरत आदमी के मुक़ाबले में एक गन्दा जानवर। अंग्रेज़ लोग अगर हम हिन्दुस्तानियों को निरा जंगली समझें तो उनके पास इसकी वजह है।......मैं जो कुछ देख रहा हूँ और रोज़मर्रा देख रहा हूँ वह एक हिन्दुस्तानी की समझ के बिलकुल बाहर की बात है......परलोक की और इस लोक की सारी सुन्दर वस्तुएँ, जो इन्सान में होनी चाहिए, ख़ुदा ने यूरप को, ख़ासकर इंग्लैण्ड को बख़्श दी हैं।"[1]

कोई भी आदमी अंग्रेज़ों की और यूरप की इससे ज़्यादा तारीफ़ नहीं कर सकता। और यह स्पष्ट है कि सर सैयद बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। यह भी मुमकिन है कि उन्होंने ऐसी ज़ोरदार भाषा और अतिशयोक्तिपूर्ण तुलना का प्रयोग अपने देशवासियों को गाढ़ी नींद से जगाने और उनको आगे क़दम बढ़ाने के लिए उकसाने की नीयत से किया हो। उनका यह विश्वास था कि यह क़दम पश्चिमी शिक्षा की तरफ़ बढ़ना चाहिए। बिना उस तालीम के उनकी जाति ज़्यादा पिछड़ती और कमज़ोर होती जायगी। अंग्रेज़ी तालीम का मतलब था सरकारी नौकरियाँ, हिफ़ाज़त, दबदबा और इज़्ज़त। इसलिए उन्होंने अपनी सारी ताक़त इस तालीम के लिए लगा दी और सदा यही कोशिश करते रहे कि उनकी जाति के लोग भी उनके जैसे ख़याल के हो जावें। मुसलमानों की सुस्ती और झिझक का दूर करना बड़ा मुश्किल काम था, इसलिए वह यह नहीं चाहते थे कि उनके रास्ते में कहीं बाहर से कोई बाधा या रुकावटें आवे। मध्यम-वर्ग के हिन्दुओं-द्वारा चलाई हुई राष्ट्रीयता को उन्होंने इस प्रकार की रुकावट समझा और इसीलिए उन्होंने इसका विरोध किया। शिक्षा में ४० वर्ष आगे बढ़े हुए होने के कारण हिन्दू लोग सरकार की आलोचना ख़ुशी से कर सकते थे, लेकिन सर सैयद ने तो अपने शिक्षा-सम्बन्धी प्रयत्नों में सरकार की

[1] यह उद्धरण हेन्स कोन की "हिस्ट्री आफ़ नेशनलिज़्म इन दि ईस्ट" (पूर्वी राष्ट्रीयता का इतिहास) से लिया गया है।

पूरी सहायता पर आँखें गड़ा रक्खी थीं और वे कोई ऐसा जल्दबाज़ी का काम नहीं करना चाहते थे जिससे उन्हें इस मार्ग में जोखिम उठाना पड़े। इसलिए उन्होंने नवजात राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) को धता बताया। ब्रिटिश-सरकार तो उनके इस रवय्ये पर उनकी पीठ ठोंकने के लिए तैयार बैठी ही थी।

मुसलमानों को पश्चिमी शिक्षा दिये जाने पर विशेष ज़ोर देने का सर सयद का निर्णय बेशक बहुत ठीक था। उसके बिना मुसलमान लोगों के लिए नये प्रकार की राष्ट्रीयता के निर्माण में कारगर हिस्सा ले सकना असम्भव था और उनको लाज़िमी तौर पर हिन्दुओं के स्वर-में-स्वर मिलाकर ही रहना पड़ता, क्योंकि हिन्दुओं में शिक्षा भी ज़्यादा थी और उनकी आर्थिक दशा भी ज़्यादा अच्छी थी। ऐतिहासिक घटना-चक्र और विचार-आदर्श की दृष्टि से मुसलमान मध्यमवर्गीय राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए तैयार नहीं थे, क्योंकि उनमें हिन्दुओं की तरह कोई मध्यमवर्ग नहीं बन सका था। इसलिए सर सैयद की कार्रवाइयाँ ऊपर से भले ही नरम दीखती हों, लेकिन वे दरअसल सीधी क्रान्ति की ओर ले जानेवाली थीं। मुसलमान अभी तक प्रजातन्त्र विरोधी जागीरदाराना विचारों से जकड़े हुए थे, जबकि प्रगतिशील मध्यमश्रेणी के हिन्दू अंग्रेज़ी प्रजातन्त्रीय सुधार-वादियों के-से विचार रखने लग गये थे। दोनों ठेठ नरम नीति को पालने-वाले और ब्रिटिश राज्य पर भरोसा रखनेवाले थे। सर सैयद की नरम-नीति उस जागीरदार-वर्ग की नरम-नीति थी, जिसमें मुट्ठीभर धनवान मुसलमान शामिल थे। उधर हिन्दुओं की नरम नीति थी, होशियार पेशेवर या व्यापारी की नरम नीति जो उद्योग-धन्धों और व्यापार में धन लगाने का साधन ढूँढ़ता हो। इन हिन्दू राजनीतिज्ञों की नज़र हमेशा इंग्लैण्ड के उदार दल के सुविख्यात् रत्न ग्लेडस्टन, ब्राइट इत्यादि पर रहती थी। मुझे शक है कि मुसलमानों ने कभी ऐसा किया हो। शायद वे लोग अनुदार दल और इंग्लैण्ड के जागीरदार-वर्ग के प्रशंसक थे। टर्की और आरमीनियनों के क़त्ल की बार-बार ख़ूब निन्दा करने के कारण ग्लेडस्टन तो उनके लिए सचमुच घृणा का पात्र बन गया था। लेकिन चूँकि डिसरैली का टर्की की तरफ़ कुछ ज़्यादा झुकाव था, इसलिए वे लोग—अर्थात्, वास्तव में वे मुट्ठीभर लोग जो ऐसे मामलों में दिलचस्पी रखते थे—कुछ हद तक उसे चाहते थे।

सर सैयद के कुछ व्याख्यानों को अगर आज पढ़ा जाय तो बड़े अजीब-से मालूम होंगे। सन् १८८७ के दिसम्बर में उन्होंने लखनऊ में उस अवसर पर एक भाषण दिया था जब कांग्रेस का सालाना जलसा वहाँ हो रहा था। उसमें उन्होंने कांग्रेस की बहुत नरम माँगों की भी निन्दा और आलोचना की थी। उन्होंने कहा था—"अगर सरकार अफ़ग़ानिस्तान से लड़े या बर्मा को जीते तो उसकी नीति की आलोचना करना हमारा काम नहीं है। सरकार ने क़ानून बनाने के लिए कौंसिल बना रक्खी है। उस कौंसिल के लिए वह सभी प्रान्तों

से उन अधिकारियों को चुनती है जो राज-काज और जनता की हालत से बहुत अच्छी तरह वाक़िफ़ हैं, और कुछ रईसों को भी चुनती है जो समाज में अपने ऊँचे रुतबे की वजह से असेम्बली में बैठने के क़ाबिल हैं। कुछ लोग पूछ सकते हैं कि उनका चुनाव इसलिए क्यों किया जाय कि वे रुतबेवाले हैं, क़ाबलियत का ख़याल क्यों न रक्खा जाय ?......मैं आपसे पूछता हूँ, क्या आपके माल-दार घराने के लोग यह पसन्द करेंगे कि छोटी जाति और ओछे ख़ानदान के लोग, चाहे वे बी० ए० या एम० ए० ही क्यों न हों और ज़रूरी योग्यता रखते हों, उन पर हुकूमत करें और उनकी जानोमाल से सम्बन्ध रखनेवाले क़ानून बनाने की ताक़त रक्खें ? कभी नहीं। वाइसराय ऐसा कभी नहीं कर सकता कि सिवाय ऊँचे ख़ानदान के आदमी के किसी और को अपना साथी क़बूल करे, या उसके साथ भाईचारे का बर्ताव रक्खे या उसे ऐसी दावतों में निमन्त्रण दे जिनमें उसे इंग्लैण्ड के अमीर-उमरा (ड्यूक और अर्ल) के साथ दस्तरख़्वान पर बैठना पड़ता हो।......क्या हम कह सकते हैं कि क़ानून बनाने के लिए जो तरीक़े सरकार ने अख़्तियार किये हैं, वे लोगों की मर्ज़ी का ख़याल रक्खे बिना ही किये गये हैं ? क्या हम कह सकते हैं कि क़ानून बनाने में हमारा कुछ भी हाथ नहीं है ? बेशक हम ऐसा नहीं कह सकते।"[1]

ये थे शब्द उस व्यक्ति के जो भारत में 'लोकसत्तात्मक इस्लाम' का नेता और प्रतिनिधि था। इसमें शक है कि अवध के ताल्लुक़ेदार या आगरा, बिहार या बँगाल प्रान्त के बड़े-बड़े ज़मींदार भी आज इस तरह बोलने का साहस कर सकेंगे। लेकिन सर सैयद में ही यह निरालापन हो सो बात नहीं है। कांग्रेस के भी बहुत-से व्याख्यान अगर आज पढ़े जायँ तो ऐसे ही अजीब मालूम होंगे, लेकिन यह तो साफ़ मालूम होता है कि हिन्दू-मुस्लिम सवाल का राजनैतिक व आर्थिक रूप उस वक़्त यह था कि प्रगतिशील और आर्थिक दृष्टि से साधन-सम्पन्न मध्यम-श्रेणी के (हिन्दू) लोगों का पुराने ढंग का कुछ जागीरदार-वर्ग (मुसलमान) विरोध करता था और उसकी प्रगति को रोकता था। हिन्दू ज़मींदारों का सम्बन्ध अक्सर मध्यमवर्ग के साथ था। इसलिए वे मध्यम-वर्ग की माँगों के विषय में या तो तटस्थ रहते थे या उनसे सहानुभूति रखते थे और इन माँगों के बनाने में भी अक्सर उनका हाथ रहता था। अंग्रेज़ लोग हमेशा की तरह ज़मींदारों का साथ देते थे। दोनों ओर की साधारण जनता और निम्न-श्रेणी के मध्यम-वर्ग की ओर तो किसी का कुछ ध्यान ही न था।

सर सैयद के प्रभावशाली और ज़ोरदार व्यक्तित्व का मुसलमानों पर बहुत असर पड़ा और अलीगढ़-कॉलेज उनकी उम्मीदों और ख़्वाहिशों का एक प्रत्यक्ष नमूना साबित हुआ। संक्रमणकाल में अक्सर ऐसा होता है कि प्रगति की तरफ़

[1] हेन्स कोन की 'हिस्ट्री आफ़ नेशनलिज्म इन दि ईस्ट' से उद्धृत।

ले जानेवाला जोश बहुत जल्द अपना मक़सद पूरा कर लेने के बाद एक रुकावट बन जाता है। हिन्दुस्तान का नरम दल इसका एक स्पष्ट उदाहरण है। ये लोग अक्सर हमको इस बात की याद दिलाते रहते हैं कि कांग्रेस की पुरानी परम्परा के असली वारिस ये ही हैं और हम लोग, जो बाद में उसमें शामिल हुए हैं सिर्फ़ दालभात में मूसरचन्द हैं। ठीक है। लेकिन वे लोग इस बात को तो भूल ही जाते हैं कि दुनिया बदलती रहती है और कांग्रेस की वह पुरानी परम्परा काल के गर्भ में विलीन होकर अब सिर्फ़ एक यादगार भर रह गयी है। इसी तरह सर सैयद की आवाज़ भी उस ज़माने के लिए मौज़ूँ और ज़रूरी थी, लेकिन वह एक उन्नतिशील जाति का अन्तिम आदर्श नहीं हो सकती थी। यह सम्भव है कि अगर वह एक पीढ़ी और रहे होते तो उन्होंने ख़ुद ही अपने सन्देश को एक दूसरी ही सूरत दे दी होती। या दूसरे नेता उनके पुराने सन्देश नई तरह से जनता को समझाते और उसे बदली हुई हालत के मुआफ़िक़ बना देते। लेकिन सर सैयद को जो सफलता मिली और उनके नाम के साथ जो श्रद्धा जुड़ी रह गयी उसने दूसरों के लिए पुरानी लकीर को छोड़ देना मुश्किल कर दिया। दुर्भाग्य से हिन्दुस्तान के मुसलमानों में ऐसी ऊँची क़ाबलियत के लोगों का बहुत बुरी तरह से अभाव था जो कोई नया रास्ता दिखला सकते। अलीगढ़-कॉलेज ने बड़ा अच्छा काम किया और उसने एक बड़ी तादाद में अच्छे क़ाबिल आदमी तैयार करके समझदार मुसलमानों का सारा रुख़ ही बदल दिया; लेकिन जिस साँचे में वह ढाला गया था उससे वह न निकल सका—उसके ऊपर ज़मींदारी विचारों का असर बना ही रहा, और उसके एक औसत विद्यार्थी का उद्देश सिर्फ़ सरकारी नौकरी ही रहा। साहस के साथ जीवन-संग्राम में उतरने या किसी ऊंचे लक्ष्य को पाने का प्रयत्न करने की इच्छा उसमें नहीं थी। उसे तो अगर कहीं डिप्टी कलक्टरी मिल गई, तो इसी में अपने को धन्य समझता था। उसका गर्व सिर्फ़ इस बात की याद दिलाने से सन्तुष्ट हो जाता था कि वह इस्लाम की महान् लोकसत्ता का एक अंग है। इस भाईचारे के प्रमाणस्वरूप वह अपने सिर पर बड़ी शान के साथ एक लाल टोपी पहनता था, जिसे टर्किश फ़ैज़ कहते हैं और जिसको ख़ुद तुर्कों ने ही बाद में बिलकुल उतार फेंका। अपने अमिट लोकसत्तात्मक अधिकार का विश्वास कर लेने के बाद—जिसके कारण वह अपने मुसलमान भाइयों के साथ भोजन और प्रार्थना कर सकता था—वह फिर इस बात के सोचने की झंझट में नहीं पड़ता था कि हिन्दुस्तान में राजनैतिक लोकसत्ता की कोई हस्ती है या नहीं।

यह संकीर्ण दृष्टि और सरकारी नौकरियों के पीछे दौड़ना सिर्फ़ अलीगढ़ या दूसरी जगह के मुसलमान विद्यार्थियों तक ही सीमित न था। हिन्दू विद्यार्थियों में भी—जो स्वभाव से ही ख़तरों से घबराते थे—यह उसी परिमाण में पाया जाता था। लेकिन परिस्थिति ने इनमें से बहुतों को इस गढ्ढे से निकाल

दिया। उनकी संख्या तो थी बहुत ज़्यादा और मिलनेवाली नौकरियाँ थीं बहुत कम। नतीजा यह हुआ कि इन वर्गहीन विचारशील युवकों की एक ऐसी जमात बन गई, जो राष्ट्रीय क्रान्तिकारी आन्दोलनों की जान हुआ करती है।

सर सैयद के राजनैतिक सन्देश के दम घोंटनेवाले असर से हिन्दुस्तान के मुसलमान अच्छी तरह निकलने भी न पाये थे कि बीसवीं सदी की आरम्भिक घटनाओं ने ऐसे साधन उपस्थित कर दिये जो ब्रिटिश सरकार को मुसलमानों और राष्ट्रीय आन्दोलन के (जो उस समय तक काफ़ी ज़ोर पकड़ चुका था) बीच खाई चौड़ी करने में सहायक हो गये। सर वेलेन्टाइन शिरोल ने १९१० में 'इण्डियन अनरेस्ट' (भारत में अशान्ति) नामक पुस्तक में लिखा था— "यह बड़े विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि आज से पहले भारत के मुसलमानों ने सामूहिकरूप से कभी अपने हितों और आकांक्षाओं को ब्रिटिश राज के संगठन और स्थायित्व के साथ इतनी घनिष्टता से नहीं मिलाया।" राजनीति की दुनिया में भविष्यवाणी करना ख़तरनाक होता है। सर वेलेन्टाइन की पुस्तक प्रकाशित होने के बाद, पाँच वर्ष के भीतर ही, समझदार मुसलमान उन बेड़ियों को, जो उनको आगे बढ़ने से रोक रही थीं, तोड़कर कांग्रेस का साथ देने की जी-जान से कोशिश करने लगे। दस साल के अन्दर ही ऐसा मालूम होने लगा कि मुसलमान तो कांग्रेस से भी आगे बढ़ गये और सचमुच उसका नेतृत्व भी करने लगे। पर ये दस बरस बड़े महत्त्वपूर्ण थे। इन्हीं दस बरसों में यूरोपीय महायुद्ध शुरू हुआ और ख़तम भी हो गया और अपनी विरासत में एक नष्ट-भ्रष्ट संसार छोड़ गया।

लेकिन फिर भी सर वेलेन्टाइन शिरोल जिन नतीजों पर पहुँचे ज़ाहिरा तौरपर तो उनके कारण साधारणतया ठीक ही थे। आग़ाख़ाँ मुसलमानों के नेता के रूप में प्रकट हुए और यह घटना ही इस बात का काफ़ी सबूत थी कि मुसलमान लोग अभी तक अपनी जागीरदारी परम्परा से चिपके हुए थे; क्योंकि आग़ाख़ाँ कोई मध्यमवर्ग के नेता नहीं थे। वह एक अत्यन्त धनवान् राजा और एक फ़िरक़े के धार्मिक गुरु थे। ब्रिटिश राजसत्ता से घनिष्ट सम्बन्ध रखने के कारण, अंग्रेज़ों के लिए वह अपने आदमी बन गये थे। बड़े शाइस्ता और एक धनी जागीरदार और खिलाड़ी की तरह ज़्यादातर यूरप में ही पड़ रहनेवाले। इस कारण व्यक्तिगत रूप से वह मज़हबी या फ़िरक़ेवाराना मामलों में संकीर्ण विचारों से बहुत दूर थे। उनका मुसलमानों का नेतृत्व करने का अर्थ यह था कि मुस्लिम ज़मींदार और बढ़ते हुए मध्यमवर्ग के लोग सरकार के हिमायती बन जायँ; साम्प्रदायिक समस्या तो एक गौण बात थी, और वह भी मुख्य उद्देश को सिद्ध करने के अभिप्राय से ही इतने ज़ोरों के साथ ज़ाहिर की जाती थी। सर वेलेन्टाइन शिरोल ने लिखा है कि आग़ाख़ाँ ने उस वक्त के वाइसराय लार्ड मिन्टो को यह सुझाया था कि "बंग-भंग से पैदा होनेवाली राजनैतिक

स्थिति के बारे में मुसलमानों की क्या राय है ताकि जल्दबाज़ी में हिन्दुओं को कहीं ऐसी राजनैतिक सुविधाएं न दे दी जायँ जो हिन्दू बहुमत को प्रोत्साहन दें, क्योंकि यह बहुमत ब्रिटिश राज की दृढ़ता और मुस्लिम अल्पमत के हितों के लिए, जिसकी राजभक्ति में किसीको सन्देह नहीं हो सकता था, समान रूप से ख़तरनाक था।"

लेकिन ब्रिटिश सरकार का इस प्रकार ऊपरी तौर से समर्थन करनेवालों के सिवा और दूसरी शक्तियाँ भी काम कर रही थीं। नया मुस्लिम मध्यमवर्ग मौजूदा परिस्थिति से दिन-दिन अनिवार्य रूप से असन्तुष्ट होता जाता था और राष्ट्रीय आन्दोलन की तरफ़ खिंचता जा रहा था। आग़ाख़ाँ को भी ख़ुद ही इस ओर ध्यान देना पड़ा और उन्हें अंग्रेज़ों को एक खास ढंग की चेतावनी भी देनी पड़ी। जनवरी १९१४ (यूरोपीय महायुद्ध से बहुत पहले) के 'एडिनबरा रिव्यू' के अंक में उन्होंने एक लेख लिखा, जिसमें सरकार को यह सलाह दी कि हिन्दू-मुसलमानों को लड़ाने की नीति का परित्याग कर दिया जाय, और दोनों सम्प्रदायों के नरम ख़याल के लोगों को एक झंडे के नीचे इकट्ठा किया जाय, जिससे तरुण भारत की हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों की शुद्ध राष्ट्रीय प्रवृत्तियों से टक्कर लेनेवाली एक शक्ति पैदा हो जाय। इसलिए यह साफ़ है कि आग़ाख़ाँ हिन्दुस्तान की राजनैतिक तब्दीली को रोकने में जितनी ज़्यादा दिलचस्पी रखते थे, मुसलमानों के साम्प्रदायिक हितों में उतनी नहीं।

लेकिन राष्ट्रीयता की ओर मध्यमवर्ग के मुसलमानों की अनिवार्य प्रगति को न तो आग़ाख़ाँ और न ब्रिटिश सरकार ही रोक सकते थे। संसारव्यापी महायुद्ध ने इस क्रिया को और भी तेज़ कर दिया और जैसे-जैसे नये-नये नेता पैदा होने लगे वैसे-ही-वैसे आग़ाख़ाँ का प्रभाव भी कम होता हुआ मालूम होने लगा। यहाँतक कि अलीगढ़-कॉलेज का भी रुख़ बदल गया। नये नेताओं में सबसे अधिक ज़ोरदार अली-बन्धु निकले; ये दोनों ही उस कॉलेज से निकले हुए थे। डाक्टर मुख़्तार अहमद अंसारी, मौलाना अबुल कलाम आज़ाद आदि मध्यम-वर्ग के दूसरे कई नेता अब मुसलमानों के राजनैतिक मामलों में महत्त्वपूर्ण भाग लेने लगे। इसी तरह, लेकिन कुछ कम परिमाण में, श्री मुहम्मद अली जिन्ना भी भाग लेते थे। गाँधीजी ने इनमें से अधिकांश नेताओं (मि० जिन्ना को छोड़कर) और आमतौर से मुसलमानों को भी अपने असहयोग-आन्दोलन में घसीट लिया, और १९१९-२३ के दिनों में इन लोगों ने हमारी लड़ाई में प्रमुख भाग लिया।

इसके बाद प्रतिक्रिया शुरू हुई और हिन्दू और मुसलमान दोनों क़ौमों के साम्प्रदायिक और पिछड़े हुए लोग, जो सार्वजनिक क्षेत्र से बरबस पीछे हट चुके थे, अब फिर आगे आने लगे। यह क्रिया धीमी तो थी, पर बराबर चलती रही। हिन्दू-महासभा ने पहली ही बार कुछ ख्याति प्राप्त की, ख़ासकर साम्प्रदायिक

तनाव के कारण। मगर राजनैतिक दृष्टि से वह कांग्रेस पर कुछ अधिक असर न डाल सकी। मुसलमानों की साम्प्रदायिक संस्थाएँ मुस्लिम जनता में अपनी खोई हुई पुरानी प्रतिष्ठा को कुछ अंश तक फिर प्राप्त करने में अधिक सफल रहीं। फिर भी मुस्लिम नेताओं का एक ज़बरदस्त दल सदा कांग्रेस के साथ रहा। उधर ब्रिटिश सरकार ने मुस्लिम साम्प्रदायिक नेताओं को, जो राजनैतिक दृष्टि से पूरे प्रतिक्रियावादी थे, प्रोत्साहन देने में कोई कसर नहीं रक्खी। इन प्रतिक्रियावादियों की सफलता को देखकर हिन्दू-महासभा के मुँह में भी पानी आ गया और उसने भी ब्रिटिश सरकार की कृपा प्राप्त करने की आशा से प्रतिक्रिया में इनके साथ होड़ लगाना शुरू कर दिया। महासभा के उन्नतिशील विचारोंवाले बहुत से लोग या तो निकाल दिये गये या ख़ुद ही निकल गये, और मध्यम-श्रेणी के उच्च-वर्ग—विशेषकर महाजन और साहूकार—की ओर महासभा अधिकाधिक झुकने लगी।

दोनों ओर के साम्प्रदायिक राजनीतिज्ञ, जो निरन्तर कौंसिलों की सीटों के बारे में बहस किया करते थे, केवल उसी कृपा का विचार करते रहते थे जो सरकारी क्षेत्रों में प्रभाव होने से हासिल होती है। यह तो मध्यमवर्ग के पढ़े-लिखे लोगों के लिए नौकरियों की लड़ाई थी। यह स्पष्ट है कि नौकरियाँ इतनी तो हो ही नहीं सकती थीं जो सबको मिल जातीं, इसलिए हिन्दू और मुसलमान सम्प्रदायवादी इन्हीं के बारे में लड़ते-झगड़ते थे। हिन्दू लोग अपने बचाव की फ़िक्र में थे, क्योंकि ज़्यादातर नौकरियाँ इन्हीं ने घेर रक्खी थीं और मुसलमान लोग सदा 'और-और' की रट लगाये रहते थे। इस नौकरियों की लड़ाई के पीछे एक और भी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण कशमकश चल रही थी, जो साम्प्रदायिक तो नहीं थी लेकिन जिसका असर साम्प्रदायिक समस्या पर पड़ ज़रूर रहा था। पंजाब, सिन्ध और बंगाल में हिन्दू लोग सब तरह से ज़्यादा मालदार, साहूकार और शहरी थे। इन प्रान्तों के मुसलमान ग़रीब, क़र्ज़दार और देहाती थे। इसलिए इन दोनों की टक्कर अक्सर आर्थिक होती थी, पर उसको हमेशा साम्प्रदायिक रंग दे दिया जाता था। पिछले महीनों में प्रान्तीय धारा-सभाओं में पेश किये गये देहाती क़र्ज़ के भार को घटानेवाले कई बिलों पर, ख़ासकर पंजाब में, जो बहसें हुई हैं उनसे यह बात बिलकुल साफ़ हो जाती है। हिन्दू-महासभा के प्रतिनिधियों ने इन बिलों का दृढ़ता के साथ विरोध किया है और सदा साहूकार-वर्ग का साथ दिया है।

मुसलमानों की साम्प्रदायिकता पर हिन्दू-महासभा जब कभी आक्षेप करती है तो वह सदा अपनी निर्दोष राष्ट्रीयता का राग अलापती है। यह तो हरेक को ज़ाहिर है कि मुस्लिम संस्थाओं ने अपना एक बिलकुल अजीब साम्प्रदायिक रूप प्रकट किया है। महासभा की साम्प्रदायिकता इतनी स्पष्ट नहीं है, क्योंकि वह राष्ट्रीयता का नक़ली चोग़ा पहने हुए फिरती है। परीक्षा का मौक़ा तो

तभी आता है जब राष्ट्रीय और सर्वसाधारण के हित का कोई ऐसा निर्णय होता हो जिससे उच्च श्रेणी के हिन्दुओं का हित-विरोध होता हो और वह उसका विरोध न करती हो। लेकिन जब कभी ऐसे मौक़े आये हैं, हिन्दू-महासभा इस परीक्षा में बार-बार नाकामयाब रही है। अल्पमत के आर्थिक हितों के विचार से और बहुमत के उद्घोषित इच्छाओं के ख़िलाफ़ हिन्दुओं ने सिन्ध के पृथक्करण का हमेशा विरोध ही किया है।

लेकिन हिन्दू और मुसलमान दोनों ही दलों के सम्प्रदायवादियों द्वारा राष्ट्र-विरोधी प्रवृत्तियों का सबसे अजीब प्रदर्शन तो गोलमेज़ कान्फ्रेंस में हुआ। ब्रिटिश सरकार उसके लिए केवल ऐसे ही मुसलमानों को नामज़द करने पर तुली हुई थी जो हर तरह सम्प्रदायवादी थे। और आग़ाख़ाँ के नेतृत्व में तो ये लोग इतने नीचे उतर गये थे कि इंग्लैण्ड के सार्वजनिक जीवन के सबसे अधिक प्रतिक्रियावादी और भारत ही नहीं बल्कि सभी प्रगतिशील सम्प्रदायों की दृष्टि से सबसे ख़तरनाक व्यक्तियों तक के साथ मिलने को उतारू हो गये थे। आग़ाख़ाँ और उनके गिरोह का लार्ड लॉयड और उनकी पार्टी के साथ घनिष्ट सम्बन्ध एक बड़ी असाधारण-सी बात थी। इतना ही नहीं, इन लोगों ने गोलमेज़ परिषद् में गये हुए यूरोपियन असोसियेशन के प्रतिनिधियों तक से समझौता कर लिया था। यह बड़े दुःख और निराशा की बात थी, क्योंकि यूरोपियन असोसिएशन भारत की स्वतन्त्रता का सबसे कट्टर और ज़ोरदार विरोधी रहा है, और अब भी है।

हिन्दू-महासभा के प्रतिनिधियों ने इसका जवाब इस तरह से दिया कि उन्होंने, ख़ासकर पंजाब के लिए, स्वतन्त्रता के मार्ग में ऐसे-ऐसे प्रतिबन्धों की माँग की जो अंग्रेज़ों के हक़ में 'संरक्षण' थे। उन्होंने ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग करने के प्रयत्नों में मुसलमानों को भी मात देने की कोशिश की। इससे उनको मिला तो कुछ भी नहीं, उलटे अपने पक्ष को ही उन्होंने नुक़सान पहुँचाया और स्वतन्त्रता के साथ विश्वासघात किया। मुसलमानों के बोलने के ढंग में कम-से-कम कुछ शान तो थी, लेकिन हिन्दू सम्प्रदायवादियों के पास तो यह भी न था।

मुझे तो स्पष्ट बात यह मालूम पड़ती है कि दोनों तरफ़ के साम्प्रदायिक नेता एक छोटे-से उच्चवर्गीय प्रतिक्रियावादी गिरोह के प्रतिनिधि होने के सिवा और कुछ नहीं हैं। ये लोग जनता के धार्मिक जोश का अपने स्वार्थ-साधन के लिए दुरुपयोग करते हैं और उससे बेजा फ़ायदा उठाते हैं। दोनों ओर आर्थिक प्रश्नों को टालने और दबाने की भरसक कोशिश की जाती है। वह वक़्त जल्दी ही आनेवाला है, जबकि इन प्रश्नों को दबाया जा सकना असम्भव हो जायगा, और तब दोनों दलों के साम्प्रदायिक नेता निस्सन्देह आग़ाख़ाँ की बीस बरस पहले की चेतावनी को दोहरायेंगे कि नरम विचारवालों को युग-परिवर्तनकारी प्रवृत्तियों के विरुद्ध मिलकर जिहाद बोल देना चाहिए। कुछ हद तक तो अब

यह बात ज़ाहिर हो ही चुकी है कि हिन्दू और मुसलमान सम्प्रदायवादी जनता के सामने एक-दूसरे को चाहे जितना बुरा-भला कहें, मगर असेम्बली और अन्य ऐसी ही जगहों में सरकार को राष्ट्र-विरोधी क़ानून पास करने में सहायता देने के लिए दोनों ही मिल जाते हैं। ओटावा एक ऐसा ही सूत्र था जिसने तीनों को एकसाथ ला मिलाया था।

साथ-ही-साथ, यह मज़ेदार बात भी ध्यान में रखने की है कि आग़ाख़ाँ का अनुदार पार्टी के सबसे अधिक कट्टर पक्ष के साथ अभीतक घनिष्ट सम्बन्ध चला आता है। १९३४ के अक्तूबर में आप ब्रिटिश नेवी लीग के सहभोज में, जिसके सभापति लार्ड लॉयड थे, एक सम्मानित मेहमान की हैसियत से सम्मिलित हुए थे। वहाँ आपने लार्ड लॉयड के उन प्रस्तावों का हृदय से समर्थन किया था जो उन्होंने ब्रिस्टल की कंज़रवेटिव कान्फ्रेंस में ब्रिटिश जहाज़ी बेड़े की शक्ति को और अधिक मज़बूत बनाने की दृष्टि से किये थे। इस तरह हिन्दुस्तान के एक नेता ब्रिटिश सत्ता की रक्षा और इंग्लैण्ड की हिफ़ाज़त के लिए इतने चिन्तित थे कि वह इंग्लैण्ड की फ़ौजी ताक़त बढ़ाने के काम में मि० बाल्डविन या उनकी 'नेशनल' सरकार से भी आगे बढ़ जाने को तैयार थे। और निस्सन्देह यह सब किया जा रहा था शान्ति-रक्षा के नाम पर!

दूसरे ही महीने, यानी नवम्बर १९३४ में, यह ख़बर लगी कि लन्दन में ख़ानगी तौर पर, एक फ़िल्म दिखलायी गयी है, जिसका उद्देश था 'मुसलमानों को अंग्रेज़ी बादशाहत के साथ सदा के लिए मित्रता के सूत्र में बाँध देना'। हमको यह भी पता लगा कि इस अवसर पर आग़ाख़ाँ और लार्ड लॉयड सम्मानित मेहमान होकर पधारे थे। ऐसा मालूम पड़ता है कि शाही मामलों में आग़ाख़ाँ और लार्ड लॉयड दोनों इस तरह एक जान दो देह हैं, जैसे हमारे राष्ट्रीय राजनैतिक क्षेत्र में सर तेजबहादुर सप्रू और मि० एम० आर० जयकर। यह बात भी ग़ौर करने के क़ाबिल है कि इन महीनों में, जबकि ये दोनों एक-दूसरे से इतनी अधिकता से घुल-मिल रहे थे, ठीक उसी वक़्त लार्ड लॉयड नेशनल सरकार और उसके पक्ष के अनुदार नेताओं के विरुद्ध इसलिए एक अत्यन्त कटु और कठोर आक्रमण का नेतृत्व कर रहे थे कि उन्होंने हिन्दुस्तान को बहुत अधिक अधिकार देने की कथित कमज़ोरी दिखलाई थी।[1]

इधर पिछले दिनों कुछ मुसलमान साम्प्रदायिक नेताओं के व्याख्यानों और वक्तव्यों में एक मज़ेदार तबदीली हुई है। इसका कुछ वास्तविक महत्त्व नहीं है, लेकिन मुझे शक है कि और लोगों की शायद राय न हो। फिर भी, यह बात

[1] अभी हाल ही में कुछ अंग्रेज लार्डों और भारतीय मुसलमानों ने एक कौंसिल बनायी है, जिसका उद्देश्य इन दोनों घोर प्रतिक्रियावादी दलों के सम्बन्ध को बढ़ाना और मजबूत करना है।

साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के रूप को प्रकट करती है और इसे प्रधानता भी ख़ूब दी गयी है। हिन्दुस्तान में 'मुस्लिम राष्ट्र', 'मुस्लिम संस्कृति' और हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों की घोर असम्बद्धता पर ख़ूब ज़ोर दिया जा रहा है। इसका परिणाम लाज़िम तौर से यही निकालता है (हालाँकि वह इतने खुले तौर पर नहीं रक्खा गया है) कि न्याय करने और दोनों संस्कृतियों में बीच-बिचाव करने के लिए हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ों का अनन्तकाल तक बना रहना बहुत ज़रूरी है।

कुछेक हिन्दू साम्प्रदायिक नेता भी इसी विचार-धारा में बह रहे हैं, फ़र्क़ सिर्फ़ इतना ही है कि उन्हें यह आशा है कि चूँकि उनका बहुमत है इसलिए अन्त में उन्हींकी 'संस्कृति' का बोलबाला होगा।

हिन्दू और मुस्लिम 'संस्कृतियाँ' और 'मुस्लिम राष्ट्र'—ये शब्द पुराने इतिहास तथा वर्तमान और भविष्य की कल्पना के कैसे मनमोहक दृश्य उपस्थित कर देते हैं! हिन्दुस्तान में मुस्लिम राष्ट्र--राष्ट्र के भीतर एक राष्ट्र, वह भी संगठित नहीं बल्कि बिखरा हुआ और अनिश्चित! राजनैतिक दृष्टि से यह विचार बिलकुल वाहियात है, आर्थिक दृष्टि से शेख़चिल्ली जैसा है; ध्यान देने लायक़ भी नहीं है। लेकिन फिर भी इसके पीछे जो मनोवृत्ति छिपी है, इसके ज़रिये थोड़ा-बहुत उसे समझने में सहायता मिलती है। मध्यवर्ती युग में, और उनके बाद भी, ऐसी कई जुदी-जुदी और आपस में न मिल सकनेवाली जातियाँ एक साथ मिलकर रहती थीं। टर्की के सुलतानों के आरम्भ-काल में भी कुस्तुन्तुनिया में ऐसी हरेक 'जाति'—लैटिन ईसाई, कट्टर ईसाई, यहूदी वग़ैरा—अलग-अलग रहती थी और उनमें से कुछ तो स्वाधिकार भी रखती थीं। यह उस देशेतर भावना[1] की शुरुआत थी जो, अब से कुछ ही काल पहले, बहुत-से पूर्वी देशों का हौवा बन गयी थी। इसलिए 'मुस्लिम राष्ट्र' की बात चलाने का अर्थ यह है कि राष्ट्र कोई चीज़ नहीं है, केवल एक धार्मिक सूत्र है। इसका अर्थ यह है कि किसी भी राष्ट्र (आधुनिक परिभाषामें) को बढ़ने न दिया जाय। दूसरा यह अर्थ है कि वर्तमान सभ्यता को धता बताया जाय और हम सब मध्यकाल के रस्म-रिवाज अख्तियार कर लें। इसका मतलब है या तो तानाशाही सरकार, या विदेशी सरकार। अन्ततोगत्वा इसका अर्थ मन की भावुकता और असलियतों, ख़ासकर आर्थिक असलियतों का सामना न करने की ज्ञात या अज्ञात इच्छा के सिवा और कुछ नहीं है। भावुकता कभी-कभी तर्क का भी तख़्ता उलटा देती है और हम उसे सिर्फ़ इस बिना पर दरगुज़र नहीं कर सकते कि वह हमें इतनी तर्करहित मालूम होती है। मगर यह मुस्लिम-

---

[1]अपनी या किसी भी देश की भौगोलिक सीमा के बाहर रहनेवालों पर उनकी जाति या धर्म के कारण राजनैतिक अधिकार होना। —अनु०

राष्ट्रवाली भावना कुछेक कल्पनाशील व्यक्तियों की केवल कल्पनामात्र है, और अगर अख़बारों में इसका इतना शोर न मचता तो शायद यह सुनने में भी न आती। भले ही बहुत-से लोग इसमें विश्वास रखते हों, लेकिन फिर भी वास्तविकता का स्पर्श होते ही वह ग़ायब हो जायगी।

हिन्दू और मुस्लिम 'संस्कृति' की भावना भी इसी क़िस्म की है। अब तो राष्ट्रीय भावनाओं का भी ज़माना तेज़ी के साथ जा रहा है और सारा संसार एक सांस्कृतिक इकाई बन रहा है। विभिन्न राष्ट्र बहुत दिनों तक अपनी-अपनी विशेषताओं, भाषा, रस्म-रिवाज, विचार-धारा आदि को चाहे न छोड़ें, और शायद बहुत काल तक छोड़ेंगे भी नहीं, मगर मशीनों का युग और विज्ञान—जिसके उपकरण हवाई जहाज़, अख़बार, टेलीफ़ोन, रेडियो, सिनेमा वग़ैरा हैं—इन विशेषताओं को अधिकाधिक एकरूप बना देंगे। इस अवश्यम्भावी प्रवृत्ति का विरोध कोई नहीं कर सकता, और वर्तमान सभ्यता को नष्ट-भ्रष्ट कर देनेवाला संसार-व्यापी विप्लव ही इसको रोक सकता है। हिन्दुओं और मुसलमानों के जीवन-सम्बन्धी परम्परागत विचारों में ज़रूर काफ़ी भारी मत-भेद है। पर अगर हम दोनों की तुलना वर्तमान युग के जीवन के वैज्ञानिक और औद्योगिक पहलू से करें, तो यह मत-भेद क़रीब-करीब लुप्त हो जाता है, क्योंकि इस दृष्टि-कोण में और परम्परागत विचारों में आकाश-पाताल का अन्तर है। हिन्दुस्तान में इस समय असली झगड़ा हिन्दू-संस्कृति और मुस्लिम-संस्कृति का नहीं, बल्कि इन दोनों तथा आधुनिक सभ्यता की विजयी वैज्ञानिक संस्कृति के बीच है। जो 'मुस्लिम-संस्कृति' की, जैसी कुछ भी वह हो, रक्षा करना चाहते हैं, उन्हें हिन्दू-संस्कृति से घबराने की ज़रूरत नहीं, लेकिन उन्हें पश्चिमी दैत्य का मुक़ाबला करना चाहिए। व्यक्तिगत रूप से मुझे इसमें कुछ भी सन्देह नहीं मालूम होता है कि हिन्दुओं या मुसलमानों के आधुनिक वैज्ञानिक और औद्योगिक सभ्यता का विरोध करने के सब प्रयत्न पूरी तरह से निष्फल साबित होंगे और इस निष्फलता को देखकर मुझे कुछ भी अफ़सोस न होगा। जिस समय रेल वग़ैरा ने हमारे यहाँ प्रवेश किया उसी समय हमने अज्ञात रूप से और ख़ुद-बख़ुद इस बात को स्वीकार कर लिया था। सर सैयद अहमद ने भी अलीगढ़-कॉलेज की स्थापना करके भारत के मुसलमानों के लिए ज़ोरों से इसी मार्ग को चुन लिया था। लेकिन जिस तरह डूबते हुए मनुष्य के लिए सिवा ऐसी चीज़ को पकड़ने के और कोई चारा नहीं रह जाता जिससे उसकी जान बच जाय, उसी तरह असल में हममें से किसीके लिए उसके सिवा और कोई मार्ग न था।

यह 'मुस्लिम-संस्कृति' आख़िर चीज़ क्या है? क्या यह अरबी, फ़ारसी तुर्की वग़ैरा लोगों के महान् कार्यों की कोई जातीय स्मृति है? या भाषा है? या कला और संगीत है? या रस्मोरिवाज है? मुझे याद नहीं पड़ता कि किसीने आधुनिक मुस्लिम कला या संगीत का ज़िक्र किया हो। हिन्दुस्तान में मुस्लिम-

विचारधारा पर अरबी और फ़ारसी दो भाषाओं का, और ख़ासकर फ़ारसी का प्रभाव पड़ा है। लेकिन फ़ारसी के प्रभाव में धर्म का कोई निशान नहीं है। फ़ारसी भाषा और बहुत-सी फ़ारसी रीति-रस्म और परम्पराएं हज़ारों वर्षों के समय में हिन्दुस्तान में आयीं और सारे उत्तरी हिन्दुस्तान पर इनका ज़ोरदार असर पड़ा। फ़ारस तो पूर्व का फ्रांस था, जिसने अपनी भाषा और संस्कृति अपने पास-पड़ोस के सब देशों में फैला दी। यह हम सब भारतीयों की एक समान और अनमोल विरासत है।

मुसलमान-जातियों और देशों के पुराने कारनामों का गर्व मुसलमानों को एक साथ बाँधनेवाले सूत्रों में शायद सबसे अधिक मज़बूत सूत्र है। क्या किसीको इन जातियों के गौरवपूर्ण इतिहास के कारण मुसलमानों से डाह है? जबतक वे इन कारनामों को याद करें और दिल से उनका पोषण करना चाहें, तबतक कोई भी इन्हें उनसे छीन नहीं सकता। सच तो यह है कि यह पुराना इतिहास बहुत करके हम सभी के लिए समान रूप से गौरव की चीज़ है, क्योंकि शायद हम लोग एशिया-निवासी होने के कारण यह अनुभव करें कि यूरप के आक्रमण के विरुद्ध हमको एकता के सूत्र में बाँध देनेवाली यही चीज़ है। मैं जानता हूँ कि जब कभी मैंने स्पेन में या क्रूसेड[1] के वक़्त अरब लोगों के साथ हुए झगड़ों का हाल पढ़ा है तो मेरी हमदर्दी हमेशा अरबों से रही है। मैं निष्पक्ष होने की कोशिश करता हूँ पर मैं चाहे जितनी कोशिश करूँ, फिर भी जब कभी एशिया के निवासियों का प्रश्न आता है, तो मेरा एशियाईपन मेरी विचार-धारा पर प्रभाव डाले बिना नहीं रहता।

मैंने यह समझने की हरचन्द कोशिश की है कि आख़िर यह 'मुस्लिम-संस्कृति' है क्या चीज़? लेकिन मुझे स्वीकार करना पड़ता है कि मैं इसमें सफल नहीं हुआ। मैं देखता हूँ कि उत्तरी हिन्दुस्तान में ऐसे मध्यम-वर्गी मुसलमानों और हिन्दुओं की एक नगण्य-सी संख्या है जिन पर फ़ारसी भाषा और परम्पराओं की छाप पड़ी हुई है। और अगर सर्वसाधारण जनता के रहन-सहन को देखा जाय तो 'मुस्लिम-संस्कृति' के सबसे अधिक स्पष्ट चिह्न नज़र आते हैं। एक ख़ास तरह का पायजामा न ज़्यादा लम्बा न ज़्यादा छोटा; डाढ़ी का बढ़ाया जाना और मूछों के बनाने का एक ख़ास तरीक़ा; और एक ख़ास तरह का टोंटीदार लोटा। इस तरह से हिन्दुओं के भी इसी ढंग के रस्मोरिवाज हैं। धोती पहनना; चोटी रखना और एक भिन्न प्रकार का लोटा रखना। सच तो यह है कि ये फ़र्क़ भी ज़्यादातर शहरी हैं और अब कम होते जा रहे हैं। मुसलमान किसान और मज़दूर और हिन्दू किसान और मज़दूरों में कोई भेद नहीं मालूम पड़ता। मुसलमानों के

---

[1]मुसलमानों से अपने धर्मस्थान वापस लेने के लिए ईसाई शक्तियों ने ग्यारहवीं सदी से तेरहवीं सदी तक उनपर जो फ़ौजी हमले किये थे, उन्हें क्रूसेड—धर्म-युद्ध—कहा जाता है। —अनु०

शिक्षित-वर्ग में डाढ़ी के लिए बहुत कम प्रेम रह गया है, हालांकि अलीगढ़ में लाल रंग की तुर्रेदार तुर्की टोपी अब पसन्द की जाती है (यह तुर्की ही कहलाती है, हालांकि तुर्कों ने इससे अब कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखा है!); मुसलमान स्त्रियां साड़ी को अपनाने लगी हैं और धीरे-धीरे परदे से भी बाहर निकल रही हैं। मेरी अपनी रुचि तो इनमें से कुछ तौर-तरीकों को पसन्द नहीं करती और डाढ़ी, मूंछ या चोटी से मुझे कुछ भी प्रेम नहीं है, लेकिन मैं अपनी रुचि को दूसरों के गले नहीं मढ़ना चाहता। हां, दाढ़ियों के विषय में मैं यह मानता हूँ कि जब अमानुल्ला ने इनको एक सिरे से उड़ाना शुरू किया था तो मुझे बड़ी खुशी हुई थी।

मुझे यह कहना पड़ता है कि उन हिन्दुओं और मुसलमानों को देखकर मुझे बड़ी दया आती है जो हमेशा पुराने ज़माने का रोना रोया करते हैं और उन चीज़ों को पकड़ने की कोशिश करते रहते हैं जो उनके हाथ से खिसकती जा रही हैं। मैं प्राचीन काल की न तो निन्दा ही करना चाहता हूँ और न उसे बिलकुल छोड़ ही देना चाहता हूं, क्योंकि हमारे अतीत में बहुत-सी ऐसी बातें हैं जो सुन्दरता में अनुपम हैं। ये सदा रहेंगी, इसमें मुझे सन्देह ही नहीं है। पर ये लोग इन सुन्दर वस्तुओं को तो नहीं पकड़ते, बल्कि ऐसी चीज़ों को पकड़ने दौड़ते हैं जो अक्सर निकम्मी और हानिकर होती हैं।

पिछले कुछ वर्षों में मुसलमानों को बार-बार धक्के पहुँचे हैं और उनके अनेक चिरपोषित विचार नष्ट-भ्रष्ट हो गये हैं। इस्लाम के बानी, टर्की ने खिलाफ़त को ही ख़तम नहीं कर दिया, जिसके लिए हिन्दुस्तानी लोग १९२० में बड़ी बहादुरी से लड़े थे, बल्कि वह तो मज़हब से भी दूर-दूर क़दम हटाता चला जा रहा है। टर्की के नये विधान में एक धारा यह है कि टर्की मुस्लिम राज्य है, परन्तु कोई ख़ामख़याली पैदा न हो जाय इसलिए कमालपाशा ने १९२७ में कहा था—"विधान में यह धारा कि टर्की एक मुस्लिम राज्य है केवल समझौते के तौर पर रखी गयी है और पहला मौका मिलते ही निकाल दी जानेवाली है।" मुझे विश्वास है कि आगे चलकर उन्होंने इस चेतावनी के अनुसार काम भी किया। मिस्र भी, बहुत अधिक सावधानी से ही सही, इसी मार्ग पर अग्रसर हो रहा है और अपनी राजनीति को मज़हब से बिलकुल अलग रखे हुए है। इसी तरह अरब के देश भी कर रहे हैं, सिवा ख़ास अरब के, जो बहुत पिछड़ा हुआ है। फ़ारसवाले सांस्कृतिक स्फूर्ति के लिए अब पूर्व मुस्लिम-काल की याद कर रहे हैं। हर जगह मज़हब पीछे हटता जा रहा है और राष्ट्रीयता उग्र रूप में प्रकट हो रही है। और इस राष्ट्रीयता के पीछे और भी कई 'वाद' हैं जो सामाजिक और आर्थिक दृष्टियों को लिए हैं। तो फिर 'मुस्लिम-राष्ट्र' और 'मुस्लिम-संस्कृति' का क्या होगा? भविष्य में क्या ये केवल कल्याणकारी ब्रिटिश राज्य का गुणगान करनेवाले उत्तर भारत के लोगों

में ही पाये जायंगे ?

यदि प्रगति का यही अर्थ है कि हरेक व्यक्ति राजनीति के मूल आधार पर दृष्टि रक्खे, तो यह कहना पड़ेगा कि हमारे सम्प्रदायवादियों का और हमारी सरकार का भी उद्देश, इरादतन और हमेशा, इससे उलटा यानी संकुचित दृष्टि से देखने का रहा है।

५७
दुर्गम घाटी

दुबारा गिरफ़्तार होने और सज़ा पाने की सम्भावना हमेशा मेरे सामने बनी रहती थी। उस समय देश में आर्डिनेन्स वग़ैरा का दौरदौरा था, और कांग्रेस भी ग़ैर-क़ानूनी जमात थी, इसलिए यह सम्भावना और भी ज़्यादा थी। ब्रिटिश-सरकार ने जैसा रुख़ अख़्तियार कर रक्खा था और मेरा स्वभाव जैसा था उसको देखते हुए मुझपर प्रहार होना अनिवार्य मालूम होता था। हमेशा सिर पर सवार रहनेवाली इस सम्भावना का मेरी गति-विधि पर भी असर पड़े बिना न रहा। मैं जमकर कोई काम नहीं कर सकता था और मुझे यह जल्दी रहती थी कि जितना-कुछ हो सके कर डालूँ।

फिर भी, मेरी इच्छा गिरफ़्तारी मोल लेने की नहीं थी और जहाँ तक हो सकता था मैं ऐसी कार्रवाइयों से बचता था जो मेरी गिरफ़्तारी का कारण बनें। अपने प्रान्त में और प्रान्त के बाहर भी, दौरा करने के लिए मेरे पास कितनी ही जगहों से बुलावे आ रहे थे। मैंने सबसे इन्कार कर दिया, क्योंकि मैं जानता था कि कोई भी व्याख्यानों का दौरा आन्दोलनकारी हलचल के सिवा और कुछ नहीं हो सकता था, और वह हलचल सरकार-द्वारा कभी भी यकायक बन्द कर दी जा सकती थी। उस समय मेरे लिए कोई बीच का मार्ग हो ही नहीं सकता था। जब कभी मैं किसी दूसरे काम से किसी जगह जाता—जैसे गांधीजी या वर्किंग-कमेटी के सदस्यों से सलाह-मशविरा करने के लिए—तो सार्वजनिक सभाओं में भाषण देता और खूब खुलकर बोलता। जबलपुर में ए बहुत बड़ी सभा हुई और बड़ा शानदार जलूस निकाला गया; दिल्ली की स में तो इस क़दर भीड़ थी जितनी मैंने पहले कभी वहाँ देखी ही नहीं। और इ सभाओं की सफलता से यह स्पष्ट-सा हो चला था कि सरकार ऐसी सभाओं बार-बार होना कभी सहन नहीं करेगी। दिल्ली में, सभा के बाद ही, बड़े ज़ो की अफ़वाह फैली कि मेरी गिरफ़्तारी होनेवाली है; लेकिन मैं बच गया औ इलाहाबाद लौट आया। रास्ते में मैं अलीगढ़ ठहरा, जहाँ मैंने मुस्लिम यूनि वर्सिटी के विद्यार्थियों की सभा में एक भाषण दिया।

ऐसे समय में जब कि सरकार तमाम सक्रिय राजनैतिक कामों को दबाने

का प्रयत्न कर रही थीं, मुझे यह विचार बिलकुल पसन्द नहीं था कि राजनीति से इतर कार्यों में भाग लिया जाय। कांग्रेसवालों में मुझे एक ज़ोरदार प्रवृत्ति नज़र आयी, उग्र राजनैतिक कार्यों से बचकर ऐसे मामूली कामों में पड़ जाने की, जो लाभकारी तो थे पर जिनका हमारे आन्दोलन से कोई सम्बन्ध नहीं था। यह प्रवृत्ति स्वाभाविक थी, पर मुझे ऐसा लगा कि उस समय इसको प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिए।

अक्तूबर १९३३ के बीच में हमने इलाहाबाद में, परिस्थिति पर विचार करने और आगे का कार्यक्रम निश्चित करने के लिए, युक्तप्रान्त के कांग्रेसी कार्यकर्ताओं की बैठकें कीं। प्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी एक ग़ैर-क़ानूनी संस्था थी, और चूँकि हमारा उद्देश क़ानून की अवज्ञा करने का नहीं बल्कि आपस में मिलने का था, इसलिए हमने इस कमिटी को बाक़ायदा नहीं बुलाया। हमने उसके उन सब सदस्यों को, जो उस समय जेल से बाहर थे, और दूसरे चुने हुए कार्यकर्ताओं को ख़ानगी तौर पर विचार-विनिमय की इच्छा से बुलाया था। हमारी मीटिंगें ख़ानगी तो होती थीं, पर उनकी कार्रवाई को गुप्त रखने का प्रयत्न नहीं किया जाता था। इसलिए आख़िरी दमतक हमें इस बात का पता नहीं लगता था कि सरकार हस्तक्षेप करेगी या नहीं। इन मीटिंगों में हम लोग संसार की स्थिति—घोर मन्दी, नाज़ीवाद, साम्यवाद वग़ैरा पर बहुत ध्यान देते थे। हम चाहते थे कि हमारे साथी, बाहर जो कुछ हो रहा है, उसकी दृष्टि से भारत के स्वतन्त्रता-आन्दोलन को देखें। इस कान्फ्रेन्स ने अन्त में एक समाजवादी प्रस्ताव पास किया, जिसमें भारतवासियों के लक्ष्य का बयान और सविनय-भंग के बन्द किये जाने का विरोध किया गया था। इस बात को तो सब लोग अच्छी तरह जानते थे कि अब देशव्यापी सविनय-भंग की कोई सम्भावना नहीं है और व्यक्तिगत सविनय-भंग भी या तो शीघ्र ही ख़तम हो जानेवाला है या एक बहुत ही संकुचित रूप में जारी रह सकता है। लेकिन उसके बन्द किये जाने से हमारी स्थिति में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता था, क्योंकि सरकार का हमला और आर्डिनेन्स का शासन तो जारी ही था। इसलिए बाक़ायदा सविनय-भंग जारी रखने का जो निश्चय हमने किया, वह कहने ही मात्र के लिए था। असल में तो हमारे कार्यकर्ताओं को यह आदेश था कि जान-बूझकर ऐसा काम न करें कि व्यर्थ ही गिरफ़्तार हों। उनको हिदायत थी कि अपना काम हस्ब-मामूल करते रहें और अगर काम के दौरान में गिरफ़्तारी हो जाय तो उसे ख़ुशी के साथ मंजूर कर लें। उनसे ख़ासकर यह कहा गया था कि देहात से अपना सम्बन्ध फिर स्थापित करें और यह जानने की कोशिश करें कि लगान में छूट और सरकार की दमन-नीति—इन दोनों के परिणाम-स्वरूप किसानों की क्या अवस्था है? उस वक्त लगानबन्दी के आन्दोलन का तो कोई प्रश्न ही न था। पूना-कान्फ्रेंस के बाद ही वह तो नियमानुसार स्थगित किया जा चुका था और यह साफ़ ज़ाहिर था कि मौजूदा परिस्थिति में उसे

पुनर्जीवित नहीं किया जा सकता था।

यह कार्यक्रम बिलकुल नरम और निर्दोष था और इसमें वस्तुतः कोई ग़ैर-क़ानूनी बात नहीं थी, लेकिन फिर भी हम जानते थे कि इससे गिरफ़्तारियाँ तो होंगी ही। जैसे ही हमारे कार्यकर्ता गाँवों में पहुँचते, वे गिरफ़्तार कर लिये जाते और उनपर करबन्दी आन्दोलन का प्रचार करने का, जोकि आर्डिनेन्स के मातहत एक जुर्म बना दिया गया था, बिलकुल झूठा अभियोग लगाया जाता और सज़ा दे दी जाती। अपने बहुत-से साथियों की गिरफ़्तारियों के बाद मेरा इरादा भी था कि मैं इन देहाती क्षेत्रों में जाऊँ। लेकिन कई और ज़रूरी कामों में लग जाने के कारण मुझे अपना जाना स्थगित करना पड़ा, और बाद में तो इसके लिए मौक़ा ही न रहा।

इन महीनों में वर्किंग-कमिटी के सदस्य सारे देश की परिस्थिति पर विचार करने के लिए दो बार इकट्ठे हुए। कमिटी का खुद तो कोई अस्तित्व ही न था— इसलिए नहीं कि वह ग़ैरक़ानूनी थी, लेकिन इसलिए कि पूना के बाद, गांधीजी के आदेश से, सारी कांग्रेस कमिटियां और कांग्रेस दफ़्तर अस्थायी तौर पर बन्द कर दिये गये थे। मेरी स्थिति एक अजीब तरह की हो रही थी; क्योंकि जेल से छूटकर आने पर मैंने इस आत्म-घातक आर्डिनेन्स को स्वीकार करने से इन्कार किया और अपने-आपको कांग्रेस का जरनल सेक्रेटरी कहने का आग्रह किया। लेकिन मेरा अस्तित्व भी शून्य में था। उस समय न तो कोई ठीक दफ़्तर था, न कोई कर्मचारी, न कोई स्थानापन्न सभापति; और गांधीजी यद्यपि सलाह-मशविरे के लिए मौजूद थे, पर वह भी इस बार हरिजन-कार्य के लिए अपने एक बड़े भारी अखिल-भारतीय दौरे में थे। हमने उनको दौरे के बीच में जबलपुर और दिल्ली में पकड़ पाया और वर्किंग कमिटी के मेम्बरों के साथ सलाह-मशविरे किये। इन मशविरों ने यह काम किया कि भिन्न-भिन्न मेम्बरों के मतभेद को साफ़तौर से सामने लाकर रख दिया। बस, यहीं गाड़ी अटक गयी और कोई ऐसा रास्ता नहीं नज़र आता था जो सबको पसन्द हो। दोनों पक्षों, सत्याग्रह जारी रखने-वालों और बन्द करनेवालों के बीच गांधीजी ही ऐसे व्यक्ति थे जिनका निर्णय सर्वमान्य हो सकता था। और चूँकि वह बन्द करने के पक्ष में नहीं थे इसलिए जो रफ़्तार चल रही थी वही चलती रही।

कांग्रेस की ओर से लेजिस्लेटिव असेम्बली का चुनाव लड़ने के प्रश्न पर भी कांग्रेस के लोग कभी-कभी विचार कर लेते थे, हालाँकि इस समय वर्किंग कमिटी के सदस्यों की इस तरफ़ कोई दिलचस्पी नहीं थी। यह प्रश्न अभी उठता ही नहीं था; इसके लिए अभी समय भी नहीं आया था। 'सुधार' कम-से-कम दो-तीन साल तक कार्यान्वित होनेवाले ही नहीं थे और उस समय असेम्बली के नये चुनाव का कोई जिक्र ही न था। अपनी निजी राय में तो मुझे चुनाव लड़ने में सिद्धान्तरूप से कोई आपत्ति नहीं थी और मुझे यह भी विश्वास था कि समय

आने पर कांग्रेस को इस मार्ग पर चलना ही पड़ेगा। लेकिन उस समय इस प्रश्न को उठाना हमारे ध्यान को दूसरी ओर फेर देना था। मुझे आशा थी कि आन्दोलन के जारी रहने से बहुत-से प्रश्न, जो हमारे सामने आ रहे थे, हल हो जायँगे और समझौते की प्रवृत्तिवाले लोग परिस्थिति पर हावी न हो सकेंगे।

इस बीच मैं लगातार लेख और वक्तव्य अख़बारों में भेजता रहा। कुछ हदतक मुझे अपने लेखों को नरम करना पड़ता था, क्योंकि वे प्रकाशन की नीयत से लिखे जाते थे, और उस समय सेन्सर और दूसरे तरह-तरह के क़ानूनों का घातक जाल दूर तक फैला था। मैं कुछ ख़तरा उठाने के लिए अगर तैयार भी हो जाता, तो भी अख़बारों के मुद्रक, प्रकाशक और सम्पादक तो ऐसा करने के लिए तैयार नहीं थे। यों तो सब अख़बारवाले मेरे लिए भले थे और बहुत-सी बातों में मेरे हक़ में रिआयत भी कर जाते थे, लेकिन हमेशा नहीं। कभी-कभी कोई लेखांश रोक दिये जाते थे, और एक बार तो एक लम्बा लेख, जिसको मैंने बड़ी मेहनत से तैयार किया था, प्रकाशित ही नहीं होने पाया। जनवरी सन् १९३४ में जब मैं कलकत्ते में था एक प्रमुख दैनिक पत्र के सम्पादक मुझसे मिलने आये। उन्होंने मुझे बतलाया कि मेरा एक वक्तव्य कलकत्ते के तमाम समाचारपत्रों के सम्पादक-शिरोमणि के पास राय के लिए भेज दिया गया था, और चूँकि इस सम्पादक-शिरोमणि ने उसे नामंज़ूर कर दिया; इसलिए वह प्रकाशित न हो सका। यह 'सम्पादक-शिरोमणि' कलकत्ते के सरकारी प्रेस-सेन्सर महोदय को छोड़कर और कोई नहीं थे।

अख़बारों को दी गयी कुछ मुलाक़ातों और वक्तव्यों में मैंने कई दलों और व्यक्तियों की बड़ी-कड़ी आलोचना करने की धृष्टता की थी। इससे लोग बहुत नाराज़ हुए। इस नाराज़ी का एक कारण था कांग्रेस की उलटकर जवाब न देने की वृत्ति--जिससे प्रसार में गांधीजी का भी हाथ था। ख़ुद गांधीजी ने इसका उदाहरण पेश किया था और प्रमुख कांग्रेसियों ने भी कुछ कम-बढ़ मात्रा में उनके मार्ग का अनुकरण किया, हालाँकि हमेशा नहीं होता था। हम लोग अधिकतर अस्पष्ट और सद्भावना-भरे वाक्यों का प्रयोग करते थे, जिससे हमारे आलोचकों को ग़लत तर्क और अवसरवादी चालों को काम में लाने का मौक़ा मिल जाता था। असली प्रश्नों को दोनों दल उड़ा देते थे, और ईमानदारी के साथ जब-तब जोश-ख़रोश के साथ ऐसा वाद-विवाद शायद ही कभी होता, जैसाकि उन देशों को छोड़कर, जहाँ कि फासिज़्म का बोलबाला है, पश्चिम के दूसरे सब देशों में होता रहता है।

एक महिला मित्र ने, जिनकी राय की मैं क़द्र करता था, मुझे लिखा कि मेरे कुछेक वक्तव्यों की तेज़ी पर उनको थोड़ा-सा आश्चर्य हुआ--इसलिए कि मैं क़रीब-क़रीब 'खिसियानी बिल्ली' बन गया था। क्या यह मेरी आशाओं पर 'पानी फिर जाने' का परिणाम था? मुझे भी ताज्जुब हुआ। कुछ हद तक

यह बात सही भी थी, क्योंकि राष्ट्रीयता की दृष्टि से हम सब भग्न आशाओं को लिये बैठे हैं। व्यक्तिगत रूप से भी, कुछ हद तक, शायद यह बात ठीक रही हो। लेकिन फिर भी मुझे ऐसी किसी भावना का ख़याल नहीं होता था, क्योंकि ख़ुद मुझे किसी तरह की भी पराजय या असफलता महसूस नहीं हो रही थी। जबसे गांधीजी मेरे राजनैतिक मानस-क्षितिज पर आये, मैंने कम-से-कम एक बात उनसे सीखी। वह यह कि परिणामों के डर से अपने दिल के भावों को कभी न दबाया जाय। इस आदत ने राजनैतिक क्षेत्र में पालन किये जाने पर (दूसरे क्षेत्रों में इसका पालन करना ज़्यादा मुश्किल और ख़तरनाक हो जाना सम्भव है)--मुझे अक्सर कठिनाई में डाल दिया है, लेकिन साथ ही मुझे बहुत-कुछ सन्तोष भी प्रदान किया है। मैं समझता हूँ, केवल इसी कारण हममें से बहुत-से लोग हृदय की कटुता और घोर पराजय के भावों से बरी रहे हैं। यह ख़याल भी, कि लोगों की एक बहुत बड़ी तादाद किसी व्यक्ति के प्रति प्रेम-भाव रखती है, उस व्यक्ति के हृदय को बहुत सान्त्वना पहुँचाता है, और पस्त-हिम्मती और पराजय-भावना के विष को दूर करनेवाली एक अमोघ औषधि का काम करता ह। अकेला रह जाने या दूसरों से भुला दिये जाने का ख़याल, मैं समझता हूँ, सब ख़यालों से ज़्यादा असह्य है।

लेकिन इतने पर भी, इस विचित्र और दुःखमय संसार में मनुष्य पराजय की भावना से कैसे बच सकता है? कितनी ही बार हरेक बात बिगड़ती हुई मालूम होती है और, यद्यपि हम आगे बढ़ते जाते हैं फिर भी, जब हम अपने चारों ओर रहनेवाले लोगों को देखते हैं तो तरह-तरह की शंकाएँ आ घेरती हैं। विविध घटनाओं और परिवर्तनों, यहाँ तक कि व्यक्तियों और दलों पर भी मुझे बार-बार गुस्सा और खीझ हो आती है। और पिछले कुछ दिनों से तो मैं ऐसे लोगों पर बहुत ज़्यादा भिन्नाने लगा हूं जो जीवन की समस्याओं पर संजीदगी से विचार नहीं करते, जिसके कारण वे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को भूल जाते हैं और उनका ज़िक्र करना भी बेजा समझते हैं; क्योंकि इन प्रश्नों का असर उनके पैसों या उनकी चिरपोषित धारणाओं पर पड़ता है। लेकिन मैं समझता हूं कि इस रोष, इस पराजय, और इस खिसियाहट के बावजूद मैंने निज की और दूसरों की बेवक़ूफ़ियों पर हँसने की सहज प्रवृत्ति नहीं खोयी है।

परमात्मा की कृपालुता में लोगों की जो श्रद्धा है उसपर मुझे कभी-कभी आश्चर्य होता है। किस प्रकार यह श्रद्धा चोट-पर-चोट खाकर भी जीवित है और किस तरह घोर विपत्ति और कृपालुता का उलटा सबूत भी इस श्रद्धा की परीक्षा मान ली जाती है। जेरार्ड हॉपकिन्स की ये सुन्दर पंक्तियाँ अनेक हृदयों में गूँजती हैं--

"सचमुच तू न्यायी है स्वामी, यदि मैं करूँ विवाद;
किन्तु नाथ मेरी भी है यह न्याययुक्त फ़रियाद।

और फूलते-फलते हैं क्यों पापी कर कर पाप ?
मुझे निराशा देते हैं क्यों सभी प्रयत्न-कलाप ?
हे प्रिय बन्धु ! साथ तू मेरे करता यदि रिपु का व्यवहार—
तो इससे क्या अधिक पराजय औ' बाधा का करता वार ?
अरे, उठाईगीर वहां वे मद्य और विषयों के दास,
भोग रहे हैं पड़े मौज में वे जीवन के विभव-विलास !
और, यहां मैं तेरी ख़ातिर जीवन काट रहा हूँ नाथ !
हां, जो तेरे पथ पर स्वामी घोर निराशाओं के साथ।"[1]

प्रगति में, शुभ कार्यों में, आदर्शों में मानवी सज्जनता में और मानव भविष्य की उज्ज्वलता में विश्वास; क्या ये सब परमात्मा की श्रद्धा के साथ मिलते-जुलते नहीं हैं ? यदि हम इनको बुद्धि और तर्क से साबित करना चाहें तो तुरन्त हम कठिनाई में पड़ जायंगे। पर हमारे अन्तस्तल में कोई ऐसी वस्तु है, जो इस आशा, इस विश्वास से चिपटी हुई है; अन्यथा इनके बिना जीवन एक जला-शयहीन मरुस्थल के समान हो जाय।

मेरे समाजवादी विचारों के प्रचार के प्रभाव ने वर्किंग कमेटी के कुछ सह-योगियों तक को घबरा दिया। वे लोग बिना शिकायत किये मेरे साथ काम करते रहते, जैसा कि पिछले कई वर्षों में इस प्रकार का विचार करते रहने पर भी अभी तक वे करते रहे थे; लेकिन अब तो ऐसा ख़याल किया जाने लगा कि कुछ हद तक मैं स्थापित स्वार्थों को भड़का रहा हूँ, और मेरी गति-विधि अहानिकर नहीं कही जा सकती थी। मैं जानता था कि मेरे कुछ सहयोगी समाजवादी नहीं हैं, लेकिन मैं यह हमेशा ख़याल करता रहा कि कांग्रेस की कार्यकारिणी का सदस्य होने की हैसियत से, मुझे, बिना कांग्रेस को उसमें घसीटे, समाजवादी विचारों का प्रचार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। जब मैंने यह महसूस किया कि वर्किंग कमिटी के कुछ सदस्य मेरी इस स्वतन्त्रता को स्वीकार नहीं करते, तो मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैं उनको एक विकट परि-स्थिति में डाल रहा था और इस पर उन्होंने अपनी नाराज़गी ज़ाहिर की। लेकिन मैं करता भी तो क्या ? जिस चीज को मैं अपने कार्य का सबसे महत्त्व-पूर्ण अंग समझता था उसे छोड़ देने के लिए मैं कभी तैयार नहीं था। अगर दोनों में विरोध होता तो मैं वर्किंग कमिटी से इस्तीफा दे देना इससे कहीं बेहतर समझता। लेकिन जब कि कमिटी ग़ैर-कानूनी थी, और उसका कोई अस्तित्व ही न था, तो मैं उससे इस्तीफ़ा क्या देता ?

यह कठिनाई कुछ दिन बाद एक बार फिर मेरे सामने आयी। मेरा ख़याल है, यह दिसम्बर के अन्त की बात है, जब गांधीजी ने मद्रास से मुझे एक पत्र

[1] अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

भेजा था। उन्होंने मेरे पास 'मद्रास मेल' का एक कटिंग भेजा, जिसमें उनकी दी हुई एक इंटरव्यू का वर्णन था। इंटरव्यू करनेवाले ने उनसे मेरे विषय में प्रश्न किये थे और उन्होंने जो उत्तर दिया था उसमें उन्होंने मेरे कार्य-कलाप पर कुछ खेद-सा प्रकट किया था और मेरे सुधर जाने की दृढ़ आशा प्रकट की थी; और यह भी कहा था कि मैं कांग्रेस को इन नये मार्गों में नहीं घसीटूंगा। अपने बारे में इस तरह का जिक्र मुझे कुछ अच्छा न लगा, लेकिन इससे ज्यादा जिस बात ने मुझे विचलित कर दिया वह थी--इसी इंटरव्यू में आगे दी हुई--जमींदारी प्रथा के लिए गांधीजी की वकालत। उनका यह विचार मालूम होता था कि देहाती और राष्ट्रीय व्यवस्था का यह एक बहुत जरूरी अंग है। इसने मुझे बड़ी हैरत में डाल दिया, क्योंकि बड़ी-बड़ी जमींदारियों या ताल्लुक़ेदारियों की तरफदारी करनेवाले आज बहुत कम मिलेंगे। सारे संसार में ये प्रथाएं नष्ट हो चुकी हैं और हिन्दुस्तान में भी बहुत-से लोग इस बात को महसूस करने लगे हैं कि इनका अन्त दूर नहीं है। ख़ुद ताल्लुक़ेदार और जमींदार लोग भी इस प्रथा के अन्त का स्वागत करेंगे, बशर्ते कि इसके लिए उनको काफी मुआवजा मिल जाय।[1] यह प्रथा तो दरअसल खुद ही अपने पापों के बोझ से डूबी जा रही है। लेकिन फिर भी गांधीजी इसके पक्ष में थे और ट्रस्टीशिप इत्यादि की बातें करते थे। मैंने फिर सोचा कि उनका दृष्टिकोण मेरे दृष्टिकोण से कितना भिन्न है, और मैं ताज्जुब करने लगा कि भविष्य में मैं कहाँतक उनके साथ सहयोग कर सकूँगा। क्या मैं वर्किंग कमिटी का सदस्य बना रहूं? उस समय इस उलझन से निकलने का कोई रास्ता ही नहीं था, और कुछ हफ़्तों बाद तो, मेरे जेल चले जाने के कारण, यह प्रश्न अप्रासंगिक ही हो गया।

घरेलू झगड़ों में मेरा बहुत-सा समय खर्च हो जाता था। मेरी माँ का स्वास्थ्य सुधर तो रहा था, मगर बहुत धीरे-धीरे। वह अभी तक रोग-शय्या पर पड़ी थीं, पर उनके जीवन को कोई ख़तरा नहीं मालूम होता था। मैंने अब अपना ध्यान अपने आर्थिक मामलों की ओर फेरा, जिनकी इधर बहुत दिनों से परवा नहीं की गयी थी और जो बड़ी गड़बड़ में पड़ गये थे। हमलोग अपने

---

[1] अखिल-बंगाल जमींदार कान्फ्रेंस की स्वागत-कारिणी के सभापति श्री पी० एन० टैगोर ने, २३ दिसम्बर १९३४ को, अपने भाषण में कहा था—"निजी तौर पर मुझे उस दिन कोई अफसोस न होगा जिस दिन जमींदारों को पर्याप्त मुआवजा देकर उनकी जमीन का राष्ट्रीकरण हो जायगा, जैसा कि आयर्लेंड में किया गया है।" यह बात याद रखने की है कि स्थायी बन्दोबस्त (Permanent Settlement) के मातहत होने के कारण बंगाल के ज़मींदार अस्थायी बन्दोबस्तवाली जमीनों के जमींदारों से ज़्यादा सम्पन्न हैं। राष्ट्रीयकरण के बारे में श्री टैगोर के विचार अस्पष्ट मालूम होते हैं।

बूते से ज़्यादा ख़र्च कर रहे थे और ख़र्च कम करने की ज़ाहिरा तौर पर कोई तरकीब ही नज़र नहीं आती थी। मुझे घर का ख़र्च चलाने की तो कोई ख़ास फ़िक्र न थी। मैं तो क़रीब-क़रीब उस वक़्त के इन्तज़ार में था जब मेरे पास कुछ भी न बचता। वर्तमान संसार में धन और सम्पत्ति बड़ी उपयोगी चीज़ें हैं, लेकिन जिस मनुष्य को लम्बी यात्रा पर जाना हो उसके लिए तो ये अक्सर भार-रूप बन जाती हैं। धनवान आदमियों लिए ऐसे कामों में हाथ डालना बहुत कठिन हो जाता है जिनमें ख़तरा हो; उनको सदा अपने धन-दौलत के चले जाने का भय रहता है। लेकिन धन-सम्पत्ति किस काम की, अगर सरकार अपनी मर्ज़ी के मुताबिक़ उसपर अधिकार कर सकती हो या उसे ज़ब्त कर सकती हो? इसलिए जो थोड़ा-बहुत मेरे पास था उससे भी छुटकारा पाना चाहता था। हमारी आवश्यकताएं बहुत थोड़ी थीं और मुझे ज़रूरत के मुताबिक़ कमा लेने की अपनी शक्ति में विश्वास था। मुझे सबसे बड़ी चिन्ता यह थी कि मेरी माताजी को उनके जीवन के इन अन्तिम दिनों में तकलीफ़ न उठानी पड़े या उनके रहन-सहन के ढंग में कोई ख़ास कमी न आने पावे। मुझे यह भी फ़िक्र थी कि मेरी लड़की की शिक्षा में कोई बाधा न पड़े, जिसके लिए मैं उसका यूरोप में रहना आवश्यक समझता था। इन सबके अलावा मुझे या मेरी पत्नी को रुपये की कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी। अथवा, इस तरह का हम ख़याल करते थे, क्योंकि हमें उसका कभी अभाव तो था नहीं। मुझे यक़ीन है कि जब ऐसा समय आयेगा कि हमारे पास रुपये की कमी पड़ेगी तो हमें दुःख ही होगा। किताबें ख़रीदने की ख़र्चीली आदत का छोड़ना मेरे लिए शायद मुश्किल होगा।

उस वक़्त की बिगड़ी हुई आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए हमने यह निश्चय किया कि मेरी पत्नी के गहने, हमारी सोने-चाँदी की चीज़ें और छोटा-मोटा बहुत-सा सामान बेच दिया जाय। कमला को अपने ज़ेवर बेचने का ख़याल पसन्द नहीं आया, हालाँकि क़रीब १२ साल से उसने उन्हें नहीं पहना था और वे बैंक में पड़े हुए थे। लेकिन वह किसी दिन उनको अपनी लड़की को देने का विचार करती थी।

१९३४ का जनवरी महीना था। इलाहाबाद ज़िले के गावों में हमारे कार्यकर्ता कोई ग़ैर-क़ानूनी कार्रवाई नहीं कर रहे थे, फिर भी उनकी लगातार गिरफ़्तारियां हो रही थीं। इन गिरफ़्तारियों का तक़ाज़ा था कि हम लोग उनका अनुकरण करें और उन गाँवों में जायँ। युक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी के हमारे महान् प्रभावशाली मन्त्री रफ़ी अहमद क़िदवई भी गिरफ़्तार हो चुके थे। २६ जनवरी—स्वतंत्रता-दिवस नज़दीक़ आ रहा था। उसे दरगुज़र नहीं किया जा सकता था। १९३० से यह दिवस हर साल, देश के कोने-कोने में, आर्डिनेन्सों और पाबन्दियों के बावजूद, नियमित रूप से मनाया जा रहा था।

लेकिन अब इसका अगुआ कौन बनता? किस तरह से इसे आगे बढ़ाया जाता? मेरे सिवा आल इंडिया कांग्रेस कमिटी के किसी पदाधिकारी का सिद्धान्त-रूप से कोई भी अस्तित्व न था। मैंने कुछ मित्रों से सलाह की तो क़रीब-क़रीब सब इस बात पर सहमत हुए कि कुछ करना चाहिए; लेकिन यह 'कुछ' क्या होना चाहिए, इसपर कोई राय क़ायम न हो सकी। मुझे आमतौर पर लोगों में ऐसे कामों से दूर रहने की प्रवृत्ति नज़र आयी जिनके फल-स्वरूप बहुत-से लोग पकड़े जा सकते थे। आख़िरकार मैंने स्वतंत्रता-दिवस को उचित प्रकार से मनाने की एक छोटी-सी अपील निकाली, पर उसे मनाने का ढंग हर जगह के लोगों के निश्चय पर छोड़ दिया। इलाहाबाद में हमने सारे ज़िले में काफ़ी विस्तार के साथ मनाने की योजना तैयार की।

हमारा ख़याल था कि इस स्वतन्त्रता-दिवस के संयोजक उसी दिन गिरफ़्तार हो जायँगे। लेकिन मैं दुबारा जेल जाने से पहले बंगाल का एक दौरा करना चाहता था। इसका कुछ-कुछ उद्देश्य तो पुराने साथियों से मिलना था, पर असल में यह बंगालियों के प्रति, उनकी गत वर्षों की असाधारण मुसीबतों के लिए श्रद्धाञ्जलि थी। मैं भलीभांति जानता था कि मैं उनकी कुछ भी सहायता नहीं कर सकता था। सहानुभूति और भाईचारा किसी मर्ज़ की दवा नहीं थे, मगर फिर भी इसका स्वागत ही किया गया था—और ख़ासकर बंगाल तो उस समय एक जुदापन-सा महसूस कर रहा था। और इस बात से दुखी हो रहा था कि ज़रूरत के वक़्त बाक़ी हिन्दुस्तान ने उसे छोड़ दिया। यह भावना न्यायोचित तो नहीं थी, पर फिर भी यह थी।

मुझे कमला के साथ कलकत्ता इसलिए भी जाना था कि अपने डाक्टरों से उसकी बीमारी के बारे में सलाह लूं। उसका स्वास्थ्य बहुत गिर गया था, पर हम दोनों ने कुछ हदतक इसे दरगुज़र करने की और ऐसे इलाज को टालने की कोशिश की, जिसके कारण हमको कलकत्ते में या किसी और जगह बहुत दिनों तक ठहरना पड़े। जेल से मेरे बाहर रहने के थोड़े समय में हम दोनों यथासम्भव एक साथ ही रहना चाहते थे। मैंने सोचा था कि जब मैं जेल चला जाऊँगा तो उसे इलाज के लिए चाहे जितना समय मिल जायगा। अब चूंकि गिरफ़्तारी नज़दीक़ नज़र आ रही थी, इसलिए मैंने इरादा किया कि यह सलाह-मशविरा कलकत्ते में कम-से-कम मेरी मौजूदगी में हो जाय, बाक़ी बातें बाद में भी तय की जा सकती थीं।

इसलिए हम दोनों ने—कमला ने और मैंने—१५ जनवरी को कलकत्ते जाने का निश्चय कर लिया। स्वतंत्रता-दिवस की सभाओं से पहले ही हम लौट आना चाहते थे।

५८

भूकम्प

१५ जनवरी १९३४ का तीसरा पहर था। इलाहाबाद में अपने मकान के बरामदे में खड़ा किसानों के एक गिरोह से मैं कुछ बातें कर रहा था। माघ-मेला आरम्भ हो गया था और सारे दिन हमारे यहाँ मिलने-जुलनेवालों का ताँता लगा रहता था। यकायक मेरे पैर लड़खड़ाने लगे और अपने को सम्हालना मुश्किल हो गया। मैंने पास के एक खम्भे का सहारा ले लिया। दरवाज़ों के किवाड़ भड़भड़ाने लगे और बराबर के स्वराज-भवन से, जिसके खपरे छत से नीचे खिसक रहे थे, खड़खड़ाहट की आवाज़ आने लगी। मुझे भूकम्पों का कुछ अनुभव नहीं था। इसलिए पहले तो मैं यह न समझ सका कि क्या हो रहा है, लेकिन मैं जल्दी ही समझ गया। इस अनोखे अनुभव से मुझे कुछ विनोद और दिलचस्पी हुई। मैंने किसानों से बातचीत जारी रक्खी और उन्हें भूचालों के बारे में बतलाने लगा। मेरी बूढ़ी मौसी ने कुछ दूर से चिल्लाकर मुझे मकान के बाहर दौड़ आने के लिए कहा। यह विचार मुझे बिलकुल भद्दा मालूम हुआ। मैंने भूकम्प को कोई गम्भीर बात नहीं समझा, और कुछ भी हो, मैं ऊपर की मंज़िल में अपनी माता को बिस्तर पर पड़ी हुई, और वहीं अपनी पत्नी को, जो शायद सामान बाँध रही थी, छोड़ देने और अपने को बचा लेने के लिए कभी तैयार न था। ऐसा अनुभव हुआ कि भूचाल के धक्के काफ़ी देर तक जारी रहे और बाद में बन्द हो गये। उन्होंने चंद मिनटों की बातचीत के लिए एक मसाला पैदा कर दिया; पर लोग उसे जल्दी ही क़रीब-क़रीब भूल-से गये। उस वक़्त हम नहीं जानते थे, और न इसका अन्दाज़ ही कर सकते थे, कि ये दो-तीन मिनिट बिहार और अन्य स्थानों के लाखों आदमियों के लिए कितने घातक साबित हुए होंगे।

उसी शाम को कमला और मैं कलकत्ते के लिए रवाना हो गये और हम, बिलकुल बेख़बर, अपनी गाड़ी में बैठे हुए उसी रात को भूकम्प-पीड़ित प्रदेश के दक्षिण हिस्से में होकर गुज़रे। अगले दिन भी कलकत्ते में भूकम्प से हुए घोर अनर्थ के बारे में हमें कोई ख़बर नहीं मिली। दूसरे दिन इधर-उधर से कुछ समाचार आने शुरू हुए। तीसरे दिन हमको इस वज्रपात का कुछ-कुछ आभास होने लगा।

हम अपने कलकत्ता के प्रोग्राम में लग गये। कई डाक्टरों से बार-बार मिलना पड़ा और अन्त में यह निश्चित हुआ कि एक-दो महीने बाद कमला फिर कलकत्ता आकर इलाज कराये। इसके अलावा बहुत-से मित्र और सहयोगी भी थे जिनसे हम बहुत अर्से से नहीं मिले थे। चारों तरफ़ दमन के कारण लोगों के

दिलों में जो डर बैठ गया था उसका, जब तक मैं वहाँ रहा, मुझे काफ़ी अनुभव हुआ। लोग किसी तरह का भी काम करने से डरते थे, कि कहीं उनपर आफ़त न आ जाय; वे बहुत आफ़तें झेल चुके थे। वहाँ के अख़बार भी, अन्य प्रान्तों के अख़बारों से अधिक, फूँक-फूँककर पैर रखते थे। भविष्य के कार्य के विषय में भी वैसी ही शंका और उलझनें थीं, जैसी हिन्दुस्तान के अन्य भागों में। वास्तव में यह शंका ही थी, भय उतना नहीं, जो सब प्रकार के प्रभावोत्पादक राजनैतिक कार्यों में बाधा डाल रही थी। फ़ासिस्ट प्रवृत्तियाँ बहुत ज़ोरों से उदय हो रही थीं, और सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट प्रवृत्तियाँ कुछ-कुछ ऐसे अस्पष्ट रूप में और आपस में इतनी घुली-मिली-सी सामने आ रही थीं कि इन दलों में भेद-निर्णय करना कठिन था। आतंकवादी आन्दोलन के बारे में, जिसकी तरफ़ सरकारी हलकों का बहुत ज़्यादा ध्यान खिंचा हुआ था और जिसके सम्बन्ध में उसकी ओर से ख़ूब विज्ञापन किया जा रहा था, ज़्यादा पता लगाने की न तो मुझे फ़ुरसत थी और न कोई मौक़ा ही। जहाँतक मुझे मालूम हुआ, इसमें कोई राजनैतिक महत्ता नहीं रह गयी थी और न आतंकवादी दल के पुराने सदस्यों की इसमें कुछ श्रद्धा थी। उनकी विचार-धारा ही बदल गयी थी। सरकारी कार्रवाई के विरुद्ध उत्पन्न रोष ने कुछ इक्के-दुक्के व्यक्तियों का संयम छुड़ा दिया था और बदला लेने के लिए उकसा दिया था। दरअसल दोनों तरफ़ बदला लेने का यह भाव बहुत प्रबल मालूम होता था। व्यक्तिगत आतंकवादियों की तरफ़ से तो यह काफ़ी स्पष्ट था। सरकार की तरफ़ से भी यही रुख़ ज़्यादातर प्रकट हो रहा था कि कभी-कभी, बदला ले-लेकर, लड़ाई जारी रक्खी जाय; बजाय इसके कि शान्ति के साथ समाज के लिए एक अनिष्टकर घटना का मुक़ाबला करके उसे रोका जाय। आतंकवादी कार्यों से साबक़ा पड़ने पर कोई भी सरकार उनका मुक़ाबला किये बिना और उनको दबाने की कोशिश किये बिना नहीं रह सकती। लेकिन शान्ति और गम्भीरता के साथ नियन्त्रण करना सरकार के लिए अधिक गौरव की बात है, बनिस्बत ऐसे अत्याचारों के जो अपराधियों और निरपराधियों पर अंधाधुन्धी से किये जायँ—ख़ासकर निरपराधों पर, क्योंकि इनकी संख्या ज़रूर ही बहुत ज़्यादा होती है। शायद ऐसे ख़तरे के समय में गम्भीर और धीर रहना आसान नहीं है। आतंकवादी घटनाएं बहुत कम होती जा रही थीं, लेकिन उनकी सम्भावना सदा बनी रहती थी; और यह बात उन लोगों के धैर्य को डावाँडोल करने के लिए काफ़ी थी जिनपर व्यवस्था का भार था। यह बिलकुल स्पष्ट है कि ये घटनाएं ख़ुद कोई बीमारी नहीं हैं, बल्कि बीमारी का एक लक्षण है। जो रोग है उसका इलाज न करके लक्षणों का उपचार करना बिलकुल बेकार है।

मेरा विश्वास है कि बहुत-से नवयुवक और नवयुवतियाँ, जिनका आतंकवादियों से सम्बन्ध माना जाता है, दरअसल गुप्त कार्य की मोहकता से आकर्षित

हो जाते हैं। साहसी नवयुवकों का झुकाव हमेशा गुप्त मन्त्रणा और ख़तरे की तरफ़ हो जाता है; इनकी इच्छा जानकार बनने की रहती है, वे पता लगाना चाहते हैं कि यह सब हल्ला-गुल्ला किसलिए है और इन मामलों की तह में कौन-कौन लोग हैं? दुनिया में कुछ अद्भुत और साहसपूर्ण कार्य कर दिखाने की महत्त्वाकांक्षा का यह तक़ाज़ा है। इन लोगों की कुछ करने-धरने की इच्छा नहीं होती—आतंकवादी कार्य करने की तो किसी हालत में भी नहीं—लेकिन इनका उन लोगों से, जिनपर पुलिस की सन्देह-दृष्टि है, सिर्फ़ मिलना-जुलना ही इनको भी पुलिस का सन्देहपात्र बना देने के लिए काफ़ी होता है। अगर इनकी क़िस्मत में कुछ ज़्यादा बुराई न लिखी हो तो भी इसकी तो सम्भावना रहती ही है कि ये लोग बहुत जल्दी नज़रबन्दों की जमात में या नज़रबन्दों की किसी जेल में धर दिये जायं।

यह कहा जाता है कि न्याय और व्यवस्था भारत में ब्रिटिश राज्य की गौरवपूर्ण सफलताओं में गिने जाते हैं। मैं ख़ुद भी सहज स्वभाव से उनका समर्थक हूँ। मुझे जीवन में अनुशासन पसन्द है और अराजकता, अशान्ति और अयोग्यता नापसन्द। लेकिन कड़वे अनुभव ने ऐसे न्याय और व्यवस्था की उपयोगिता के विषय में मेरे दिल में शंका पैदा कर दी है जिनको राज्य और सरकारें जनता पर जबरन लाद देती हैं। कभी-कभी उनके लिए आवश्यकता से अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है, और न्याय तो केवल प्रबल राजनैतिक दल की इच्छा होती है और व्यवस्था एक सर्वव्यापी आतंक का प्रतिबिम्ब। कभी-कभी तो, जो चीज़ न्याय और व्यवस्था कही जाती है, दरअसल, उसे न्याय और व्यवस्था का अभाव कहना ज़्यादा ठीक मालूम होता है। कोई सफलता, जो चारों ओर छाये हुए आतंक पर निर्भर रहती है, कभी वाञ्छनीय नहीं हो सकती, और ऐसी 'व्यवस्था' जिसका आधार राज्य का बल-प्रयोग हो और जो इसके बिना जीवित ही न रह सके, अधिकतर फ़ौजी शासन के समान है, क़ानूनी शासन नहीं। कल्हण कवि के हज़ार वर्ष पुराने 'राज-तरंगिणी' नामक कश्मीर के ऐतिहासिक महाकाव्य में न्याय और व्यवस्था के लिए जो शब्द बार-बार काम में आये हैं और जिनकी स्थापना शासक और राज्य का कर्त्तव्य था, वे हैं 'धर्म' और 'अभय'। न्याय सिर्फ़ क़ानून से कुछ बेहतर चीज़ थी, व्यवस्था लोगों की निर्भयता थी। आतंकित जनता पर 'व्यवस्था' लादने की बनिस्बत उसे निर्भयता सिखलाने की यह भावना अधिक ज़रूरी है।

हम साढ़े तीन दिन कलकत्ता ठहरे और इस अर्से में मैंने तीन सार्वजनिक सभाओं में भाषण दिये। जैसा कि मैंने पहले कलकत्ता में किया था, इस बार भी आतंकवादी कार्यों की निन्दा की और उनकी हानियाँ बतलायीं, और इसके बाद में उन तरीक़ों पर भी बोला जो सरकार ने बंगाल में अख़्तियार किये थे। मैं काफ़ी जोश के साथ बोला, क्योंकि इस प्रान्त की घटनाओं के विवरणों से मैं

बहुत अधीर हो गया था। जिस बात ने मुझे सबसे अधिक चोट पहुँचायी, वह थी वह तरीक़ा जिसके ज़रिये सारी जनता का अंधाधुन्ध दमनकर मानव-सम्मान पर बलात्कार किया गया था। इस मानवता के प्रश्न के आगे राजनैतिक प्रश्न ने, अत्यन्त आवश्यक होते हुए भी, गौण स्थान प्राप्त कर लिया था। बाद में, कलकत्ता में मुझपर जो मुक़दमा चला उसमें मेरे यही तीनों भाषण मेरे विरुद्ध तीन आरोप बनाये गये और मेरी यह पिछली सज़ा इन्हींका परिणाम है।

कलकत्ता से हम कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर से भेंट करने के लिए शान्ति-निकेतन पहुँचे। कवि से मिलना हमेशा आनन्ददायक था। इतने नज़दीक आकर हम उनसे बिना मिले कैसे जा सकते थे? मैं तो पहले दो बार शान्ति-निकेतन हो आया था, लेकिन कमला का यह पहली बार जाना था, और वह इस स्थान को देखने ख़ासतौर पर आयी थी, क्योंकि हम अपनी बेटी को वहाँ भेजना चाहते थे। इन्दिरा कुछ ही दिनों बाद मैट्रिक की परीक्षा देनेवाली थी और उसकी आगे की शिक्षा का प्रश्न हमें परेशान कर रहा था। मैं इसके बिलकुल ख़िलाफ़ था कि वह सरकारी या अर्द्ध-सरकारी यूनिवर्सिटियों में दाख़िल हो, क्योंकि मैं उन्हें नापसन्द करता था। इनके चारों ओर का वातावरण सरकारी, और हुकूमत-परस्ती का होता है। बेशक, इनमें से पहले भी ऊँचे दर्जे के पुरुष और स्त्रियाँ निकली हैं और आगे भी निकलती रहेंगी। पर ये थोड़े से अपवाद यूनिवर्सिटियों को नौजवानों की उदात्त प्रवृत्तियों को दबाने और मृतप्राय बनाने के आरोप से नहीं बचा सकते। शान्ति-निकेतन ही एक ऐसी जगह थी जहाँ इस घातक वातावरण से बचा जा सकता था। इसलिए हमने उसे वहीं भेजने का निश्चय किया, हालांकि कुछ बातों में वह दूसरी यूनिवर्सिटियों की तरह बिलकुल अप-टू-डेट और सब तरह के साधनों से पूर्ण नहीं थी।

लौटते हुए, हम राजेन्द्र बाबू के साथ भूकम्प-पीड़ितों की सहायता के प्रश्न पर विचार करने के लिए पटना ठहरे। वह अभी जेल से छूटकर आये ही थे और लाज़िमी तौर पर उन्होंने पीड़ितों की सहायता के ग़ैर-सरकारी काम में सबसे आगे क़दम रक्खा। हमारा यहाँ पहुँचना बिलकुल अकस्मात् ही हुआ, क्योंकि हमारा कोई भी तार उन्हें नहीं मिला था। कमला के भाई के जिस मकान में हम ठहरना चाहते थे वह खंडहर हो गया था; पहले वह ईंटों की एक बड़ी भारी दुमंज़िला इमारत थी। इसलिए और बहुत से लोगों की तरह हम भी खुले में ही ठहरे।

दूसरे दिन मैं मुज़फ़्फ़रपुर गया। भूकम्प हुए पूरे सात दिन हो चुके थे, पर अभी तक सिवा कुछ ख़ास रास्तों के, कहीं भी मलबा उठाने के लिए कुछ भी नहीं किया गया था। इन रास्तों को साफ़ करते वक़्त बहुत-सी लाशें निकली थीं। इनमें कुछ तो विचित्र भावमयी अवस्थाओं में थीं, जैसे किसी गिरती हुई दीवार या छत से बचने की कोशिश कर रही हों। इमारतों के खंडहरों का

दृश्य बड़ा मार्मिक और रोमांचकारी था। जो लोग बच गये थे, वे अपने दिल दहलानेवाले अनुभवों के कारण बिलकुल घबराये हुए और भयभीत हो रहे थे।

इलाहाबाद लौटते ही धन और सामान इकट्ठा करने के काम का फ़ौरन प्रबन्ध किया गया और सब लोग, जो कांग्रेस में थे वे भी, और जो नहीं थे वे भी, मुस्तैदी के साथ इसमें जुट गये। मेरे कुछ सहयोगियों की यह राय हुई कि भूकम्प के कारण स्वतन्त्रता-दिवस के जलसे रोक दिये जायँ। लेकिन दूसरे साथियों को, और मुझे भी कोई कारण नहीं नज़र आता था कि भूकम्प से भी हमारे प्रोग्राम में क्यों ख़लल पड़े? बहुत से लोगों का ख़याल था कि शायद पुलिस दस्तन्दाज़ी और गिरफ़्तारियाँ कर बैठे और उसकी तरफ़ से कुछ मामूली दस्तन्दाज़ी हुई भी। मगर मीटिंग कर चुकने के बाद जब हम लोग बच गये तो हमें बहुत ताज्जुब हुआ। हमारे यहाँ के कुछ गांवों में और कुछ दूसरे शहरों में गिरफ़्तारियाँ हुईं।

बिहार से लौटने के कुछ ही दिन बाद मैंने भूकम्प के सम्बन्ध में एक वक्तव्य निकाला जिसके अन्त में धन के लिए अपील की गयी थी। इस वक्तव्य में मैंने भूकम्प के बाद शुरू के कुछ दिनों तक बिहार-सरकार की अकर्मण्यता की आलोचना की थी। मेरा इरादा भूकम्प-पीड़ित इलाक़े के अफ़सरों की आलोचना करने का नहीं था, क्योंकि उनको तो एक ऐसी विकट परिस्थिति का सामना करना पड़ा था जिससे बड़े-से-बड़े दिलेरों के भी दिल दहल जाते और मुझे इसका अफ़सोस हुआ कि कुछ शब्दों से ऐसा आशय निकाला जा सकता था; लेकिन मैंने यह तो बड़े ज़ोरों से ज़रूर महसूस किया कि शुरू में बिहार-सरकार के प्रमुख अधिकारियों ने कुछ ज़्यादा कारगुज़ारी दिखलायी होती, ख़ासकर मलबा हटाने में, तो बहुत-सी जानें बच जातीं। ख़ाली मुँगेर शहर में ही हज़ारों की जानें गयीं, और तीन हफ़्ते बाद भी मैंने देखा कि मलबे का पहाड़-का-पहाड़ ज्यों-का-त्यों पड़ा था, हालाँकि कुछ ही मील दूर जमालपुर में हज़ारों रेलवे-कर्मचारी बसे हुए थे, जिनको भूकम्प के पीछे कुछ ही घण्टों में इस काम में लगाया जा सकता था। भूकम्प के बारह दिन बाद तक भी ज़िन्दा आदमी खोदकर निकाले गये थे। सरकार ने सम्पत्ति की रक्षा का तो फ़ौरन इन्तज़ाम कर दिया था, लेकिन जो लोग दबे पड़े थे उनकी जान बचाने में उसने सरगर्मी नहीं दिखायी। इन इलाक़ों में म्युनिसिपैलिटियाँ तो रही ही नहीं थीं।

मैं समझता हूं कि मेरी आलोचना न्यायोचित थी और बाद में मुझे पता लगा कि भूकम्प-पीड़ित इलाक़ों के ज़्यादातर लोग मुझसे सहमत थे। लेकिन न्यायोचित हो या न हो, वह सच्चे हृदय से की गयी थी, और सरकार पर दोषारोपण करने की नीयत से नहीं बल्कि उसको तेज़ी से काम करने के लिए प्रेरित करने की नीयत से की गयी थी। इस बारे में किसी ने भी सरकार पर यह दोष

नहीं लगाया कि उसने जान-बूझकर कोई ग़लत कार्रवाई की या कोई कार्रवाई करने में आनाकानी की। यह तो एक अजीब और निराश कर देनेवाली परिस्थिति थी और इसमें होनेवाली भूलें क्षम्य थीं। जहाँतक मुझे मालूम है (क्योंकि मैं जेल में हूँ), बिहार-सरकार ने बाद में भूकम्प से हुई क्षति को पूरा करने के लिये बड़ी तेज़ी और मुस्तैदी से काम किया।

लेकिन मेरी आलोचना से लोग नाराज़ हुए, और तुरन्त कुछ ही दिनों बाद बिहार के कुछ लोगों ने मेरी आलोचना के तुर्की-ब-तुर्की जवाब के तौर पर सरकार की प्रशंसा करते हुए एक वक्तव्य प्रकाशित किया। भूकम्प और उससे सम्बन्ध रखनेवाले सरकारी कर्त्तव्य क़रीब-क़रीब दूसरे दर्जे की बात बना दी गई। यह बात ज़्यादा महत्त्वपूर्ण थी कि सरकार की आलोचना की गयी, इसलिए राजभक्त रिआया को उसके पक्ष का समर्थन करना ही चाहिए। हिन्दुस्तान में फैले हुए उस रवैये का यह एक मज़ेदार नमूना था जो सरकार की आलोचना को—पश्चिमी देशों में यह एक बहुत मामूली चीज़ समझी जाती है—पसन्द नहीं करता। यह फ़ौजी मनोवृत्ति है जो आलोचना को सहन नहीं कर सकती। सम्राट् की तरह भारत की ब्रिटिश सरकार और उसके ऊँचे हाकिम-हुक्काम कोई ग़लती नहीं कर सकते! ऐसी किसी बात का इशारा भी करना घोर राजद्रोह है!

इसमें विचित्रता यह है कि शासन में असफलता और अयोग्यता का आरोप कठोर शासन या निर्दयता का दोष लगाने के बनिस्बत बहुत ज़्यादा बुरा समझा जाता है। निर्दयता का दोष लगानेवाला, बहुत मुमकिन है, जेल में डाल दिया जाय, मगर सरकार इसकी आदी हो गयी है और असल में इसकी परवा भी नहीं करती। आख़िर, एक तरह से प्रभुता-प्राप्त जाति के लिए यह क़रीब-क़रीब एक वाह-वाही की बात समझी जा सकती है। लेकिन नालायक़ और कमज़ोर कहा जाना उनके आत्म-सम्मान की जड़ पर कुठाराघात करता है; इससे हिन्दुस्तान के अंग्रेज़ हाकिमों की अपने-आपको उद्धारक समझने की धारणा पर प्रहार होता है। ये लोग उस अंग्रेज़ पादरी की तरह हैं जो ईसाई-धर्म के विरुद्ध आचरण के आरोप को तो चुपचाप बरदाश्त करने के लिए तैयार हो जाता है लेकिन अगर उसे कोई बेवक़ूफ़ या नालायक कहे तो वह ग़ुस्सा होकर मारने को दौड़ता है।

अंग्रेज़ लोगों में एक आम विश्वास फैला हुआ है, जो अक्सर इस तरह बयान किया जाता है मानों कोई अकाट्य सिद्धान्त हो, कि अगर हिन्दुस्तान के शासन में कोई ऐसी तबदीली हो जाय जिससे ब्रिटिश प्रभाव कम हो जाय या निकल जाय, तो यहाँ का शासन और भी ज़्यादा ख़राब और निकम्मा हो जायगा। इस विश्वास को रखते हुए, उग्रमतवादी और उन्नतिशील विचारोंवाले अंग्रेज़ यह कहते हैं कि सु-राज स्व-राज का स्थानापन्न नहीं हो सकता, और अगर हिन्दुस्तानी लोग गड्ढे में गिरना ही चाहते हैं तो उनको गिरने दिया जाय।

मैं नहीं जानता कि ब्रिटिश प्रभाव के निकल जाने पर हिन्दुस्तान की क्या हालत होगी। यह बात इसपर बहुत-कुछ निर्भर है कि अंग्रेज़ लोग किस तरह से निकलकर जायँ और उस समय भारत में किसका अधिकार हो; इसके अलावा, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कई विचारणीय बातें और भी हैं। अंग्रेज़ों की सहायता से स्थापित ऐसी अवस्था की मैं अच्छी तरह कल्पना कर सकता हूँ जो आगे की हालत से कहीं अधिक बदतर और ज़्यादा निकम्मी होगी, क्योंकि उसमें मौजूदा प्रणाली के दोष तो सब होंगे और गुण एक भी नहीं। इससे भी ज़्यादा आसानी से मैं उस दूसरी अवस्था की कल्पना कर सकता हूँ जो, भारतवासियों के दृष्टिकोण से, किसी भी ऐसी अवस्था से अधिक अच्छी और लाभकारी होगी जिसकी हमें आज सम्भावना हो सकती है। यह मुमकिन है कि राज्य की बल-प्रयोग करने की मशीन इतनी कार-आमद हो और शासन-विधान इतना भड़क-दार न हो, लेकिन पैदावार, खपत और जनता के शारीरिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक आदर्श को ऊँचा उठानेवाले कार्य अधिक योग्यता से होंगे। मेरा विश्वास है कि स्वराज्य किसी भी देश के लिए लाभकारी है। लेकिन मैं स्वराज तक को वास्तविक सु-राज देकर लेने के लिए तैयार नहीं हूँ। स्वराज अपने-आपको न्यायोचित तभी कह सकता है जब उसका ध्येय वास्तव में जनता के लिए सु-राज हो। चूँकि मेरा विश्वास है कि भारत में ब्रिटिश सरकार, भूतकाल में उसका दावा चाहे जो कुछ रहा हो, आज जनता के लिए सु-राज या उन्नत आदर्श प्रदान करने के बिलकुल अयोग्य है, इसलिए मैं महसूस करता हूँ कि भारत में उसकी उपयोगिता जो कुछ थी वह नष्ट हो चुकी है। भारत की स्व-तन्त्रता का सच्चा औचित्य इसी में है कि उसे सु-राज मिले, उसकी जनता की स्थिति ऊँची हो, उसकी औद्योगिक और सांस्कृतिक प्रगति हो और भय और दमन का वह वातावरण दूर हो जाय जो विदेशी साम्राज्यवादी शासन का अनिवार्य परिणाम है। ब्रिटिश सरकार और इंडियन सिविल सर्विस भारत में मनमानी करने की ताक़त भले ही रखती हो, पर वह भारत के तात्कालिक प्रश्नों को हल करने के बिलकुल अयोग्य और निकम्मी है, भविष्य के प्रश्नों के लिए तो और भी ज़्यादा—क्योंकि उसके मूल सिद्धान्त और धारणाएं बिलकुल ग़लत हैं और वास्तविकता से उसका सम्बन्ध टूट चुका है। कोई सरकार या शासक-वर्ग जो पूर्णतया योग्य नहीं है या जो पतनशील समाज-व्यवस्था का प्रतिनिधि है, ज़्यादा दिनों तक मनमानी नहीं कर सकता।

इलाहाबाद की भूकम्प-सहायक-समिति ने मुझे भूकम्प-पीड़ित इलाक़ों में जाने के लिए और वहाँ भूकम्प-पीड़ितों की सहायता के लिए जो ढंग अख़्तियार किया गया था, उसकी रिपोर्ट देने के लिए नियुक्त किया। मैं अकेला ही फ़ौरन चल पड़ा और दस दिन तक उन ध्वस्त और नष्ट-भ्रष्ट इलाक़ों में घूमा। इस दौरे में बड़ी मेहनत करनी पड़ी और इन दिनों मुझे सोने को भी बहुत कम

समय मिला। सुबह के पाँच बजे से लगभग आधी रात तक हम लोग चलते ही रहते थे—कभी दरारोंवाली टूटी-फूटी सड़कों पर मोटर में जा रहे हैं, तो कभी छोटी-छोटी डोंगियों के द्वारा ऐसे स्थानों में उतर रहे हैं जहाँ पुल गिरे पड़े थे या जहाँ ज़मीन की सतह में फ़र्क़ आ जाने से सड़कें पानी में डूब गयी थीं। शहरों में ढेर-के ढेर खंडहरों और टूटी हुई, या मानो किसी दैत्य के द्वारा मरोड़ी हुई, या दोनों ओर के मकानों की कुर्सी से ऊपर उठी हुई सड़कों का दृश्य बड़ा हृदयस्पर्शी था। इन सड़कों की बड़ी-बड़ी दरारों में से पानी और रेत ज़ोर से निकले थे जिससे असंख्य मनुष्य और जानवर बह गये थे। इन शहरों से भी ज़्यादा उत्तर बिहार के मैदानों पर—जिनको बिहार का बाग़ कहा जाता था—उजड़ेपन और विनाश की छाप लगी हुई थी। मीलों तक फैली हुई बालू-रेत, पानी के बड़े-बड़े तालाब और विशालकाय दरारें और छोटे-छोटे असंख्य ज्वालामुखी के-से मुँह बन गये थे जिनमें से बालू-रेत और पानी निकला था। इस इलाक़े के ऊपर हवाई-जहाज़ में बैठकर उड़नेवाले कुछ अंग्रेज़ अफ़सरों ने कहा था कि यह नज़ारा लड़ाई के ज़माने के और उसके कुछ बाद के उत्तरी फ्रांस के युद्धक्षेत्र से कुछ-कुछ मिलता-जुलता था।

यह एक बड़ा भयानक अनुभव हुआ होगा। भूकम्प पहले अगल-बग़ल की गति से ज़ोरों से शुरू हुआ, जिससे खड़े हुए मनुष्य गिर पड़े। इसके बाद ऊपर-नीचे की गतियाँ हुईं और एक ऐसी गड़गड़ाहट और गूँजती हुई भयंकर आवाज़ हुई जैसे तोपें चल रही हों या आकाश में सैकड़ों हवाई जहाज़ उड़ रहे हों। अनगिनती स्थानों पर बड़ी-बड़ी दरारों और गड्ढों में से पानी फूट निकला और उसकी धारें दस-बारह फ़ुट तक ऊँची उछलीं। यह सब शायद तीन या चार मिनट में हो गया होगा, मगर ये तीन मिनट ही महाभयंकर थे। जिन लोगों ने इन घटनाओं को होते हुए देखा, आश्चर्य नहीं यदि उन्हें यह कल्पना हुई हो कि दुनिया का अन्त आ गया। शहरों में मकानों के गिरने का शोर था, पानी बड़े ज़ोर से बहकर आ रहा था और सारे वायुमण्डल में धूल भर गयी थी, जिससे कुछ ही गज़ आगे की चीज़ें भी नज़र नहीं आती थीं। देहातों में इतनी धूल नहीं थी और दूर तक दिखलायी देता था, लेकिन वहाँ कोई शान्ति से देखनेवाले ही नहीं थे। जो लोग ज़िन्दा बचे वे भयंकर त्रास के कारण ज़मीन पर लेट गये या इधर-उधर लुढ़कने लगे।

एक बारह बरस का लड़का (मेरे ख़याल से, मुज़फ़्फ़रपुर में) भूकम्प के दस दिन बाद खोदकर जीवित निकाला गया। वह बड़ा चकित था। टूट-टूटकर गिरनेवाले ईंट-चूने ने जब उसे नीचे गिराकर दबा लिया तो उसने कल्पना की कि प्रलय हो गया है और अकेला वही ज़िन्दा बचा है।

मुज़फ़्फ़रपुर में ही ऐन भूकम्प के मौक़े पर, जबकि मकान गिर रहे थे और चारों तरफ़ सैकड़ों आदमी मर रहे थे, एक बच्ची पैदा हुई। उसके अनुभव-

हीन माता-पिता को यह न सूझा कि क्या करना चाहिए और पागल-से हो गये। मगर मैंने सुना कि माता और बच्चा दोनों की जानें बच गयीं और वे मज़े में थे। भूकम्प की यादगार में बच्ची का नाम 'कम्पोदेवी' रक्खा गया।

हमारे दौरे का आख़िरी शहर मुँगेर था। हम लोग बहुत घूम चुके और क़रीब-क़रीब नेपाल की सीमा तक पहुँच गये थे और हमने अनेक हृदय-विदारक दृश्य देखे थे। हम लोग एक बड़े भारी पैमाने पर खंडहर और विध्वंस देखने के आदी हो गये थे। लेकिन फिर भी जब हमने मुँगेर को और इस धन-संपन्न की अत्यन्त विनाश-पूर्ण हालत को देखा तो उसकी भयंकरता से हमारा दम फूलने लगा और हमें कँपकँपी आने लगी। मैं उस महाभयंकर दृश्य को कभी नहीं भूल सकता।

भूकम्प के तमाम इलाक़ों में, क्या शहरों और क्या देहात में, वहाँ के निवासियों में स्वावलम्बन का बड़ा शोचनीय अभाव नज़र आया। शायद शहरों के मध्यम वर्ग में इसका सबसे अधिक अभाव था—वे लोग इस इन्तज़ार में थे कि कोई सरकारी या ग़ैर-सरकारी भूकम्प-सहायक समिति आकर काम करे और उन्हें सहायता दे। जो दूसरे लोग सेवा करने को आगे आये, उन्होंने समझा कि काम करने का अर्थ है लोगों पर हुकम चलाना। यह निस्साहाय्य की भावना कुछ तो निसन्देह भूकम्प के आतंक से पैदा हुई मानसिक दुर्बलता के कारण थी और वह धीरे-धीरे ही कम हुई होगी।

बिहार के दूसरे हिस्सों और दूसरे प्रान्तों से बड़ी संख्या में आनेवाले मददगारों का जोश और उनकी कार्यशक्ति इसकी तुलना में एक बिलकुल अलग ही चीज़ नज़र आती थी। इन नवयुवकों और नवयुवतियों की मुस्तैदी के साथ सेवा करने की भावना को देखकर चकित होना पड़ता था। और हालाँकि अनेक भिन्न-भिन्न सहायक संस्थाएं काम कर रही थीं, फिर भी इनमें आपस में बहुत कुछ सहयोग था।

मुँगेर में खोदने और मलबा हटाने की स्वावलम्बी भावना को प्रोत्साहन देने के लिए मैंने एक नाटक-सा किया। इसे करने में मुझे कुछ हिचकिचाहट तो हुई, पर इसका परिणाम बड़ा सफलतापूर्ण निकला। सहायक संस्थाओं के तमाम अगुआ टोकरियाँ और फावड़े ले-लेकर निकले और उन्होंने दिनभर खुदाई की और हमने एक लड़की की लाश बाहर निकाली। मैं तो उस दिन मुँगेर से चला आया, लेकिन खुदाई का काम जारी रहा और बहुत-से स्थानीय व्यक्तियों ने उसे बड़ी सफलतापूर्वक किया।

जितनी ग़ैर-सरकारी सहायक संस्थाएँ थीं उन सबमें सेन्ट्रल रिलीफ़ कमिटी, जिसके अध्यक्ष बाबू राजेन्द्रप्रसाद थे, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थी। यह सर्वथा कांग्रेसी संस्था नहीं थी। शीघ्र ही यह बढ़कर भिन्न-भिन्न दलों और दानदाताओं की प्रतिनिधि-स्वरूप एक अखिल-भारतीय संस्था बन गयी। इससे सबसे बड़ा

लाभ यह था कि देहात की कांग्रेस कमिटियों की सहायता इसे मिल सकती थी। गुजरात और युक्तप्रान्त के कुछ ज़िलों को छोड़कर कहींके कांग्रेसी कार्यकर्त्ता किसानों के इतने अधिक सम्पर्क में नहीं थे जितने यहाँ के। दरअसल ये कार्यकर्त्ता ख़ुद ही किसान-वर्ग के थे। बिहार भारत का सबसे मुख्य कृषक-प्रदेश है और उसके मध्यम-वर्ग तक का किसानों से घनिष्ट सम्बन्ध है। कभी-कभी, जब मैं कांग्रेस के मन्त्री की हैसियत से बिहार प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी के दफ़्तर का निरीक्षण करने जाता था तो मैं वहाँ नज़र आनेवाले निकम्मेपन और दफ़्तर के काम में ढील-ढाल की बड़े कड़े शब्दों में आलोचना किया करता था। वहाँ खड़े रहने के बजाय बैठ जाने की और बैठने की अपेक्षा लेट जाने की प्रवृत्ति थी। दफ़्तर भी मेरे अबतक देखे हुए तमाम दफ़्तरों में सबसे अधिक साधनहीन था, क्योंकि वे लोग दफ़्तर के लिए मामूली तौर पर ज़रूरी चीज़ों के बिना ही काम चलाने की कोशिश करते थे। लेकिन दफ़्तर की आलोचना के बावजूद, मैं खूब अच्छी तरह जानता था कि कांग्रेस के लिहाज़ से यह प्रान्त देश के सबसे ज़्यादा उत्साही और लगन के साथ काम करनेवाले प्रान्तोंमें से था। यहाँ की कांग्रेस में ऊपरी तड़क-भड़क नहीं थी, पर सारा कृषक-वर्ग सामूहिक-रूप से उसके पीछे था। अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी में भी बिहार के प्रतिनिधियों ने शायद ही कभी किसी मामले में उग्र रुख अख़्तियार किया हो। वे तो अपने आपको वहाँ देखकर कुछ ताज्जुब-सा करते थे। लेकिन सविनय-भंग के दोनों आन्दोलनों में बिहार ने बड़ा शानदार नमूना पेश किया। यहाँतक कि बाद के व्यक्तिगत सविनय-भंग के आन्दोलन में भी उसने अच्छा काम कर दिखलाया।

रिलीफ़-कमिटी ने किसानों तक पहुंचने के लिए इस सुन्दर संगठन से लाभ उठाया। देहात में कोई भी साधन, यहाँ तक कि सरकारी भी, इतने उपयोगी नहीं हो सकते थे। रिलीफ़-कमिटी और बिहार कांग्रेस कमिटी दोनों के प्रधान थे राजेन्द्र बाबू, जो निर्विवाद रूप से सारे बिहार के नेता थे। देखने में एक किसान के समान, बिहार भूमि के सच्चे सुपुत्र राजेन्द्रबाबू का व्यक्तित्व, जबतक कि कोई उनकी तेज़ और निष्कपट आँखों और गम्भीर मुख-मुद्रा पर ग़ौर न करे, शुरू-शुरू में देखने पर कुछ प्रभावशाली नहीं मालूम पड़ता। वह मुद्रा और वे आँखें भुलाई नहीं जा सकतीं, क्योंकि उनमें होकर सचाई आपकी ओर झाँकती है और उनपर आप सन्देह कर ही नहीं सकते। किसान-स्वभाव होने के कारण उनका दृष्टिकोण शायद ज़रा सीमित है और नयी रोशनी की दृष्टि से देखने पर कुछ सीधे-सादे दीखते हैं; पर उनकी ज्वलन्त योग्यता, उनकी शुद्ध निष्कपटता, उनकी शक्ति, और भारत की स्वतन्त्रता के लिए उनकी लगन, ये ऐसे गुण हैं जिन्होंने उनको अपने ही प्रान्त का नहीं बल्कि सारे भारत का प्रेम-पात्र बना दिया है। जैसा सर्वमान्य नेतृत्व राजेन्द्रबाबू को बिहार में प्राप्त है वैसा भारत के किसी भी प्रान्त में किसी भी व्यक्ति को प्राप्त नहीं। इनके सिवा,

गांधीजी के वास्तविक सन्देश को इतनी पूर्णता से अपनानेवाले, कोई हों भी, तो बिरले ही होंगे।

यह बड़े सौभाग्य की बात थी कि राजेन्द्रबाबू जैसे व्यक्ति बिहारमें सहायता के कार्य का नेतृत्व करने के लिए मौजूद थे, और उनमें लोगों की जो श्रद्धा थी, उसीका यह परिणाम था कि सारे भारत से विपुल धन-राशि खिंची चली आयी। स्वास्थ्य ख़राब होने पर भी वह सहायता के कार्य में पिल पड़े। वह अपनी शक्ति से अधिक काम करने लगे, क्योंकि वह सारी कार्रवाइयों का केन्द्र बन गये थे और सलाह के लिए सब उन्हीं के पास आते थे।

जब मैं भूकम्प के इलाक़ों में दौरा कर रहा था, तब या शायद वहाँ जानेसे पहले, मुझे गांधीजी का यह वक्तव्य पढ़कर बड़ी चोट लगी कि यह भूकम्प अस्पृश्यता के पाप का दण्ड था। यह वक्तव्य बड़ी हैरत में डालनेवाला था। मैंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर के उत्तर का स्वागत किया और मैं उससे पूर्णतया सहमत भी था। वैज्ञानिक दृष्टिकोण की इससे अधिक विरोधी किसी और चीज़ की कल्पना करना कठिन है। कदाचित विज्ञान भी आज प्रकृति पर चित्तवृत्तियों और मनोवैज्ञानिक घटनाओं के प्रभाव के विषय में इस तरह सर्वथा निश्चयात्मक रूप से कोई बात नहीं कह सकेगा। मानसिक चोट के परिणामस्वरूप किसी व्यक्ति को अजीर्ण या इससे भी अधिक और कोई ख़राबी का हो सकना भले ही सम्भव हो, लेकिन यह कहना कि किसी मानवी प्रथा या कर्तव्यहीनता की प्रतिक्रिया पृथ्वी-तल की गति पर पड़े, एक हैरत में डाल देनेवाली बात है। पाप और ईश्वरीय कोप का विचार और ब्रह्माण्ड की घटनाओं में मनुष्य की सापेक्ष स्थिति, ये ऐसी बातें हैं जो हमको कई-सौ वर्ष पीछे ले जाती हैं, जबकि यूरप में धार्मिक अत्याचारों का बोलबाला था, जिसने वैज्ञानिक कुफ़्र के कारण जोर्डानो ब्रूनो को जलवा डाला तथा कितनी ही डाकिनियों को सूली पर चढ़ा दिया! अठारहवीं सदी में भी, अमेरिका में बोस्टन के प्रमुख पादरियों ने मासाचुसेट्स के भूकम्पों का कारण बिजली गिरने से रोकने के लिए लगाये गये खम्भों की अपवित्रता बतलाया था।

और अगर भूकम्प ईश्वरी पापों का दण्ड भी हो तो भी हम यह कैसे मालूम करें कि हमको कौन-से पाप का दण्ड मिल रहा है। क्योंकि दुर्भाग्यवश हमें तो बहुत-से पापों का फल भोगना है। हरेक व्यक्ति अपनी-अपनी पसन्द का कारण बता सकता है। शायद हम लोगों को एक विदेशी राजसत्ता क़बूल करने का या एक अनुचित सामाजिक प्रणाली को सहन करने का दण्ड मिला हो। आर्थिक दृष्टि से दरभंगा महाराज, जो बड़ी लम्बी-चौड़ी जागीरों के मालिक हैं, भूकम्प के कारण सबसे अधिक नुक़सान उठानेवालों में से थे। इसलिए हम ऐसा भी कह सकते हैं कि यह ज़मींदारी प्रथा के विरुद्ध फ़ैसला है। ऐसा कहना ज़्यादा ठीक होगा, बनिस्बत यह कहने के कि बिहार के क़रीब-क़रीब बेगुनाह

निवासी, दक्षिण भारत के लोगों के अस्पृश्यता के पाप के बदले में पीड़ित किये गये। भूकम्प खुद अस्पृश्यता के देश में ही क्यों नहीं आया? या ब्रिटिश सरकार भी तो इस विपत्ति को सविनय-भंग के लिए ईश्वरीय दण्ड कह सकती है; क्योंकि यदि वास्तव में देखा जाय तो, उत्तरी बिहार ने, जिसको भूकम्प के कारण सबसे अधिक नुक़सान पहुंचा, आज़ादी की लड़ाई में बड़ा प्रमुख भाग लिया था।

इस तरह हम अनन्त कल्पनाएं कर सकते हैं और फिर यह प्रश्न भी तो उठता है कि हम लोग परमात्मा के कामों अथवा उसकी आज्ञाओं में अपने मानवीय प्रयत्नों से क्यों हस्तक्षेप करें? और हमें इसपर भी ताज्जुब होता है कि ईश्वर ने हमारे साथ ऐसी निर्दयतापूर्ण दिल्लगी क्यों की कि पहले तो हमको त्रुटियों से पूर्ण बनाया, हमारे चारों ओर जाल और गड्ढे बिछा दिये, हमारे लिए एक कठोर और दुःखपूर्ण संसार की रचना कर दी—चीता भी बनाया और भेड़ भी, और फिर हमको सज़ा भी देता है।

"जब तारों ने अपनी झिलमिल किरणें डालीं जगती पर,
और गगन-मंडल से उतरीं बूँदें रिमझिम धरती पर,
देख-देख कृति अपनी कैसे स्मिति ओठों पर ला सकता,
मेष-वत्स रचनेवाला क्या भीषण सिंह बना सकता?"[1]

पटना ठहरने की आख़िरी रात को मैं बड़ी रात तक बहुत-से मित्रों और सहयोगियों से बातें करता रहा, जो जुदा-जुदा प्रान्तों से सहायता-कार्य में अपनी सेवाएं देने के लिए आये थे। युक्तप्रांत के काफ़ी प्रतिनिधि आये थे और हमारे कई छँटे-छँटाये कार्यकर्ता वहां थे। हम इस प्रश्न पर विचार कर रहे थे, जो हमें बड़ा हैरान कर रहा था, कि हम लोग किस हद तक अपने-आपको भूकम्प-पीड़ितों की सहायता के काम में लगावें? इसका अर्थ यह था कि उस हद तक हम अपने को राजनैतिक कार्य से अलग हटा लें। सहायता का काम बड़ा कठिन था और ऐसा हम कर नहीं सकते थे कि जब-जब हमें फ़ुरसत मिले तब तो उसे करें और फ़ुरसत न हो तो न करें। इसमें लग जाने से क्रियात्मक राजनैतिक क्षेत्र से बहुत दिनों तक ग़ैर-हाज़िर रहने की सम्भावना थी और राजनैतिक दृष्टि से हमारे प्रान्त पर इसका प्रभाव बुरा पड़े बिना नहीं रह सकता था। यद्यपि कांग्रेस में बहुत-से लोग थे, फिर भी करने-धरनेवालों की संख्या तो परिमित ही थी और उनको छुट्टी नहीं दी जा सकती थी। इधर पीड़ितों को सहायता देने के काम के तक़ाज़े की भी अवहेलना नहीं की जा सकती थी। अपनी ओर से तो मेरा ख़ाली सहायता के ही काम में लग जाने का इरादा न था। मैंने महसूस किया कि इस कार्य के लिए लोगों की कमी न होगी; अलबत्ता अधिक ख़तरे के कामों को करनेवाले लोग बहुत थोड़े थे।

[1]अंग्रेज़ी पद्य का भावानुवाद।

इसलिए हम बहुत रात तक बातचीत करते रहे। हमने पिछले स्वतन्त्रता-दिवस पर भी विचार किया कि किस प्रकार हमारे कुछ सहयोगी तो उस मौके पर गिरफ़्तार कर लिये गये थे पर हम लोग बच गये थे। मैंने मज़ाक में उन लोगों से कुछ मज़ाक में कहा कि मुझे तो पूरे बचाव के साथ उग्र राजनैतिक कार्य करने के राज़ का पता लग गया है।

मैं ११ फ़रवरी को, दौरे के कारण बिलकुल थका-माँदा, इलाहाबाद में अपने घर पहुंचा। कड़ी मेहनत के इन दस दिनों ने मेरा रूप बड़ा भयानक बना दिया था और मेरे कुटुम्ब के लोग मेरी शकल देखकर चकित हो गये। मैंने इलाहाबाद रिलीफ़-कमिटी के लिए अपने दौरे की रिपोर्ट लिखने की कोशिश की, लेकिन नींद ने मुझे आ-घेरा। अगले २४ घंटों में से मैंने कम-से-कम १२ घंटे नींद में बिताये।

दूसरे दिन, शाम के वक़्त, कमला और मैं चाय पीकर बैठा था और पुरुषोत्तमदास टंडन हमारे पास आये ही थे। हम लोग बरामदे में खड़े हुए थे। इतने में एक मोटर आयी और पुलिस का एक अफ़सर उसमें से उतरा। मैं फ़ौरन समझ गया कि मेरा वक़्त आ गया है। मैंने उसके पास जाकर कहा—"बहुत दिनों से आपका इन्तज़ार था।" वह ज़रा माफी-सी माँगने लगा और कहने लगा कि क़ुसूर उसका नहीं है। वारण्ट कलकत्ता से आया था।

मैं पाँच महीने और तेरह दिन बाहर रहा। और अब मैं फिर एकान्त और तनहाई में भेज दिया गया। लेकिन दुःख का असली भार मुझपर न था। वह तो हमेशा की तरह स्त्रियों पर ही था—मेरी बीमार माता पर, मेरी पत्नी पर और मेरी बहिन पर।

५६

अलीपुर-जेल

"फेंक यकायक कहाँ दिया है इतनी दूर मुझे लाकर!
कबतक यों टकराना होगा इन अदृष्ट की लहरों पर?
किधर खींच ले जावेंगे अब झोंकों के ये उलझे तार;
दिखता नहीं प्रकाश, न जाने कहाँ लगेगी किश्ती पार।"[1]

उसी रात को मैं कलकत्ता ले जाया गया। हावड़ा स्टेशन से लालबाज़ार पुलिस-थाने तक मुझे एक बड़ी काली मोटर-लारी में बिठाकर ले गये। कलकत्ता-पुलिस के मशहूर हेड-क्वार्टर के बारे में मैंने बहुत-कुछ पढ़ रक्खा था। अतः मैं उस जगह को बड़े चाव से देखने लगा। वहाँ अंग्रेज़ सार्जेण्ट और इन्स्पेक्टर इतनी बड़ी तादाद में मौजूद थे, जितने उत्तर-भारत के किसी बड़े पुलिस-थाने में

[1] राबर्ट ब्राउनिंग की कविता का भावानुवाद।

नहीं हैं। वहाँ के सिपाही अक्सर सभी बिहार और संयुक्तप्रान्त के पूर्वी ज़िलों के थे। अदालत से जेल या एक जेल से दूसरी जेल जाने के लिए मुझे कई बार जेल की लारी में जाना पड़ता था और हर दफ़ा इनमें से कई सिपाही लारी के भीतर मेरे साथ जाते थे। वे ज़रूर ही कुछ दुःखी मालूम होते थे। उनको यह काम पसन्द न था और स्पष्टतः वे मेरे साथ बड़ी हमदर्दी-सी रखते थे। मैंने देखा कि कई बार इनकी आँखों में आँसू छलक पड़ते थे।

मुझे शुरू में प्रेसिडेन्सी जेल में रक्खा गया और वहीं से मुझे अपने मुक़दमे के लिए चीफ़ प्रेसिडेन्सी मैजिस्ट्रेट की अदालत में ले जाया जाता था। यह अदालत मेरे लिए एक नया तजर्बा था। अदालत का कमरा और इमारत साधारण अदालत की-सी नहीं बल्कि एक घिरे हुए क़िले जैसी थी। सिवा कुछ अख़बारवालों और वहीं के वकीलों के बाहर का कोई आदमी उसके आसपास नहीं फटकने दिया जाता था। पुलिस वहाँ काफ़ी तादाद में जमा थी। यह सब बन्दोबस्त कोई मेरे लिए नया नहीं किया गया था, यह तो वहाँ का हमेशा का दस्तूर है। अदालत के कमरे में जाने के लिए मुझे दूसरे कमरे में होते हुए एक लम्बे रास्ते से जाना पड़ता था, जिस के ऊपर और दोनों तरफ़ जालियां पड़ी हुई थीं, मानो किसी पिंजड़े में से निकल रहे हों। मुलज़िम का कठघरा हाकिम की कुर्सी से कुछ दूर था। कमरा पुलिसवालों और काले कोट और चोग़ेवाले वकीलों से भरा हुआ था।

मुझे अदालती मुक़दमों से काफ़ी काम पड़ चुका है। मेरे पहले के कई मुक़दमे जेल के भीतर हो चुके हैं, परन्तु उन सब मौक़ों पर मेरे साथ दोस्त, रिश्तेदार और जान-पहचानवाले रहते थे, इस कारण वहां का वातावरण मेरे लिए कुछ सरल जान पड़ता था। पुलिस अधिकतर गौणरूप में होती थी और वहां पिंजड़े वग़ैरा नज़र न आते थे। यहां तो बात ही दूसरी थी, चारों तरफ़ अजनबी और बिना जान-पहचान की शकलें नज़र आती थीं, जिनमें और मुझमें कुछ भी साम्य नहीं दीखता था। वे लोग मुझे बहुत पसन्द भी नहीं आये। चोग़ाधारी वकीलों की जमात मुझे तो देखने में सुन्दर नहीं मालूम होती, और ख़ासकर पुलिस की अदालत के वकीलों का नज़ारा तो ज़रूर ही अप्रिय मालूम होता है। आख़िर उस काली जमात में एक जान-पहचान का वकील निकल तो आया, लेकिन वह भी झुण्ड में मिलकर कहीं ग़ायब हो गया।

मुक़दमा शुरू होने के पहले जब मैं बाहर झरोखे में बैठा रहता था तब भी मुझे अकेलापन और सुनसान मालूम पड़ता था। मेरी नब्ज़ ज़रूर तेज़ हो गयी होगी और मेरा दिल इतना शान्त नहीं था जैसा पहले के मुक़दमों के समय रहता था। मुझे तब ख़याल आया कि जब इतने मुक़दमों और सज़ाओं का तजर्बा होते हुए भी मुझपर परिस्थिति की अजीब प्रक्रिया का असर हुए-बिना न रहा तो ऐसी हालत में नातजुर्बेकार नौजवानों पर परिस्थिति का

कितना बड़ा भार पड़ता होगा ?

कठघरे में मेरा चित्त बहुत-कुछ शान्त मालूम हुआ। हमेशा की तरह कोई सफ़ाई पेश नहीं की गयी, और मैंने अपना एक छोटा-सा बयान पढ़कर सुना दिया। दूसरे दिन अर्थात् १६ फ़रवरी को मुझे दो बरस की सज़ा हो गयी और इस तरह मेरी सातवीं सज़ा शुरू हुई।

अपनी साढ़े पांच महीने की रिहाई के समय का बाहरी जीवन मुझे सन्तोषप्रद मालूम हुआ। इस अर्से में मैं काम में काफ़ी लगा रहा और कई उपयोगी काम पूरे कर सका। मेरी माता की बीमारी ने पलटा खा लिया था और अब वह ख़तरे से बाहर हो चली थीं। मेरी छोटी बहिन कृष्णा की शादी हो चुकी थी, मेरी लड़की की आगे की शिक्षा का सिलसिला ठीक बैठ गया था। मैंने भी अपनी घर-गृहस्थी की और कई आर्थिक मुश्किलों को हल कर लिया और कई घरेलू मामले, जिनको मैं अर्से से भुला रहा था, सुलझा लिये थे। और सार्वजनिक मामलों में तो, मैं जानता था कि उस समय किसी के लिए भी कुछ विशेष कर लेना सहज न था। हाँ, मैंने कांग्रेस की ताक़त को मज़बूत कर उसका रुख़ सामाजिक और आर्थिक विचारों के मार्ग की ओर मोड़ने में ज़रूर कुछ मदद की। गांधीजी के साथ मेरे पूना का पत्र-व्यवहार और बाद में अख़बारों में निकले मेरे लेखों ने हालत को कुछ बदल दिया था। साम्प्रदायिक मसले पर भी मेरे लेखों ने कुछ असर ही किया। इसके अलावा, दो बरस से ज़्यादा अर्से के बाद मैं गांधीजी और दूसरे मित्रों और साथियों से भी मिल लिया और कुछ समय तक काम करने के लिए दिली व दिमाग़ी शक्ति जुटा ली थी।

पर मेरे मन को दुःखी करनेवाली एक घटना तो अब भी बाक़ी थी और वह थी कमला की बीमारी। मुझे उस वक्त तक उसकी बीमारी की गहराई का अन्दाज़ा न था, क्योंकि उसकी आदत थी कि जबतक वह बिस्तर न पकड़ लेती तबतक काम में अपनी बीमारी को भुलाती ही रहती। लेकिन मुझे बड़ी फ़िक्र थी। इसपर भी मुझे उम्मीद थी कि अब मेरे जेल चले जाने के बाद तो वह मन लगाकर अपना इलाज करायेगी। मेरे बाहर रहने पर वह कुछ-कुछ कठिन था, क्योंकि वह मुझे ज़्यादा समय के लिए अकेला छोड़ने को सहसा तैयार नहीं होती थी।

लेकिन एक और बात का भी मुझे दुःख रह गया था। वह यह था कि इलाहाबाद ज़िले के गाँवों में मैं एक बार भी दौरा न कर सका था। मेरे कई नवयुवक साथी हमारी नीति पर कार्य करते हुए गिरफ़्तार हो गये थे। इस कारण उनके बाद गांवों की ख़बर न लेना मुझे एक तरह से उनके प्रति बेवफ़ा-सा होना मालूम होता था।

काली मोटर लॉरी ने मुझे फिर जेल में पहुँचा दिया। रास्ते में कई फ़ौजी सिपाही मशीनगनों, फ़ौजी गाड़ी (आर्मर्ड-कार) वग़ैरा के साथ मार्च करते

हुए मिले। जेल की लॉरी के छोटे सूराख़ों में से मैंने उनकी ओर देखा। मेरे दिल में ख़याल आया कि फ़ौजी गाड़ी और टैंक[1] कितने भद्दे होते हैं। उन्हें देखकर मुझे इतिहास से पूर्वकाल के दानवों, अजगरों इत्यादि का स्मरण हो आया।

मेरा तबादला प्रेसीडेन्सी जेल से अलीपुर सेन्ट्रल जेल में हो गया और वहाँ मुझे एक दस फ़ुट लम्बी और नौ फ़ुट चौड़ी छोटी-सी कोठरी दी गयी। इस कोठरी के सामने एक बरामदा और छोटा-सा सहन था। सहन की चहार-दीवारी नीची, क़रीब सात फुट की थी और उसपर से झाँककर देखने पर मेरे सामने एक अजीब दृश्य दिखायी दिया। सब तरह की बेढंगी इमारतें, इक-मंज़िली, गोल, चौकोर और अजीब छतोंवाली खड़ी थीं। कई तो एक के ऊपर एक नज़र आती थीं। ऐसा मालूम होता था कि ये सब इमारतें बेतरतीब, ज़मीन का एक-एक कोना-कोना भरने के लिए बनायी गयी थीं। यह बनावट मुझे तो किसी घरोंदे की भूल-भुलैयाँ या किसी भविष्यवादी की हवाई रचना-सी मालूम होती थी। मुझे बताया गया कि ये इमारतें बड़े सिलसिले से बनी हुई हैं, बीच में एक मीनार है (जो ईसाई क़ैदियों का गिर्जा है) और उसके चारों तरफ़ घरों की लाइनें हैं। चूँकि यह जेल शहर में था, इस वजह से ज़मीन बहुत परिमित थी और उसका छोटे-से-छोटा टुकड़ा भी काम में लाये बिना छोड़ा नहीं जा सकता था।

मैं अभी इस भोंडे दृश्य को देखकर नज़र हटा ही रहा था, कि मुझे एक दूसरा डरावना दृश्य दीख पड़ा। मेरी कोठरी और सहन के ठीक सामने दो चिमनियाँ खड़ी दिखायी दीं, जिनमें से लगातार गहरा काला धुआँ निकल रहा था, जिसकी हवा कभी-कभी मेरी तरफ़ आकर मेरा दम घोटने लगती थी। ये जेल के बावर्चीख़ानों की चिमनियाँ थीं। मैंने बाद में जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट से कहा कि इस मुसीबत से मुझे बचाने के वास्ते चिमनियों पर 'गैस मास्क'[2] लगा दें।

यह शुरूआत ही अच्छी न थी और न इसके आइन्दा अच्छा होने की ही उम्मीद थी—वही अलीपुर-जेल की अपरिवर्तनीय लाल ईंटों की इमारतों का दृश्य, और वही बावर्चीख़ानों की चिमनियों का धुआं रात-दिन सांस से मुँह में जाना, सामने था। मेरे सहन में पेड़ या हरियाली कुछ न थी। वह यों तो पत्थरों का पक्का और साफ़ बना हुआ था, पर रोज़-रोज़ धुआँ जम जाने की

---

[1] सब प्रकार के युद्ध-साधनों से सज्जित ज़बरदस्त फ़ौलादी मोटर।—अनु०

[2] दुश्मन की तरफ से ज़हरीली हवावाले बम गोलों से रक्षा करने के लिए जो मुँह पर एक तरह का बुरका डाल दिया जाता है उसे 'गैस-मास्क' कहते हैं।

—अनु०

वजह से बड़ा भद्दा और बदनुमा मालूम होता था। वहीं से पड़ोसवाले सहनों के एक-दो दरख्तों के ऊपर के सिरे कुछ-कुछ नज़र आते थे। मेरे जेल में पहुँचने पर वे दरख्त बिना पत्ते और फूलों के ठूँठ-से खड़े थे, पर धीरे-धीरे उनमें एक अजीब तबदीली होनी शुरू हुई और सब शाखाओं में हरी-हरी कोंपलें निकलने लगीं। कोंपलों में से पत्ते निकले और बड़ी जल्दी बढ़कर उन्होंने नंगी शाखाओं को खुशनुमा हरियाली से ढक दिया। यह तबदीली बड़ी सुखद मालूम हुई और अलीपुर-जेल भी खुशनुमा हो गयी।

इनमें से एक पेड़ में चील का घोंसला था। इसमें मुझे दिलचस्पी पैदा हुई और मैं बड़े चाव से उसे देखा करता था। छोटे-छोटे बच्चे बढ़-बढ़कर उड़ने की अपनी पैतृक कला सीख गये। कभी-कभी तो ऐसी हैरत में डालनेवाली होशियारी से उड़कर झपटते कि सीधे किसी क़ैदी के हाथ या मुँह में से रोटी का टुकड़ा झपट लेते।

क़रीब-क़रीब शाम से सुबह तक हमें अपनी कोठरी में बन्द रहना पड़ता था और जाड़े की लम्बी रातें काटे नहीं कटती थीं। घण्टों पढ़ते-पढ़ते थककर मैं अपनी कोठरी में इधर-से-उधर टहलना शुरू कर देता, चार-पांच क़दम आगे बढ़कर फिर लौटना पड़ता। उस वक़्त मुझे चिड़ियाघर में रीछ के अपने पिंजरे में इधर-से-उधर चक्कर काटने का दृश्य याद आ जाता था। कभी-कभी जब मैं बहुत ऊब उठता तो अपना प्रिय शीर्षासन करने लगता था।

रात का पहला पहर तो काफ़ी शान्त होता था; केवल शहर की मुख्तलिफ़ आवाज़ें—ट्राम, ग्रामोफोन या दूर से किसी के गाने की लहर—धीरे-धीरे पहुंचती थी। दूर से आते हुए धीमे गानों की यह आवाज़ मधुर मालूम पड़ती थी। पर रात में चैन नहीं था, क्योंकि जेल के पहरेदार इधर-उधर टहलते रहते थे और हर घण्टे कोई-न-कोई मुआयना होता रहता था। लालटेन हाथ में लिये कोई अफ़सर यह देखने आता कि कोई क़ैदी भाग तो नहीं गया है। हर रोज़ तीन बजे रात से बड़ा शोर-गुल मचता और बर्तन घिसने व मांजने की आवाज़ आती। उस वक़्त रसोई में काम शुरू हो जाता था।

प्रेसिडेन्सी-जेल के जैसी अलीपुर-जेल में भी एक बड़ी तादाद वार्डरों तथा पहरेदारों, अफ़सरों और क्लर्कों की थी। इन दोनों जेलों की आबादी मिलाकर नैनी-जेल की आबादी (२२००-२३००) के बराबर थी, परन्तु कर्मचारियों की तादाद इन हरेक जेल में नैनी-जेल से दुगुनी से भी ज़्यादा थी। इनमें कई अँग्रेज़ वार्डर और पेन्शनयाफ़्ता फ़ौजी अफ़सर भी थे। इससे यह एक बात तो साफ़ ज़ाहिर होती थी कि अँग्रेज़ी शासन युक्तप्रान्त के बजाय कलकत्ता में ज़्यादा कठोर और ख़र्चीला है। किसी बड़े अफ़सर के पहुँचने पर जो नारा सब क़ैदियों को लगाना पड़ता था वह साम्राज्य की ताक़त का एक और याददिहानी था। यह नारा था "सरकार सलाम", जो लम्बी आवाज़ में

और बदन की कुछ ख़ास हरकत के साथ लगाना पड़ता था। मेरे सहन की चहारदीवारी पर से क़ैदियों के इस नारे की आवाज़ दिन में कई मर्तबा, और ख़ासकर सुपरिण्टेण्डेण्ट के मुआयने पर हमेशा, आती थी। अपने सहन की ७ फुट ऊँची दीवार पर से मैं उस 'शाही छत्र' के ऊपरी भाग को देख सकता था जिसके साये में सुपरिण्टेण्डेण्ट गश्त लगाता था।

मैं हैरत में आकर सोचने लगा कि क्या यह अजीब नारा 'सरकार सलाम' और उसके साथ की जानेवाली बदन की वह हरकत किसी पुराने ज़माने की यादगार है या किसी मनचले अँग्रेज़ अफ़सर की ईजाद है? मुझे पता तो नहीं पर मेरा क़यास है कि यह अंग्रेज़ों की ईजाद है। इसमें एक ख़ास क़िस्म के एंग्लो-इण्डियनपन की बू आती है। ख़ुशक़िस्मती से इस नारे का रिवाज बंगाल और आसाम के सिवा युक्तप्रान्त या शायद हिन्दुस्तान के दूसरे सूबों में नहीं है। 'सरकार' की शान को क़ायम रखने के लिए जिस तरीक़े से इस सलामी पर ज़ोर दिया जाता है, वह मुझे असल में बड़ा ज़लील करनेवाला मालूम होता है।

अलीपुर-जेल में एक नयी बात देखकर तो मुझे ख़ुशी हुई। यहाँ के साधारण क़ैदियों का खाना युक्तप्रान्त के जेलों के खाने से कहीं अच्छा था। जेल खाने के मामले में तो युक्तप्रान्त दूसरे कई सूबों से पिछड़ा हुआ है।

सुहावनी शरद्-ऋतु जल्द बीत गयी, बसन्त भी भागता हुआ-सा निकल गया, और गर्मी आ पहुँची। दिन-दिन गर्मी बढ़ती गई। मुझे कलकत्ते की आबहवा कभी पसन्द न थी, और कुछ दिनों के वहाँ रहने ने ही मुझे निस्तेज और उत्साह-हीन बना दिया। जेल में तो हालत कुदरती तौर पर और भी बुरी होती है। समय बीतता गया और मेरी हालत में कोई तरक़्क़ी नहीं हुई। शायद कसरत के लिए जगह की कमी होने और आबहवा में कई घंटों कोठरी में बन्द रहने से मेरी सेहत कुछ फिर गयी और मेरा वज़न तेज़ी से घटने लगा। मुझे तालों, चटख़नियों, सीख़चों और दीवारों से नफ़रत-सी होने लग गयी।

अलीपुर-जेल में एक महीना रहने के बाद मुझे अपने सहन के बाहर कुछ कसरत करने की सहूलियत दी गयी। यह तबदीली मुझे पसन्द आयी और मैं सुबह-शाम जेल की बड़ी दीवार के सहारे घूमने लगा। धीरे-धीरे मैं अलीपुर-जेल और कलकत्ता की आबहवा का आदी हो गया और रसोईघर भी, मय उसके धुँए और शोर-गुल के, बर्दाश्त करने लायक बुराई हो गयी। इस अर्से में मेरे लिए नये-नये मसले खड़े हुए और नयी परेशानियाँ तंग करने लगीं। बाहर की ख़बरें भी अच्छी नहीं थीं।

६०

पूरब और पच्छिम में लोकतन्त्र

अलीपुर-जेल में जब मुझे मालूम हुआ कि सज़ा होने के बाद मुझे कोई रोज़ाना अख़बार नहीं मिलेगा, तब मुझे बड़ा अचम्भा हुआ। जबतक मेरा मुक़दमा चलता रहा तबतक तो मुझे कलकत्ता का दैनिक—'स्टेट्समैन' मिलता रहा, लेकिन मुक़दमा ख़त्म होने के बाद दूसरे ही दिन से वह बन्द कर दिया गया। युक्तप्रान्त में तो १९३२ से 'ए' क्लास या पहले डिवीज़न के क़ैदियों को सरकार की पसन्द का एक दैनिक अख़बार हमेशा मिलता था। बाक़ी के दूसरे सूबों में भी ज़्यादातर यही बात है। और मैं बिलकुल इसी ख़याल में था कि यही क़ानून बंगाल के लिए भी लागू होगा। लेकिन वहाँ मुझे दैनिक 'स्टेट्स-मैन' के बजाय साप्ताहिक 'स्टेट्समैन' दिया गया। यह तो स्पष्ट ही है कि यह अख़बार उन अंग्रेज़ों के लिए निकलता है जो हिन्दुस्तान में हाकिमी या रोज़-गार करने के बाद वापस इंग्लैण्ड पहुँच जाते हैं। इसलिए इस अख़बार में हिन्दुस्तान की उन ख़बरों का सार रहता है, जिनमें उनकी दिलचस्पी होती है। इस साप्ताहिक में विदेशों की ख़बरें बिलकुल नहीं होती थीं। उनका न होना मुझे बहुत ही अखरता था, क्योंकि मैं उनको सिलसिलेवार पढ़ते रहना चाहता था। ख़ुशक़िस्मती से मुझे साप्ताहिक 'मैञ्चेस्टर गार्जियन' अख़बार भी मिलने लगा था, जिससे मुझे यूरप के और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों की जानकारी हो जाती थी।

फ़रवरी में जब मैं गिरफ़्तार हुआ और जब मुझपर मुक़दमा चला तभी यूरप में बड़ी उथल-पुथल और झगड़े हुए। फ़्रांस में भारी खलबली मची, जिसमें फ़ासिस्टों ने दंगे किये और उसकी वजह से राष्ट्रीय सरकार क़ायम हुई। इससे भी बुरी बात यह थी कि आस्ट्रिया का चांसलर डॉलफस मज़दूरों पर गोलियाँ चलवा रहा था, और सामाजिक लोकतन्त्र के विशाल-भवन को ढा रहा था। आस्ट्रिया में होनेवाली ख़ून-ख़राबी की ख़बर सुनकर मुझे बड़ा दुःख हुआ। यह दुनिया कैसी बुरी और ख़ूनी जगह है और इन्सान भी अपने स्थापित स्वार्थों की हिफ़ाज़त करने के लिए कैसा बर्बर बन जाता है? ऐसा मालूम पड़ता था कि तमाम यूरप और अमेरिका में फ़ासिज़्म का ज़ोर बढ़ता जाता है जब जर्मनी में हिटलर का आधिपत्य हुआ तब मुझे यह मालूम होता था कि उसकी हुकू-मत ज़्यादा दिनों तक नहीं चल सकेगी, क्योंकि उसने जर्मनी की आर्थिक कठिनाइयों का कोई हल पेश नहीं किया गया था। इसी तरह जब दूसरी जगह भी फ़ासिज़्म फैला तब भी, मैंने अपने मन को यह सोचकर सान्त्वना दी कि यह प्रतिक्रिया की आख़िरी मंज़िल है; इसके बाद सब बन्धन टूट जायँगे। लेकिन मैं अब यह सोचने लगा, कि मेरा यह ख़याल कहीं मेरी ख़्वाहिश से ही

तो नहीं पैदा हुआ ? क्या सचमुच यह बात इतनी साफ़ दिखायी देती है कि फ़ासिज़्म की यह लहर इतनी आसानी से या इतनी जल्दी पीछे लौट जायगी ? यदि ऐसी हालत पैदा हो गयी, जो फ़ासिस्ट डिक्टेटरों के लिए असह्य हो, तो क्या वे 'हुकूमत की बागडोर को छोड़ देने के बदले' अपने देशों को सत्यानाशी लड़ाई में न जुटा देंगे ! ऐसी लड़ाई का नतीजा क्या होगा ?

इस बीच में फ़ासिज़्म कई किस्मों और तरह-तरह की शक्लों में फैलता गया। स्पेन—वह 'ईमानदार लोगों का नया प्रजातन्त्र' जिसे किसीने सरकारों का ख़ास 'मैञ्चेस्टर गार्जियन' कहा था—बहुत पीछे जाकर प्रतिक्रिया के गड्ढे में जा पड़ा था। स्पेन के लिबरल नेताओं के मनोहर शब्द और भली-भली बातें देश की अधोगति न रोक सकीं। हर जगह मौजूदा हालतों का मुक़ाबला करने में लिबरल-नीति बिलकुल बेकार साबित हुई है। यह दल शब्दों और वाक्यों से चिपटा रहता है और समझता है कि बातें काम की जगह ले सकती हैं। इसीलिए जब कभी नाज़ुक वक़्त आता है तब वह उसी तरह आसानी से ग़ायब हो जाता है जैसे सिनेमा के अन्त में तसवीर।

आस्ट्रिया के दुःखान्त नाटक के बारे में 'मैञ्चेस्टर गार्जियन' के अग्रलेखों को मैं बड़ी दिलचस्पी के साथ पढ़ता था और उनकी क़द्र भी करता था। "और इस ख़ूनी लड़ाई के बाद किस रूप में आस्ट्रिया हमारे सामने आया ? एक ऐसा आस्ट्रिया जिस पर यूरप का सबसे ज़्यादा प्रतिक्रियावादी दल राइफलों और मशीनगनों से हुकूमत कर रहा है।" "अगर इंगलैण्ड आज़ादी का हामी है तो उसके प्रधान मन्त्री का मुँह इतना बन्द क्यों है ? डिक्टेटरशाहियों की उन्होंने जो तारीफ़ें की हैं वे हमने सुनी हैं, हमने उन्हें यह कहते हुए सुना है कि डिक्टेटरी 'क़ौम की आत्मा को ज़िन्दा रखती है' और 'एक नया जलवा और नयी ताक़त पैदा करती है।' लेकिन इंगलैण्ड के प्रधान मन्त्री को उन ज़ुल्मों की बाबत भी तो कुछ कहना चाहिए, जो, चाहे वे किसी भी देश में हों, यद्यपि शरीर का नाश करते हैं, किन्तु उससे कहीं अधिक बार आत्मा को बुरी मौत मारते हैं।"

लेकिन अगर 'मैञ्चेस्टर गार्जियन' आज़ादी का एक ऐसा हामी है, तो क्या वजह है कि जब हिन्दुस्तान में आज़ादी को कुचला जाता है तब उसका मुँह बन्द हो जाता है ? हम लोगों को भी तो न सिर्फ़ शारीरिक तकलीफ़ें उठानी पड़ी हैं बल्कि उससे भी बदतर आत्मा के कष्ट भी झेलने पड़े हैं।

"आस्ट्रिया का लोकतन्त्र नष्ट कर दिया गया है, यद्यपि उसके लिए यह बात हमेशा गौरव की रहेगी कि वह मरते दम तक लड़ा और इस तरह उसने एक ऐसी कहानी पैदा कर दी, जो आगे आनेवाले बरसों में किसी दिन यूरोपीय आज़ादी की आत्मा को फिर जगा देगी।"

"यूरोप ने, जो कि आज़ाद नहीं है, साँस लेना बन्द कर दिया है, अब उसमें

स्वस्थ भावनाओं का संचार नहीं होता, धीरे-धीरे उसका दम घुटने लगा है और उसकी जो मानसिक बेहोशी नज़दीक आ रही है उसे सिर्फ़ तेज़ झकझोरों या भीतरी दौरों और दाहिने, बायें, हर तरफ़ ज़ोर के वार करने से ही बचाया जा सकता है.......। राइन नदी से लेकर यूराल पहाड़ तक यूरप एक जेलखाना बना हुआ है।"

ये वाक्य कैसे हृदय-ग्राही थे! मेरे दिल में इनकी प्रतिध्वनि होती थी; लेकिन साथ ही मैं सोचता, कि हिन्दुस्तान की बाबत क्या है? यह कैसे हो सकता है कि 'मैञ्चेस्टर गार्जियन' या इंगलैण्ड में जो बहुत-से आज़ादी के दीवाने हैं वे हमारी हालत से इतने उदासीन रहते हैं? दूसरी जगह जिन बातों की वे इतने ज़ोरों से निन्दा करते हैं, जब वही बातें हिन्दुस्तान में होती हैं, तो उनकी तरफ़ वे क्यों नहीं देखते? बीस बरस हुए, महायुद्ध शुरू होने से कुछ ही पहले, अंग्रेज़ों के एक बड़े लिबरल नेता ने, जो उन्नीसवीं सदी की परम्परा में पले थे, स्वभाव से फूँक-फूँककर क़दम रखते थे और अपनी भाषा पर संयम रखते थे, यह कहा था कि "इससे पहले कि क़ानून पर ताक़त की दुःखदायी जीत को मैं चुपचाप देखूँ, मैं यह देखना पसन्द करूँगा कि हमारे इस देश का उल्लेख इतिहास के पन्ने से हटा दिया जाय।" कितना बहादुराना ख़याल है; और कैसे धारा-प्रवाह ढंग से कहा गया है! इंग्लैण्ड के बहादुर नौजवान लाखों की तादाद में इस ख़याल को पूरा करने के लिए लड़ाई के मैदान में गये। लेकिन अगर कोई हिन्दुस्तानी मि० एस्क्विथ के समान बयान देने की हिम्मत करे, तो उसका क्या हाल होगा?

राष्ट्रीय मनोवृत्ति बहुत ही जटिल होती है। हममें से ज़्यादातर लोग यह समझते हैं कि हम बड़े न्यायी और निष्पक्ष हैं। हमेशा ग़लती दूसरा शख़्स या दूसरा मुल्क ही करता है। हमारे दिमाग़ में कहीं-न-कहीं यह इत्मीनान छिपा रहता है कि हम वैसे नहीं हैं जैसे दूसरे लोग हैं, हममें और दूसरों में ज़रूर फ़र्क़ है—यह दूसरी बात है कि शराफ़त की वजह से हम बराबर उस बात को न कहें। अगर ख़ुशक़िस्मती से हम किसी ऐसी शाही क़ौम के होते जो दूसरे मुल्कों के भाग्य की विधाता हो, तब तो हमारे लिए यह इत्मीनान न करना भी मुश्किल हो जाता कि हमारी सर्वोत्तम दुनिया में सभी बातें सर्वोत्तम हैं, और जो लोग क्रान्ति के लिए आन्दोलन करते हैं वे केवल स्वार्थी और भ्रम में पड़े हुए बेवकूफ़ ही नहीं हैं बल्कि हमसे अनेक लाभ प्राप्त करके भी कृतघ्नता दिखानेवाले हैं।

अंग्रेज़ टापू में रहनेवाली और संकुचित दृष्टिवाली जाति है और इतनी मुद्दत तक की कामयाबी और ख़ुशहाली ने उसे इतना घमंडी बना दिया है कि अंग्रेज़ क़रीब-क़रीब दूसरी सब क़ौमों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। जैसा कि किसीने कहा है, 'उनकी राय में इंग्लैण्ड के समुद्र से आगे हबशी-ही-हबशी

रहते हैं।' लेकिन यह तो एक बिलकुल साधारण बात है। शायद ब्रिटिश क़ौम के ऊँचे दर्जे के लोग दुनिया को ऊँच-नीच के हिसाब से इस तरह बाँटेंगे—(१) सबसे पहले ब्रिटेन, इसके बाद बहुत दूर तक कुछ नहीं, फिर (२) ब्रिटिश उपनिवेश—इनमें भी सिर्फ़ सफ़ेद चमड़ीवाले और अमेरिका (सिर्फ़ ऐंग्लो-सेक्सन अमेरिका—डागो, इटेलियन वग़ैरा, नहीं), (३) पश्चिमी यूरप (४) बाक़ी यूरप (५) दक्षिणी अमेरिका (लेटिन क़ौम); और फिर बहुत दूर तक कोई नहीं। इसके बाद और सबसे नीचे के नम्बर पर एशिया और अफ्रीकाकी काली-पीली, भूरी क़ौमों के आदमी, जो कम-बढ़कर सब एक ही बोरे में भर दिये जा सकने योग्य समझे जाते हैं।

इस निम्नतम दर्जे में हम लोग उस ऊँचाई से कितनी दूर हैं, जिसपर हमारे शासक रहते हैं? ऐसी हालत में क्या यह कोई अचरज की बात है कि जब वे उतनी ऊँचाई से हमारी तरफ़ देखते हैं तब उनकी नज़र धुँधली हो जाती है, और जब हम लोकतन्त्र और आज़ादी की बातें करते हैं तब वे हमसे चिढ़ते हैं? ये शब्द हमारे इस्तेमाल के लिए थोड़े ही गढ़े गये थे! क्या यह बात एक बड़े लिबरल राजनीतिज्ञ जॉन मार्ले ने नहीं कही थी कि वह बहुत दूर के धुँधले भविष्य में भी इस बात की कल्पना तक नहीं कर सकते कि हिन्दुस्तान में लोकतन्त्रीय संस्थाएं क़ायम होंगी? हिन्दुस्तान के लिए लोकतन्त्र ऐसा ही है, जैसा कनाडा के लिए फरों का बहुत गरम कोट[1]। और इसके बाद उस मज़दूर दल ने, जो समाजवाद का झंडा लिये फिरता था, सब पद-दलित लोगों का हिमायती बनता था, अपनी जीत की पहली ख़ुशी मे हमें सन् १९२४ के बंगाल-आर्डिनेन्स को फिर से जारी करने का इनाम दिया, और उसके दूसरे शासन-काल में हमारा हाल और भी बुरा रहा। मुझे इस बात का पूरा भरोसा है कि उनमें से कोई हमारा बुरा नहीं चीतता और जब वे लोग हमें अपने, व्याख्याता के, सर्वोत्तम ढंग से 'परम प्रिय विश्वबन्धु' कहकर पुकारते हैं तब वे अपनी कर्त्तव्यपरायणता पर अपने को कृतकृत्य समझते हैं। लेकिन उनकी राय में हम उतने ऊँचे नहीं हैं, जितने कि वे ख़ुद हैं, अतः उनके विचार में दूसरे पैमानों से ही हमारी जाँच होनी चाहिए। भाषा और सांस्कृतिक भेद-भावों के कारण अंग्रेज़ और फ्रांसीसी के लिए यह काफ़ी मुश्किल है कि वे एक ही तरह से सोचें। ऐसी हालत में एक एशियाई में और एक अँग्रेज़ में तो और भी ज़्यादा फ़र्क़ होगा।

हाल ही में, हाउस आफ़ लार्ड्स में, हिन्दुस्तान को दिये जानेवाले शासन-सुधारों के प्रश्न पर बहसें हो रही थीं और अनेक सम्माननीय लॉर्डों ने उस बहस में बहुत-से विचारपूर्ण व्याख्यान दिये। इनमें एक थे लॉर्ड लिटन, जो हिन्दुस्तान के एक सूबे में गवर्नर रह चुके थे और कुछ समय के लिए जिन्होंने वाइसराय

[1] यानी उसकी-आबोहवा के लिए ख़िलाफ़।—अनु०

की हैसियत से भी काम किया था। अक्सर कहा जाता है कि वह एक उदार और हिन्दुस्तान से सहानुभूति रखनेवाले गवर्नर थे। उनके व्याख्यान की रिपोर्ट के अनुसार, उन्होंने कहा कि "भारत-सरकार कांग्रेसी नेताओं की बनिस्बत सारे हिन्दुस्तान की कहीं अधिक प्रतिनिधि है। वह हिन्दुस्तान के हाकिमों की, फ़ौज की, पुलिस की, राजाओं की, लड़नेवाले रजीमेण्टों की और हिन्दू तथा मुसलमान दोनों की तरफ़ से बोल सकती है, जबकि कांग्रेस के नेता हिन्दुस्तान की बड़ी क़ौमों में से किसी एक क़ौम की तरफ़ से भी नहीं बोल सकते।" इतना कहने के बाद उन्होंने आगे चलकर अपना आशय और भी स्पष्ट किया—"जब मैं हिन्दुस्तानियों की बात कहता हूँ, तब मैं उन लोगों का ख़याल करता हूँ, जिनके सहयोग का मुझे भरोसा करना पड़ा था और जिनके सहयोग पर भावी गवर्नरों और वाइसरायों को भरोसा करना पड़ेगा।"[1]

उनके इस भाषण से दो दिलचस्प बातें निकलती हैं—एक तो यह कि उनके विचार में जो हिन्दुस्तान किसी गिनती में है वह तो वही है जो ब्रिटिश सरकार की मदद करता है; और दूसरे, ब्रिटिश सरकार हिन्दुस्तान में सबसे ज़्यादा प्रतिनिधि-स्वरूप और इसलिए सबसे ज़्यादा लोकतन्त्रीय संस्था है। इस दलील का इतनी संजीदगी से दिया जाना यह ज़ाहिर करता है कि अंग्रेज़ी के शब्द स्वेज़ नहर से पार होते ही अपना अर्थ बदल देते हैं। इस तरह की दलील का दूसरा और साफ़ मतलब यह होगा कि स्वेच्छाचारी सरकार ही सबसे ज़्यादा प्रातिनिधिक और लोकतन्त्रीय स्वरूप की होती है, क्योंकि बादशाह सबका प्रतिनिधित्व करता है। इस तरह हम फिर लौट-फिरकर बादशाह के ईश्वरीय अधिकार पर पहुंच जा सकते हैं। स्वेच्छाचार-शिरोमणि फ्रेंच-सम्राट् लुई चौदहवें ने भी तो कहा था न कि "राज्य—राज्य तो मैं ही हूँ, मैं!"

सच बात तो यह है कि हाल में विशुद्ध स्वेच्छाचार को भी एक नामी समर्थक मिल गया है। इण्डियन सिविल सर्विस के आभूषण सर माल्कम हेली ने, ५ नवम्बर १९३४ को बनारस में युक्तप्रान्त के गवर्नर की हैसियत से बोलते हुए कहा था कि देशी रियासतों में स्वेच्छाचारिता ही रहनी चाहिए। इस सलाह की ऐसी कोई ज़रूरत न थी, क्योंकि कोई भी हिन्दुस्तानी रियासत अपनी खुशी से स्वेच्छाचारिता को नहीं छोड़ेगी। इसी कोशिश में एक और दिलचस्प तरक़्क़ी यह हुई है कि, यूरप में लोकतन्त्र के ना-कामयाब होने के आधार पर इस स्वेच्छाचारिता को क़ायम रखने की बात कही जाती है। मैसूर के दीवान सर मिर्ज़ा इस्माइल ने इस बात पर अपना आश्चर्य प्रकट किया, कि "एक तरफ़ जबकि हर जगह पार्लमेण्टरी लोकतन्त्र ना-कामयाब हो रहा है, दूसरी तरफ़ क्रान्तिकारी सुधारों की वकालत की जाती है।" "मुझे विश्वास है कि हमारे

[1]हाउस ऑफ़ लॉर्ड्स, १७ दिसम्बर १९३४।

राज्य की अन्तरात्मा यह महसूस करती है कि हमारा मौजूदा विधान क़रीब-क़रीब असली राजनैतिक कामों के लिए काफ़ी लोकतन्त्रीय है।"[1] मेरे ख़याल में मैसूर की 'अन्तरात्मा' वहाँ के शासक और दीवान की दार्शनिक भावना है। मैसूर में इन दिनों जो लोकतन्त्र जारी है, वह स्वेच्छाचार से किसी क़दर भिन्न नहीं है।

अगर लोकतन्त्र हिन्दुस्तान के लिए मौज़ू नहीं है, तो ऐसा मालूम पड़ता है कि वह मिस्र के लिए भी उतना ही बेमौज़ू है। इन दिनों जेल में मुझे दैनिक 'स्टेट्समैन' दिया जाता है। उसमें मैंने मिस्र की राजधानी कैरो से भेजा हुआ लेख अभी हाल ही पढ़ा है।[2] इस लेख में कहा गया है कि वहाँ के प्रधान-मन्त्री नसीमपाशा के "इस ऐलान ने, कि उन्हें 'यह उम्मीद है कि तमाम राजनैतिक पार्टियाँ, ख़ासतौर पर वफ़्द-पार्टी सहयोग करेगी, और एक होकर या तो राष्ट्रीय परिषद् करके या विधान-पञ्चायत का चुनाव करके उनके ज़रिये नया विधान तैयार करायेंगी', ज़िम्मेदार लोगों में कुछ कम भय पैदा नहीं किया है; क्योंकि आख़िर इसके मानी यह होते हैं कि लोकतन्त्रीय सरकार फिर से क़ायम हो जाय, जो, इतिहास ज़ाहिर करता है, मिस्र के लिए हमेशा ख़तरनाक साबित हुई है, क्योंकि उसकी प्रवृत्तियाँ पिछले ज़माने में हमेशा दुःखड़पन से दब जाने की रही हैं। मिस्र की आन्तरिक राजनीति और उनकी प्रजा की जानकारी रखनेवाले किसी भी शख़्स को क्षणभर के लिए भी इस बात में कोई शक नहीं हो सकता कि चुनाव का नतीजा यह होगा कि फिर वफ़्द-पार्टी का बहुमत हो जाय। इसलिए इस कार्रवाई को रोकने का बहुत जल्द प्रयत्न न किया गया तो हमपर बहुत जल्दी ऐसा शासन आ जायगा जो घोर उग्र लोकतन्त्रीय, विदेशियों का विरोधी और क्रान्तिकारी होगा।"

यह भी यह कहा गया है कि चुनाव में "वफ़्द-पार्टी का मुक़ाबला करने के लिए" शासकों पर प्रभाव डालना चाहिए, लेकिन बदक़िस्मती यह है कि "प्रधान-मन्त्री को क़ानून की पाबन्दी का बहुत ख़याल रहता है।" इसलिए हमसे कहा गया है कि अब सिर्फ़ एक ही रास्ता रह जाता है और वह यह कि ब्रिटिश सरकार बीच में पड़े और "यह बात सब को ज़ाहिर कर दे कि वह इस क़िस्म के शासन का फिर से क़ायम होना बर्दाश्त नहीं करेगी।"

ब्रिटिश सरकार क्या करेगी या क्या नहीं करेगी और मिस्र में क्या होगा, मुझे कुछ पता नहीं।[3] लेकिन शायद आज़ादी के दीवाने एक अंग्रेज़-द्वारा पेश की गयी दलील से हमें मिस्र और हिन्दुस्तान की हालत की जटिलता को

---

[1] मैसूर : २१ जून १९३४। पृष्ठ ७२४ का भी नोट देखिए।

[2] १४ दिसम्बर १९३४।

[3] नवम्बर १९३५ में मिस्र पर अंग्रेज़ों के अधिकार के खिलाफ़ मुल्क-भर में दंगे हुए थे।

समझने में थोड़ी मदद ज़रूर मिलती है। जैसा कि 'स्टेट्समैन' ने एक अग्रलेख में कहा है—"मूल बुराई तो यह है कि ज़िन्दगी के जिस तरीक़े से और दिमाग़ के जिस रुख़ से लोकतन्त्र का विकास होता है उससे साधारण मिस्री वोटर की ज़िन्दगी के तरीक़े और उसके दिमाग़ के रुख़ का मेल नहीं मिलता।" इस मेल के न मिलने की मिसाल भी आगे दी गयी है। "यूरप में अक्सर लोकतन्त्र इसलिए ना-कामयाब हुआ है कि वहां बहुत-से दल क़ायम हो गये हैं। लेकिन मिस्र की मुश्किल तो यह है कि वहाँ सिर्फ़ एक वफ़्द-पार्टी ही है।"

हिन्दुस्तान में हमसे कहा जाता है कि हमारा साम्प्रदायिक भेदभाव हमारी लोकतन्त्र की तरक़्क़ी का रास्ता रोकता है और इसीलिए अकाट्य तर्क के साथ इन भेदभावों को हमेशा स्थायी बनाया जाता है। हमसे यह भी कहा जाता है कि हम लोगों में काफ़ी एका नहीं है। मिस्र में किसी क़िस्म का साम्प्रदायिक भेदभाव नहीं है और ऐसा मालूम पड़ता है कि वहां पूर्ण राजनैतिक एका मौजूद है। लेकिन वहां यही एकता उसके लोकतन्त्र और उसकी स्वाधीनता के रास्ते का रोड़ा बन जाती है। सचमुच लोकतन्त्र का रास्ता सीधा और तंग है। पूर्वी देशों के लिए लोकतन्त्र का सिर्फ़ एक ही अर्थ है, और वह यह कि साम्राज्यवादी शासकसत्ता जो हुक्म दे उसे बजा लाया जाय और उसके किसी भी स्वार्थ में हाथ न डाला जाय। इन शर्तों के मान लेने पर लोकतन्त्रीय स्वाधीनता वहां भी बे-रोक टोक फूल-फल सकती है।

६१

नैराश्य

"अब तो यही लालसा है मां, जाऊँ आकुल लेट वहां,
ठंडी-ठंडी मधुर मनोरम हरियाली हो बिछी जहां;
मां धरणी! चरणों पर तेरे निपट निराश-अधीन,
थके हुए इस बालक के वे स्वप्न सभी हो गये विलीन।"[1]

अप्रैल आ गया। अलीपुर में, मेरी कोठरी में, मेरे पास बाहर की घटनाओं की बाबत अफ़वाहें पहुँचीं—ऐसी अफ़वाहें जो दुःख और बेचैनी पैदा करनेवाली थीं। एक दिन जेल में सुपरिण्टेण्डेण्ट ने मुझे इत्तला दी कि गांधीजी ने सत्याग्रह की लड़ाई वापस ले ली है। मुझे इससे ज़्यादा कुछ मालूम नहीं हो सका। मुझे यह ख़बर अच्छी नहीं लगी और जिस चीज़ को मैं इतने बरसों से इतना चाहता था उसको इस तरह वापस ले लिये जाने पर रंज हुआ। फिर भी मैंने अपने को समझाया कि उसका अन्त होना तो लाज़िमी था। अपने मन में मैं यह जानता था कि कम-से-कम कुछ वक़्त के लिए सत्याग्रह की लड़ाई कभी-न-कभी बन्द

---

[1]अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

करनी ही पड़ेगी। मुमकिन है कि कुछ शख्स नतीजों की परवा न करके अनिश्चित काल तक लड़ते रहें; लेकिन राष्ट्रीय संस्थाएं ऐसा नहीं करतीं। मुझे इस बात में कोई शक न था कि गांधीजी ने देश की स्थिति और अधिकांश कांग्रेसवादियों के मनोभावों को ठीक तरह समझ लिया था, और यद्यपि जो-कुछ हुआ वह अच्छा नहीं मालूम होता था फिर भी मैंने अपने-आपको नवीन परिस्थिति के अनुकूल बनाने की कोशिश की।

अस्पष्ट रूप में यह चर्चा भी मुझे सुनायी दी कि कौंसिल में जाने की ग़रज़ से पुरानी स्वराज-पार्टी को फिर ज़िन्दा करने की नई कोशिश की जा रही है। यह बात भी मुझे अनिवार्य मालूम होती थी और मेरी तो बहुत दिनों से यह राय थी कि कांग्रेस अगले चुनावों से अलग नहीं रह सकती। जब मैं पाँच महीने जेल से बाहर था, तब मैंने कौंसिलों की तरफ़ बढ़नेवाली इस प्रवृत्ति को रोकने की कोशिश की थी, क्योंकि मैं समझता था कि अभी वह चर्चा वक़्त से पहले थी, और उसकी वजह से न सिर्फ़ सीधी लड़ाई से ही लोगों का ध्यान हटता था बल्कि सामाजिक क्रान्ति के उन नये ख़यालों के विकास में भी बाधा पड़ती थी जो कांग्रेसवालों के दिलों में घर करते जा रहे थे। मैं समझता था कि यह संकट जितने दिन ज़्यादा बना रहेगा, उतने ही ज़्यादा ख़याल हमारे यहाँ सर्वसाधारण और पढ़े-लिखे लोगों में फैलेंगे और हमारी राजनैतिक और माली हालत की तह में जो असलियत है वह ज़ाहिर हो जायगी। जैसा कि लेनिन ने कहीं कहा है—"कोई भी और हरेक राजनैतिक संकट उपयोगी है, क्योंकि वह छिपी हुई चीज़ों को रोशनी में ले आता है, राजनीति की तह में जो असली ताक़तें काम कर रही हैं उन्हें दिखा देता है; वह झूठ का, भ्रम पैदा करनेवाले शब्दजाल का और गपोड़ों का भण्डाफोड़ कर देता है; वह असली बातों को पूरी तरह दिखा देता है, और तथ्य क्या है इस बात को समझने के लिए लोगों को मजबूर कर देता है।" मुझे उम्मीद थी कि इस क्रिया का परिणाम यह होगा कि इससे कांग्रेसवालों का दिमाग़ साफ़ हो जायगा और कांग्रेस एक निश्चित ध्येयवाले लोगों की मज़बूत जमात हो जायगी। शायद उसके कुछ कमज़ोर हिस्से उसे छोड़ जायँगे। लेकिन इससे कोई हर्ज न होगा और जब कभी उसूली सीधी लड़ाई का मोर्चा ख़त्म करने और वैधानिक व क़ानूनी तरीक़ों के नाम से पुकारे जानेवाले साधनों से काम लेने का वक़्त आयेगा, तब कांग्रेस के आगे बढ़े हुए, वास्तव में क्रियाशील पक्ष के लोग इन तरीक़ों का भी, हमारे अन्तिम लक्ष्य की व्यापक दृष्टि से, इस्तेमाल करेंगे।

ज़ाहिर तौर पर मालूम होता था कि वह वक़्त आ गया है। लेकिन मुझे यह देखकर बड़ी परेशानी हुई कि जो लोग दरअसल सत्याग्रह की लड़ाई और कांग्रेस के कारगर कामों के आधार-स्तम्भ रहे हैं वे पीछे को हट रहे हैं और दूसरे लोग जिन्होंने ऐसा कोई काम नहीं किया अपनी हुकूमत जमाने लगे हैं।

इसके कुछ दिन बाद मेरे पास साप्ताहिक 'स्टेट्समैन' आया और उसमें मैंने वह वक्तव्य पढ़ा जो गांधीजी ने सत्याग्रह को वापस लेते हुए दिया था। उसे पढ़कर मुझे बड़ी हैरत हुई और मेरा दिल बैठ गया। मैंने उसे बार-बार पढ़ा, और सत्याग्रह और दूसरी बातें मेरे दिमाग़ से ग़ायब हो गयीं और उसकी जगह शक और संघर्ष से मेरा दिमाग़ भर गया। गांधीजी ने लिखा था--"इस वक्तव्य की प्रेरणा सत्याग्रह-आश्रम के साथियों से हुई एक आपसी बातचीत का परिणाम है।......इसका मुख्य कारण वह आँखें खोलनेवाली ख़बर थी जो मुझे अपने एक बहुत पुराने और बहुमूल्य साथी के सम्बन्ध में मिली थी। वह जेल का काम पूरा करने को राज़ी न थे और उसके बजाय किताबें पढ़ना पसन्द करते थे। यह सब-कुछ सत्याग्रह के नियमों के सर्वथा विरुद्ध था। इस बात से इस मित्र की, जिसे मैं बहुत अधिक प्यार करता था, दुर्बलताओं की अपेक्षा मुझे अपनी दुर्बलताओं का अधिक बोध हुआ। उन मित्र ने कहा था कि मेरा ख़याल है कि आप मेरी दुर्बलता को जानते हैं, लेकिन मैं अन्धा था। नेता में अन्धापन एक अक्षम्य अपराध है। मैंने फ़ौरन यह भाँप लिया कि कम-से-कम इस समय के लिए तो मैं अकेला ही सक्रिय सत्याग्रही रहूँगा।"

अगर गांधीजी के मित्र में यह दुर्बलता या दोष था--अगर वह सचमुच दुर्बलता थी--तो भी यह एक मामूली-सी बात थी। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि मैं अक्सर इस जुर्म का अपराधी रहा हूँ और मुझे उसपर रत्तीभर भी अफ़सोस नहीं है। लेकिन अगर वह मामला बहुत भारी भी होता तो भी क्या वह महान् राष्ट्रीय संग्राम, जिसमें बीसियों हज़ार प्रत्यक्ष रूप से और लाखों आदमी अप्रत्यक्ष रूप से लगे हुए हैं, महज़ इसलिए कि किसी एक शख़्स ने कोई ग़लती कर डाली, अचानक रोक दिया जाना चाहिए? यह बात मुझे बहुत भयंकर और हर तरह अनीतिमय मालूम हुई। मैं इस बात की धृष्टता तो नहीं कर सकता कि मैं यह बताऊँ कि सत्याग्रह क्या है और क्या नहीं है, लेकिन अपने साधारण तरीक़े पर मैंने भी कुछ आचार-सम्बन्धी आदर्शों के पालन करने का प्रयत्न किया है। गांधीजी के इस वक्तव्य से मेरे उन सब आदर्शों को धक्का लगा और वे सब गड़बड़ा गये। मैं यह जानता हूँ कि गांधीजी आमतौर पर सहज-ज्ञान से काम करते हैं। गांधीजी उसे अपनी अन्तरात्मा की प्रेरणा या प्रार्थना का प्रतिफल कहते हैं, लेकिन मैं उसे सहज-ज्ञान कहना ही पसन्द करता हूँ, और अक्सर ज़्यादातर उनका यह सहज-ज्ञान सही निकलता है। उन्होंने बराबर यह दिखा दिया है कि जनता की मनोवृत्ति को समझने और उपयुक्त समय पर काम करने की उनमें कैसी विलक्षण सूझ है। काम कर डालने के बाद उस काम को ठीक ठहराने के लिए वह पीछे से जो कारण पेश करते हैं वे आमतौर पर काम कर चुकने के बाद के सोचे हुए ख़यालात होते हैं और उनसे शायद ही कभी किसी को पूरी तसल्ली होती हो। संकटकाल में नेता या कर्मवीर

पुरुष क़रीब-क़रीब हमेशा किसी अज्ञात प्रेरणा से काम करते हैं और फिर उसके लिए कारण ढूँढ़ने लगते हैं। मैंने यह भी महसूस किया कि सत्याग्रह को स्थगित करके गांधीजी ने ठीक ही किया। लेकिन उसे स्थगित करने के जो कारण उन्होंने बताये हैं वे बुद्धि के लिए अपमानजनक और एक राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता के लिए बहुत ही आश्चर्यजनक मालूम होते थे। इस बात का तो उन्हें पूरा हक़ था कि वह अपने आश्रम में रहनेवालों के साथ जैसा चाहते बर्ताव करते, क्योंकि इन लोगों ने सब तरह की प्रतिज्ञाएँ ले रखी थीं और एक तरह का निश्चित अनुशासन स्वीकार कर रखा था। लेकिन कांग्रेस ने ऐसी कोई बात नहीं की थी। मैंने ऐसी कोई बात नहीं की थी। फिर हमें उन सब कारणों के लिए, जो आध्यात्मिक और रहस्यमय मालूम होते थे और जिनमें हमें कोई दिलचस्पी नहीं थी, कभी इधर, कभी उधर क्यों फेंका जाता था? क्या कभी ऐसे आधारों पर किसी राजनैतिक आन्दोलन के चलाये जाने की कल्पना की जा सकती है? मैं यह मानता हूँ कि सत्याग्रह के नैतिक पहलू को अपनी समझ के मुताबिक़ मैंने एक हद तक स्वीकार कर लिया था। उसका वह बुनियादी पहलू मुझे पसन्द था और उससे ऐसा मालूम होता था कि वह राजनीति को अधिक उच्च और श्रेष्ठ पद पर पहुँचा देगा। मैं यह भी मानने के लिए तैयार था कि महज़ उद्देश अच्छा होने से उसे हासिल करने के लिए काम में लाये जानेवाले सब प्रकार के उपाय अच्छे नहीं हैं। लेकिन यह नयी बात या नयी व्याख्या उससे कहीं ज़्यादा दूर जाती थी और उससे कुछ नयी बातें उठ खड़ी होने की सम्भावना थी, जिन्होंने मुझे विचलित कर दिया।

उस सारे वक्तव्य ने मुझे बहुत ज़्यादा विचलित और परेशान किया। उसके अन्त में गांधीजी कांग्रेसवालों को जो सलाह दी वह यह थी—"उन्हें आत्मत्याग और स्वेच्छापूर्वक ग्रहण की गयी दरिद्रता की कला और सुन्दरता को समझना होगा; उन्हें राष्ट्र-निर्माण के काम में लग जाना चाहिए, उन्हें स्वयं हाथ से कात-बुनकर खद्दर का प्रचार करना चाहिए, उन्हें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एक दूसरे के साथ निर्दोष सम्पर्क स्थापित करके लोगों के हृदयों में साम्प्रदायिक ऐक्य का बीज बोना चाहिए; स्वयं अपने उदाहरण-द्वारा अस्पृश्यता का प्रत्येक रूप में निवारण करना चाहिए और नशेबाज़ों के साथ सम्पर्क स्थापित करके और अपने आचरण को पवित्र रखकर मादक चीज़ों के त्याग का प्रसार करना चाहिए। ये सेवाएं हैं जिनके द्वारा ग़रीबों की तरह निर्वाह हो सकता है। जो लोग ग़रीबी में न रह सकते हों, उन्हें किसी छोटे राष्ट्रीय धन्धे में पड़ जाना चाहिए, जिससे वेतन मिल जाय।"

यह था वह राजनैतिक कार्यक्रम, जिसे पूरा करने के लिए हमसे कहा गया था। ऐसा मालूम पड़ता था कि एक बहुत बड़ा अन्तर मुझे उनसे अलग कर रहा है। अत्यन्त तीव्र वेदना के साथ मैंने यह महसूस किया कि भक्ति के वे

सूत्र, जिन्होंने इतने वर्षों से बाँध रक्खा था, टूट गये हैं। बहुत दिनों से मेरे भीतर एक मानसिक द्वन्द्व हो रहा था। गांधीजी ने जो बातें कीं उनमें से बहुत-सी बातें न तो मेरी समझ में ही आयीं, न वे मुझे पसन्द ही पड़ीं। सत्याग्रह की लड़ाई जारी रहते हुए, इसी बीच में जबकि उनके साथी लड़ाई की मँझधार में थे, उनका उपवास और दूसरी बातों में अपनी ताक़त लगाना, उनकी निजी और स्वनिर्मित उलझनें जिन्होंने उन्हें इस असाधारण स्थिति में डाल दिया कि जेल से बाहर रहते हुए भी उन्हें अपने लिए यह प्रतिज्ञा करनी पड़ी कि वह राजनैतिक आन्दोलन में भाग नहीं लेंगे, उनकी नयी-नयी निष्ठाएं और नयी प्रतिज्ञाएं, जिन्होंने उनकी पुरानी निष्ठाओं और प्रतिज्ञाओं और कामों को, जो उन्होंने बहुत-से अपने साथियों के साथ लिये थे, और जो अबतक पूरे न हो सके थे, पीछे ढकेल दिया। इन सबने मुझे बहुत ही परेशान किया। मैं चन्द दिन जो जेल से बाहर रहा, उस समय मैंने इन और दूसरे मतभेदों को बहुत ही महसूस किया। गांधीजी ने कहा था कि हमारे मतभेदों का कारण स्वभावों की भिन्नता है। लेकिन शायद बात इससे और भी आगे बढ़ी हुई थी। मैंने यह अनुभव किया कि बहुत-से मामलों में मेरे साफ़ और निश्चित विचार हैं और वे उनके विचारों से नहीं मिलते। और फिर भी अबतक मैं इस बात की कोशिश करता रहा कि जहाँतक हो सके, राष्ट्रीय आज़ादी के जिस ध्येय के लिए कांग्रेस कोशिश कर रही थी और जिसके प्रति मेरी अत्यन्त भक्ति थी उसके सामने मैं अपने ख़यालों को दबाये रक्खूँ। अपने नेता और अपने साथियों के प्रति वफ़ादार और विश्वासपात्र बनने की मैंने हमेशा कोशिश की, क्योंकि मेरे आध्यात्मिक दृष्टिबिन्दु से ध्येय के प्रति निष्ठा और अपने साथियों के प्रति वफ़ादारी का स्थान बहुत ऊँचा है। जब-जब मैंने यह महसूस किया कि मुझे अपने आध्यात्मिक विश्वास के लंगर से दूर खींचा जा रहा है, तब-तब मुझे बड़े-बड़े अन्तर्द्वन्द्व लड़ने पड़े हैं, लेकिन इस वक़्त मैंने किसी-न-किसी तरह समझौता कर लिया। शायद ऐसा करके मैंने ग़लती की, क्योंकि यह तो किसीके लिए ठीक नहीं हो सकता कि वह अपने आध्यात्मिक लंगर को छोड़ दे। लेकिन आदर्शों की इस टक्कर में मैं अपने साथियों के प्रति वफ़ादारी के आदर्श से चिपटा रहा और यह आशा करता रहा कि घटनाओं की रेल-पेल और हमारी लड़ाई का विकास उन सब मुश्किलों को दूर कर देगा जो मुझे दुःख दे रही हैं और मेरे साथियों को मेरे दृष्टिकोण के नज़दीक ले आयेगा।

और अब तो एकाएक मुझे अलीपुर की उस जेल में बड़ा अकेलापन मालूम होने लगा। जीवन बहुत ही दूभर हो गया, जैसे भयावना सूनापन हो। जीवन में मैंने जो कितने ही कठोर सत्य-अनुभव किये हैं, उनमें सबसे अधिक कठोर और दुःखदायी सत्य इस समय मेरे सामने था, और वह यह था कि महत्त्वपूर्ण विषयों पर किसी का भरोसा करना उचित नहीं है, हरेक आदमी को अपनी जीवन-यात्रा में अपने ऊपर ही भरोसा रखना चाहिए, दूसरों पर भरोसा करना ज़बर्दस्त निराशा

और आफ़तों को न्यौता देना है।

मेरे अवरुद्ध क्रोध का कुछ हिस्सा धर्म और धार्मिक दृष्टिकोण पर टूट पड़ा। मैंने सोचा यह दृष्टिकोण विचारों की स्पष्टता और उद्देश्य की स्थिरता का कितना भारी दुश्मन है? क्या उसका आधार भावुकता और मनोविकार नहीं? यह दृष्टिकोण दावा तो करता है आध्यात्मिकता का, लेकिन असली आध्यात्मिकता और आत्मा की चीज़ों से वह कितनी दूर है! हमेशा दूसरी दुनिया की बातें सोचते-सोचते मानव स्वभाव, सामाजिक रूप और सामाजिक न्याय का उसे कुछ पता ही नहीं रहता। अपनी पूर्व-कल्पित धारणाओं के कारण धर्म जान-बूझकर इस डर से वास्तविकता से अपनी आँखें मूँद लेता है कि शायद उनसे मेल न खाय। वह अपनी बुनियाद सचाई पर बनाता है, फिर भी उसे सत्य को—सम्पूर्ण सत्य को पा लेने का इतना विश्वास हो जाता है कि वह इस बात के जानने का कष्ट नहीं करता कि उसे जो कुछ मिला है वह असल में सत्य है या नहीं? वह तो दूसरों को उसके विषय में कह देना भर ही अपना काम समझता है। सत्य को ढूँढने का संकल्प और विश्वास की भावना दोनों जुदी-जुदी चीज़ें हैं। धर्म बातें तो शान्ति की करता है लेकिन उन प्रणालियों और व्यवस्थाओं का समर्थन करता है जो बिना हिंसा के ज़िन्दा नहीं रह सकतीं। वह तलवार से की जानेवाली हिंसा की तो बुराई करता है लेकिन जो हिंसा अक्सर शान्ति का लबादा ओढ़े चुप-चाप आती है और लोगों को भूखों तड़पाती और जान से मार डालती है, उसका क्या? इससे भी ज़्यादा बुरा जो हिंसा बिना किसी प्रकार का ज़ाहिरा शारीरिक कष्ट पहुंचाये मन पर बलात्कार करती है, आत्मा को कुचलती है और हृदय के टुकड़े-टुकड़े कर डालती है, उसका क्या?

और इसके बाद मैं फिर उसी शख्स की बाबत सोचने लगा जिसने मेरे मन में यह खलबली पैदा की। आख़िर गांधीजी कैसे आश्चर्यजनक आदमी हैं! उनकी मोहकता कितनी ताज्जुब में डालनेवाली और एकदम अबाध है और लोगों पर उनका कैसा अद्भुत अधिकार है! उनकी बातें और उनके लेख, उनकी वास्तविकता का बहुत कम परिचय करा पाते हैं। इनसे उनके विषय में लोग जितनी कल्पना कर सकते हैं, उनका व्यक्तित्व उससे कहीं ऊँचा है। और भारत के लिए उनकी सेवाएं कितनी महान् हैं। उन्होंने भारत की जनता में साहस और मर्दानगी फूँक दी है; अनुशासन और कष्ट-सहन, ध्येय पर ख़ुशी-ख़ुशी क़ुर्बान हो जाने की और पूर्ण नम्रता के साथ स्वाभिमान की भावना पैदा करती है। उन्होंने कहा है कि चरित्र की वास्तविक नींव साहस ही है। बिना साहस के न तो सदाचार ही सध सकता है, न धर्म और न प्रेम ही। "जब तक कोई भय का शिकार रहता है तबतक वह न तो सत्य का पालन कर सकता है, न प्रेम ही कर सकता है।" हिंसा को वह बहुत ही बुरा समझते हैं, फिर भी उन्होंने हमको यह बताया है कि "कायरता तो एक ऐसी चीज़ है जो हिंसा से भी बुरी है।" और "अनुशासन

इस बात की प्रतिज्ञा और गारंटी है कि आदमी जिस काम को हाथ में ले रहा है उसे करना चाहता है। बलिदान, अनुशासन और आत्म-संयम के बिना न तो मुक्ति ही हो सकती है, न कोई आशा ही पूरी हो सकती है।'' और बिना अनुशासन के बलिदान का कोई लाभ नहीं। शायद यह कोरे शब्द या सुन्दर वाक्य और खाली उपदेश ही हों। लेकिन इन शब्दों के पीछे ताक़त थी, और हिन्दुस्तान यह जानता है कि यह छोटा-सा व्यक्ति जो कहता है, ईमानदारी से पूरा करना चाहता है।

आश्चर्यजनक रूप से वह हिन्दुस्तान के प्रतिनिधि बन गये और इस प्राचीन और पीड़ित भूमि की अन्तरात्मा को प्रकट करने लगे। एक प्रकार से वह ख़ुद भारत के प्रतिबिम्ब थे और उनमें कोई त्रुटियाँ थीं, तो वे भारत की त्रुटियाँ थीं। उनका अपमान शायद ही व्यक्तिगत अपमान समझा जाता हो, वह तो सारे राष्ट्र का अपमान था और वाइसराय और दूसरे लोग जो ऐसी घृणित हरकतें कर रहे थे यह नहीं जानते थे कि वे कैसी ख़तरनाक फ़सल बो रहे हैं। दिसम्बर १९३१ में जब गांधीजी गोलमेज़ कान्फ्रेन्स से लौट रहे थे, तब पोप ने गांधीजी से मिलने से इन्कार कर दिया था, यह जानकर मुझे कितना दुःख हुआ था, मुझे याद है। मुझे यह अपमान हिन्दुस्तान का अपमान लगा और इसमें तो कोई शक ही नहीं कि इन्कार तो जान-बूझकर किया गया था। यह बात दूसरी है कि ऐसा करते समय शायद अपमान करने की कल्पना न रही हो। कैथोलिक मतानुयायी अपने फ़िरके से बाहर सन्त और महात्मा का होना स्वीकार नहीं करते और क्योंकि प्रोटेस्टेण्ट-मत के कुछ लोगों ने गांधीजी को सच्चा ईसाई और बड़ा धर्मात्मा बताया, इसलिए पोप के लिए यह और भी ज़रूरी हो गया कि वह इस कुफ़्र से अपने को अलग रक्खें।

अप्रैल १९३४ में, अलीपुर-जेल में क़रीब-क़रीब इसी समय मैंने बर्नार्ड-शा के नये नाटक पढ़े और 'ऑन दि रॉक्स' (शिला पर) नामक नाटक की वह भूमिका, जिसमें ईसामसीह और पाइलेट की बहस भी है, मुझे बहुत आकर्षक लगी। आज जबकि एक साम्राज्य दूसरे धार्मिक व्यक्ति का मुक़ाबला कर रहा है, मुझे यह भूमिका इस समय के लिए बहुत मौज़ूँ मालूम हुई। इसमें ईसामसीह ने पाइलेट से कहा है—''मैं तुमसे कहता हूँ कि डर छोड़ दो। रोम की महत्ता के बारे में मुझसे व्यर्थ की बातें मत करो। जिसे तुम रोम की महत्ता कहते हो वह डर के सिवा और कुछ नहीं है। भूत का डर, भविष्य का डर, ग़रीबों का डर, अमीरों का डर, उच्च मठाधीशों का डर, उन यहूदियों और यूनानियों का डर, जो विद्वान् हैं, उन गॉल निवासियों, गॉथों और हूणों का डर जो जंगली हैं, उस कार्थेज का डर, जिसके डर से अपने को बचाने के लिए तुमने उसे बरबाद कर दिया, और अब पहले से भी ज़्यादा बुरा डर शाही सीज़र की उस मूर्ति का, जो तुम्हीं ने बनाई है और मुझ-सरीखे कौड़ीहीन दर-दर के

भिखारी का, ठुकराये जानेवाले का, उपहास किये जानेवाले का डर और ईश्वर के राज्य को छोड़कर बाक़ी सब चीज़ों का डर। ख़ून-ख़राबी और धन-दौलत के सिवा और किसी वस्तु में श्रद्धा नहीं। तुम जो रोम के हिमायती हो, जगत्-प्रसिद्ध कायर हो और मैं जो संसार में ईश्वरीय सत्ता का हामी हूँ, प्राणों की बाज़ी लगा चुका हूँ, अपना सब कुछ तक गँवा चुका हूँ और इस प्रकार अमर साम्राज्य विजय कर चुका हूँ।''

लेकिन गांधीजी की महानता का, भारत के प्रति उनकी महान सेवाओं का या अपने प्रति की गई उनकी महान् उदारताओं का, जिनके लिए मैं उनका ऋणी हूँ, कोई प्रश्न ही नहीं है। इन सब बातों के होते हुए भी वह बहुत-सी बातों में, बुरी तरह ग़लती कर सकते हैं। आख़िर उनका लक्ष्य क्या है? इतने वर्षों तक उनके निकटतम रहने पर भी मुझे ख़ुद अपने दिमाग़ में यह बात साफ़-साफ़ नहीं दिखाई देती कि उनका ध्येय आख़िर क्या है। मुझे तो इस बात में भी शक है कि इस मामले में ख़ुद उनका दिमाग़ कहाँ तक साफ़ है। वह कहते हैं कि मेरे लिए तो एक ही क़दम काफ़ी है, और वह भविष्य की तरफ़ देखने की, अपने सामने कोई सुनिश्चित ध्येय रखने की कोशिश नहीं करते। वह यह कहते हुए भी कभी नहीं थकते कि हम अपने साधनों की चिन्ता रक्खें तो साध्य अपने आप ठीक हो जायगा। अपने निजी जीवन में पवित्र बने रहो तो बाक़ी सब बातें अपने आप ठीक हो जायँगी। यह दृष्टि न तो राजनैतिक है, न वैज्ञानिक, और शायद यह तो नैतिक भी नहीं है। यह तो संकुचित आचार-दृष्टि है, जो इस प्रश्न का, कि सदाचार क्या वस्तु है, पहले से ही निर्णय कर लेती है। क्या वह केवल एक व्यक्तिगत वस्तु है या सामाजिक विषय? गांधीजी चारित्र्य पर ही सब ज़ोर लगा देते हैं, और मानसिक-शिक्षा और विकास को बिलकुल महत्त्व नहीं देते। यह ठीक है कि चरित्र के बिना बुद्धि ख़तरनाक साबित हो सकती है, लेकिन बुद्धि के बिना चरित्र में क्या रह जाता है? आख़िर चरित्र का विकास कैसे होता है? गांधीजी की तुलना मध्यकालीन ईसाई सन्तों से की गई है और वह जो कुछ कहते हैं उसका अधिकांश उसके अनुकूल भी है। लेकिन वह आजकल के मनोवैज्ञानिक अनुभव और तरीक़े से क़तई मेल नहीं खाता।

लेकिन यह कुछ भी हो, ध्येय की अस्पष्टता तो मुझे अत्यन्त खेद-जनक मालूम होती है। किसी भी कार्य की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उसका ध्येय सुनिश्चित और सुस्पष्ट हो। जीवन केवल तर्कशास्त्र नहीं है और यद्यपि उसकी सफलता के लिए समय-समय पर हमें अपने आदर्श बदलने पड़ते हों, फिर भी हमें कोई-न-कोई स्पष्ट आदर्श तो अपने सामने रखना ही होगा।

मेरा ख़याल है कि ध्येय के सम्बन्ध में गांधीजी के विचार उतने धुँधले नहीं हैं जितने वह कभी-कभी मालूम होते हैं। वह किसी एक ख़ास दिशा में आगे

के लिए बहुत अधिक उत्सुक हैं। लेकिन उस तरफ़ जाना आजकल के ख़याल और आजकल की परिस्थितियों के बिलकुल ख़िलाफ़ है और अब तक वह इन दोनों का एक दूसरे से मेल नहीं मिला पाये हैं, न कोई बीच की वे सब पग-डण्डियां ही खोज पाये हैं जो उन्हें अपने निश्चित स्थान पर पहुँचा दें। यही उनके ध्येय की अस्पष्टता और उसके स्पष्टीकरण के अभाव का कारण है। लेकिन कोई पचीस बरस से, उस वक़्त से, जबसे उन्होंने दक्षिण अफ्रिका में अपने जीवन-सिद्धान्त निश्चित करने शुरू किये, तबसे उनका साधारण दृष्टिकोण कैसा रहा है, यह साफ़ ज़ाहिर है। मुझे पता नहीं कि उनके वे शुरू के लेख, अब भी उनके विचारों के द्योतक हैं या नहीं। वे उनके विचारों को पूरी तरह व्यक्त करते हैं, मुझे तो इस बात में शक है; लेकिन फिर भी उनसे हमें उनके विचारों की तह में जो भावनाएं काम करती रही हैं उनके समझने में मदद मिलती है।

१९०९ में उन्होंने लिखा था—"हिन्दुस्तान का उद्धार इसीमें है कि उसने पिछले पचास साल में जो कुछ भी सीखा है उसे भूल जाय। रेल, तार, अस्पताल, वकील, डाक्टर और इस तरह की सभी चीजें मिट जानी चाहिए, और ऊंची कही जानेवाली जातियों को स्वेच्छापूर्वक धर्म-भाव से और निश्चित रूप से किसानों का सादा जीवन बिताना सीखना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार का जीवन ही सच्चा सुख देनेवाला है।" और "जब-जब मैं रेल या मोटर में बैठता हूँ, मुझे ऐसा महसूस होता है कि जिस बात को मैं ठीक समझता हूँ उसीके साथ मैं हिंसा कर रहा हूँ।" "इतनी अधिक कृत्रिम और तेज़ी से चलनेवाली चीज़ों से दुनिया का सुधार करने की कोशिश बिलकुल नामुमकिन है।"

ये सब मुझे बिलकुल ग़लत और नुक़सान पहुँचानेवाली बातें मालूम होती हैं जिनका पूरा हो सकना असम्भव है। कष्ट-सहन और तपस्वी-जीवन के प्रति गांधीजी का जो प्रेम और आदर है वही उक्त सब बातों का कारण है। उनके मत से उन्नति और सभ्यता इस बात में नहीं है कि हम अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाते चले जायँ और अपने रहन-सहन का ढंग ज्यादा ख़र्चीला कर लें, बल्कि इस बात में है कि "हम अपनी जरूरतों को स्वेच्छा से और प्रसन्नतापूर्वक कम कर लें, क्योंकि ऐसा करने से सच्चा सुख और सन्तोष मिलता है और सेवा करने की शक्ति बढ़ती है।" अगर हम एक बार इन उपपत्तियों को मान लें तो गांधीजी के बाक़ी के विचारों और उनके कार्य-कलापों को समझना आसान हो जाता है। लेकिन हममें से ज़्यादातर लोग इनको नहीं मानते और जब हम यह देखते हैं कि उनके काम हमारी पसन्द के मुताबिक़ नहीं हैं, तब हम उनकी शिकायत करने लगते हैं।

व्यक्तिगत रूपसे मुझे ग़रीबी की और तकलीफ़ झेलने की तारीफ़ करना

मेरी राय में तो उन्हें मिटा देना चाहिए। न मैं सामाजिक आदर्श की दृष्टि से तपस्वी-जीवन को पसन्द करता हूं, चाहे कुछ व्यक्तियों के लिए वह ठीक ही हो। मैं सादगी, समानता और आत्म-संयम चाहता हूँ और उसकी क़द्र भी करता हूँ, लेकिन शरीर का दमन करने के पक्ष में नहीं हूँ। मेरा विश्वास है कि जैसे खिलाड़ी या पहलवान के लिए अपने शरीर की साधना ज़रूरी है वैसे ही इस बात की भी ज़रूरत है कि हम अपने मन और अपनी आदतों को साधें और उन्हें अपने नियन्त्रण में रक्खें। यह आशा करना तो बेहूदगी होगी कि जो व्यक्ति अत्यधिक विलासमय जीवन में फँसा हुआ है, वह संकट के दिन आने पर ज्यादा तकलीफ़ बर्दाश्त कर सकेगा या असाधारण आत्म-संयम या वीरोचित व्यवहार कर सकेगा। नैतिक दृष्टि से उच्च रहने के लिए भी साधना की कम-से-कम उतनी ही जरूरत है जितनी कि शरीर को अच्छी हालत में रखने के लिए। लेकिन सचमुच इसके मानी न तो तप ही है और न आत्मपीड़न ही।

'किसानों की-सी सादी जिन्दगी' का आदर्श मुझे ज़रा भी अच्छा नहीं लगता। मैं तो क़रीब-क़रीब उससे घबड़ाता-सा हूं और ख़ुद उनकी-सी ज़िन्दगी बर्दाश्त करने के बदले मैं तो किसानों को भी इस ज़िन्दगी में से खींचकर बाहर निकाल लाना चाहता हूँ—उन्हें शहरी बनाकर नहीं, बल्कि देहात में शहरों की सांस्कृतिक सुविधाएं पहुँचा कर। किसानों की-सी यह सादी ज़िन्दगी मुझे सुख तो कतई नहीं देती, वह तो मुझे क़रीब-क़रीब उतनी ही बुरी मालूम होती है जितना कि जेलखाना। आख़िर 'फावड़ेवाले आदमियों' में ऐसी क्या बात है कि उसे अपना आदर्श बनाया जाय? असंख्य युगों से इस पद-दलित और शोषित प्राणी में और इन पशुओं में, जिनके साथ वह रहता है, कोई अन्तर नहीं रह गया है।

> "किसने यों कर दिया इसे है मृत-सा हर्ष-निराशा से?
> व्याकुल नहीं शोक से होता, और प्रफुल्लित आशा से।
> स्तब्ध, मूक, जड़रूप खड़ा वह, करे शिकायत क्या किससे?
> मानव है या वृषभ—सहोदर उपमा इसकी दें जिससे।"[1]

मानव बुद्धि से काम न लेकर पुराने जंगलीपन की स्थिति में, जहाँ बौद्धिक विकास के लिए कोई स्थान नहीं था, पहुँचने की बात मेरी समझ में बिलकुल नहीं आती। स्वयं उस वस्तु को, जो मानवप्राणी के लिए उसकी विजय और गौरव की बात है, बुरा बताया जाता है और अनुत्साहित किया जाता है और उस भौतिक स्थिति को, जो दिमाग़ पर बोझ बन जाती है और उसकी उन्नति को रोकती है, वाञ्छनीय समझा जाता है। वर्तमान सभ्यता बुराइयों से भरी

---

[1] अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

हुई है, लेकिन उसमें अच्छाइयाँ भी भरी पड़ी हैं, और उसमें वह ताक़त भी है जिससे वह अपनी बुराइयों को दूर कर सके। उसको जड़-मूल से बरबाद करना, उसकी इस ताक़त को भी बरबाद करना होगा और फिर उसी नीरस प्रकाशहीन और दुःखमय स्थिति की ओर पहुँचना होगा। यदि ऐसा करना वाञ्छनीय हो, तो भी वह एक अनहोनी बात है। हम परिवर्तन की धारा को रोक नहीं सकते, न अपने को उसके बहाव से निकाल सकते हैं, और मनोविज्ञान की दृष्टि से हममें से जिन लोगों ने वर्तमान सभ्यता का स्वाद चख लिया है वे उसे भूलकर पुरानी जंगलीपन की स्थिति में जाना पसन्द नहीं कर सकते।

इस बात में तर्क करना मुश्किल है, क्योंकि ये दोनों दृष्टिकोण बिलकुल जुदे हैं। गांधीजी हमेशा व्यक्तिगत मुक्ति और पाप की भाषा में सोचते हैं, जब कि हममें से अधिकांश लोगों के मन में समाज की भलाई सबसे ऊपर है, मेरे लिए पाप की कल्पना को समझ सकना मुश्किल मालूम पड़ता है और शायद इसीलिए मैं गांधीजी के साधारण दृष्टिकोण को नहीं समझ पाता हूँ। वह समाज या सामाजिक ढाँचे को बदलना नहीं चाहते, वह तो व्यक्तियों में से पाप की भावना को नष्ट कर देना चाहते हैं। उन्होंने लिखा है कि "स्वदेशी का माननेवाला कभी दुनिया को सुधारने के निरर्थक प्रयत्न में हाथ नहीं डालेगा, क्योंकि उसका विश्वास है कि दुनिया उन्हीं नियमों से चलती आयी है और चलती रहेगी, जो ईश्वर ने बना दिये हैं।" फिर भी दुनिया को सुधारने के प्रयत्नों में वह काफ़ी आगे बढ़ जाते हैं। पर वह जो सुधार करना चाहते हैं वह है व्यक्तिगत सुधार, जिसके मानी हैं इन्द्रियों पर और उनका उपभोग करने की पापमयी इच्छा पर, विजय प्राप्त करना। फ़ासिज़्म पर लिखनेवाले एक योग्य रोमन कैथलिक लेखक ने आज़ादी की जो परिभाषा की है, शायद गांधीजी उस से सहमत होंगे। वह परिभाषा यह है--"आज़ादी पाप के बन्धन से छुटकारा पाने के सिवा और कुछ नहीं है।"

दो सौ वर्ष पहले लन्दन के बिशप ने जो शब्द लिखे थे उनसे यह कितना मिलता-जुलता है। वे शब्द ये थे—"ईसाई धर्म जो आज़ादी देता है वह है पाप और शैतान के बन्धनों से और मनुष्य की बुरी कामनाओं, वासनाओं और असाधारण इच्छाओं के जाल से मुक्ति।"[1]

अगर एक बार इस दृष्टिकोण को समझ लिया जाय, तो स्त्री-पुरुष के सह-वास के बारे में गांधीजी का जो रुख़ है, और जो कि आजकल के औसत आदमी को असाधारण मालूम होता है, वह भी कुछ-कुछ समझ में आ सकता है। नकी राय में "जब सन्तान की इच्छा न हो तब स्त्री-पुरुष को आपस में सह-

[1]यह उद्धरण जिस पत्र से लिया गया है वह पीछे ४१२ पृष्ठ पर दिया जा चुका है।

वास करना पाप है।" और "सन्तति-निग्रह के कृत्रिम साधनों को काम में लाने का परिणाम नपुंसकता और स्नायविक ह्रास होता है।" "अपने कामों के परिणामों से बचने की कोशिश करना ग़लत और पापमय है। यह बुरा है कि पहले तो ज़रूरत से ज़्यादा पेट भर लें और फिर कोई टॉनिक या दूसरी दवा लेकर उसके नतीजों से बचने की कोशिश करें। और यह तो और भी बुरा है कि कोई शख़्स पहले तो अपने पाशविक मनोविकारों को तृप्त करे और फिर उसके परिणामों से बचे।"

व्यक्तिगत रूप से मैं गांधीजी के इस रुख़ को बिलकुल अस्वाभाविक और भयावह पाता हूँ और अगर गांधीजी की बात सही है, तो मैं तो उन पापियों में से हूँ जो नपुंसकता और स्नायविक ह्रास के किनारे पहुँच चुके हैं। रोमन कैथलिकों ने बड़े ज़ोरों से सन्तति-निग्रह का विरोध किया है। लेकिन वे अपनी दलीलों को उस आख़िरी दर्जे तक नहीं ले गये जिस दर्जे तक गांधीजी ले गये हैं। उसे वे मानव स्वभाव समझते हैं, उसके साथ उन्होंने कुछ समझौता कर लिया है और समयानुसार छूट दे दी है।[1] लेकिन गांधीजी तो अपनी दलील की आख़िरी हद तक पहुँच गये हैं और वह तो सन्तान पैदा करने के सिवा और किसी भी समय स्त्री-पुरुष के प्रसंग को ज़रूरी या न्याय्य नहीं समझते। वह इस बात को मानने से इन्कार करते हैं कि स्त्री-पुरुषों में परस्पर एक-दूसरे की तरफ़ प्राकृतिक आकर्षण होता है। उनका कहना है—"लेकिन मुझसे कहा जाता है कि यह आदर्श तो असम्भव कल्पना है और स्त्री-पुरुष में जो एक-दूसरे के लिए स्वाभाविक आकर्षण होता है उसे मैं ध्यान में नहीं रखता। मैं यह मानने से इन्कार करता हूँ कि जिस आकर्षण का संकेत किया गया वह किसी भी हालत में प्राकृतिक माना जा सकता है, और अगर वह ऐसा ही है तो सर्वनाश को बहुत निकट समझना चाहिए। पुरुष और स्त्री के वैवाहिक सम्बन्ध में वही आकर्षण है जो भाई और बहिन में, माँ और बेटे में, बाप और बेटी में होता है। यही वह स्वाभाविक आकर्षण है, जो दुनिया को क़ायम रक्खे हुए है।" और आगे चलकर इससे भी ज़्यादा ज़ोर से कहते हैं—"नहीं, मुझे अपनी पूरी ताक़त के साथ कहना चाहिये कि पति-पत्नी का ऐन्द्रिक

---

[1] ईसाइयों के विवाह के बारे में पोप ११ वें पायस ने ३१ दिसम्बर १९३१ को जो धर्माज्ञा दी है उसमें कहा है—"अगर विवाहित लोग अपने हक़ों का गम्भीर और प्राकृतिक कारणों से उपयोग करें तो यह नहीं माना जाना चाहिये कि वे प्रकृति की व्यवस्था के ख़िलाफ़ काम कर रहे हैं, फिर चाहे समय की परिस्थिति या किसी ख़राबी के कारण उनके बच्चे पैदा हों या न हों!" समय की परिस्थिति से मतलब ज़ाहिरा तौर पर 'सुरक्षित समय कहे जानेवाले' उस वक़्त से है, जब गर्भाधान सम्भव नहीं समझा जाता।

आकर्षण भी अप्राकृतिक है।''

ऑडीपस कॉम्प्लेक्स[१] और फ्रॉयड के विचारों और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के इस युग में किसी विश्वास को इतने ज़ोरदार शब्दों में प्रकट करना आश्चर्य-जनक और असामयिक मालूम होता है। यह तो श्रद्धा का सवाल है, तर्क का नहीं। इसे आप मानें या न मानें। इसके बारे में कोई बीच का रास्ता नहीं है। अपनी तरफ़ से तो मैं कह सकता हूँ कि इस मामले में गान्धीजी बिलकुल ग़लती पर हैं। कुछ लोगों के लिए उनकी सलाह ठीक हो सकती है, लेकिन एक व्यापक नीति के रूप में तो इसका नतीजा यही होगा कि लोग मानसिक नैराश्य, दमन और तरह-तरह की शारीरिक और स्नायविक बीमारियों के शिकार हो जायँगे। विषय-भोग में संयम ज़रूर होना चाहिए, लेकिन मुझे इस बात में शक है कि गांधीजी के उसूलों से यह संयम किसी बड़ी हद तक हो सकेगा। वह संयम बहुत अधिक कड़ा है, और ज़्यादातर लोग यही समझते हैं कि वह उनकी ताक़त के बाहर है, और इसलिए आमतौर पर अपने मामूली तरीक़े पर चलते रहते हैं और अगर नहीं चलते तो पति-पत्नी में खटपट हो जाती है। स्पष्टतः गांधीजी यह समझते हैं कि सन्तति-निग्रह के साधनों से निश्चित रूप से लोग अत्यधिक मात्रा में काम-तृप्ति में लग जायँगे और अगर स्त्री और पुरुष का यह इन्द्रिय-सम्बन्ध मान लिया जाय, तो हर पुरुष हर स्त्री के पीछे दौड़ेगा और इसी तरह हर स्त्री हर पुरुष के पीछे। उनके दोनों निष्कर्षों में से एक भी सही नहीं है, और यद्यपि यह सवाल बहुत महत्त्वपूर्ण है, फिर भी मेरी समझ में यह नहीं आता कि गांधीजी उसपर इतना ज़्यादा ज़ोर क्यों देते हैं। उनके लिए तो इसके दो ही पहलू हैं—इस पार या उस पार; बीच का कोई रास्ता नहीं है। दोनों ओर वह ऐसी पराकाष्ठा को पहुँच जाते हैं जो

---

[१] ऑडीपस थेबीज के राजा लेइस का लड़का था। इसके जन्म के समय यह भविष्यवाणी हुई थी कि लेइस अपने लड़के के हाथों मारा जायगा। इसपर लेइस ने उसे एक चरवाहे को दे दिया, और उसने कारिन्थ के बादशाह पॉलिबस को दे दिया। उसने उसे अपना दत्तक पुत्र बना लिया। जब ऑडीपस बड़ा हुआ और जब उसे इस भविष्यवाणी का पता लगा कि वह अपने बाप को मार डालेगा और अपनी माँ से शादी कर लेगा, तो वह घर छोड़कर चल दिया। रास्ते में उसे उसका बाप लेइस और माँ जोकेस्टा मिली। वह उन्हें पहचानता न था, अतः बात-ही-बात में उत्तेजना बढ़ जाने पर उसने लेइस को मार डाला और जोकेस्टा से शादी कर ली। उससे उसके तीन बच्चे हुए। अतः मनःशास्त्री फ्रॉयड के मतानुसार 'ऑडीपस कॉम्प्लेक्स' का अर्थ है, वह मनोविकार जिसके अनुसार लड़के की अपनी माँ के प्रति और लड़की का अपने पिता के प्रति कामुक आकर्षण हो —अनु०

मुझे बहुत ग़ैर-मामूली और अप्राकृतिक मालूम होती है। इन दिनों हमारे ऊपर काम-शास्त्र सम्बन्धी साहित्य की जो प्रलयकारी बाढ़ आ रही है शायद उसी की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप गांधीजी ऐसी बातें कहते हैं। मैं मानता हूँ कि मैं एक साधारण व्यक्ति हूँ और मेरे जीवन में वैषयिक भावना का असर रहा है। लेकिन न तो मैं कभी उसके क़ाबू में हुआ न उसकी वजह से कभी मेरे कोई दूसरे काम रुके। यह केवल गौण रूप में ही रही है।

गांधीजी की वृत्ति तो दरअसल उस तपस्वी साधू जैसी है जिसने दुनिया और उसके तौर-तरीक़ों से किनारा कर लिया है, जो जीवन को मिथ्या मानता है और उसकी उपेक्षा करता है। किसी योगी के लिए यह है भी स्वाभाविक, लेकिन जो संसारी स्त्री-पुरुष जीवन को मिथ्या नहीं मानते और उसका सर्वोत्तम उपयोग करने की कोशिश करते हैं उनके लिए यह बहुत दूर की बात है। इस-लिए इस एक बुराई से बचने के लिए उन्हें दूसरी और उससे भी बड़ी-बड़ी बुराइयों को बर्दाश्त करना पड़ता है।

मैं विषय से बहक गया हूँ। लेकिन अलीपुर-जेल के उन दुःखदायी दिनों में सभी तरह के विचार मेरे मन में छाये रहते थे। वे किसी तर्क-सम्मत क्रम या व्यवस्थित रूप में नहीं होते थे, बल्कि बिखरे हुए और बे-सिलसिलेवार होते थे और अक्सर मुझे व्यग्र और परेशान कर डालते थे। और इन सबसे बढ़कर एकान्त और सूनेपन का वह भाव था जो जेल की दम घोटनेवाली आबो-हवा से और मेरी छोटी-सी एकान्त कोठरी की वजह से और भी बढ़ जाता था। अगर मैं जेल से बाहर होता तो मुझे जो चोट पहुँची वह क्षणिक होती और मैं ज़्यादा जल्दी नई स्थितियों के अनुकूल बन जाता, और अपना ग़ुबार निकालकर अपने मन-माफ़िक काम करके अपने दिल को हलका कर लेता। पर जेल के अन्दर ऐसा नहीं हो सकता था, इसलिए मेरे कुछ दिन बड़ी बुरी तरह बीते। ख़ुशकिस्मती से मैं बड़ा ख़ुशमिज़ाज हूं और मायूसी के हमलों से बड़ी जल्दी सम्हल जाता हूं। इसलिए मैं अपने दुःख को भूलने लगा। इसके बाद जेल में कमला से मेरी मुलाक़ात हुई। उससे मुझे और भी ख़ुशी हुई और मेरी अकेलेपन की भावना दूर हो गई। मैंने महसूस किया कि कुछ भी क्यों न हो हम एक-दूसरे के जीवन-साथी तो हैं ही।

६२
विकट समस्याएं

जो लोग गांधीजी को व्यक्तिगत रूप से नहीं जानते और जिन्होंने सिर्फ़ उनके लेखों को ही पढ़ा है वे अक्सर यह सोच बैठते हैं कि गांधीजी किसी धर्मोपदेशक की भाँति नीरस, शुष्क और मनहूसियत फैला देनेवाले व्यक्ति हैं।

लेकिन गांधीजी के लेख गांधीजी के साथ अन्याय करते हैं। वह जो कुछ लिखते हैं उससे वह खुद कहीं ज़्यादा बड़े हैं। इसलिए उन्होंने जो कुछ लिखा है उसको उद्धृत करके उनकी आलोचना करने बैठ जाने से उनके साथ पूरी तरह इन्साफ़ नहीं किया जा सकता। धर्मोपासकों के रास्ते से उनका रास्ता बिलकुल जुदा है। उनकी मुस्कराहट आह्लादकारक होती है, उनकी हँसी सबको हँसा देती है और वह विनोद की एक लहर बहा देते हैं। उनमें भोले बच्चों की-सी कुछ ऐसी बात है जो मोह लेनेवाली है। जब वह किसी कमरे में पैर रखते हैं तो अपने साथ एक ऐसी ताज़ी हवा का झोंका लेते आते हैं जो वहाँ के वातावरण को आमोदित कर देता है।

वह उलझनों के एक असाधारण नमूने हैं। मेरा ख़याल है कि सभी असाधारण पुरुष कुछ-न-कुछ हद तक ऐसे ही होते हैं। बरसों इस पेचीदा सवाल ने मुझे परेशान किया है कि यह क्या बात है कि गांधीजी पीड़ितों के लिए इतना प्रेम और उनकी भलाई का इतना ख़याल रखते हुए भी ऐसी प्रणाली का समर्थन करते हैं जो लाज़िमी तौर पर पीड़ितों को पैदा करती है और फिर उन्हें कुचलती है। और यह क्या बात है कि एक तरफ़ तो वह अहिंसा के ऐसे अनन्य उपासक हैं, और दूसरी तरफ़ एक ऐसे राजनैतिक और सामाजिक ढाँचे के पक्ष में हैं जो सोलहों आने हिंसा और बलात्कार पर ही टिका हुआ है? शायद यह कहना सही नहीं होगा कि वह ऐसी प्रणाली के पक्ष में हैं। वह तो कम-बढ़ एक दार्शनिक अराजक हैं। लेकिन अराजकों का आदर्श एक तो बहुत दूर है और हम आसानी से उसका क़यास भी नहीं कर सकते; इसलिए वह मौजूदा अवस्था को मंजूर करते हैं। मेरा ख़याल है कि परिवर्तन किन साधनों से किये जायँ, इसपर उन्हें उतनी आपत्ति नहीं है, जितनी हिंसा के उपयोग पर आपत्ति है। वर्तमान व्यवस्था को बदलने के लिए किन ज़रियों से काम लेना चाहिए इस सवाल को छोड़कर, हम एक ऐसे आदर्श ध्येय को अपनी आँखों के सामने रख सकते हैं, जिसको, दूर-भविष्य में नहीं, निकट-भविष्य में ही, पूरा कर लेना हमारे लिए मुमकिन है।

कभी-कभी वह अपने को समाजवादी भी कहते हैं, लेकिन वह समाजवाद शब्द का प्रयोग एक ऐसे अनोखे अर्थ में करते हैं जो खुद उनका अपना लगाया हुआ है और जिसका उस आर्थिक ढाँचे से कोई सरोकार नहीं है जो आमतौर पर समाजवाद के नाम से पुकारा जाता है। उनकी देखा-देखी कुछ प्रसिद्ध कांग्रेसी भी समाजवाद शब्द का इस्तेमाल करने लगे हैं, लेकिन उस समाजवाद से उनका मतलब मनुष्य-समाज की एक क़िस्म की गोलमोल सेवा से होता है। इस गोलमटोल राजनैतिक शब्दावली का ग़लत प्रयोग करने में प्रसिद्ध व्यक्ति उनके साथ हैं, क्योंकि वे सब तो सिर्फ़ ब्रिटिश राष्ट्रीय सरकार के प्रधान मन्त्री

की मिज़ाज पर ही चल रहे हैं।[1] मैं यह जानता हूँ कि गांधीजी समाजवाद से अपरिचित नहीं हैं क्योंकि उन्होंने अर्थशास्त्र, समाजवाद और मार्क्सवाद पर भी बहुत-सी किताबें पढ़ी हैं और इन विषयों पर दूसरों के साथ वाद-विवाद भी किया है, लेकिन मेरे मन में यह विश्वास घर कर जाता है कि अत्यन्त महत्त्व के मामलों में अकेला दिमाग़ हमें ज़्यादा दूर तक नहीं ले जाता। विलियम जेम्स ने कहा है--"अगर आपका दिल नहीं चाहता तो इत्मीनान रखिए कि आपका दिमाग़ आपको कभी भी विश्वास नहीं करने देगा।" हमारी भावनाएं हमारे सामान्य दृष्टिकोण पर शासन करती हैं और दिमाग़ को अपने क़ाबू में रखती हैं। हमारी बातचीत फिर चाहे वह धार्मिक हो या राजनैतिक या आर्थिक, वस्तुतः हमारी भावनाओं पर या मन की प्रवृत्तियों पर ही निर्भर रहती है। शोपेनहर ने कहा है--"मनुष्य जिस बात का संकल्प करे, उसे वह पूरा कर सकता है, लेकिन वह जिस बात का संकल्प करना चाहे उसका संकल्प नहीं कर सकता।"

दक्षिण अफ्रीका में शुरू के दिनों में गांधीजी में बहुत ज़बरदस्त तब्दीली हुई। इससे जीवन के बारे में उनकी सारी विचार-दृष्टि बदल गई। तबसे उन्होंने अपने सभी विचारों के लिए एक आधार बना लिया है और अब वह किसी सवाल पर उस आधार से हटकर स्वतंत्र रूप से विचार नहीं कर सकते। जो लोग उन्हें नयी बातें सुझाते हैं, उनकी बातें वह बड़े धीरज और ध्यान से सुनते हैं, लेकिन इस नम्रता और दिलचस्पी के बावजूद उनसे बातें करनेवाले के मन पर यह असर पड़ता है कि मैं एक चट्टान से सर टकरा रहा हूँ। कुछ विचारों पर उनकी ऐसी दृढ़ आस्था बँध गई है कि और सब बातें उन्हें महत्त्व-शून्य मालूम होती हैं। उनकी राय में दूसरी और गौण बातों पर ज़ोर देने से मुख्य योजना से ध्यान हट जायगा और उसका रूप विकृत हो जायगा। अगर हम अपनी आस्था पर दृढ़ रहे तो अन्य सभी बातें ज़रूरी तौर पर अपने-आप उचित रीति से ठीक हो जायँगी। अगर हमारे साधन ठीक हैं तो साध्य भी अनिवार्य रूप से ठीक होगा।

मेरे ख़याल से उनके विचारों का आधार यही है। वह समाजवाद को और उससे भी ज़्यादा ख़ासतौर पर मार्क्सवाद को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं,

---

[1]जनवरी, सन् ३५ में एडिनबरा में अनुदार और यूनियनिस्ट एसोसियेशनों के संघ को एक सन्देश देते हुए मि० रेमेज़े मेकडॉनल्ड ने कहा था कि—"समय की कठिनाइयाँ हरेक मुल्क के लोगों के लिए यह लाज़िमी बना रही हैं कि वे एक होकर अपनी तमाम ताक़त से काम करें। यही सच्चा समाजवाद है, और यही सच्ची राष्ट्रीयता भी है। और सच बात तो यह है कि सच्चा व्यक्तिवाद भी यही है।"

क्योंकि वह हिंसा से सम्बन्धित हैं। 'वर्ग-युद्ध' शब्द में ही उन्हें लड़ाई और हिंसा की बू आती है, और इसलिए वह उसे नापसन्द करते हैं। इसके अलावा वह यह भी नहीं चाहते कि आम लोगों की रहन-सहन को एक बहुत मामूली पैमाने से ज़्यादा ऊँचा बढ़ाया जाय, क्योंकि अगर लोग ज़्यादा आराम से और फ़ुर्सत में रहेंगे तो उससे भोग-विलास और पाप की वृद्धि होगी। यही क्या कम बुरा है कि मुट्ठीभर अमीर लोग भोग-विलास में पड़े रहते हैं, अगर ऐसे लोगों की संख्या और बढ़ादी गई तब तो बहुत ही बुरा हो जायगा। १६२६ में उन्होंने जो एक पत्र लिखा था, उससे हम ऐसे ही कुछ नतीजे निकाल सकते हैं। इंगलैण्ड में उन दिनों कोयले की खानों में मज़दूरों ने बहुत बड़ी हड़ताल कर दी थी, और खानों के मालिकों ने खानें बन्द कर दी थीं। इस संघर्ष के समय उनके पास जो पत्र आया था, उसीका उन्होंने जवाब दिया था। जिन साहब ने उन्हें लिखा था, उन्होंने अपने पत्र में यह दलील पेश की थी कि इस लड़ाई में मज़दूर हार जायेंगे, क्योंकि उनकी तादाद बहुत ज़्यादा है। इसलिए उन्हें चाहिए कि वह कृत्रिम साधनों से सहायता लेकर अधिक सन्तानें पैदा करना बन्द कर दें और इस तरह अपनी तादाद घटा लें। इस पत्र का जवाब देते हुए गांधीजी ने लिखा था—"आख़िरी बात यह है कि अगर खानों के मालिक ग़लत रास्ते पर होने पर भी जीत जायेंगे, तो उनकी यह जीत महज़ इसलिए होगी कि मज़दूर लोग अधिक सन्तानें पैदा करते हैं; बल्कि इसलिए होगी कि मज़दूरों ने जीवन में संयम से काम लेना नहीं सीखा। अगर खानों के मज़दूरों के बच्चे न हों तो उन्हें अपनी हालत बेहतर बनाने की कोई प्रेरणा ही नहीं रहेगी, और फिर वे यह बात कैसे साबित कर दिखलायेंगे कि उनकी मज़दूरी बढ़ाई जाने की ज़रूरत है? उनको शराब पीने, जुआ खेलने और सिगरेट पीने की क्या ज़रूरत है? 'क्या इसके जवाब में यह कहना ठीक होगा कि खानों के मालिक भी तो यह सब काम करते हैं, और फिर भी वे चैन की बंसी बजाते हैं? अगर मज़दूर लोग इस बात का दावा नहीं कर सकते कि वे पूँजीपतियों से अच्छे हैं तो उन्हें संसार की सहानुभूति माँगने का क्या हक़ है? क्या इसलिए कि वे पूँजीपतियों की संख्या बढ़ावें और पूँजीवाद को मज़बूत करें? हमसे कहा जाता है कि हम सब लोकतन्त्र का आदर करें और वादा किया जाता है कि जब लोकतन्त्र की पूरी हुकूमत होगी तब संसार की अवस्था बहुत अच्छी हो जायगी। पूँजीवाद और पूँजीपतियों के सिर हम जिन बुराइयों को थोपते हैं, वे ही ख़ुद हमें और भी ज़्यादा बड़े पैमाने पर पैदा नहीं करनी चाहिएं।"[1]

जब मैंने इसे पढ़ा, तब खानों में काम करनेवाले अंग्रेज़ मज़दूरों और उनकी औरतों व बच्चों के भूखे और पिचके हुए चेहरे मेरी आँखों के सामने आ गये जो

---

[1]गांधीजी की 'अनीति की राह पर' नामक पुस्तक में यह पत्र उद्धृत हुआ है।

मैंने १९२६ की गर्मियों में देखे थे। वे ग़रीब मज़दूर उस समय अपने को कुचलनेवाली पैशाचिक प्रणाली के ख़िलाफ़ लड़ रहे थे। इस लड़ाई में वे बिलकुल असहाय थे और उनकी हालत पर रहम आता था। गाधीजी ने जो बातें लिखी हैं, वे पूरी तरह सही नहीं हैं; क्योंकि खानों के मज़दूर मज़दूरी बढ़वाने के लिए नहीं लड़ रहे थे, वे तो इस बात के लिए लड़ रहे थे कि जो मज़दूरी उन्हें मिलती है उसमें कमी न की जाय, और जो खानें बन्द कर दी गई थीं वे खोल दी जायँ। लेकिन इस वक़्त हमें इन बातों से कोई ताल्लुक़ नहीं। न हमारा ताल्लुक़ इसी बात से है कि मज़दूर लोग कृत्रिम साधनों की मदद लेकर सन्तान पैदा करना रोकें या न रोकें, यद्यपि मालिकों और मज़दूरों के लड़ाई-झगड़े को निबटाने के लिए यह एक निराला-सा सुझाव था। मैंने तो गांधीजी के जवाब में से इतना अवतरण इसलिए दिया है कि हम लोगों को यह बात समझने में मदद मिले कि मज़दूरों की रहन-सहन के ढंग को ऊँचा बनाने की सामान्य माँग के सम्बन्ध में और मज़दूरों के दूसरे मामलों में गांधीजी का दृष्टिकोण क्या है। उनका यह दृष्टिकोण समाजवादी दृष्टिकोण से—और समाजवादी दृष्टिकोण ही से क्यों, सच बात तो यह है कि-पूंजीवाद दृष्टिकोण से भी—काफ़ी दूर है। अगर उनसे यह कहा जाय कि स्वार्थी समुदाय रास्ते में रोड़े न डालें तो हम आज विज्ञान और उद्योग-धन्धों के ज़रिये तमाम लोगों को अबसे कहीं बड़े पैमाने पर खाने-पहिनने और रहने को दे सकते हैं और उनकी रहन-सहन का ढंग बहुत ज़्यादा ऊँचा कर सकते हैं, तो उन्हें इस बात में कोई विशेष दिलचस्पी नहीं होगी। असल बात यह है कि एक निश्चित हद से आगे वह इन बातों के लिए बहुत उत्सुक नहीं हैं। इसीलिए समाजवाद से होनेवाले लाभ की आशा उनके लिए आकर्षक नहीं है और पूँजीवाद भी कुछ हद तक ही बर्दाश्त किया जा सकता है—और यह भी इसलिए कि वह बुराई को सीमित रखता है। वह पूँजीवाद और समाजवाद दोनों ही को नापसन्द करते हैं, लेकिन पूँजीवाद को अपेक्षाकृत कम बुरा समझकर उसे बर्दाश्त कर लेते हैं। इसके अलावा वह पूँजीवाद को इसलिए भी बर्दाश्त करते हैं कि वह तो पहले ही से मौजूद है और उसकी ओर से आँखें नहीं मूँदी जा सकतीं।

शायद उनके मत्थे ये विचार मढ़ने में मैं ग़लती पर होऊँ, लेकिन मेरा यह ख़याल ज़रूर है कि वह इसी तरह सोचते मालूम पड़ते हैं, और उनके कथनों में हमें जो विरोधाभास और अस्तव्यस्तता परेशान करती है उसका असली कारण यह है कि उनके तर्क के आधार बिलकुल भिन्न हैं। वह यह नहीं चाहते कि लोग हमेशा बढ़ते जानेवाले आराम और अवकाश को अपने जीवन का लक्ष्य बनावें। वह तो यह चाहते हैं कि लोग नैतिक जीवन की बातें सोचें, अपनी बुरी लतें छोड़ दें, शारीरिक भोगों को दिन-पर-दिन कम करते जायँ और इस तरह अपनी नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति करें। और जो लोग सर्वसाधारण की सेवा

करना चाहते हैं उन्हें उनकी आर्थिक अवस्था सुधारने की उतनी कोशिश नहीं करनी चाहिए, जितनी यह कोशिश करनी चाहिए कि वे स्वयं उनकी तह पर नीचे चले जायँ और उनके साथ बराबरी की हैसियत से मिलें। ऐसा करते हुए वे लाज़िमीतौर पर कुछ हद तक उनकी हालत बेहतर करने में मदद दे सकेंगे। उनकी राय के मुताबिक़ यही सच्चा लोकतन्त्र है। १७ सितम्बर १९३४ को उन्होंने जो वक्तव्य दिया था, उसमें उन्होंने लिखा है कि, "बहुत से लोग मेरा विरोध करने की आशा छोड़ बैठे हैं। मेरे लिए यह बात मुझे ज़लील करने जैसी है, क्योंकि मैं तो जन्म से ही लोकतन्त्रवादी हूँ। ग़रीब-से-ग़रीब व्यक्ति के साथ बिलकुल उसी जैसा हो जाना, जिस हालत में वह रहता है उससे बेहतर हालत में रहने की इच्छा त्याग देना, और अपनी पूरी शक्ति से उसकी तह तक पहुँचने की कोशिश हमेशा स्वेच्छापूर्वक करते रहना, अगर ये ऐसी बातें हैं, जिनकी बुनियाद पर किसीको अपने को लोकतन्त्रवादी कहने का हक़ मिल सकता है, तो मैं यह दावा करता हूँ।"

इस हद तक तो गांधीजी की बात को सभी लोग मानेंगे कि अपने को सर्वसाधारण से बिलकुल अलग कर लेना और अपनी विलासिता का और अपनी ऊँची रहन-सहन का प्रदर्शन उन लाखों लोगों के सामने करना जिनके पास ज़रूरी-से ज़रूरी चीज़ों की भी कमी है बहुत ही अशोभनीय और अनुचित है। लेकिन इसके अलावा गांधीजी की अन्य दलीलों और उनके दृष्टिकोण से आजकल का कोई भी लोकतन्त्रवादी, पूँजीवादी या समाजवादी सहमत नहीं हो सकता। जिन लोगों का पुराना धार्मिक दृष्टिकोण है, वे उनकी बातों से कुछ हद तक सहमत हो सकते हैं, क्योंकि दोनों विचार की दृष्टि से अतीत से बँधे हुए हैं, और हमेशा हर बात अतीत की दृष्टि से ही देखा करते हैं। वे वर्तमान या भविष्यकाल की बाबत इतना नहीं सोचते, जितना भूतकाल की बाबत। भूतकाल की ओर और भविष्यकाल की ओर ले जानेवाली प्रेरणाओं में ज़मीन और आसमान का अन्तर है। पुराने ज़माने में तो इस बात का सोचा जाना भी मुश्किल था कि सर्वसाधारण की आर्थिक अवस्था सुधारी जाय। उन दिनों निर्धन तो हमारे समाज के अभिन्न अंग थे। मुट्ठीभर धनी लोग थे। वे सामाजिक ढाँचे और अर्थोत्पादन प्रणाली के मुख्य अंग थे। इसीलिए धार्मिक, सुधारक और पर-दुःखकातर व्यक्ति उन्हें स्वीकार कर लेते थे, लेकिन साथ ही उनको यह बात सुझाने की कोशिश करते रहते थे कि अपने ग़रीब भाइयों के प्रति अपने कर्तव्य को न भूलें। धनी लोग ग़रीबों के ट्रस्टी बनकर रहें, दानी बनें। इस प्रकार दान-पुण्य धर्म का एक मुख्य अंग हो गया। राजा-महाराजाओं, बड़े-बड़े ज़मींदारों और पूँजीपतियों के लिए गांधीजी ट्रस्टी बनने के इस आदर्श पर हमेशा ज़ोर देते रहते हैं। वे इस विषय में उन अनेक धार्मिक पुरुषों की परम्परा पर चल रहे हैं, जो समय-समय पर यही कह गये हैं। पोप ने ऐलान किया है कि "धनवानों

को यही ख़याल करना चाहिए कि वे प्रभु के सेवक हैं, स्वयं ईसामसीह ने ग़रीबों का भाग्य उनके हाथ में सौंपा है और वे ईश्वर की सम्पत्ति के रक्षक और बाँटनेवाले हैं।" सामान्य हिन्दू-धर्म और इस्लाम में भी यही विचार मौजूद है। वे हमेशा धनवानों से यह कहते रहते हैं कि दान-पुण्य करो, और धनिक भी मन्दिर या मस्जिद या धर्मशालाएं बनवाकर अथवा अपने विशाल भंडार से ग़रीबों को कुछ तांबे या चाँदी के सिक्के देकर सोचने लगते हैं कि हम बड़े धर्मात्मा हैं।

पोप तेरहवें लियो ने मई १८९१ में जो प्रसिद्ध धर्माज्ञा निकाली थी, उसमें पुरानी दुनिया की इस धार्मिक दृष्टि को दरसानेवाला एक ज्वलन्त वाक्य है। नयी औद्योगिक परिस्थिति पर अपनी दलील देते हुए पोप ने कहा था—

"कष्ट उठाना तथा धीरज धरना—यही मानवसमाज के भाग्य में है। मनुष्य चाहे जितनी कोशिश करे उसकी ज़िन्दगी में जिन दुःखों और कठिनाइयों ने घर कर लिया है, उनका बहिष्कार करने में कोई भी ताक़त या तदबीर कारगर नहीं हो सकती। अगर कोई इसके विपरीत ढोंग करता है, और संकटग्रस्त लोगों को दुःख और कठिनाइयों से छुटकारा, निर्विघ्न आराम और सदा सुख-भोग की उम्मीद दिलाता है, तो वह लोगों को सरासर धोखा देता है। उसके ये झूठे वादे उन दुःखों को उलटे और दुगुना कर देनेवाले हैं। हम दुनिया को वास्तविक रूप में देखें, और साथ ही उसके दुःखों के नाश का उपाय अन्यत्र खोजें—इससे अधिक उपयोगी और कोई बात नहीं है।"

यह अन्यत्र कहाँ है यह हमें आगे बताया गया है—

"इस लोक के उपभोगों की वस्तुस्थिति समझने तथा ठीक-ठीक क़ीमत लगाने के लिए परलोक के शाश्वत जीवन पर विचार कर लेना आवश्यक है....... प्रकृति से हम जिस महान् सत्य की शिक्षा लेते हैं वह ईसाई-धर्म का भी सर्वमान्य सिद्धान्त है—वह सत्य यह है कि इस लोक के जीवन को समाप्त कर लेने के बाद ही हमारा वास्तविक जीवन आरम्भ होगा। ईश्वर ने हमें दुनिया में अनित्य और क्षणभंगुर उपभोगों के लिए नहीं पैदा किया है, बल्कि दिव्य और सनातन उपभोगों के लिए पैदा किया है। यह दुनिया तो ईश्वर ने हमें देश-निकाले के बतौर दी है, निज के देश के बतौर नहीं। रुपया और अन्य पदार्थों को लोग अच्छा इष्ट गिनते हैं। उनकी अपने पास बहुलता भी हो सकती है और अभाव भी हो सकता है—जहाँतक शाश्वत सुख से सम्बन्ध है, उनका होना न होना बराबर है...।"

यह धार्मिक वृत्ति उस प्राचीन काल की दुनिया से आबद्ध है जब वर्तमान दुःखों से बचने का एकमात्र मार्ग परलोक के जीवन की आशा थी। यद्यपि तबसे लोगों की आर्थिक अवस्था में कल्पनातीत उन्नति हो चुकी है, फिर भी हमारी दृष्टि भूतकाल के स्वप्न से आविष्ट है और अब भी कुछ ऐसी आध्यात्मिक

बातों पर ज़ोर दिया जाता है जो गोल-मोल हैं और ऊटपटाँग-सी हैं और जिनकी नाप-जोख नहीं हो सकती। कैथलिक लोगों की निगाह बारहवीं और तेरहवीं सदी की तरफ़ दौड़ती है। दूसरे लोग जिसे अन्धकार-युग कहते हैं उसीको वे ईसाई-धर्म का 'स्वर्ण-युग' कहते हैं। कारण, उस समय ईसाई सन्तों की भरमार थी, ईसाई राजा धर्मयुद्धों के लिए कूच करते थे और गोथिक ढंग पर गिरजाघरों का निर्माण होता था। उनकी राय में वह ज़माना सच्चे ईसाई लोकतन्त्र का था, मध्यकालीन महाजनों के अंकुश में उसकी स्थापना की। इसके पहले और इसके बाद ऐसे लोकतन्त्र का साक्षात्कार और कहीं नहीं हुआ। मुसलमान इस्लामी लोकतन्त्र के लिए शुरू के ख़लीफ़ाओं की ओर हसरतभरी निगाह दौड़ाते हैं, क्योंकि उन ख़लीफ़ाओं ने दूर-दूर देशों में अपनी विजय-पताका फहराई थी। इसी तरह हिन्दू भी वैदिक और पौराणिक काल की बातें सोचते हैं, और रामराज्य के सपने देखते हैं। फिर भी तमाम दुनिया के इतिहास हमें बतलाते हैं कि उन दिनों की अधिकांश जनता बड़ी मुसीबत में रहती थी। उसके लिए तो अन्न-वस्त्र तक का घोर अभाव था। हो सकता है कि उन दिनों चोटी के कुछ मुट्ठीभर लोग आध्यात्मिक जीवन बिताते हों, क्योंकि उनके लिए फ़ुर्सत भी थी और साधन भी थे, लेकिन दूसरों के लिए तो यह सोचना भी मुश्किल है कि वे महज़ पेट पालने में दिन-रात जुटे रहने के अलावा और कुछ करते होंगे। जो शख़्स भूखों मर रहा है वह सांस्कृतिक और आध्यात्मिक उन्नति कैसे कर सकता है? वह तो इसी फ़िक्र में लगा रहता है कि खाने का इन्तज़ाम कैसे हो?

औद्योगिक युग अपने साथ ऐसी बहुत-सी बुराइयाँ लाया है, जो घनीभूत होकर हमारी दृष्टि के सामने घूमती रहती हैं। लेकिन हम भूल जाते हैं कि समस्त संसार और ख़ासकर उन हिस्सों में, जहाँ उद्योग-धन्धे बहुतायत से आ गये हैं, इसने भौतिक प्रगति की ऐसी बुनियाद डाल दी है, जो बहुजनसमाज के लिए सांस्कृतिक और आध्यात्मिक प्रगति को अत्यन्त सुगम कर देती है। यह बात हिन्दुस्तान में या दूसरे औपनिवेशिक देशों में साफ़ ज़ाहिर नहीं दिखाई देती है, क्योंकि हम लोगों ने उद्योगवाद से फ़ायदा नहीं उठा पाया है। हम लोगों का तो उलटा उद्योगवाद ने शोषण किया है, और बहुत-सी बातों में हमारी हालत, आर्थिक दृष्टि से भी, पहले से भी, बदतर हो गई है—सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से तो वह और भी ज़्यादा बदतर हो गई है। इस मामले में क़ुसूर उद्योगवाद का नहीं, बल्कि विदेशी आधिपत्य का है। हिन्दुस्तान में जो चीज़ पश्चिमीकरण के नाम से पुकारी जाती है उसने कम-से-कम इस वक़्त के लिए तो, असल में, मालिकशाही को और भी मज़बूत कर दिया है। उसने हमारे एक भी मसले को हल करने के बदले उसे और भी पेचीदा कर दिया है।

लेकिन यह तो हमारी बदक़िस्मती की बात हुई। मगर इस दृष्टि से हमें

आज की दुनिया को नहीं देखना चाहिए। क्योंकि मौजूदा हालतमें तमाम समाज के लिए या उत्पादन-व्यवस्था के लिए धनवान लोग अब न तो ज़रूरी ही रहे हैं न वाञ्छनीय ही। अब वे फ़ज़ूल हो गये हैं और हर वक़्त हमारे रास्ते में रोड़े की तरह अटकते हैं। धर्माचार्यों के उस पुरातन उपदेश के कोई मानी नहीं रहे, कि धनवान लोग दान-पुण्य करें और ग़रीब जिस हालत में हैं, उसीमें सन्तुष्ट रहें और उसके लिए ईश्वर का धन्यवाद करें, मितव्ययी बनें, और भले आदमियों की तरह रहें। अब तो मानव-समाज के साधन प्रचुरता से बढ़ गये हैं, और वह सांसारिक समस्याओं का सामना कर उनका उपाय कर सकता है। ज़्यादातर अमीर लोग निश्चित रूप से दूसरों के श्रम के बल पर जीवन व्यतीत करते हैं, और समाज में ऐसे पराश्रयी समुदाय का होना न केवल इन उत्पादक शक्तियों के मार्ग में बाधा है वरन् उनका अपव्यय करनेवाला भी है। यह वर्ग और इस वर्ग को पैदा करनेवाली व्यवस्था वास्तव में उद्यम और पैदावार को रोकती है और समाज के दोनों सिरों पर बेकारों को प्रोत्साहन देती है, यानी उन लोगों को भी जो दूसरों की मेहनत पर चैन करते हैं और उनको भी जिनको कोई काम ही नहीं मिलता और इसलिए भूखों मरते हैं। ख़ुद गांधीजी ने कुछ वक़्त पहले लिखा था—"बेकार और भूखों मरनेवाले लोगों के लिए तो मज़दूरी और वेतन के रूप में भोजन का आश्वासन ही ईश्वर हो सकता है। ईश्वर ने मनुष्यों को इसलिए पैदा किया था कि वे कमाकर खावें और उसने कह दिया है कि जो बिना कमाये खाते हैं वे चोर हैं।"

वर्तमान युग की पेचीदा समस्याओं को प्राचीन पद्धतियों और सूत्रों का प्रयोग कर समझने का प्रयत्न करना और उनके बारे में बीते हुए ज़माने की भाषा का प्रयोग करना उलझन पैदा करना और असफलता को निमन्त्रित करना है, क्योंकि, उस ज़माने में ये समस्याएँ पैदा ही नहीं हुई थीं। कुछ लोगों की यह धारणा है कि निजी सम्पत्ति पर स्वामित्व की कल्पना संसार के आदि काल से चली आनेवाली कल्पनाओं में से एक है; किन्तु वास्तव में यह सदा बदलती रही है। एक ज़माना था जबकि ग़ुलामों की गिनती सम्पत्ति में की जाती थी। इसी तरह स्त्रियों और बालकों, पति का नववधू को पहली रात पर अधिकार, और सड़कों, मन्दिरों, नावों, पुलों, सार्वजनिक उपयोग की वस्तुओं एवम् वायु और भूमि—इन सब पर स्वामित्व के अधिकार का उपभोग किया जा सकता था। पशु अब भी मिल्कियत समझे जाते हैं, हालांकि अनेक देशों में उनपर स्वामित्व का अधिकार बहुत मर्यादित कर दिया गया है। युद्ध के समय में तो निजी सम्पत्ति के अधिकारों पर लगातार कुठाराघात होता रहता है। निजी सम्पत्ति दिन-पर-दिन स्थूल रूप छोड़कर नये-नये रूप धारण कर रही है—जैसे शेयर, बैंक में जमा की हुई और क़र्ज़ के रूप में दी गई पूँजी। ज्यों-ज्यों सम्पत्ति-सम्बन्धी धारणा बदलती जाती है, राज्य अधिकाधिक दस्तन्दाज़ी

करता जाता है और जनता की माँगों के फलस्वरूप सम्पत्तिवालों के अन्धाधुन्ध अधिकारों को सीमित कर देता है। अनेक प्रकार के भारी-भारी टैक्स सार्वजनिक हित के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकारों का अपहरण कर लेते हैं; ये कर एक प्रकार की ज़ब्ती है, सार्वजनिक हित सार्वजनिक नीति की बुनियाद है और किसी व्यक्ति को यह हक़ नहीं है कि वह अपने साम्पत्तिक अधिकारों की रक्षा के लिए भी इस सार्वजनिक हित के विरुद्ध काम करे। अगर देखा जाय तो पिछले ज़माने में भी ज़्यादातर लोगों के कोई साम्पत्तिक अधिकार नहीं थे; वे ख़ुद ही दूसरों की मिल्कियत बने हुए थे। आज भी बहुत कम लोगों को ये हक़ हासिल हैं। स्थापित स्वार्थों की बात बहुत सुनाई देती है, लेकिन आजकल तो एक नया स्थापित स्वार्थ और माना जाने लगा है, और वह यह कि हर औरत और मर्द को यह हक़ है कि वह ज़िन्दा रहे, मेहनत करे और अपनी मेहनत के फलों का उपभोग करे। इन बदलती रहनेवाली धारणाओं के कारण मिल्कियत और सम्पत्ति का लोप नहीं हो गया है बल्कि उनका क्षेत्र और अधिक व्यापक हो गया है; मिल्कियत और सम्पत्ति के कुछ थोड़े ही लोगों के पास केन्द्रित हो जाने से इन मुट्ठी-भर लोगों को दूसरों पर जो अधिकार प्राप्त हो गया था वह फिर सारे समाज के हाथों में वापिस ले लिया गया है।

गांधीजी लोगों का आन्तरिक, नैतिक और आध्यात्मिक सुधार चाहते हैं और इस प्रकार सारी बाह्य परिस्थिति को ही बदल देना चाहते हैं। वह चाहते हैं कि लोग बुरी आदतें छोड़ दें, इन्द्रिय-भोगों को तिलांजलि दे दें और पवित्र बनें। वह इस बात पर ज़ोर देते हैं कि लोग ब्रह्मचर्य से रहें, नशा न करें, और सिगरेट वग़ैरा न पीवें। इन व्यसनों में से कौन-सा ज़्यादा बुरा है और कौन-सा कम, इस विषय में लोगों में मतभेद हो सकता है। लेकिन लोभ, स्वार्थ, परिग्रह, व्यक्तिगत लाभ के लिए आपस में भयानक लड़ाई-झगड़ा, समूहों और वर्गों में कलह, एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का अमानुषिक शोषण और दमन तथा राष्ट्रों की आपस की भयानक लड़ाइयां--इनकी तुलना में ये व्यक्तिगत त्रुटियाँ, वैयक्तिक दृष्टि से भी और सामाजिक दृष्टि से भी बहुत कम हानिकारक हैं. इस बात में क्या किसी को शक हो सकता है? यह सच है कि गांधीजी समस्त हिंसा और पतनकारी कलह से घृणा करते हैं। लेकिन क्या ये चीज़ें आज कल के स्वार्थी पूँजीपति समाज में स्वाभाविक रूप में मौजूद नहीं हैं, जिसका नियम यह है कि कि "जिसकी लाठी उसकी भैंस और पुराने ज़माने की तरह जिसका मूलमन्त्र यह है कि जिनके बाहुओं में ताक़त है वे जो चाहें सो ले लें और जो चाहें अपने पास रख लें?" इस युग की मुनाफ़े की भावना का लाज़िमी परिणाम संघर्ष होता है। यह सारी व्यवस्था मनुष्य की लूट-खसोट की सहज वृत्तियों का पोषण करती है और उसको फलने-फूलने की पूरी सुविधा देती है। इसमें सन्देह नहीं कि इससे मनुष्य की उच्च भावनाओं को भी राह मिलती है; लेकिन इनकी अपेक्षा उनकी

हीन वृत्तियों को कहीं अधिक पोषण मिलता है। इस व्यवस्था के भीतर कामयाबी के मानी हैं दूसरों को नीचे गिरा देना और गिरे हुओं पर चढ़ बैठना। अगर समाज इन उद्देश्यों और महत्त्वाकांक्षाओं को प्रोत्साहित करता है और इन्हीं की तरफ़ समाज के सर्वोत्तम व्यक्ति आकृष्ट होते हैं, तो क्या गांधीजी यह समझते हैं कि ऐसे वातावरण में वह मानव-समाज को सदाचारी बनाने के अपने आदर्श को पूरा कर सकेंगे? वह सर्वसाधारण को सेवापरायण बनाना चाहते हैं। सम्भव है, कुछ व्यक्तियों को बनाने में उन्हें कामयाबी भी मिल जाय; लेकिन जब तक समाज लोभी व्यक्तियों को आदर्श रूप में रक्खेगा और व्यक्तिगत लाभ की भावना उसकी प्रेरक शक्ति बनी रहेगी तब तक बहुजन तो इसी मार्ग पर चलते रहेंगे।

लेकिन यह प्रश्न तो अब केवल सदाचार या नीति-शास्त्र का नहीं है। यह तो आजकल का व्यावहारिक और एक बहुत ज़रूरी प्रश्न है, क्योंकि दुनिया ऐसे दलदल में फँस गई है जिससे निकलने की कोई उम्मीद नहीं, उसे उसमें से निकालने के लिए कोई-न-कोई रास्ता ढूँढना ही होगा। 'मिकावर' की तरह हम इस बात का इन्तज़ार नहीं कर सकते कि कुछ-न-कुछ अपने-आप हो जायगा। न तो पूँजीवाद, समाजवाद, कम्यूनिज़्म आदि के बुरे पहलुओं की निरी आलोचना करने से और न यह निराधार आशा लगाये बैठे रहने से, कि कोई ऐसा बीच का रास्ता निकल आयेगा जो अभीतक की सब पुरानी और नई पद्धतियों की चुनी हुई अच्छी-से-अच्छी बातों का समन्वय कर देगा, कुछ काम चलेगा। रोग का निदान करना होगा, इसके उपचार का पता लगाना होगा, और उसे काम में लाना पड़ेगा। यह बिलकुल निश्चित है कि हम जहाँ हैं वहां-के-वहीं खड़े नहीं रह सकते—न तो राष्ट्रीय दृष्टि से, न अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से ही। हमारे लिए दो ही रास्ते हो सकते हैं, या तो पीछे हटें या आगे बढ़ें। लेकिन शायद इस बात में संकल्प-विकल्प का स्थान नहीं है, क्योंकि पीछे हटने की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती।

फिर भी गांधीजी की बहुत-सी प्रवृत्तियों से यह मालूम पड़ता है कि उनका ध्येय अत्यन्त संकुचित स्वावलम्बी व्यवस्था को फिर से ले आना है। वह न केवल राष्ट्र बल्कि गांव तक को स्वावलम्बी बना देना चाहते हैं। प्राचीनकाल के समाजों में गांव लगभग स्वावलम्बी थे। वे अपने खाने को नाज, पहनने को

'मिकावर विल्किन्स, चार्ल्स डिकिन्स के 'डेविड कापरफ़ील्ड' नामक उपन्यास का एक प्रसिद्ध पात्र है, जो क्षण भर मे उदास और क्षण भर में प्रसन्न हो जाता था। वह बड़ा अदूरदर्शी था और इसलिए हमेशा मुसीबतों का शिकार रहता था। वह सदैव इस बात की प्रतीक्षा में रहता था कि अपने-आप कुछ-न-कुछ होने ही वाला है। —अनु०

कपड़े और अपनी ज़रूरतों के दूसरे सामान स्वयं पैदा कर लेते थे। निश्चय ही इसके मानी यह हैं कि लोग बहुत ही ग़रीबी ढंग से रहते होंगे। मैं यह नहीं समझता कि गांधीजी हमेशा के लिए यही लक्ष्य बनाये रखना चाहते हैं, क्योंकि यह तो असम्भव लक्ष्य है। ऐसी हालत में जिन देशों की जनसंख्या बहुत अधिक है, वे तो ज़िन्दा ही नहीं रह सकते, इसलिए वे इस बात को बर्दाश्त नहीं करेंगे कि इस कष्टमय और भूखों मरने की स्थिति की ओर लौटा जाय। मेरा ख़याल है कि हिन्दुस्तान जैसे कृषि-प्रधान देश में, जहां कि रहन-सहन का स्टैण्डर्ड बहुत नीचा है, ग्रामीण उद्योगों को तरक़्क़ी देकर वहां की जनता के पैमाने को कुछ ऊँचा कर सकते हैं। लेकिन हम लोग बाक़ी दुनिया से उसी तरह बंधे हुए हैं जैसे दूसरे देश बंधे हुए हैं, और मुझे यह बात बिलकुल अनहोनी मालूम देती है कि हम दुनिया से अलग होकर रह सकेंगे इसलिए हमें सब बातों को तमाम दुनिया की निगाह से देखना होगा और इस दृष्टि से देखने पर संकुचित स्वावलम्बी व्यवस्था की कल्पना नहीं हो सकती। व्यक्तिगत रूप से मैं तो उसे सब दृष्टियों से अवांछनीय समझता हूँ।

अनिवार्य रूप से हमारे पास सिर्फ़ एक ही सम्भव उपाय रह जाता है और वह है समाजवादी व्यवस्था की स्थापना। यह व्यवस्था पहले राष्ट्रीय सीमाओं के भीतर स्थापित होगी, फिर कालान्तर में समस्त संसार में व्याप्त हो जायगी। इस व्यवस्था में सम्पत्ति का उत्पादन और बँटवारा सार्वजनिक हित की दृष्टि से और जनता के हाथों से होगा। यह कार्य कैसे हो, यह एक दूसरा सवाल है। लेकिन इतनी बात साफ़ है कि यदि जिन थोड़े से लोगों को मौजूदा व्यवस्था से फ़ायदा पहुँचता है वे उसे बदलने में एतराज़ करते हैं, तो हमें केवल उनके ख़याल से अपने राष्ट्र या मनुष्य-जाति की भलाई का काम नहीं रोकना चाहिए। अगर राजनैतिक या सामाजिक संस्थाएं इस प्रकार के परिवर्तन में विघ्न डालती हैं, तो उन संस्थाओं को मिटाना होगा। इस वाञ्छनीय और व्यावहारिक आदर्श को तिलांजलि देकर उन संस्थाओं से समझौता करना महान् विश्वास-घात होगा। इन परिवर्तनों के लिए कुछ हद तक दुनिया की हालत मजबूर कर सकती है और इनकी रफ़्तार तेज़ कर सकती है, लेकिन वे तभी हो सकेंगे जब बहुत बड़ी संख्या में लोग उन्हें चाहेंगे और स्वीकार करेंगे। चाहे इसीलिए लोगों को समझा-बुझाकर इन परिवर्तनों के पक्ष में कर लेने की आवश्यकता है। मुट्ठीभर लोगों के षड्यन्त्र करके हिंसात्मक काम करने से काम नहीं चलेगा। जिन लोगों को मौजूदा व्यवस्था से फ़ायदा पहुँचता है, उनको भी अपनी तरफ़ मिलाने की कोशिश करनी चाहिए, लेकिन यह बात मुमकिन नहीं मालूम होती कि उनमें से अधिकांश कभी हमारी तरफ़ हो सकेंगे।

खादी-आन्दोलन—हाथकताई और हाथबुनाई—गांधीजी को विशेष रूप से प्रिय है। यह व्यक्तिगत अर्थोत्पादन का तीव्र रूप है और इस तरह वह

हमें अयौगिक ज़माने से पीछे फेंक देता है। आजकल के किसी भी बड़े मसले को हल करने के लिहाज़ से आप उसपर बहुत भरोसा नहीं कर सकते। इसके अलावा उससे एक ऐसी मनोवृत्ति पैदा होती है जो हमें सही दिशा की तरफ़ बढ़ने देने में अड़चन साबित हो सकती है। फिर भी, मैं मानता हूँ कि, कुछ समय के लिए उसने बहुत फ़ायदा पहुँचाया और भविष्य में भी उस समय तक के लिए लाभदायक हो सकता है, जबतक सरकार व्यापक रूप से देशभर के लिए कृषि और उद्योग-धन्धे-सम्बन्धी प्रश्नों को ठीक तरह से हल करने का भार अपने ऊपर नहीं ले लेती। हिन्दुस्तान में इतनी ज़्यादा बेकारी है जिसका कोई हिसाब नहीं है, और देहाती क्षेत्रों में तो आंशिक बेकारी इससे भी कहीं ज़्यादा है। सरकार की तरफ़ से इस बेकारी का मुक़ाबला करने के लिए कोई कोशिश ही नहीं की गई है, न उसने बेकारों को किसी क़िस्म की मदद देने की कोशिश की है। आर्थिक दृष्टि से खादी ने पूर्ण रूप या आंशिक रूप से बेकार लोगों को कुछ थोड़ी-सी मदद ज़रूर दी है; और चूँकि उनको जो कुछ मदद मिली वह उनकी अपनी कोशिश से मिली, इसलिए उसने उनके आत्मविश्वास का भाव बढ़ाया है और उनमें स्वाभिमान का भाव जागृत कर दिया है। सच बात यह है कि खादी का सबसे अच्छा परिणाम मन पर पड़ा है। खादी ने शहरवालों और गाँववालों के बीच की खाई को पाटने की कोशिश में कुछ कामयाबी हासिल की है। उसने मध्यमवर्ग के पढ़े-लिखे लोगों और किसानों को एक दूसरे के नज़दीक पहुँचाया है। कपड़ों का, पहननेवालों और देखनेवालों दोनों के ही मन पर बहुत असर पड़ता है, इसलिए जब मध्यमवर्ग के लोगों ने सफ़ेद खादी की सादी पोशाक पहननी शुरू की तो उसके फलस्वरूप सादगी बढ़ी, पोशाक में दिखावा और गँवारूपन कम हो गया, और सर्वसाधारण के साथ एकता का भाव बढ़ा। निम्न मध्यमवर्ग के लोगों ने कपड़ों के मामलों में धनिकों की नक़ल करना और सादी पोशाक पहनने में किसी क़िस्म की बेइज़्ज़ती समझना छोड़ दिया। इतना ही नहीं इससे विपरीत जो लोग अब भी रेशम और मलमल पर नाज़ करते थे, उनसे वे अपने को ज़्यादा प्रतिष्ठित और कुछ ऊँचा समझने लगे। ग़रीब-से-ग़रीब आदमी भी खादी पहनकर आत्म-सम्मान और प्रतिष्ठा अनुभव करने लगा। जहाँ बहुत-से खादी-धारी लोग जमा हो जाते थे वहाँ यह पहचानना मुश्किल हो जाता था कि इनमें कौन अमीर है और कौन ग़रीब, और इन लोगों में बन्धुत्व का भाव पैदा हो जाता था। इसमें कोई शक नहीं कि खादी ने कांग्रेस को जनता के पास पहुँचने में मदद दी। वह राष्ट्रीय स्वाधीनता की वर्दी हो गई।

इसके अलावा, मिल-मालिकों की कपड़ों की क़ीमतें बढ़ाते जाने की प्रवृत्ति भी खादी ने रोकी। पहले हिन्दुस्तान के मिल-मालिकों को सिर्फ़ एक ही डर क़ीमतें बढ़ाने से रोकता था, और वह था विलायती, ख़ासतौर पर लंकाशायर

के, कपड़ों की क़ीमतों का मुक़ाबला। जब कभी यह मुक़ाबला बन्द हो जाता, जैसा कि विश्वव्यापी महायुद्ध के ज़माने में हुआ था, तभी हिन्दुस्तान में कपड़ों की क़ीमत बेहद चढ़ जाती और हिन्दुस्तान की मिलें भारी मुनाफ़ा कमातीं। इसके बाद 'स्वदेशी' तथा 'विलायती कपड़ों का बहिष्कार' के आन्दोलन ने भी इन मिलों की बहुत बड़ी मदद की, लेकिन जबसे खादी मुक़ाबले पर आ डटी तबसे बिलकुल दूसरी बात हो गई और मिल के कपड़ों की क़ीमतें उतनी न बढ़ सकीं जितनी वे खादी के न होने पर बढ़तीं। वस्तुतः मिलों ने (साथ ही जापान ने) लोगों की खादी भावना से नाजायज़ फ़ायदा उठाया। उन्होंने ऐसा मोटा कपड़ा तैयार किया, जिसका हाथ के कते और हाथ के बुने कपड़ों से भेद करना मुश्किल हो गया। युद्ध-जैसी किसी असाधारण परिस्थिति से विलायती कपड़े का हिन्दुस्तान में आना बन्द हो जाने पर हिन्दुस्तानी मिल-मालिकों के लिए कपड़ों के ख़रीदारों को अब १६१४ की तरह लूट सकना मुमकिन नहीं है। खादी-आन्दोलन उन्हें ऐसा करने से रोकेगा, खादी-संगठन में इतनी ताक़त है कि वह थोड़े ही दिनों में अपना काम बढ़ा सकता है।

लेकिन हिन्दुस्तान में खादी-आन्दोलन के इन सब फ़ायदों के होते हुए भी मुझे ऐसा मालूम होता है कि वह संक्रमण-काल की ही वस्तु हो सकती है। सम्भव है, कि मुख्य आर्थिक व्यवस्था—समाजवादी व्यवस्था क़ायम होने तक वह एक सहायक प्रवृत्ति के रूप में भविष्य में भी चलता रहे। लेकिन भविष्य में तो हमारी मुख्य शक्ति कृषि-सम्बन्धी वर्तमान अवस्था में आमूल परिवर्तन करके औद्योगिक धन्धों के प्रसार में लगेगी। कृषि-सम्बन्धी समस्याओं के साथ खिलवाड़ करने से और उन अगणित कमीशनों को बढ़ाने से जो लाखों रुपये ख़र्च करने के बाद—सिर्फ़ ऊपरी ढाँचों में छुटपुट परिवर्तन करने की तुच्छ तजवीज़ें करते हैं—ज़रा भी काम नहीं चलेगा। हमारे यहाँ जो भूमि-व्यवस्था जारी है, वह हमारी आंखों के सामने ढहती जा रही है, और वह पैदावार के लिए, बँटवारे के लिए, और युक्तियुक्त तथा बड़े पैमाने पर कृषिप्रयोगों के लिए एक अड़चन साबित हो रही है। इस अवस्था में आमूल परिवर्तन करके छोटे-छोटे ख़ित्तों की जगह संगठित, सामूहिक और सहकारी कृषि-प्रणाली से थोड़े परिश्रम-द्वारा अधिक पैदावार करके ही हम मौजूदा हालत का मुक़ाबला कर सकते हैं। यह ठीक है कि (जैसा गांधीजी को डर है) बड़े पैमाने पर काम कराने से खेतों पर मज़दूरी करनेवालों की तादाद कम हो जायगी; लेकिन खेती का काम ऐसा नहीं है कि उसमें हिन्दुस्तान के तमाम लोग लग जायँगे या लग ही सकेंगे। कुछ लोग तो छोटे उद्योगों में लग जायँगे, लेकिन ज़्यादातर लोगों को ख़ासतौर पर बड़े पैमाने पर समाजोपयोगी काम-धन्धों में लगना होगा।

यह सच है कि बहुत-से प्रदेशों में खादी से कुछ राहत मिली है, लेकिन

उसकी इस कामयाबी में ही एक ख़तरा भी छिपा हुआ है। वह यहाँ की जीर्ण-शीर्ण भूमि-व्यवस्था को पोषण दे रही है। और उस हद तक उसकी जगह एक उन्नत व्यवस्था के आने में देर लगा रही है। यह ज़रूर है कि खादी का यह असर इतना ज़्यादा नहीं है कि उसमें कोई ज़्यादा फ़र्क़ पड़े, लेकिन वह प्रवृत्ति तो मौजूद है। किसान या छोटे किसान-ज़मींदार को उसके खेतों की पैदावार का जो हिस्सा मिलता है वह अब इतना काफ़ी भी नहीं रहा कि वह अपनी बहुत गिरी हुई हालत में भी उससे अपना गुज़ारा कर ले। अपनी तुच्छ आय बढ़ाने के लिए उसे बाहरी साधनों का सहारा लेना पड़ता है, या जैसा कि वह आमतौर पर होता है, उसे अपना लगान या अपनी मालगुज़ारी अदा करने के लिए और भी ज़्यादा क़र्ज़ में फँसना पड़ता है। इस तरह किसान को खादी वग़ैरा से जो अतिरिक्त आमदनी होती है उससे सरकार या ज़मींदार को अपना हिस्सा वसूल करने में मदद मिलती है। अगर यह अतिरिक्त आमदनी न होती तो सरकार या ज़मींदार इस प्रकार वसूली न कर सकते। अगर यह अतिरिक्त आमदनी और बढ़ जाय, तो मुमकिन है कि कुछ दिनों बाद लगान भी इतना बढ़ जायगा कि वह भी उसी में चली जायगी। मौजूदा व्यवस्था में काश्तकार जितनी ज़्यादा मेहनत करेगा और जितनी ज़्यादा किफ़ायतशारी करने की कोशिश करेगा, आख़िर में ज़मींदार को उतना ही ज़्यादा फ़ायदा पहुँचेगा। जहाँ तक मुझे याद है, हेनरी जार्ज ने 'प्रगति और ग़रीबी' ('प्रोग्रेस एण्ड पावर्टी') नामक किताब में इस मामले को, ख़ासतौर पर आयर्लैंड की मिसालें दे देकर, अच्छी तरह समझाया है।

ग्रामोद्योगों का पुनरुद्धार करने का गांधीजी का प्रयत्न उनके खादीवाले कार्यक्रम का विस्तार ही है। उससे तात्कालिक लाभ कुछ अंश में तो स्थायी, परन्तु अधिकांश में अस्थायी होगा। वह गांववालों की उनकी मौजूदा मुसीबत में मदद करेगा और कुछ मृतप्राय सांस्कृतिक और कला-कौशल-सम्बन्धी शक्तियों को पुनर्जीवित कर देगा। लेकिन यह कोशिश मशीनों और उद्योगवाद के ख़िलाफ़ एक हदतक बग़ावत है, इसलिए इसे कामयाबी नहीं मिलेगी। हाल ही में 'हरिजन' में ग्रामोद्योगों के बारे में गांधीजी ने लिखा है—"मशीनों से उस वक़्त काम लेना अच्छा है जब जिस काम को हम पूरा करना चाहते हैं उसके लिए आदमी बहुत कम हों। लेकिन जैसा कि हिन्दुस्तान में है, अगर काम के लिए जितने आदमियों की ज़रूरत है उससे ज़्यादा आदमी मौजूद हों तो, मशीनों से काम लेना बुरा है।.... ...हम लोगों के सामने यह सवाल नहीं है कि हम अपने गांव के रहनेवाले करोड़ों लोगों को काम से छुट्टी या फ़ुरसत किस तरह दिलावें? हमारे सामने सवाल तो यह है, कि हम उनकी साल में काम के छः महीनों के बराबर बेकारी की घड़ियों का किस तरह इस्तेमाल

करें।" लेकिन यह एतराज़ तो थोड़ी-बहुत मात्रा में बेकारी की मुसीबत में पड़े हुए सब मुल्कों पर लागू होता है। लेकिन लोगों के करने के लिए काम नहीं है, ख़राबी यह नहीं है। ख़राबी यह है कि मौजूदा मुनाफ़ा उठाने की प्रणाली में अधिक लोगों को काम में लगाना मिल-मालिकों को लाभकर नहीं होता। काम की तो इतनी बहुतायत है कि वह पुकार-पुकारकर कह रहा है कि आओ, आओ और मुझे पूरा करो—जैसे सड़कों का बनाना, सिंचाई का इन्तज़ाम करना, सफ़ाई और दवादारू की सहूलियतें फैलाना, उद्योग तथा बिजली का, सामाजिक और सांस्कृतिक सेवाओं का और शिक्षा का प्रसार करना और लोगों के पास जिन बीसियों ज़रूरी चीज़ों की कमी है उनके जुटाने का इन्तज़ाम करना। हमारे करोड़ों भाई अगले पचास साल तक इन कामों में बड़ी मेहनत करके भी उन्हें ख़त्म न कर पायेंगे और लोगों को काम मिलते रहेंगे। लेकिन यह सब तभी हो सकता है जबकि प्रेरक-शक्ति समाज की उन्नति करती हो, न कि मुनाफ़े की वृत्ति; और समाज इन कार्यों की योजना सार्वजनिक भलाई के लिए करे। रूसी सोवियट यूनियन में और चाहे जितनी ख़ामियाँ हों, लेकिन वहाँ एक भी आदमी बेकार नहीं है। हमारे भाई इसलिए बेकार नहीं हैं कि उनके लिए कोई काम नहीं है; बल्कि इसलिए बेकार हैं, कि इन्हें काम की और सांस्कृतिक उन्नति की सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं। अगर बच्चों से मज़दूरी कराना क़ानूनन रोक दिया जाय, अमुक उम्र तक हरेक के लिए पढ़ना लाज़िमी कर दिया जाय, तो लड़के और लड़कियाँ मज़दूरों और बेकारों की संख्या में नहीं रहेंगी और मज़दूरों के बाज़ार में से करोड़ों भावी मज़दूरों का बोझ हलका हो जायगा।

गांधीजी ने चर्ख़े और तकली में सुधार करने और इनकी उत्पादन-शक्ति बढ़ाने की कोशिश में कुछ कामयाबी हासिल की है। लेकिन यह कोशिश तो औज़ार और मशीन की तरक़्क़ी करने की कोशिश है; और अगर तरक़्क़ी जारी रही (बिजली से चलाये जानेवाले घरेलू उद्योग-धन्धों की कल्पना असम्भव नहीं है), तो मुनाफ़े की भावना फिर आ घुसेगी और उसके परिणामस्वरूप अधिक उपज तथा बेकारी बढ़ेगी। जबतक हम ग्राम-उद्योगोंमें आधुनिक औद्योगिक यन्त्रों का उपयोग नहीं करेंगे तबतक हम उन भौतिक और सांस्कृतिक पदार्थों को भी नहीं बना सकेंगे जिनकी हमें अत्यन्त आवश्यकता है। फिर ये धन्धे मशीन का मुक़ाबला नहीं कर सकते। हमारे देश में जो बड़े-बड़े कारख़ाने चल रहे हैं उन्हें रोक देना क्या ठीक होगा या सम्भव होगा? गांधीजी ने बार-बार यह कहा है कि वह मशीन मात्र के ख़िलाफ़ नहीं हैं। ऐसा मालूम होता है कि वह यह समझते हैं कि आज हिन्दुस्तान में मशीन के लिए कोई जगह नहीं है। लेकिन क्या हम लोहे और इस्पात जैसे महत्त्वपूर्ण उद्योगों को या इनसे पहले से मौजूद नाना प्रकार के उद्योगों को समेटकर बन्द कर सकते हैं?

साफ़ ज़ाहिर है कि हम ऐसा नहीं कर सकते। अगर हमें अपने यहाँ रेल, पुल, आवागमन के साधन वग़ैरा रखने हैं, तो हमें ये चीज़ें या तो ख़ुद बनानी पड़ेंगी या दूसरे पर निर्भर रहना होगा। अगर हमें रक्षा के साधन अपने पास रखने हैं, तो हमें न सिर्फ़ इन मूल उद्योगों की बल्कि अत्यन्त विकसित औद्योगिक व्यवस्था को आवश्यकता पड़ेगी। इन दिनों तो कोई भी देश उस वक़्त तक असल में आज़ाद नहीं है और न वह दूसरे देश के हमले का मुक़ाबला ही कर सकता है, जबतक औद्योगिक दृष्टि से वह उन्नत न हो चुका हो। एक मूल उद्योग की सहायता तथा पूर्ति के लिए दूसरे उद्योग की, और अन्ततोगत्वा मशीन बनानेवाले उद्योग की आवश्यकता पड़ती है। इन मूल उद्योगों के चालू होने पर नाना प्रकार के उद्योगो का फैलना अनिवार्य हो जायगा। इस प्रक्रिया को कोई रोक नहीं सकता, क्योंकि इसपर न सिर्फ़ हमारी भौतिक और सांस्कृतिक उन्नति निर्भर है बल्कि हमारी आज़ादी भी उसीपर निर्भर है। और बड़े उद्योग जितने ज़्यादा फैलेंगे, छोटे-छोटे ग्रामोद्योग उनका मुक़ाबला उतना ही कम कर सकेंगे। समाजवादी प्रणाली में उनके बचने की थोड़ी-बहुत गुंजाइश हो भी सकती है, लेकिन पूँजीवादी प्रणाली में तो कोई गुंजाइश नहीं है। समाजवाद में भी ये गृहोद्योग उसी हालत में चालू रह सकते हैं, जब वे ख़ासतौर पर ऐसा माल तैयार करें, जो बहुत बड़े पैमाने पर तैयार नहीं किया जाता।

कांग्रेस के कुछ नेता उद्योगीकरण से डरते हैं। उनका ख़याल है कि उद्योग-प्रधान देशों की आजकल की मुश्किलें बहुत बड़े पैमाने पर माल पैदा करने की वजह से ही पैदा हुई हैं। लेकिन यह तो स्थिति का बहुत ही ग़लत अध्ययन है।[1] अगर सर्वसाधारण को किसी चीज़ की कमी है, तो उस चीज़ को उनके लिए काफ़ी तादाद में तैयार करना क्या बुरी बात है? क्या यही बेहतर है कि बहुत बड़े पैमाने पर माल न तैयार किया जाय और लोग ज़रूरी चीज़ों के बिना ही अपना काम चलायें? स्पष्टतया दोष इस तरह माल तैयार करने का नहीं, बल्कि तैयार किये हुए माल का बँटवारा करनेवाली मूर्खतापूर्ण एवं अयोग्यतापूर्ण प्रणाली का है।

ग्रामोद्योग के प्रचारकों को एक दूसरी मुश्किल यह पड़ती है कि हमारी खेती दुनिया के बाज़ार पर निर्भर है। इसकी वजह से मजबूर होकर किसानों को व्यापारी फ़सल बोनी पड़ती है और दुनिया के प्रचलित भावों पर निर्भर रहना पड़ता है। ये भाव बदलते रहते हैं, लेकिन बेचारे किसान को तो अपना

---

[1] ३ जनवरी १९३५ को अहमदाबाद में भाषण करते हुए सरदार वल्लभभाई पटेल ने कहा था—"सच्चा समाजवाद ग्रामोद्योगों को तरक़्क़ी देने में है। हम यह नहीं चाहते कि बहुत बड़े पैमाने पर माल तैयार करने की वजह से पश्चिमी देशों में जो गड़बड़ियाँ पैदा हो गई हैं उन्हें हम अपने यहाँ भी बुलावे।"

लगान या मालगुज़ारी नगद-नारायण के रूप में देनी पड़ती है। यह रुपया किसी-न-किसी तरह उसे प्राप्त करना पड़ता है--अथवा वह रुपया भरने की हरचन्द कोशिश करता है--और इसीलिए वह वही फ़सल बोता है जिसकी वह समझता है कि उसे ज़्यादा-से-ज़्यादा क़ीमत मिलेगी। वह अपना और अपने बाल-बच्चों का पेट भरने-लायक़ अनाज तक अपने खेत में नहीं पैदा कर पाता।

इधर के सालों में अनाजों और दूसरी चीज़ों की क़ीमत एकदम गिर जाने का नतीजा यह हुआ कि लाखों किसान ख़ासतौर पर युक्तप्रान्त और बिहार में, ईख की खेती करने लगे। विलायती शक्कर पर सरकार के चुंगी लगा देने से बरसाती मेंडकों की तरह शक्कर के बहुत-से कारख़ाने खुल गये और गन्ने की माँग बहुत बढ़ गई। लेकिन बहुत शीघ्र गन्ने की पैदावार माँग से बहुत ज़्यादा बढ़ गयी और नतीजा यह हुआ कि कारख़ानों के मालिकों ने बेरहमी के साथ किसानों से अनुचित फ़ायदा उठाया, और गन्ने की क़ीमत गिर गई।

कुछ इन तथा अन्य अनेक कारणों से मुझे ऐसा मालूम होता है कि हम अपनी कृषि और औद्योगिक समस्याएं किसी संकीर्ण स्वावलम्बी योजना से न तो हल कर सकते हैं और न करना ठीक ही होगा। सच पूछो तो ये समस्याएं हमारे राष्ट्रीय जीवन के हर पहलू पर असर डालती हैं। हम लोग स्पष्ट और भावुकतापूर्ण शब्दों का आश्रय लेकर अपनी जान नहीं बचा सकते। हमें तो इन वस्तुस्थितियों का सामना करना होगा और अपनेको उनके अनुकूल बनाना पड़ेगा, जिससे हम लोग इतिहास के लिए दयनीय वस्तु न रहकर उल्लेखनीय विषय बन जायँ।

फिर मुझे उन्हीं उलझनों की मूर्ति—गांधीजी—का ख़याल आता है।[1] समझ में नहीं आता कि इतनी तीव्र बुद्धि और पद-दलितों और पीड़ितों की हालत सुधारने के लिए इतनी तीव्र भावना रखते हुए भी वह उस पतनोन्मुख व्यवस्था का क्यों समर्थन करते हैं, जो इतना दुःख और इतनी बरबादी पैदा कर

---

[1]सन् १९३१ में, लन्दन की दूसरी गोलमेज़-कान्फ्रेन्स में, अपने एक व्याख्यान में गांधीजी ने कहा था—"विशेष रीति से कांग्रेस उन करोड़ों मूक अर्द्धनग्न और अधभूखे प्राणियों की प्रतिनिधि है जो हिन्दुस्तान के सात लाख गांवों में एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक सब जगह फ़ैले हुए हैं।—फिर चाहे ये लोग ब्रिटिश भारत में रहते हों या देशी रियासतों में। इसलिए कांग्रेस की राय में प्रत्येक रक्षा करने-योग्य हित इन करोड़ों मूक प्राणियों के हित का साधक होना चाहिए। आप समय-समय पर विभिन्न हितों में प्रत्यक्ष विरोध देखते हैं, पर अगर सचमुच कोई वास्तविक विरोध हो, तो मैं कांग्रेस की तरफ़ से यह कहने में ज़रा भी नहीं हिचकिचाता कि कांग्रेस इन करोड़ों मूक प्राणियों के हितों के लिए दूसरे प्रत्येक हित का बलिदान कर देगी।"

रही है। यह सच है कि वह एक मार्ग ढूँढ रहे हैं, लेकिन क्या प्राचीनकाल की ओर जाने का वह मार्ग अब पूरी तौर से बन्द नहीं हो गया है? वह देशी रियासतें, बड़ी-बड़ी ज़मींदारियाँ और ताल्लुक़ेदारियाँ और मौजूदा पूँजीवादी प्रणाली आदि प्रगति का विरोध करनेवाले प्राचीन व्यवस्था के जितने भी अवशेष हैं, उन्हें आशीर्वाद देते हैं। क्या ट्रस्टीशिप के उसूल में विश्वास करना उचित है? क्या इस बात की उम्मीद करना ठीक है कि एक आदमी को अबाध अधिकार और धन-सम्पत्ति दे देने पर वह उसका उपयोग सोलहों आने जनता की भलाई के लिए करेगा? क्या हममें से श्रेष्ठतम लोग भी इतने पूर्ण हैं कि उनके ऊपर इस हद तक भरोसा किया जा सके? इस बोझ को तो अफ़लातून की कल्पना के दार्शनिक नृपति भी योग्यतापूर्वक नहीं उठा सकते। क्या दूसरों के लिए यह अच्छा है कि वे अपने ऊपर इन उदार अति-पुरुषों का प्रभुत्व स्वीकार कर लें? फिर ऐसे अति-पुरुष या दार्शनिक नृपति हैं कहाँ? यहाँ तो सिर्फ़ मामूली इन्सान हैं, जो अपनी भलाई, अपने विचारों का प्रसार ही, सार्वजनिक हित मान लेते हैं। वंशानुगत कुलीनता और प्रतिष्ठा की भावना और धन-दौलत की शेख़ी स्थायी हो जाती है और उसका परिणाम कई तरह घातक ही होता है।

मैं इस बात को दुहरा देना चाहता हूँ कि यहाँ पर मैं इस प्रश्न पर विचार नहीं कर रहा हूँ कि यह परिवर्तन किस तरह किया जाय; हमारे रास्ते में जो रोड़े हैं वे किस तरह हटाये जायें—ज़बरदस्ती से या हृदय-परिवर्तन से, हिंसा से या अहिंसा से? इस पहलू पर तो बाद में विचार करूंगा। लेकिन परिवर्तन आवश्यक है यह बात तो मान ही लेनी और साफ़ कर दी जानी चाहिए, क्योंकि यदि नेता और विचारक लोग ही ख़ुद-इस बात को साफ़तौर पर अनुभव न करेंगे और कहेंगे नहीं, तो वे यह उम्मीद कैसे कर सकते हैं कि वे किसीको अपने ख़याल का बना लेंगे या लोगों में वाञ्छित विचार-धारा फैला सकेंगे? इसमें कोई शक नहीं कि सबसे ज़्यादा शिक्षा तो हमें घटनाओं से मिलती है, लेकिन घटनाओं का महत्त्व समझने और उनसे अच्छा नतीजा निकालने के लिए यह ज़रूरी है कि हम उनको अच्छी तरह समझें और उनकी ठीक--ठीक व्याख्या करें।

मेरे भाषणों से चिढ़े हुए मेरे दोस्तों और साथियों ने अक्सर मुझसे यह बात पूछी है कि क्या आपको कोई अच्छा और परोपकारी राजा, उदार ज़मींदार और शुभ-चिन्तक, भलामानस पूँजीपति कभी नहीं मिला? निस्सन्देह मुझे ऐसे आदमी मिले हैं। मैं ख़ुद उस श्रेणी के लोगों में से हूं, जो इन ज़मींदारों और पूँजीपतियों में मिलते-जुलते रहते हैं। मैं तो ख़ुद ही एक ठेठ बुर्जुआ हूँ, जिसका लालन-पालन भी बुर्जुओं-सा ही हुआ है और इस प्रारम्भिक शिक्षा ने मेरे दिलोदिमाग़ में जो भले-बुरे, संस्कार भर दिये वे सब मुझमें मौजूद हैं। कम्युनिस्ट मुझे अर्द्ध-बुर्जुआ कहते हैं और उनका यह कहना सोलहों आने सही

है। शायद अब वे 'मुझे प्रायश्चित्त करनेवाला बुर्जुआ', कहेंगे। लेकिन मैं क्या हूं और क्या नहीं, यह सवाल ही नहीं है। जातीय, अन्तर्राष्ट्रीय, आर्थिक और सामाजिक मसलों को कुछ इने-गिने व्यक्तियों की निगाह से देखना ठीक नहीं है। वे ही दोस्त जो मुझसे ऐसे सवाल करते हैं, यह कहते कभी नहीं थकते कि हमारी लड़ाई पाप से है, पापी से नहीं। मैं तो इस हद तक भी नहीं जाता। मैं तो यह कहता हूँ कि व्यक्तियों से मेरा कोई झगड़ा नहीं, मेरा झगड़ा तो प्रणालियों से है। यह ठीक है कि प्रणाली बहुत हद तक व्यक्तियों और समूहों में ही मूर्तिमान होती है, और इन व्यक्तियों और समूहों को हमें या तो अपने ख़याल का कर लेना पड़ेगा। या उनसे लड़ना पड़ेगा लेकिन अगर कोई प्रणाली किसी काम की नहीं रही हो और भार-स्वरूप हो गई हो तो उसे मिट जाना पड़ेगा, और जो समूह या वर्ग उससे चिपके हुए हैं उन्हें भी बदलना पड़ेगा। परिवर्तन की इस क्रिया में यथासम्भव कम-से-कम तकलीफ़ होनी चाहिए, लेकिन बदक़िस्मती से कुछ कष्ट और कुछ गड़बड़ी का होना तो लाज़िमी है। इन छोटे-मोटे अनिवार्य कष्टों के डर से ही बड़े-बड़े कष्टों को बर्दाश्त नहीं किया जा सकता।

मनुष्य के राजनैतिक, आर्थिक या सामाजिक, हर प्रकार की समाज-रचना के मूल में कोई तात्त्विक विचार होता है। जब इस रचना का युग बदलता है तो उसका तात्त्विक आधार भी बदलना चाहिए जिससे वह उनके अनुकूल हो जाय और उससे पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सके। आमतौर पर घटनाएँ इतनी तेज़ी से बढ़ती हैं कि विचारादर्श पिछड़ जाते हैं और यही सब मुसीबतों की जड़ है। लोकतन्त्र और पूँजीवाद दोनों ही उन्नीसवीं सदी में पैदा हुए, लेकिन वे एक-दूसरे के अनुकूल नहीं थे। उन दोनों में बुनियादी भेद था, क्योंकि लोकतन्त्र तो अधिक लोगों को ताक़त देने पर ज़ोर देता था, जबकि पूंजीवाद में असली ताक़त थोड़े-से लोगों के हाथ में रहती थी। यह बेमेल जोड़ा किसी तरह कुछ अर्से तक तो इसलिए साथ-साथ चलता रहा, क्योंकि राजनैतिक पार्लमेण्टरी लोकतन्त्र स्वयं एक अत्यन्त संकुचित लोकतन्त्र था, और आर्थिक एकाधिपत्य और शक्ति के केन्द्रीकरण की वृद्धि रोकने में उसने कोई ख़ास हस्तक्षेप नहीं किया था।

फिर भी ज्यों-ज्यों लोकतन्त्र की भावना बढ़ती गई, इन दोनों का सम्बन्ध-विच्छेद अनिवार्य हो गया और अब उसका वक़्त आ गया है। आज पार्लमेण्टरी पद्धति बदनाम हो गई है और उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप सब क़िस्म के नये-नये नारे सुनाई पड़ रहे हैं। इसी वजह से हिन्दुस्तान में ब्रिटिश-सरकार और भी ज़्यादा प्रतिगामी हो गई है, और राजनैतिक स्वतन्त्रता की ऊपरी बातें तक रोक लेने का बहाना मिल गया है। अजीब बात तो यह है कि हिन्दुस्तानी राजा-महाराजा भी इसी आधार पर अपनी अबाध निरंकुशता को उचित ठहराते हैं और उसी मध्यकालिक स्थिति को जारी रखने के इरादे का ज़ोरों से ऐलान करते हैं

जोकि दुनिया में अब कहीं नहीं पाई जाती।' लेकिन पार्लमेण्टरी लोकतन्त्र में त्रुटि यह नहीं है कि वह बहुत आगे बढ़ गया है, बल्कि यह है कि उसे जितना आगे बढ़ना चाहिए था उस हद्‌तक आगे नहीं बढ़ा है। वह काफ़ी लोकतन्त्रीय नहीं है, क्योंकि उसमें आर्थिक स्वतन्त्रता की कोई व्यवस्था नहीं है और उसके तरीक़े ऐसे धीमे और उलझन-भरे हैं कि वे तेज़ रफ़्तार से जानेवाले ज़माने के अनुकूल नहीं पड़ते।

इस समय सारे संसार में जो स्वेच्छाचारिता मौजूद है शायद हिन्दुस्तानी रियासतें उसके उग्र-से-उग्र रूप की प्रतीक हैं। निस्सन्देह वे ब्रिटिश सत्ता के अधीन हैं, लेकिन ब्रिटिश सरकार महज़ ब्रिटिश स्वार्थों की हिफ़ाज़त के लिए या उनकी वृद्धि के लिए ही दस्तन्दाज़ी करती है। सचमुच यह आश्चर्य की बात है कि पुराने ज़माने के ये निर्जीव माण्डलिक गढ़ किस प्रकार इस बीसवीं सदी के

'२२ जनवरी १९३५ को दिल्ली मे, नरेन्द्र-मण्डल के चान्सलर महाराजा पटियाला ने, भाषण करते हुए उन हिन्दुस्तानी राजनीतिज्ञोंकी राय का ज़िक्र किया था, जो इस आशा से संघ-शासन के समर्थक हैं कि परिस्थितियाँ देशी नरेशों को अपने यहां लोकतन्त्रात्मक शासन-पद्धति जारी करने के लिए विवश करेंगी। उन्होंने कहा—"हिन्दुस्तान के राजा लोग अपनी प्रजा के लिए सर्वोत्तम कामों को करन के लिए हमेशा राजी रहे हैं और आगे भी वे समय की रफ़्तार के मुताबिक़ अपने को और अपने विधानों को बनाने के लिए तैयार रहेंगे। फिर भी हमें यह भी साफ़-साफ़ कह देना चाहिए कि अगर ब्रिटिश भारत यह उम्मीद करता है कि वह हमें इस बात के लिए मजबूर कर देगा कि हम अपने स्वस्थ राजकीय शरीर पर एक बदनाम राजनैतिक सिद्धान्त की सड़ी हुई क़मीज़ पहन लेंगे तो वह स्वप्न की दुनिया में रह रहा है।" (इसी सिलसिले में पृष्ठ ५४८ पर मैसूर-दीवान के भाषण का अंश भी देखिये।) उसी दिन नरेन्द्र-मण्डल में भाषण करते हुए बीकानेर के महाराज ने कहा था—"हिन्दुस्तानी राज्यों के शासक हम लोग केवल भाग्य के ही बल पर शासन नहीं कर रहे हैं। और मैं यह कहने की धृष्टता करता हूं कि हममें सैकड़ों वर्ष की वंश-परम्परा से राज करने की सहज वृत्ति है और, मुझे विश्वास है कि, कुछ-कुछ अंशों में राज-दक्षता हमने विरासत में पाई है। हम जल्दबाज़ी में अविचारपूर्ण निर्णय करने के लिए आगे न धकेल दिये जायँ, इस बात का हमें हर वक्त पूरा-पूरा खयाल रहना चाहिए।...और क्या मैं अत्यन्त नम्रता के साथ यह कह दूँ, कि देशी राजे किसी के हाथों अपने को बरबाद हो जाने देने के लिए तैयार नहीं हैं और अगर दुर्भाग्य से कोई ऐसा समय आ ही जाय, जब कि सम्राट् देशी राज्यों की रक्षा के लिए अपने सन्धिगत उत्तरदायित्व को पूरा करने में असमर्थ हो जायँ, तो राजे और देशी राज्य अपने अधिकारों की रक्षा के लिए आखिरी दम तक लड़ते-लड़ते मर जायँगे।"

ठीक मध्य में इतनी थोड़ी तब्दीली के साथ टिके हुए हैं। वहाँ का वातावरण दम घोंटनेवाला और स्थिर है। वहाँ की गति बहुत धीमी है, और परिवर्तन और संघर्ष का आदी और कुछ हदतक इनसे थका हुआ नवागन्तुक वहाँ पहुंचने पर मूर्च्छा-सी अनुभव करता है और एक प्रकार का धीमा-सा जादू उसपर ग़ालिब हो जाता है। जिस प्रकार चित्र पर समय का कोई प्रभाव नहीं पड़ता और उस का अपरिवर्तनीय दृश्य सदा आँखों के सामने रहता है और इसलिए अवास्तविक मालूम पड़ता है, उसी प्रकार वहाँ का दृश्य अवास्तविक मालूम होता है। सर्वथा अज्ञानभाव से वह भूतकाल की ओर बह जाता है और अपने बचपन के स्वप्नों को देखने लगता है। शस्त्र-सज्जित शूरवीर और सुन्दर तथा वीर कुमारियाँ, कंगूरोंवाले दुर्ग, प्रेमशौर्य, आत्माभिमान और गौरव, अनुपम साहस और मृत्यु के प्रति तिरस्कार के अद्भुत-अद्भुत दृश्य उसकी आँखों के सामने घूमने लगते हैं। ख़ासकर अद्भुत शौर्य और पराक्रम और आत्माभिमान की भूमि राजपूताना में जब वह पहुँच जाता है तो ऐसा विशेष रीति से होता है।

लेकिन यह स्वप्न जल्दी ही विलीन हो जाते हैं और विषाद की भावना आ घेरती है। वहाँ का वातावरण दम घोंटनेवाला है और उसमें साँस लेना मुश्किल हो जाता है। स्थिर और मन्द जल-प्रवाह के नीचे जड़ता और गन्दगी भरी पड़ी है। वहाँ पर आदमी ऐसा महसूस करने लगता है, मानों वह चारों ओर काँटों की बाड़ से घिरा हुआ है और उसका शरीर और मन जकड़ दिया गया है। इसे वहाँ के राजमहल की चमक-दमक और शान-शौकत के सर्वथा विपरीत जनता अत्यन्त पिछड़ी हुई और कष्टपूर्ण अवस्था में दिखाई देती है। राज्य का कितना सारा धन उस महल में राजा की अपनी व्यक्तिगत ज़रूरतों और ऐयाशी में पानी की तरह बहाया जाता है, और किसी सेवा के रूप में जनता के पास उसका कितना कम हिस्सा पहुँचता है! अपने यहाँ के राजाओं को उत्पन्न करना और उनका पोषण करना भयानक रूपसे ख़र्चीला काम है। उनपर किये गये इस अन्धाधुन्ध ख़र्च के बदले में वे हमें वापस क्या देते हैं?

इन रियासतों पर रहस्य का एक परदा पड़ा रहता है। अख़बारों को वहाँ पनपने नहीं दिया जाता और ज़्यादा-से-ज़्यादा कोई साप्ताहिक या अर्द्ध सरकारी साप्ताहिक ही चल सकता है। बाहर के अख़बारों को अक्सर राज्य में आने से रोक दिया जाता है। त्रावणकोर, कोचीन आदि दक्षिण की कुछ रियासतों को छोड़कर—जहाँ साक्षरता ब्रिटिश-भारत से भी कहीं ज़्यादा है—दूसरी जगह साक्षरता बहुत ही कम है। रियासतों से जो ख़ास ख़बरें आती हैं वे या तो वाइसराय के दौरे की बाबत होती हैं, जिसमें धूम-धड़ाके, रस्म-रिवाज की पूर्ति और एक-दूसरे की तारीफ़ में दिये गये व्याख्यानों का ज़िक्र होता है, या अत्यन्त ख़र्च से किये गये राजा के विवाह अथवा वर्षगाँठ-समारोह की, या किसानों के विद्रोह-सम्बन्धी। ब्रिटिश-भारत तक में ख़ास क़ानून राजाओं को आलोचना से बचाते

हैं। रियासतों के भीतर तो नरम-से-नरम टीका-टिप्पणी भी सख्ती से दबा दी जाती है। सार्वजनिक सभाओं को तो वहाँ कोई जानता तक नहीं, और अक्सर सामाजिक बातों के लिए को जानेवाली सभाएं तक रोक दी जाती हैं।[१] बाहर के प्रमुख सार्वजनिक नेताओं को अक्सर रियासत में घुसने से रोक दिया जाता है। १९२५ के क़रीब स्व० देशबन्धु दास बहुत बीमार थे, इसलिए अपना स्वास्थ्य सुधारने के लिए उन्होंने काश्मीर जाने का निश्चय किया। वह वहाँ किसी राजनैतिक काम के लिए नहीं जा रहे थे। वह काश्मीर की सरहद तक पहुँच चुके थे, लेकिन वहीं रोक दिये गये। श्री जिन्ना तक को हैदराबाद रियासत में जाने से रोक दिया गया, और श्रीमती सरोजिनी नायडू को भी, जिनका घर ही हैदराबाद में है, जाने की इजाज़त नहीं दी गई।

जब रियासतों में यह हाल हो रहा है, तो कांग्रेस के लिए यह स्वाभाविक था कि वह रियासतों में रहनेवाले लोगों के प्रारम्भिक अधिकारों के लिए खड़ी हो जाती और उनपर होनेवाले व्यापक दमन का विरोध करती। लेकिन गाँधीजी ने कांग्रेस में रियासतों के सम्बन्ध में एक नई नीति को जन्म दिया। यह नीति "रियासतों के भीतर इन्तज़ाम में दख़ल न देने की" थी। रियासतों में असाधारण और दुःखदायी घटनाओं के होते रहने और कांग्रेस पर अकारण ही हमले किये जाते रहने पर भी वह अभी तक अपनी चुप्पी साधे रहने की नीति पर डटे हुए हैं। ज़ाहिर है कि डर इस बात का है कि कांग्रेस अगर राजाओं की आलोचना करेगी तो वे लोग नाराज़ हो जायँगे। उनका 'हृदय-परिवर्तन'[१] अधिक कठिन हो जायगा। जुलाई १९३४ में गांधीजीने श्री एन० सी० केलकर के नाम, जो देशीराज्य-प्रजा-परिषद् के सभापति थे, एक पत्र लिखा था। उसमें उन्होंने इस विश्वास को दुहराया था कि दख़ल न देने की नीति न सिर्फ़ बुद्धिमत्तापूर्ण है बल्कि ठोस भी है। और रियासतों की क़ानूनी और वैधानिक स्थिति के सम्बन्ध में जो राय

---

[१] हैदराबाद (दक्षिण) का ३ अक्तूबर १९३४ का एक समाचार है— "स्थानीय विवेक-वर्धिनी थियेटर में कल गांधीजी का जन्म-दिवस मनाने के लिए जिस सार्वजनिक-सभा का एलान किया गया था वह रोक देनी पड़ी है। इस सभा का संगठन हैदराबाद के हरिजन-सेवक-संघ ने किया था। संघ के मन्त्री ने अख़बारों को जो पत्र भेजा है, उसमें कहा है कि सभा के निश्चित समय से २४ घंटे पहले सरकारी अधिकारियो ने यह हुक्म दिया कि सभा करने की इजाज़त तभी मिल सकती है जब दो हज़ार की नक़द ज़मानत जमा की जाय और इस बात का वचन दिया जाय कि उसमे कोई राजनैतिक व्याख्यान नही दिया जायगा और सरकारी अफ़सरों के किसी सरकारी काम की आलोचना नहीं की जायगी। क्योंकि सभा के संयोजक के पास इन सब बातों के लिए अधिकारियों से चर्चा करने के लिए बहुत ही नाकाफ़ी वक्त रह गया था इसलिए सभा बन्द कर देनी पड़ी।"

उन्होंने ज़ाहिर की वह तो बड़ी अजीब थी । उन्होंने लिखा था—"ब्रिटिश क़ानून के अनुसार रियासतों की स्वतन्त्र सत्ता है । हिन्दुस्तान के उस हिस्से को, जो ब्रिटिश भारत के नाम से पुकारा जाता है, रियासतों की नीति निर्धारित करने का उसी प्रकार अख़्तियार नहीं है जिस प्रकार उसे, अफ़ग़ानिस्तान या सीलोन की नीति निर्धारित करने का अधिकार नहीं है ।" अगर विनीति तथा नम्र देशीराज्य-प्रजा-परिषद् ने और लिबरलों ने भी उनकी इस राय और सलाह पर एतराज़ किया तो आश्चर्य ही क्या है ?

लेकिन देशी राजाओं ने इन विचारों का काफ़ी स्वागत किया और उन्होंने उनसे फ़ायदा भी उठाया । एक महीने के भीतर ही त्रावणकोर रियासत ने अपने राज्य में कांग्रेस को ग़ैर-क़ानूनी क़रार दे दिया और उसकी सारी सभाओं को और उसके मेम्बर बनाने के काम को रोक दिया । ऐसा करते हुए रियासत ने कहा कि "ज़िम्मेदार नेताओं ने खुद यह सलाह दी है ।" ज़ाहिर है कि यह इशारा गांधीजी के बयान की तरफ़ था । यह बात नोट करने लायक़ है कि यह रोक ब्रिटिश भारत में सत्याग्रह की लड़ाई वापस लिये जाने के बाद हुई (यद्यपि रियासतों में यह लड़ाई कभी नहीं हुई थी) । जिस वक़्त रियासत में यह सब हुआ, ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस को फिर से क़ानूनी जमात क़रार दे दिया था। इस बात पर ध्यान देना भी दिलचस्प होगा कि उस वक़्त त्रावणकोर-सरकार के ख़ास राजनैतिक सलाहकार सर सी० पी० रामस्वामी ऐय्यर थे (और अब भी हैं), जो एक वक़्त कांग्रेस के और होमरूल लीग के जेनरल सेक्रेटरी थे, उसके बाद लिबरल बने और उसके भी बाद भारत-सरकार और मद्रास-सरकार के ऊँचे-ऊँचे ओहदों पर रहे ।

गांधीजी की सलाह मानकर कांग्रेस जिस नीति से काम ले रही थी उसके मुताबिक़, साधारण समय में भी, त्रावणकोर राज्य ने बिला वजह कांग्रेस के ऊपर जो यह हमला किया उसकी बाबत कांग्रेसवालों की तरफ़ से सार्वजनिक रूप में एक शब्द तक नहीं कहा गया,[1] जब कि दूसरी ओर लिबरलों तक ने इसके ख़िलाफ़ ज़ोरों से आवाज़ उठाया । सचमुच रियासतों के मामले में गांधीजी का रवैया लिबरलों के रवैये से भी कहीं ज़्यादा नरम और संयत है । प्रमुख सार्वजनिक पुरुषों में शायद मालवीयजी ही बहुत से राजाओं के साथ अपने

[1] ६ जनवरी १६३५ को बड़ौदा में सरदार वल्लभाई पटेल ने एक भाषण देते हुए इस दख़ल न देने की नीति पर जोर दिया था । ख़बर है कि उन्होंने यह कहा, कि "देशी राज्यों के कार्यकर्ताओं को राज्य की तरफ़ से जो मर्यादाएं बांध दी जायें, उनके भीतर रहकर काम करना चाहिए, और शासन की आलोचना करने के बजाय इस बात की कोशिश करनी चाहिए कि शासक और शासितों में मैत्री का सम्बन्ध बना रहे ।"

निकट-सम्पर्क के कारण—इतने ही संयत और इस बात में सावधान हैं कि उन्हें किसी तरह चिढ़ाया न जाय।

देशी राजाओं के बारे में गांधीजी हमेशा इतना फूँक-फूँककर क़दम नहीं रखते थे। फ़रवरी १९१६ को एक प्रसिद्ध अवसर पर—बनारस हिन्दू-विश्व-विद्यालय के उद्घाटन के समय—एक सभा में, जिसके सभापति एक महाराजा थे और जिसमें और भी बहुत-से राजा मौजूद थे, उन्होंने एक भाषण दिया था। गांधीजी उस समय दक्षिण-अफ्रीका से आये ही थे और अखिल भारतीय राजनीति का बोझ उनके कन्धों पर नहीं था। बड़ी सचाई और एक पैगम्बर के-से जोश के साथ उन्होंने राजाओं से अपने को सुधारने और अपनी थोथी शान-शौक़त और विलासिता छोड़ देने के लिए कहा था। उन्होंने कहा, "नरेशो! जाओ और अपने आभूषणों को बेच दो।" उन्होने अपने आभूषण बेचे हों या न बेचे हों, लेकिन वे वहाँ से उठकर चले ज़रूर गये। बहुत ही डरकर, एक-एक करके या छोटी-छोटी टोलियों में, वे सभा-भवन से चले गये, यहाँतक कि सभापति महोदय भी चले गये। सभा-भवन में अकेले व्याख्याता महोदय रह गये। सभा में श्रीमती बेसेंट भी मौजूद थीं। उन्हें भी गांधीजी की बातें बुरी लगीं और इसलिए, वह भी सभा से उठकर चली गयीं।

श्री एन० सी० केलकर के पत्र में गांधीजी ने आगे यह भी लिखा था कि "मैं तो यह पसन्द करूँगा कि रियासतें अपनी प्रजा को स्वतन्त्रता दे दें और अपने को वास्तव में उन लोगों का ट्रस्टी समझें, जिनपर कि वे हुकूमत करती हैं।"...अगर ट्रस्टीशिप के इस ख़याल में ऐसी कोई अच्छी बात है, तो हम ब्रिटिश सरकार के इस दावे में क्यों एतराज़ करते हैं कि वे भारत के लिए ट्रस्टी हैं? मैं इसमें कोई फ़र्क़ नहीं देखता, सिवाय इसके कि अंग्रेज़ हिन्दुस्तान के लिए विदेशी हैं। लेकिन इस प्रकार तो हिन्दुस्तान के रहनेवाले जुदा-जुदा लोगों में भी चमड़ी के रंग, मूल जाति तथा संस्कृति में स्पष्ट भेद है।

पिछले थोड़े-से सालों में हिन्दुस्तानी रियासतों में ब्रिटिश अफ़सर बड़ी तेज़ी से घुस रहे हैं। अक्सर वे असहाय राजाओं की मर्ज़ी के ख़िलाफ़ उनके मत्थे मढ़ दिये गये हैं। वैसे तो सदा से भारत-सरकार का देशी राज्यों पर काफ़ी नियन्त्रण रहा है, लेकिन अब तो इसके अलावा कुछ ख़ास बड़ी-बड़ी रियासतों को भीतर से भी जकड़ दिया गया है। इसलिए जब कभी ये रियासतें कुछ कहती हैं तो असल में उनके द्वारा भारत-सरकार ही बोलती है। हाँ, ऐसा करते समय वह मारडलिक परिस्थिति का पूरा-पूरा फ़ायदा ज़रूर उठाती है।

मैं यह समझ सकता हूँ कि हमारे लिए हमेशा यह मुमकिन नहीं है कि हम दूसरी जगह जो काम कर सकते हैं वह सब रियासतों में भी कर सकें। सच बात तो यह है कि ब्रिटिश भारत के ही अलग-अलग प्रान्तों में ही कृषि, उद्योग-धन्धों, जाति और शासन-पद्धति-सम्बन्धी काफ़ी भेद-भाव हैं, और हम

हमेशा सब सूबों में एक नीति से काम नहीं ले सकते। हालाँकि हम कहाँ क्या काम करें यह तो वहाँ के हालात के ऊपर निर्भर रहेगा, फिर भी अलग-अलग जगहों में हमारी सामान्य नीति अलग-अलग नहीं होनी चाहिए; और जो बात एक जगह बुरी है वह दूसरी जगह भी बुरी होनी चाहिए। नहीं तो हमारे ऊपर यह इलज़ाम लगाया जायगा और लगाया गया है कि हमारी कोई एक नीति या कोई एक उसूल नहीं है और हमारा मक़सद सिर्फ़ यही है कि किसी तरह से ताक़त हमारे हाथ में आ जाय।

धार्मिक और अन्य अल्पसंख्यक जातियों के लिए पृथक् चुनाव की जो व्यवस्था की गई है उसके ख़िलाफ़ काफ़ी नुक्ताचीनी हुई है, और वह ठीक ही हुई है। यह बताया गया है कि यह चुनाव लोकतन्त्र के बिलकुल ख़िलाफ़ पड़ता है। इसमें कोई शक नहीं कि अगर हम मतदाताओं को अलग-अलग बन्द कमरों में बांट दें तो लोकतन्त्र क़ायम करना या जिसे ज़िम्मेदार सरकार के नाम से पुकारा जाता है उसका क़ायम किया जाना मुमकिन नहीं है। लेकिन पं० मदनमोहन मालवीय और हिन्दू-महासभा के अन्य नेता, जो पृथक् चुनाव के सबसे बड़े और सच्चे आलोचक हैं, रियासतों में जो-कुछ अन्धेर मच रहा है उसके बारे में अजीब तौर से चुप हैं और ज़ाहिरा तौर पर इस बात के लिए तैयार हैं कि स्वेच्छाचारी रियासतों और (कथित) लोकतन्त्रवादी शेष हिन्दुस्तान को मिलाकर संघ-राज्य क़ायम हो जाय। इससे अधिक असंगत और बेहूदे संघ-राज्य की कल्पना करना भी मुश्किल है, लेकिन लोकतन्त्र और राष्ट्रीयता के हिमायती हिन्दू-महासभा के महारथी इसे बिना एक शब्द कहे स्वीकार कर लेते हैं। हम लोग तर्क और बुद्धि की बात करते हैं, लेकिन वस्तुतः हम अभी तक भावुकता के वशीभूत होकर काम करते हैं।

इस तरह मैं लौटकर फिर कांग्रेस और रियासतों की विकट समस्या पर आता हूं। मेरा दिमाग़ थामस पेन के उस वाक्य की ओर आकर्षित होता है, जो उसने कोई डेढ़ सौ बरस पहले बर्क के सम्बन्ध में कहा था--"वह (बर्क) तो पंखों पर तरस खाते हैं, लेकिन मरनेवाली चिड़िया को भूल जाते हैं।" यह ठीक है कि गांधीजी मरनेवाली चिड़िया को नहीं भूलते, लेकिन वह उसके परों पर इतना ज़्यादा ज़ोर क्यों देते हैं?

कम-बढ़ ये ही बातें ताल्लुक़ेदारी और ज़मींदारी-प्रथा पर भी लागू होती हैं। इस बात को समझाने के लिए अब किसी तर्क की ज़रूरत नहीं मालूम पड़ती कि यह अर्ध-जागीरदारी प्रथा समय के बिलकुल प्रतिकूल है और उत्पादन-शैली और तरक़्क़ी के रास्ते में बड़ी भारी अड़चन है। वह तो पूँजी-वाद के भी विकास में विघ्न डालती है। क़रीब-क़रीब दुनिया-भर में बड़ी-बड़ी ज़मींदारियां धीरे-धीरे ग़ायब हो गयी हैं और उनकी जगह ज़मींदार किसानों ने ले ली है। मैं तो यह कल्पना करता रहा हूं कि हिन्दुस्तान में जो एक

सवाल सम्भवतः उठ सकता है वह मुआवज़े का है। लेकिन पिछले साल तो मुझे यह देखकर बहुत ही अचरज हुआ कि गांधीजी ताल्लुक़ेदारी प्रथा को भी पसन्द करते हैं और चाहते हैं कि वह जारी रहे। कानपुर में जुलाई १६३४ में उन्होंने कहा—"किसानों और ज़मींदारों, दोनों में हृदय-परिवर्तन द्वारा उत्तम सम्बन्ध स्थापित किये जा सकते हैं। अगर ऐसा हो जाय तो दोनों आपस में मेल के साथ सुख और शान्ति से रह सकते हैं। मैं तो कभी भी ताल्लुक़ेदारी या ज़मींदारी प्रथा को दूर करने के पक्ष में नहीं रहा, और जो लोग यह समझते हैं कि वह रद्द होनी चाहिए वे ख़ुद अपनी बात को नहीं समझते।" गांधीजी का यह आख़िरी आरोप तो कुछ हद तक कटुतापूर्ण है।

ख़बर है कि उन्होंने आगे यह भी कहा—"बिना उचित कारणों के सम्पत्तिशाली वर्गों से उनकी निजी सम्पत्ति छीने जाने के काम में मैं कभी साथ नहीं दे सकता। मेरा ध्येय तो यह है कि आपके हृदयों में घर करके मैं आपको अपने मत का बना लूँ, जिससे आप अपनी निजी सम्पत्ति को किसानों के लिए ट्रस्ट के रूप में रक्खें और उसका इस्तेमाल ख़ासतौर पर उनकी भलाई के लिए करें।......लेकिन मान लीजिए कि आपको आपकी सम्पत्ति से वंचित करने के लिए अन्यायपूर्वक कोशिश की जाती है तो आप मुझे आपके पक्ष में लड़ता हुआ पायेंगे......पश्चिम का समाजवाद और साम्यवाद हमारे मूल विचारों से अत्यन्त भिन्न विचारों पर टिका हुआ है। इस प्रकार का उनका एक विचार यह है कि मानव-स्वभाव मूलतः स्वार्थी है.... इसलिए हमारे समाजवाद और साम्यवाद की बुनियाद तो अहिंसा पर और मज़दूर और मालिकों, किसानों और ज़मींदारों के आपसी मेल पर होनी चाहिए।" ये बात उन्होंने ज़मींदारों के एक डेपुटेशन से कही थी।

पूरब और पश्चिम की मूलभूत कल्पनाओं में कोई भेद है या नहीं, इसका मुझे पता नहीं। शायद हो। इधर एक स्पष्ट भेद यह रहा है कि हिन्दुस्तान के पूँजीपतियों और ज़मींदारों ने पश्चिम के अपने जाति-भाइयों की अपेक्षा मज़दूरों और किसानों के हितों की अधिक उपेक्षा की है। हिन्दुस्तान के ज़मींदारों की तरफ़ से किसानों की भलाई के लिए किसी तरह की सामाजिक सेवा के काम में रस लेने की कोई कोशिश नहीं की गयी। पश्चिमी समालोचक मि० एच० एन० ब्रेल्सफ़ोर्ड ने कहा है कि "हिन्दुस्तान के महाजन और ज़मींदार ऐसे परोपजीवी, नृशंस और रक्तशोषक प्राणी हैं, कि आज के मानव-समाज में उनका सानी नहीं मिलता।"[1] शायद इसमें हिन्दुस्तान के ज़मींदारों का कोई क़सूर नहीं है। परिस्थितियाँ उनके इतनी ख़िलाफ़ थीं कि वे उनका मुक़ाबला न कर सके। वे लगातार नीचे को गिरते

[1] एच० एन० ब्रेल्सफ़ोर्ड की 'प्रापर्टी आर पीस' नामक पुस्तक से।

ही गये और अब एक ऐसी कठिन स्थिति में फँस गये हैं, जिसमें से अपने को मुश्किल से निकाल सकते हैं। बहुत-से ज़मींदारों से तो उनकी ज़मींदारियाँ महाजनों ने ले ली हैं, और छोटे-छोटे ज़मींदार जिस ज़मीन के कभी मालिक थे उसीमें अब काश्तकार की हालत में पहुँच गये हैं। शहरों में रहनेवाले इन महाजनों ने पहले तो ज़मीन गिरवी कराके रुपया दिया, और फिर उसी रुपये के बदले ज़मीन हड़पकर अब वे ख़ुद ज़मींदार बन बैठे हैं, और गांधीजी की राय में अब वे उन अभागों के ट्रस्टी हैं जिनकी ज़मीन उन्होंने ख़ुद हड़प ली है। गांधीजी ऐसे लोगों से यह उम्मीद भी रखते हैं कि वे अपनी आमदनी ख़ासतौर पर किसानों की भलाई के कामों में लगायेंगे।

अगर ताल्लुक़ेदारी-प्रथा अच्छी है, तो वह हिन्दुस्तान-भर में क्यों नहीं जारी की जाती? हिन्दुस्तान के कुछ बड़े हिस्सों में रैयतवारी प्रथा चलती है। क्या गांधीजी गुजरात में बड़ी-बड़ी ज़मींदारियाँ और ताल्लुक़ेदारियाँ क़ायम हो जाना पसन्द करेंगे? तो फिर क्या बात है कि ज़मीन-सम्बन्धी एक व्यवस्था तो यू० पी०, बिहार या बंगाल के लिए अच्छी है और दूसरी गुजरात और पंजाब के लिए? जहाँतक मेरा ख़याल है, हिन्दुस्तान के उत्तर और दक्खिन और पूरब और पश्चिम के रहनेवाले लोगों में ऐसा कोई ख़ास फ़र्क़ तो नहीं है; और उनके मूल विचार भी एक-से हैं। इसके मानी तो यह हुए कि जो-कुछ है वह जारी रहना चाहिए। इस बात की अधिक जाँच नहीं की जानी चाहिए कि लोगों के लिए कौन-सी बात सबसे ज़्यादा वाञ्छनीय या फ़ायदेमन्द है, और न मौजूदा हालत को बदलने की ही कोई कोशिश होनी चाहिए। बस, सिर्फ़ एक ही बात की ज़रूरत है, और वह यह कि लोगों का हृदय-परिवर्तन कर दिया जाय। जीवन तथा उसके प्रश्नों के प्रति यह तो विशुद्ध धार्मिक दृष्टि है। राजनीति, अर्थ-शास्त्र या समाज-शास्त्र से उसका कोई सरोकार नहीं। पर गांधीजी राजनैतिक और राष्ट्रीय क्षेत्र में तो इससे भी आगे बढ़ जाते हैं।

ये हैं कुछ विकट समस्याएँ जो आज हिन्दुस्तान के सामने हैं। हमने अपने को कुछ गुत्थियों में उलझा लिया है और जबतक हम उन गुत्थियों को सुलझा न लेंगे, तबतक आगे बढ़ना दुश्वार है। यह छुटकारा भावुकता से नहीं होगा। बहुत दिन हुए, स्पिनोज़ा ने एक प्रश्न किया था—"आप क्या बात अधिक पसन्द करेंगे? ज्ञान तथा विवेक-द्वारा मुक्ति अथवा भावुकता का बन्धन?" उन्होंने पहली बात अधिक पसन्द की थी।

६३

हृदय-परिवर्तन या बल-प्रयोग

सोलह बरस पहले गांधीजी ने हिन्दुस्तान पर अपने अहिंसा के सिद्धान्त की छाप लगाई थी। तबसे अबतक हिन्दुस्तान के क्षितिज पर यही सिद्धान्त छाया हुआ है। बहुत-से लोगों ने, बिना किसी सोच-विचार के, उसे दुहराया है। पर स्वेच्छा से कुछ लोगों ने अपने में काफ़ी संघर्ष किया और फिर दबे मन से उसे अपना लिया, और कुछ लोगों ने खुल्लमखुल्ला इस सिद्धान्त का मज़ाक़ भी उड़ाया है। हमारे राजनैतिक और सामाजिक जीवन में इसने बहुत बड़ा हिस्सा लिया है और हिन्दुस्तान के बाहर विशाल दुनिया में भी लोगों का काफ़ी ध्यान इसने अपनी तरफ़ खींचा है। निस्सन्देह यह सिद्धान्त बहुत पुराना है—उतना ही पुराना है जितनी कि मनुष्य की विचार-शक्ति है। लेकिन शायद गांधीजी ही पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने राजनैतिक और सामाजिक आन्दोलन में सामूहिक रूप में इसका प्रयोग किया है। इसके पहले अहिंसा वैयक्तिक और इस तरह मूलतः धर्म से सम्बन्धित चीज़ थी। वह आत्म-निग्रह और पूर्ण अनासक्ति प्राप्त करने और इस प्रकार अपने-आपको सांसारिक प्रपंचों से ऊँचा उठाकर एक तरह की वैयक्तिक स्वतन्त्रता और मुक्ति प्राप्त करने का साधन थी, उसके ज़रिये बड़े-बड़े सामाजिक मसलों को हल करने और सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन करने का कोई ख़याल न था; अगर कुछ था भी, तो सर्वथा परोक्षरूप में। लोगों ने सामाजिक विषमताएँ और अन्याय स्वीकार कर लिये थे और यह सोचते कि यह ताना-बाना तो हमेशा चलता रहेगा। गांधीजी ने कोशिश की कि यह व्यक्तिगत आदर्श समाज का भी आदर्श हो जाय। वह राजनैतिक और सामाजिक दोनों ही परिस्थितियों को बदलने पर तुले हुए थे और इसी ग़रज़ से उन्होंने जान-बूझकर इस विस्तृत और सर्वथा भिन्न क्षेत्र में अहिंसा के शस्त्र का प्रयोग किया। उन्होंने लिखा है—"जो लोग मनुष्यों की दशा और उसके वातावरण में आमूल परिवर्तन करना चाहते हैं वे समाज में खलबली पैदा किये बिना ऐसा नहीं कर सकते। लेकिन ऐसा करने के दो तरीके हैं—एक हिंसात्मक और दूसरा अहिंसात्मक। हिंसात्मक बल-प्रयोग का प्रभाव मनुष्य के शरीर पर पड़ता है। जो यह बल-प्रयोग करता है वह ख़ुद नीचे गिर जाता है और जिसपर यह बल-प्रयोग होता है वह भी अधोगति को जाता है। लेकिन उपवास आदि स्वयं कष्ट सहकर जो अहिंसात्मक दबाव डाला जाता है वह बिलकुल दूसरे तरीक़े से अपना असर पैदा करता है। जिन लोगों के ख़िलाफ़ उसका प्रयोग किया जाता है, उनके शरीर को न छूकर वह उनकी

आत्मा पर असर डालता है और उसे मज़बूत बनाता है।"[1]

यह विचार कुछ हद तक भारतीय दृष्टिकोण से मेल खाता था और इसीलिए देश ने, कम-से-कम ऊपरी तौर पर तो ज़रूर ही, उसे उत्साहपूर्वक स्वीकार कर लिया। बहुत ही कम लोग उसके व्यापक परिणामों को समझ पाये। लेकिन जिन थोड़े-से आदमियों ने उसे अस्पष्ट रूप में समझा भी, वे श्रद्धापूर्वक काम में जुट पड़े। लेकिन जब काम की रफ़्तार धीमी पड़ गयी, तब कुछ लोगों के मन में अनगिनती प्रश्न उठ खड़े हुए, जिनका उत्तर दिया जा सकना बहुत कठिन था। इन प्रश्नों का हमारी प्रचलित राजनैतिक गति-विधि पर कोई असर नहीं पड़ता था। इनका सम्बन्ध तो अहिंसात्मक प्रतिरोध के मूल सिद्धांत से था। राजनैतिक अर्थ में अहिंसात्मक आंदोलन को अभी तक तो कामयाबी मिली नहीं, क्योंकि हिन्दुस्तान अब भी साम्राज्यवाद के अनीतिपाश में जकड़ा हुआ है। सामाजिक अर्थ में अहिंसा के प्रयोग से क्रांति की कल्पना कभी की तक नहीं गई। फिर भी जो आदमी ज़रा भी गहराई में उतर सकता है, वह देख सकता है कि हिन्दुस्तान के करोड़ों लोगों ने इसमें एक जबरदस्त परिवर्तन कर दिया। इस अहिंसात्मक आन्दोलन ने करोड़ों हिन्दुस्तानियों को चरित्रबल, शक्ति और आत्म-विश्वास आदि ऐसे अमूल्य गुणों का पाठ पढ़ाया है, जिनके बिना राजनैतिक या सामाजिक, किसी भी क़िस्म की तरक्क़ी करना या उसे क़ायम रखना कठिन है। यह कहना मुश्किल है कि ये निश्चित लाभ अहिंसा की बदौलत हुए हैं या महज़ संघर्ष की बदौलत। बहुत-से मौक़ों पर कई राष्ट्रों ने ऐसे फ़ायदे हिंसात्मक लड़ाई के ज़रिये भी हासिल किये हैं; फिर भी मेरा ख़याल है कि यह बात तो इत्मीनान के साथ कही जा सकती है कि इस मामले में अहिंसा का तरीक़ा हमारे लिए बेशक़ीमत साबित हुआ है। गांधीजी ने समाज में जिस खलबली का जिक्र किया था वह खलबली पैदा करने में उसने निश्चितरूप से मदद की, हालांकि निस्सन्देह यह खलबली बुनियादी कारणों और हालतों की बदौलत हुई। उसने सर्व-साधारण में तेज़ी से वह जागृति पैदा कर दी है जो क्रान्तिकारी हेरफेरों से पहले होती है।

स्पष्टरूप से यह बात उसके हक़ में है, लेकिन वह हमें ज़्यादा दूर नहीं ले जाती। असली सवाल तो ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। बदक़िस्मती यह है कि इस मसले को हल करने में गांधीजी हमें ज्यादा मदद नहीं देते। इस विषय पर उन्होंने बहुत बार लिखा है और व्याख्यान भी दिये हैं। लेकिन जहां तक मुझे मालूम है उन्होंने सार्वजनिक रूप से उससे निकलनेवाले अर्थों पर दार्शनिक या वैज्ञानिक दृष्टि से कभी विचार नहीं किया। वह इस बात पर

[1] ४ दिसम्बर १९३२ को अपने अनशन के अवसर पर दिये गये गांधीजी के वक्तव्य से।

ज़ोर देते हैं कि साधन साध्य से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है।[1] ज़ोर-ज़बरदस्ती की बनिस्बत समझा-बुझाकर हृदय-परिवर्तन करना अच्छा है और वह अहिंसा को सत्य और दूसरी तमाम अच्छाइयों से भिन्न नहीं समझते। सच तो यह है कि इन शब्दों का वह अक्सर इस तरह प्रयोग करते हैं मानों वे एक-दूसरे के समानार्थक हैं। साथ ही, जो इस बात से सहमत न हों वे उच्चात्मा नहीं हैं; बल्कि मानो किसी अनैतिक आचरण के गुनहगार हैं, यह मानने की भी एक प्रवृत्ति प्रचलित है। गांधीजी के कुछ अनुयायी तो इसी कारण, अपने-आपको बड़े पहुँचे हुए धर्मात्मा समझने लगे हैं।

लेकिन जिन लोगों को इसमें इतनी श्रद्धा रखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं है, उन्हें बहुत-सी शंकाएं परेशान करती हैं। इन शंकाओं का तात्कालिक कर्त्तव्य की आवश्यकताओं से कोई सम्बन्ध नहीं है, लेकिन वे चाहते हैं कि कोई ऐसा सुसंगत कार्य-सिद्धान्त हो जो वैयक्तिक दृष्टि से नैतिक हो और साथ ही सामाजिक दृष्टि से कारगर भी हो। मैं मानता हूँ कि मुझमें भी यह शंकाएं मौजूद हैं और मुझे इस मसले का कोई सन्तोष-जनक हल नहीं दिखाई देता। मैं हिंसा को क़तई नापसन्द करता हूँ, लेकिन फिर भी मैं ख़ुद हिंसा से भरा हुआ हूँ और जान में या अनजान में अक्सर दूसरों को दबाने की कोशिश करता रहता हूँ। और गांधीजी के सूक्ष्म दबाव से अधिक बड़ा दबाव भला और क्या हो सकता है, जिसके फलस्वरूप उनके कितने अनन्य भक्तों और साथियों के दिमाग़ कुण्ठित हो गये हैं और वे स्वतन्त्र रूप से सोचने के योग्य नहीं रहे?

लेकिन असली सवाल तो यह था: क्या राष्ट्रीय और सामाजिक समुदाय अहिंसा के इस वैयक्तिक सिद्धान्त को पूरी तौर पर अपना सकते हैं? क्योंकि इसका अर्थ यह है कि मानव-समाज सामूहिक रूप से प्रेम और सौजन्य में बहुत ऊँचा चढ़ा हुआ है। यह सच है कि वस्तुतः वाञ्छनीय और अन्तिम लक्ष्य तो यही है कि मानव-समाज इतना ऊँचा उठ जाय और उसमें से घृणा, कुत्सा और स्वार्थपरता निकल जाय। अन्त में ऐसा हो सकेगा या नहीं, यह एक विवादास्पद विषय हो सकता है; लेकिन इस आशा के बिना जीवन "किसी मूर्ख द्वारा कही हुई कम्पन तथा आवेश से भरी, पर निरर्थक कहानी" के समान नीरस हो जायगा। इस आदर्श तक पहुँचने के लिए क्या हम ख़ाली इन गुणों का ही उपदेश दें और इस आदर्श की विरोधी प्रवृत्तियों को बढ़ावा देनेवाले विघ्नों पर ध्यान न दें? अथवा क्या हम पहले इन विघ्नों को दूर करें और प्रेम, सौन्दर्य और सौजन्य की वृद्धि के लिए अधिक उपयुक्त और अनुकूल

---

[1] 'दि पावर आफ़ नान-वायलेंस (अहिंसा की शक्ति) नामक किताब में रिचर्ड बी० ग्रेग ने इस विषय पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है। उनकी यह क़िताब बहुत ही मनोरंजक और विचारोत्तेजक है।

वातावरण पैदा करें ? अथवा, क्या हम इन दोनों उपायों को साथ-साथ काम में लायें ?

और फिर, क्या हिंसा और अहिंसा, अथवा समझा-बुझाकर किये गये हृदय-परिवर्तन और बलात्कार के बीच का अन्तर स्पष्ट और सरल है ? अक्सर शारीरिक हिंसा की अपेक्षा नैतिक बल कहीं अधिक दबानेवाला भयंकर अस्त्र सिद्ध हुआ है। और क्या अहिंसा और सत्य एक-दूसरे के पर्यायवाची शब्द हैं ? सत्य क्या है ? यह सवाल बहुत ही पुराना है, जिसके हज़ारों जवाब दिये जा चुके हैं, मगर यह सवाल आजतक जैसा था वैसा ही बना हुआ है । लेकिन कुछ भी हो, यह बात तय है कि उसको अहिंसा से सर्वथा मिलाया नहीं जा सकता । हिंसा बुरी है, लेकिन आप स्वतः हिंसा को ही पाप नहीं कह सकते । उसके कई स्वरूप और भेद हैं, और कभी-कभी हमें उससे भी ज़्यादा बुरी बात के मुक़ाबले में हिंसा ही पसन्द करनी पड़ सकती है । गांधीजी ने स्वयं कहा है कि कायरता, भय और ग़ुलामी से हिंसा बेहतर है और इसी तरह इस सूची में और भी बहुत-सी बुराइयाँ जोड़ी जा सकती हैं । यह सच है कि आमतौर पर हिंसा के साथ द्वेष रहता है, लेकिन सैद्धान्तिक रूप से दोनों सदा साथ-ही-साथ हों, यह ज़रूरी नहीं है । हिंसा का आधार सद्भावना भी हो सकती है (जैसे डाक्टर द्वारा की गई चीर-फाड़) और जिस चीज़ का आधार यह हो, वह कभी भी सिद्धान्ततः पापमय नहीं हो सकती । आख़िर नीति और सदाचार की अन्तिम कसौटी तो सद्भाव और द्वेषभाव ही हैं । इस तरह यद्यपि हिंसा सदाचार की दृष्टि से अक्सर ठीक नहीं ठहराई जा सकता और उस दृष्टि से उसे ख़तरनाक भी समझा जा सकता है, लेकिन यह ज़रूरी नहीं है कि वह हमेशा ऐसी ही हो ।

हमारा सारा जीवन ही संघर्षमय और हिंसायुक्त है और यह बात सही मालूम होती है कि हिंसा से हिंसा ही पैदा होती है और इस तरह हिंसा को रोकने का उपाय हिंसा नहीं है । लेकिन फिर भी हिंसा का कभी प्रयोग न करने की क़सम खा लेने का अर्थ होता है सर्वथा नकारात्मक दृष्टि धारण कर लेना, और इस प्रकार जीवन से कोई सम्पर्क न रखना । हिंसा तो आधुनिक राज्यों और समाजों की धमनियों में रक्त के समान बहती है । राज्य के पास अगर दंड देने के अस्त्र न हों तो फिर न तो कर वसूल किये जा सकते हैं, न ज़मींदारों को उनका लगान ही मिल सकता है, और न निजी सम्पत्ति ही क़ायम रह सकती है । पुलिस तथा फ़ौज के बल से क़ानून दूसरों को पराई सम्पत्ति के उपयोग से रोकता है । इस प्रकार राष्ट्रों की स्वाधीनता आक्रमण से रक्षा के लिए हिंसाबल पर टिकी है ।

यह सच है कि गांधीजी की अहिंसा बिलकुल ही नकारात्मक और अप्रतिरोधक नहीं है । वह तो अहिंसात्मक प्रतिरोध है, जो एक बिलकुल ही दूसरी चीज़, एक विधेयात्मक और सजीव कार्य-प्रणाली है । यह उन लोगों के लिए

नहीं है, जो परिस्थितियों के सामने चुपचाप सिर झुका देते हैं। उसका तो उद्देश्य ही समाज में खलबली पैदा कर देना और इस तरह मौजूदा हालत को बदल देना है। हृदय-परिवर्तन के भाव के पीछे उद्देश्य कुछ भी रहा हो, व्यवहार में तो वह लोगों को विवश करने या दबाने का भी एक ज़बरदस्त साधन रहा है। यह बात दूसरी है कि वह दबाव सबसे ज़्यादा शिष्ट और सबसे कम आपत्तिजनक ढंग से काम में लाया गया हो। सचमुच यह बात ध्यान देने योग्य है कि अपने शुरू के लेखों में गांधीजी ने स्वयं 'विवश करना' शब्द का व्यवहार किया है। पंजाब के फ़ौजी क़ानून के ज़माने के अत्याचारों के सम्बन्ध में दिये गये वाइसराय लार्ड चेम्सफ़ोर्ड के व्याख्यान की आलोचना करते हुए सन् १९२० में उन्होंने लिखा था—

"कौंसिल के उद्घाटन के समय वाइसराय के व्याख्यान में मुझे उनकी जो मनोवृत्ति दिखाई पड़ी उसकी वजह से प्रत्येक आत्माभिमानी व्यक्ति के लिए उनके या उनकी सरकार के साथ सम्बन्ध बनाये रखना असम्भव हो जाता है।

"पंजाब के बारे में उन्होंने जो-कुछ कहा है उसका स्पष्ट अर्थ यह है कि वह किसी तरह भी लोगों की शिकायत दूर करने को तैयार नहीं हैं। वह चाहते हैं कि हमलोग निकट-भविष्य की समस्याओं पर ही अपना सारा ध्यान केन्द्रित कर दें, लेकिन निकट-भविष्य तो यही है कि पंजाब के मामले में हम सरकार को पश्चात्ताप करने के लिए विवश कर दें। इसका कोई लक्षण नहीं दिखाई देता। इसके विरुद्ध, वाइसराय ने अपने आलोचकों की टीकाओं का जवाब देने के अपने प्रलोभन से अपने को रोका है; इसका अर्थ यही है कि हिन्दुस्तान के स्वाभिमान से सम्बन्धित बहुत-से महत्त्वपूर्ण विषयों पर उनकी राय अभीतक नहीं बदली है। वह इतने ही से सन्तुष्ट हैं कि इन विषयों को भावी इतिहास-लेखकों के निर्णय पर छोड़ दिया जाय। मेरे विचार में इस तरह की बातें हिन्दुस्तानियों को और भी अधिक उत्तेजित करने का कारण बनेंगी। जिन लोगों पर अत्याचार किये गये हैं और जो अभीतक किसी विश्वास और ज़िम्मेदारी के ओहदे पर रहने के सर्वथा अयोग्य अफ़सरों के अंकुश के नीचे दबे हैं, उन्हें यदि भविष्य में इतिहास-लेखकों का अनुकूल निर्णय भी मिला तो वह उनके किस काम आयेगा? पंजाब के प्रति न्याय न करने का अपना हठ रखते हुए सरकार का सहयोग की प्रार्थना करना—यदि अधिक तीव्र भाषा का प्रयोग न करूँ तो, उसका पाखण्ड है।"

राज्य हिंसा पर आश्रित होते हैं, यह बात जग-जाहिर है। केवल शस्त्रों की हिंसा पर ही नहीं, वरन् अत्यन्त सूक्ष्म तथा भयानक हिंसा पर—अर्थात्, जासूसों, मुख़बिरों, लोगों को भड़कानेवाले एजेण्टों, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से शिक्षा और समाचारपत्रों आदि द्वारा झूठा प्रचार, धार्मिक और अर्थाभाव तथा भुखमरी वग़ैरा के दूसरे प्रकार के भयों पर। शान्तिकाल तक में सरकारों

के बीच सब प्रकार का झूठ और दग़ाफ़रेब जायज़ है, बशर्ते कि वह खुल न जाय, और युद्ध के समय तो वह और भी ज़्यादा जायज़ हो जाता है। सर हेनरी वॉटन ने, जो स्वयं कवि तथा एक ब्रिटिश राजदूत था, तीन-सौ बरस पहले राजदूत की यह परिभाषा की थी कि "राजदूत वह ईमानदार व्यक्ति है जो अपने देश की भलाई के लिए असत्य-प्रचार के लिए दूसरे देश में भेजा जाता है।" आजकल तो राजदूतों के साथ उनके सहकारी फ़ौजी, जंगी और व्यापारिक दूत भी जाते हैं। इनका ख़ास काम, जिस देश में ये भेजे जाते हैं, वहाँ का भेद लेना होता है। उनके पीछे ख़ुफ़िया-पुलिस का बहुत बड़ा जाल, काम करता है। उसकी अगणित शाखाएं-प्रशाखाएं होती हैं, भेदिये और उपभेदिये रखे जाते हैं, अपराधी टोलियों के साथ गुप्त सम्बन्ध किया जाता है, रिश्वत तथा मानव को पतित करनेवाले दूसरे उपाय काम में लाये जाते हैं, तथा गुप्त हत्याएं आदि कराई जाती हैं। शान्ति-काल के लिए तो ये सब चीज़ें ख़राब हैं ही; युद्धकाल में इनको और भी अधिक महत्त्व मिल जाने से इनका नाशकारी प्रभाव हरेक दिशा में फैल जाता है। गत विश्व-व्यापी महायुद्ध के समय जो प्रचार किया गया था उसके कुछ उदाहरण पढ़कर अब हैरत होती है कि किस प्रकार शत्रु-देशों के विरुद्ध आश्चर्यजनक झूठी बातें फैलाई गई थीं; और इन बातों के फैलाने और ख़ुफ़िया-पुलिस का जाल बिछाने में अन्धाधुन्ध रुपया बहाया गया था। लेकिन वर्तमान शान्ति स्वयं दो युद्धों के बीच का विरामकाल मात्र है, लड़ाई के लिए तैयारी करने की एक अवधि मात्र है और आर्थिक तथा दूसरे क्षेत्रों में संघर्ष कुछ हद तक तो अब भी चल रहा है। विजयी और पराजित देशों में, साम्राज्यों और उनके मातहत उपनिवेशों में, रक्षितवर्ग और शोषितवर्ग में यह रस्साकशी हर वक़्त जारी रहती है। इसलिए आज के कथित शान्ति-काल में भी कुछ हदतक हिंसा और झूठ के सहित लड़ाई का वातावरण चल रहा है और फ़ौजी तथा सिविल अधिकारीगण, दोनों ही इस स्थित का मुक़ाबला करने को तैयार रहने के लिए अभ्यस्त किये गये हैं। लार्ड वोल्सली ने रणक्षेत्र के लिए सिपाही की पोथी ('सोल्जर्स पाकेटबुक फ़ॉर फ़ील्ड-सर्विस') नाम की एक पुस्तक में लिखा है—"हम इस सिद्धान्त पर बार-बार ज़ोर देते रहेंगे, कि 'ईमानदारी ही सबसे अच्छी नीति है' और 'आख़िर में हमेशा सचाई की ही जीत होती है।" लेकिन ये उपदेश बच्चों की नोटबुकों के लिए ही ठीक हैं। और कोई मनुष्य युद्ध के दिनों में भी इनपर अमल करता है तो उसके लिए यही बेहतर है कि वह हमेशा के लिए अपनी तलवार मियान में बन्द रख ले।

वर्तमान स्थिति में, जब कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के और एक वर्ग दूसरे वर्ग के ख़िलाफ़ है, हिंसा और असत्य का यह मापदंड अपरिहार्य है। जिन देशों अथवा वर्गों के हाथ में अधिकार हैं, उन्हें अपनी सत्ता और अपने विशेषाधि-

कारों को बनाये रखने के लिए, और दलितवर्गों को उन्नति का अवसर न देने के लिए लाज़िमी तौर पर हिंसा, दबाव और झूठ का आश्रय लेना ही पड़ता है। सम्भव है कि ज्यों-ज्यों लोकमत जागृत होता जायगा और इन संघर्षों तथा दमनों का वास्तविक रूप स्पष्ट होता जायगा, त्यों-त्यों इस हिंसा की तीव्रता भी कम होती जायगी। लेकिन वस्तुतः इधर के समस्त अनुभव इसके ख़िलाफ़ विपरीत दिशा में संकेत करते हैं। जैसे-जैसे मौजूदा संस्थाओं के उलटने का आन्दोलन तीव्र होता जाता है, वैसे-वैसे हिंसा भी बढ़ती जाती है। यदि कभी हिंसा की प्रत्यक्ष उग्रता में कुछ कमी भी आ गई है तो उसने उससे और कहीं अधिक सूक्ष्म और भयंकर रूप ग्रहण कर लिया है। हिंसा की इस प्रवृत्ति को न तो धार्मिक सहिष्णुता और न नैतिक भावना की वृद्धि ही ज़रा भी रोक सकी है। अलग-अलग व्यक्तियों ने नैतिक उन्नति की है और कुछ व्यक्ति उन्नति करके ऊँचे चढ़ गये हैं। भूतकाल की अपेक्षा आजकल दुनिया में ऊँचे दर्जे के (सर्वश्रेष्ठ नहीं) व्यक्ति बहुत ज़्यादा हैं। कुल मिलाकर तो समाज ने उन्नति ही की है, और वह कुछ अंश में प्राथमिक तथा बर्बर वृत्तियों पर अंकुश रखने के लिए प्रयत्नशील है। लेकिन कुल मिलाकर समूहों या समुदायों ने कोई ख़ास उन्नति नहीं की है। व्यक्ति अधिक सभ्य बनने के प्रयत्न में अपने पूर्वकालिक मनोविकार और बुराइयाँ समाज को देता जा रहा है। हिंसा सदा प्रथम नहीं, वरन् द्वितीय कोटि के लोगों को अपनी ओर आकर्षित करती है, इसलिए इन समुदायों के नेतागण शायद ही प्रथम कोटि के व्यक्ति होते हों।

लेकिन अगर हम यह भी मान लें कि राज्य से धीरे-धीरे हिंसा के निकृष्टतम रूप मिटा दिये जायँगे, तब भी इस बात की उपेक्षा कर सकना असम्भव है कि राज्यतन्त्र और सामाजिक जीवन, दोनों ही के लिए कुछ बल-प्रयोग की आवश्यकता है। सामाजिक जीवन के लिए किसी-न-किसी प्रकार के राज्यतन्त्र का होना ज़रूरी है, और इस प्रकार जिन व्यक्तियों के हाथ में अधिकार सौंपा जायगा उनके लिए यह लाज़िमी होगा कि वे व्यक्तियों और समूहों की स्वार्थ-परायण तथा समाज के लिए हानिकारक वृत्तियों पर अंकुश रक्खें। आमतौर पर ये अधिकारी लोग ज़रूरत से ज़्यादा आगे बढ़ जाते हैं। कारण, अधिकार मिलने पर मनुष्य पतित हो जाता है। इस तरह अधिकारी चाहे कितने ही स्वतन्त्रता के प्रेमी और दमन से घृणा करनेवाले क्यों न हों, फिर भी जबतक राज्य में प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण निःस्वार्थ और परोपकार-परायण न हो जायगा तबतक उन्हें दोषी व्यक्तियों के ऊपर बल-प्रयोग करना ही पड़ेगा। इस प्रकार के राज्याधिकारियों को आक्रमण करनेवाले बाहरी लोगों पर भी बल-प्रयोग करना पड़ेगा, अर्थात् उन्हें बल का विरोध बल से करके अपनी रक्षा करनी पड़ेगी। इस बात की ज़रूरत तो तभी दूर होगी जब पृथ्वी पर केवल एक ही विश्वव्यापी राज्य रह जायगा।

इस तरह अगर बाहरी आक्रमणों से अपनी रक्षा तथा आन्तरिक व्यवस्था के लिए बल और दमन आवश्यक है, तो दोनों के बीच क्या मर्यादा स्थापित की जाय ? राइन-होल्ड नाइबर[1] का कहना है कि जब आप एक बार राज्य-शास्त्र के मुक़ाबले में नीतिशास्त्र को इतना झुका देते हैं और सामाजिक व्यवस्था क़ायम रखने के लिए बल-प्रयोग एक आवश्यक अस्त्र मान लेते हैं, तब, अहिंसात्मक और हिंसात्मक बल-प्रयोग में, अथवा सरकार और क्रान्तिकारियों द्वारा किये जानेवाले बल-प्रयोग में आप कोई विशुद्ध भेद नहीं कर सकते।

मैं ठीक-ठीक नहीं जानता, लेकिन मेरी धारणा है कि गांधीजी यह बात मान लेंगे कि इस अपूर्ण संसार में किसी भी राष्ट्रीय सरकार को अपने ऊपर अकारण ही बाहरी आक्रमण से रक्षा करने के लिए बल-प्रयोग करना पड़ेगा। अवश्य ही राज्य को अपने पड़ोसी और अन्य दूसरे राज्यों के साथ सर्वथा शान्तिमय और मित्रतापूर्ण नीति बरतनी चाहिए, लेकिन फिर भी आक्रमण की सम्भावना से इन्कार करना बेहूदगी होगी। राज्य को कुछ दबाने वाले क़ानून भी बनाने पड़ेंगे। ये इस अर्थ में बलात्कारी होंगे कि इनके द्वारा विभिन्न वर्गों और समूहों के कुछ अधिकार और विशेष रिआयतें छिन जायेंगी और उनकी कार्य-स्वतन्त्रता सीमित हो जायगी। कुछ हद तक तो सभी क़ानून बलात्कारी होते हैं। कराची-कांग्रेस के प्रयोग में कहा गया है—"जन-समूह का शोषण बन्द करने के लिए राजनैतिक स्वतन्त्रता में, करोड़ों भूखों मरनेवालों की वास्तविक आर्थिक स्वतन्त्रता का भी अवश्य समावेश होना चाहिए।" इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए जिन लोगों के अत्यधिक विशेषाधिकार हैं उन्हें अपने बहुत-से अधिकार उन लोगों के लिए छोड़ अधिकार उन लोगों के लिए छोड़ देने पड़ेंगे जिनके बहुत थोड़े अधिकार हैं। आगे उसमें यह भी कहा गया है कि मज़दूरों को निर्वाह के लिए आवश्यक मज़-दूरी और जीवन की दूसरी सुविधाएँ भी ज़रूर मिलनी चाहिएँ; मिल्कियतों पर ख़ास टैक्स लगाये जाने चाहिएँ, और "ख़ास उद्योग और समाजोपयोगी धन्धों, खनिज-साधनों, रेलवे, जल-मार्गों, जहाज़रानी और सार्वजनिक आवागमन के दूसरे साधनों पर राज्य अपना अधिकार और नियन्त्रण रक्खेगा।" साथ ही यह भी कि "मद्य और मादक पदार्थों पर सर्वथा प्रतिबन्ध लगा दिये जायँगे।" शायद बहुत-से लोग इन सब बातों का विरोध करेंगे। यह हो सकता है कि वे बहुमत के निर्णय के सामने सिर झुका लें, लेकिन यह होगा इसी भय के कारण कि आज्ञाभंग का नतीजा बुरा होगा। सचमुच लोकतन्त्र का अर्थ ही बहुसंख्यक लोगों का अल्पसंख्यक लोगों पर दबाव है।

अगर बहुमत से मिल्कियत-सम्बन्धी अधिकारों को कम करने या बहुत हद-

---

[1] 'नैतिक मनुष्य और अनैतिक समाज ('मारल मैन एण्ड इम्मारल सोसा-यटी') नामक पुस्तक में।

तक उन्हें रद करने के लिए कोई क़ानून पास हो जायगा तो क्या इस दलील से उसका विरोध किया जायगा कि यह तो बल-प्रयोग है ? स्पष्ट है कि यह नहीं है, क्योंकि सभी लोकतन्त्रात्मक क़ानूनों को बनाने में यही तरीक़ा काम में लाया जाता है। इसलिए बल-प्रयोग की दलील से एतराज़ नहीं किया जा सकता। यह कहा जा सकता है कि बहुमत ग़लत या अनैतिक मार्ग पर चल रहा है। ऐसी हालत में सवाल यह पैदा होता है कि बहुमत से पास हुआ क़ानून क्या किसी नैतिक सिद्धान्त की अवहेलना करता था ? लेकिन इस सवाल का फ़ैसला कौन करेगा ? अगर अलग-अलग व्यक्तियों और समूहों को अपने-अपने निजी स्वार्थ के अनुसार नीतिशास्त्र की व्याख्या करने की छूट दे दी जायगी, तो लोकतन्त्रात्मक प्रणाली का तो ख़ात्मा ही हो जायगा। व्यक्तिगत रूप से मैं तो यह महसूस करता हूँ कि (बहुत ही संकुचित अर्थों में छोड़कर) व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा कुछ व्यक्तियों को सारे समाज पर भयंकर अधिकार दे देती है, और इसलिए वह समाज के लिए अत्यन्त हानिकारक है। मैं व्यक्तिगत सम्पत्ति को शराबख़ोरी से भी ज़्यादा अनैतिक समझता,हूँ, क्योंकि शराब समाज को उतना नुक़सान नहीं पहुँचाती जितना व्यक्ति को।

फिर भी जो लोग अहिंसा के सिद्धान्तों में विश्वास रखने का दावा करते हैं उनमें से कुछ लोगों ने मुझसे कहा है कि मालिक की स्वीकृति के बिना व्यक्तिगत सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण करना बल-प्रयोग होगा और इसीलिए अहिंसा के विरुद्ध विचित्र बात तो यह है कि बड़े-बड़े ज़मींदारों ने, जो ज़बरदस्ती लगान वसूल करने में सरकार की मदद लेने में नहीं हिचकिचाते, और कई फ़ैक्टरियों के मालिक उन पूँजीपतियों ने, जो अपने हलक़ों में स्वतन्त्र मज़दूर-संघ भी क़ायम नहीं होने देना चाहते, मुझसे इस दृष्टिकोण पर ज़ोर दिया है। इसका अर्थ यह निकलता है कि जिन लोगों को परिवर्तन से लाभ होता है, उन लोगों का उसके पक्ष में बहुमत काफ़ी नहीं है, बल्कि परिवर्तन से जिन लोगों को नुक़सान है उन्हींका उसके पक्ष में हृदय-परिवर्तन करने के लिए कहा जाता है। थोड़े-से स्वार्थी दल स्पष्टतः आवश्यक परिवर्तन रोक सकते हैं।

अगर इतिहास से कोई एक बात सिद्ध होती है, तो वह यह है कि आर्थिक हित ही समूहों और वर्गों के दृष्टिकोण के निर्माता होते हैं। इन हितों के सामने न तो तर्क और न नैतिक विचारों का ही चलती है। हो सकता है कि कुछ व्यक्ति राज़ी हो जायँ और अपने विशेषाधिकार छोड़ दें, यद्यपि ऐसा बहुत विरले ही लोग करते हैं, लेकिन समूह और वर्ग ऐसा अभी नहीं करते। इसीलिए शासक और विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग को अपनी सत्ता और अनुचित विशेषाधिकारों को छोड़ देने के लिए राज़ी करने की जितनी कोशिशें अब तक की गयीं वे हमेशा नाकामयाब ही हुईं और इस बात को मानने के लिए कोई वजह दिखाई नहीं देती

कि वे भविष्य में कामयाब हो जायँगी। राइन-होल्ड नाइबर ने अपनी पुस्तक[1] में उन सदाचारवादियों को आड़े हाथों लिया है, "जो यह कल्पना कर बैठे हैं कि विवेक और धर्म-प्रेरित सद्भावना की वृद्धि से, व्यक्तियों की स्वार्थपरायणता पर दिन-ब-दिन अंकुश लगता जा रहा है, अतः भिन्न-भिन्न मानव-समाजों और समूहों में ऐक्य स्थापित कराने के लिए सिर्फ़ इतना ही ज़रूरी है कि यह क्रिया जारी रहे।" ये आचारशास्त्री "मानव-समाज में न्याय-प्राप्ति के लिए जो संघर्ष चल रहा है उसकी राजनैतिक आवश्यकताओं पर विचार नहीं करते। कारण इन्हें कितने ही प्राकृतिक नियमों का ज्ञान नहीं है। इन प्राकृतिक नियमों के अनुसार मनुष्य के स्वभाव में कुछ सामुदायिक वृत्तियाँ होती हैं जिनपर बुद्धि या धर्म-भावनाका पूरा-पूरा अंकुश नहीं होता। ये लोग इस सच बात को नहीं मानते कि जब सामूहिक शक्ति—चाहे वह साम्राज्यवाद की शक्ल में हो या वर्ग-प्रभुता के रूप में—कमज़ोरों का शोषण करती है तब वह उस वक़्त तक अपनी जगह से नहीं हटाई जा सकती जबतक कि उसके विरुद्ध शक्ति खड़ी न कर दी जाय।" और फिर, "सामाजिक स्थिति में विवेक सदा ही कुछ हदतक स्वार्थ का दास होता है, केवल नीति या बुद्धि के जागृत होने से समाज में न्याय स्थापित नहीं हो सकता। संघर्ष अनिवार्य है और इस संघर्ष में शक्ति का मुक़ाबला शक्ति से ही किया जाना चाहिए।"

इसलिए यह सोचना, कि किसी वर्ग का किसी राष्ट्र के हृदय-परिवर्तन मात्र से काम चल जायगा या न्याय के नाम पर अपील करने और विवेकयुक्त दलीलें देने से संघर्ष मिट जायगा, अपने-आपको धोखा देना है। यह कल्पना करना कि विवश कर देने-जैसे किसी कारगर दबाव के बिना ही, कोई साम्राज्यवादी शासन-सत्ता देश पर से अपनी हुकूमत उठा लेगी या कोई वर्ग अपने उच्च-पद और विशेषाधिकारों को छोड़ देगा, सर्वथा भ्रम है।

यह स्पष्ट है कि गांधीजी इस दबाव से काम लेना चाहते हैं, हालांकि वह उसे बल-प्रयोग के नाम से नहीं पुकारते। उनके कथनानुसार, उनका तरीक़ा तो स्वयं कष्ट-सहन का है। इसका समझ सकना कुछ कठिन है, क्योंकि इसमें कुछ आध्यात्मिक भावना छिपी है और हम न तो उसे नाप-जोख ही सकते हैं और न किसी भौतिक तरीक़े से ही उसकी जाँच कर सकते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि विरोधी पर भी इस तरीक़े का काफ़ी असर पड़ता है। यह तरीक़ा विरोधियों की नैतिक दलीलों का परदा फ़ाश कर देता है, उन्हें घबरा देता है, उनकी सर्वोच्च भावना को जाग्रत कर देता है और समझौते का दरवाज़ा खोल देता है। इस बात में तो कोई शक नहीं हो सकता कि प्रेम की पुकार और स्वयं कष्ट-सहन के अस्त्र का विपक्षी और साथ ही दर्शकों पर

---

[1] 'मारल मैन एण्ड इम्मारल सोसायटी' नामक पुस्तक से।

बहुत हीज़बरदस्त मनोवैज्ञानिक असर पड़ता है। बहुत-से शिकारी यह जानते हैं कि हम जंगली जानवरों के पास जिस दृष्टि से जाते हैं वैसा ही उनपर असर हो जाता है। वह जानवर दूर से ही भाँप लेता है, कि आप उसपर हमला करना चाहते हैं और उसी के मुताबिक़ वह अपना रवैया अख़्तियार करता है। इतना ही नहीं, आदमी अगर ख़ुद किसी जानवर से डरे, फिर चाहे उसे स्वयं उसका ज्ञान न हो, तब भी उसका वह डर किसी तरह जानवर के पास पहुंच जाता है और उसे भयभीत कर देता है और इसी भय की वजह से वह हमला कर बैठता है। अगर शेरों को पालनेवाला ज़रा भी डर जाय तो उस पर हमला किये जाने का ख़तरा फ़ौरन पैदा हो जाता है। एक बिलकुल निर्भय आदमी को, यदि कोई अज्ञात दुर्घटना हो जाय, तो किसी हिंसक पशु का ख़तरा नहीं होता, इसलिए यह बात स्वाभाविक मालूम होती है कि मनुष्य इन मानसिक प्रभावों से प्रभावित हो। फिर भी यद्यपि व्यक्ति प्रभावित हो सकते हैं लेकिन इस बात में शक है कि वर्ग या समूह पर इस तरह का प्रभाव पड़ सकता है। वह वर्ग, वर्ग के रूप में, किसी अन्य दल के व्यक्तिगत और निकट सम्पर्क में नहीं आता। इतना ही नहीं, उसके सम्बन्ध में वह जो रिपोर्ट सुनता है वह भी एकांगी और तोड़ी-मरोड़ी हुई होती है। और हर हालत में जब कोई समूह उसके अधिकार को चुनौती देता है तब उसके रोष की स्वाभाविक प्रतिक्रिया इतनी बलवान होती है कि अन्य सब छोटे-छोटे भाव उसमें विलीन हो जाते हैं। वह वर्ग तो बहुत दिनों से इस ख़याल का आदी हो गया है कि उसे जो विशिष्ट पद और अधिकार मिले हुए हैं, वे समाज हित के लिए ज़रूरी हैं। इसलिए उसके ख़िलाफ़ जो राय ज़ाहिर की जाती है वह उसे कुफ़्र-जैसी मालूम होती है। क़ानून और व्यवस्था तथा वर्तमान अवस्था को क़ायम रखना सद्गुण हो जाते हैं और उनमें विघ्न डालनेवाले की कोशिश सबसे महान पाप।

इसलिए जहाँतक विरोधी-पक्ष से सम्बन्ध है, हृदय-परिवर्तन का यह तरीक़ा हमें कुछ बहुत दूर तक नहीं ले जाता। निस्सन्देह कभी-कभी तो अपने विरोधी की नरमी और साधुता ही प्रतिपक्षी को और भी अधिक क्रोधित कर देती है, क्योंकि वह समझता है कि इस प्रकार वह ग़लत स्थिति में डाल दिया गया है और जब किसी व्यक्ति को यह शंका होने लगती है कि शायद वह ग़लती पर हो, तब उसका सात्विक रोष और भी बढ़ जाता है। फिर भी अहिंसा की इस विधि से विपक्ष के कुछ व्यक्तियों पर ज़रूर प्रभाव पड़ता है और इस प्रकार विरोध नरम पड़ जाता है। इससे भी अधिक बात यह है कि इस पद्धति से तटस्थ लोगों की सहानुभूति प्राप्त हो जाती है और यह संसार के लोकमत को प्रभावित करने का बड़ा ज़बरदस्त साधन है। लेकिन समाचार-प्रकाशन के साधन सत्ताधारीवर्ग के हाथ में होते हैं और वह समाचारों को बाहर जाने

से रोक सकता है, अथवा उन्हें विकृत रूप में कर सकता है और इस तरह वह असली वाक़यात का पता लगाना रोक सकता है। फिर भी अहिंसात्मक अस्त्र का सबसे ज़्यादा ज़ोरदार और व्यापक असर तो जिस देश में यह अस्त्र काम में लाया जाता है उसके कम-बढ़ उदासीन लोगों पर होता है। निस्सन्देह उनका हृदय-परिवर्तन हो जाता है और वे अक्सर उसके ज़ोर-दार समर्थक बन जाते हैं। लेकिन ऐसे लोगों का हृदय-परिवर्तन कोई बड़ी बात नहीं, क्योंकि ये लोग आमतौर पर पहले से ही इसके लक्ष्य से सहमत थे। जो लोग क्रान्ति से घबराते हैं उनपर कोई असर दिखाई नहीं देता। भारत में असहयोग और सत्याग्रह जिस तेज़ी से फैला, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किस तरह एक अहिंसात्मक आन्दोलन बहुसंख्यक लोगों पर ज़बरदस्त असर डालता है, और बहुत-से अस्थिर-बुद्धि लोगों को अपनी ओर खींच लेता है। लेकिन उससे वे लोग कोई ज़्यादा हदतक नहीं बदले, जो लोग शुरू से ही उसके विरोधी थे। उनकी किसी उल्लेखनीय संस्था को वह अपने पक्ष का न बना सका। सच बात तो यह है कि आन्दोलन की सफलता ने उनके भय को और भी बढ़ा दिया और इस प्रकार वह और भी ज़्यादा विरोधी बन गये।

अगर एक बार यह सिद्धान्त मान लिया जाता है कि राज्य अपनी आज़ादी की रक्षा करने के लिए हिंसा का प्रयोग कर सकता है, तब यह समझना मुश्किल हो जाता है कि उसी आज़ादी को हासिल करने के लिए उन्हीं हिंसात्मक और बल-प्रयोग के तरीक़ों को अख़्तियार करना उचित क्यों नहीं है? कोई हिंसात्मक तरीक़ा अवाञ्छनीय और अनुपयुक्त हो सकता है, लेकिन वह सर्वथा अनुचित और वर्जित नहीं हो सकता। सिर्फ़ इसी कारण से कि सरकार सबसे प्रबल है और उसके हाथ में सशस्त्र सेना है, उसे हिंसा के प्रयोग करने का अधिक अधिकार नहीं मिल जाता। यदि कोई अहिंसात्मक क्रान्ति सफल हो जाय और राज्य पर की बागडोर उसको मिल जाय तो क्या उसको हिंसा का प्रयोग करने का वह अधिकार फ़ौरन ही प्राप्त हो जायगा, जो उसे पहले प्राप्त न था? अगर इस नये राज्य की हुकूमत के ख़िलाफ़ बग़ावत हो, तो वह उसका मुक़ाबला कैसे करे? स्वभावतः वह यह नहीं चाहेगी कि हिंसात्मक तरीक़े से काम ले और वह शान्तिमय उपायों से स्थिति का मुक़ाबला करने की कोशिश करेगी। लेकिन वह हिंसा से काम लेने के अपने अधिकार को नहीं छोड़ सकती। यह निश्चय है कि जनता में ऐसे बहुत से असन्तुष्ट लोग होंगे, जो इस परिवर्तन के ख़िलाफ़ होंगे और वे कोशिश करेंगे कि पहली हालत फिर से लौट आये। अगर वे यह सोचेंगे कि सरकार उनकी हिंसा का मुक़ाबला अपने दमनकारी शस्त्रों से नहीं करेगी, तब तो वे शायद और भी ज़्यादा हिंसा का उपयोग करेंगे। इसलिए ऐसा मालूम होता है कि हिंसा और अहिंसा, हृदय-परिवर्तन और बल-प्रयोग के बीच कोई निश्चित और पूर्ण विभाजक रेखा खींच सकना एकदम नामुमकिन है।

राजनैतिक परिवर्तनों पर विचार करते हुए भारी कठिनाई उपस्थित होती है, लेकिन विशेषाधिकार-प्राप्त सम्पन्नवर्ग और शोषितवर्गों का विचार करते हुए तो यह कठिनाई और भी अधिक बढ़ जाती है।

किसी आदर्श के लिए कष्ट-सहन की सदा ही प्रशंसा हुई है। बिना झुके, और बदले में हाथ चलाये बिना किसी उद्देश के लिए कष्ट सहने में एक उच्चता और एक गौरव है। फिर भी इसके, और कष्ट-सहन मात्र के लिए कष्ट उठाने के बीच में बहुत पतली विभाजक रेखा है। यह दूसरे प्रकार का कष्ट-सहन अक्सर दूषित और कुछ हद तक पतनकारी हो जाता है। अगर हिंसा बहुधा क्रूरतापूर्ण होती है तो दूसरी तरफ़ अहिंसा भी, कम-से-कम अपने नकारात्मक स्वरूप में, अत्यन्त दोषपूर्ण हो सकती है। इस बातकी सम्भावना हमेशा रहती है कि अहिंसा अपनी कायरता और अकर्मण्यता छिपाने, और यथास्थित रहने का साधन बना ली जाय।

हिन्दुस्तान में पिछले कुछ बरसों में, जबसे क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तन की भावना ने ज़ोर पकड़ा है। अक्सर यह कहा जाने लगा है कि इस प्रकार के परिवर्तन हिंसा के बिना हो नहीं सकते इसलिए इनके पक्ष में ज़ोर नहीं दिया जा सका। वर्ग-युद्ध का ज़िक्र तक नहीं किया जाना चाहिए (चाहे वह कितना ही मौजूद क्यों न हो), क्योंकि वह पूर्ण सहयोग और भविष्य का हमारा जो भी लक्ष्य हो उसकी ओर अहिंसात्मक प्रगति में विघ्न डालता है। बहुत मुमकिन है कि सामाजिक मसले का हल किसी-न-किसी मौक़े पर हिंसा के बिना न हो सके, क्योंकि यह तो निश्चय ही मालूम पड़ता है कि जिन वर्गों को विशेष अधिकार प्राप्त हैं वे अपने प्राप्त अधिकारों को क़ायम रखने के लिए हिंसा से काम लेने में नहीं हिचकेंगे। लेकिन सिद्धान्त रूप में अगर अहिंसात्मक उपाय से भारी राजनैतिक परिवर्तन कर सकना सम्भव है, तो फिर इसी उपाय से क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तन कर सकना उतना ही सम्भव क्यों नहीं है? अगर हम लोग अहिंसा के द्वारा हिन्दुस्तान की राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते हैं और ब्रिटिश साम्राज्यवाद को हटा सकते हैं, तो हम उसी तरीक़े से माण्डलिक राजाओं, ज़मींदारों और दूसरे सामाजिक मसलों को हल करके समाजवादी सरकार क्यों नहीं क़ायम कर सकते? यह सब कुछ अहिंसा के ज़रिये हो सकता है या नहीं, मुख्य प्रश्न यह नहीं है। प्रश्न तो यह है कि या तो ये दोनों ही उद्देश्य अहिंसा के ज़रिये हासिल हो सकते हैं या फिर एक भी नहीं। यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि अहिंसात्मक अस्त्र का प्रयोग सिर्फ़ विदेशी शासकों के ही ख़िलाफ़ किया जा सकता है। ज़ाहिरा तौर पर तो किसी देश के स्वार्थी समुदायों और अड़ंगा डालनेवालों के ख़िलाफ़ उसका प्रयोग करना ज़्यादा आसान होना चाहिए, क्योंकि विदेशियों की अपेक्षा उनपर उसका मनोवैज्ञानिक असर अधिक पड़ेगा।

हिन्दुस्तान में इन दिनों यह प्रवृत्ति चल गयी है कि बहुत-से उद्देशों और

नीतियों को महज़ इसलिए बुरा बता दिया जाता है कि वे अहिंसा से मेल नहीं खाते। मेरी समझ में यह समस्याओं पर विचार करने का ग़लत तरीक़ा है। पन्द्रह बरस पहले हमने अहिंसात्मक उपाय इसलिए ग्रहण किया था कि हमें यह विश्वास हो चला था कि हम इस सबसे अधिक वाञ्छित और कारगर उपाय से अपने लक्ष्य पर पहुँच जायँगे। उस वक़्त हमारा लक्ष्य अहिंसा से स्वतन्त्र था। वह अहिंसा का एक गौण अंग, अथवा उसका परिणाम न था। उस वक़्त कोई यह नहीं कह सकता था कि हमें अपना ध्येय स्वतन्त्रता तभी बनाना चाहिए जब वह अहिंसात्मक उपायों से ही मिल सके। लेकिन अब हमारे ध्येय की कसौटी अहिंसा है, और अगर वह उसपर खरा नहीं उतरता तो वह नामंजूर कर दिया जाता है। इस प्रकार अहिंसा एक अटल सिद्धांत बनता जा रहा है जिसके ख़िलाफ़ आप कुछ नहीं कह सकते। इस कारण अब वह हमारी बुद्धि पर इतना आध्यात्मिक प्रभाव नहीं डालता और श्रद्धा और धर्म का संकीर्ण स्थान ग्रहण कर रहा है। इतना ही नहीं, वह तो स्वार्थी समुदायों के लिए आश्रयस्थल बन रहा है और ये लोग यथास्थिति बनाये रखने के लिए उससे नाजायज़ फ़ायदा उठा रहे हैं।

यह दुर्भाग्य की बात है, क्योंकि मेरा विश्वास है कि अहिंसात्मक प्रतिरोध और अहिंसात्मक युद्धनीति के विचार, हिन्दुस्तान ही नहीं, समस्त संसार के लिए, अत्यन्त लाभप्रद है और गांधीजी ने वर्तमान विचार-जगत् को इनपर विचार करने के लिए विवश करके बड़ी भारी सेवा की है। मेरा विश्वास है कि इनका भविष्य महान् है। यह हो सकता है कि मानव-समुदाय अभी इतना आगे नहीं बढ़ पाया है कि वह उन्हें पूरी तरह अपना सके। ए० ई० की 'इंटरप्रेटर्स' नामक पुस्तक के एक पात्र का कहना है कि--"आप अन्धों के हाथ में ज्ञान की मशाल देते हैं, लेकिन वे उसका उपयोग दंड के रूप में करते हैं, और उसका दूसरा उपयोग वे क्या कर सकते हैं? सम्भव है कि आज वह आदर्श अधिक फलीभूत न हो सके, लेकिन सब महान् विचारों की तरह उसका प्रभाव बढ़ता रहेगा, और हमारे कार्य उससे अधिकाधिक प्रभावित होते रहेंगे। असहयोग--जिसका अर्थ है उस राज्य या समाज से जिसे हम बुरा समझते हैं, अपना सहयोग हटा लेना—एक बहुत ही शक्तिशाली और क्रान्तिकारी धारणा है। यदि मुट्ठी-भर चरित्रवान् लोग भी उसपर अमल करें तो उसका प्रभाव फैल जाता है और बढ़ता चला जाता है। जब अधिक संख्या में लोग असहयोग करते हैं तो उसका बाहरी प्रभाव और अधिक दिखाई देने लगता है। लेकिन उस हालत में प्रवृत्ति यह होती है कि दूसरी बातें नैतिक सवाल को दबा लेती हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि उसके विस्तार से उसकी तीव्रता कम पड़ जाती है। सामूहिक शक्ति धीरे-धीरे वैयक्तिक शक्ति को पीछे ढकेल देती है।

फिर भी विशुद्ध अहिंसा पर जो ज़ोर दिया जाता है, उससे वह एक दूर की-सी तथा जीवन से एक भिन्न-सी वस्तु बन गयी है और यह प्रवृत्ति हो चली है कि लोग या तो उसे अन्धे होकर धार्मिक श्रद्धा से मंजूर कर लेते हैं या उसे बिलकुल नामंजूर कर देते हैं। उसका बौद्धिक अंश भुला दिया जाता है। १६२० में हिन्दुस्तान के आतंकवादियों पर उसका बहुत असर पड़ा था, जिससे बहुत से उस दल से अलग हो गये और जो बने रहे, वे भी असमञ्जस में पड़ गये और उन्होंने अपने हिंसात्मक कार्यों को बन्द कर दिया। लेकिन अब उन-पर इस अहिंसा का कोई ऐसा असर नहीं रहा है। कांग्रेसवादियों में भी बहुत-से ऐसे लोग, जिन्होंने असहयोग और सविनय-भंग के आन्दोलनों में महत्त्व-पूर्ण भाग लिया था और जिन्होंने अहिंसात्मक पद्धति का पूर्णरूप से अन्तःकरण से पालन करने का प्रयत्न किया था, अब नास्तिक समझे जाते हैं और कहा जाता है कि उन्हें कांग्रेस में रहने का कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि वे अहिंसा को ध्येय तथा धर्म के रूप में मानने को तैयार नहीं हैं और जिसे प्राप्त करना वे अपना परम पुरुषार्थ समझते हैं उस समाजवाद के लक्ष्य को भी छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं। उस राज्य में सबके लिए समान रूप से न्याय और सुवि-धाएँ होंगी; आजकल कुछ लोग जिन विशेष सुविधाओं और सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकारों का भोग करते हैं वे अधिकार समाप्त कर दिये जायँगे और उसके उपरान्त व्यवस्थित समाज की स्थापना होगी। निस्सन्देह गांधीजी आज भी एक विद्युत-शक्ति हैं, उनकी अहिंसा सजीव और उग्र रूप की है और कोई नहीं कर सकता कि वह कब देश को एक बार फिर आगे बढ़ने के लिए प्रोत्सा-हित कर देंगे। वे अपनी महत्ता, अपने विरोधाभासों और जनताको विलक्षण रूप से प्रभावित करने की अपनी शक्ति के कारण साधारण माप से बहुत ऊँचे हैं। जैसे हम दूसरों को नापते-तौलते हैं, वैसे उनका नाप-तौल नहीं हो सकता। लेकिन उनके अनुयायी होने का दावा करनेवालों में बहुत से निकम्मे शान्तिवादी या टॉलस्टॉय के ढंग के अप्रतिरोधी या किसी संकुचित पथ के अनुगामी बन गये हैं, और उनका जीवन और वास्तविकता से कोई सम्पर्क नहीं है। और जिन लोगों से इनका सम्बन्ध है उनका स्वार्थ वर्तमान समाज-व्यवस्था क़ायम रहने में है और इसी मतलब से वे अहिंसा की शरण लेते हैं। इस तरह अहिंसा में समय-साधकता घुस पड़ती है और हम प्रयत्न तो करते हैं विरोधी के हृदय-परिवर्तन का, लेकिन अहिंसा को सुरक्षित रखने की धुन में हम स्वयं परिवर्तित हो जाते हैं और विरोधी की श्रेणी में आ जाते हैं। जब जोश ठंडा हो जाता है और हम कमज़ोर पड़ जाते हैं तब हमेशा थोड़ी-सी पीछे की तरफ़ हट जाने और समझौता करने की प्रवृत्ति हो जाती है और इसे विरोधी को जीतने की कला के नाम से पुकार कर सन्तोष-लाभ किया जाता है। कभी-कभी तो इसके लिए हम अपने पुराने साथियों तक को खो बैठते हैं।

हम उनकी अमर्यादा की निन्दा करते हैं, उनके भाषणों की, जिनसे हमारे नये दोस्त चिढ़े होते हैं, निन्दा करते हैं, और उनपर संस्था की एकता भंग करने का इलज़ाम लगाते हैं। सामाजिक व्यवस्था में वास्तविक परिवर्तन किये जाने पर ज़ोर देने के बजाय हम मौजूदा समाज के भीतर दानशीलता और उदार-शीलता पर ज़ोर देते हैं और अधिकारसम्पन्न समुदाय जहाँ-का-तहाँ स्थिति रहता है।

मेरा विश्वास है कि गांधीजी ने साधनों की महत्ता पर ज़ोर देकर हमारी बड़ी सेवा की है। फिर भी मैं अनुभव करता हूँ कि अन्तिम ज़ोर तो लाज़िमी और ज़रूरी तौर पर हमारे सामने जो ध्येय या मक़सद हो उसी पर देना चाहिए। जबतक हम ऐसा नहीं करते तबतक हम इधर-उधर भटकने में और मामूली सवालों पर अपनी ताक़त बरबाद करते रहने के सिवा और कुछ नहीं कर सकते। लेकिन साधनों की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि नैतिक पक्ष के अलावा उससे बिलकुल अलग उनका एक व्यावहारिक पक्ष भी है। हीन और अनैतिक साधन अक्सर हमारे लक्ष्य को ही विफल कर देते हैं, ज़बरदस्त नयी-नयी समस्याएं खड़ी कर देते हैं। और, आख़िरकार, किसी आदमी के बारे में कोई सही निर्णय हम, उसके उद्घोषित लक्ष्य से नहीं कर सकते; बल्कि उन साधनों से ही करते हैं जिन्हें वह व्यवहार में लाता है। ऐसे साधनों को अपनाने से, जिनसे कि व्यर्थ की लड़ाई पैदा हो और घृणा की वृद्धि हो, लक्ष्य की प्राप्ति और भी अधिक दूर हो जाती है। सच बात तो यह है कि साधन और साध्य का एक-दूसरे से इतना निकट सम्बन्ध है कि दोनों अलग-अलग करना अत्यन्त कठिन है। अतः निश्चित रूप से साधन ऐसे होने चाहिएँ, जिनसे घृणा या झगड़े यथासम्भव कम हो जायँ या सीमित हो जायँ, (क्योंकि उनका होना तो अनिवार्य-सा है) और सद्भावनाओं को प्रोत्साहन मिले। मुख्य प्रश्न किसी विशिष्ट पद्धति का उतना न होकर हेतु, इरादा और स्वभाव का बन जाता है। गांधीजी ने इसी मूल हेतु पर ज़ोर दिया है। वह मानव स्वभाव को किसी उल्लेखयोग्य सीमा तक बदलने में भले ही सफल न हुए हों, पर जिस महान् राष्ट्रीय आन्दोलनों में करोड़ों लोगों ने हिस्सा लिया, उनके हृदयों पर इसकी छाप बिठाने में आश्चर्यजनक सफलता मिली है। नियम पालने पर उनका आग्रह अत्यन्त आवश्यक था, हालाँकि उनकी वैयक्तिक नियमपालन की धारणाएं विवादास्पद हैं। वह सामाजिक पापों की अपेक्षा व्यक्तिगत पापों और कम-ज़ोरियों को बहुत ज़्यादा महत्त्व देते हैं। इसकी आवश्यकता तो स्पष्ट है, क्योंकि मुसीबतों का रास्ता छोड़कर शक्ति और अधिकार प्राप्त सत्ताधारी वर्ग में मिलने के प्रलोभन ने बहुत-से कांग्रेसवादियों को कांग्रेस से बाहर खींच लिया है। किसी भी प्रसिद्ध कांग्रेसवादी के लिए ये 'स्वर्गद्वार' तो सदा खुले ही रहते हैं।

आजकल सारी दुनिया कई तरह के संकटों में फँसी है। लेकिन इनमें सबसे

बड़ा संकट आध्यात्मिक संकट है। यह बात पूर्व के देशों में ख़ासतौर पर दिखाई देती है, क्योंकि हाल में दूसरी जगहों की अपेक्षा एशिया में बहुत जल्दी-जल्दी परिवर्तन हुए हैं, और सामञ्जस्य स्थापित करने की क्रिया बड़ी दुःखदायी है। राजनैतिक समस्या, जोकि आज इतना महत्त्व पा गई है, शायद सबसे कम महत्त्व की चीज़ है। हालाँकि हमारे लिए तो यह प्रधान समस्या है और इसके पहले कि हम असली मामलों में लगें, उसका सन्तोष-प्रद हल हो जाना ज़रूरी है। अनेक युगों से हमलोग एक अपरिवर्तनशील सामाजिक व्यवस्था के आदी हो गये हैं। हममें से बहुतों का अब भी यह विश्वास है कि सिर्फ़ यही समाज-व्यवस्था सम्भव और उचित है और नैतिक दृष्टि से हम उसे ठीक मान लेते हैं। लेकिन वर्तमान से भूतकाल का मेल मिलाने की हम जितनी कोशिशें करते हैं वे सब बेकार हो जाती हैं, और यह अवश्यम्भावी ही है। अमेरिकन अर्थशास्त्री वेब्लेन ने लिखा है कि—"अन्त में आर्थिक सद्व्यवहार के नियम आर्थिक आवश्यकताओं का अनुकरण करते हैं।" आजकल की ज़रूरतें हमें इस बात के लिए मजबूर करेंगी कि हम उनके मुताबिक़ सदाचार की एक नई व्याख्या करें। अगर हम लोग इस आध्यात्मिक संकट से निकलने का कोई रास्ता ढूँढ़ना चाहते हैं और अपनी भावनाओं का सच्चा मूल्यांकन करना चाहते हैं तो हमें निर्भीकता से और साहस के साथ समस्याओं का सामना करना पड़ेगा और किसी भी धार्मिक आदर्श की शरण लेने से काम नहीं चलेगा। धर्म जो कुछ कहता है वह भला भी हो सकता है और बुरा भी। लेकिन जिस तरीक़े से वह उसे कहता है और यह चाहता है कि हम उसपर विश्वास कर लें, उससे किसी बातको बुद्धि से समझ लेने में हमें क़तई कुछ मदद नहीं मिलती। जैसा कि फ्रॉयड ने कहा है "धर्म के आदेश विश्वास किये जाने योग्य हैं। इसलिए कि हमारे पूर्व-पुरुष उनपर विश्वास करते थे; दूसरे इसलिए कि हमारे पास उनके लिए प्रमाण मौजूद हैं, जो हमें उसी पुराने ज़माने से विरासत में मिलते आये हैं; और तीसरे इसलिए, कि उनकी सचाई के बारे में सवाल उठाना मना है।"[1]

अगर हम अहिंसा पर उसके सब व्यापक भावों सहित निर्भ्रान्त धार्मिक-दृष्टि से विचार करें तो बहस के लिए कोई गुंजाइश नहीं रहती है। उस हालत में तो वह एक सम्प्रदाय का संकुचित ध्येय हो जाती है, जिसे लोग मानें या न मानें। उसकी सजीवता जाती रहती है और उसमें मौजूदा मसलों को हल करने की क्षमता नहीं रहती। लेकिन अगर हम लोग मौजूदा हालतों के सिल-सिले में उसपर बहस करने को तैयार रहें तो वह हमें इस जगत् के नवनिर्माण के प्रयत्नों में बहुत मदद दे सकती है। ऐसा करते समय हमें साधारण व्यक्ति के स्वभाव और उसकी कमज़ोरियों का ध्यान रखना चाहिए। सामूहिक रूप में

---

[1] "दि फ़्यूचर आफ़ ऐन इल्यूज़न' नामक पुस्तक से।

किसी प्रवृत्ति पर—विशेष रीति से यदि इसका उद्देश्य कायापलट और क्रांतिकारी परिवर्तन करना हो तो—नेताओं के विचारों का ही प्रभाव नहीं पड़ता, बल्कि तत्कालीन परिस्थिति का और इससे भी अधिक उन नेताओं का, जिन मनुष्यों से काम पड़ता है, उनका उसके विषय में क्या विचार है, इसका भी प्रभाव पड़ता है।

दुनिया के इतिहास में हिंसा का बहुत बड़ा हिस्सा रहा है। आज भी वह बहुत महत्त्वपूर्ण हिस्सा ले रही है। और ग़ालिबन् आगे भी बहुत वक़्त तक वह अपना काम करती रहेगी। पिछले ज़माने में जो परिवर्तन हुए, उनमें से ज़्यादातर हिंसा और बल-प्रयोग से ही हुए। एक बार डब्ल्यू० ई० ग्लैडस्टन ने कहा था—"—मुझे यह कहते हुए दुःख होता है कि अगर राजनैतिक संकट के समय इस देश के लोगों को हिंसा से नफ़रत, व्यवस्था से प्रेम और धीरज से काम लेने के अलावा और कोई आज्ञाएं न दी गयी होतीं, तो इस देश को आज़ादी प्राप्त न होती।"

भूतकाल और वर्तमानकाल में हिंसा की महत्ता की उपेक्षा करना असम्भव है। उसकी उपेक्षा करना ज़िन्दगी की उपेक्षा करना है। फिर भी अवश्य ही हिंसा एक बुरी चीज़ है और वह अपने पीछे दुष्ट परिणामों की एक लम्बी लीक छोड़ जाती है। और हिंसा से ज़्यादा बुरी घृणा, क्रूरता, प्रतिशोध तथा दंड की प्रवृत्तियाँ हैं जो अक्सर हिंसा के साथ रहती हैं। सच बात तो यह है कि हिंसा स्वतः बुरी नहीं, बल्कि वह इन्हीं प्रवृत्तियों की वजह से बुरी है जो उसके साथ रहती हैं। इन प्रवृत्तियों के बिना भी हिंसा हो सकती है। वह तो बुरे उद्देश्य के लिए हो सकती है और अच्छे के लिए भी। लेकिन हिंसा को इन प्रवृत्तियों से अलग करना बहुत मुश्किल है, और इसलिए यह वाञ्छनीय है कि जहाँ तक मुमकिन हो हिंसा से बचा जाय। फिर भी उससे बचने में हम यह नकारात्मक रुख़ अख़्तियार नहीं कर सकते कि उससे बचने की धुन में दूसरी व उससे कहीं ज़्यादा बड़ी बुराइयों के सामने सिर झुका दें। हिंसा के सामने दब जाना या हिंसा की नींव पर टिके हुए किसी अन्यायपूर्ण शासन को मंजूर कर लेना अहिंसा की भावना के बिलकुल ख़िलाफ़ है। अहिंसा का तरीक़ा तो तभी ठीक कहा जा सकता है जब वह सजीव हो और उसमें इतना सामर्थ्य हो कि ऐसे शासन या ऐसी सामाजिक व्यवस्था को बदल डाले।

अहिंसा यह कर सकती है या नहीं, यह मैं नहीं जानता। मेरा ख़याल है कि वह हमें बहुत दूर तक ले जा सकती है, लेकिन इस बात में मुझे शक है कि वह हमें अन्तिम ध्येय तक ले जा सकती है। हर हालत में किसी-न-किसी क़िस्म का बल-प्रयोग तो लाज़िमी मालूम पड़ता है, क्योंकि जिन लोगों के हाथ में ताक़त और ख़ास अधिकार होते हैं वे उन्हें उस वक़्त तक नहीं छोड़ते जबतक ऐसा करने के लिए मजबूर नहीं कर दिया जाता, या जबतक ऐसी सूरतें न पैदा कर दी जायँ

जिनमें उनके लिए इन ख़ास हक़ों का रखना उन्हें छोड़ने से ज़्यादा नुक़सानदेह न हो जाय। समाज के मौजूदा राष्ट्रीय और वर्गीय संघर्ष बल-प्रयोग के बिना कभी नहीं मिट सकते। निस्सन्देह हमें बहुत बड़े पैमाने पर लोगों के हृदय बदलने पड़ेंगे, क्योंकि जबतक बहुत बड़ी तादाद हमसे सहमत न होगी, तबतक सामाजिक परिवर्तन के आन्दोलन का कोई वास्तविक आधार क़ायम नहीं हो सकेगा। लेकिन कुछ पर बल-प्रयोग करना ही पड़ेगा। हमारे लिए यह ठीक नहीं है कि हम इन बुनियादी लड़ाइयों पर परदा डालें और यह दिखलाने की कोशिश करें कि वे हैं ही नहीं। ऐसा करने से न सिर्फ़ सच्चाई का ही दमन होता है, बल्कि इसका प्रत्येक परिणाम लोगों को वास्तविक स्थिति से गुमराह करके मौजूदा व्यवस्था को मजबूत बनाना होता है और शासक-वर्ग अपने विशेष अधिकारों को उचित ठहराने के लिए जिस नैतिक सूत्र की तलाश में रहता है वह उसे मिल जाता है। किसी भी अन्याय-युक्त पद्धति का मुक़ाबला करने के लिए यह लाज़िमी है कि जिन ग़लत उपपत्तियों पर वह टिकी हुई है उनका रहस्योद्‌घाटन करके नग्न सत्य सामने रख दिया जाय। असहयोग की एक ख़ूबी यह भी है कि वह इन ग़लत उपपत्तियों और झूठी बातों को मानने और आगे बढ़ाने में सहयोग देने से इन्कार करके उनका भण्डाफोड़ कर देता है।

हमारा अन्तिम ध्येय तो यही हो सकता है कि एक वर्गहीन समाज स्थापित हो, जिसमें सबको समान न्याय और समान सुविधा प्राप्त हो; जिसमें मनुष्य-जाति को भौतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से ऊँचा उठाने और उसमें सहयोग, निःस्वार्थ सेवा-भाव, सत्यनिष्ठा, सद्भाव और प्रेम के आध्यामिक गुणों की वृद्धि करने, और अन्त में एक संसारव्यापी समाज की स्थापना करने की सुनिश्चित योजना हो। जो कोई इस लक्ष्य के रास्ते में रोड़ा बनकर आवे उसे हटाना होगा— हो सके तो नम्रता से अन्यथा बलपूर्वक; और इस बात में बहुत-कम शक है कि अक्सर बल-प्रयोग की ज़रूरत पड़ेगी। लेकिन अगर उसका प्रयोग करना ही पड़े तो वह घृणा और क्रूरता की भावना से नहीं, बल्कि एक रुकावट को दूर करने की शुद्ध इच्छा से। ऐसा करना मुश्किल होगा, लेकिन यह काम भी तो आसान नहीं है, कोई सीधा रास्ता भी नहीं है और अड़चनों की कोई गिनती नहीं। हमारे सिर्फ़ उपेक्षा कर देने से ही ये दिक़्क़तें और अड़चनें दूर नहीं हो जायँगी, हमें उनका असली रूप समझकर और साहस के साथ उनका मुक़ाबला करके उन्हें हटाना होगा। ये सब बातें काल्पनिक और सुखस्वप्न-सी मालूम होती हैं और यह सम्भव नहीं है कि बहुत-से लोग इन उच्च भावनाओं से प्रेरित हों। लेकिन हम उन्हें अपनी नज़र के सामने रख सकते हैं और उनपर ज़ोर दे सकते हैं और यह हो सकता है कि इसके फलस्वरूप हममें से बहुतों के हृदय में जो राग और द्वेष भरा है वह कम हो जाय।

हमारे साधन हमें इस लक्ष्य तक पहुँचानेवाले और इन भावनाओं से प्रेरित

होने चाहिएँ। लेकिन हमें यह बात ज़रूर महसूस कर लेनी चाहिए कि मानव-स्वभाव जैसा है उसे देखते हुए आम लोग हमारी प्रार्थनाओं और दलीलों पर हमेशा ध्यान नहीं देंगे और न ऊँचे नैतिक सिद्धान्त के अनुसार काम ही करेंगे। हृदय-परिवर्तन के अलावा बल-प्रयोग की अक्सर उनपर ज़रूरत पड़ती रहेगी। और सबसे अधिक हम जो कुछ कर सकते हैं वे यही है कि बल-प्रयोग सीमित कर दें, और उसको इस प्रकार से काम में लावें कि उसकी बुराई कम हो जाय।

६४

फिर देहरादून जेल

अलीपुर-जेल में मेरी तन्दुरुस्ती ठीक नहीं रहती थी, मेरा वज़न बहुत घट चुका था, और कलकत्ते की हवा और दिन-दिन बढ़ती हुई गर्मी मुझे परेशान कर रही थी। अफ़वाह थी, कि मुझे किसी अच्छी आबहवावाली जगह में भेजा जायगा। ७ मई को मुझसे अपना सामान समेटने और जेल से बाहर चलने को कहा गया। मैं देहरादून-जेल भेजा जा रहा था। कुछ महीनों की तनहाई के बाद शाम की ठण्डी-ठण्डी हवा में कलकत्ता के बीच होकर गुज़रना बड़ा अच्छा मालूम होता था और हावड़ा के आलीशान स्टेशन पर लोगों की भीड़ भी भली मालूम होती थी।

मुझे अपने इस तबादले पर खुशी थी और मैं देहरादून और उसके आस-पास के पहाड़ों को देखने को उत्सुक था। लेकिन वहाँ पहुँचने पर देखा कि नौ महीने पहले, नैनी जाते समय जैसा मैंने उसे छोड़ा था, वह सब हालत अब नहीं रही है। मैं अब एक नये स्थान पर रक्खा गया, जो मवेशियों के रहने की जगह को साफ़ करके ठीक की गयी थी।

कोठरी की शकल में वह कुछ बुरी नहीं थी। उसके साथ एक छोटा-सा बरामदा भी था। उसीसे लगा हुआ क़रीब पचास फुट लम्बा सहन था। देहरादून में पहली बार मुझे जो पुरानी कोठरी मिली थी, उससे यह अच्छी थी। लेकिन शीघ्र ही मुझे मालूम हुआ कि दूसरी तब्दीलियाँ कुछ अच्छी न थीं। घेरे की दीवार, जो दस फुट ऊँची थी, ख़ासकर मेरे कारण उस वक़्त चार या पाँच फुट और बढ़ा दी गयी थी। इससे पहाड़ियों के जिस दृश्य की मैं इतनी आशा लगाये था, वह बिलकुल छिप गया था, और मैं सिर्फ़ कुछ दरख़्तों के सिरे ही देख पाता था। मैं इस जेल में लगभग तीन महीने से ज़्यादा रहा; लेकिन मुझे कभी पहाड़ों की झलक तक नहीं दिखाई दी। पहली बार की तरह, इस बार मुझे बाहर जेल के दरवाज़े के सामने घूमने की इजाज़त न थी। मेरा छोटा-सा आँगन ही कसरत के लिए काफ़ी बड़ा समझा गया था।

ये तथा दूसरी नयी बन्दिशें नाउम्मेदी पैदा करनेवाली थीं, जिससे मैं खीझ

गया। मैं अनमना हो गया और अपने आँगन में जो थोड़ी-बहुत कसरत कर सकता था, उसतक के करने की तबीयत न रही। शायद ही मैंने कभी अपने को इतना अकेला और दुनिया से जुदा महसूस किया हो। एकान्त कारावास का मेरी तबीयत पर ख़राब असर होने लगा, और मेरा शरीर तथा मन गिरने लगा। मैं जानता था कि दीवार की दूसरी तरफ़ कुछ फुट की दूरी पर वायुमण्डल में ताज़गी और सुगन्ध भरी है, घास और नम पृथ्वी की ठण्डी-ठण्डी महक फैल रही है और दूर-दूर तक के दृश्य दिखाई पड़ते हैं। लेकिन ये सब मेरी पहुँच के बाहर थे और बार-बार उन्हीं दीवारों को देखते-देखते मेरी आँखें पथरा जाती थीं। वहाँ पर जेल की मामूली चहल-पहल तक न थी, क्योंकि मैं सबसे अलग और अकेला रखा गया था।

छः हफ़्ते बाद मूसलाधार वर्षा हुई; पहले हफ़्ते में बारह इंच पानी बरसा। हवा बदली और नवजीवन का सञ्चार हुआ; गर्मी कम हुई और शरीर हलका हुआ और आराम-सा मालूम होने लगा। लेकिन आँखों या दिमाग़ को कुछ आराम न मिला। जेल के वार्डर के आने-जाने के लिए जब कभी मेरे सहन का लोहे का दरवाज़ा खुलता था, तो एक क्षण के लिए बाहरी दुनिया की झलक, लहराते हुए हरे-भरे खेत और रंग-बिरंगे वृक्ष, जिनपर मेंह की बूँदें मोती की तरह चमकती थीं, बिजली के कौंध की भाँति अकस्मात् दिखाई देकर तत्काल छिप जाती थीं। दरवाज़ा शायद ही कभी पूरा खुलता हो। सिपाहियों को ख़ास तौर पर हिदायत थी कि अगर मैं कहीं नज़दीक होऊँ तो वह न खोला जाय, और वे जब-कभी खोलते भी थे, तो बस ज़रा-सा ही। हरियाली और ताज़गी की ये थोड़ी-थोड़ी झाँकियाँ अब मुझे अच्छी नहीं लगती थीं, इन्हें देखकर मुझे घर की याद हो आती थी और दिल में एक दर्द-सा उठता था; इसलिए जब कभी दरवाज़ा खुलता तो मैं बाहर की तरफ़ नहीं देखता था।

लेकिन यह सब परेशानी असल में जेल की ही वजह से नहीं थी। यह तो बाहरी घटनाओं का असर था। मुझे सताने के लिए एक तरफ़ तो कमला की बीमारी थी और दूसरी तरफ़ मेरी राजनैतिक चिन्ताएँ। मुझे ऐसा दिखाई दे रहा था कि कमला को उसकी पुरानी बीमारी ने फिर आ दबाया है। मैं उसकी कोई भी सेवा करने के अयोग्य हूँ, यह विचार दुःख देने लगा। मैं जानता था कि मैं कमला के पास होता तो अवस्था बहुत-कुछ बदल जाती।

अलीपुर में तो मुझे दैनिक पत्र नहीं मिलता था पर देहरादून-जेल में मुझे वह मिलने लगा और मुझे बाहर के राजनैतिक और दूसरे समाचार मालूम होने लगे। पटना में अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी की क़रीब तीन बरस बाद बैठक हुई (इस दरमियान तो वह क़रीब-क़रीब ग़ैर-क़ानूनी ही रही।) इसकी कार्रवाई पढ़कर तबीयत मुरझा-सी गयी। मुझे आश्चर्य हुआ कि देश और

दुनिया में इतना कुछ हो जाने के बाद जब यह पहली बैठक हुई तो परिस्थिति की छानबीन करने, पूरी चर्चा करने और पुराने दर्रे में से निकलने की कुछ कोशिश नहीं की गयी। दूर से ऐसा जान पड़ा, मानो गांधीजी, अपने पुराने एकतन्त्री रूप में खड़े होकर कह रहे हैं, "अगर मेरे बताये रास्ते पर चलना हो, तो मेरी शर्तें क़बूल करो।" उनकी माँग बिलकुल स्वाभाविक भी थी, क्योंकि यह तो हो नहीं सकता था कि उन्हें रखा भी जाय और काम भी उनसे उनके आन्तरिक विश्वासों के विरुद्ध लिया जाय। मगर ऐसा ज़रूर लगा कि ऊपर से दबाने की वृत्ति ज़्यादा थी और आपस में चर्चा करके किसी नीति को निश्चित करने की कम। यह विचित्र बात है कि गांधीजी पहले तो लोगों के दिल और दिमाग़ पर क़ब्ज़ा कर लेते हैं और फिर उनके पंगु होने की शिकायत करते हैं। मैं समझता हूँ, कि जितनी बड़ी जनसंख्या ने श्रद्धा और भक्ति से उनकी आज्ञाओं का पालन किया है, उतना बहुत कम लोगों का किया है। ऐसी हालत में जनता को यह दोष देना न्यायोचित नहीं मालूम होता कि उससे जो बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँध ली गयी थीं वे पूरी नहीं हुईं। पटना की बैठक में गांधीजी अन्त तक ठहरे भी नहीं, क्योंकि उन्हें हरिजन-यात्रा जारी रखनी थी। उन्होंने अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी से फ़ालतू बातों में न पड़कर काम-से-काम रखने और वर्किंग कमिटी के रखे हुए प्रस्तावों को जल्दी-से निबटाने के लिए कहा और फिर चले गये।

शायद यह सच है कि लम्बे वाद-विवाद से भी कोई और अच्छा नतीजा न निकलता। सदस्यों के मन में इतना गड़बड़घोटाला और विचारों की अस्पष्टता थी कि नुक़्ताचीनी करने को तो बहुत लोग तैयार थे, लेकिन रचनात्मक परामर्श शायद ही किसीने दिया हो। उस वक़्त की परिस्थिति में यह था तो स्वाभाविक, क्योंकि लड़ाई का भार अलग-अलग प्रान्तों से आये हुए इन्हीं नेताओं पर आ पड़ा था, और वे ज़रा थके हुए और परेशान-से थे। उन्हें कुछ ऐसा तो लगा कि अब लड़ाई बन्द करनी पड़ेगी, मगर यह न सूझा कि आगे क्या किया जाय? उस समय दो स्पष्ट दल बन गये, जिनमें से एक तो कौंसिलों-द्वारा केवल वैधानिक आन्दोलन के पक्ष में था और दूसरा कुछ अनिश्चित समाजवादी विचारों के प्रवाह में बहने लगा। लेकिन ज़्यादातर मेम्बर दोनों में से किसी एक पक्ष के भी समर्थक नहीं थे। उन्हें यह भी पसन्द न था कि पीछे हटकर फिर कौंसिलों की शरण ली जाय और साथ ही समाजवाद से कुछ डर भी लगता था कि कहीं उस नयी चीज़ से आपस में फूट न पैदा हो जाय। उनके कोई रचनात्मक विचार न थे और उनकी एक मात्र आशा और सहारा गांधीजी थे। पहले की तरह इस बार भी उन्होंने गांधीजी की तरफ़ देखा और जैसा उन्होंने कहा, किया। यह बात दूसरी है कि बहुतों को गांधीजी की बात पूरी तरह पसन्द न थी। गांधीजी के सहारे से नरम वैधानिक विचार के लोगों का

कमिटी और कांग्रेस दोनों में बोलबाला हो गया।

यह सब तो होना ही था। मगर जितना मैंने सोचा था, उससे कहीं ज़्यादा कांग्रेस पीछे हट गयी। पिछले पन्द्रह साल में, जब से असहयोग का जंग हुआ, कांग्रेस के नेताओं ने कभी इतनी परले सिरे की वैध ढंग की बातें नहीं की थीं। पिछली स्वराज-पार्टी, हालाँकि वह ख़ुद भी प्रतिक्रिया का ही एक रूप थी, इस नये दल की विचार-धारा को देखते हुए कहीं आगे बढ़ी हुई थी। और स्वराज-पार्टी में जैसे बड़े और प्रभावशाली व्यक्ति थे वैसे इसमें थे भी नहीं। इसमें बहुत-से लोग तो ऐसे थे, जो जबतक जोखिम रहा, आन्दोलन से जान-बूझकर अलग रहे और अब कांग्रेस में धड़ाधड़ शामिल होकर बड़े आदमी बन गये।

सरकार ने कांग्रेस पर से बन्दिशें उठा लीं और वह क़ानूनी संस्था बन गयी। लेकिन इसकी बहुत-सी सहायक संस्थाएँ फिर भी ग़ैर-क़ानूनी बनी रहीं, जैसे कांग्रेस का स्वयंसेवक विभाग—सेवादल और कई स्वतंत्र किसान-सभाएं, शिक्षण-संस्थाएँ और नौजवान-सभाएँ, जिनमें एक बच्चों की संस्था भी थी। ख़ासतौर पर 'ख़ुदाई ख़िदमतगार' या सरहदी लाल कुर्तीवाले फिर भी ग़ैरक़ानूनी बने रहे। यह संस्था १९३१ में कांग्रेस की एक अंग बन गई थी और सरहदी सूबे में उसकी तरफ़ से काम करती थी। इस तरह हालाँकि कांग्रेस ने सीधी लड़ाई पूरी तरह स्थगित कर दी थी और वैध ढंग अख़्तियार कर लिया था, फिर भी सरकार ने सत्याग्रह के लिए जो ख़ास क़ानून बनाये थे, वे सब-के-सब क़ायम रखे और कांग्रेस संगठन की महत्त्वपूर्ण संस्थाओं पर पाबन्दियाँ जारी रखीं। किसानों और मज़दूरों की संस्थाओं को दबाने की तरफ़ भी ख़ास ध्यान दिया गया। और मज़ेदार बात तो यह है कि साथ-ही-साथ बड़े-बड़े सरकारी अफ़सर घूम-घूमकर ज़मींदारों और ताल्लुक़ेदारों को संगठित करने लगे। ज़मींदारों की इन संस्थाओं को हर तरह की सहूलियतें दी गयीं। युक्तप्रान्त की इन संस्थाओं में से बड़ी-बड़ी दो संस्थाओं का चन्दा लगान के साथ सरकारी आदमियों ने इकट्ठा किया।

मेरा ख़याल है कि मेरे मन में हिन्दू या मुस्लिम साम्प्रदायिक संस्थाओं के प्रति पक्षपात नहीं रहा है। लेकिन एक घटना ने हिन्दू-सभा के लिए मेरे मन में ख़ास तौर पर कटुता पैदा कर दी। इसके एक मन्त्री ने ख़ामख़्वाह लाल कुर्तीवालों पर लगायी गयी बन्दिशों की हिमायत करके सरकार की पीठ ठोंक दी। जिस समय लड़ाई चल नहीं रही थी, उस समय भी अत्यन्त मामूली नागरिक अधिकारों के छीने जाने के इस समर्थन से मैं दङ्ग रह गया। सिद्धान्त का सवाल छोड़ भी दें, तो भी यह सबको मालूम था कि लड़ाई के दिनों में, इन सरहदी लोगों का बर्ताव विलक्षण रहा, और उनके नेता देश के एक अत्यन्त शूरवीर और ईमानदार व्यक्ति—ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ारख़ाँ, जो बिना मुक़दमा

बजाये नज़रबन्द कर दिये गये थे, अभीतक जेल में थे । मुझे ऐसा लगा कि इससे ज़्यादा साम्प्रदायिक द्वेष और क्या हो सकता है ? मुझे उम्मीद थी कि हिन्दू-महासभा के बड़े नेता इस मामले में अपने साथी का फ़ौरन प्रतिवाद कर देंगे। लेकिन जहाँतक मुझे मालूम है, उनमें से किसीने एक शब्द भी नहीं कहा। हिन्दू-महासभा के मन्त्री के इस वक्तव्य से मुझे बड़ी बेचैनी हुई।

वह वक्तव्य वैसे ही बुरा था, लेकिन मुझे ऐसा दिखायी दिया कि देश में जो एक नयी स्थिति पैदा हो गई है, वह उसका सूचक है । गर्मी के दिन थे और तीसरे पहर का वक़्त। मेरी आँखें झपक गयीं । याद पड़ता है कि मैंने एक अजीब-सा सपना देखा '। अब्दुलग़फ़्फ़ारख़ाँ पर चारों तरफ़ से हमले हो रहे हैं और मैं उन्हें बचाने के लिए लड़ रहा हूँ । थकान से चूर और भारी वेदना से व्यथित होकर जागा तो क्या देखता हूँ कि तकिया आँसुओं से तर है। मुझे बड़ा ताज्जुब हुआ, क्योंकि जाग्रत अवस्था में कभी मुझपर ऐसी भावुकता सवार नहीं हुआ करती।

उन दिनों मेरा चित्त सचमुच ही ठिकाने न था। नींद ठीक नहीं आती थी। यह मेरे लिए नयी बात थी। मुझे तरह-तरह के बुरे सपने भी आने लगे थे । कभी-कभी नींद में चिल्ला उठता था। एक बार तो मेरा यह चिल्लाना मामूली से ज़्यादा ज़ोर का हो गया। जब मैं चौंककर उठा, तो बिस्तर के पास जेल के दो सिपाहियों को खड़ा पाया। उन्हें मेरे चिल्लाने से चिन्ता हो गयी थी । मैंने सपने में यह देखा था कि कोई मेरा गला घोंट रहा है।

इसी अर्से में कांग्रेस वर्किंङ्ग कमिटी के एक प्रस्ताव का भी मेरे दिल पर दुखदायी असर हुआ। यह कहा गया था कि यह प्रस्ताव "निजी सम्पत्ति की ज़ब्ती और वर्गयुद्ध के सम्बन्ध में होनेवाली अनुत्तरदायित्वपूर्ण चर्चा को ध्यान में रखकर" पास हुआ है, और इसके ज़रिये कांग्रेसवालों को यह बताया गया था कि कराची कांग्रेस के प्रस्ताव में "किसी उचित कारण या मुआवज़े के बिना न तो निजी सम्पत्ति की ज़ब्ती का ही, और न वर्गयुद्ध का ही समर्थन किया गया है। वर्किङ्ग कमिटी की यह भी राय है कि सम्पत्ति की ज़ब्ती और वर्गयुद्ध कांग्रेस के अहिंसा के सिद्धान्त के ख़िलाफ़ है।" इस प्रस्ताव की भाषा दोषपूर्ण थी, जिससे एक हदतक यह प्रकट होता था कि इसके बनानेवाले जैसे यह जानते ही नहीं कि वर्गयुद्ध क्या चीज़ है। इस प्रस्ताव द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नये कांग्रेस-समाजवादी दल पर हमला किया गया था। असल में, इस दल के किसी भी ज़िम्मेदार शख़्स की तरफ़ से ज़ब्ती की कभी कोई बात नहीं कही गयी थी; हाँ, मौजूदा परिस्थितियों में जो वर्गयुद्ध मौजूद है, कभी-कभी उसका ज़िक्र कर दिया जाता था। वर्किङ्ग-कमिटी के इस प्रस्ताव में यह इशारा मालूम पड़ता था कि कोई भी ऐसा शख़्स जो इस तरह वर्गयुद्ध में विश्वास रखता है कांग्रेस का मामूली मेम्बर तक नहीं बन सकता। कांग्रेस के समाजवादी होने या निजी

सम्पत्ति के विरुद्ध होने की शिकायत तक किसीने नहीं की थी। कुछ सदस्यों का इस प्रकार का मत था लेकिन अब यह स्पष्ट हो गया कि इस राष्ट्रीय संस्था में जहाँ सबके लिए जगह है, वहां समाजवादियों के लिए जगह नहीं है।

अक्सर यह कहा गया है कि कांग्रेस राष्ट्र की प्रतिनिधि है—यानी, राजा से लेकर रंक तक सभी क़िस्म के लोग इसमें शामिल हैं। राष्ट्रीय आन्दोलनों का बहुधा यह दावा हुआ ही करता है। इसका मतलब शायद यह है कि ये आन्दोलन राष्ट्र के बहुत बड़े बहुमत के प्रतिनिधि होते हैं और उनकी नीति सभी क़िस्म के लोगों की भलाई की होती है। लेकिन ज़ाहिर है कि यह दावा तो किया ही नहीं जा सकता। कोई राजनैतिक संस्था विरोधी-हितों की प्रतिनिधि नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसा करने से न केवल वह कमज़ोर और बे-मानी संस्था हो जायगी, बल्कि उसका अपना कोई विशेष चिह्न और स्वरूप भी क़ायम न रह सकेगा। कांग्रेस या तो एक ऐसा राजनैतिक दल है, जिसका कोई एक निश्चित (या अनिश्चित) उद्देश है और राजनैतिक सत्ता प्राप्त करने और राष्ट्र के हित में उसका उपयोग करने के लिए उसकी अपनी एक विशिष्ट विचार-धारा है; या वह एक ऐसी परोपकारिणी और दया-धर्मप्रचारिणी संस्था है, जिसके अपने कोई विचार नहीं हैं, बल्कि वह सबका भला चाहती है। जिन लोगों को यह ध्येय तथा सिद्धान्त मान्य हैं उन्हीं की यह प्रतिनिधि संस्था है और जो उसके विरोधी हैं उन्हें वह राष्ट्र-विरोधी या समाज-विरोधी और प्रतिगामी मानती है, और अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए उनका प्रभाव कम करने या मिटाने में विश्वास रखती है। यह सही है कि साम्राज्य-विरोधी राष्ट्रीय आन्दोलन से अधिक लोगों के सहमत होने की गुञ्जाइश रहती है, क्योंकि उसका सामाजिक संघर्ष से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इस तरह कांग्रेस किसी-न-किसी मात्रा में भारतवासियों के भारी बहुमत की प्रतिनिधि थोड़े-बहुत रूप में ज़रूर रही है और सब तरह के विरोधी दल के लोग भी इसमें शामिल रहे हैं। ये लोग एकमत सिर्फ़ इस बात पर रहे कि साम्राज्यवाद का विरोध करना चाहिए। लेकिन इस मामले पर ज़ोर देने का जुदा-जुदा लोगों का जुदा-जुदा ढंग था। साम्राज्य के विरोध के इस मूल प्रश्न पर जिन लोगों की राय बिलकुल ख़िलाफ़ रही, वे लोग कांग्रेस से निकल गये और किसी-न-किसी शक्ल में ब्रिटिश सरकार के साथ मिल गये। इस तरह कांग्रेस एक तरह का स्थायी सर्वदल सम्मेलन बन गयी जिसमें एक-दूसरे से मिलते-जुलते कई दल थे जो एक मुख्य सिद्धान्त और गांधीजी के सर्वोपरि व्यक्तित्व के कारण एक सूत्र में बँधे थे।

बाद में वर्किङ्ग-कमिटी ने वर्गयुद्ध-सम्बन्धी अपने प्रस्ताव का अर्थ समझाने की कोशिश की। इस प्रस्ताव की भाषा का या उसमें जिस विषय का प्रतिपादन था, उसका इतना महत्त्व न था, जितना इस बात का कि इससे कांग्रेस जिस दिशा में जा रही थी, उसका नया परिचय मिलता था। साफ़ है कि यह प्रस्ताव

कांग्रेस के नये पार्लमेण्टरी दल की प्रेरणा से पास हुआ था। यह दल असेम्बली के आगामी चुनाव में जायदादवाले लोगों की सहायता प्राप्त करना चाहता था। इन लोगों के प्रभाव से कांग्रेस का दृष्टिकोण नरम होता जा रहा था और वह देश के नरम और पुराने ख़याल के लोगों को मिलाने की कोशिश कर रही थी। जिन लोगों ने पहले कांग्रेस की हलचलों का विरोध किया था और सत्याग्रह के जमाने में भी सरकार का साथ दिया था, उन लोगों के प्रति भी चापलूसी-भरे शब्द कहे जाने लगे। यह भी महसूस किया गया कि शोर मचाने और टीका-टिप्पणी करनेवाला गरम दल इस मेल-मिलाप और हृदय-परिवर्तन के काम में बाधक बन रहा था। वर्किंङ्ग कमिटी के प्रस्ताव और दूसरे व्यक्तिगत भाषणों से यह प्रकट था कि कांग्रेस की कार्यकारिणी सभा गरमदलवालों के अड़चनें डालने पर भी अपना नया रास्ता छोड़ने को तैयार नहीं थी। यह भी ज़ाहिर होता था कि अगर गरमदल का रुख़ न बदला तो उसे कांग्रेस से ही निकाल बाहर कर दिया जायेगा। कांग्रेस के पार्लमेण्टरी बोर्ड ने जो ऐलान निकाला उसमें ऐसा नरम और फूँक-फूँककर क़दम रखने का कार्यक्रम निर्देशित किया गया, जैसा पिछले पन्द्रह साल में कांग्रेस ने कभी अख़्तियार नहीं किया था।

गांधीजी के अलावा भी कांग्रेस में कई ऐसे प्रसिद्ध नेता थे, जिन्होंने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन में बड़ी अमूल्य सेवाएं की थीं, और उनकी सचाई और निर्भयता के कारण देशभर में उनका बड़ा मान था। लेकिन इस नयी नीति की वजह से कांग्रेस की दूसरी पंक्ति ही नहीं, पहली पंक्ति में भी ऐसे-ऐसे लोग आकर नेता बन गये जिन्हें आदर्शवादी नहीं कहा जा सकता था। कांग्रेस के सामान्य सदस्यों में बेशक बहुत-से आदर्शवादी थे, लेकिन इस समय सम्मान-लोभियों और अवसरवादियों के लिए दरवाज़ा जितना ज़्यादा खुल गया था, उतना शायद ही पहले कभी खुला हो। इस सारे वातावरण पर गांधीजी के रहस्यपूर्ण तथा अगम्य व्यक्तित्व का प्रभुत्व तो था ही, परन्तु कांग्रेस दोमुँही मालूम पड़ती थी, एक मुँह तो शुद्ध राजनैतिक था और संगठित दल का रूप अख़्तियार करता था, और दूसरा था धर्मनिष्ठा और भावुकता से पूर्ण प्रार्थना-सभाओं का।

सरकार की तरफ़ विजय का वातावरण स्पष्ट रूप से प्रकट था। उसकी दृष्टि से उसकी यह जीत उसकी सविनय-भंग तथा उसकी अन्य शाखाओंको दबा देने की नीति के फलस्वरूप हुई थी। आपरेशन तो सफलतापूर्वक हो ही गया था। फिर उस समय यह क्यों चिन्ता होने लगी कि मरीज़ जियेगा या मरेगा। हालाँकि उस वक़्त कांग्रेस किसी हद तक दबा दी गयी थी, फिर भी सरकार कुछ मामूली हेरफेर के साथ अपनी दमननीति वैसे ही जारी रखना चाहती थी। वह जानती थी कि जबतक असन्तोष का आधारभूत कारण मौजूद है, तबतक राष्ट्रीय

नीति में इस प्रकार के परिवर्तन क्षणिक ही हो सकते हैं, और इसलिए उसने यदि अपनी नीति में ज़रा भी ढिलाई की तो आन्दोलन तेज़ रफ़्तार पकड़ सकता है। वह शायद यह भी समझती थी कि कांग्रेस मज़दूर या किसान्-वर्ग में से अधिक गरम विचारवालों को दबाने की अपनी नीति जारी रखने में कांग्रेस के फूँक-फूँककर चलनेवाले नेताओं के बहुत अधिक नाराज़ होने की कोई आशंका नहीं है।

देहरादून-जेल में मेरे विचारों का प्रवाह किसी हद तक इसी प्रकार का था। परिस्थिति के सम्पर्क में न होने के कारण वास्तव में मैं घटना-चक्र के सम्बन्ध में अपना निश्चित मत बनाने की स्थिति में न था। अलीपुर में तो मैं परिस्थिति से बिलकुल ही अपरिचित था, देहरादून में मुझे सरकार की पसन्द के अख़बार के ज़रिये अधूरी और कभी-कभी बिलकुल एकतरफ़ा ख़बरें मिलने लगी थीं। अपने बाहर के साथियों के सम्पर्क में आने और परिस्थिति के निकट अध्ययन से मेरे विचारों में किसी हदतक परिवर्तन होना बहुत मुमकिन था।

वर्तमान परिस्थिति से परेशान होकर मैं भूतकाल की बातों का, जबसे मैंने सार्वजनिक कार्यों में कुछ भाग लेना शुरू किया तबसे हिन्दुस्तान की राजनैतिक घटनाओं का अवलोकन करने लगा। हमने जो कुछ किया, उसमें हम किस हद तक सही रास्ते पर थे? किस हदतक ग़लती पर थे? उसी समय मुझे वह सूझा कि मैं अपने विचारों को अगर काग़ज़ पर लिखता जाऊँ तो वे अधिक व्यवस्थित और उपयोगी होंगे। इससे मुझे अपने दिमाग़ को एक निश्चित काम में लगाये रखने से उसे चिन्ता और परेशानी से दूर रखने में भी सहायता मिलेगी। इस तरह जून सन् १९३४ में देहरादून-जेल में मैंने अपनी यह 'कहानी' लिखनी शुरू की और आठ महीने तक, जबतक इसकी धुन सवार रही, लिखता रहा। अक्सर ऐसे मौक़े आये जब मुझे लिखने की इच्छा न हुई। तीन बार ऐसा हुआ कि महीने-महीने भर तक मैं न लिख सका। लेकिन मैंने इसे जारी रखने की कोशिश की, और अब मैं इस निजी यात्रा की समाप्ति के निकट पहुँच चुका हूँ। इसका अधिकांश एक अजीब परेशानी की हालत में लिखा गया है, जबकि मैं उदासी और मानसिक चिन्ताओं से दबा हुआ था। शायद इसकी थोड़ी-सी झलक, जो कुछ मैंने लिखा, उसमें आ गयी है, लेकिन इस लिखने ने ही मुझे वर्तमान चिन्ताओं को भुलाने में बड़ी सहायता दी। जब मैं इसे लिख रहा था, मुझे बाहर के पाठकों का बिलकुल ख़याल न था; मैं अपने-आपको सम्बोधन करता था, और अपने लाभ के प्रश्न बनाकर उनके उत्तर देता था। कभी-कभी तो उससे मेरा कुछ मनोरञ्जन भी हो जाता था। यथास बिना किसी लाग-लपेट के स्पष्ट विचार करना चाहता था, और मैं सोचता था कि शायद भूतकाल का यह सिंहावलोकन मुझे इस काम में सहायक होगा।

आख़िरी जुलाई के क़रीब कमला की हालत बड़ी तेज़ी से बिगड़ने लगी

और कुछ ही दिनों में वह नाज़ुक हो गयी। ११ अगस्त को मुझसे एकाएक देहरादून-जेल छोड़ने को कहा गया और उस रात को मैं पुलिस की निगरानी में इलाहाबाद भेज दिया गया। दूसरे दिन शाम को हम इलाहाबाद के प्रयाग स्टेशन पर पहुँचे और वहाँ मुझसे ज़िला मैजिस्ट्रेट ने कहा कि मैं अस्थाई तौर पर रिहा किया जा रहा हूँ जिससे मैं अपनी बीमार पत्नी को देख सकूँ। मेरी गिरफ़्तारी का छठवाँ महीना पूरा होने में एक दिन बाक़ी रह गया था।

६५

ग्यारह दिन

"स्वयं काटकर जीर्ण म्यान को दूर फेंक देती तलवार,
इसी तरह चोला अपना यह रख देता है जीव उतार।"[1]

मेरी रिहाई आरज़ी थी। मुझे बता दिया गया था कि मेरी रिहाई एक या दो दिन के लिए, या जबतक डाक्टर बिल्कुल ज़रूरी समझें तबतक के लिए है। अनिश्चितता से भरी हुई यह एक अजीब स्थिति थी, और मेरे लिए कुछ निश्चित कर सकना मुमकिन न था। एक निश्चित अवधि होती तो मैं जान सकता था, कि मेरी क्या स्थिति है और मैं अपने-आपको उसके अनुकूल बनाने की कोशिश करता। मौजूदा हालत जैसी थी, उसमें तो मैं किसी भी दिन जेल को वापिस भेज दिया जा सकता था।

परिवर्तन आकस्मिक था और मैं उसके लिए ज़रा भी तैयार न था। क़ैद की तनहाई से मैं एकदम डाक्टरों, नर्सों और रिश्तेदारों से भरे हुए घर पर पहुँचाया गया। मेरी लड़की इन्दिरा भी शान्ति-निकेतन से आ गयी थी। मुझसे मिलने और कमला की हालत दरियाफ़्त करने के लिए बहुत-से मित्र बराबर आते जा रहे थे। रहन-सहन का ढंग भी बिल्कुल जुदा था, घर के सब आराम थे और अच्छा खाना था। यह सब कुछ होते हुए भी कमला की ख़तरनाक हालत की चिन्ता परेशान कर रही थी।

उसके शरीर में केवल हड्डियाँ रह गयी थीं और वह अत्यन्त कमज़ोर हो गई थी। उसका शरीर छाया-मात्र मालूम पड़ता था। वह बहुत कमज़ोर हालत में रोग से टक्कर ले रही थी। और यह ख़याल कि शायद वह मुझे छोड़ जायगी असह्य वेदना देने लगा। इस समय हमारी शादी को साढ़े अठारह साल हुए थे। मेरे मन में उस दिन से लेकर आज तक के बरसों की सुधि आने लगी। शादी के वक़्त मैं छब्बीस साल का था और वह क़रीब सत्रह बरस की। वह सांसारिक बातों से सर्वथा अनभिज्ञ निरी अबोध बालिका थी। हमारी उम्र में काफ़ी फ़र्क़ था, और उससे भी अधिक फ़र्क़ हमारे मानसिक दृष्टि-बिन्दु

[1] बायरन के मूल अँग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

में था, क्योंकि उसकी बनिस्बत मेरी उम्र कहीं ज़्यादा थी। पर ऊपर से गम्भीर होते हुए भी मुझमें बड़ा लड़कपन था, और मैंने शायद ही कभी यह महसूस किया हो कि इस सुकुमार और भावुक बाला का मस्तिष्क फूल की तरह धीरे-धीरे विकसित हो रहा है और उसे सहृदयता और होशियारी के साथ सहारा देने की आवश्यकता है। हम दोनों एक-दूसरे की तरफ़ आकर्षित हो रहे थे और काफ़ी अच्छी तरह हिल-मिल गये, लेकिन हमारा दृष्टि-पथ जुदा-जुदा था और एक-दूसरे में अनुकूलता का अभाव था। इस विपरीतता के कारण कभी-कभी आपस में संघर्ष तक की नौबत आ जाती थी; और कई बार छोटी-मोटी बातों पर बच्चों के-से छोटे-मोटे झगड़े भी हो जाया करते थे, जो ज़्यादा देर तक न टिकते थे, और तुरन्त ही मेल-मिलाप होकर समाप्त हो जाते थे। दोनों का स्वभाव तेज़ था, दोनों ही तुनकमिज़ाज़ थे, और दोनों में ही अपनी शान रखने की बच्चों की-सी ज़िद थी। इतने पर भी हमारा प्रेम बढ़ता गया, हालांकि परस्पर मानसिक भेद धीरे-धीरे कम हुआ। हमारी शादी के इक्कीस महीने के बाद हमारी लड़की और एकमात्र सन्तान इन्दिरा पैदा हुई।

हमारी शादी के बिलकुल साथ-ही-साथ देश की राजनीति में अनेक नई घटनाएँ हुई और उनकी ओर मेरा झुकाव बढ़ता गया। वे होमरूल के दिन थे। उनके पीछे फ़ौरन ही पंजाब के मार्शल-ला और असहयोग का ज़माना आया और मैं सार्वजनिक कामों के आँधी तूफ़ान में अधिकाधिक फँसता ही गया। इन आन्दोलनों में मेरी तल्लीनता इतनी बढ़ गई थी कि ठीक उस समय, जबकि उसे मेरे पूरे सहयोग की आवश्यकता थी, मैंने अनजान में उसे बिलकुल नज़रअन्दाज़ कर, उसे अपने निज के भरोसे छोड़ दिया। उसके प्रति मेरा प्रेम बराबर बना रहा, बल्कि बढ़ता गया, और वह अपने प्रेमपूर्ण हृदय से मुझे सहायता देने को सदा तैयार है, यह जानकर मन को बड़ी सान्त्वना मिलती थी। उसने मुझे बल दिया, लेकिन साथ ही उसे मानसिक व्यथा भी होती रही होगी और अपने प्रति मेरी कुछ लापरवाही उसे खटकती रही होगी। इस तरह उसे भूला-सा रहने और कभी-कदास उसकी सुध लेने के बजाय यदि उस पर मेरी अकृपा रही होती, तो वह किसी क़दर अच्छा होता।

इसके बाद उसकी बीमारी का दौरा शुरू हुआ और मेरा लम्बा जेल-निवास। हम केवल जेल की मुलाक़ात के समय ही मिल पाते थे। सत्याग्रह-आन्दोलन ने उसे सैनिकों की प्रथम पंक्ति में ला खड़ा किया, और उसे स्वय जेल जाने पर बड़ी ख़ुशी हुई। हम एक-दूसरे के और भी निकट आते गये। कभी-कभी होनेवाली ये मुलाक़ातें अनमोल होती गयीं; हम उनकी बाट जोहते रहते थे और बीच के दिन गिनते रहते थे। हम आपस में एक-दूसरे से उकताते न थे और हमारी बातें नीरस नहीं हुआ करती थीं, क्योंकि हमारी मुलाक़ातों और थोड़ी देर के मिलन में हमेशा कुछ-न-कुछ ताज़गी और नवीनता बनी रहती थी।

हम दोनों बराबर एक-दूसरे में नयी-नयी बातें पाते रहते थे, हालाँकि कभी-कभी ये बातें शायद हमारी पसन्द की न होती थीं। हमारी बढ़ती हुई उम्रके इन मतभेदों में भी लड़कपन की मात्रा रहती।

वैवाहिक जीवन के अठारह बरस बाद भी उसके मुख पर मुग्धा कुमारी का भाव अभी तक वैसा ही बना हुआ था, प्रौढ़ता का कोई चिह्न न था। प्रथम दिन नववधू बनकर वह जैसी हमारे घर आयी थी, अब भी बिलकुल वैसी ही मालूम होती थी। लेकिन मैं बहुत बदल गया था; और हालाँकि अपनी उम्र के मुताबिक़ मैं काफ़ी योग्य, चपल और क्रियाशील था—और कुछ लोगों का कहना था कि अब भी मुझमें लड़कपन की कई सिफ़तें मौजूद हैं—फिर भी मेरे चेहरे से मेरी अधिक उम्र मालूम पड़ती थी। मेरे सिर के आधे बाल उड़ गये थे और जो बाक़ी थे वे पक गये थे; पेशानी पर सिलवटें, चेहरे पर झुर्रियाँ और आँखों के चारों तरफ़ काली झाईं पड़ गयी थी। पिछले चार वर्षों की मुसीबतें और परेशानियाँ मुझपर अपने बहुत-से निशान छोड़ गयी थीं। इन पिछले बरसों में मैं और कमला जब कभी किसी नयी जगह जाते, तो मैं यह जानकर हैरान हो जाता था कि अक्सर कमला को मेरी लड़की समझ लिया जाता। वह और इन्दिरा सगी बहिनें-सी दिखाई देती थीं।

वैवाहिक-जीवन के अठारह बरस! लेकिन इनमें से कितने साल मैंने जेल की कोठरियों में, और कमला ने अस्पतालों और सेनटोरियम में बिताये? और फिर इस समय भी मैं जेल की सज़ा भुगतता हुआ कुछ ही दिनों के लिए बाहर आ गया था। और वह बीमार पड़ी हुई जीवन के लिए संघर्ष कर रही थी। अपनी तन्दुरुस्ती के बारे में उसकी लापरवाही पर कुछ झुँझलाहट-सी आयी। लेकिन फिर भी मैं उसे दोष किस तरह दे सकता था, क्योंकि राष्ट्रीय युद्ध में पूरा हिस्सा लेने में अशक्त होने के कारण उसकी तेजस्वी आत्मा छटपटाती रहती थी। शरीर से समर्थ न होने के कारण न तो वह ठीक तरह से काम ही कर सकती थी, न ठीक तौर पर अपना इलाज ही करा सकती थी। नतीजा यह हुआ कि अन्दर-ही-अन्दर सुलगती रहनेवाली आग ने उसके शरीर को खा डाला।

सचमुच ही, इस समय, जब कि मुझे उसकी सबसे अधिक आवश्यकता है, वह मुझे छोड़ तो न जायगी? अरे, अभी-अभी तो हम दोनों ने एक-दूसरे को ठीक तरह से पहचानना और समझना शुरू किया है। हम दोनों को एक-दूसरे पर कितना भरोसा था, हम दोनों को एक-साथ रहकर अभी कितना काम करना था।

प्रतिदिन और प्रतिघण्टे उसकी हालत देख-देखकर मेरे दिल में इस तरह के विचार उठते रहते थे।

साथी और मित्र मुझसे मिलने आये। अभीतक जो-कुछ हो चुका था, और जिससे कि मैं वाकिफ़ नहीं था, उसके बारे में उन्होंने बहुत-कुछ कहा।

इन्होंने वर्तमान राजनैतिक समस्याओं के बारे में मुझसे चर्चा की और प्रश्न पूछे मुझे उन्हें जवाब देना मुश्किल मालूम हुआ। कमला की बीमारी का ख़याल दिमाग़ से दूर होना आसान न था, और तनहाई और जेल की जुदाई के कारण मैं इस स्थिति में नहीं था कि इन सब ठोस प्रश्नों का जवाब एकाएक दे सकता। अपने लम्बे तजुर्बे ने मुझे यह सिखाया है कि जेल में मिली हुई मुख़्तसिर-सी जानकारी से स्थिति का ठीक-ठीक अन्दाज़ा नहीं लगाया जा सकता। अच्छी तरह सोचने-समझने के लिए व्यक्तिगत सम्पर्क ज़रूरी था, उसके बग़ैर राय ज़ाहिर करना सर्वथा बिलकुल किताबी और असलियत से दूर होता। साथ ही, गांधीजी और कांग्रेस वर्किङ्ग कमिटी के अपने पुराने साथियों के साथ सब बातों पर चर्चा करने से पहिले कांग्रेस की नीति के सम्बन्ध में कुछ निश्चित राय ज़ाहिर करना, मुझे इनके प्रति अन्याय मालूम हुआ। जो कुछ हो चुका था उसपर मेरे मन में बहुत-सी आलोचना भरी हुई थी, लेकिन मैं कुछ निश्चित सूचनाएँ देने के लिए तैयार न था। जेल से बाहर आने का कोई ख़याल न होने के कारण उस दिशा में मैंने सोचा ही न था।

इसके साथ ही एक ख़याल यह भी था कि सरकार ने मुझे अपनी पत्नी के पास आने देने की जो शिष्टता दिखायी है, उसको ध्यान में रखते हुए मेरे लिए यह मुनासिब न होगा कि इस मौक़े का मैं राजनीतिक बातों के लिए उपयोग करूँ। हालाँकि ऐसे कामों से दूर रहने की मैंने कोई शर्त या वादा नहीं किया था, फिर भी इस ख़याल का मुझपर बराबर असर होता रहा।

सिवा झूठी अफ़वाहों के खण्डन के मैं कोई भी सार्वजनिक वक्तव्य का देना टालता रहा। ख़ानगी बातचीत में मैंने किसी निश्चित नीति का समर्थन नहीं किया, लेकिन पुरानी घटनाओं की आलोचना काफ़ी खुलकर की। कांग्रेस-समाजवादी दल उन्हीं दिनों अस्तित्व में आया था, और मेरे बहुत-से निकट के साथी उसमें शरीक थे। जहाँतक मैंने उसे समझा, उसकी साधारण नीति मुझे पसन्द थी, लेकिन वह एक अजीब खिचड़ी-सी जमात मालूम हुई, और अगर मैं बिलकुल आज़ाद होता, तो भी एकाएक उसमें शरीक न होता। स्थानीय राजनैतिक झगड़ों ने भी मेरा कुछ समय लिया, क्योंकि कुछ दूसरी जगहों की तरह इलाहाबाद में भी स्थानीय कांग्रेस कमिटियों के चुनाव के समय असाधारण रूप से विषैला प्रचार हुआ था। इनमें सिद्धान्त की कोई बात न थी, ये केवल व्यक्तियों के प्रश्न थे। मुझसे कहा गया कि इस तरह पैदा हुए कुछ व्यक्तिगत झगड़ों को निबटाने में मैं मदद करूँ।

इन झगड़ों में पड़ने की मेरी ज़रा भी इच्छा न थी, न मेरे पास समय ही था। इसके होते हुए भी कुछ घटनाएं मेरे सामने आयीं और इनसे मुझे बड़ा दुःख हुआ। यह एक ताज्जुब की बात थी कि स्थानीय कांग्रेस के चुनाव पर लोग-बाग इतने अधिक उत्तेजित हो उठें। इनमें सबसे अधिक प्रमुख व्यक्ति

वही थे, जो अनेक निजी कारणों से सत्याग्रह के समय कांग्रेस से अलग हो गये थे। सत्याग्रह के बन्द हो जाने के साथ इन निजी कारणों का महत्त्व घट गया, और ये लोग एकाएक मैदान में निकल आये और एक-दूसरे के ख़िलाफ़ भयंकर और अक्सर कमीना प्रचार करने लगे। यह एक असाधारण बात थी कि किस तरह दूसरे दल को गिराने के जोश में शिष्टता के साधारण नियमों तक को भुला दिया गया था। ख़ासकर मुझे इस बात का बहुत ही रंज हुआ कि कमला के नाम और उसकी बीमारी तक का इन स्थानीय चुनावों के ख़ातिर दुरुपयोग किया गया।

व्यापक प्रश्नों में, कांग्रेस के असेम्बली के आगामी चुनाव में अपने उम्मेद-वार खड़े करके चुनाव लड़ने के निर्णय पर भी चर्चा हुई। नौजवान-दलों में बहुतों ने इस निर्णय का विरोध किया था, क्योंकि उनके ख़याल में यह उसी पुराने वैधानिक और समझौते के रास्ते पर वापस लौटना था, लेकिन उन्होंने इसके बदले और कोई कारगर रास्ता नहीं सुझाया। यह एक अजीब-सी बात थी कि इनमें के कितने ही सिद्धान्तवादी विरोधी कांग्रेस के अलावा दूसरी संस्थाओं द्वारा चुनाव लड़ने के ख़िलाफ़ न थे। उनका मक़सद यही मालूम होता था कि साम्प्रदायिक संस्थाओं के लिए मैदान साफ़ छोड़ दिया जाय।

इन स्थानीय झगड़ों और तेज़ी से बढ़ते हुए ऐसे राजनैतिक दाव-पेचों से मुझे नफ़रत हो गयी। मैंने देखा कि मेरा उनसे मेल नहीं बैठता है और अपने ही शहर इलाहाबाद में मैं अपने को अजनबी-सा महसूस करने लगा। मैं सोचता था कि इन जैसे मामलों में जब मेरे भाग लेने का समय आयेगा तो ऐसे वातावरण में मैं क्या कर सकूँगा?

मैंने कमला की हालत के बारे में गांधीजी को लिखा, क्योंकि मेरा ख़याल था कि मैं जल्दी ही वापस जेल में चला जाऊँगा और मुमकिन है कि अपने दिल की बात ज़ाहिर करने का फिर दूसरा मौक़ा न मिले, इसलिए मेरे दिमाग़ में जो बातें घूम रही थीं उनकी भी कुछ-कुछ झलक उन्हें दे दी। हाल की घटनाओं ने मुझे बहुत अधिक सन्तप्त और परेशान कर दिया था, और मेरे पत्र में उसकी एक हलकी-सी छाप थी। मैंने यह सूचित करने की कोशिश नहीं थी कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं? मैंने जो-कुछ भी किया वह तो इधर की घटनाओं से मेरे दिल पर जो-कुछ भी प्रतिक्रिया हुई थी उसका ख़ुलासा भर था। वह पत्र क्या था, सर्वथा दबे हुए जोश का उबाल था, और बाद में मुझे मालूम हुआ कि गांधीजी को उससे बहुत दुःख पहुँचा।

दिन-पर-दिन निकलते जाते थे, और मैं जेल की तलबी या सरकार से किसी दूसरी इत्तिला मिलने का इन्तज़ार कर रहा था। समय-समय पर मुझ से यह कहा जाता कि आगे के लिए कल या परसों हिदायत जारी होनेवाली है। इस बीच डॉक्टरों से यह कह दिया गया कि वे सरकार को कमला की हालत

की रोज़ाना सूचना देते रहें। मेरे आने के बाद से कमला की हालत कुछ सुधर गयी थी।

यह आम विश्वास था, यहाँतक कि जो लोग साधारणतया सरकार के विश्वास-पात्र होने के कारण उसकी बातों की जानकारी रखते हैं उनका भी यह ख़याल था, कि अगर दो बातों—एक तो अक्तूबर में बम्बई में कांग्रेस का अधिवेशन, और दूसरे नवम्बर में असेम्बली का चुनाव—होनेवाला न होता तो मैं पूरी तरह रिहा कर दिया गया होता। जेल से बाहर रहने पर सम्भव है कि मैं इन कामों में बाधा डालूँ, इसलिए सम्भवतः मैं तीन महीने के लिए वापस जेल भेज दिया जाऊँगा और उसके बाद छोड़ दिया जाऊँगा। मेरे जेल वापस न भेजे जाने की भी सम्भावना थी, और जैसे-जैसे दिन निकलते जाते थे, यह सम्भावना बढ़ती जाती थी। मैंने क़रीब-क़रीब काम में लग जाने का निश्चय किया।

२३ अगस्त का दिन मेरे छुटकारे का ग्यारहवाँ दिन था। पुलिस की मोटर आयी। पुलिस अफ़सर मेरे पास पहुँचा और मुझसे कहा कि मेरी अवधि समाप्त हो गई और मुझे उसके साथ नैनी जेल के लिए रवाना होना होगा। मैंने अपने मित्रों से विदाई ली। जैसे ही मैं पुलिस की मोटर में बैठ रहा था, मेरी बीमार माँ बाहें फैलाये हुए दौड़ी हुई आयी। उसकी वह मुखमुद्रा एक अर्से तक रह-रहकर मेरी नज़रों में घूमती रही।

६६

फिर जेल में

छाया निरंकुशगतिःस्वयमातपस्तु छायान्वितः शतश एव निजप्रसंगम्।
दुःखं सुखेन पृथगेवमनन्तुदुःख पीडानुवेधविधुरा तु सुखस्य वृत्तिः॥[१]

राजतरंगिणी, ८-१९१३.

मैं फिर नैनी-जेल के अन्दर दाख़िल हो गया। मुझे ऐसा जान पड़ने लगा, जैसे मैं एक नयी सज़ा की मियाद शुरू कर रहा हूँ। कभी जेल के भीतर, कभी जेल के बाहर—मैं एक खिलौना-सा बना हुआ था! घड़ी में छूटना, घड़ी में पकड़ा जाना—यह आवा-जाई हृदय को झकझोर डालती है, और अपने-आपको बारम्बार नये परिवर्तनों के अनुकूल कर लेना बड़ा कठिन काम है। मैं आशा

---

[१] छाया स्वतन्त्र गति है, फिर भी प्रकाश—
छाया-मिला विविध रूप दिखे स्वतः ही।
है दुःख तो पृथक् ही सुख से परन्तु,
पीड़ा अनन्त दुख की सुख को सताती।

कर रहा था कि इस बार भी मुझे नैनी की उसी पुरानी कोठरी में रखा जायगा, जिसमें मैं अपनी पिछली लम्बी सज़ा काट चुका था। वहाँ थोड़े-से फूल के पेड़ थे, जिन्हें मेरे बहनोई रणजीत पण्डित ने शुरू में लगाया था, और एक बरामदा भी था। लेकिन नम्बर ६ की उस पुरानी बैरक में, एक नज़रबन्द को, जिसपर न तो कोई मुक़दमा चलाया गया था, न कोई सज़ा दी गयी थी, रख दिया गया था। यह उचित नहीं समझा गया कि मैं उसके सम्पर्क में आऊँ, इसलिए मुझे जेल के दूसरे हिस्से में रखा गया, वह और भी अधिक अन्दर की तरफ़ था, और उसमें फूल या हरियाली कुछ भी नहीं थी।

लेकिन मुझे अपने इस स्थान की इतनी चिन्ता नहीं थी; मेरा मन तो दूसरे स्थान पर था। मुझे डर था कि कमला की हालत में जो थोड़ा-सा सुधार हुआ है, वह मेरे दुबारा गिरफ़्तार होने के समाचार से रुक जायगा। और हुआ भी ऐसा ही। कुछ दिनों तक ऐसी व्यवस्था रही कि कमला की हालत के बारे में मुझे हररोज़ डाक्टर का एक मुख़्तसिर-सा बुलेटिन मिल जाया करता था। यह भी घूम-फिरकर मेरे पास पहुँचता था। डाक्टर टेलीफ़ोन से पुलिस के सदर दफ़्तर को सूचना देता, और पुलिस उसे जेलतक पहुँचा देती। डाक्टरों और जेल के कर्मचारियों में सीधा सम्बन्ध मुनासिब नहीं समझा गया। दो सप्ताह तक तो मुझे यह सूचना नियमित और कभी-कभी अनियमित रूप से मिलती रही, और उसके बाद रोक दी गई, हालाँकि कमला की हालत दिन-पर-दिन गिरती ही जा रही थी।

इन बुरे समाचारों तथा समाचारों की ऐसी प्रतीक्षा के कारण दिन काटे नहीं कटता था और रात और भी भीषण मालूम पड़ती थी। समय की गति मानों बिलकुल रुक गयी हो या अत्यन्त सुस्ती से सरक रही हो; हरेक घण्टा बोझ और आतंक-सा जान पड़ता था। इतनी तीव्र उद्विग्नता मैंने कभी महसूस नहीं की थी। उस समय मैं समझता था कि दो महीने के अन्दर, बम्बई-कांग्रेस के अधिवेशन के बाद ही, मैं शायद छूट जाऊँगा, लेकिन वे दो महीने भी अनन्तकाल के समान मालूम पड़ रहे थे।

मेरी दुबारा गिरफ़्तारी के ठीक एक महीने के बाद एक पुलिस अफ़सर मुझे मेरी पत्नी से थोड़ी-सी देर के लिए मुलाक़ात कराने ले गया। मुझसे कहा गया था कि मुझे इस तरह हफ़्ते में दो बार उससे मिलने दिया जाया करेगा और उसके लिए समय भी निश्चित हो गया था। मैंने चौथे दिन बाट देखी—कोई मुझे लेने नहीं आया, इसी तरह पाँचवाँ, छठा और सातवाँ दिन बीता; मैं इन्तज़ार करते-करते थक गया। मेरे पास समाचार पहुँचा कि उसकी हालत फिर चिन्ताजनक होती जा रही है। मैंने सोचा कि मुझसे सप्ताह में दो बार कमला से मिल सकने की बात कहना कैसा अजीब मज़ाक़ था!

सितम्बर का महीना भी किसी तरह ख़तम हुआ। मेरी ज़िन्दगी में वे तीस

दिन सबसे लम्बे और सबसे अधिक यन्त्रणापूर्ण थे।

कई व्यक्तियों के द्वारा मुझे यह सूचना दी गयी कि अगर मैं अपनी मियाद के बाक़ी दिनों के लिए राजनीति में भाग न लेने का आश्वासन—चाहे वह लिखित भले ही न हो—दे दूँ तो मुझे कमला की सेवा-शुश्रूषा के लिए छोड़ा जा सकेगा। राजनीति उस समय मेरे विचारों से दूर की चीज़ थी, और बाहर जाकर ग्यारह दिनों में मैंने राजनीति की जो दशा देखी थी, उससे तो मुझे घृणा ही हो गयी थी, पर आश्वासन की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। उसका अर्थ होता, अपनी प्रतिज्ञाओं, अपने कार्यों, अपने साथियों और ख़ुद अपने साथ विश्वासघात करना। परिणाम कुछ भी होता, यह तो एक असम्भव शर्त थी। ऐसा करने का अर्थ होता अपने अस्तित्व के मूल पर मर्माघात, और उन सब चीज़ों को, जो मेरी दृष्टि में पवित्र थीं, अपने हाथों कुचल डालना। मुझसे कहा गया कि कमला की हालत दिन-पर-दिन बिगड़ती जा रही है, और मेरे उसके पास रहने से उसके जीवन की थोड़ी सम्भावना हो सकती है। तो मेरा व्यक्तिगत दम्भ या अहंकार क्या कमला के जीवन से बड़ी चीज़ थी? मेरे लिए यह एक भयंकर समस्या बन जाती, पर भाग्यवश, कम-से-कम इस रूप में, वह मेरे सामने उपस्थित नहीं हुई। मैं जानता था कि इस प्रकार के किसी भी आश्वासन को ख़ुद कमला नापसन्द करेगी, और अगर मैं कोई ऐसा काम कर बैठता, तो उसे आघात लगता और उसकी तबीयत को नुक़सान भी पहुँचता।

अक्टूबर के शुरू में मुझे फिर उससे भेंट करने के लिए ले जाया गया। वह क़रीब-क़रीब ग़ाफ़िल-सी पड़ी हुई थी; बुख़ार बहुत तेज़ था। मुझे अपने निकट रखने की उसकी इच्छा बड़ी तीव्र थी, पर जब मैं जेल लौट जाने के लिए उससे विदा होकर चला, तो उसने साहसपूर्ण मुस्कराहट से मेरी ओर देखा और मुझे नीचे झुकने का इशारा किया। मैं जब उसके नज़दीक जाकर झुका, उसने मेरे कान में कहा, "सरकार को आश्वासन देने की यह क्या बात है? ऐसा हरगिज़ न करना।"

कुल ग्यारह दिन मैं जेल के बाहर था। हम लोगों ने इन दिनों निश्चय कर लिया था, कि कमला के स्वास्थ्य में थोड़ा-सा सुधार होने पर, उसे इलाज के लिए किसी अधिक उपयुक्त जगह पर भेज देंगे। तभी से हम उसके कुछ अच्छा होने की बाट देख रहे थे, पर इसके बजाय उसकी हालत दिन-दिन गिरती ही जा रही थी, और अब छः हफ़्ते बाद तो, यह गिरावट बहुत साफ़ दिखने लगी थी। इसलिए अब इन्तज़ार करते रहना बेकार समझा गया, और यह निश्चय किया कि उसे ऐसी हालत में भुवाली की पहाड़ी पर भेज दिया जाय।

जिस दिन कमला भुवाली जानेवाली थी, उसके एक दिन पहले मुझे उससे

मिलने के लिए ले जाया गया। मैं सोच रहा था, अब फिर दुबारा कब इससे भेंट होगी, और भेंट होगी भी या नहीं? पर, वह उस दिन प्रसन्न और कुछ स्वस्थ दिखाई दे रही थी; और इससे मुझे इतनी ख़ुशी हुई कि कुछ पूछिये नहीं।

क़रीब तीन हफ़्ते बाद, मुझे नैनी-जेल से अलमोड़ा डिस्ट्रिक्ट जेल में भेज दिया गया, जिससे मैं कमला के ज़्यादा नज़दीक रह सकूँ। भुवाली रास्ते में ही पड़ता था—पुलिस की गारद के साथ मैंने कुछ घण्टे वहीं बिताये। मुझे कमला की हालत में थोड़ा सुधार देख कर बड़ी प्रसन्नता हुई और उससे विदा लेकर मैं आनन्दपूर्वक, अपनी अलमोड़ा तक की यात्रा पूरी कर सका। सच तो यह है कि कमला तक पहुँचने के पहले ही पहाड़ों ने मुझे प्रफुल्लित कर दिया था।

मुझे वापस इन पहाड़ों में पहुंच जाने की बड़ी ख़ुशी थी। ज्यों-ज्यों हमारी मोटर चक्करदार सड़क पर तेज़ी-से आगे बढ़ती जा रही थी, सवेरे की ठण्डी हवा और धीरे-धीरे खुलता जानेवाला प्रकृति का सौन्दर्य मुझे एक विचित्र हर्ष से भर रहा था। हम ऊपर-ऊपर चढ़ते जा रहे थे, घाटियाँ गहरी होती जा रही थीं, पर्वत की चोटियाँ बादल में छिपती जा रही थीं। हरियाली भी रंग बदलती गयी, और चारों ओर की पहाड़ियाँ देवदार से घिरी हुई दिखाई देने लगीं। कभी सड़क के किसी मोड़ को पार करते ही, अचानक हमारे सामने पर्वत-श्रेणियों का एक नया विस्तार और कहीं घाटियों की गहराई में एक छोटी नदी कलकल करती हुई दिखाई देती। उस दृश्य को देखते मेरा जी नहीं अघाता था; उसे पूरा ही पी जाने की प्रबल इच्छा हो रही थी। मैं अपने स्मृति-पात्र को उससे भर लेना चाहता था, जिससे उस समय, जबकि सच्चा दृश्य देखना मुझे नसीब नहीं होगा, उसी की मैं अपने मन में कल्पना करके आनन्द पा लूँगा।

पहाड़ियों की तलहटी में छोटी-छोटी झोंपड़ियों के झुण्ड दिखाई देते थे, और उनके चारों ओर छोटे-छोटे खेत। जहाँ कहीं थोड़ा-भी ढाल मिल गया, वहीं कड़ी मेहनत-मशक़्क़त करके खेत बना लिये। दूर से वे झरोखों या छज्जों के समान दिखाई देते थे, या ऐसा जान पड़ता था, मानों बड़ी-बड़ी सीढ़ियां हों जो घाटी के नीचे से पहाड़ी की चोटी तक सीधी क़तारबन्द चली गयी हों। इस बिखरी हुई बस्ती के लिए प्रकृति के भंडार से थोड़ा-सा अन्न निकलवाने के लिए कितनी कड़ी मेहनत करनी पड़ती है! इस लगातार परिश्रम के बाद भी कितनी कठिनाई से उनकी ज़रूरतें पूरी हो पाती हैं। इन छज्जेनुमा खेतों के कारण पहाड़ियों में एक तरह की बस्ती का-सा बोध होता था और उनके सामने वनस्पति-शून्य या जंगलों से ढकी ढालू ज़मीन बड़ी विचित्र लगती थी।

दिन में यह सारा दृश्य बड़ा मनोहर दिखाई देता है, और ज्यों-ज्यों सूर्य आकाश में ऊँचा चढ़ता जाता है, उसकी बढ़ती हुई गरमी से पहाड़ों में एक नया जीवन दिखाई देने लगता है, और वे अपना अजनबीपन भूलकर हमारे मित्र और साथी-से मालूम होने लगते हैं। लेकिन दिन डूब जाने पर उनका सारा रूप कैसा बदल जाता है! जब रात अपने लम्बे-चौड़े डग भरती हुई विश्व को अंक में भर लेती है, और उच्छृङ्खल प्रकृति को पूरी आज़ादी देकर जीवन अपने बचाव के लिए छिपने का मार्ग ढूँढ़ता है, तब ये जीवन-शून्य पर्वत कैसे ठण्डे और गम्भीर बन जाते हैं। चाँदनी या तारों की रोशनी में पर्वतों की श्रेणियाँ रहस्यमयी, भयंकर, विराट्, और फिर भी आकारहीन-सी मालूम पड़ती हैं, और घाटियों के बीच से वायु की कराहट सुनाई पड़ती है। ग़रीब मुसाफ़िर एकान्त मार्ग पर चलता हुआ कांप उठता है, और अपने चारों ओर विरोधी शक्तियों की उपस्थिति का अनुभव करता है। पवन की सनसनाहट भी मखौल-सा उड़ाती और उपेक्षा-सी करती दिखाई देती है। कभी पवन का निश्वासें भरना बन्द हो जाता है, दूसरी कोई ध्वनि भी नहीं होती, और चारों ओर पूर्ण शान्ति होती है, जिसकी प्रचंडता ही डरावनी लगने लगती है। केवल टेलीग्राफ़ के तार धीमे-धीमे गुनगुनाते रहते हैं और तारे अधिक चमकदार और अधिक समीप दिखाई देने लगते हैं। पर्वत-श्रेणियाँ गम्भीरता से नीचे की ओर देखती रहती हैं और ऐसा जान पड़ता है जैसे कोई भयावना रहस्य उस ओर को घूर रहा हो। पास्कल के समान ही मनुष्य सोचता है, "मुझे अनन्त आकाश की इस अनन्त शान्ति से भय लगता है।" मैदानों में रात कभी इतनी सुनसान नहीं होती; प्राणों का कम्पन वहाँ तब भी सुनाई देता रहता है, और कई प्रकार के प्राणियों और जन्तुओं की आवाज़ें रात के सन्नाटे को चीरती रहती हैं।

लेकिन जब हम मोटर में बैठे अलमोड़ा जा रहे थे, रात अपने ठण्ड और निस्तब्धता के सन्देश-सहित हमसे अब भी दूर थी। हमारी यात्रा का अन्त अब समीप हो आ गया था। सड़क के मोड़ को पार करने और बादलों के एक साथ हट जाने से मुझे एक नया दृश्य दिखाई दिया, कितना अचरज और हर्ष हुआ मुझे वह देखकर। बीच में आ जानेवाले जंगल से लदे पहाड़ों के बहुत ऊपर बड़ी दूर पर, हिमालय की बर्फ़ीली चोटियाँ चमक रही थीं। अतीत के सारे बुद्धि-वैभव को लिए, भारतवर्ष के विस्तृत मैदान के ये सन्तरी बड़े शान्त और रहस्यमय लगते थे। उनके देखने से ही मन में एक शान्ति छा जाती थी, और उनकी सनातनता के आगे जनपदों और नगरों के हमारे छोटे-छोटे द्वेष और संघर्ष, विकार तथा प्रपंच अत्यन्त तुच्छ-से लगते थे।

अलमोड़ा का छोटा-सा जेल एक ढालू ज़मीन पर बना हुआ है। मुझे उसीमें एक 'शानदार' बैरक रहने के लिए दी गयी। इसमें ५१ × १७ फ़ीट का एक

बड़ा-सा कमरा था, जिसका फ़र्श कच्चा और बड़ा ऊँचा-नीचा था, छत कीड़ों की खाई हुई थी, जिसमें से टुकड़े टूट-टूटकर बराबर नीचे गिरा करते थे। उसमें पन्द्रह खिड़कियाँ और एक दरवाज़ा था, या यों कहना चाहिए कि इतने सींख़चों से जड़े हुए बड़े-छोटे मोखे थे; क्योंकि असल में किसी पर पल्ले तो थे नहीं। इस प्रकार ताज़ी हवा की तो कमी हो ही नहीं सकती थी। जब सरदी बढ़ गयी तो कुछ खिड़कियों को नारियल की चटाइयों से बन्द कर दिया। इस बड़े कमरे में (जो देहरादून के जेल के किसी भी कमरे से बड़ा था) मैं अपने एकान्त वैभव का भोग करता था। लेकिन मैं बिलकुल अकेला भी नहीं था, क्योंकि कम-से-कम दो दर्जन चिड़ियों ने उस टूटी छत में अपना घर बना रक्खा था। कभी-कभी कोई भटकता हुआ बादल, कई खिड़कियों में से प्रवेश करता हुआ मुझसे भेंट करने आ जाता, और सारी जगह पर नमी फैला देता।

यहाँ रोज़ शाम को साढ़े चार बजे आख़िरी भोजन, अर्थात् एक प्रकार के जलपान के बाद, पाँच बजे मुझे बन्द कर दिया जाता था, और फिर सवेरे ७ बजे मेरा सींख़चोंवाला दरवाज़ा खुलता था। दिन के समय या तो बैरक में या उसके बाहर एक पास के दालान में, धूप लिया करता था। मेरी चहार-दीवारी से एक-डेढ़ मील दूर एक पहाड़ की चोटी दिखाई देती थी, और मेरे सिर पर नीले आकाश का अनन्त वितान तना रहता था, जिसपर बादल छिटके रहते थे। ये बादल चित्र-विचित्र रूप धारण करते रहते, जिन्हें देखते-देखते मैं कभी थकता न था। कभी उन्हें देखकर मन में तरह-तरह के जानवरों के रूप की कल्पना उठती, और कभी-कभी वे मिलकर एक भारी महासागर के समान दिखाई देने लगते। कभी वे समुद्र के किनारे से लगते, और देवदार के पेड़ों के बीच से आनेवाली वायु की मर्मराहट समुद्र के ज्वार-भाटे की-सी आवाज़ लगती। कभी-कभी कोई बादल बड़े साहस के साथ हमारी ओर बढ़ता नज़र आता। दिखने में तो बड़ा ठोस और घना लगता, पर हमारे नज़दीक आते-आते वह बिलकुल कुहरा बन जाता और हमें लपेट लेता।

मुझे अपनी विशाल बैरक छोटी कोठरी से ज़्यादा पसन्द थी, हालाँकि छोटी कोठरी से इसमें अकेलापन ज़्यादा महसूस होता था। बाहर पानी बरसता तो मैं उसके अन्दर ही घूम-फिर सकता था। लेकिन जैसे-जैसे सर्दी बढ़ती गयी, इसकी मनहूसियत बढ़ती गयी और जब सर्दी बहुत ही बढ़ गयी, तब ताज़ी हवा और खुले में रहने का मेरा प्रेम शिथिल पड़ गया। मुझे उस समय बड़ी खुशी हुई, जब नये साल के शुरू होते ही खूब बर्फ़ पड़ा और जेल का नीरस वातावरण भी सुन्दर हो उठा। बर्फ़ से लिपटे हुए जेल की दीवारों के बाहर के देवदार वृक्ष तो बहुत ही सुहावने और लुभावने दिखने लगे।

कमला की हालत में उतार-चढ़ाव होते रहने से मुझे चिन्ता रहती थी और

कभी कोई ख़राब ख़बर मिल जाती, तो उससे मैं कुछ देर के लिए उदास हो जाता, लेकिन पहाड़ की हवा मुझे स्वस्थ तथा शान्त कर देती और मैं फिर पहले की तरह गहरी नींद से सोने लगता। कभी-कभी मैं नींद के झोंकों से झूमता हुआ सोचता था कि यह नींद भी कैसी आश्चर्य और रहस्य की चीज़ है। मनुष्य उससे जगे ही क्यों? मैं बिलकुल ही न जागूँ तो?

तो भी जेल से छुटकारा पाने की मेरी इच्छा प्रबल थी और इस वक़्त तो बहुत ही तीव्र हो रही थी। बम्बई-कांग्रेस ख़त्म हो चुकी थी। नवम्बर भी आकर चला गया और असेम्बली के चुनावों की चहल-पहल भी ख़त्म हो गयी थी। मुझे आशा हो चली थी कि मैं जल्दी ही छोड़ दिया जाऊँगा।

लेकिन उसके बाद ही ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ार ख़ाँ की गिरफ़्तारी और सज़ा और श्री सुभाष बोस के हिन्दुस्तान में अल्पकालिक आगमन पर उनको दी गयी विचित्र आज्ञा की आश्चर्यजनक ख़बर मिली। यह आज्ञा मनुष्यता से रहित और अविचारपूर्ण थी; और जिस मनुष्य पर यह लगायी गयी थी उसके लिए उसके असंख्य देशवासियों के दिल में प्रेम और आदर था, वह अपनी बीमारी की परवाह न करके, मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए अपने पिता के दर्शनों के लिए दौड़कर आया था और फिर भी उनसे मिल न सका था। यदि सरकार की यही मनोवृत्ति है, तब तो मेरे जल्दी छूटने की कोई उम्मीद नहीं थी। बाद के सरकारी वक्तव्यों से यह बात साफ़तौर पर ज़ाहिर भी हो गयी थी।

अलमोड़ा-जेल में एक महीना रहने के बाद कमला को देखने के लिए मुझे ले जाया गया। उसके बाद में क़रीब-क़रीब हर तीसरे हफ़्ते उससे मिलता रहा। भारत-मन्त्री सर सेम्युअल होर ने बार-बार यह बात कही थी कि मुझे हफ़्ते में एक या दो बार अपनी पत्नी से मिलने की इजाज़त दी जाती है। लेकिन वह सचाई के ज़्यादा नज़दीक होते, अगर वह यह कहते कि महीने में एक या दो बार मुझे यह इजाज़त मिलती है। पिछले साढ़े तीन महीनों में जबसे मैं अलमोड़ा आया, मैं पाँच बार उससे मिला। मैं यह शिकायत के तौर पर नहीं लिख रहा हूँ, क्योंकि मेरा ख़याल है कि इस मामले में सरकार मेरे प्रति बहुत विचारशील रही है और मुझे कमला से मिलने की जो सुविधाएँ दे रक्खी हैं वे असाधारण हैं। मैं इसके लिए उसका आभारी हूँ। उसके साथ ये मुख़्तसिर-सी मुलाक़ातें मेरे लिए और मैं समझता हूँ उसके लिए भी, बहुत क़ीमती साबित हुई हैं। मुलाक़ात के दिन, डॉक्टरों ने भी किसी हद तक अपना पहरा ढीला कर दिया, और मुझे उसके साथ लम्बी-लम्बी बातें करने की इजाज़त दे दी। इन मुलाक़ातों के फलस्वरूप हम एक-दूसरे के और भी नज़दीक आते गये, और उससे विदा होते समय एक असहनीय पीड़ा होती। हम केवल विदा होने के लिए ही मिलते थे। और कभी-कभी तो बड़े वेदना-भरे हृदय

से सोचता था कि एक ऐसा भी दिन आ सकता है जब यह विदा शायद आख़िरी विदा हो।

मेरी माँ बीमारी से उठ न पायी थीं, इसलिए इलाज के लिए बम्बई गयी थीं। वहाँ उनकी हालत में सुधार होता दिखायी दे रहा था। जनवरी का आधा महीना बीतने के क़रीब एक दिन सवेरे ही तार के ज़रिये दिल को चोट पहुँचानेवाली ऐसी ख़बर मिली जिसकी कल्पना भी नहीं थी। उन्हें लक़वा मार गया था। इसलिए मेरे बम्बई-जेल में भेजे जाने की सम्भावना थी; ताकि ज़रूरत पड़ने पर मैं उन्हें देख सकूँ। लेकिन उनकी हालत में थोड़ा सुधार हो जाने के कारण मुझे वहाँ नहीं भेजा गया।

जनवरी ने अपना स्थान अब फ़रवरी को दे दिया है, और वायुमण्डल में वसन्त के आगमन की आहट सुनायी दे रही है। बुलबुल और दूसरी चिड़ियाँ फिर दिखायी और सुनायी देने लगी हैं और ज़मीन में जगह-जगह छोटे-छोटे कल्ले टूटकर इस विचित्र दुनिया पर अपनी अचरज-भरी नज़र डाल रहे हैं। सदाबहार के फूल पहाड़ियों में स्थान-स्थान पर रक्त के-से लाल चप्पे बनाते जा रहे हैं, और शान्तिपूर्ण वातावरण में बेर के फूल बाहर झाँक रहे हैं। दिन बीतते जा रहे हैं और ज्यों-ज्यों वे समाप्त होते जाते हैं, मैं उन्हें गिनता रहता हूँ और अपनी अगली भुवाली-यात्रा की बात सोचता रहता हूँ। मुझे आश्चर्य होता है कि इस कहावत में कहाँ तक सचाई है कि जीवन के बड़े-बड़े पुरस्कार निराशा, निर्दयता, और वियोग के बाद ही मिलते हैं। अगर ऐसा न हो तो शायद उन पुरस्कारों का मूल्य ठीक-ठीक न आँका जा सके। शायद विचारों की स्पष्टता के लिए कष्ट-सहन ज़रूरी है; परन्तु उनकी अधिकता दिमाग़ पर पर्दा डाल सकती है। जेल से आत्म-चिन्तन को प्रोत्साहन मिलता है और अनेक वर्षों के जेल-निवास ने मुझे अधिक-से-अधिक अपने आत्म-निरीक्षण के लिए विवश किया है। स्वभाव से मैं अन्तर्मुखी नहीं था, पर जेल का जीवन, तेज़ कॉफ़ी या कुचले के सत की तरह आत्म-चिन्तन की ओर ले जाता है। कभी-कभी मनोरंजन के लिए मैं प्रोफ़ेसर मैकडूगल[1] के निर्धारित किये हुए मापदण्ड पर अपनी अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी वृत्तियों के सम्बन्ध की परीक्षा करता हूँ, तो मुझे ताज्जुब होता है कि एक प्रवृत्ति से दूसरी प्रवृत्ति की ओर परिवर्तन कितनी अधिक बार होता रहता है, और कितनी तेज़ी के साथ!

---

[1] इंग्लैण्ड का प्रसिद्ध आधुनिक मानसशास्त्री। —अनु०

६७

कुछ ताज़ी घटनाएं

बीते निशा उदय निश्चय सुप्रभात—
आते नहीं दिवस हन्त ! पुनः गये जो।
आशा भरी नयन मध्य अपार किन्तु—
बीती बसन्त-स्मृतियाँ दिल को दुखातीं।[1]

मुझे जो अख़बार दिये जाते थे, उनसे मुझे बम्बई-कांग्रेस के अधिवेशन की कार्रवाई मालूम हुई। उसकी राजनीति और व्यक्तियों में स्वभावतया मेरी दिलचस्पी थी। बीस साल के गहरे सम्पर्क ने मुझे कांग्रेस के साथ इतना कस-कर बाँध दिया था कि मेरा व्यक्तित्व क़रीब-क़रीब उसमें लीन हो गया था। और पदाधिकार और जवाबदेही के बन्धनों से भी कहीं ज़्यादा मज़बूत कुछ ऐसे अदृश्य बन्धन थे, जिन्होंने मुझे इस महान् संस्था तथा अपने हज़ारों पुराने साथी कार्यकर्ताओं के साथ बाँध दिया था। लेकिन इतने पर भी इस अधि-वेशन की कार्रवाई से मेरे मन में स्फूर्ति का सञ्चार नहीं हुआ। कुछ महत्त्वपूर्ण निर्णयों के होते हुए भी मुझे सारा अधिवेशन नीरस-सा मालूम हुआ। जिन विषयों में मेरी दिलचस्पी थी, उनपर शायद ही विचार हुआ हो। मैं इसी चक्कर में था कि अगर मैं वहाँ मौजूद होता, तो मैंने क्या किया होता। निश्चित तौर पर मैं कुछ नहीं जानता था। मैं कह नहीं सकता था कि नयी परिस्थितियों और अपने आसपास के वातावरण के सम्बन्ध में मेरा क्या रुख़ रहा होता। आख़िर मैंने सोचा कि इस कठिन निर्णय के लिए मैं जेल में अपने दिमाग़ पर क्यों ज़ोर दूँ, जबकि उस वक़्त ऐसा निर्णय करना बिलकुल बेकार था। समय आयेगा, जब मुझे आजकल की समस्याओं का मुक़ाबला करना पड़ेगा और अपना कार्य-पथ निश्चित करना होगा। परन्तु इस तरह के निर्णय की पहले से कल्पना करना बिलकुल वाहियात बात है क्योंकि जबतक मुझ पर कार्यभार आकर पड़ेगा तबतक परिस्थितियाँ बदल जायँगी।

अपने सुदूर तथा एकान्त पर्वत-वास से मैं जो समझ सका, वह यह कि कांग्रेस की दो मुख्य विशेषताएं थीं—एक तो गांधीजी का सर्वव्यापी व्यक्तित्व और दूसरे पण्डित मदनमोहन मालवीय और श्री अणे के नेतृत्व में किया गया साम्प्रदायिक पक्ष का बिलकुल नगण्य विरोध-प्रदर्शन। जो लोग भारत के सर्व-साधारण और मध्यवर्ग की मनोवृत्ति को अच्छी तरह जानते हैं, उन सबको तो यह जानकर कुछ अचरज नहीं हुआ कि किस तरह गांधीजी एक छोर से दूसरे छोर तक भारत के एकमात्र सर्वेसर्वा बने हुए हैं। सरकारी अफ़सर और

[1] चीनी कवि ली तई-पो के पद्य का भावानुवाद।

कुछ दक़ियानूसी राजनीतिज्ञ अक्सर यह सोचने लगते हैं—वे अपनी आन्तरिक इच्छा को ही अपनी कल्पना का पूर्ण रूप देते हैं—कि अब राजनैतिक-क्षेत्र में गांधीयुग बीत गया है, या कम-से-कम उनका प्रभाव बहुत-कुछ क्षीण हो गया है। और जब गांधीजी अपनी उस सारी पुरानी शक्ति और प्रभाव के साथ मैदान में आते हैं, तो ये लोग चकित रह जाते हैं और इस नवीन परिवर्तन के लिए नये-नये कारण खोजने लगते हैं। कांग्रेस और देश पर गांधीजी की जो प्रभुता है, वह उनके विचारों के कारण, जो कि आमतौर पर स्वीकार किये जा चुके हैं, उतनी नहीं है, जितनी कि उनके अद्वितीय व्यक्तित्व के कारण है। व्यक्तित्व तो सभी जगह अपना काफ़ी प्रभाव रखता है; लेकिन हिन्दुस्तान में तो वह और भी अधिक प्रभाव डालता है।

कांग्रेस से उनका अलग होना इस अधिवेशन की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी, और ऊपरी तौर से तो यही मालूम होता था कि कांग्रेस और हिन्दुस्तान के इतिहास का एक महान् अध्याय समाप्त हो गया। लेकिन असल में इसका महत्त्व कुछ अधिक नहीं था, क्योंकि वह चाहें तो भी अपने व्यापक नेतृत्व-पद से पीछा नहीं छुड़ा सकते। उनकी यह प्रतिष्ठित स्थिति किसी पदाधिकार या अन्य किसी प्रत्यक्ष सम्बन्ध के कारण नहीं थी। कांग्रेस आज भी क़रीब-क़रीब पहले की तरह गांधीजी का दृष्टिकोण प्रकट करती है, और यदि वह उनके निर्दिष्ट पथ से भटक भी जाय तो भी, गांधीजी अनजाने में ही, उसे और देश को बहुत अधिक हद तक प्रभावित करते रहेंगे। इस बोझ और ज़िम्मेदारी से वह अपने को जुदा कर नहीं सकते। देश की बाह्य स्थिति देखते हुए, उनका व्यक्तित्व स्वयं ही दूसरों का ध्यान बरबस अपनी ओर खींचता है, और इस तरह उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

वह इस वक़्त, कांग्रेस से शायद इसलिए अलग हो गये हैं, कि उनके कारण कांग्रेस किसी कठिनाई में न पड़े। शायद वह किसी तरह के व्यक्तिगत सत्याग्रह की बात सोच रहे हैं, जिसका अवश्यम्भावी परिणाम सरकार से झगड़ा छिड़ जाना होगा। वह इसे कांग्रेस का प्रश्न नहीं बनाना चाहते।

मुझे ख़ुशी हुई कि कांग्रेस ने देश का विधान निश्चित करने के लिए विधान-पंचायत का विचार स्वीकार कर लिया। मेरे ख़याल में इस समस्या के हल करने का इसके सिवा कोई दूसरा रास्ता है ही नहीं, और निश्चय ही हमें कभी-न-कभी ऐसी पंचायत बनानी पड़ेगी। दीखता तो यही है कि ब्रिटिश सरकार की अनुमति के बिना ऐसा हो नहीं सकेगा; हाँ, कोई सफल क्रान्ति हो जाय तो बात दूसरी है। यह भी साफ़ है कि वर्तमान परिस्थितियों में सरकार से ऐसी अनुमति मिलने की कोई उम्मीद नहीं है। देश में जबतक इतनी ताक़त पैदा नहीं हो जाती कि वह इस तरह का कोई क़दम उठाने को बलपूर्वक आगे बढ़ा सके तबतक ऐसी पंचायत बन नहीं सकती। इसका लाज़िमी नतीजा यही है

कि तबतक राजनैतिक समस्या भी नहीं सुलझ सकेगी। कांग्रेस के कुछ नेताओं ने विधान-पंचायत का विचार तो स्वीकार कर लिया है, पर इसकी उग्रता कम करके उसे क़रीब-क़रीब पुराने ढंग के एक बड़े सर्वदल-सम्मेलन का रूप दे दिया है। यह कार्रवाई बिलकुल बेकार होगी। वही पुराने लोग, ज़्यादातर अपने आप ही चुने जाकर सम्मिलित हो जायँगे, और उसका परिणाम होगा मतभेद। विधान-पंचायत की असली मन्शा तो यह है कि इसका चुनाव विस्तृत रूप से जनता के द्वारा हो और जनता से ही इसे ताक़त और स्फूर्ति मिले। इस प्रकार की पंचायत ही असली प्रश्नों पर विचार करने में सफल हो सकेगी, और साम्प्रदायिक या अन्य झगड़ों से जिनमें हम लोग इतनी बार उलझ जाते हैं, बरी रहेगी।

इस विचार की शिमला और लन्दन में जो प्रतिक्रिया हुई वह बड़ी मज़ेदार थी। अर्द्ध-सरकारी तौर पर यह ज़ाहिर कर दिया गया कि सरकार को इसमें कोई ऐतराज़ न होगा। उसकी सहमति में सरपरस्ती का भाव था। उसका ख़याल था कि यह पंचायत पुराने ढंग के सर्वदल-सम्मेलन-जैसी होगी और अवश्य ही असफल होगी और परिणाम-स्वरूप उसके हाथ मज़बूत होंगे। लेकिन मालूम होता है बाद में उसने इस विचार की ख़तरनाक सम्भावनाएँ महसूस कीं और तब से वह इसका ज़ोरों से विरोध करने लगी।

बम्बई-कांग्रेस के बाद फ़ौरन ही असेम्बली का चुनाव आया। कांग्रेस के चुनाव-सम्बन्धी कार्यक्रम में मुझे कोई उत्साह न था। फिर भी मेरी उसमें बड़ी दिलचस्पी थी और मैं मनाता था कि कांग्रेस के उम्मीदवार जीतें, या अधिक सही शब्दों में कहूँ तो मैं उनके विरोधियों की हार मनाता था। इन विरोधियों में पदलोभियों, सम्प्रदायवादियों, विश्वासघातियों तथा सरकार की दमननीति का ज़ोरों से समर्थन करनेवाले लोगों की अजीब-सी खिचड़ी थी। इस बात में कोई शक नहीं था कि इनमें से अधिकांश लोग हरा दिये जायँगे, लेकिन बदक़िस्मती से साम्प्रदायिक निर्णय ने मुख्य प्रश्न को ढक दिया और इनमें से बहुतों ने साम्प्रदायिक संस्थाओं की व्यापक भुजाओं में शरण ली। लेकिन इतने पर भी कांग्रेस को बड़ी मार्के की सफलता मिली, और मुझे ख़ुशी हुई कि अवाञ्छनीय लोगों में से बहुत-से खदेड़ दिये गये।

मुझे ख़ासकर, नामधारी कांग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी का रुख़, बहुत ही खेद-जनक लगा। साम्प्रदायिक निर्णय के प्रति उसका तीव्र विरोध समझ में आ सकता था, लेकिन अपनी स्थिति को मज़बूत बनाने के लिए उसने कट्टर साम्प्रदायिक संस्थाओं के साथ, यहाँ तक कि सनातनियों के साथ भी सहयोग किया, जिनसे बढ़कर आज भारत में, राजनैतिक और सामाजिक, दोनों ही दृष्टि से दूसरा प्रतिगामी दल नहीं है। इसके साथ ही, उसने अन्य अनेक प्रसिद्ध राज-नैतिक प्रतिगामियों से सहयोग किया। केवल बंगाल में, कारण विशेष से एक

ज़बरदस्त कांग्रेस दल ने उनका समर्थन किया। लेकिन अन्यत्र उसमें अधिकतर सब तरह से कांग्रेस के विरोधी लोग थे। सच तो यह है कि कांग्रेस के सबसे ज़बरदस्त विरोधी यही लोग थे। ज़मींदारों, नरम दलवालों, और सरकारी अफ़सरों आदि सब तरह की विरोधी शक्तियों के मुक़ाबले में भी कांग्रेसी उम्मीदवारों ने काफ़ी शानदार विजय प्राप्त की।

साम्प्रदायिक निर्णय के प्रति कांग्रेस का रुख़ विचित्र तो था लेकिन इस परिस्थिति में इससे भिन्न शायद ही हो सकता था। यह उसकी भूतकालिक तटस्थता की नीति का अथवा कमज़ोर नीति का अनिवार्य परिणाम था। यदि शुरू से ही दृढ़ नीति अख़्तियार की जाती, और बिना किसी तात्कालिक परिणाम की चिन्ता किये उसका पालन किया जाता तो यह अधिक शानदार और सही होता। लेकिन कांग्रेस ऐसा करने में अनिच्छुक रही, इसलिए उसने जो रास्ता अख़्तियार किया उसके सिवा उसके पास और कोई उपाय था ही नहीं। साम्प्रदायिक निर्णय एक बेहूदी चीज़ थी और उसका स्वीकार किया जाना असम्भव था, क्योंकि, उसके बने रहने तक किसी तरह की आज़ादी हासिल करना नामुमकिन था। यह इसलिए नहीं कि इसने मुसलमानों को बहुत अधिक भाग दे दिया था। यह मुमकिन था कि यदि वे किसी दूसरी तरह जो माँगते, सब कुछ दे दिया जाता। बात यह थी कि इस निर्णय-द्वारा ब्रिटिश सरकार ने भारत को आपस में एक-दूसरे से अलग, अनगिनती हिस्सों में बाँट दिया था। इसका हेतु एक को दूसरे के आगे रखकर, किसी के बल को बढ़ने न देना था, जिससे विदेशी—अंग्रेज़ी सत्ता सर्वोपरि बनी रह सके। इसने ब्रिटिश सरकार का आश्रय अनिवार्य कर दिया था।

ख़ासकर बंगाल में, जहाँ कि छोटे से यूरोपियन समुदाय को भारी प्रधानता दी गयी थी, हिन्दुओं के साथ बहुत ही अन्याय किया गया था। ऐसे निर्णय या फ़ैसले, या और जो कुछ भी उसे कहा जाय, (उसे निर्णय के नाम से पुकारे जाने पर आपत्ति की गयी है) का तीव्र विरोध होना ज़रूरी था। और चाहे वह हमपर लाद भले ही दिया जाय या राजनैतिक कारणों से, अस्थायी रूप से वह बर्दाश्त कर लिया जाय, फिर भी वह रहेगा हमेशा झगड़े की जड़ ही। मेरा अपना ख़याल है कि जो यह अत्यन्त बुरा है वही इसका गुण है, कारण कि यह ऐसी हालत में किसी व्यवस्था के स्थापित करने का आधार नहीं बन सकता।

नेशनलिस्ट पार्टी, और उससे भी अधिक हिन्दू-महासभा और दूसरे साम्प्रदायिक संगठनों, ने स्वभावतः ही इस ज़बरदस्ती लादे गये निर्णय का विरोध किया। लेकिन असल में उनकी आलोचना, उसके समर्थकों की तरह, ब्रिटिश सरकार की विचारधारा की स्वीकृति पर टिकी हुई थी। यह उनको ऐसी विचित्र नीति की ओर ले गयी और अब भी आगे लिये जा रही है जो सरकार को

अवश्य ही प्रिय होगी। साम्प्रदायिक निर्णय रूपी भूत से परेशान होकर ये लोग, इस आशा में कि सरकार को लालच देने या ख़ुश करने से वह उक्त निर्णय हमारे पक्ष में बदल देगी, दूसरे मुख्य विषयों के प्रति अपना विरोध नरम करते जा रहे हैं। हिन्दू-महासभा इस दिशा में सबसे आगे बढ़ गयी है। उसको यह नहीं सूझता कि यह सिर्फ़ अपमान-जनक ही नहीं है बल्कि इससे निर्णय का बदला जाना उलटे और अधिक कठिन हो जाता है, क्योंकि इससे मुसलमान खीझते हैं और वे अधिक दूर खिंचते चले जाते हैं। सरकार के लिए राष्ट्रीय शक्तियों को अपनी ओर कर सकना मुश्किल है, कारण बीच में लम्बी खाई है और स्वार्थों का संघर्ष बहुत साफ़ है। उसके लिए यह भी मुश्किल है कि साम्प्रदायिक स्वार्थों के संकुचित मसले पर हिन्दू और मुस्लिम, दोनों सम्प्रदाय-वादियों को ख़ुश कर सके। उसे तो किसी एक को चुनना था, और उसने अपने दृष्टिकोण के अनुसार मुस्लिम सम्प्रदायवादियों को चुनना पसन्द किया और ठीक पसन्द किया। क्या वह सिर्फ़ मुट्ठी भर हिन्दू सम्प्रदायवादियों को ख़ुश करने के लिए अपनी सुनिश्चित और लाभदायक नीति पलट देगी—मुसलमानों को नाख़ुश करेगी?

हिन्दू राजनैतिक दृष्टि से बहुत आगे बढ़े हुए हैं और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए बहुत ज़ोर देते हैं, यही बात अवश्य उनके विरुद्ध जायगी। नगण्य साम्प्रदायिक रिआयतों के कारण (और नगण्य के सिवा वे हो क्या सकती हैं) उनके राजनैतिक विरोध में कुछ अन्तर नहीं पड़ जायगा; लेकिन ऐसी रिआयतें मुसलमानों के रुख़ में एक अस्थायी अन्तर पैदा कर देंगी।

असेम्बली के चुनावों ने दोनों अत्यन्त प्रतिक्रियावादी साम्प्रदायिक संस्थाओं, हिन्दू-महासभा और मुस्लिम-कान्फ्रेंस के हिमायतियों की अत्यन्त स्पष्ट रूप से क़लई खोल दी। इसके उम्मीदवार बड़े-बड़े ज़मींदार या साहूकार थे। महासभा ने हाल ही में क़र्ज़-बिल का ज़ोरों में विरोध करके भी साहूकार-वर्ग के प्रति अपनी शुभचिन्तकता बतलायी थी। हिन्दू-महासभा हिन्दू समाज के सिरमौर इन नाना प्रकार के मुट्ठीभर लोगों से बनी है। इन्हीं वर्गों के एक भाग तथा कुछ वकील, डॉक्टर आदि पेशेवाले लोगों से लिबरल-दल भी बना है। हिन्दुओं पर उनका कोई ख़ास प्रभाव नहीं है, क्योंकि निम्न-मध्यम-वर्ग में राजनैतिक चेतना आ गयी है। औद्योगिक नेता भी लोगों से अलग ही रहते हैं, क्योंकि नये-नये नये धन्धों और अर्द्धमाण्डलिक वर्ग की आवश्यकताओं में परस्पर कुछ विरोध रहता है। उद्योग-धन्धेवाले लोग, सीधे हमले या दूसरे किसी ख़तरे में पड़ने का साहस न होने के कारण, राष्ट्रवादियों और सरकार दोनों ही से अपना सम्बन्ध अच्छा रखना चाहते हैं। वे लिबरल या साम्प्रदायिक दलों पर कोई ख़ास ध्यान नहीं देते। औद्योगिक प्रगति और लाभ ही उनका मुख्य लक्ष्य रहता है।

मुसलमानों के निम्न मध्यम-वर्ग में यह जागृति अभी होनी है, और औद्योगिक दृष्टि से भी वे लोग पिछड़े हुए हैं। इस तरह हम देखते हैं कि अत्यन्त प्रति-क्रियावादी, जागीरदार, और अवकाश-प्राप्त सरकारी अफ़सर लोग न सिर्फ़ उनकी साम्प्रदायिक संस्थाओं पर ही क़ब्ज़ा किए हुए हैं बल्कि सारी जाति पर भारी प्रभाव डाल रहे हैं। सरकारी उपाधि-धारियों, भूतपूर्व मिनिस्टरों और बड़े-बड़े ज़मींदारों के मजमे का नाम ही मुस्लिम कान्फ्रेंस है। और फिर भी मेरा ख़याल है कि सर्वसाधारण मुस्लिम जनता में, शायद सामाजिक विषयों में कुछ स्वतंत्रता होने के कारण, हिन्दू-जनता की अपेक्षा अधिक सुप्त शक्ति है। और इसलिए मुमकिन है कि एक बार चेतना मिलते ही वह बड़ी तेज़ी से समाजवाद की ओर बढ़ जायगी। इस समय तो मुस्लिम शिक्षित-वर्ग बौद्धिक और शारीरिक दोनों ही तरह से चेतना-हीन-सा हो गया है और उसमें कोई स्फूर्ति नहीं रह गयी है। अपने पुराने रहनुमाओं के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने का वह साहस कर नहीं सकता।

राजनैतिक दृष्टि से, सबसे आगे बढ़ी हुई महान् संस्था—कांग्रेस—के नेतागण, वर्तमान अवस्था में जनता को जैसा नेतृत्व मिलना चाहिए, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक फूँक-फूँककर क़दम रखते हैं। वे जनता से सहयोग की तो माँग करते हैं, लेकिन उसकी राय जानने या दुख-दर्द मालूम करने की कोशिश शायद ही करते हों। असेम्बली के चुनाव से पहले उन्होंने विभिन्न नरम ग़ैर-कांग्रेसियों को अपनी ओर खींचने की गरज़ से अपने कार्य-क्रम को नरम बनाने की हर तरह से कोशिश की। मन्दिर-प्रवेश बिल-जैसे कामों तक के सम्बन्ध में उन्होंने अपना रुख़ बदल दिया था, और मदरास के महान् कट्टर-पन्थियों को शान्त करने के लिए उसके सम्बन्ध में आश्वासन दिए गये थे। बिना लाग-लपेट के उग्र चुनाव-कार्यक्रम ने कहीं अधिक उत्साह पैदा किया होता, और जनता को शिक्षित करने में उससे कहीं अधिक मदद मिली होती। अब कांग्रेस ने पार्लमेण्टरी कार्यक्रम अपना लिया है, इसलिए असेम्बली में किसी विषय पर मतगणना के समय कुछ नगण्य वोट पा जाने की आशा से, उसमें राजनैतिक और सामाजिक दक़ियानूसों के लिए और भी ज़्यादा गुंजाइश हो जायगी, और कांग्रेस के नेताओं और जनता के बीच खाई और भी चौड़ी हो जायगी। असेम्बली में ज़ोरदार भाषणों की झड़ी लगाई जायगी, और सर्वोत्तम पार्लमेण्टरी शिष्टता का अनुसरण किया जायगा, समय-समय पर सरकार को हराया जायगा—जिसकी सरकार अविचल भाव से उपेक्षा कर देगी, जैसा कि वह पहले से करती आई है।

पिछले कुछ वर्षों से जब कांग्रेस कौंसिलों का बहिष्कार कर रही थी, तब सरकारी वक्ता अक्सर हमसे कहा करते थे कि असेम्बली और प्रान्तीय कौंसिलें जनता की असली प्रतिनिधि हैं और लोकमत प्रकट करती हैं। लेकिन

यह दिल्लगी की बात है, कि अब जब कि असेम्बली में अधिक प्रगतिशील दल का प्रभुत्व है, सरकारी दृष्टिकोण बदल गया है। जब कभी कांग्रेस को चुनाव में मिली सफलता का हवाला दिया जाता है, तो हमसे कहा जाता है कि मत-दाताओं की संख्या बहुत ही थोड़ी, लगभग तीस करोड़ जनसंख्या में, केवल तीस लाख ही है। जिन करोड़ों लोगों को वोट देने का हक़ नहीं मिला है, सरकार के मतानुसार वे साफ़ तौर पर अंग्रेज़ी सरकार के हामी हैं। इसका जवाब साफ़ है। हरेक बालिग़ व्यक्ति को मत देने का अधिकार दे दिया जाय, और तब पता लग जायगा कि इन लोगों का ख़याल क्या है?

असेम्बली के चुनाव के बाद ही भारतीय शासन-सुधारों पर ज्वाइन्ट पार्लमेण्टरी कमिटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इसकी चारों ओर से जो भिन्न-भिन्न आलोचनाएँ हुईं, उनमें अक्सर इस बात पर ज़ोर दिया गया था कि इससे भारत-वासियों के प्रति 'अविश्वास' और 'सन्देह' प्रकट होता है। हमारी राष्ट्रीय और सामाजिक समस्याओं पर विचार करने का यह तरीक़ा मुझे बड़ा विचित्र मालूम हुआ। क्या ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति और हमारे राष्ट्रीय हितों में कोई महत्त्वपूर्ण विरोध नहीं है? सवाल यह है कि इनमें से किसकी बात रहे? स्वतंत्रता क्या हम केवल साम्राज्यवादी नीति को क़ायम रखने के लिए ही चाहते हैं? मालूम तो यही होता है कि ब्रिटिश सरकार यही समझे हुए थी, क्योंकि हमें सूचित कर दिया गया है कि जबतक हम ब्रिटिश-नीति के अनुसार अपना आचरण रक्खेंगे और जैसा वह चाहती है ठीक उसके अनुसार काम करके स्व-शासन के लिए अपनी योग्यता प्रदर्शित करेंगे, तबतक 'संरक्षणों' का उपयोग नहीं किया जायगा। अगर भारत में ब्रिटिश नीति को ही जारी रखना तब अपने हाथों में शासन की बागडोर लेने का यह सब शोरग़ुल क्यों मचाया जा रहा है?

यह साफ़ ज़ाहिर है कि ओटावा-पैक्ट आर्थिक दृष्टि से इंग्लैण्ड के सिवा हिन्दुस्तान के लिए बहुत फ़ायदेमन्द नहीं हुआ है।[1] हिन्दुस्तान के साथ ब्रिटिश व्यापार को निस्सन्देह लाभ पहुंचा है, यह लाभ भारत के राजनीतिज्ञों और व्यवसायियों की राय के अनुसार, भारत के विस्तृत हितों का बलिदान करके पहुँचा है। उपनिवेशों, ख़ासकर कनाडा और आस्ट्रेलिया में, स्थिति इससे उल्टी है।[2]

---

[1] सर विलियम करी ने दिसम्बर सन् १९३४ में पी० एण्ड० ओ० जहाज़ी कम्पनी की लन्दन की एक मीटिंग में सभापति की हैसियत से भाषण देते हुए भारतीय व्यापार का उल्लेख करते हुए कहा था कि "ओटावा-पैक्ट ब्रिटेन के लिए निश्चित रूप से फ़ायदेमन्द रहा है।"

[2] जून सन् १९३४ के लन्दन के 'इकनोमिस्ट' पत्र ने लिखा था कि "ओटावा-परिषद् का समर्थन केवल उसी दशा में किया जा सकता था, जबकि वह बाक़ी दुनिया से साम्राज्य के व्यवसाय का योग घटाये बिना अन्तर्साम्राज्य

उन्होंने ब्रिटेन के साथ बड़ा कड़ा व्यापारिक सौदा किया और उसे हानि पहुँचाकर अधिकांश लाभ ख़ुद उठाया। इतने पर भी अपने उद्योग-धन्धों की वृद्धि और साथ ही अन्य देशों के साथ अपना व्यापार बढ़ाने के लिए वे ओटावा और उनके दूसरे फन्दों से छुटकारा पाने का हमेशा प्रयत्न करते रहते हैं।[1] कनाडा में एक प्रमुख राजनैतिक दल—लिबरल दल—जिसके हाथों में जल्दी ही शासन-सूत्र आ जाने की सम्भावना है, निश्चित रूप से ओटावा-पैक्ट को रद्द करने को वचन-बद्ध है।[2] आस्ट्रेलिया में ओटावा-पैक्ट के अर्थों की खींचातानी के परिणाम-स्वरूप कुछ तरह के कपड़ों और सूत पर चुँगी बढ़ा दी गयी, जिसपर लंकाशायर के वस्त्र-व्यवसायियों की ओर से सख़्त नाराज़गी ज़ाहिर की गयी और इसे ओटावा-पैक्ट को भंग करना कहकर उसकी निन्दा की गयी। इसीके विरोध और बदले

के व्यवसाय का योग बढ़ाती। वास्तव में वह साम्राज्य के क्षीणोन्मुख व्यापार के सामने बहुत ही थोड़े से अनुपात में अन्तर्साम्राज्यिक व्यापार को उत्तजना दे सकी है। यह विभाजन भी ग्रेट-ब्रिटेन की अपेक्षा कहीं अधिक उपनिवेशों के हित में रहा है। हमारे साम्राज्य का आयात् सन् १९३१ के २२,७०,००,००० पौण्ड से बढ़कर सन् १९३३ में २४,९०,००,०००, पौण्ड हुआ था, किन्तु निर्यात् १७,०६ ००,००० पौण्ड से घटकर १६,३५,००,००० पौण्ड हो गया था। यह बात भी देखना है कि १९२९ से १९३३ के बीच साम्राज्य को हमारा निर्यात् ५०·९ फी सदी घटा था, जबकि साम्राज्य से हमारा आयात् सिर्फ़ ३२·९ फी सदी ही घटा था। विदेशों को हमारे निर्यात् में कमी कभी इतनी अधिक नहीं हुई, हाँ, इन देशों से हमारे आयात् में कमी कहीं ज़्यादा थी।"

[1]मेलबोर्न का 'एज' नामक पत्र भी ओटावा-पैक्ट को पसन्द नहीं करता। उस की राय में यह पैक्ट "एक निरन्तर बाधा बन रहा है, और अब दिन-दिन लोग इसे बहुत बड़ी ग़लती मानते जा रहे हैं"। (१९ अक्तूबर सन् १९३४ के 'मैनचैस्टर गार्जियन' नामक साप्ताहिक पत्र से उद्धृत।

[2]कनाडा के वर्तमान अनुदार प्रधान मन्त्री श्री बैनेट तक व्यापारिक मामलों में ब्रिटिश सरकार के लिए कण्टकरूप हो रहे हैं। वह 'नयी योजनाओं' की चर्चा कर रहे हैं और उनके विचारों में आश्चर्यजनक तब्दीली हो रही है। श्री लिट-वीनोव, सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स और श्री जान स्ट्रेची के भयंकर प्रभाव से वे समष्टिवादी बन गये हैं। इसे तमाम अनुदार, उदार और इम्पीरियल सिविल सर्विस वालों को इस बात का संकेत और चेतावनी समझनी चाहिए कि वे इस क़िस्म के विचार रखना या ऐसे विचार रखनेवालों का साथ देना छोड़ दें, नहीं तो वे ख़ुद ही उन भयंकर सिद्धान्तों के समर्थक बन जायँगे। (उपर्युक्त नोट लिख चुकने के बाद सुना कि कनाडा में श्री किंग के नेतृत्व में लिबरल पार्टी ने चुनाव में गहरी विजय प्राप्त कर ली है, और शासन-सूत्र अब उसी के हाथ में आ गये हैं।)

के रूप में लंकाशायर में आस्ट्रेलियन माल के बहिष्कार का आन्दोलन भी शुरू किया गया। आस्ट्रेलियना पर इस धमकी का कुछ भी ख़ास असर नहीं हुआ, बल्कि इसके ख़िलाफ़ वहाँ भी कड़ा रुख़ अख़्तियार किया गया।[1]

यह स्पष्ट है कि आर्थिक संघर्ष का कारण कनाडा और आस्ट्रेलिया के लोगों में ब्रिटेन के प्रति किसी दुर्भावना का होना नहीं है; हाँ, आयर्लैंडवालों में यह दुर्भावना प्रत्यक्ष है। संघर्ष स्वार्थों के आपस में टकराने के कारण होता है, और हिन्दुस्तान में 'संरक्षण' का उद्देश, स्वार्थों में टक्कर होने पर ब्रिटिश हितों को क़ायम रखना है। 'संरक्षण' के क्या नतीजे होंगे, इसका एक हलका-सा-इशारा हाल में की गयी भारतीय-ब्रिटिश व्यापारिक सन्धि से मिलता है। इस सन्धि की ब्रिटिश उद्योगपतियों को ख़बर थी, लेकिन यह भारतीय व्यवसायियों और उद्योगपतियों से छिपाकर की गयी थी, और उनके विरोध करते रहने और असेम्बली के रद् कर देने पर भी सरकार ने यह सन्धि क़ायम रक्खी। ऐसे संरक्षणों की तो बड़ी ज़बर्दस्त ज़रूरत कनाडा, आस्ट्रेलिया और दक्षिण अफ्रीका में है, जिससे इन उपनिवेशों के लोग न केवल व्यापारिक मामले में ही, वरन् साम्राज्य-रक्षा और उसकी अविच्छिन्नता के महत्त्वपूर्ण विषयों में भी मनमाना रास्ता अख़्तियार न कर लें।[2]

कहा गया है कि साम्राज्य के मानी एक बड़ा 'क़र्ज़' है; और संरक्षणों की योजना इसलिए की गयी है कि साम्राज्यरूपी लेनदार अपने दयनीय कर्ज़दार को अपने क़ाबू में रख सके तथा अपने विशेष स्वार्थों और शक्तियों को बनाये रखे। एक विचित्र दलील, जो अक्सर सरकार की तरफ से दुहराई जाती है, यह

---

[1]मेलबोर्न के 'एज' नामक पत्र ने लिखा था कि लंकाशायरवाले अगर अपने प्रस्तावित बहिष्कार को बन्द न करें तो आस्ट्रेलिया को लंकाशायर के रहे-सहे व्यापार का भी प्रबल बहिष्कार करना ही चाहिए। अविचल दृढ़ता के साथ हमें लंकाशायर को जवाब देना होगा। (९ नवम्बर १९३४ के साप्ताहिक 'मैनचेस्टर गार्जियन' उद्धृत।

[2]दक्षिण अफरीका-संघ के रक्षा-सचिव श्री ओ० पीरोव ने कहा था कि संघ साम्राज्य-रक्षा की किसी भी आम योजना में भाग नहीं लेगा, न किसी बाहरी युद्ध में ही सहयोग करेगा, फिर भले ही ब्रिटेन उस युद्ध में शामिल क्यों न हो। "अगर सरकार अविचारपूर्वक दक्षिण अफ्रिका को दूसरे बाहरी युद्धों में भाग लेने के लिए मजबूर करे, तो बहुत बड़े पैमाने में अशान्ति फैल जायगी, मुमकिन है कि गृह-युद्ध छिड़ जाय। इसलिए वह साम्राज्य-रक्षा की किसी आम योजना में भाग नहीं लेगी।" (केपटाउन से ५ फ़रवरी १९३५ को भेजा हुआ रायटर का संवाद।) प्रधान सचिव जनरल हर्टजोग ने इस वक्तव्य की पुष्टि की है, और बताया है कि वह यूनियन सरकार की नीति को ज़ाहिर करता है।

है कि गांधीजी और कांग्रेस ने ऐसे संरक्षणों के विचार को स्वीकार कर लिया है, क्योंकि सन् १९३१ के दिल्ली के गांधी-इर्विन समझौते में भारत के हित में 'संरक्षण' की बात स्वीकार की जा चुकी है।

ओटावा-पैक्ट और वाणिज्य-व्यवसाय-सम्बन्धी संरक्षण फिर भी छोटी बातें हैं।[1] इससे कहीं अधिक महत्त्व की बात है, वे बीसियों सुविधाएं, जिनका उद्देश हिन्दुस्तानियों का शोषण करने में पूर्वकाल तथा वर्तमानकाल में जिन राजनैतिक और आर्थिक उपायों ने सहायता दी है, उन्हें स्थायी बना देना है। जबतक ये सुविधाएं और 'संरक्षण' बने हुए हैं, तबतक किसी भी दशा में वास्तविक उन्नति हो सकना असम्भव है, और किसी क़िस्म के वैध प्रयत्न द्वारा परिवर्तन के लिए कोई जगह ही नहीं छोड़ी गयी है। ऐसा हरेक प्रयत्न संरक्षणों की नंगी दीवारों के साथ टकरायेगा और दिन-दिन यह साफ़ होता जायगा कि केवल वैध मार्ग से ही काम नहीं चलेगा। राजनैतिक सुधार की दृष्टि से यह प्रस्तावित शासन-योजना और भीमकाय संघ एक वाहियात चीज़ है; और सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से तो यह और भी बदतर है। समाजवाद का रास्ता तो जान-बूझकर रोक दिया गया है। ऊपरी तौर से बहुत-कुछ जवाबदेही भी (लेकिन वह भी अधिकतर 'सुरक्षित' श्रेणियों को ही) सौंप दी गयी है लेकिन कोई महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकने की शक्ति तथा साधन नहीं दिये गये हैं। बिना किसी उत्तरदायित्व के सारी शक्ति इंग्लैण्ड अपने हाथों में रक्खे हुए है। निरंकुशता के नंगेपन को ढकने के लिए कोई झीनी चादर तक नहीं है। हरेक आदमी जानता है इस समय की सबसे बड़ी ज़रूरत यह है कि विधान पूरी तरह से लचीला और ग्राह्य-शक्तिवाला हो जिससे वह तेज़ी से बदलती रहनेवाली अवस्था के अनुकूल हो सके। निर्णय जल्दी होना चाहिए, और साथ ही उन निर्णयों को अमल में लाने की ताक़त भी होनी चाहिए। इतने पर भी, इसमें शक है कि पार्लमेण्टरी लोकतन्त्र, जैसा कि आजकल पश्चिम के कुछ देशों में चल रहा है, आधुनिक विश्व के सुचारु संचालन के लिए आवश्यक परिवर्तन कर सकने में सफल हो सकेगा। लेकिन यह प्रश्न हमारे यहां नहीं उठता, क्योंकि हमारी गति हथकड़ियों और बेड़ियों से जान-बूझकर रोक दी गई है, और हमारे दरवाज़े बन्द करके ताले लगा दिये गये हैं। हमें ऐसी मोटर दे दी गयी है, जिसमें सब जगह रोकने के लिए ब्रेक तो काफ़ी लगे हुए

---

[1] लन्दन का 'इकनोमिस्ट' (अक्तूबर १९३४) बतलाता है—"भविष्य के लिए ब्रिटिश राज का एक लाभ यह मालूम होता है कि पृथिवी के अनेक हिस्सों में बसनेवाले मूल निवासियों को हम महँगी दर पर लंकाशायर का माल खरीदने के लिए मजबूर कर सकेंगे।" सीलोन इसका सबसे अधिक ज्वलन्त और नया उदाहरण है।

हैं, लेकिन उसे चलानेवाला एंजिन नदारद है। मार्शल-लॉ (फ़ौजी क़ानून) ही जिनका आधार है, ऐसे लोगों का बनाया हुआ यह शासन-विधान है। शस्त्रबल में विश्वास रखनेवाले के लिए मार्शल-लॉ (फ़ौजी क़ानून) ही उसका असली सहारा है, उसके लिए उसके छोड़ने का अर्थ है अपना सर्वनाश।

इंग्लैण्ड के इस प्रस्तावित तोहफ़े से हिन्दुस्तान को किस हदतक आज़ादी मिलेगी, इसका पता इसी बात से चल सकता है कि नरम-से-नरम और राजनैतिक दृष्टि से अत्यन्त पिछड़े हुए दलों तक ने इसे प्रगति-विरोधी बताकर इसकी तीव्र निन्दा की है। सरकार के पुराने और कट्टर हिमायतियों को भी इसकी आलोचना करनी पड़ी है, लेकिन यह आलोचना उन्होंने की है अपने उसी सदा के ख़ुशामदी ढंग के साथ। दूसरे लोगों ने उग्र रूप से विरोध किया है।

इन सुधारों ने नरम दलवालों के लिए अपने इस अटल विश्वास पर, कि भगवान ने हिन्दुस्तान को अंग्रेज़ों की छत्रछाया में रखकर बेहद बुद्धिमानी की है, डटा रहना मुश्किल कर दिया है। उन्होंने तीखी आलोचना की, लेकिन वस्तु-स्थिति की अवहेलना करके और आडम्बरयुक्त शब्दों और लुभावने हाव-भावों के साथ उन्होंने इसी बात पर सबसे अधिक ज़ोर दिया कि रिपोर्ट और बिल दोनों में 'डोमीनियन स्टेटस' (औपनिवेशिक स्वराज) शब्द ग़ायब हैं। इस सम्बन्ध में उनकी तरफ़ से बड़ा बावेला मचा था। अब सर सैमुअल होर ने इस विषय में एक वक्तव्य प्रकाशित कर दिया है, इसलिए बहुत हदतक उससे इनके आत्म-सम्मान की रक्षा हो जायगी। सम्भव है, औपनिवेशिक स्वराज अज्ञात भविष्य के गर्भ में वास करनेवाली एक झूठी छायामात्र होगी—एक असम्भव से भी असम्भव देश, जहाँ हम कभी पहुँच ही नहीं सकेंगे। हाँ, उसके सपने देख सकते हैं और उसकी अनेक सुन्दरताओं का ओजमय वर्णन कर सकते हैं। शायद ब्रिटिश पार्लमेण्ट के प्रति मन में पैदा हुए सन्देहों से परेशान होकर सर तेजबहादुर सप्रू ने अब सम्राट् की शरण ली है। वह एक अत्यन्त सुयोग्य और कुशल क़ानूनदाँ हैं, इसलिए उन्होंने एक नया ही वैधानिक सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। वह कहते हैं—"ब्रिटिश पार्लमेण्ट और ब्रिटिश जनता भारत के लिए कुछ करे या न करे, इन दोनों के ऊपर सम्राट् हैं जो भारतीय प्रजा का सदा हितचिन्तन और शान्ति और समृद्धि की आकांक्षा किया करते हैं।"[1] यह ऐसा सुखद सिद्धान्त है, जो हमें शासन-विधान, क़ानून और राजनैतिक और सामाजिक क्रान्तियों की झंझटों में पड़ने से बचाता है।

लेकिन यह कहना भी ठीक नहीं होगा कि नरम दलवालों ने शासन-विधान

[1] लखनऊ की २६ जनवरी १६३५ की एक सार्वजनिक सभा में दिये हुए एक भाषण से।

का विरोध कम कर दिया है। उनमें से अधिकांश ने यह बिलकुल स्पष्ट कर दिया है कि वे उस बिन-माँगे तोहफ़े की बनिस्बत जो कि हिन्दुस्तान के सर पर ज़बरदस्ती लादा जा रहा है मौजूदा हालतों को, बुरी होने पर भी, पसन्द करते हैं। लेकिन इस बात को कहते रहने के सिवा, ख़ुद उनके सिद्धान्त उन्हें आगे बढ़कर कुछ करने से रोकते हैं, और यह माना जा सकता है कि वे उक्त बातों पर बराबर ज़ोर देते रहेंगे। एक पुरानी कहावत को, वर्तमान समय के अनुसार बदल कर वे अपना आदर्श-वाक्य बना सकते हैं और वह है—"अगर एक बार कामयाबी न मिले, तो फिर चिल्लाओ!"[1]

लिबरल नेताओं और कितने ही दूसरे लोगों ने, जिनमें कुछ कांग्रेसवाले भी शामिल हैं, इंग्लैंड में मज़दूर-दल की विजय और मज़दूर सरकार की स्थापना पर कुछ आशा बाँध रक्खी है। निस्सन्देह कोई वजह नहीं है कि हिन्दुस्तान ब्रिटेन के प्रगतिशील दलों के सहयोग से आगे बढ़ने का प्रयत्न क्यों न करे, अथवा मज़दूर-सरकार के आगमन से लाभ क्यों न उठावे। लेकिन इंग्लैण्ड के भाग्यचक्र के परिवर्तन पर ही बिलकुल निर्भर रहना न तो शोभास्पद है, न राष्ट्रीय गौरव के ही किसी तरह अनुकूल है। और यह कोई सामान्य व्यवहार-बुद्धि की बात भी नहीं है। ब्रिटिश मज़दूर दल से हम इतनी ज़्यादा आशा क्यों रक्खें? हम अभी दो बार मज़दूर दल की सरकार देख चुके हैं, और उसके समय हिन्दुस्तान को जो तोहफ़े मिले हैं, उन्हें हम भूल नहीं सकते। श्री रेमज़े मेकडानल्ड भले ही मज़दूर-दल से अलग हो गये हों, लेकिन उनके पुराने साथियों में कोई ज़्यादा परिवर्तन हुआ दिखाई नहीं देता। सन् १९३० के अक्तूबर में साउथपोर्ट में होनेवाली मज़दूर-दल-कान्फ्रेंस में श्री वी० के० कृष्ण मेनन ने यह प्रस्ताव रखा था—"यह बहुत-ही ज़रूरी है कि हिन्दुस्तान में पूर्ण स्वराज्य की स्थापना के लिए भाग्य-निर्णय का सिद्धान्त तुरन्त अमल में लाया जाय।" श्री आर्थर हेण्डर्सन ने इस प्रस्ताव को वापस ले लेने के लिए बड़ा ज़ोर दिया और कार्यकारिणी की ओर से आपने भाग्य-निर्णय की नीति भारत में उपयोग में लाने का आश्वासन देने से साफ़ इन्कार कर दिया। उन्होंने कहा—"हम यह बात बहुत ही साफ़ तौर से बता चुके हैं कि सम्भव हुआ तो हम हिन्दुस्तान के सब समुदायों से सलाह करेंगे। इस बात से सबको सन्तोष हो जाना चाहिए।" लेकिन यह सन्तोष इस तथ्य को सामने रखने से शायद कम हो जायगा कि पिछली मज़दूर-सरकार और राष्ट्रीय सरकार की भी यही उद्घोषित नीति थी, जिसका परिणाम था राउण्ड टेबल कान्फ्रेन्स, ह्वाइट-पेपर, ज्वॉइण्ट पार्लमेण्टरी कमिटी की रिपोर्ट और नया इण्डिया-एक्ट।

[1] "Try again" (ट्राई अगेन) अर्थात् फिर प्रयत्न करो, यह अंग्रेज़ी की कहावत है, किन्तु लेखक का व्यंग है कि इनके लिए ट्राई के बदले क्राई करके "Cry again" अर्थात् "फिर चिल्लाओ" की कहावत अधिक मौजूं है।—अनु०

यह बिलकुल स्पष्ट है कि साम्राज्य की नीति के मामलों में इंग्लैण्ड के अनुदार और मज़दूर-दल में बहुत कम फ़र्क़ है। यह सच है कि सर्व-साधारण मज़दूर-वर्ग कहीं अधिक आगे बढ़ा हुआ है, लेकिन अपने अनुदार नेताओं पर उसका असर बहुत ही कम है। यह हो सकता है कि मज़दूर-दल के उग्र विचार वाले शक्तिशाली हो जायँ, क्योंकि आजकल परिस्थितियाँ बड़ी तेज़ी से बदल रही हैं, लेकिन क्या दूसरी जगहों में नीति-परिवर्तन की प्रतीक्षा में हमारी राष्ट्रीय और सामाजिक प्रगतियाँ अपना प्रवाह बदल दें और रुक जायँ ?

हमारे देश के लिबरल दलवाले ब्रिटिश मज़दूर-दल पर जिस तरह भरोसा किये बैठे हैं, उसका एक अजीब पहलू है। अगर, किसी संयोग से, यह मज़दूर-दल उग्र विचार का बन जाय और इंग्लैण्ड में अपने समाजवादी कार्यक्रम को अमल में लावें, तो हिन्दुस्तान में और यहाँ के लिबरल और दूसरे नरम दलों पर उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी ? इनमें के अधिकांश लोग सामाजिक दृष्टि से कट्टर-पन्थी हैं। वे मज़दूर-दल के सामाजिक और आर्थिक-परिवर्तनों को पसन्द न करेंगे और भारत में उसके प्रचलित किये जाने से डरेंगे। यहाँतक सम्भव हो सकता है कि अगर सामाजिक-क्रान्ति ब्रिटिश-सम्बन्ध का लक्षण हो जाय तो शायद इन लोगों की ब्रिटिश-भक्ति ख़त्म ही हो जाय। उस दशा में यह मुमकिन हो सकता है कि मुझ-जैसे व्यक्ति, जो राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और ब्रिटेन से सम्बन्ध-विच्छेद के हामी हैं, अपने विचार बदल दें और समाजवादी ब्रिटेन के साथ निकट सम्बन्ध रखना पसन्द करने लगें। बेशक हम में से किसी को भी ब्रिटिश जनता के साथ सहयोग करने में कोई आपत्ति नहीं है; यह उनका साम्राज्यवाद है, जिसके हम विरोधी हैं, साम्राज्यवाद को एकबारगी उन्होंने धता बताया नहीं कि सहयोग का मार्ग खुल जायगा। उस समय नरम दलवालों का क्या होगा ? शायद वे नयी व्यवस्था को, ईश्वर की अगाध बुद्धि का दूसरा संकेत समझकर, स्वीकार कर लेंगे !

गोलमेज़-परिषद् और संघ-शासन के विधान के प्रस्ताव का एक ख़ास नतीजा यह है कि देशी राजे एकदम आगे ले आये गये हैं। कट्टर अनुदार-पन्थियों की उनके तथा उनकी स्वतन्त्रता के प्रति शुभ-चिन्तना ने उनमें एक नया जोश भर दिया है। इससे पहले कभी उनको इतना महत्त्व नहीं दिया गया था। पहले उनकी मजाल नहीं थी कि वे ब्रिटिश रेज़ीडेण्ट के संकेत मात्र तक को नामंज़ूर कर दें, और बहुतेरे देशी नरेशों के प्रति भारत-सरकार का व्यवहार भी साफ़ ही अवहेलनापूर्ण था। उनके भीतरी मामलों में दस्तन्दाज़ी होती रहती थी, जो अक्सर न्यायसंगत ही ठहरायी जाती थी। आज भी अधिकांश रियासतें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से 'उधार' दिये हुए अंग्रेज़-अफ़सरों द्वारा शासित हो रही हैं। लेकिन इधर ऐसा मालूम होता है कि श्री चर्चिल और लार्ड रॉदरमियर के आन्दोलन ने सरकार को कुछ घबरा-सा दिया है, और

इसलिए वह उनके निर्णयों में हस्तक्षेप करने में फूंक-फूंककर क़दम रखने लगी है। देशी नरेश भी अब ज़रा कहीं अधिक अकड़ के साथ बातचीत करने लगे हैं।

मैंने भारतीय राजनैतिक क्षेत्रों की बाहरी घटनाओं को समझने की कोशिश की है, लेकिन मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि ये सब बातें कोई असली महत्त्व की नहीं हैं। और इन सबकी तह में रहनेवाली भारत की स्थिति का ख़याल मुझे परेशान कर रहा है। असलियत यह है कि हर तरह की स्वतन्त्रता का दमन हो रहा है, सब जगह घोर कष्ट और निराशा फैली हुई है, सद्भावना दूषित की जा रही है, और अनेक प्रकार की हीन वृत्तियों को प्रोत्साहन मिल रहा है। बहुत बड़ी संख्या में लोग जेलों में पड़े हैं और अपनी जवानी खो रहे हैं तथा उमर बिता रहे हैं।[1] उनके परिवार, मित्र और सम्बन्धी, और हज़ारों दूसरे लोगों में कटुता बढ़ती जा रही है और नंगी पाशविकता के सामने ज़लालत और बेबसी की कुत्सित भावना ने उन्हें घेर लिया है। साधारण समय में भी अनेक संस्थाएं ग़ैरक़ानूनी क़रार दे दी गयी हैं और 'संकटकाल के अधिकार' (इमर्जेन्सी पावर्स) और 'शान्ति रक्षा-विधान' (ट्रैंक्विलिटी एक्ट्स) सरकारी शस्त्रागार में क़रीब-क़रीब स्थायी रूप से शामिल कर लिये गये हैं। स्वाधीनता पर प्रतिबन्ध लगाने के अपवाद दिन-दिन साधारण नियम से बनते जा रहे हैं। बहुत-सी पुस्तकें और पत्रिकाएं या तो ज़ब्त की जा रही

---

[1] होम मेम्बर सर हेरी हेग ने २३ जुलाई १९३४ को बड़ी धारा-सभा में जेलों और स्पेशल कैम्पों में बन्द नज़रबन्दों की संख्या इस प्रकार बतलायी थी—बंगाल में १५०० और १६०० के बीच, देहली में ५०० । कुल २००० और २१०० के बीच। यह संख्या ता नज़रबन्दों की है, जिनपर न तो मुकदमा चलाया गया, न सजा दी गयी। इसमें दूसरे राजनैतिक कैदी शामिल नहीं हैं, जिन लोगों को सज़ा दी गयी है। आमतौर पर उनकी सज़ा बहुत अधिक है। एसोशिएटेड प्रेस के (१७ दिसम्बर १९३४) कथनानुसार कलकत्ता के हाल के एक मामले मे हाईकोर्ट ने बिना लाइसेन्स हथियार और कारतूस रखने के अपराध में ९ वर्ष की कड़ी कैद की सज़ा दी थी ! अभियुक्त के पास एक रिवाल्वर और छ: कारतूस निकले थे।

इन्हीं दिनों (१९३५ के पिछले पखवाड़े में) नागरिक स्वतन्त्रता का अपहरण करनेवाले कई क़ानूनों की मियाद और बढ़ा दी गयी। इसमें से मुख्य क्रिमिनल लॉ अमेण्डमेण्ट एक्ट—सारे हिन्दुस्तान में लागू कर दिया गया है। असेम्बली ने इस क़ानून को ठुकरा दिया था, लेकिन बाद मे वाइसराय ने अपने विशेषाधिकार से इसे जायज़ कर दिया। दूसरे प्रान्तों में भी ऐसे ही क़ानून बनाये गये हैं।

हैं या 'सी कस्टम्स एक्ट' के मातहत उनका प्रवेश रोका जा रहा है, और 'भयंकर' साहित्य रखने के अपराध में लम्बी-लम्बी सज़ाएं दी जाती हैं। किसी राजनैतिक या आर्थिक प्रश्न पर निर्भीक सम्मति देने अथवा रूस की उस वक्त वर्तमान सामाजिक या सांस्कृतिक स्थिति की प्रशंसा करने पर सेंसर नाराज़ होता है। 'मार्डन रिव्यू' को बंगाल सरकार की ओर से महज़ इसी बात पर चेतावनी दे दी गयी है कि उसने श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर का रूस-सम्बन्धी लेख छापा था। वह लेख उन्होंने स्वयं रूस जाकर आने के बाद लिखा था। भारत के उपमन्त्री इस प्रकार पार्लमेण्ट में फ़रमाते हैं कि—"उस लेख में, भारत में ब्रिटिश राज्य की नियामतों का बिगड़ा रूप दिखाया गया था," इसलिए उसके ख़िलाफ़ कार्रवाई की गयी थी।[1] इन नियामतों के निर्णायक सेन्सर महोदय होते हैं, और हम उनके विरुद्ध मत नहीं रख सकते या ज़ाहिर नहीं कर सकते। डब्लिन की सोसाइटी ऑफ़ फ्रेण्ड्स् के नाम भेजे गये श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के संक्षिप्त वक्तव्य के प्रकाशन तक पर आपत्ति की गयी थी। केवल सांस्कृतिक विषयों में रुचि रखने, और जान-बूझकर अपने को राजनीति से अलग रखनेवाले और न केवल हिन्दुस्तान बल्कि समस्त संसार में सम्मानित और विख्यात श्री रवीन्द्र जैसे सन्त कवि तक को जब इस तरह दबाया जाता है, तब बिचारे असहाय जन-साधारण का तो कहना ही क्या ? सरकार ने आतंक का जो वातावरण बना रखा है, वह तो दमन के इन प्रत्यक्ष उदाहरणों से भी कहीं ज़्यादा बदतर है। निष्पक्ष पत्र-सञ्चालन ऐसी परिस्थिति में असम्भव है;[2] न इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति या मौजूदा समस्याओं का ही ठीक-ठीक अध्ययन हो सकता है। सुधार, उत्तरदायी शासन और ऐसी ही बातों की शुरुआत करने के लिए यह एक बड़ा विचित्र वातावरण बनाया गया है।

हरेक अक़्लमन्द आदमी जानता है कि संसार इस समय एक विचार-क्रान्ति के बीच में है, और मौजूदा परिस्थितियों के प्रति, अस्पष्ट या स्पष्ट रूप से महसूस होनेवाला घोर असन्तोष फैल रहा है। हमारे देखते-ही-देखते बड़े महत्त्व के परिवर्तन हो रहे हैं, और भविष्य का रूप चाहे कुछ भी हो, परन्तु वह कोई बहुत दूर की चीज़ नहीं है, कि उसके विषय में केवल दार्शनिक,

---

[1] १२ नवम्बर १९३४

[2] ४ सितम्बर १९३५ को असेम्बली में हिन्दुस्तान मे प्रेस-एक्ट के प्रयोग के सम्बन्ध में सरकारी वक्तव्य दिया गया था। उसमें बताया गया था कि सन् १९३० के बाद ५१४ समाचार पत्रों पर जमानत और जब्ती आदि लगायी थी। इनमें से २४८ पत्र बन्द कर देने पड़े, क्योंकि वे और अधिक ज़मानत की रक़म का इन्तज़ाम न कर सके, बाक़ी १६६ पत्रों ने ज़मानत दे दी, जो कुल मिलाकर २,५२,८५१ रुपया थी !

समाजशास्त्री तथा अर्थ-वेत्ता लोग निष्पक्ष मन से शास्त्रीय चर्चा करते रहें। वह एक ऐसी वस्तु है, जिसका प्रत्येक व्यक्ति के हित अथवा अहित से सम्बन्ध है, इसलिए निश्चय ही प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि आज जो विभिन्न शक्तियाँ काम कर रही हैं उन्हें वह समझे और अपना कर्त्तव्य-पथ निश्चित करे। पुरानी दुनिया खत्म होने जा रही है और एक नये संसार का निर्माण हो रहा है। किसी समस्या का जवाब ढूँढने के लिए यह ज़रूरी है कि पहले यह जान लिया जाय कि वह है क्या? निस्सन्देह समस्या का समझना उतना ही महत्त्व रखता है, जितना कि उसका हल निकालना।

अफ़सोस है कि हमारे राजनीतिज्ञ दुनिया की समस्याओं से आश्चर्यजनक रूप से अनजान हैं, या उनके प्रति उदासीन हैं। सम्भवतः यह अज्ञान अधिकांश सरकारी अफ़सरों तक बढ़ा हुआ है, क्योंकि सिविल-सर्विस वाले बड़े मज़े और सन्तोष के साथ अपने ही छोटे-से सँकरे दायरे में रहना पसन्द करते हैं। केवल सर्वोच्च अधिकारियों को ही इन समस्याओं पर विचार करना पड़ता है। ब्रिटिश सरकार को तो अवश्य ही लिखी हुई घटनाओं का ध्यान रखना पड़ता है और उन्हीं के अनुसार अपनी नीति तय करनी पड़ती है। यह दुनिया जानती है कि ब्रिटिश वैदेशिक नीति पर हिन्दुस्तान के आधिपत्य और उसकी रक्षा का बहुत बड़ा प्रभाव रहता है। भला कितने भारतीय राजनीतिज्ञ यह विचारने की तकलीफ़ गवारा करते हैं कि जापान के साम्राज्यवाद, या रूस के सोवियट-संघ की बढ़ती हुई ताक़त, या सिंगकियांग में होनेवाले ब्रिटिश-रूस-जापानी दावपेंच अथवा मध्य-एशिया या अफ़ग़ानिस्तान या फ़ारस की घटनाओं का हिन्दुस्तान की राजनैतिक समस्या के साथ अत्यन्त गहरा सम्बन्ध है? मध्य-एशिया की स्थिति का प्रत्यक्ष परिणाम कश्मीर पर पड़ता है, इसलिए ब्रिटिश सरकार की साधारण तथा रक्षा-सम्बन्धी नीति में उसका प्रमुख भाग रहता है।

किन्तु इससे भी अधिक महत्त्व के हैं वे आर्थिक परिवर्तन, जो आज सारे संसार में हो रहे हैं। हमें जान लेना चाहिए कि उन्नीसवीं सदी का ज़माना गुज़र चुका है और उस काल की समाज-व्यवस्था आज उपयोग में नहीं आ-सकती। वकीलों की तरह पिछली नज़ीरें देने का तरीक़ा, हिन्दुस्तान में बहुत अधिक प्रचलित है, परन्तु अब वे पिछली नज़ीरें नहीं रही हैं, इसलिए यह तरीक़ा कुछ काम का नहीं रहा। बैलगाड़ी को रेल की पटरी पर रखकर उसे रेलगाड़ी नहीं कहा जा सकता। इसको बेकार समझकर छोड़ देना होगा, और उखाड़ फेंकना होगा। रूस के अलावा और जगह भी 'नवीन योजनाओं' और महान् परिवर्तनों की चर्चाएं हो रही हैं। पूँजीवादी प्रणाली को सब प्रकार से क़ायम रखने और मज़बूत करने की प्रबल आन्तरिक इच्छा के बावजूद भी प्रेसीडेण्ट रूज़वेल्ट ने अत्यन्त साहस-भरी ऐसी योजनाएं प्रचलित की हैं, जिससे अमेरिका का सारा जीवन ही बदल सकता है। उन्होंने बहुत बड़े-बड़े ख़ास अधिकार

पाये हुए वर्ग को उखाड़ फेंकने और और पद-दलित निम्न वर्ग को सक्रिय रूप से उन्नत बनाने की घोषणा की है। वह सफल हो या न हो, यह बात दूसरी है, लेकिन उस व्यक्ति का साहस और अपने देश को पुरानी लीक से बाहर खींच निकालने की उनकी महत्त्वाकांक्षा अवर्णनीय है। अपनी नीति बदलने या अपनी भूलों को स्वीकार करने में भी वह नहीं हिचकिचाता। इंग्लैण्ड में श्री लॉयड अपनी नयी योजना लेकर सामने आये हैं। हम भारत में भी कई नयी योजनाएँ चाहते हैं। यह पुरानी धारणा कि "जो कुछ जानने लायक़ है, वह सब जान लिया गया है, और जो कुछ करने लायक़ है, वह सब कुछ किया जा चुका है" एक ख़तरनाक बेवक़ूफ़ी है।

हमें बहुत-सी समस्याओं का सामना करना है और हमें बहादुरी के साथ ऐसा करना चाहिए। क्या आज की सामाजिक और आर्थिक प्रणाली को ज़िन्दा रहने का कोई अधिकार है जब कि वह जन-साधारण की अवस्था में अधिक सुधार करने में असमर्थ है? क्या कोई दूसरी प्रणाली इस प्रकार प्रगति का आश्वासन देती है? केवल राजनैतिक परिवर्तन से किस हद्तक क्रान्तिकारी प्रगति हो सकती है? अगर किसी प्रमुख आवश्यक परिवर्तन के रास्ते में स्थापित स्वार्थवाले बाधक हों तो क्या यह धर्म होगा कि जन समूह को दुखी तथा दरिद्र रखकर उनको क़ायम रखने का प्रयत्न किया जाय? अवश्य ही हमारा उद्देश्य स्थापित स्वार्थों को आघात पहुँचाना नहीं है बल्कि उनको दूसरे लोगों को हानि पहुँचाने से रोकना है। इन स्थापित स्वार्थों से समझौता हो सकना मुमकिन हो सकता हो, तो वह कर लेना अत्यन्त वाञ्छनीय होगा। लोग भले ही इसके भलाई-बुराई के सम्बन्ध में मतभेद रक्खें, लेकिन समझौते की सामाजिक उपयोगिता में बहुत कम सन्देह होगा। साफ़ है कि यह समझौता इस प्रकार नहीं हो सकता कि एक नया स्थापित स्वार्थ क़ायम करके पहले स्थापित स्वार्थ को हटाया जाय। जब कभी भी मुमकिन और ज़रूरी हो, समझौते के लिए उपयुक्त मुआवज़ा दिया जा सकता है, क्योंकि झगड़े से ज़्यादा नुक़सान होने की सम्भावना है। परन्तु दुर्भाग्य से सारा इतिहास यह बताता है कि स्थापित स्वार्थवाले वर्ग इस प्रकार से समझौता मंजूर नहीं करते। जो वर्ग समाज के प्रमुख अंग नहीं रह जाते, वे काफ़ी विवेकशून्य हो जाते हैं। वे सब कुछ रखने के लिए सब कुछ खोने की बाज़ी लगा देते हैं और इस तरह अपना ख़ात्मा कर लेते हैं।

ज़ब्ती आदि के बारे में बहुत-सी 'ऊलजलूल चर्चा' (कांग्रेस कार्य-समिति के एक प्रस्ताव के अनुसार) हो रही है। लेकिन ज़ब्ती—बलपूर्वक और सतत ज़ब्ती, तो मौजूदा प्रणाली का आधार है, और इसका अन्त करने के लिए ही सामाजिक क्रान्ति की बात कही जा रही है। हर रोज़ मज़दूरों के गाढ़े पसीने की कमाई ज़ब्त की जा रही है; और इस हद तक लगान और मालगुज़ारी बढ़ाकर कि किसान

उसे अदा करने में असमर्थ हो जायँ, उनकी जोत ज़ब्त कर ली जाती है। पहले ज़माने में व्यक्तियों का एक समुदाय भूमि पर ज़बरदस्ती क़ब्ज़ा कर लेता था और इस प्रकार बड़ी-बड़ी ज़मींदारियाँ बन गईं; भू-स्वामी किसान उखाड़ फेंके गये। सारांश यह कि ज़ब्ती ही मौजूदा प्रणाली का आधार है, वही उसका प्राण है।

इसको कुछ हदतक सुधारने के लिए समाज विविध उपाय काम में लाता है, जो ज़ब्ती के ही रूप हैं, जैसे भारी टैक्स, उत्तराधिकार कर, क़र्ज़ से छुटकारा दिलाने का क़ानून, मुद्रा-वृद्धि आदि। हाल ही में हमने राष्ट्रों को अपरिमित क़र्ज़ की अदायगी से इन्कार करते देखा है; केवल रूस का सोवियट संघ ही नहीं; वरन् अग्रणी पूँजीपति राष्ट्र तक इन्कार कर गये हैं। सबसे अधिक उज्ज्वल उदाहरण ब्रिटिश सरकार का है, जिसने संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का क़र्ज़ अदा करने से इन्कार कर दिया है—ख़ुद अंग्रेज़ों द्वारा हिन्दुस्तान के सामने रखा गया एक भयंकर उदाहरण। लेकिन इन सब ज़ब्तियों से और क़र्ज़ों को इस तरह रद्द कर देने से, सिर्फ़ कुछ हदतक ही मदद मिलती है, आधारभूत रोगों से छुटकारा नहीं मिलता। नये निर्माण के लिए तो जड़ पर कुठाराघात करना होगा।

वर्तमान व्यवस्था बदलने के उपाय पर विचार करते समय हमें भौतिक और नैतिक दृष्टि से उसकी उपयोगिता का भी विचार करना होगा। बहुत संकुचित दृष्टि बनाये रखने से हमारा काम चल नहीं सकता—हमें दूरदर्शी बनना होगा। हमें देखना होगा कि इस परिवर्तन से, भौतिक और नैतिक दृष्टियों से, मनुष्य को सुख-समृद्धि की वृद्धि में कहाँतक सहायता मिलेगी। इसके साथ ही हमें इस बात का भी सदा ध्यान रखना होगा कि यदि वर्तमान व्यवस्था न बदली गयी तो हमें कितना भयंकर नुक़सान उठाना पड़ता है, उसे चालू रखने में किस प्रकार हमारे हताश तथा विकृत जीवन पर असह्य भार पड़ता है तथा भुखमरी, ग़रीबी और आध्यात्मिक तथा नैतिक पतन सहन करना पड़ता है। हमेशा आनेवाली बाढ़ की तरह वर्तमान आर्थिक व्यवस्था अगणित मनुष्यों को विपत्ति में डालकर विनाश की ओर बहाये लिये जा रही है। हम इस प्रलयकारी बाढ़ को रोक नहीं सकते या हममें से कुछ लोग बालटी से पानी उलीच-उलीचकर इन प्राणियों को बचा नहीं सकते। बाँध बनवाने होंगे, नहरें निकालनी होंगी, जल की नाशक शक्ति को बदल कर मनुष्य की भलाई के लिए उसका प्रयोग करना होगा।

यह साफ़ है कि समाजवाद जो महान् परिवर्तन लाना चाहता है, वह कुछ क़ानूनों को सहसा पास कर लेने मात्र से नहीं हो सकता। लेकिन और आगे बढ़ने और इमारत की नींव रखने के लिऐ क़ानून बनाने की मूल सत्ता का हाथ में होना ज़रूरी है। अगर समाजवादी समाज का निर्माण करना है, तब भी तो वह न तो भाग्य के भरोसे पर छोड़ा जा सकता है, और न रुक-रुककर, जितना कुछ बनाया गया है उसे तोड़ने का अवसर देते हुए, काम करने से वह पूरा हो सकता। इस तरह ख़ास-ख़ास रुकावटों को हटाना होगा। हमारा उद्देश किसीको

वञ्चित करना नहीं, वरन् सम्पन्न करना है, वर्तमान दरिद्रता को सम्पन्नता में बदल देना है। लेकिन ऐसा करने के लिए रास्ते से उन सब रुकावटों और स्वार्थों को, जो समाज को पीछे रखना चाहते हैं, ज़रूर ही हटाना होगा। और जो रास्ता हम अख़्तियार कर रहे हैं, वह सिर्फ़ व्यक्तिगत रुचि अथवा अरुचि अथवा सैद्धान्तिक न्याय के प्रश्न पर ही निर्भर नहीं करता बल्कि इस बात पर निर्भर है कि वह आर्थिक दृष्टि से ठीक है, उन्नति की तरफ़ ले जा सकने योग्य है, और उससे अधिक से-अधिक जन-समाज का कल्याण होगा।

स्वार्थों का संघर्ष अनिवार्य है। कोई बीच का रास्ता नहीं है। हममें से हरेक को अपना रास्ता चुनना होगा। लेकिन चुनने से पहले हमें उसे जानना होगा, समझना होगा। समाजवाद की भावुकतापूर्ण अपील से काम नहीं चलेगा। सच्ची घटनाओं वा दलीलों और ब्यौरेवार आलोचना के साथ विवेक और युक्तिपूर्ण आग्रह भी होना चाहिए। पश्चिम में तो इस तरह का साहित्य बहुतायत से मौजूद है, लेकिन भारत में उसका भयंकर अभाव है, और बहुत-सी अच्छी-अच्छी किताबों का यहाँ आना रोक दिया गया है। लेकिन विदेशी पुस्तकों का पढ़ना ही काफ़ी नहीं है। अगर भारत में समाजवाद की रचना होनी है, तो वह भारतीय परिस्थितियों के आधार पर ही होगी और इसके लिए उनका बारीकी से अध्ययन होना आवश्यक है। हमें इसके लिए ऐसे विशेषज्ञों की ज़रूरत है, जो गहरे अध्ययन के बाद एक सर्वांगीण योजना तैयार कर सकें। बदक़िस्मती से हमारे विशेषज्ञ अधिकांश में सरकारी नौकरियों में या अर्द्ध-सरकारी यूनिवर्सिटियों में फँसे हुए हैं, और वे इस दशा में आगे बढ़ने का साहस नहीं कर सकते।

समाज की स्थापना करने के लिए केवल बौद्धिक भूमिका ही काफ़ी नहीं है; दूसरी शक्तियाँ भी आवश्यक हैं। लेकिन मैं यह ज़रूर महसूस करता हूँ कि बिना उस भूमिका के हम किसी हालत में भी विषय का मर्म नहीं समझ सकते, और न कोई ज़ोरदार आन्दोलन ही पैदा कर सकते हैं। इस वक़्त तो खेती की समस्या हिन्दुस्तान की सबसे अधिक महत्त्व की समस्या है, और शायद भविष्य में भी ऐसी ही रहे। किन्तु औद्योगिक समस्या भी कम महत्त्व की नहीं है और वह बढ़ती ही जा रही है। हमारा लक्ष्य क्या है—कृषि-प्रधान राष्ट्र या उद्योग-प्रधान राष्ट्र? अवश्य ही, मुख्यतः तो हमें कृषि-प्रधान ही रहना होगा लेकिन उद्योग की ओर भी आगे बढ़ा जा सकता है, और मैं समझता हूं, अवश्य बढ़ना चाहिए।

हमारे उद्योग-धन्धों के मालिक लोग अपने विचारों में आश्चर्यजनक रूप से पिछड़े हुए हैं; वे आधुनिक दुनिया के 'अप-टू-डेट' पूंजीपति भी नहीं हैं। साधारण लोग इतने ग़रीब हैं कि वे उनको पक्का ग्राहक नहीं मानते, और मज़दूरी की बढ़ती और काम के घण्टों की कमी करने की किसी भी मांग का वे ज़बरदस्त विरोध करते हैं। हाल में कपड़े की मिलों में काम का समय

दस घण्टे से घटाकर नौ घण्टे कर दिया गया है। इस पर अहमदाबाद के मिल-मालिकों ने मज़दूरों की—फुटकरिये मज़दूरों तक की मज़दूरी घटा दी है। इस तरह काम के घण्टों की कमी का अर्थ हुआ बेचारे मज़दूर की आमदनी की कमी और उसका जीवन का और भी नीचा रहन-सहन। लेकिन औद्योगिक-एकीकरण[1] (रेशनलाइज़ेशन), मज़दूर की उचित मज़दूरी बढ़ाये बिना ही, उस पर काम का भार और उसकी थकान बढ़ाता हुआ, तेज़ी से बढ़ता जा रहा है। सब उद्योगवादियों का दृष्टिकोण उन्नीसवीं सदी के शुरू ज़माने का-सा है। जब मौक़ा आता है, वे अत्यधिक लाभ उठाते हैं, और मज़दूर वैसे-का-वैसा बना रहता है। लेकिन अगर मन्दी आ जाती है, तो मालिक लोग यह शिकायत करने लगते हैं कि मज़दूरी घटाये बिना काम नहीं चल सकता। उनको सरकार की तो मदद है ही, हमारे मध्यम-श्रेणी के राजनीतिज्ञों की सहानुभूति भी आमतौर पर उन्हीं की ओर है। इतने पर भी अहमदाबाद में सूती मिलों के मज़दूरों की हालत बम्बई या दूसरी जगह की बनिस्बत कहीं अधिक अच्छी है। आमतौर पर सभी सूती मिल मज़दूरों की हालत बंगाल के जूट मिलों और कोयले की खानों के मज़दूरों से अच्छी है। छोटे-छोटे, असंगठित उद्योग-धन्धों के मज़दूरों की स्थिति औद्योगिक मज़दूरों में सबसे नीची है। कपड़े और जूट के करोड़पति मालिकों के गगनचुम्बी प्रासादों और विलासी जीवन और वैभव की अगर अर्द्ध-नंगे मज़दूरों के रहने की काल-कोठरियों से तुलना की जाय तो उससे गहरी शिक्षा मिल सकती है। लेकिन हम इस अन्तर को स्वाभाविक मान लेते हैं और उससे किसी प्रकार विचलित या प्रभावित हुए बिना उसको टाल देते हैं।

हिन्दुस्तान के मज़दूर वर्ग की हालत बहुत ख़राब है, लेकिन आर्थिक दृष्टि से किसान-समुदाय की हालत से कहीं अच्छी है। किसान-समुदाय को एक लाभ ज़रूर है, वह यह कि वह खुली हवा में रहता है और गन्दी बस्तियों के पतित जीवन से बच जाता है। लेकिन उसकी हालत इतनी गिर गयी है कि, वह अक्सर अपने स्वच्छ वायुमण्डल वाले गाँव को भी, गांधीजी के शब्दों में, गोबर का ढेर बना डालता है। उसमें सहयोग से या मिलकर सामाजिक हित का काम करने की भावना ही नहीं होती। इसके लिए उसकी निन्दा करना आसान है, लेकिन वह बेचारा करे भी तो क्या, जबकि जीवन ख़ुद ही इसके लिए एक अत्यन्त कटु और लगातार व्यक्तिगत संघर्ष का विषय बन गया है और हरएक आदमी उसपर प्रहार करने के लिए हाथ उठाये खड़ा है? किस तरह वह अपनी ज़िन्दगी बिता रहा है, यही बड़े भारी अचम्भे की बात है।

---

[1] उत्पादकों, मजदूरों आदि के सहयोग से उद्योग की वह व्यवस्था जिसमें उत्पत्ति और विक्रय का अनुपात कायम रहता है। —अनु०

देखा गया है कि सन् १९२८–२९ में पंजाब के ठेठ किसान की औसत आमदनी नौ आना थी। लेकिन १९३०–३१ में वह गिरकर तीन पैसे प्रति व्यक्ति हो गयी। पंजाब के किसान युक्तप्रान्त, बिहार और बंगाल के किसानों की अपेक्षा कहीं अधिक ख़ुशहाल माने जाते हैं। युक्तप्रान्त के कुछ पूर्वी ज़िलों (गोरखपुर वग़ैरा) में, मन्दी आने से पहले समृद्धि के दिनों में मज़दूरी दो आने रोज़ थी। इस दरिद्रावस्था के प्रति मनुष्यों की दयाभावना, मानव-प्रेम या ग्रामोन्नति के स्थानीय प्रयत्नों द्वारा इस दयनीय हालत को उन्नत करने की बातें करना बेचारे किसान और उसकी बेबसी का मज़ाक़ उड़ाना है।

हम इस दलदल से किस तरह निकल सकते हैं? ऐसी गिरी हुई हालत से जन-समूह को उठाना कठिन तो ज़रूर है; लेकिन उसका कुछ उपाय तो सोचना ही होगा। लेकिन असली दिक़्क़त तो उस स्वार्थी समुदाय की तरफ़ से आती है, जो परिवर्तन के ख़िलाफ़ हैं, और साम्राज्यवादी सत्ता की अधीनता में रहते हुए परिवर्तन का हो सकना अनहोना-सा मालूम होता है। अगले वर्षों में भारत क्या रुख़ अख़्तियार करेगा? समाजवाद और फ़ासिज़्म इस युग की प्रधान वृत्तियाँ मालूम होती हैं, और मध्यमवर्ग तथा ढिलमिल-यक़ीन समुदाय ग़ायब होते जा रहे हैं। सर मालकम हेली ने भविष्यवाणी की थी कि "हिन्दुस्तान राष्ट्रीय-समाजवाद को ग्रहण करेगा जो एक प्रकार का फ़ासिज़्म ही है।" निकट भविष्य के लिहाज़ से तो शायद उनका कहना ठीक ही है। देश के नवयुवक और युवतियों में फ़ासिस्ट भावना साफ़ ज़ाहिर है—ख़ासकर बंगाल में और किसी हद तक दूसरे प्रान्तों में भी, और कांग्रेस में भी उसकी झलक आने लगी है। फ़ासिज़्म का सम्बन्ध उग्र रूप की हिंसा से होने के कारण कांग्रेस के अहिंसा-व्रती बड़े-बूढ़े नेता स्वभावतः ही उससे डरते हैं। लेकिन फ़ासिज़्म का, कार्पोरेट स्टेट का, वह कथित तात्त्विक आधार, कि व्यक्तिगत सम्पत्ति क़ायम रहे और स्थापित स्वार्थों का लोप न होकर राज्य का उनपर नियन्त्रण रहे, शायद उन्हें पसन्द आ जायगा। शुरू में ही देखने पर यह तो बड़ा सुन्दर ढंग मालूम होता है, जिससे कि पुराना तरीक़ा बना भी रहे और नया भी मालूम हो। लड्डू खा भी लो और उसे हाथ में लिये भी रखो, ये दोनों बातें एकसाथ मुमकिन भी हैं या नहीं, यह बात दूसरी है।

फ़ासिज़्म को अगर सचमुच प्रोत्साहन मिला तो वह मिलेगा मध्यम-श्रेणी के नवयुवकों से। वस्तुतः इस समय हिन्दुस्तान में जो क्रान्तिकारी हैं वह मध्यम-श्रेणी के ही हैं, मज़दूर या किसान-वर्ग के उतने नहीं; हालाँकि कल-कारख़ानों के मज़दूर-वर्ग में इसकी सम्भावना अधिक है। यह राष्ट्रवादी मध्य-श्रेणी फ़ासिस्ट विचारों के प्रचार के लिए उपयुक्त क्षेत्र है। किन्तु जब तक विदेशी सरकार बनी हुई है, यूरप के ढंग का फ़ासिज़्म यहाँ नहीं चल सकेगा। भारतीय फ़ासिज़्म भारतीय स्वतन्त्रता का अवश्य ही हामी होगा, और इसलिए

ब्रिटिश साम्राज्यवादिता से वह अपने को मिला न सकेगा। इसे जन-साधारण से सहायता लेनी पड़ेगी। यदि ब्रिटिश-सत्ता सर्वथा उठ जाय तो फ़ासिज़्म बड़ी तेज़ी से बढ़ेगा, क्योंकि मध्यमश्रेणी के उच्चवर्ग तथा स्थापित स्वार्थों से इसे सहायता अवश्य मिलेगी।

लेकिन ब्रिटिश सत्ता के जल्दी उठ जाने की सम्भावना नहीं है, और इस बीच सरकार के उग्र दमन के बाद भी समाजवादी और कम्युनिस्ट विचारों का ज़ोरों से प्रचार हो रहा है। भारत में कम्युनिस्ट पार्टी (साम्यवादी संस्था) ग़ैरक़ानूनी क़रार दे दी गयी है, और साम्यवादी शब्द का इतना लचीला अर्थ लगाया जाता है कि उससे सहानुभूति रखने वाले और बढ़े-चढ़े प्रोग्रामवाले मज़दूर-संघों तक को शामिल कर लिया जाता है।

फ़ासिज़्म और साम्यवाद, इन दोनों में से मेरी सहानुभूति बिलकुल साम्य-वाद की ओर है। इस पुस्तक के पढ़ने से मालूम हो जायगा कि मैं साम्यवादी होने से बहुत दूर हूँ। मेरे संस्कार शायद एक हद तक अब भी उन्नीसवीं सदी के हैं और मानववाद[1] की उदार-परम्परा का मुझपर इतना ज़्यादा प्रभाव पड़ा है कि मैं उससे बिलकुल बचकर निकल नहीं सकता। यह मध्यमवर्गीय संस्कार मेरे साथ लगे रहते हैं और इसलिए स्वभाव से ही बहुत-से साम्यवादी मित्र मुझसे चिढ़े रहते हैं। कट्टरता, कार्ल मार्क्स के लेख या और किसी दूसरी पुस्तक को ईश्वरीय वाक्य समझना, जिनपर शंका न की जा सके, सैनिक अन्धानुकरण और अपने मत के विरोधियों के ख़िलाफ़ जिहाद करना, आदि जो आज के साम्यवाद के प्रधान लक्षण-से बन गये हैं, मुझे पसन्द नहीं है।[2]

मूल्यवाद (Theory of Value) या दूसरी किन्हीं बातों में मार्क्स का विवेचन ग़लत हो सकता है, मैं इसका निर्णय करने के लिए उपयुक्त नहीं हूँ। फिर भी मैं समझता हूँ कि समाज-विज्ञान में उसकी एक असाधारण और अत्यन्त गहन गति थी और प्रत्यक्ष में इसका कारण थी वह वैज्ञानिक शैली जो उसने अख़्तियार की थी। अगर इस शैली के अनुसार पूर्व इतिहास या वर्तमान

---

[1] मानववाद (Humanism) वह विचारधारा अथवा कार्य-पद्धति है जिसमें अधिक दैवी अथवा धार्मिक दृष्टिकोण से देखने की अपेक्षा मानव हित को अपना मुख्य दृष्टिकोण माना जाता है, अर्थात् इस मत के अनुसार मनुष्य-प्राणी के हिताहित पर ही सब वस्तुओं की उपयोगिता-अनुपयोगिता नापी जानी चाहिए। —अनु०

[2] रूस में बहुत कुछ जो हुआ है, विशेषरीति से साधारण समय में हिंसा का जो अत्यधिक व्यवहार हुआ है, वह मुझे नापसंद है।

फिर भी साम्यवादी विचारों की तरफ़ मेरी प्रवृत्ति अधिकाधिक होती जा रही है।

घटनाओं का अध्ययन किया जाय तो अन्य किसी भी प्राप्त शैली की अपेक्षा वह जल्दी हो सकेगा, और यही कारण है कि आधुनिक जगत् में होनेवाले परिवर्तनों का जो आलोचनात्मक और शिक्षाप्रद विवेचन हो रहा है, वह मार्क्स-मतानुयायी लेखकों की ओर से ही हो रहा है। यह कहना आसान है कि मार्क्स ने, मध्यमवर्ग में होनेवाली क्रान्तिकारी भावनाओं की जाग्रति, जो आज इतनी प्रत्यक्ष है, और ऐसी ही कुछ दूसरी प्रवृत्तियों की उपेक्षा की अथवा उनका महत्त्व आँका है। लेकिन मार्क्सवाद की सबसे बड़ी विशेषता जो मुझे मालूम होती है, वह है उसमें कट्टरता का अभाव होना, निश्चित दृष्टिकोण पर आग्रह रखना और उसकी क्रियाशीलता। यह दृष्टिकोण हमें अपने समय के समाज-संगठन को समझने में सहायता कर सकता है और काम करने और बाधाओं से बचने का उपाय बता सकता है।

लेकिन यह कार्य-नीति स्थायी अथवा अपरिवर्तनशील नहीं; बल्कि उसे स्थिति के अनुकूल बनाना होता है। कम-से-कम लेनिन की यही राय थी और उसने बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार काम करके बुद्धिमत्तापूर्वक इसे साबित भी कर दिया। वह हमसे कहता है कि 'लड़ाई की किसी अमुक क्षण की वास्तविक परिस्थिति क्या है उस पर बारीकी से और चौकसी से विचार किये बिना, युद्ध के साधनों की योग्यता के बारे में 'हाँ' या 'ना' कह देना मार्क्स-पद्धति का बिलकुल उल्लंघन करना है।'' उसने आगे कहा है—''दुनिया में कोई भी पूर्ण नहीं है, परिस्थितियों से हमें शिक्षा लेनी होगी।''

इस विस्तृत और व्यापक दृष्टिकोण के कारण ही एक सच्चा समझदार साम्यवादी व्यक्ति, एक हद तक सामाजिक जीवन की अखंडता की भावना जगाता है। राजनीति उसके लिए तात्कालिक हानि-लाभ का लेखा या अँधेरे में टटोलने की चीज़ नहीं रह जाती। जिन आदर्शों और लक्ष्यों को पूरा करने के लिए वह प्रयत्न करता है, वे उसके परिश्रम और प्रसन्नतापूर्वक किये हुए बलिदान को सार्थक और सफल बनाते हैं। वह समझता है कि वह उस महान् सेना का एक अंग है जो मनुष्य-जाति का भाग्य और उसका भविष्य रचने के लिए आगे बढ़ रही है, और 'इतिहास के साथ क़दम-ब-क़दम चलने' की उसमें बुद्धि है।

शायद अधिकांश कम्युनिस्ट इन सब बातों को नहीं समझते। शायद लेनिन ही ऐसा शख़्स था जो जीवन की इस पूर्ण अखंडता को पूरी तरह समझता था, और इसके परिणामस्वरूप उसके प्रयत्न इतने कारगर हुए। फिर भी कुछ हद तक, हरेक कम्युनिस्ट, जो उसके आन्दोलन के तत्त्व को समझ सका है, इन बातों को जानता है।

बहुत-से कम्युनिस्टों के साथ सब्र से पेश आ सकना बहुत मुश्किल है; उन्होंने दूसरों को चिढ़ा देने का अजीब ढंग अख़्तियार कर लिया है। लेकिन

वे भी बुरी तरह सताये हुए आदमी हैं, और रूस के सोवियट-संघ के बाहर, उन्हें अनगिनती कठिनाइयों का मुक़ाबला करना पड़ता है। मैंने इनके महान् साहस और बलिदान की शक्ति को हमेशा सराहा है। करोड़ों अभागों की तरह वे भी अनेक प्रकार से बहुत मुसीबतें उठाते हैं, लेकिन किसी क्रूर और सर्व-शक्ति-सम्पन्न भाग्य में अन्ध-श्रद्धा रखकर नहीं। मर्दों की तरह वे मुसीबतों का सामना करते हैं. और उनके इस मुसीबत बरदाश्त करने में एक करुण गौरव रहता है।

रूस के समाजवादी प्रयोगों की सफलता-असफलता का मार्क्स के सिद्धान्तों पर कोई ज़ाहिरा असर नहीं पड़ता। यह हो सकता है, हालाँकि इसकी अधिक सम्भावना नहीं है, कि प्रतिकूल परिस्थितियों या राष्ट्र-शक्तियों का इकट्ठा हो जाना उन प्रयोगों को तहस-नहस कर डाले। लेकिन उस महान् सामाजिक उथल-पुथल का महत्त्व फिर भी बना ही रहेगा। वहाँ अधिकतर जो-कुछ भी हुआ, उसके प्रति मेरी स्वाभाविक अरुचि होते हुए भी, मैं यह समझता हूं कि वह संसार के लिए ज़्यादा-से-ज़्यादा आशा का सन्देश देता है। मुझे रूस का पूरा ज्ञान नहीं है, और न मैं अपने आपको उसके कार्यों का उपयुक्त निर्णायक ही समझता हूँ। मुझे अन्देशा तो यह है कि अत्यधिक हिंसा और दमन का वातावरण अपने पीछे कहीं ऐसी भयंकर लीक न छोड़ जाय, जिससे उनका पीछा छुड़ाना मुश्किल हो जाय। लेकिन सबसे बड़ी बात तो रूस के वर्तमान भाग्य-विधाताओं के पक्ष में कही जा सकती है, वह यह है कि वे लोग अपनी भूलों से शिक्षा ग्रहण करने में नहीं हिचकते। वे अपना क़दम पीछे ले सकते हैं, और फिर नये सिरे से निर्माण शुरू कर सकते हैं। अपना आदर्श वे हमेशा अपने सामने रखते हैं। कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल—अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी संघ—द्वारा दूसरे देशों में चलायी गयी उनकी प्रवृत्तियाँ नितान्त असफल रही हैं, और अब तो वे घटते-घटते लगभग लोप-सी हो गयी हैं।

हिन्दुस्तान में साम्यवाद और समाजवाद तो अभी दूर की बात है, बशर्ते बाहर की घटनाएं ही उसे क़दम आगे बढ़ाने को विवश न कर दें। हमें अपने यहाँ कम्युनिज़्म का सामना नहीं करना है, बल्कि उससे बढ़कर सम्प्रदायवाद का करना है। साम्प्रदायिकता की दृष्टि से हिन्दुस्तान एक गहरे अन्धकार में है। पुरुषार्थी लोग निकम्मी बातों, साज़िशों और हथकण्डों में यहाँ अपनी शक्ति बरबाद कर रहे हैं और एक-दूसरे को मात देने की कोशिश कर रहे हैं। उनमें विरले ही ऐसे होंगे जो दुनिया को ऊँचा उठाने और अधिक उज्ज्वल बनाने के प्रयत्न में दिलचस्पी रखते हों। लेकिन शायद यह तो एक अस्थायी हालत है, जो कि शीघ्र ही मिट जायगी।

कम-से-कम कांग्रेस इस साम्प्रदायिक अन्धकार से ज़्यादा दूर ही है, लेकिन उसका दृष्टिकोण निम्न बुर्ज़ुआ-जैसा है, और इसके, तथा दूसरी समस्याओं के

लिए जो उपाय यह सोचती है, वे भी निम्न बुर्जुआई ढंग के-से ही हैं। मगर इस ढंग से उसका सफल हो सकना मुमकिन नहीं मालूम होता। वह आज इस निम्न मध्यम-वर्ग की प्रतिनिधि है, क्योंकि इस समय इसी की आवाज़ बुलन्द है और यही सबसे अधिक क्रान्तिकारी है। लेकिन फिर भी वह इतनी ताक़तवर नहीं है, जितनी कि वह दिखाई देती है। वह दोनों ओर—एक सबल और सुरक्षित और दूसरी अब भी कमज़ोर लेकिन बढ़ती हुई—दो शक्तियों से दबाई जा रही है। इस समय उसकी हस्ती ख़तरे में है; भविष्य में उसका क्या होगा, यह कह सकना कठिन है। जबतक वह अपने महान् उद्देश, राष्ट्र की आज़ादी, को हासिल नहीं कर लेता, तबतक वह उन सुरक्षित वर्गों की ओर जा नहीं सकती। लेकिन उसके आज़ादी प्राप्त करने में सफल होने से पहले, मुमकिन है कि, दूसरी शक्तियाँ ज़ोर पकड़ लें और उसे अपनी ओर खींचें या धीरे-धीरे उसकी जगह ले लें। लेकिन, सम्भव यही मालूम होता है कि जबतक राष्ट्रीय स्वतन्त्रता बहुत-कुछ अंशों में प्राप्त नहीं हो जाती, तबतक कांग्रेस एक मुख्य शक्ति बनी रहेगी।

कोई भी हिंसाजनक प्रवृत्ति अनावश्यक, हानिकर और शक्ति की बरबादी मालूम होती है। मेरा ख़याल है कि असफल और इक्की-दुक्की हिंसा के कुछ उदाहरणों के होते हुए भी हिन्दुस्तान ने आमतौर पर इस प्रवृत्ति की निरर्थकता को समझ लिया है। वह रास्ता हमें हिंसा और प्रतिहिंसा की निराश-भूल-भुलैया में डालने के सिवा, जिससे निकल सकना मुश्किल होगा, और कहीं नहीं ले जा सकता।

हमसे अक्सर यह कहा जाता है कि हमको आपस में मिल जाना चाहिए और सबको 'संयुक्त विरोध' करना चाहिए। श्रीमती सरोजिनी नायडू अपनी सारी काव्यमयी भावुकता के साथ इसका ज़ोरों से प्रचार करती हैं। वह कवियित्री हैं, इसलिए प्रेम और एकता के महत्त्व पर ज़ोर देने का उन्हें अधिकार है। इसमें शक नहीं कि 'संयुक्त विरोध' हमेशा ही वाञ्छनीय वस्तु है, बशर्ते कि वह विरोध हो। इस वाक्य की छानबीन की जाय तो उससे इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि जो कुछ चाहा जाता है वह है भिन्न-भिन्न वर्गों के चोटी के व्यक्तियों में पारस्परिक सन्धि या समझौता। ऐसे समझौते का लाज़िमी नतीजा यह होगा कि अत्यन्त शंकाशील और नरम लोग लक्ष्य का निर्णय और पथ-प्रदर्शन करेंगे। जैसा कि सबको पता है, उनमें से कुछ लोग हर तरह के आन्दोलन को नापसन्द करते हैं, इसलिए नतीजा होगा 'संयुक्त स्थिरता' अर्थात् सब हलचलों का रुक जाना; 'संयुक्त विरोध' के बजाय 'संयुक्त पीठ दिखाने' का एक व्यापक प्रदर्शन होगा।

अवश्य ही यह कहना बेवक़ूफ़ी होगी कि हम लोग दूसरों के साथ सहयोग या समझौता न करेंगे। जीवन और राजनीति दोनों ही इतने गूढ़ हैं कि उनका

सरलता से समझा जा सकना हमेशा मुश्किल है। लेनिन-जैसे कट्टर आदमी तक ने कहा था कि "बिना समझौता किये या मार्ग से हटे आगे बढ़ना मानसिक छिछोरपन है, और क्रान्तिकारी कार्य-पद्धति नहीं है।" समझौते लाज़िमी हैं, पर हमें उनके सम्बन्ध में बहुत ज़्यादा परेशान होने की ज़रूरत नहीं है। हम समझौता करें या उससे इन्कार कर दें, यह एक गौण बात है। असली बात तो यह है कि मुख्य वस्तुओं को हमेशा पहला स्थान मिलना चाहिए, और गौण वस्तुएँ उनका स्थान कभी न लेने पावें। हम अगर सिद्धान्त और ध्येय पर दृढ़ हैं तो अस्थायी समझौते कुछ नुक़सान नहीं पहुँचा सकते। लेकिन ख़तरा यही है कि कहीं हम अपने कमज़ोर भाइयों को अप्रसन्नता के डर से अपने सिद्धान्तों और ध्येयों से पीछे न हट जायँ। अप्रसन्न करने की अपेक्षा गुमराह करना कहीं अधिक हानिकारक है।

मैं सामयिक घटनाओं के सम्बन्ध में सरसरी तौर पर और कुछ हद तक तात्विक दृष्टि से लिख रहा हूँ और एक दूर बैठे हुए दर्शक की तरह तटस्थ रहने की कोशिश करता हूँ। आम तौर पर यह ख़याल किया जाता है कि काम करने की पुकार होने पर मैं तमाशबीन नहीं बना रह सकता। उलटे मुझपर यह दोषारोपण किया गया है कि बिना काफ़ी उकसाये गये ही बिना विचारे मैं आगे धँस पड़ता हूँ। मैं अब क्या करूँगा, और अपने देशबन्धुओं को क्या करने की सलाह दूँगा, यह सब निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। शायद सार्वजनिक कामों में लगे हुए व्यक्ति की स्वाभाविक सतर्क वृत्ति मुझे समय से पहले ही किसी बात से वचनबद्ध हो जाने से रोक देती है। लेकिन अगर मैं सचाई के साथ कहूँ तो सचमुच मैं कुछ नहीं जानता, न जानने की कोशिश ही करता हूँ। जब मैं काम कर नहीं सकता, तब परेशान क्यों होऊँ? कुछ बहुत हद तक तो ज़रूर ही परेशान होता हूँ। लेकिन इसमें निरुपाय हूं। कम-से-कम जब तक मैं जेल में हूँ, तब तक तो, मैं तात्कालिक कर्म के सम्बन्ध में निर्णय करने के चक्कर में फँसने से बचने की कोशिश करता हूँ।

जेल में रहते हुए सब हलचलों से दूर रहना पड़ता है। यहाँ मनुष्य को घटनाओं के वश होकर रहना पड़ता है, कार्यों का कर्त्ता बनकर नहीं; भविष्य में कोई घटना घटने की चिर प्रतीक्षा में रहना पड़ता है। मैं हिन्दुस्तान और सारी दुनिया की राजनैतिक और सामाजिक समस्याओं पर लिख रहा हूँ, लेकिन जेल की अपनी इस छोटी-सी दुनिया को, जोकि एक अरसे से मेरा घर बन गयी है, इस सबसे क्या नाता? क़ैदियों की एक ही बात में ख़ास बड़ी दिलचस्पी रहती है, और वह है उनकी अपनी रिहाई की तारीख़।

नैनी-जेल में और यहाँ अलमोड़ा में भी बहुत-से क़ैदी मेरे पास 'जुगली' के बारे में पूछने को आया करते थे। पहले तो मैं समझ ही नहीं सका कि यह 'जुगली' क्या चीज़ है; लेकिन बाद को मुझे सूझ पड़ा कि वह जुबिली है। वे

बादशाह जार्ज की सिलवर जुबिली मनाई जाने की अफ़वाहों की ओर निर्देश करते थे, लेकिन उसे समझते न थे। पिछले उदाहरणों के कारण उनके लिए इस शब्द का एक ही अर्थ था—कुछ लोगों की जेल से मुक्ति या सज़ा में काफ़ी कमी। इसलिए हरेक क़ैदी, और ख़ास कर लम्बी सज़ावाले क़ैदी, आगे आनेवाली 'जुगली' के बारे में बड़े उत्सुक थे। उनके लिए शासन-विधान, पार्लमेण्ट के क़ानून और समाजवाद और कम्युनिज़्म की बनिस्बत यह 'जुगली' कहीं ज़्यादा महत्त्व की चीज़ थी।

उपसंहार

हमें कर्म करने का आदेश है; किन्तु यह हमारे हाथ की बात नहीं कि हम अपने कार्यों को सफल बना सकें। —तालमूद

मैं अपनी कहानी के अन्त तक पहुँच गया हूँ। मेरी जीवन-यात्रा का यह अहंतापूर्ण वृत्तान्त जैसा कुछ भी बन पड़ा है, अलमोड़ा ज़िला जेल में आज दिन—१४ फ़रवरी १९३५—तक का है। तीन महीने पहले, आज के दिन, मैंने इस जेल में अपनी पैंतालीसवीं वर्षगाँठ मनायी थी, और मैं ख़याल करता हूँ कि अभी मुझे और भी कई बरस जीना है। कभी-कभी उम्र और थकान का ख़याल मनपर छा जाता है; लेकिन मैं फिर अपने को उत्साह और चैतन्य से भरपूर अनुभव करने लगता हूँ। मेरा शरीर काफ़ी गठीला है और मेरे मन में आघातों को झेल सकने की क्षमता है, इसलिए मैं समझता हूँ कि मैं अभी काफ़ी अर्से तक ज़िन्दा रहूँगा, बशर्ते कि कोई अघटित घटना न घट जाय। लेकिन इसके पहले कि भविष्य के सम्बन्ध में कुछ लिखा जाय उसका उपभोग कर लिया जाना ज़रूरी है।

मेरी ये जीवन-घटनाएं शायद बहुत अधिक रोमांचकारी नहीं हैं; कई बरसों का जेल-निवास शायद साहसिक कार्य नहीं कहा जा सकता। इन घटनाओं में कोई अपूर्वता भी नहीं है; क्योंकि इन बरसों के सुख-दुखों में हज़ारों देश-भाइयों और बहनों का हिस्सा है। इसलिए जुदी-जुदी भावनाओं, और हर्ष-विषाद, प्रचण्ड हलचलों और बरबस एकान्तवास का यह वर्णन, हम सबका संयुक्त वर्णन है। मैं जन-समूह का ही एक व्यक्ति रहा हूँ, उसके साथ काम करता रहा हूँ, कभी उसका नेतृत्व करके उसे आगे बढ़ाता रहा हूँ, कभी उससे प्रभावित होता रहा हूँ; और फिर भी अन्य दूसरे व्यक्तियों की तरह एक-दूसरे से अलग, जन-समूह के बीच में अपना पृथक् जीवन व्यतीत करता रहा हूँ। अनेक वार हमने रूपक बाँधा है, और नाटक किया है, लेकिन हमने जो कुछ किया उसमें बहुत सत्य-वस्तु तथा तीव्र निष्ठा रही है, और इसने हमें अपनी क्षुद्र अहंता से ऊँचा उठा दिया, हमें अधिक बल दिया और इतना महत्त्व दे दिया जो अन्यथा हमें मिल नहीं सकता था। कभी-कभी हमें जीवन की उस पूर्णता को अनुभव करने का सौभाग्य मिला जो आदर्शों को कार्यरूप में परिणत

करने से होती है। और हमने समझ लिया कि इससे भिन्न कोई भी दूसरा जीवन, जिनमें इन आदर्शों का परित्याग करके, पशुबल के सामने दीनता ग्रहण करनी होती, व्यर्थ, सन्तोषहीन तथा अन्तर्वेदना से भरा होता।

इन वर्षों में मुझे बहुत से लाभों के साथ-साथ एक अनमोल लाभ यह भी हुआ है। मैं जीवन को अधिकाधिक एक रसमय महत्त्व का प्रयोग समझने लगा हूँ। इसमें बहुत-कुछ सीखने को मिलता है, बहुत-कुछ करने को रहता है। क्रमोन्नति की भावना मुझमें हमेशा रही है, और अब भी मुझमें है। इससे मुझे अपनी विविध प्रवृत्तियों में पुस्तकों के पठन-पाठन में रस मिलता है और जीवन जीने योग्य बनता है।

अपनी इस कहानी में मैंने हरेक घटना के समय अपने मनोभावों और विचारों का चित्र खींचने का, यथा-सम्भव उस क्षण की अपनी अनुभूतियों के व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। भूतकाल की मनोदशा स्मृति से जागृत करना कठिन है, और बाद में होनेवाली घटनाओं को भुलाना सरल नहीं है। इस तरह मेरे आरम्भिक दिनों के वर्णन पर पिछले विचारों का प्रभाव ज़रूर पड़ा होगा, लेकिन मेरा उद्देश, ख़ासकर अपने ही लाभ के लिए, अपने मानसिक विकास को अंकित करना था। मैंने जो कुछ लिखा है, वह मैं कभी कैसा था, इस बात का शायद इतना वर्णन नहीं है, जितना इस बात का कि कभी-कभी में कैसा होना चाहता था, या कैसा होने की कल्पना करता था।

कुछ महीनों पहले सर सी० पी० रामस्वामी ऐयर ने मेरे विषय में एक सार्वजनिक भाषण में कहा था कि मैं जनता की मनोदशाओं का प्रतिनिधि नहीं हूँ, पर बहुत ख़तरनाक व्यक्ति हूँ, कारण मैंने भारी त्याग किये हैं, मैं आदर्शवादी हूँ, मुझमें दृढ़ आत्मविश्वास है; इस प्रकार, उनके विचारानुसार मुझमें 'आत्म-सम्मोहन' हो गया है। 'आत्म-सम्मोहन' से ग्रस्त व्यक्ति शायद ही अपने सम्बन्ध में निर्णय कर सकता है, और किसी भी हालत में मैं इस व्यक्तिगत मामले में सर रामस्वामी के साथ बहस-मुबाहिसे में न पड़ना चाहूँगा। बहुत बरसों से हम एक-दूसरे से मिले नहीं हैं लेकिन एक समय था जबकि हम दोनों होमरूल लीग के संयुक्त मन्त्री थे। उसके बाद तो बहुत घटनाएं घट चुकी हैं और रामस्वामी चक्करदार ज़ीनों को पार करते हुए गगनचुम्बी मीनार पर चढ़ते-चढ़ते चोटी तक जा पहुंचे, जबकि मैं पृथ्वी पर ही, पार्थिव प्राणी बना हुआ हूँ। सिवा इसके की हम दोनों एक राष्ट्रवासी हैं अब उनमें और मुझमें कोई समानता नहीं रही है। वह अब पिछले कुछ बरसों से भारत में ब्रिटिश-राज्य के ज़बरदस्त हामी हैं, भारत और उससे बाहर दूसरी जगह डिक्टेटरशिप के समर्थक हैं और ख़ुद भी एक स्वेच्छाचारी देशी रियासत के उज्ज्वल रत्न बने हुए हैं। मैं समझता हूँ, हम अधिकांश बातों में मतभेद रखते हैं; लेकिन एक साधारण-से मामले में हम

सहमत हो सकते हैं। उनका यह कहना बिलकुल सच है कि मैं जनता का प्रतिनिधि नहीं हूँ। इस विषय में मुझे कोई भ्रम नहीं है।

निस्सन्देह, कभी-कभी मैं यह सोचने लगता हूँ कि दरअसल क्या मैं किसी का भी प्रतिनिधि हो सकता हूँ, और मैं इसी नतीजे पर पहुँचता हूँ कि, नहीं मैं नहीं हो सकता। यह बात दूसरी है कि बहुत-से लोग मेरे प्रति कृपा और मैत्री-पूर्ण भाव रखते हैं। मैं पूर्व और पश्चिम का एक अजीब-सा सम्मिश्रण बन गया हूँ, हर जगह बे-मौज़ू, कहीं भी अपने को अपने घर में होने-जैसा अनुभव नहीं करता। शायद मेरे विचार और मेरी जीवन-दृष्टि पूर्वी की अपेक्षा पश्चिमी अधिक है; लेकिन भारतमाता अनेक रूपों में अपने अन्य बालकों की भाँति, मेरे हृदय में भी विराजमान है; और अन्तर के किसी अनजान कोने में, कोई सौ (या-संख्या कुछ भी हो) पीढ़ियों के ब्राह्मणत्व के संस्कार छिपे हुए हैं। मैं अपने पिछले संस्कार और नूतन अभिज्ञान से मुक्त हो नहीं सकता। यह दोनों मेरे अंग हो गये हैं, और जहाँ वे मुझे पूर्व और पश्चिम दोनों से मिलने में सहायता करते हैं; वहाँ साथ ही न केवल सार्वजनिक जीवन में, बल्कि समग्र जीवन में एक मानसिक एकाकीपन का भाव पैदा करते हैं। पश्चिम में मैं विदेशी हूँ—अजनबी हूँ। मैं उसका हो नहीं सकता। लेकिन अपने देश में भी मुझे कभी-कभी ऐसा लगता है मानो मैं देश-निर्वासित हूँ।

सुदूरवर्ती पर्वत सुगम्य और उसपर चढ़ना सरल मालूम होता है; उसका शिखर आवाहन करता दिखायी देता है; लेकिन ज्यों-ज्यों हम उसके नज़दीक पहुँचते हैं, कठिनाइयाँ दिखाई देने लगती हैं; जैसे-जैसे ऊँचे चढ़ते जाते हैं, चढ़ाई अधिकाधिक मालूम होने लगती है और शिखर बादलों में छिपता दिखाई पड़ने लगता है। फिर भी चढ़ाई के प्रयत्न का एक अनोखा मूल्य रहता है और उसमें एक विचित्र आनन्द और एक विचित्र सन्तोष मिलता है। शायद जीवन का मूल्य पुरुषार्थ में है, फल में नहीं। अक्सर यह जानना मुश्किल होता है कि सही रास्ता कौन-सा है? कभी-कभी यह जानना ज़्यादा आसान होता है कि कौन-सा रास्ता सही नहीं है, और उससे बचे रहना भी श्रेयस्कर होता है। अत्यन्त नम्रता के साथ मैं महान् सुकरात के अन्तिम शब्दों का उल्लेख करना पसन्द करूँगा। उसने कहा था—"मैं नहीं जानता कि मृत्यु क्या चीज़ है—वह कोई अच्छी चीज़ हो सकती है, और मुझे उसका कोई भय नहीं है। लेकिन मैं यह जानता हूँ कि मनुष्य का अपने भूतकर्मों से भागना बुरा है; इसलिए जिसके बारे में मैं जानता हूं कि वह ख़राब है उसकी अपेक्षा जो अच्छा हो सकता है वह काम करना मैं पसन्द करता हूँ।"

बरसों मैंने जेल में बिता दिये। अकेले बैठे हुए, अपने विचारों में डूबे हुए, कितनी ऋतुओं को मैंने एक दूसरे के पीछे आते-जाते और अन्त में विस्मृति के गर्भ में लीन होते देखा है! कितने चन्द्रमाओं को मैंने पूर्ण विकसित

और क्षीण होते देखा है और कितने झिल-मिल करते तारामण्डल को अबाध, अनवरत गति और भव्यता के साथ घूमते देखा है ! मेरे यौवन के कितने बीते दिवसों की यहाँ चिता-भस्म बनी हुई है, और कभी-कभी मैं इन बीते दिवसों की प्रेतात्माओं को उठते हुए, दुःखद स्मृतियों को जगाते हुए, कान के पास आकर यह कहते हुए सुनता हूँ "क्या उसमें कुछ भलाई थी ?" और इसका जवाब देने में मेरे मन में कोई शंका नहीं है। अगर अपने मौजूदा ज्ञान और अनुभव के साथ मुझे अपने जीवन को फिर से दुहराने का मौक़ा मिले, तो इसमें शक नहीं कि मैं अपने व्यक्तिगत जीवन में अनेक फेरफार करने की कोशिश करूँगा; जो-कुछ मैं पहले कर चुका हूँ, उसको कई तरह से सुधारने का प्रयत्न करूँगा, लेकिन सार्वजनिक विषयों में मेरे प्रमुख निर्णय ज्यों-के-त्यों बने रहेंगे। निस्सन्देह, मैं उन्हें बदल नहीं सकता, क्योंकि वे मेरी अपेक्षा कहीं अधिक बलवान हैं, और मेरे ऊपर रहनेवाली एक शक्ति ने मुझे उनकी ओर ढकेला था।

मेरी सज़ा को आज पूरा एक बरस हो गया; सज़ा के दो बरसों में से एक बरस बीत गया है। दूसरा पूरा एक बरस अभी बाक़ी है, क्योंकि इस बार रियायती दिन न कटेंगे, सादी सज़ा में इस तरह दिन नहीं कटते। इतना ही नहीं, पिछली अगस्त में जो ग्यारह दिन मैं बाहर रहा था, वे भी मेरी सजा की अवधि में बढ़ा दिये गए हैं। लेकिन यह साल भी बीत जायगा और मैं जेल से बाहर हो जाऊँगा—मगर इसके बाद ? मैं नहीं जानता, लेकिन मन में ऐसा भाव उठता है कि मेरे जीवन का एक अध्याय समाप्त हो गया है, और दूसरा आरम्भ होगा। वह क्या होगा, इसका मैं स्पष्ट अनुमान नहीं कर सकता। मेरी जीवन-कथा के—'मेरी कहानी' के ये पन्ने अब समाप्त होते हैं।

कुछ और

बीडनवीलर, स्वार्ट्स्वाल्ड

२५ अक्तूबर, १९३५

पिछले मई महीने में मेरी पत्नी भुवाली से यूरप इलाज कराने के लिए गयी। उसके यूरप चले जाने से मेरा मुलाक़ात करने के लिए भुवाली जाना बन्द हो गया। पहाड़ी सड़कों पर मेरा हर पखवाड़े मोटर पर यात्रा करना बन्द हो गया। अब अलमोड़ा-जेल मेरे लिए पहले से भी ज़्यादा सुनसान हो गया।

क्वेटा के भूकम्प की ख़बर मिली, जिसने कुछ समय के लिए दूसरी सब बातें भुला दीं। लेकिन अधिक समय के लिए नहीं, क्योंकि भारत सरकार अपने को या अपने विचित्र तरीक़ों को, हमें भूलने नहीं देती। फ़ौरन ही

मालूम हुआ कि कांग्रेस के सभापति बाबू राजेन्द्रप्रसाद को, जो कि भूकम्प-सहायता का काम हिन्दुस्तान के प्रायः किसी भी अन्य मनुष्य से अधिक जानते हैं, क्वेटा जाने और पीड़ितों की सहायता करने की इजाज़त नहीं दी गई। न गांधीजी या अन्य किसी प्रसिद्ध सार्वजनिक कार्यकर्ता को ही वहाँ जाने दिया। क्वेटा-भूकम्प के बारे में लेख लिखने के कारण कई भारतीय समाचार-पत्रों की जमानतें ज़ब्त कर ली गईं।

जिधर देखिए उधर—सब ओर फ़ौजी मनोवृत्ति, पुलिस-दृष्टिकोण दिखायी देता था—असेम्बली में, सिविल शासन में, सीमान्त पर बम बरसाये जाने में, सबमें इसी का बोलबाला था। ज़्यादातर ऐसा मालूम होता था, मानों हिन्दुस्तान में अँग्रेज़ी सरकार हिन्दुस्तानी जनता के एक बड़े समुदाय से निरन्तर लड़ाई लड़ रही है।

पुलिस एक काम की और आवश्यक शक्ति है, लेकिन वह दुनिया, जो पुलिस के सिपाहियों और उनके डण्डों से भरी हो, शायद रहने के लिए ठीक जगह न होगी। अक्सर यह कहा गया है कि शक्ति का अनियन्त्रित प्रयोग प्रयोग-कर्त्ता को गिरा देता है,और साथ ही जिसके विरुद्ध इसका प्रयोग किया जाता है उसको भी अपमानित तथा पतित कर देता है। इस समय हिन्दुस्तान में ऊँची नौकरियों में ख़ासकर भारतीय सिविल-सर्विस में अधिकारियों के दिन-पर-दिन बढ़ते जानेवाले नैतिक और बौद्धिक पतन के सिवा शायद ही कोई बात मार्के की दिखायी देती हो। ख़ासतौर पर ऊँचे अफ़सरों में सबसे अधिक पतन दिखाई देता है, लेकिन आमतौर पर सभी नौकरियों में यह फैला हुआ है। जब कभी किसी ऊँचे पद पर नये आदमी की नियुक्ति का समय आता है, तब निश्चित रूप से वही आदमी पसन्द किया जाता है, जो इस नयी (अधम) मनोवृत्ति का सबसे अच्छा परिचायक होता है।

गत ४ सितम्बर को एकाएक मैं अलमोड़ा जेल से छोड़ दिया गया, क्योंकि यह समाचार मिला था कि मेरी पत्नी की हालत नाजुक हो गयी है। स्वाट्र्ज़-वाल्ड (जर्मनी) के बोडनवीलर स्थान पर उसका इलाज हो रहा था। मुझसे कहा गया कि मेरी सज़ा मुल्तवी कर दी गयी है, और मैं अपनी रिहाई के साढ़े पाँच महीने पहले छोड़ दिया गया। मैं फ़ौरन हवाई जहाज़ से यूरप को रवाना हुआ।

यूरप इस समय हर तरह से अशान्त है, युद्ध और उपद्रवों की आशंकाएं और आर्थिक संकट के बादल क्षितिज पर हमेशा ही मँडराते रहते हैं; अबीसीनिया पर धावे हो रहे हैं और वहाँकी जनता पर बम-वर्षा की जा रही है। अनेक साम्राज्यवादी सत्ताएं आपस में झगड़ रही हैं और एक-दूसरे के लिए ख़तरनाक बनी हुई हैं, और अपने अधीन जनता पर निर्दय अत्याचार करनेवाला, उसपर बम बरसानेवाला इंग्लैण्ड, साम्राज्यवादी सत्ताओं का सिरमौर

इंग्लैण्ड, शान्ति और राष्ट्रसंघ की दुहाइयाँ दे रहा है। लेकिन यहाँ इस 'ब्लैक फ़ॉरेस्ट' में शान्ति और निस्तब्धता का राज्य है, यहाँतक कि जर्मनी का प्रसिद्ध चिह्न 'स्वस्तिक' भी नज़र नहीं आता। मैं देख रहा हूँ कि उपत्यका से कोहरा उठकर फ्रांस की सुदूर सीमा को ढँक रहा है और दृश्य पर पर्दा डाल रहा है; और मैं हैरत में हूँ कि उस पार क्या है?

पांच साल के बाद

आज से साढ़े पाँच बरस पहले अलमोड़े के ज़िला जेल की अपनी कोठरी में बैठे-बैठे मैंने 'मेरी कहानी' की आख़िरी सतरें लिखी थीं। उसके आठ महीने बाद जर्मनी के बीडनवीलर स्थान पर उसमें कुछ हिस्सा और जोड़ा था। इंग्लैण्ड से (अंग्रेज़ी में) छपी मेरी इस कहानी का देश-विदेश के सब तरह के लोगों ने स्वागत किया और मुझे इस बात से खुशी हुई कि जो कुछ मैंने लिखा उसकी वजह से हिन्दुस्तान विदेश के कई दोस्तों के नज़दीक आ गया और कुछ हद तक वे लोग आज़ादी की हमारी लड़ाई के अन्दरूनी महत्त्व को समझ पाये।

मैंने कहानी बाहर होनेवाली हलचलों से दूर बैठकर जेल में लिखी थी। जेल में तरह-तरह की तरंगें मन में उठा करती थीं, जैसा हरेक क़ैदी के साथ हुआ करता है; लेकिन धीरे-धीरे मुझमें आत्म-निरीक्षण की एक लहर आ गयी जिससे कुछ मानसिक शान्ति भी मिली। पर अब उस लहर को कहाँ से लाऊँ? उस वर्णन से ठीक मेल कैसे बैठाऊँ? अपनी किताब को फिर से देखता हूँ तो ऐसा लगता है कि जैसे किसी और शख़्स ने बहुत पुराने ज़माने की कहानी लिखी हो। पिछले पाँच साल में दुनिया बदल गयी है। और मुझपर एक छाप छोड़ गयी है। शरीर से मैं बेशक ५ साल बूढ़ा हो गया हूँ लेकिन अनेक आघात और प्रभाव तो मन पर पड़े हैं, इसलिए वह कठोर हो गया है या शायद परिपक्व हो गया है। स्वीज़रलैण्ड में कमला का देहान्त हो जाने से मेरी जीवन-कथा का एक अध्याय पूरा हो गया, और मेरे जीवन से बहुत-सी ऐसी बातें चली गयी हैं, जो मेरे अस्तित्व का अंश हो गयी थीं। मुझे यह समझ लेना मुश्किल हो गया कि वह अब नहीं है और मैं आसानी से परिस्थिति के अनुकूल अपने को नहीं बना सका। मैं अपने काम में जुट पड़ा, इसमें कुछ सान्त्वना पाने की कोशिश करने लगा और देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक भाग-दौड़ करता रहा। मेरा जीवन क्रम से भारी भीड़, बहुत कामकाज और अकेलेपन का एक अनोखा सम्मिश्रण हो गया इसके बाद माता के देहावसान से भूतकाल से मेरे सम्बन्ध की आख़िरी कड़ी भी टूट गयी। बेटी मेरी दूर ऑक्सफ़र्ड में पढ़ रही थी और बाद में विदेश

ही के एक सेनिटोरियम में इलाज कराती रही। मैं जब घूम-घामकर घर लौटता तो बड़े बे-मन से और अकेला अपने सूने-घर में बैठा रहता, कोशिश करता कि किसीसे मिलूँ-जुलूँ भी नहीं। भीड़-भड़क्के के बाद मैं शान्ति चाहता था।

लेकिन मुझे अपने काम में और मन में शान्ति न मिली और कन्धे पर जो ज़िम्मेदारियाँ थीं, उनसे मैं बुरी तरह दबा जा रहा था। मैं विविध पार्टियों और दलों से मेल नहीं बैठा सका—यहाँ तक कि अपने घनिष्ठ साथियों से भी नहीं। जैसा चाहता था वैसा ख़ुद तो मैं काम कर नहीं पाता था और दूसरों को भी जैसा वे चाहते वैसा काम करने से रोकता था। एक तरह की मायूसी और पस्त-हिम्मती की भावना ज़ोर पकड़ती गयी और मैं सार्वजनिक जीवन में अकेला पड़ गया, हालांकि बड़ी-बड़ी भीड़ मेरे भाषण सुनती थी और मेरे चार ओरों जोश छाया रहता था।

यूरप और सुदूरपूर्व के घटना-चक्र का जितना मुझपर असर पड़ा है उतना और किसी पर नहीं। म्यूनिक का धक्का बर्दाश्त करना कठिन था और स्पेन का दुखदायी अन्त तो मेरे लिए निजी दुःख की बात थी। ज्यों-ज्यों ख़ौफ़ के ये दिन एक के बाद एक आते गये, त्यों-त्यों सिर पर मँडराने वाले संकट का ख़याल मुझे बेचैन करता गया और मेरा यह विश्वास कि दुनिया का भविष्य उज्ज्वल है, धुन्धला पड़ चला।

और वह संकट अब आ धमका है। यूरप के ज्वालामुखी आग और सर्वनाश उगल रहे हैं और यहाँ हिन्दुस्तान में मैं एक दूसरे ज्वालामुखी के किनारे बैठा हुआ हूं, जो न जाने कब फट पड़े। वर्तमान समस्याओं से अपने आपको अलग हटा लेना, पर्यवेक्षण की वृत्ति पैदा करना, इन बीते पाँच बरसों का सिंहावलोकन करना और उनके बारे में शान्ति से कुछ लिखना मुश्किल हो गया है। और अगर मैं ऐसा कर भी सकूँ तो मुझे दूसरी बड़ी किताब लिखनी पड़े क्योंकि कहने को बहुत-कुछ है। इसलिये मैं उन्हीं घटनाओं और वाक़यात की चर्चा करने की भरसक कोशिश करूँगा, जिनमें मैंने हिस्सा लिया है या जिनका मुझपर असर पड़ा है।

लॉसेन में २८ फ़रवरी १९३६ को जब मेरी पत्नी की मृत्यु हुई, तब मैं उसके पास ही था। थोड़े दिन पहले ही मुझे ख़बर मिली थी कि मैं दूसरी बार कांग्रेस का सभापति चुना गया हूं। मैं फ़ौरन ही हवाई जहाज़ से हिन्दुस्तान लौटा। रास्ते में, रोम में, एक मज़ेदार अनुभव हुआ। चलने से कुछ दिनों पहले मुझे एक सन्देश मिला था कि जब मैं रोम होकर निकलूँ तो उस वक़्त सिन्योर मुसोलिनी मुझ से मिलना चाहते हैं। फ़ासिस्ट शासन का घोर विरोधी होते हुए भी मामूली तौर पर सिन्योर मुसोलिनी से मिलना मैं पसन्द करता और खुद पता लगाता कि कि वह शख़्स कैसा है जो दुनिया के घटनाचक्र में महत्त्वपूर्ण हिस्सा ले रहा है? लेकिन उस वक़्त मैं कोई मुलाक़ात करना नहीं

चाहता था। सबसे बढ़कर मेरे रास्ते में जो रुकावट आयी वह यह थी कि अबीसीनियों पर हमला जारी था और मुझे डर था कि ऐसी मुलाक़ात का फ़ासिस्टों की ओर से प्रोपेगण्डा करने में अवश्य ही दुरुपयोग किया जायगा।

पर मेरे इन्कार करने से क्या होता था? मुझे याद था कि गांधीजी जब १९३१ में रोम से निकले थे तब उनकी एक मुलाक़ात की झूठी ख़बर 'जर्नेल डि इटैलिया' में छापी गयी थी। मुझे दूसरी कई मिसालें याद आयीं जिनमें हिन्दुस्तानियों के इटली में जाने के कारण उनकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ फ़ासिस्टों ने बड़ा प्रचार किया था। मुझे यक़ीन दिलाया गया कि इस क़िस्म की कोई बात मेरे बारे में नहीं होगी और मुलाक़ात क़तई खानगी होगी। तो भी मैंने यही तय किया कि मैं मुलाक़ात से बचूँ और सिन्योर मुसोलिनी तक अपनी लाचारी पहुंचा दी।

मगर, रोम होकर जाना तो मुझे पड़ा ही, क्योंकि हालैण्ड के के०एल०एम० कम्पनी का हवाई जहाज़ जिसपर मैं सवार था, वहाँ रात-भर रुका था। ज्योंही मैं रोम पहुंचा, एक बड़े अफ़सर मेरे पास आये और मुझे शाम को सिन्योर मुसोलिनी से भेंट करने का निमन्त्रण दिया। उन्होंने कहा कि सब-कुछ तय हो चुका है। मुझे अचम्भा हुआ। मैं ने कहा कि मैं तो पहले ही माफ़ी मांगने के लिये कहला चुका हूँ। घण्टे भर तक बहस चलती रही, यहाँतक कि मुलाक़ात का वक़्त भी आ पहुंचा। अन्त में बात मेरी ही रही। कोई मुलाक़ात नहीं हुई।

हिन्दुस्तान लौटकर मैं अपने काम में व्यस्त हो गया। लौटने के थोड़े दिनों बाद ही मुझे कांग्रेस के अधिवेशन का सभापति बनना पड़ा। उन चन्द सालों में जब मैं लगभग जेल में रहा, परिस्थितियों से मेरा सम्बन्ध छूट गया था। मुझे कांग्रेस के अन्दर कई तब्दीलियाँ मालूम पड़ीं, और नई रूपरेखाएँ और दलबन्दी की ज़ोरदार भावनाएँ देखने में आयीं। उसके भीतर सन्देह, कटुता और संघर्ष का वातावरण था। मैंने इसपर ज़्यादा ध्यान नहीं दिया और यह विश्वास मुझे था कि मैं उस स्थिति का मुक़ाबला कर सकूँगा। कुछ अर्से तक ऐसा लगा कि मैं कांग्रेस को अपनी मनोवाञ्छित दिशा में लिये जा रहा हूँ, मगर जल्दी ही मुझे पता लग गया कि संघर्ष गहरा है और हमारे दिलों में जो एक-दूसरे के प्रति सन्देह और कटुता पैदा हो गयी थी, उसे मिटा देना इतना आसान नहीं है। मैंने गम्भीर होकर निश्चय कर लिया कि राष्ट्रपति-पद से इस्तीफ़ा दे दूँ, लेकिन, यह समझकर कि इससे तो मामला बिगड़ेगा ही, मैंने ऐसा नहीं किया।

लेकिन रह-रहकर अगले कुछ महीनों में मैंने इस इस्तीफ़े के सवाल पर सोच-विचार। कार्य समिति के अपने साथियों के साथ ही मुझे सरलतापूर्वक काम करते रहना मुश्किल मालूम पड़ा और मुझे यह साफ़ हो गया कि वे लोग मेरी हरकतों को आशंका की दृष्टि से देखते हैं। मेरी किसी ख़ास कार्रवाई

से वह नाराज़ हों, ऐसी बात नहीं थी, बल्कि बात यह थी कि वे मेरी सामान्य गति और दिशा ही को नापसन्द करते थे। चूँकि मेरा दृष्टिकोण मुख़्तसिर था, इसलिए उनके पास इसका वाजिब सबब था भी। कांग्रेस के फ़ैसलों पर मैं बिलकुल अटल था, लेकिन मैं उसके कुछ पहलुओं पर ज़ोर देता था जबकि मेरे साथी दूसरे पहलुओं पर। आख़िरकार मैंने इस्तीफ़ा देना ही तय किया और अपने इरादे की ख़बर गांधीजी को भेजी। उनको जो ख़त लिखा था उसमें मैंने लिखा कि "यूरप से लौटकर आने के बाद मैंने देखा है कि कार्य-समिति की बैठकों से मैं बहुत थक जाता हूँ; उनका असर यह होता है कि मेरी ताक़त कम हो जाती है और हरेक नयी घटना के बाद मुझे क़रीब-क़रीब यह ख़याल होने लगता है कि मैं बहुत बूढ़ा हो चला हूँ। कोई ताज्जुब नहीं कि कार्य-समिति के मेरे दूसरे सहयोगियों को भी यही महसूस होता हो। यह तजरबा अस्वास्थ्यकर है और इससे कारगर काम होने में अड़चनें आती हैं।"

इसके थोड़े ही दिनों बाद दूर देश की एक घटना ने, जिसका हिन्दुस्तान से कोई ताल्लुक़ नहीं था, मुझपर बहुत ज़्यादा असर डाला और उसने मेरा इरादा बदलवा दिया। यह घटना थी जनरल फ़्रैंको के स्पेन में विद्रोह करने की ख़बर। मैंने देखा कि यह विद्रोह, जिसके पीठ-पीछे जर्मनी और इटली की मदद काम कर रही थी, एक यूरोपिय या विश्वव्यापी संघर्ष बनता जा रहा है। लाज़िमी था कि हिन्दुस्तान को भी उसमें पड़ना पड़ता और ऐसे मौक़े पर जबकि सबका साथ-साथ चलना ज़रूरी था, मैं इस्तीफ़ा देकर अपनी संस्था को कमज़ोर बनाना और अन्दरूनी संकट पैदा करना नहीं चाहता था। मैंने परिस्थिति का जो विश्लेषण किया था, वह ग़लत न था, हालाँकि वह अभी केवल अनुमान ही था और मेरा मन एकदम जिन नतीजों पर पहुँच गया था उन्हें घटित होने में कुछ साल लगे।

स्पेन के युद्ध की मुझपर जो प्रतिक्रिया हुई, उससे पता चलता है कि मेरे मन में किस प्रकार हिन्दुस्तान का सवाल दुनियाँ के दूसरे सवालों से जुड़ा हुआ था। मैं अधिकाधिक सोचने लगा कि चीन, अबीसीनिया, स्पेन, मध्य यूरोप, हिन्दुस्तान या अन्य स्थानों की सारी राजनीतिक और आर्थिक समस्याएँ एक ही विश्व-समस्या के विविध रूप हैं। जबतक मूल-समस्या हल नहीं कर ली जाती तबतक इनमें से कोई एक समस्या अन्तिम रूप से नहीं सुलझ सकती। सम्भावना इस बात की थी कि मूल-समस्या सुलझने से पहले ही कोई क्रान्ति या कोई आफ़त आयेगी। जिस तरह कहा जाता था कि आज की दुनिया में शान्ति अविभाज्य है, उसी प्रकार स्वाधीनता भी अविभाज्य है। दुनिया बहुत दिनों कुछ आज़ाद, कुछ ग़ुलाम नहीं रह सकती। फ़ासिज़्म और नाज़ीवाद की यह चुनौती मूलतः साम्राज्यवाद की ही चुनौती थी। ये दोनों जुड़वाँ भाई थे—फ़र्क़ सिर्फ़ इतना ही था कि साम्राज्यवाद का विदेशों ने उपनिवेशों और अधिकृत देशों में जैसा नंगा नाच देखने में आता था, वैसा ही नाच फ़ासिज़्म व नाज़ी-

वाद का निज के देशों में दिखाई पड़ता था। अगर दुनिया में आज़ादी क़ायम होनी है; तो न सिर्फ़ फ़ासिज़्म और न नाज़ीवाद ही को मिटाना होगा बल्कि साम्राज्यवाद का भी बिलकुल नामोनिशान मिटा देना होगा।

विदेश की घटनाओं की यह प्रतिक्रिया मुझी तक सीमित नहीं थी। कुछ हदतक हिन्दुस्तान के बहुतेरे लोग ऐसा ही ख़याल करने लगे और जनता को भी इसमें दिलचस्पी पैदा हो गयी। कांग्रेस ने देश में हर जगह चीन, अबीसीनिया, फ़िलस्तान और स्पेन के लोगों से सहानुभूति प्रकट करने के लिए हज़ारों सभाएं और प्रदर्शन किये, जिससे जनता की यह दिलचस्पी क़ायम रही। चीन और स्पेन को दवा-दारू और रसद की शक्ल में कुछ मदद पहुँचाने की भी कोशिशें की गयीं। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में इस प्रकार दिलचस्पी बढ़ने से हमारा अपना राष्ट्रीय संघर्ष ऊँची सतह पर पहुँच गया और राष्ट्रीयता की भावना के पीछे सामान्यरूप से रहनेवाली संकीर्णता थोड़ी-बहुत कम हो गयी।

लेकिन लाज़िमी तौर पर, इन विदेशी मामलों का यहाँ के औसत आदमियों की ज़िन्दगी पर कोई असर नहीं हुआ जो अपनी मुसीबत में फँसे हुए थे। किसानों की तकलीफ़ें दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही थीं। भयंकर ग़रीबी और दूसरे कई तरह के बोझ उसे कुचल रहे थे। आख़िरकार किसानों की समस्या हिन्दुस्तान की समस्या का एक बड़ा हिस्सा थी और कांग्रेस ने क्रमशः किसानों के सम्बन्ध में एक कार्यक्रम बना लिया था। यह कार्यक्रम अत्यन्त व्यापक था, फिर भी उसमें मौजूदा ढाँचा मंज़ूर कर लिया गया था। कारख़ाने के मज़दूरों की हालत भी कोई बेहतर नहीं थी और हड़तालें हुआ करती थीं। राजनैतिक विचारों-वाले लोग ब्रिटिश पार्लमेण्ट-द्वारा हिन्दुस्तान पर थोपे गये नये शासन-विधान की चर्चा करते थे। इस विधान में यद्यपि कुछ ताक़त प्रान्तों को दे दी गयी थी, लेकिन असली ताक़त तो ब्रिटिश सरकार और उनके प्रतिनिधियों के ही हाथ में रक्खी गयी थी। केन्द्रीय शासन के लिए एक संघ प्रस्तावित किया गया था, जिसमें सामन्ती और निरंकुश रियासतों के साथ अर्द्ध-जनतन्त्रात्मक प्रान्तों को गठबन्धन करना पड़ता और इससे ब्रिटिश साम्राज्य का ढाँचा यथारीति क़ायम रहता। यह एक वाहियात प्रस्ताव था, जो कभी नहीं चल सकता था, और जिसमें अंग्रेज़ों के स्थापित स्वार्थों की हर सम्भव तरीक़े से हिफ़ाज़त की गयी थी। कांग्रेस ने इस विधान को हिक़ारत के साथ ठुकराया और सचाई तो यह थी कि हिन्दुस्तान में शायद ही कोई ऐसा हो जो इसे अच्छा समझता होगा।

पहले तो इसका प्रान्तीय रूप अमल में लाया गया। हम विधान को नामंज़ूर कर चुके थे, तो भी हमने तय किया कि चुनाव लड़े जायें क्योंकि इससे कम-से-कम लाखों-करोड़ों वोटरों ही से नहीं, दूसरे लोगों से भी हम सम्पर्क में तो आयेंगे ही। यह आम चुनाव मेरे लिए तो एक स्मरणीय प्रसंग

है। मैं ख़ुद तो कोई उम्मेवार नहीं था, मगर कांग्रेस के उम्मेदवारों की तरफ़ से मैंने हिन्दुस्तान भर का दौरा किया और मेरा ख़याल है कि चुनाव-आन्दोलन में मैंने एक उल्लेखनीय काम किया। चार महीने के अन्दर-अन्दर मैंने तक़रीबन ५० हज़ार मील का सफ़र किया और इसमें हर तरह की सवारी से काम लिया और अक्सर ऐसे-ऐसे कोने में पड़े हुए देहाती इलाक़ों तक में गया जहाँ जाने का कोई ठीक-ठाक ज़रिया नहीं था। मैंने यह सफ़र हवाई जहाज़ में, रेल में, मोटरकार में, मोटरलॉरी में, तरह-तरह की घोड़ागाड़ियों में, बैल गाड़ियों में, साइकल पर, हाथी पर, ऊँट पर, घोड़े पर, स्टीमर पर, पैडलबोट पर, डोंगी में और पैदल चलकर किया।

अपने साथ मैं लाऊड-स्पीकर यन्त्र रखता था। दिन भर में कोई एक दर्जन सभाओं में बोलना पड़ता था; सड़कों पर जो भीड़ इकट्ठी हो जाती थी और उससे कुछ कहना पड़ता सो अलग। कभी-कभी तो एक लाख के क़रीब भीड़ होती थी, पर आमतौर पर प्रत्येक सभा में २० हज़ार सुननेवाले तो रहते ही थे। दिन भर की सभाओं में आनेवाले लोगों का जोड़ एक लाख तो अक्सर हो जाता था, कभी-कभी इससे भी बढ़ जाता था। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि जितनी सभाओं में मैं बोला उनमें एक करोड़ लोग तो आये ही होंगे और शायद कई लाख और मेरे इस तरह से सफ़र करने में मेरे सम्पर्क में आये होंगे।

हिन्दुस्तान की उत्तरी सीमा से लेकर दक्षिण में समुद्र तट तक मैं एक जगह से दूसरी जगह दौड़ता फिरा। बीच-बीच में मुश्किल से कुछ आराम मिला होगा। चुनाव के जोश और जनता के असीम उत्साह ने मुझे सब जगह बल दिया। मेरे शरीर ने इतना अधिक असाधारण श्रम बर्दाश्त कर लिया, इस ख़याल से मुझे अचम्भा हुआ। इस चुनाव-आन्दोलन में हमारे पक्ष में बहुत बड़ी तादाद में लोगों ने हिस्सा लिया, इसलिए देशभर में एक हलचल-सी मच गयी और हर जगह नयी ज़िन्दगी नज़र आने लगी। हमारे लिए तो यह महज़ एक चुनाव-आन्दोलन ही नहीं था, बल्कि कुछ ज़्यादा था। हमें महज़ उन ३ करोड़ मतदाताओं से ही नहीं बल्कि उन करोड़ों लोगों से भी वास्ता था, जो मतदाता नहीं थे।

इस लम्बी-चौड़ी यात्रा का एक पहलू और भी था जिसने मुझे लुभा लिया। मेरे लिए तो यह यात्रा हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तान की जनता से परिचय की यात्रा थी। मैंने अपने देश के हज़ारों रूप देखे, लेकिन तो भी सबमें हिन्दुस्तान की एकता की छाप थी। मैं उन लाखों स्नेहभरी आँखों को ध्यान से देखता था, जो मुझे निहारा करती थीं, और यह जानने की कोशिश करता था कि उनके पीछे क्या है? जितना ही ज़्यादा मैं हिन्दुस्तान को देखता, उतना ही ज़्यादा मुझे लगता कि उसके असीम आकर्षण और विविध रूपों का मुझे

कितना कम परिचय है और अभी मुझे इतना परिचय प्राप्त करने को बाक़ी है। मुझे लगता कि मुझे देखकर भारतमाता कभी मुस्करा देती है, कभी मेरा उपहास करती है, और कभी मेरे लिए अबोध हो जाती है।

कभी-कभी, मैं एकाध दिन निकाल लेता और नज़दीक के मशहूर-मशहूर दर्शनीय स्थान देखता : जैसे अजन्ता की गुफ़ाएँ या सिन्ध के काँठे में मोहंजोदाड़ो। थोड़ी देर को जैसे मैं बीते हुए युग में पहुँच जाता और बोधिसत्त्व और अजन्ता की चित्रांकित रूपवती स्त्रियाँ मेरे मन में नाचा करतीं। कुछ दिनों बाद जब मैं खेत में काम करती हुई या गाँव के कुएँ से पानी खींचती हुई कोई स्त्री देखता तो मैं आश्चर्यचकित रह जाता, क्योंकि उससे मुझे अजन्ता की स्त्रियों की याद आ जाती थी।

आम चुनावों में कांग्रेस को कामयाबी मिली, और इसपर एक भारी बहस उठ खड़ी हुई कि हम सूबों में मंत्री-पद ग्रहण करें या नहीं ? आख़िरकार यह तय हुआ कि हम मंत्री-पद ग्रहण करेंगे, पर इस समझौते पर कि वाइसराय या गवर्नरों की तरफ़ से कोई दख़ल नहीं दिया जायगा।

१९३७ की गर्मी में मैं बर्मा और मलाया गया ! मैं कोई छुट्टी न मना सका, क्योंकि जहाँ-जहाँ मैं गया भीड़ मेरे पीछे लगी रही और काम-काज में मैं घिरा रहा। लेकिन यह वायु-परिवर्तन सुखमायी था, और बर्मा के सजे-धजे अपेक्षाकृत युवक लोगों को देखना और उनसे मिलना मुझे अच्छा लगा, क्योंकि वे हिन्दुस्तान के लोगों से कई बातों में भिन्न थे, जिसपर कई युगों की छाप लगी है।

हिन्दुस्तान में हमारे सामने नये मसले आये। अधिकांश सूबों में कांग्रेस-सरकार की हुकूमत थी और बहुत-से मन्त्री बरसों जेल में बिता चुके थे। मेरी बहिन विजयलक्ष्मी पण्डित युक्तप्रान्त की एक मन्त्रिणी हुईं। हिन्दुस्तान में वह सबसे पहली मन्त्रिणी थीं। कांग्रेस-मन्त्रिमण्डल के आने का सबसे पहला नतीजा तो यह हुआ कि देहातों को एक राहत महसूस हुई, मानो एक बड़ा बोझ हट गया हो। देशभर में एक नयी ज़िन्दगी आ गयी और किसान और मज़दूर उम्मेद करने लगे कि अब जल्दी बड़े-बड़े काम होंगे। राजनैतिक क़ैदी छोड़ दिये गये और बहुत से नागरिक अधिकार मिल गये, जितने अब तक कभी नहीं मिले थे।

कांग्रेसी मन्त्रियों ने बहुत काम किया और दूसरों को भी करने पर मजबूर किया। लेकिन काम तो उन्हें शासन की पुरानी मशीन के साथ ही करना पड़ा, जो उनके लिए बिलकुल विदेशी और अक्सर विरोधी थी। नौकरियाँ तक उनके अधिकार में न थीं। दो मर्तबा गवर्नरों से मतभेद हुआ और मन्त्रियों का दृष्टिबिन्दु मान लिया गया और संकट मिट गया। लेकिन सिविल-सर्विस, पुलिस और दूसरी पुरानी सर्विसों की ताक़त और उनका असर ज़्यादा था, क्योंकि

गवर्नर उनकी पीठ पर थे और खुद विधान उनका सहारा दे रहा था, इनकी ताक़त और उनका असर सैकड़ों तरीक़े से महसूस हो रहा था। नतीजा यह हुआ कि प्रगति धीरे-धीरे हुई और असन्तोष उठ खड़ा हुआ।

वह असन्तोष खुद कांग्रेस में ही ज़ाहिर हुआ और अधिक प्रगतिशील-वर्ग बेचैन हो उठे। मैं खुद घटनाचक्र की गति से प्रसन्न नहीं था, क्योंकि मैंने देखा कि हमारी बढ़िया लड़नेवाली संस्था धीरे-धीरे एक चुनाव लड़नेवाली संस्था में बदलती जा रही थी। ऐसा लगता था कि स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़नी ही होगी और प्रान्तीय स्वशासन का यह पहलू तो महज़ थोड़े दिनों का है। अप्रैल १९३८ में मैंने गांधीजी को एक पत्र में कांग्रेस मन्त्रिमण्डल के कार्य के बारे में अपना असन्तोष यों प्रकट किया था—"वे पुरानी व्यवस्था से अपना मेल बैठाने के लिए बहुत ही ज़्यादा कोशिश कर रहे हैं और इसे न्यायोचित सिद्ध कर रहे हैं। लेकिन इतना बुरा होते हुए भी बर्दाश्त किया जा सकता है; पर इससे भी ज़्यादा बुरी बात यह है कि हम अपनी वह जगह खोते जा रहे हैं जो हमने इतनी मेहनत के साथ लोगों के दिलों में बना पायी है। हम गिरते-गिरते मामूली राजनीतिज्ञों की सतह पर पहुंचते जा रहे हैं।"

मैं शायद कांग्रेसी मन्त्रियों पर बिना ज़रूरत इतना सख़्त हो गया था, लेकिन इसका दोष तो परिस्थितियों पर ही ज़्यादा लगाया जा सकता है। वस्तुतः राष्ट्रीय गतिविधि के अनेक क्षेत्रों में इन मन्त्रिमण्डलों का कार्य ज़बरदस्त था। लेकिन उन्हें तो ख़ास हद में रहकर ही काम करना था और हमारे मसलों के लिए इनके बाहर जाने की आवश्यकता थी। उन्होंने जो कई अच्छे-अच्छे काम किये, उनमें से एक उनका बनाया हुआ काश्तकारी क़ानून था जिससे किसानों को काफ़ी राहत मिली और दूसरा काम था बुनियादी शिक्षा की शुरुआत। विचार यह है कि यह बुनियादी शिक्षा ७ साल से १४ साल तक की उम्र के देश के हरेक बच्चे के लिए ७ बरस तक लाज़िमी और मुफ़्त कर दी जाय। यह किसी-न-किसी दस्तकारी के ज़रिये तालीम देने की आधुनिक पद्धति पर रखी गयी है और इसकी योजना इस प्रकार बनायी गयी है जिससे पूँजी और सालाना ख़र्च तो बहुत कम हो जाय, लेकिन तालीम की अच्छाई में किसी क़दर कमी भी न आने पाये। हिन्दुस्तान-जैसे ग़रीब मुल्क में, जहाँ तालीम देने को करोड़ों बच्चे हैं, ख़र्च का सवाल ख़ास महत्त्व का है। इस पद्धति ने हिन्दुस्तान में शिक्षा में क्रान्ति पैदा कर दी है और इससे बड़ी-बड़ी उम्मीदें हैं।

उच्च शिक्षा की समस्या भी ज़ोर-शोर के साथ हल की गयी और इसी तरह सार्वजनिक स्वास्थ्य की समस्या भी; मगर कांग्रेसी सरकारों के प्रयत्नों का अधिक फल नहीं मिल पाया था कि मन्त्रिमण्डलों ने आख़िरकार इस्तीफ़े दे दिये। फिर भी प्रौढ़-साक्षरता का काम जोश-ख़रोश के साथ आगे बढ़ाया गया—

और उससे परिणाम अच्छे निकले। ग्राम-सुधार की ओर भी बहुत ध्यान दिया गया।

कांग्रेसी सरकारों का काम असर डालनेवाला रहा, मगर इस तमाम अच्छे काम से भी हिन्दुस्तान के बुनियादी मसले हल नहीं हो सके। उसके लिए तो ज़्यादा गहराई और तह में जानेवाले रद्दोबदल की और उस साम्राज्यवादी ढाँचे को जो सब तरह के स्थापित स्वार्थों की हिफ़ाज़त किये हुए था, ख़त्म करने की ज़रूरत थी।

इसलिए कांग्रेस के ज़्यादा नरम और ज़्यादा उग्र दलों में मतभेद पैदा हो गया। यह पहली बार अ० भा० कांग्रेस कमिटी की अक्तूबर, १९३७ में होने वाली बैठक में प्रकट हुआ। इससे गांधीजी को बड़ी तकलीफ़ पहुँची और उन्होंने ख़ानगी तौर पर अपनी राय ज़ाहिर की। बाद में उन्होंने एक लेख लिखा जिस में उन्होंने राष्ट्रपति की हैसियत से किये गये मेरे कुछ कामों को नापसन्द किया।

मैं महसूस कर रहा था कि मैं कार्यसमिति के एक ज़िम्मेदार मेम्बर की हैसियत से आगे काम नहीं कर सकता। लेकिन मैंने तय किया कि मुझे ऐसी कोई बात नहीं करनी चाहिये जिससे कोई संकट आ जाय। कांग्रेस की मेरी सदारत की मियाद अब ख़त्म होने पर थी और मैं चुपचाप अलग हो सकता था। मैं दो साल लगातार सदर रह चुका था और कुल मिलाकर तीन बार। दूसरे साल के लिए मुझ चुने जाने की फिर कुछ चर्चा थी, मगर मेरे दिमाग़ में यह बात साफ़ थी कि मुझे खड़ा न होना चाहिये। इस वक़्त मैंने एक ज़रा-सी तरकीब की जिसमें मुझे बड़ा मज़ा आया। मैंने एक लेख लिखा जो कलकत्ते के 'माडर्न रिव्यू' में बिना नाम से छपा। उसमें मैंने ख़ुद अपने ही दुबारा चुनाव होने का विरोध किया था। यह कोई नहीं जानता था—ख़ुद सम्पादक भी नहीं—कि वह किस ने लिखा है और मैं बड़ी दिलचस्पी के साथ देखने लगा कि मेरे साथियों और दूसरों पर उसका क्या असर पड़ता है? लेखक के बारे में सब तरह की ऊटपटाँग अटकलें और अन्दाज़ लगाये गये, लेकिन जब तक जॉन गुन्थर ने अपनी किताब 'इनसाइड एशिया' (एशिया के भीतर) में इसका ज़िक्र न किया तबतक बहुत ही कम लोग सचाई जान पाये थे।

हरिपुरा में जो अगला कांग्रेस-अधिवेशन हुआ उसके सभापति सुभाष बोस चुने गये और मैंने इसके बाद जल्दी ही यूरप जाने का निश्चय किया। मैं अपनी बेटी इन्दु को देखना चाहता था, मगर असली सबब तो था अपने थके हुए और परेशान दिमाग़ को ताज़ा करना।

लेकिन यूरोप मुश्किल से ऐसी जगह थी जहाँ आराम से बैठकर सोचा-विचारा जा सके या दिमाग़ के अँधेरे कोने को रोशन किया जा सके। वहाँ तो एक अँधेरा फैला हुआ था। ज़ाहिरा ऐसी शान्ति ज़रूर थी जैसी तूफ़ान आने के पहले हुआ

करती है। वह जून १९३८ का यूरप था, जबकि मि० नेवाइल चैम्बरलेन की खुश करने की नीति पूरे ज़ोर पर थी और वह उन देशों के शरीरों पर चल रही थी जिनको उनके साथ दग़ा करके कुचल डाला गया था और उसके अन्तिम दृश्य का नाटक म्यूनिक में हो चुका था। मैं हवाई जहाज़ से बर्सीलोना पहुँचा और इस संघर्ष-रत यूरप में प्रवेश किया। वहाँ मैं पाँच दिन तक रहा और रात में आसमान से बमबाज़ी होती देखी। वहाँ बहुत कुछ और भी देखा जिसका मुझपर बड़ा असर हुआ; वहाँ दरिद्रता, सर्वनाश और हमेशा सिर पर मँडराती हुई विपत्ति के बीच मैंने अपने आपको यूरप की किसी भी दूसरी जगह से ज़्यादा शान्ति में पाया। वहाँ प्रकाश था—साहस, दृढ़ निश्चय और कुछ महत्त्वपूर्ण काम कर दिखाने का प्रकाश था।

मैं इंग्लैण्ड गया और वहाँ एक महीना बिताया और सब दर्जों व सब तरह के विचारोंवाले लोगों से मिला। मैंने औसत आदमी में एक तरह की तब्दीली महसूस की। वह तब्दीली ठीक दिशा में थी। लेकिन ऊपर चोटी पर कोई तब्दीली नहीं थी। वहाँ चैम्बरलेनवाद विजय-गर्व में फूला बैठा था। फिर मैं चेकोस्लोवाकिया गया और नज़दीक से वह कठिन और पेचीदा कूटनीति देखी कि दोस्त के साथ दग़ा कैसे की जाती है और सामान्य ध्येय को, जिसके आप ऊँची-से-ऊँची नैतिक बुनियाद पर, हामी माने जाते हों, कैसे नुक़सान पहुँचाया जाता है। म्यूनिक-संकट के दिनों में मैंने यही कूटनीति लन्दन और जेनेवा में देखी और कई अजीब नतीजों पर पहुँचा। मुझे सबसे अधिक अचम्भा यह हुआ कि संकट के समय कथित प्रगतिशील लोग और दल निहायत नीचे गिर गए। जेनेवा को देखकर तो मुझे पुराने ज़माने के खँडहरों का ख़याल हो आता था, जहाँ इधर-उधर सैकड़ों अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की लाशें बिखरी पड़ी थीं। लन्दन में इस बात पर सन्तोष प्रकट किया जा रहा था कि लड़ाई टल गयी है और अब दूसरी किसी चीज़ की परवा नहीं थी। क़ीमत दूसरों ने चुका ही दी थी, इसलिए उसकी कोई बात थी ही नहीं, लेकिन एक साल के भीतर ही फिर बहुत कुछ बातें होनेवाली थीं। मि० चैम्बरलेन का सितारा बुलन्द होता जा रहा था, हालांकि उनके विरोध में आवाज़ें उठ रही थीं। पेरिस ने मुझे काफ़ी सदमा पहुँचाया, ख़ासतौर से उसके मध्यम वर्ग ने जिसने ज़रा भी विरोध तक नहीं किया। यह था क्रान्ति का स्थल पेरिस, सारी दुनिया की आज़ादी का प्रतीक !

बहुत-से स्वप्न भंग करके मैं यूरप से दुखी और उदास होकर लौटा। लौटते हुए रास्ते में मैं मिश्र में ठहरा, जहाँ मुस्तफ़ा नहास पाशा और वफ़्द पार्टी के दूसरे नेताओं ने मेरा हार्दिक स्वागत किया। मुझे उनसे दुबारा मिलकर और तेज़ी से बदलती हुई दुनिया की परिस्थिति का ध्यान रखते हुए परम्परा की सामान्य समस्याओं पर विचार-विनिमय करके ख़ुशी हुई। कुछ

महीने बाद, वफ़्द पार्टी का एक प्रतिनिधि-मण्डल हिन्दुस्तान में हमसे मिलने आया और वह हमारे कांग्रेस के सालाना जलसे में शरीक भी हुआ।

हिन्दुस्तान में पुराने मसले और झगड़े जारी थे। मुझे अपने साथियों से अपनी पटरी बैठाने की पुरानी मुश्किल का फिर सामना करना पड़ा। यह देखकर मुझे सन्ताप होता था कि ऐसे समय जब कि दुनिया की काया-पलट होनेवाली है बहुतेरे कांग्रेसी दलबन्दियों के इन छोटे-मोटे झगड़ों में उलझे हुए हैं। फिर भी संस्था के ऊँचे हल्कों के कांग्रेसजनों में कुछ ठीक-ठीक समझ और दृष्टि थी। कांग्रेस के बाहर पतन और भी ज़्यादा साफ़ था। साम्प्रदायिक द्वेष और तनाव बढ़ गया था और मुस्लिम लीग श्री जिन्ना के नेतृत्व में उग्र रूप से राष्ट्रीयता-विरोधी और संकीर्ण हो गयी और अचम्भे में डालनेवाला रास्ता अख्तियार करती रही। उसकी तरफ़ से न तो कोई रचनात्मक सुझाव था, न कोई कोशिश बीच-बचाव करके मेल-मिलाप करने की थी, और न सवालों का कोई जवाब मिलता था, कि वे दरअसल क्या चाहते हैं? उसका तो एक घृणा और हिंसा का खण्डनात्मक कार्य-क्रम था—जिससे नाज़ी लोगों के तौर-तरीक़े याद आ जाते थे। जो बात ख़ासतौर से तकलीफ़देह थी वह यह थी कि साम्प्रदायिक संस्थाओं की उद्दण्डता बढ़ती जा रही थी जिसका हमारे सार्वजनिक जीवन पर बुरा असर पड़ रहा था। बेशक ऐसी बहुतेरी मुस्लिम जमातें थीं और मुसलमानों की एक बड़ी तादाद ऐसी थी जो मुस्लिम लीग की हरकतों से नाराज़ और कांग्रेस के हक़ में थी।

इस रीति से मुस्लिम लीग लाज़िमी तौर पर ज़्यादा-से-ज़्यादा ग़लत रास्ते पर चलती गयी और आख़िरकार वह खुले आम हिन्दुस्तान में प्रजातन्त्र के ख़िलाफ़ ही खड़ी नहीं हो गयी बल्कि देश के टुकड़े करने तक की हामी हो गयी। ब्रिटिश अफ़सरों ने इन बेहूदी माँगों में उसकी पीठ ठोंकी, क्योंकि वे तमाम दूसरी हानिकर ताक़तों की तरह मुस्लिम लीग से फ़ायदा उठाना चाहते थे—ताकि कांग्रेस का असर कमज़ोर पड़ जाय। यह एक अचरज की बात थी कि जिस समय यह साफ़ हो गया हो कि छोटे-छोटे राष्ट्रों की दुनिया में कोई जगह नहीं है, वे केवल राष्ट्रों के एक संघ के हिस्से बनकर ही रह सकते हैं, ठीक उसी समय हिन्दुस्तान के हिस्से किए जाने की यह माँग पेश हो। शायद माँग गम्भीर रूप से न रखी गयी हो, लेकिन वह श्री जिन्ना के दो राष्ट्रोंवाले सिद्धान्त का अनिवार्य परिणाम थी। साम्प्रदायिकता की इस नयी सूरत का धार्मिक भेदभाव से कोई वास्ता न था। उन्हें दूर किया जा सकता था। यह तो आज़ाद, संगठित और प्रजातन्त्रात्मक भारत चाहनेवाले लोगों और उन अति प्रतिगामी और सामन्तप्रथावादी लोगों का राजनैतिक झगड़ा था जो मज़हब की ओट में अपने ख़ास हितों को क़ायम रखना चाहते थे। भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के लोग धर्म के नाम पर जैसा आचरण कर रहे

थे और उसका दुरुपयोग कर रहे थे, वह मुझे एक अभिशाप और सभी प्रकार की सामाजिक और वैयक्तिक प्रगति का निषेध प्रतीत होता था। वह धर्म जिससे आशा की गयी थी कि वह आध्यात्मिकता और भ्रातृभाव का प्रचार करेगा, अब घृणा, संकीर्णता और कमीनेपन का और निचले दर्जे की भौतिकता का ख़ास सोता बन गया।

१९३९ की शुरुआत में राष्ट्रपति के चुनाव के वक़्त कांग्रेस में बहुत झगड़ा हुआ। बदक़िस्मती से मौलाना अबुलकलाम आज़ाद ने चुनाव में खड़े होने से इन्कार कर दिया और चुनाव लड़ने के बाद सुभाषचन्द्र बोस चुने गये। इससे अनेक प्रकार की उलझनें और अड़ंगा पैदा हो गया जो कई महीनों तक चलता रहा। त्रिपुरी कांग्रेस में बेहूदा दृश्य देखने में आये। उस समय मेरा उत्साह बड़ा ठंडा पड़ा हुआ था और बिना साथियों से नाता तोड़े आगे चलना मेरे लिए मुश्किल था। राजनैतिक घटनाओं, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय बातों का भी मुझपर असर ज़रूर पड़ा, लेकिन तात्कालिक कारणों का सार्वजनिक मामलों से कोई वास्ता न था। मैं ख़ुद अपने आपसे ही ऊब उठा और एक अख़बार में मैंने एक लेख में लिखा—"मुझे डर है कि मैं उन (अपने साथियों) को सन्तोष नहीं दे पाता, लेकिन यह कोई अचरज की बात नहीं है, क्योंकि मैं अपने आपको तो और भी कम सन्तोष दे पाता हूं। नेतागिरी इस गुण या बल पर नहीं हासिल होती। और जितनी जल्दी मेरे साथी इस बात को जान लें उतना ही उनके और मेरे लिए बेहतर है। मन काफ़ी अच्छी तरह काम कर लेता है, बुद्धि को आदत पड़ गयी है काम चला लेने की; लेकिन यह सोता जो ठीक से काम चलाने के लिए जीवन और शक्ति देता है, सूख-सा गया जान पड़ता है।"

सुभाष बोस ने राष्ट्रपति-पद से इस्तीफ़ा दे दिया और फ़ारवर्ड ब्लाक (अग्रगामी दल) चलाया, जो कांग्रेस का क़रीब-क़रीब प्रतिद्वन्द्वी संगठन होना चाहता था। कुछ अर्से के बाद उसकी ताक़त ख़त्म हो गयी, जैसा कि होना ही था, मगर इससे विध्वंसक प्रवृत्तियों को मदद पहुँची और आम ख़राबियाँ पैदा हुईं। लच्छेदार शब्दों के पर्दे में दुःसाहसी और अवसरवादी लोगों को बोलने का मौक़ा मिल गया और मुझे जर्मनी में नाज़ीदल के पैदा होने का ख़याल आये बिना न रहा। उनका तरीक़ा था किसी एक प्रोग्राम के लिए आम जनता का सहयोग हासिल करके फिर उसका क़तई दूसरे क़िस्म के मक़सद के लिए उपयोग कर लेना।

जान-बूझकर मैं नयी कांग्रेस कार्य-समिति से अलग हो गया। मुझे महसूस हुआ कि मैं अपना मेल नहीं बैठा सकता और जो कुछ हुआ था वह मुझे ज़्यादा पसन्द नहीं था। राजकोट के सिलसिले में गांधीजी के उपवास और उसके बाद की घटनाओं से मैं परेशान हो गया। मैंने उस वक़्त लिखा था कि "राजकोट की घटनाओं के बाद मेरी असहाय होने की भावना बढ़ गयी है।

जहाँ मेरी समझ में कुछ नहीं आता वहाँ मैं काम कर नहीं सकता, और जो कुछ हुआ है उसकी दलील मेरी समझ में क़तई नहीं आती।" आगे मैंने लिखा था—"हममें से बहुतेरों के आगे पसन्दगी की कठिनाई बढ़ती जा रही है, और सवाल न दक्षिण-वाम (नरम-गरम) पक्ष का है, न राजनैतिक फ़ैसलों का ही है। पसन्दगी के लिए केवल यही है कि या तो ऐसे फ़ैसलों को बिना सोचे-समझे क़बूल कर लो कि जो कभी-कभी एक दूसरे का ही विरोध करते हैं और उनमें दलील की गुंजाइश नहीं है, या विरोध करो या निष्क्रिय बन जाओ। इनमें से एक भी तरीक़े को अच्छा कह सकना आसान नहीं है। बिना सोचे-समझे किसी की ऐसी बात मान लेने से, जो समझ में नहीं आती या ख़ुशी से मंजूर नहीं की जा सकती, मानसिक कमज़ोरी और जड़ता पैदा होती है। इस बुनियाद पर बड़े आन्दोलन नहीं चलाये जा सकते और प्रजातन्त्रीय आन्दोलन तो निश्चित रूप से नहीं। विरोध करना तब मुश्किल हो जाता है, जबकि वह हमें कमज़ोर करता और प्रतिपक्षी को मदद पहुंचाता हो। जिस समय कर्म की पुकार चारों ओर से उठ रही हो उस समय निष्क्रिय रहने से निराशा पैदा होती है और सब तरह की पेचीदगियाँ पैदा होती हैं।"

१९३८ के अख़ीर में यूरप से लौटने के थोड़े समय बाद ही दो और हलचलों में मुझे लग जाना पड़ा। मैंने अ० भा० देशी राज्य लोक-परिषद् के लुधियाना-अधिवेशन का सभापतित्व किया और इस तरह अर्द्ध-सामन्ती देशी रियासतों के प्रगतिशील आन्दोलनों से मेरा और भी घनिष्ट सम्बन्ध हो गया। बहुत-सी रियासतों में असन्तोष बढ़ता जा रहा था, कि जिससे जब-तब प्रजा-मण्डलों और अधिकारियों में संघर्ष हो जाता था। इन रियासतों के सम्बन्ध में अथवा ब्रिटिश सरकार ने मध्ययुग के इन खण्डहरों को क़ायम रखने में जो हिस्सा लिया है उसके बारे में लिखते हुए ज़बान में लगाम लगाना मुश्किल है। हाल में एक लेखक ने उन्हें हिन्दुस्तान में ब्रिटेन का 'पाँचवाँ दल' (शत्रु का गुप्त दल) ठीक ही कहा है। कुछ सुलझे हुए समझदार शासक भी हैं जो अपनी प्रजा का पक्ष लेना चाहते हैं और कारगर सुधार जारी करना चाहते हैं, मगर सर्वोच्च सत्ता उनके रास्ते में रोड़े अटकाती है। एक प्रजातन्त्रीय रियासत 'पाँचवाँ दल' बनकर काम नहीं कर सकती।

यह साफ़ है कि ये ५५० छोटी-बड़ी रियासतें राजनैतिक या आर्थिक इकाइयाँ बन कर अलग-अलग काम नहीं कर सकतीं। प्रजातन्त्र-भारत में वे सामन्ती गढ़ बनकर नहीं रह सकतीं। चन्द बड़ी-बड़ी रियासतें फ़ेडरेशन (संघ) में प्रजातन्त्रीय इकाई बन सकती हैं, लेकिन दूसरों को तो बिलकुल मिट जाना होगा। इससे कम या छोटे सुधार से मसला हल नहीं हो सकेगा। देशी राज्य-प्रथा को मिटना होगा और वह तभी मिटेगी, जब ब्रिटिश साम्राज्यवाद मिटेगा।

मेरी दूसरी हलचल थी, राष्ट्र-निर्माण समिति (नेशनल प्लैनिंग कमिटी)

का सभापतित्व, जो कांग्रेस के तत्त्वावधान में प्रान्तीय सरकारों के सहयोग से बनी थी। जैसे-जैसे हम इस काम को लेकर चले वैसे-वैसे ही वह बढ़ता गया, यहाँतक कि राष्ट्रीय गतिविधि के हरेक पहलू से उसका सम्बन्ध हो गया। हमने विविध विषय-समूहों के लिए २६ उपसमितियाँ मुक़र्रर कीं—कृषि, औद्योगिक, सामाजिक, आर्थिक, आदि—और उनमें परस्पर सहयोग पैदा करने की कोशिश की, ताकि हिन्दुस्तान के लिए एक सुनिश्चित अर्थ-व्यवस्था की कोई योजना बन सके। हमारी योजना ज़रूरी तौर पर ढाँचे की शक्ल में होगी, जिसमें बाद में ब्योरे की बातें शामिल होती रहेंगी। यह राष्ट्र-निर्माण-समिति अब भी काम कर रही है और अभी कुछ महीनों इसका काम ख़त्म होने की सम्भावना नहीं है। मेरे लिए यह काम बड़ा लुभावना रहा और इससे मैंने बहुत सीखा है। यह साफ़ है कि कोई भी योजना हम बनायें, वह अमल में तभी आ सकती है, जब कि हिन्दुस्तान आज़ाद हो। यह भी साफ़ है कि किसी भी उपयोगी योजना में आर्थिक ढाँचे का समाजीकरण हो जाना ज़रूरी है।

१६३६ की गर्मी में मैं थोड़े दिन के लिए सीलोन (लंका) गया, क्योंकि वहाँ के हिन्दुस्तानी बाशिन्दों और सरकार में झगड़ा पैदा हो गया था। मुझे उस सुन्दर टापू में जाने से बड़ी ख़ुशी हुई और मैं समझता हूं, कि इस यात्रा से हिन्दुस्तान और सीलोन में निकट-सम्बन्धों की नींव पड़ी। हरेक शख़्स की तरफ़ से मेरा हार्दिक स्वागत हुआ, जिनमें सरकार के सीलोन मेम्बर भी थे। मुझे इसमें शक नहीं कि किसी भी भावी व्यवस्था में सीलोन और भारत को साथ-साथ रहना पड़ेगा। भविष्य में, मेरी कल्पना के अनुसार तो एक संघ बनेगा जिसमें चीन, भारत, बर्मा, सीलोन, अफ़ग़ानिस्तान और शायद दूसरे मुल्क भी शामिल होंगे। अगर विश्व-संघ बने तो फिर कहना ही क्या?

१६३६ के अगस्त में यूरप की हालत डरावनी थी और संकट की घड़ी में मैं हिन्दुस्तान छोड़कर नहीं जाना चाहता था। लेकिन चीन की यात्रा करने की इच्छा—भले ही थोड़े दिन के लिए सही—प्रबल थी। और मैं चीन के लिए हवाई जहाज़ से रवाना हुआ और हिन्दुस्तान छोड़ने के दो ही दिन के अन्दर-अन्दर मैं चुंगकिंग में था। पर जल्दी ही मुझे वापस हिन्दुस्तान आ जाना पड़ा, क्योंकि अन्त में यूरप में लड़ाई छिड़ गयी थी। मैंने स्वतन्त्र चीन में दो हफ़्ते से भी कम बिताये लेकिन ये दो हफ़्ते थे बड़े स्मरणीय—न सिर्फ़ व्यक्तिगत रूप से मेरे ही लिए बल्कि हिन्दुस्तान और चीन के भावी सम्बन्ध के लिए भी। मुझे यह जानकर बड़ी ख़ुशी हुई कि मेरी इस इच्छा को कि चीन और हिन्दुस्तान एक-दूसरे के अधिक निकट आवें, चीन के नेताओं ने भी दुहराया और ख़ास तौर पर उस महान् पुरुष ने, जो चीन की एकता और स्वतन्त्र रहने की लगन का प्रतीक बन गया है। मार्शल च्यांग काई शेक और मैडम च्यांग से मैं कई मर्तबा मिला, और अपने-अपने देशों के वर्तमान और भविष्य पर विचार-विनिमय किया। जब

मैं भारत लौटा तो चीन और चीनी लोगों का पहले से भी ज़्यादा प्रशंसक बनकर लौटा। मुझे यह कल्पना भी न थी कि दुर्दिन इन पुरातन लोगों की आत्मा को कुचल सकता है; वे फिर नौजवान बन गये थे।

युद्ध और हिन्दुस्तान। हमें अब क्या करना है? बरसों से हम इसके बारे में सोचते आ रहे थे और अपनी नीति की घोषणा कर चुके थे। मगर यह सब होते हुए भी ब्रिटिश सरकार ने हम लोगों की, केन्द्रीय धारासभा की या प्रान्तीय सरकारों की राय लिये बिना हिन्दुस्तान को लड़ाई में शरीक मुल्क क़रार दे दिया। इस उपेक्षा को हम यों ही नहीं टाल सकते, क्योंकि इससे प्रकट होता था कि साम्राज्यवाद पहले की तरह काम कर रहा है। सितम्बर १६३६ के मध्य कांग्रेस कार्यसमिति ने एक लम्बा वक्तव्य जारी किया, जिसमें हमारी पिछली और हाल की नीति की व्याख्या की गयी और ब्रिटिश सरकार से माँग की गयी, कि वह अपने युद्ध-उद्देश, ख़ासकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रश्न पर, साफ़ करे। हमने अक्सर फ़ासिज़्म और नाज़ीवाद की निन्दा की थी, लेकिन हमारा निकट-सम्बन्ध तो साम्राज्यवाद से था जो हमारे ऊपर सवार था। क्या यह साम्राज्यवाद मिट जायगा? क्या उन्होंने हिन्दुस्तान की आज़ादी को और विधान-पंचायत-द्वारा अपना विधान स्वयं बनाने के अधिकार को स्वीकार किया? केन्द्रीय शासन को तत्काल लोक-निर्वाचित सरकार के मातहत लाने के लिए क्या क़दम उठाये जायँगे? बाद में, किसी भी अल्पसंख्यक समूह की ओर से उठाये जा सकनेवाले एतराज़ों को रफ़ा करने के लिए विधान-पंचायत का विचार और भी अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया गया। यह बयान दिया गया कि इस पंचायत में अल्प-संख्यकों के हक़ों पर अल्पसंख्यकों की राय से फ़ैसले किये जायँगे; बहुमत से नहीं। अगर किसी सवाल पर इस प्रकार समझौता मुमकिन न हो सकेगा, तो वह एक निष्पक्ष पंचायत में आख़िरी फ़ैसले के लिए पेश होगा। लोकतन्त्रवादी दृष्टि से यह प्रस्ताव ख़तरे से ख़ाली नहीं था लेकिन अल्पसंख्यकों के सन्देह को मिटाने के लिए कांग्रेस चाहे जितनी दूर तक जाने को तैयार थी।

ब्रिटिश सरकार का जवाब साफ़ था। इसमें कोई शक नहीं रहा कि वह अपने युद्ध-उद्देशों को स्पष्ट करने या शासन को जनता के प्रतिनिधियों के हाथों में सौंप देने को तैयार नहीं थी। पुरानी व्यवस्था चलती रही और चलती रहनेवाली थी; हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ों के हित अरक्षित नहीं छोड़े जा सकते थे। इस बात पर कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने इस्तीफ़े पेश कर दिये, क्योंकि वे युद्ध चलाने में इन शर्तों पर सहयोग करना नहीं चाहते थे। विधान स्थगित कर दिया गया और स्वेच्छाचारी हुकूमत फिर से क़ायम हो गयी। ठीक वही पुराना वैधानिक संघर्ष हिन्दुस्तान में भी आ खड़ा हुआ जैसा कि पश्चिमी देशों में निर्वाचित पार्लमेंट और सम्राट् के विशेषाधिकारों में छिड़ा था, और जिसमें इंग्लैण्ड और फ़्रांस के दो सम्राटों को अपनी जान देनी पड़ी थी। लेकिन इस वैधानिक पहलू

के अलावा कुछ और बात भी थी। ज्वालामुखी अभी फूटा नहीं था लेकिन वह छिपा था ज़रूर और उसकी गर्जना सुनाई दे रही थी।

अड़ंगा जारी रहा और इसी दरमियान नये क़ानून और आर्डिनेंस धीरे-धीरे हमपर लादे जाने लगे और कांग्रेसियों और दूसरे लोगों की गिरफ़्तारियाँ बढ़ने लगीं। विरोध बढ़ा और हमारी तरफ़ से कुछ कार्रवाई करने की माँग भी। लेकिन लड़ाई के रवैये और ख़ुद इंग्लैण्ड के संकट से हम झिझक भी रहे थे, क्योंकि हम वह पुराना सबक़ पूरी तौर से नहीं भूल सकते थे, जो गांधीजी ने हमें सिखाया था कि हमारा लक्ष्य विपक्षी को उसकी मुसीबत की घड़ी में परेशान करना नहीं होना चाहिए।

ज्यों-ज्यों लड़ाई बढ़ती गयी, नये-नये मसले खड़े होते गये या पुराने मसले नयी शकलें अख़्तियार करते गये, और पुरानी रूप-रेखाएँ बदलती मालूम होने लगीं, पुराने स्टैण्डर्ड (माप) धुन्धले पड़ने लगे। कई धक्के लगे और जमे रहना मुश्किल हो गया। रूस-जर्मनी का समझौता, सोवियट का फिनलैण्ड पर हमला, और रूस का जापान की तरफ़ दोस्ताना झुकाव! इस दुनिया में क्या कुछ सिद्धान्त भी हैं, संसार में आचरण का कोई आदर्श भी है या सब कुछ केवल अवसरवादिता ही है?

अप्रैल आया और नार्वे की हार हुई। मई में हॉलैण्ड और बेलजियम के भयंकर काण्ड हुए। जून में अचानक ही फ्रांस का पतन हुआ और पेरिस, जो एक घमंडी और मनोरम नगर था और आज़ादी का पालना था, अब कुचला हुआ और गिरा हुआ पड़ा था। फ्रांस की सिर्फ़ फ़ौजी हार ही नहीं हुई, बल्कि उसका नैतिक दासत्व और पतन भी हुआ जो बेहद बुरी बात थी। मैं अचम्भे में था कि यदि मूल में कोई ख़राबी न थी तो यह सब कैसे हुआ? क्या ख़राबी यह थी कि इंग्लैण्ड और फ्रांस उस पुरानी व्यवस्था के सबसे बड़े प्रतिनिधि थे, जिसको अब ख़त्म होना चाहिए, और इसीलिए वे क़ायम नहीं रह सकते थे? क्या साम्राज्यवाद ज़ाहिरातौर पर उन्हें ताक़त पहुंचा रहा था, पर दरअसल उस क़िस्म की लड़ाई में उनको कमज़ोर कर रहा था? अगर वे ख़ुद अपने यहाँ आज़ादी का दमन करते थे तो उसके लिये लड़ कैसे सकते थे, और उनका साम्राज्यवाद नग्न फ़ासिज़्म में बदल जाता—जैसा कि फ्रांस में हुआ। मि० चैम्बरलेन और उनकी पुरानी नीति की छाया अब भी इंग्लैण्ड पर पड़ रही थी। जापान को ख़ुश करने के लिए बर्मा-चीन का रास्ता बन्द किया जा रहा था। और यहाँ हिन्दुस्तान में किसी परिवर्तन का संकेत तक नहीं था, और हमारी ख़ुद अपने पर लगाई हुई रोक का मतलब यह लगाया जाता था कि हम कोई कारगर काम करने के क़ाबिल नहीं हैं। मुझे आश्चर्य था कि ब्रिटिश सरकार में ज़रा भी दूरदर्शिता नहीं है और वह ज़माने की रफ़्तार को और जो कुछ हो रहा है उसको समझने और अपने आपको उसके मुताबिक़ बनाने में असमर्थ है।

क्या यह कोई प्राकृतिक नियम था कि अन्य क्षेत्रों की तरह राजनैतिक घटना-क्रमों में भी कारण के बाद कार्य अवश्य होना चाहिये, और जिस पद्धति की अब कोई उपयोगिता नहीं रह गई थी, वह अब समझदारी के साथ अपनी रक्षा भी नहीं कर सकती थी ?

अगर ब्रिटिश सरकार ही मन्दबुद्धि थी और तजर्बे से भी कुछ सबक़ नहीं ले सकती थी तो भारत-सरकार की निस्बत कोई क्या कहे ? इस सरकार की कारगुजारियों पर कुछ तो हँसी आती है, पर कुछ दुख भी होता है, क्योंकि कोई भी दलील, ख़तरा या आफ़त उसकी स्वतः सन्तुष्ट रहने की सदियों पुरानी नीति से उसे डिगाती नहीं दिखाया देती। रिप वॉन विंकिल की तरह वह जगते हुए भी शिमला-शैल पर सोती रहती है।

युद्ध की परिस्थिति में तब्दीलियाँ होती गयीं, और कांग्रेस कार्य-समिति के सामने नये-नये सवाल आते गये। गांधीजी चाहते थे कि कार्य-समिति अभी तक अहिंसा के जिस सिद्धान्त का आज़ादी की लड़ाई में पालन कर रही थी उसे बढ़ाकर स्वतन्त्र राष्ट्र-संचालन के लिए भी अनिवार्य कर दे। स्वतन्त्र भारत को बाहरी हमलों या अन्दरूनी झगड़ों से अपनी हिफ़ाज़त करने के लिए इसी सिद्धान्त पर निर्भर रहना होगा। उस वक्त हमारे सामने यह सवाल नहीं था, लेकिन उनके ख़ुद के दिमाग़ में वह समाया हुआ था और वह महसूस करते थे कि उसकी स्पष्ट घोषणा का वक्त आ चुका है। हममें से हरेक यह विश्वास करता था कि हमको अपनी लड़ाई में अहिंसा की नीति पर पूर्ववत् डटे रहना चाहिए। यूरप के युद्ध ने इस विश्वास को पक्का कर दिया था। लेकिन इसके साथ भविष्य के राष्ट्र को बांध देना एक दूसरी ही और ज्यादा मुश्किल बात थी। और यह देखना आसान न था कि राजनीति की सतह पर चलने-फिरनेवाला कोई इसे कैसे कर सकेगा ?

गांधीजी ने महसूस किया, और शायद ठीक ही किया, कि वह सारी दुनिया के लिए अपना सन्देश न तो छोड़ सकते हैं, और न उसे सीमित कर सकते हैं। उनको अपनी इच्छानुसार अपने सन्देश का प्रचार करने की आज़ादी होनी चाहिए और राजनीतिक आवश्यकताएं उनके मार्ग में बाधक नहीं होनी चाहिए। इसलिए पहली मर्त्तबा उन्होंने एक रास्ता अख़्तियार किया और कांग्रेस कार्य-समिति ने दूसरा। उनसे पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हुआ था, क्योंकि आपस के बन्धन बड़े कड़े थे और निस्सन्देह अब भी वह तरह-तरह से सलाह देते रहेंगे और अक्सर नेतृत्व करते रहेंगे। फिर भी इतना तो शायद सच है कि उनके कांग्रेस से आंशिक रूप से हट जाने से हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का एक काल ख़त्म हो गया है। इन पिछले बरसों में मैंने उनमें एक कड़ाई आती देखी है, और परिस्थितियों से मेल बैठाने की जो क्षमता उनमें थी, वह कम हो गयी है। लेकिन उनमें पुराना जादू अभी है, वह पुराना आकर्षण अब

भी काम करता है और उनका व्यक्तित्व और उनकी महानता सर्वोपरि है। कोई यह खयाल न करे कि हिन्दुस्तान के करोड़ों लोगों पर उनका जो असर था, वह कुछ कम हो गया है। वह बीस साल से अधिक समय से हिन्दुस्तान के भाग्य-निर्माता रहे हैं और उसका काम अभी पूरा नहीं हुआ है।

पिछले चन्द हफ़्तों में चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य के कहने पर कांग्रेस ने ब्रिटेन के सामने एक और प्रस्ताव रक्खा। राजगोपालाचार्य कांग्रेस के नरम पक्ष के कहे जाते हैं। उनकी अद्भुत मेधाशक्ति, निःस्वार्थ चारित्र्य और विश्लेषण की अपूर्व क्षमता हमारे लक्ष्य के लिए बहुत लाभदायक रही है। कांग्रेस-मन्त्रिमण्डल के शासन-काल में वह मद्रास के प्रधान मन्त्री थे। संघर्ष से बचने के लिए वह चिन्तित थे, इसलिए उन्होंने एक प्रस्ताव रखा जिसे उनके कुछ साथियों ने बिना हिचकिचाहट के मंजूर कर लिया। प्रस्ताव यह था कि ब्रिटेन हिन्दुस्तान की आज़ादी मंजूर करे, केन्द्र में फ़ौरन ऐसी अस्थायी राष्ट्रीय सरकार बना दे, जो मौजूदा केन्द्रीय धारासभा के प्रति ज़िम्मेदार हो। अगर यह हो जाय, तो रक्षा का भार यह नई सरकार ले ले और इस तरह लड़ाई की कोशिशों में मदद पहुँचावे।

कांग्रेस का यह प्रस्ताव ख़ासतौर से व्यावहारिक था और फ़ौरन बिना कोई गड़बड़ी पैदा किये अमल में लाया जा सकता था। राष्ट्रीय सरकार अनिवार्य रूप से सम्मिलित रूप की होती, जिसमें अल्पसंख्यक दलों का पूरा प्रतिनिधित्व होता। प्रस्ताव निश्चित रूप से नरम था। रक्षा और युद्ध-प्रयत्नों की दृष्टि से कोई गम्भीर कार्य किया जाय, तो जनता का विश्वास और सहयोग होना चाहिए, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं। और सिर्फ़ राष्ट्रीय सरकार को ही ऐसा विश्वास और सहयोग मिल सकता है। साम्राज्यवाद के द्वारा यह होना नामुमकिन है।

लेकिन साम्राज्यवाद तो उलटी ही दिशा में सोचता है। वह ख़याल करता है कि वह अपना काम चलाता रह सकता है और अपनी मर्ज़ी पूरी करने के लिए लोगों पर दबाव भी डालता रह सकता है। ख़तरा सिर पर होने पर भी वह इस बड़ी भारी मदद को पाने के लिए तैयार नहीं है, क्योंकि इसमें हिन्दुस्तान की राजनीतिक और आर्थिक बागडोर छोड़नी पड़ती है। और तो और, उसे उस बड़ी भारी नैतिक प्रतिष्ठा की भी परवा नहीं है जो उसे हिन्दुस्तान में और साम्राज्य के बाक़ी हिस्सों में इस तरह की न्यायोचित बात करने से मिल सकती है।

आज, ८ अगस्त, १९४० को जब मैं यह लिख रहा हूँ, वाइसराय ने ब्रिटिश सरकार का जवाब हमें दे दिया है। वह साम्राज्यवाद की पुरानी भाषा में है और मज़मून किसी क़दर भी नहीं बदला है। यूरप और दुनिया की तरह यहां हिन्दुस्तान में भी कालचक्र घूमता जा रहा है।

मेरे साथी वापस जेल में पहुँच गये हैं और मुझे उनपर थोड़ा रश्क भी है।

शायद युद्ध, राजनीति, फ़ासिज़्म, और साम्राज्यवाद की इस पागल दुनिया की बनिस्बत कारवास के एकान्त में जीवन की अखंडता की भावना उत्पन्न कर लेना अधिक आसान है।

लेकिन कभी-कभी कम-से-कम इस दुनिया से थोड़ी देर को छुटकारा मिल ही जाता है। पिछले महीने में २३ बरस के बाद मैं कश्मीर गया। मैं वहाँ सिर्फ़ १२ दिन रहा, लेकिन ये बारह दिन बड़े सुन्दर थे, और मैंने जादू-भरे उस देश की रमणीयता का भोग किया। मैं घाटी के इधर-उधर घूमा, ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों की सैर की और एक ग्लेशियर पर चढ़ा और महसूस किया कि जीवन भी एक काम की चीज़ है।

इलाहाबाद
८ अगस्त, १९४०

परिशिष्ट—क

[२६ जनवरी, १६३०, पूर्ण स्वाधीनता-दिवस का प्रतिज्ञा-पत्र]

"हम भारतीय प्रजाजन भी अन्य राष्ट्रों की भाँति अपना यह जन्म-सिद्ध अधिकार मानते हैं कि हम स्वतन्त्र होकर रहें, अपनी मेहनत का फल ख़ुद भोगें और हमें जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक सुविधाएं मिलें जिससे हमें भी विकास का पूरा-पूरा मौक़ा मिले। हम यह भी मानते हैं कि अगर कोई सरकार ये अधिकार छीन लेती है और प्रजा को सताती है तो प्रजा को उस सरकार को बदल देने या मिटा देने का भी हक़ है। हिन्दुस्तान की अंग्रेज़ी सरकार ने हिन्दुस्तानियों की स्वतन्त्रता का ही अपहरण नहीं किया है, बल्कि उसका आधार ही ग़रीबों के रक्तशोषण पर है और उसने आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से हिन्दुस्तान का नाश कर दिया है। इसलिए हमारा विश्वास है कि हिन्दुस्तान को अंग्रेज़ों से सम्बन्ध-विच्छेद करके पूर्ण स्वराज या मुकम्मिल आज़ादी प्राप्त कर लेनी चाहिए।

"भारत की आर्थिक बरबादी हो चुकी है। जनता की आमदनी को देखते हुए उससे बेहिसाब कर वसूल किया जाता है। हमारी औसत दैनिक आय सात पैसे है और हमसे जो भारी कर लिये जाते हैं उनका २० फ़ी सदी किसानों से लगान के रूप में और ३ फ़ीसदी ग़रीबों से नमक कर के रूप में वसूल किया जाता है।

"हाथ-कताई आदि ग्राम-उद्योग नष्ट कर दिये गये हैं। इससे साल में कम-से-कम चार महीने किसान लोग बेकार रहते हैं। हाथ की कारीगरी नष्ट हो जाने से उनकी बुद्धि भी मन्द हो गयी और जो उद्योग इस प्रकार नष्ट कर दिये गये हैं उनकी जगह दूसरे देशों की भाँति कोई नये उद्योग जारी भी नहीं किये गये हैं।

"चुंगी और सिक्के की व्यवस्था इस प्रकार की गयी है कि उससे किसानों का भार और भी बढ़ गया। हमारे देश में बाहर का माल अधिकतर अंग्रेज़ी कारखानों से आता है। चुंगी के महसूल में अंग्रेज़ी माल के साथ साफ़तौर पर पक्षपात होता है। इसकी आय का उपयोग ग़रीबों का बोझा हल्का करने में नहीं, बल्कि एक अत्यन्त अपव्ययी शासन को क़ायम रखने में किया जाता है। विनिमय की दर भी ऐसे मनमाने तरीक़े से निश्चित की गयी है जिससे देश का करोड़ों रुपया बाहर चला जाता है।

"राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान का दर्जा जितना अंग्रेज़ों के ज़माने में घटा है उतना पहले कभी नहीं घटा था। किसी भी सुधार-योजना से जनता के हाथ में असली राजनैतिक सत्ता नहीं आयी। हमारे बड़े-से-बड़े आदमी को विदेशी सत्ता के सामने सिर झुकाना पड़ता है। अपनी राय आज़ादी से ज़ाहिर करने और आज़ादी से मिलने-जुलने के हमारे हक़ छीन लिये गये हैं और हमारे बहुत से देशवासी निर्वासित कर दिये गये हैं। हमारी सारी शासन की प्रतिभा मारी गयी है और सर्व-साधारण को गाँवों के छोटे-छोटे ओहदों और मुन्शीगीरी से सन्तोष करना पड़ता है।

"संस्कृति के लिहाज़ से शिक्षा-प्रणाली ने हमारी जड़ ही काट दी और हमें जो तालीम दी जाती है उससे हम अपनी ग़ुलामी की ज़ंजीरों को ही प्यार करने लगे हैं।

"आध्यात्मिक दृष्टि से, हमारे हथियार ज़बर्दस्ती छीनकर हमें नामर्द बना दिया गया। विदेशी सेना हमारी छाती पर सदा मौजूद रहती है। उसने हमारी मुक़ाबले की भावना बड़ी बुरी तरह से कुचल दी है। उसने हमारे दिलों में यह बात बिठा दी है कि हम न अपना घर सम्हाल सकते हैं और न विदेशी हमलों से देश की रक्षा कर सकते हैं। इतना ही नहीं, चोर, डाकू और बदमाशों के हमलों से भी हम अपने बाल-बच्चों और जान-माल को नहीं बचा सकते। जिस शासन ने हमारे देश का इस तरह सर्वनाश किया है, उसके अधीन रहना हमारी राय में मनुष्य और ईश्वर दोनों के प्रति अपराध है। किन्तु हम यह भी मानते हैं कि हमें हिंसा के द्वारा स्वतन्त्रता नहीं मिलेगी। इसलिए हम ब्रिटिश सरकार से यथा-सम्भव स्वेच्छापूर्वक किसी भी प्रकार का सहयोग न करने की तैयारी करेंगे और सविनय-अवज्ञा और करबन्दी तक के साज सजायेंगे। हमारा पक्का विश्वास है कि अगर हम राज़ी-राज़ी सहायता देना और उत्तेजना मिलने पर भी हिंसा किये बग़ैर कर देना बन्द कर सकें तो इस अमानुषी राज्य का नाश निश्चित है। इसलिए हम शपथपूर्वक संकल्प करते हैं कि पूर्ण स्वराज की स्थापना के लिए कांग्रेस समय-समय पर जो आज्ञाएं देगी, उनका हम पालन करते रहेंगे।"

परिशिष्ट--ख

[यरवडा सेण्ट्रल जेल, पूना से १५ अगस्त, १९३० को कांग्रेस-नेताओं द्वारा सर तेजबहादुर सप्रू और श्री मुकुन्दराव जयकर को लिखा गया सुलह की शर्तोंवाला पत्र]

आपलोगों ने ब्रिटिश-सरकार और कांग्रेस में शान्तिपूर्ण समझौता करने का जो भार अपने ऊपर लिया है, उसके लिए हमलोग आपके बहुत-बहुत आभारी हैं। आपका वाइसराय के साथ जो पत्र-व्यवहार हुआ है, और आपके साथ हम-लोगों की जो बहुत अधिक बातें हुई हैं और हमलोगों में आपस में जो कुछ परामर्श

हुआ है उस सबका ध्यान रखते हुए हम इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि अभी ऐसे समझौते का समय नहीं आया है, जो हमारे देश के लिए सम्मानपूर्ण हो। पिछले पाँच महीनों में देश में जो ग़ज़ब की जाग्रति हुई है और भिन्न-भिन्न सिद्धान्त व मत रखनेवाले लोगों में से छोटे-बड़े सभी प्रकार और वर्ग के लोगों ने जो बहुत अधिक कष्ट सहन किया है, उसे देखते हुए हमलोग यह अनुभव करते हैं कि न तो वह कष्ट-सहन काफ़ी ही हुआ है, और न वह इतना बड़ा ही हुआ है कि उसमें तुरन्त ही हमारा उद्देश्य पूरा हो जाय। शायद यहाँ यह बतलाने की कोई आवश्यकता न होगी कि हम आपके या वाइसराय के इस मत से सहमत नहीं हैं कि सत्याग्रह-आन्दोलन से देश को हानि पहुंची है या वह आन्दोलन कुसमय में खड़ा किया गया है या वह अवैध है। अंग्रेज़ों का इतिहास ऐसी-ऐसी रक्त-पूर्ण क्रान्तियों के उदाहरणों से भरा पड़ा है, जिनकी प्रशंसा के राग गाते हुए अंग्रेज़ लोग कभी नहीं थकते; और उन्होंने हम लोगों को भी ऐसा ही करने की शिक्षा दी है। इसलिए जो क्रान्ति विचार की दृष्टि से बिलकुल शान्तिपूर्ण है और जो कार्यरूप में भी बहुत बड़े पैमाने में और अद्भुत रूप से शान्तिपूर्ण ही है, उसकी निन्दा करना वायसराय या किसी और समझदार अंग्रेज़ को शोभा नहीं देता। पर जो सरकारी या ग़ैर सरकारी आदमी वर्तमान सत्याग्रह-आन्दोलन की निन्दा करते हैं, उनके साथ झगड़ा करने की हमारी कोई इच्छा नहीं है। हम मानते हैं कि सर्वसाधारण जिस आश्चर्य-जनक रूप से इस आन्दोलन में शामिल हुए, वही इस बात का यथेष्ट प्रमाण है कि यह उचित और न्यायपूर्ण है। यहाँ कहने की बात यही है कि हम लोग भी प्रसन्नतापूर्वक आपके साथ मिलकर इस बात की कामना करते हैं कि अगर किसी तरह सम्भव हो तो यह सत्याग्रह-आन्दोलन बन्द कर दिया जाय या स्थगित कर दिया जाय। अपने देश के पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों तक को अनावश्यक रूप से ऐसी परिस्थिति में रखना कि उन्हें जेल जाना पड़े, लाठियाँ खानी पड़ें और इनसे भी बढ़कर दुर्दशाएँ भोगनी पड़ें, हम लोगों के लिए कभी आनन्ददायक नहीं हो सकता। इसलिए जब हम आपको और आपके द्वारा वाइसराय को यह विश्वास दिलाते हैं कि सम्मानपूर्ण शान्ति और समझौते के लिए जितने मार्ग हो सकते हैं, उन सब को ढूँढकर उनका सहारा लेने के लिए हम अपनी ओर से कोई बात न उठा रखेंगे, तो आशा है कि आप हम लोगों की इस बात पर विश्वास करेंगे। लेकिन फिर भी हम मानते हैं कि अभीतक हमें क्षितिज पर ऐसी शान्ति का कोई लक्षण नहीं दिखाई देता। हम अभीतक इस बात का कोई आसार नहीं दिखाई पड़ता कि ब्रिटिश सरकारी दुनिया का अब यह विचार हो गया है कि ख़ुद हिन्दुस्तान के स्त्री-पुरुष ही इस बात का निर्णय कर सकते हैं कि हिन्दुस्तान के लिए सबसे अच्छा कौन-सा रास्ता है। सरकारी कर्मचारियों ने अपने शुभ विचारों की जो निष्ठापूर्ण घोषणाएँ की हैं और जिनमें से बहुत-सी प्रायः अच्छे

उद्देश से की गयी हैं, उनपर हम विश्वास नहीं करते। इधर मुद्दतों से अंग्रेज़ इस प्राचीन देश के निवासियों की धनसम्पत्ति का जो बराबर अपहरण करते आये हैं, उनके कारण उन अंग्रेज़ों में अब इतनी शक्ति और योग्यता नहीं रह गयी है कि वे यह बात देख सकें कि उनके इस अपहरण के कारण हमारे देश का कितना अधिक नैतिक, आर्थिक और राजनैतिक ह्रास हुआ है। वे अपने-आपको यह देखने के लिए तैयार ही नहीं कर सकते कि उनके करने का सबसे बड़ा एक काम यही है कि वे जो हमारी पीठ पर चढ़े बैठे हैं, उसपर से उतर जायँ; और लगभग सौ बरसों तक भारत पर उनका राज्य रहने के कारण सब प्रकार से हमलोगों का नाश और ह्रास करनेवाली जो प्रणाली चल रही है, उससे बाहर निकलकर विकसित होने में हमारी सहायता करें; और अबतक उन्होंने हमारे साथ जो अन्याय किये हैं, उनका इस रूप में प्रायश्चित्त कर डालें।

पर हम यह बात जानते हैं कि आपके और हमारे देश के कुछ और विज्ञ लोगों के विचार हमारे इन विचारों से भिन्न हैं। आप यह विश्वास करते हैं कि शासकों के भावों में परिवर्तन हो गया है; और अधिक नहीं तो कम-से-कम इतना परिवर्तन ज़रूर हो गया है कि जिससे हम लोगों को प्रस्तावित परिषद् में जाकर शरीक होना चाहिए। इसलिए हालाँकि हम इस समय एक ख़ास तरह के बन्धन में पड़े हुए हैं, तो भी जहाँतक हमारे अन्दर शक्ति है वहाँतक हम इस काम में ख़ुशी से आप लोगों का साथ देंगे। हम जिस परिस्थिति में पड़े हुए हैं, उसे देखते हुए, आपके मित्रतापूर्ण-प्रयत्न में अधिक-से-अधिक जिस रूप में और जिस हदतक सहायता दे सकते हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) हम यह समझते हैं कि वाइसराय ने आपके पत्र का जो जवाब दिया है उसमें प्रस्तावित परिषद् के सम्बन्ध में जिस भाषा का प्रयोग किया गया है, वह भाषा ऐसी अनिश्चित है कि पारसाल लाहौर में जो राष्ट्रीय माँग पेश की गयी थी, उसका ध्यान रखते हुए हम वाइसराय के उस कथन का कोई मूल्य या महत्त्व ही निर्धारित नहीं कर सकते; और न हमारी स्थिति ही ऐसी है कि कांग्रेस की कार्य-समिति, और ज़रूरत हो तो महासमिति के नियमित अधिवेशन में बिना विचार किये हम लोग अधिकारपूर्ण रूप से कोई बात कह सकें। पर हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि व्यक्तिगत तौर पर हमलोगों के लिए इस समस्या का कोई ऐसा निराकरण तबतक सन्तोषजनक न होगा जबतक कि:—

(क) पूरे और स्पष्ट शब्दों में यह बात न मान ली जाय कि भारत को इस बात का अधिकार प्राप्त होगा कि वह जब चाहे तब ब्रिटिश साम्राज्य से अलग हो जाय;

(ख) भारत में ऐसी पूर्ण राष्ट्रीय सरकार स्थापित न हो जाय जो उसके निवासियों के प्रति उत्तरदायी हो ताकि उसे देश की रक्षक शक्तियों (सेना आदि) पर और तमाम आर्थिक विषयों पर पूरा अधिकार और नियन्त्रण प्राप्त हो और

जिसमें उन ११ बातों का भी समावेश हो जाय जो गांधीजी ने वाइसराय को अपने पत्र में लिखकर भेजी थीं; और

(ग) हिन्दुस्तान को इस बात का अधिकार न प्राप्त हो जाय कि ज़रूरत हो तो वह एक ऐसी स्वतन्त्र पंचायत बैठाकर इस बात का निर्णय करा सके कि, अंग्रेज़ों को जो विशेष अधिकार और रिआयतें वग़ैरा प्राप्त हैं, जिसमें भारत का सार्वजनिक ऋण भी शामिल होगा, और जिनके सम्बन्ध में राष्ट्रीय सरकार का यह मत होगा कि ये न्याय-पूर्ण नहीं हैं या भारत की जनता के लिए हितकर नहीं हैं, वे सब अधिकार, रिआयतें और ऋण आदि, उचित, न्यायपूर्ण और मान्य हैं या नहीं ?

नोट--अधिकार हस्तान्तरित होते वक़्त भारत के हित के विचार से इस क़िस्म के जिस लेन-देन आदि की ज़रूरत होगी, उसका निर्णय भारत के चुने हुए प्रतिनिधि करेंगे ।

(२) ऊपर बतलाई हुई बातें ब्रिटिश सरकार को अगर ठीक जँचें और वह इस सम्बन्ध में सन्तोष-जनक घोषणा कर दे तो हम कांग्रेस की कार्य-समिति से इस बात की सिफ़ारिश करेंगे कि सत्याग्रह-आन्दोलन या सविनय-अवज्ञा का आन्दोलन बन्द कर दिया जाय; अर्थात्, केवल आज्ञा-भंग करने के लिए ही कुछ विशिष्ट क़ानूनों का भंग न किया जाय । पर विलायती कपड़े और शराब, ताड़ी वग़ैरा की दूकानों पर तबतक शान्तिपूर्ण पिकेटिंग जारी रहेगा, जबतक कि सरकार ख़ुद क़ानून बनाकर शराब, ताड़ी आदि और विलायती कपड़े की बिक्री बन्द न कर देगी । सबलोग अपने घरों में बराबर नमक बनाते रहेंगे और नमक-क़ानून की दण्ड-सम्बन्धी धाराएं काम में नहीं लायी जायँगी। नमक के सरकारी या लोगों के निजी गोदामों पर धावा नहीं किया जायगा ।

(३) ज्योंही सत्याग्रह-आन्दोलन रोक दिया जायगा, त्योंही

(क) वे सब सत्याग्रही क़ैदी और राजनैतिक क़ैदी, जो सज़ा पा चुके हैं, पर जो हिंसा के अपराधी नहीं हैं या जिन्होंने लोगों को हिंसा करने के लिए उत्तेजित नहीं किया है, सरकार द्वारा छोड़ दिये जायँगे;

(ख) नमक-क़ानून, प्रेस-क़ानून, लगान-क़ानून और इसी प्रकार के और क़ानूनों के अनुसार जो तमाम सम्पत्तियाँ ज़ब्त की गयी हैं, वे सब लोगों को वापस कर दी जायँगी;

(ग) सज़ायाफ़्ता सत्याग्रहियों से जो जुर्माने वसूल किये गये हैं या जो ज़मानतें ली गयी हैं, उन सबकी रक़में लौटा दी जायँगी;

(घ) वे सब राज-कर्मचारी, जिनमें गांवों के कर्मचारी भी शामिल हैं, जिन्होंने अपने पद से इस्तीफ़ा दे दिया है या जो आन्दोलन के समय नौकरी से छुड़ा दिये गये हैं, अगर फिर से सरकारी नौकरी करना चाहें तो अपने पद पर नियुक्त कर दिये जायँगे ।

नोट—ऊपर जो उपधाराएं दी गयी हैं उनका व्यवहार असहयोग-काल के सज़ायाफ़्ता लोगों के लिए भी होगा।

(ङ) वाइसराय ने अबतक जितने आर्डिनेन्स जारी किये हैं, वे सब रद्द कर दिये जायँगे।

(च) प्रस्तावित परिषद् में कौन-कौन लोग सम्मिलित किये जायँगे और उसमें कांग्रेस का प्रतिनिधित्व किस प्रकार का होगा, इसका निर्णय उसी समय होगा जब पहले ऊपर बताई हुई आरम्भिक बातों का सन्तोष-जनक निपटारा हो जायगा।

भवदीय,

मोतीलाल नेहरू, मोहनदास करमचन्द गांधी,
सरोजिनी नायडू, वल्लभभाई पटेल,
जयरामदास दौलतराम, सैयद महमूद,
जवाहरलाल नेहरू।

परिशिष्ट--ग

[२६ जनवरी, १९३१ को पढ़ा गया पुण्य-स्मरण का प्रस्ताव]

"भारत माता की उन सन्तानों का, जिन्होंने आज़ादी की महान् लड़ाई में भाग लिया और देश की स्वतन्त्रता के लिए अनेक कष्ट और क़ुर्बानी की; अपने उस महान् और प्रिय नेता महात्मा गांधी का, जो कि हमारे लिए सतत स्फूर्ति के स्रोत रहे हैं, और जो हमें सदैव उसी ऊँचे आदर्श और पवित्र साधनों का मार्ग दिखाते रहे हैं; उन सैकड़ों हज़ारों बहादुर नवयुवकों का, जिन्होंने स्वतन्त्रता की वेदी पर अपने प्राणों की बलि चढ़ायी; पेशावर और सारे सीमाप्रान्त और शोलापुर, मिदनापुर और बम्बई के शहीदों का; उन सैकड़ों हज़ारों भाइयों का, जिन्होंने दुश्मन के नृशंस लाठी-प्रहारों का मुक़ाबला किया और उन्हें सहा; गढ़वाली रेज़ीमेण्ट के सैनिकों और फ़ौज और पुलिस के उन सब भारतीय सिपाहियों का जिन्होंने अपनी जानें ख़तरे में डालकर भी अपने देश-भाइयों पर गोली आदि चलाने से इन्कार कर दिया; गुजरात के उन दबंग किसानों का, जिन्होंने बिना झुके और पीठ दिखाये सभी नृशंस अत्याचारों का मुक़ाबला किया; भारत के अन्य प्रदेशों के उन बहादुर और पीड़ित किसानों का, जिन्होंने सब प्रकार के दमन को सहकर भी लड़ाई में पूरा भाग लिया; उन व्यापारियों और व्यवसाय-क्षेत्र के अन्य समुदायों का जिन्होंने ज़बरदस्त नुक़सान उठाकर भी राष्ट्रीय संग्राम में, विशेषकर विदेशी वस्त्र और ब्रिटिश माल के बहिष्कार में ,सहायता की; उन एक लाख स्त्री-पुरुषों या जो जेल गये और सब प्रकार के कष्ट सहे यहाँ तक कि कभी-कभी जेल के अन्दर भी लाठी-प्रहार और चोटें सहीं; और ख़ासकर उन

साधारण स्वयंसेवकों का जिन्होंने भारतमाता के सच्चे सिपाहियों की तरह बिना किसी प्रकार की ख्याति या पुरस्कार की इच्छा के एकमात्र अपने महान् ध्येय का ही ध्यान रखकर कष्टों और कठिनाइयों के बीच भी अनवरत और शान्ति-पूर्वक कार्य किया, हम......नगर के निवासी गौरव और कृतज्ञतापूर्ण हृदय से अभिवादन करते हैं; और हम अभिनन्दन और हार्दिक सराहना करते हैं, भारत की नारी जाति का, जो कि भारत-माता के संकट-समय में अपने घरों की शरण छोड़कर अदम्य साहस और सहिष्णुतापूर्वक, राष्ट्रीय सेना में अपने भाइयों के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर अगली क़तार में खड़ी रही और बलिदान और सफ-लता के उल्लास में पूरा-पूरा भाग लिया; और भारत की उस युवक-शक्ति और वानर-सेना पर जिसे उसकी सुकुमार आयु भी लड़ाई में भाग लेने और अपने ध्येय पर क़ुर्बान होने से न रोक सकी, अपना गर्व प्रकट करते हैं।

"और साथ ही, हम कृतज्ञतापूर्वक इस बात की सराहना करते हैं कि भारत की सब बड़ी और छोटी जातियों और वर्गों ने इस महान् संग्राम में हाथ बँटाया और ध्येय की प्राप्ति के लिए शक्ति भर प्रयत्न किया—ख़ासकर मुस्लिम, सिक्ख, पारसी, ईसाई आदि अल्पसंख्यक जातियों के प्रति और भी कृतज्ञता प्रकट करते हैं, जिन्होंने अपने साहस और अपनी अनन्य मातृभूमि के प्रति अपनी एकनिष्ठ भक्ति के साथ, एक ऐसे संयुक्त और अविभाज्य राष्ट्र के निर्माण में, जिसकी कि जय निश्चित हो, सहायता दी, और हिन्दुस्तान की स्वतन्त्रता प्राप्त करने और उसे क़ायम रखने तथा उस नवीन स्वतन्त्रता का भारत के सब समु-दाय के लोगों की बेड़ियाँ तोड़कर सबमें असमानता दूर करने के रूप में मानवता के उच्चतर उद्देश की पूर्ति के लिए उपयोग करने का निश्चय किया। भारत के हित के लिए बलिदान और कष्ट-सहन के ऐसे महान् और स्फूर्तिदायक उदाहरणों को अपने सामने रखते हुए हम स्वतन्त्रता की अपनी प्रतिज्ञा को दुहराते हैं और जब तक हिन्दुस्तान आज़ाद नहीं हो जाता तब अपनी लड़ाई जारी रखने का निश्चय करते हैं।"